ओ३म्

ऋग्वेद-भाष्यम्

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्वितम्

(दशम मण्डलम्)

भाष्यकार

श्री स्वामी ब्रह्ममुनिपरिव्राजकविद्यामार्त्तण्ड

प्रथमो खण्डः

ओ३म्

ऋग्वेद भाष्यम्

संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम्

(दशमं मण्डलम्)

भाष्यकार

श्री स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

प्रथमो भागः

(अशीतिसूक्तपर्यन्तम्)

विक्रम संवत् २०३१ दयानन्दजन्माब्द १५०

प्रथम संस्करणम् आर्य संवत् १,९६,०८,५३,०७,५ मूल्यम् ३०) रुपये
१०००

प्रकाशक
वैदिक पुस्तकालय
(श्रीमत्या परोपकारिणी सभया सञ्चालितः)
आर्य समाज मार्ग, केसरगंज,
अजमेर (राज०)

अजमेर नगरे
वैदिक यन्त्रालये मुद्रितम्

प्रकाशकीय निवेदन

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने ऋग्वेद मण्डल ७ सू० ६१ मं० २ तक का भाष्य किया था उसके आगे नवम मण्डल तक का भाष्य महामहोपाध्याय श्री पं० आर्य मुनि जी तथा श्री पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने किया था किन्तु दशम मण्डल पर अभी तक किसी ने भाष्य नहीं किया था। आर्य जनता की मांग विशेष रूप से आ रही थी इस बात को दृष्टि में रखते हुए सभा ने श्री स्वा० ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक विद्यामार्तण्ड की सेवायें प्राप्त की उन्होंने हमें दशम मण्डल का भाष्य करके प्रकाशन के लिये प्रदान किया है हम उसे दो भागों में प्रकाशित कर रहे हैं प्रथम भाग आपकी सेवा में उपस्थित किया जा रहा है इस भाष्य की मांग विशेष होने पर हम दूसरा भाग शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

परोपकारिणी सभा,
दयानन्द आश्रम, अजमेर
१, फाल्गुन २०३१

मन्त्री
परोपकारिणी सभा

वक्तव्य और बधाई

यह जानकर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने ऋग्वेद दशममण्डल का भाष्य पूरा कर दिया, मेरी हार्दिक कामना थी कि इसका भाष्य शीघ्र पूरा हो और मेरी दृष्टि आप पर ही थी मैं यही चाहता था कि यह भाष्य आपके द्वारा ही हो। आपने ग्रन्थ निर्माण का कार्य अनुपम किया है आपका सामवेद भाष्य निरुक्त भाष्य, वेदान्त दर्शन, सांख्यदर्शन तथा योग दर्शन पर भाष्य प्रशंसनीय है, वेदान्त दर्शन के भाष्य में अद्वैतवाद का मूल नहीं रहने दिया, सांख्य भाष्य में कपिल को पूर्णरूपेण ईश्वरवादी सिद्ध कर दिया, निरुक्त भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष समूल स्पष्ट किया, सामवेद का उपासनापरक भाष्य बहुत उत्तम है यमपितृपरिचय पाण्डित्य पूर्ण है, वैदिक ज्योतिष् शास्त्र, अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या आदि पुस्तकें लिखकर आपने भारी भ्रांति को हटाया ऋग्वेद के दशम मण्डल का भाष्य लिखकर आपने बड़ी भारी कमी को पूरा किया है परमेश्वर आपको स्वस्थ सुखी रखे। "भूयश्च शरदः शतात्-आयु प्रदान करे इसभाष्य के लिखने पर आपको हार्दिक बधाई और धन्यवाद देता हूँ तथा परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप को स्वास्थ्य सुख शान्ति और आयु प्रदान करे।

आपका अपना—
अमरस्वामी परिव्राजक
संन्यासआश्रम गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)

प्राक्कथनम्

अजयमेरुनगरस्थायाः परोकारिणीसभाया अधिकारिभिर्मम पार्श्वे पत्रं प्रेष्य सूचितं भवता खल्वृग्वेदान्तर्गतदशममण्डलस्य संस्कृतार्यभाषयोर्भाष्यं कर्तव्यं वयमिच्छामस्तत् प्रकाशितं च करिष्यामः, तथैव मित्रवर्येण मान्येनामरस्वामिनाहं प्रेरितः प्रोत्साहितश्च यदृग्वेदान्तर्गतदशममण्डलस्य भाष्यं भवता कर्तव्यमत्र भवान् समर्थ एतद्विचार्याहं भाष्यकरणे प्रवृत्तः। दशममण्डलं कठिनविषयकं बृहच्च, सन्ति ह्यत्र बहवः प्रसङ्गाः सन्दिग्धा अतिकठिनाश्च। तद्यथा दशमसूक्ते, यमयम्योः संवादो यश्च सायणेन भगिनीभ्रात्रोः संवादोमतस्तत्र परस्परं गार्हस्थ्य विषयः कल्पितः परन्तु तत्र न तथा वर्णनम्, महर्षिदयानन्देन पतिपत्न्योः संवादः प्रदर्शितस्तथा कृत्वैव 'अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिमत्' इति नियोगस्यानुमतिर्दत्ता तथैवास्मद्-भाष्ये द्रष्टव्यं ज्योतिर्दृष्ट्या तथा पञ्चनवतितमे सूक्ते पुरुरवस उर्वश्याश्च संवादस्तत्र सायणेनाश्लीलवृत्तं कल्पितं पत्युः पित्रे गृहेवासो न देयो न च भोजनं देयमितिपारिवारिकचर्यातो विरुद्धं कथितम्, अस्मद्भाष्ये तु गृहस्थ स्योच्चादर्शः स्थिरीकृतः षडशीतितमे सूक्ते बालगंगाधरतिलकेन काश्चिद ज्योतिषीं घटनां कल्पित्वा वेदरचनमीसामसीहतश्चतुःसहस्रवर्षपूर्वं जातमिति तद्घटनया प्रदर्शितम्, अस्मदभाष्येतु भिन्नया घटनया साधितं वेदरचनं सृष्टेरादौजातं तत्र वसन्तसम्पातो रेवती नक्षत्रस्योपरि खल्वासीत् ततो ग्रहाणां गतिरारब्धा द्व्युत्तर-शततमे सूक्ते वृषभाकृतियानं तथाष्टनवतितमे सूक्ते देवापि शन्तनुप्रसङ्गे वृष्टिविज्ञानमित्येवं विधाः प्रसङ्गा उल्लेखनीयाः सन्ति ये चास्मद् भाष्ये स्पष्टा भविष्यन्ति यद्यपिभाष्यमेतत् स्वत्वदृष्ट्या परोपकारिणीसभायै समर्प्यते तथापि भावनादृष्ट्या मान्यामरस्वामिमहोदयाय समर्प्यते येन भाष्यकरणे प्रेरितोहमिति किं बहुना।

निवेदकः
स्वामी ब्रह्ममुनिः परिव्राजको विद्यामार्तण्डः

प्राक्कथन

अजमेरस्थ परोपकारिणी सभा के अधिकारियों ने मेरे पास पत्र भेज कर सूचित किया आप ऋग्वेद के दशम मण्डल का संस्कृत और आर्यभाषा में भाष्य कर दें यह हम चाहते हैं उसे हम प्रकाशित करेंगे, तथा मित्रवर्य मान्य अमर स्वामी जी ने मुझे प्रेरित और प्रोत्साहित किया आप ऋग्वेदान्तर्गत दशम मण्डल का भाष्य कर दें आप ऐसा करने में समर्थ हैं। इस विचार से मैं भाष्य करने में प्रवृत्त हुआ। दशम मण्डल कठिन विषयवाला है और बड़ा है जैसा कि—दशवें सूक्त में यमयमी का संवाद है सायण ने इसमें बहिन भाई का परस्पर गृहस्थ विषय कल्पित किया परन्तु वहां ऐसा नहीं है, महर्षि दयानन्द ने पति-पत्नी का संवाद प्रदर्शित किया अतएव "अन्य-मिच्छस्व सुभगेपति मत्" मुझ से भिन्न पति को चाह यह नियोग की अनुमति दी है ऐसे ही हमारे भाष्य में ज्योतिष् की दृष्टि से दर्शाया है। तथा पचानवे सूक्त में पुरुरवा और उर्वशी का संवाद है सायण ने उसमें अश्लील व्यवहार दर्शाया पति के पिता को घर में वास और भोजन न देना बतलाया यह पारिवारिकचर्या के विरुद्ध कथन है, हमारे भाष्य में तो गृहस्थ का ऊंचा आदर्श स्थिर किया है। छियासी ८६ वें सूक्त में बालगङ्गाधर तिलक ने किसी ज्योतिष की घटना को कल्पित कर वेदों की रचना ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व की बतलाई हमारे भाष्य में तो भिन्न घटना से सिद्ध किया कि वेदों को रचना सृष्टि के आदि में हुई वहां बसन्त सम्पात रेवतो नक्षत्र पर था वहां से ग्रहों की गति आरम्भ हुई। एक सौ दो १०२ वें सूक्त में वृषभाकृति वाले यान और अट्ठानवें ९८ वें सूक्त में देवापि शन्तनुप्रसङ्ग वृष्टि विज्ञान इत्यादि विषयक प्रसङ्ग उल्लेखनीय हैं जो हमारे भाष्य में स्पष्ट होंगे। यद्यपि यह भाष्य स्वत्व की दृष्टि से परोपकारिणी सभा के लिये समर्पित है तथापि भावना की दृष्टि से मान्य अमर स्वामी महोदय के लिये समर्पित है जिन्होंने मुझे भाष्य करने में प्रेरित किया। इति किं बहुना।

निवेदक

□ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

❀ ओ३म् ❀

अथ दशमं मण्डलम्



प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।

देवताः—अग्निः ।

छन्दः—१, ६ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ३ विराट् त्रिष्टुप् । ४, ५ निचृत्त्रिष्टुप् । ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—लोकत्रये वर्तमानस्य बृहतोऽग्नेर्विज्ञानमुपदिश्यते ।
तीनों लोकों में वर्तमान महान् अग्नि का विज्ञानउपदिष्ट किया जाता है ।

अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात् ।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥ १ ॥

अग्रे । बृहन् । उषसाम् । ऊर्ध्वः । अस्थात् । निःऽजगन्वान् । तमसः । ज्योतिषा । आ । अगात् । अग्निः । भानुना । रुशता । सुऽअङ्गः । आ । जातः । विश्वा । सद्मानि । अप्राः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उषसाम्-अग्रे) प्रतिदिनं प्रभातवेलोपलक्षितानां भासामनन्तरम् (बृहन्-अग्निः) सूर्यात्मको महान्-अग्निः (ऊर्ध्वः-अस्थात्) उपर्याकाशे स्थितो भवति-उत्तिष्ठति (तमसः-निर्जगन्वान्) यदा रात्रेः *"तमः-रात्रिनाम"* [*निघ० १ । ७*] यद्वा पृथिवीच्छायातः-पृथिवीपृष्ठादितियावत् *"तमश्छाया"* [ऐ० ७ । १२] निर्गतः सन् (ज्योतिषा-आगात्) स्वज्योतिषा पूर्णः सम्मुखमायाति (रुशता-भानुना स्वङ्गः-आजातः) प्रज्वलता *"रुशत्-रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः"* [*निरु० ६ । १३*] प्रकाशेन पूर्णाङ्गः समन्तात् प्रसिद्धः सन् (विश्वा सद्मानि-अप्राः) सर्वाणि स्थानानि-लोकलोकान्तराणि पूरयति । *"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"* [*अष्टा० ३ । ४ । ६*] इति सामान्यकाले लङ् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(उषसाम्-अग्रे) प्रतिदिन प्रभातवेला सम्बन्धी भासमान पीलिमाओं के उपरान्त (बृहन्-अग्निः) महान् अग्नि-सूर्य (ऊर्ध्वः-अस्थात्) ऊपर आकाश में उठता है (तसमः-निर्जगन्वान्) रात्रि या पृथिवीपृष्ठ से निकलता हुआ (ज्योतिषा-आगात्) निज ज्योति से सम्मुख प्रसिद्ध होता है (रुशता भानुना स्वङ्गः-आजातः) जलते हुए-तपाते हुए प्रकाश से पूर्णाङ्ग हुआ भलीभांति प्रसिद्ध हो जाता है (विश्वा सद्मानि-अप्राः) और सारे स्थानों–लोक लोकान्तरों को पूर देता है–भर देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतिदिन प्रातः वेला सम्बन्धी पीलिमाओं के उपरांत महान् अग्नि सूर्य ऊपर आकाश में रात्रि या पृथिवी-पृष्ठ से निकलकर आता है; तब अपने तापक प्रकाश से सब स्थानों, लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित कर देता है। ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है—करे ॥ १ ॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः ॥ २ ॥

सः । जातः । गर्भः । असि । रोदस्योः । अग्ने । चारुः । विऽभृतः । ओषधीषु । चित्रः । शिशुः । परि । तमांसि । अक्तून् । प्र । मातृऽभ्यः । अधि । कनिक्रदत् । गाः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रोदस्योः-गर्भः) द्यावापृथिव्योः *"रोदसी द्यावापृथिवीनाम"* [*निघ०-३ । ३०*] गर्भभूतो गर्भ इव मध्ये वर्तमानो यद्वा तयोस्तत्रस्थपदार्थानां शब्दयिता वर्णयिता प्रकटयिता, *"गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे"* [*निरु० १० । २३*] (सः-जातः-असि) स त्वं सूर्यः प्रसिद्धः सर्वैः साक्षाद् दृष्टिपथमागतो भवसि (ओषधीषु) ओषं तवौष्ण्यं धयन्तीषु पृथिवीषु *"जगत्य ओषधयः"* [*श० १ । २ । २ । २*] *"इयं पृथिवी वै जगती"* [*श० १२ । ८ । २ । २०*] तत्रस्थासु खल्वोषधिषु च (विभृतः) विशेषेण धृतः सन् (चारुः) चरणीयः-भोजनपाकहोमकार्येषु सेवनीयः *"चारु चरतेः"* [*निरु० ८ । १४*] (अग्ने) अग्निः 'व्यत्ययेन सम्बुद्धिः' पार्थिवोऽग्निरुच्यते स सूर्यः (चित्रः शिशुः) चायनीयो दर्शनीयः प्रशंसनीयश्च *"शिशुः शंसनीयो भवति"* [*निरु० १० । ३९*] (मातृभ्यः-अधिगाः प्रकनिक्रदत्) यदा पृथिवीषु *"नमो मात्रे पृथिव्यै"* [*जै० १ । १२९*] *"इयं पृथिवी वै माता"* [*श० १३ । १ । ६ । १ ।*] रश्मीन् *"सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते"* [*निरु० २ । ८*] भृशं प्रगमयन् प्रेरयन् *"कनिक्रदत् गच्छन्"* [*यजु० ११ । ४३ । दयानन्दः*] (तमांसि-अक्तून् परि) अग्निरूपेणान्धकारान् पर्यस्यसि सूर्यरूपेण रात्रीः परिक्षिपसि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(रोदस्योः- गर्भः) द्युलोक और पृथिवी लोक का गर्भ–गर्भ समान मध्य में वर्तमान अथवा उनका तथा उनके ऊपर स्थित पदार्थों का वर्णन करने वाला–प्रकट करने वाला (सः-जातः-असि) वह तू सूर्य दृष्टिपथ में आया होता है (ओषधीषु) तेरे ओष–ताप को पीने वाली पृथिवियों पर तथा उन पर स्थित ओषधियों में (विभृतः) विशेष रूप से प्रविष्ट हुआ

(चारुः) चरणीय-भोजन पाक होम आदि कार्यों में सेवनीय (अग्ने) अग्नि नाम से पार्थिव अग्नि ! तू कहा जाता है (चित्रःशिशुः) दर्शनीय तथा प्रशंसनीय है (मातृभ्यः-अधि) जब पृथिवियों पर (गाः-प्रकनिक्रदत्) अपनी किरणों-ज्वालाओं को प्रेरित करता हुआ (तमांसि-अक्तून् परि) अग्निरूप से अन्धकारों को परे भगाता है और सूर्य रूप से रात्रियों को परे हटाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी लोक और द्युलोक का गर्भ—गर्भसमान मध्य में रहने वाला तथा उनका औरउन पर स्थित पदार्थों को दर्शाने—बताने वाला सूर्य है। पृथिवी पर से अग्निरूप से अन्धकारों को दूर भगाता है, सूर्यरूप से रात्रियों को परे हटाता है। ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् मानव समाज एवं प्रत्येक गृह में प्रवचन कर अज्ञानान्धकार—अविद्यारात्रि को भगाकर सावधान करें ॥ २ ॥

विष्णुरित्था पर॒मम॑स्य वि॒द्वाञ्जा॒तो बृ॒हन्न॒भि पा॑ति तृ॒तीय॑म् ।
आ॒सा यद॑स्य॒ पयो॒ अक्र॑त॒ स्वं सचे॑तसो अ॒भ्य॑र्च॒न्त्यत्र॑ ॥ ३ ॥

विष्णुः । इ॒त्था । प॒र॒मम् । अ॒स्य॒ । वि॒द्वान् । जा॒तः । बृ॒हन् । अ॒भि । पा॒ति॒ । तृ॒तीय॑म् । आ॒सा । यत् । अ॒स्य॒ । पय॑ः । अक्र॑त । स्वम् । सऽचे॑तसः । अ॒भि । अ॒र्च॒न्ति॒ । अत्र॑ ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इत्था) इत्थम्भूतस्य (अस्य) सूर्यस्य (परमं तृतीयम्) परे भवं तृतीयं लोकं द्युलोकम् (विद्वान् बृहन् विष्णुः-जातः-अभिपाति) जानन् सन् महान् व्यापकः परमात्मा पूर्वतः प्रसिद्धस्तत्र तं परिरक्षति *"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओ३म् खं ब्रह्म" [यजु० ४० । १७]* (अस्य-आसा) अस्य विष्णोः परमात्मन आस्येन मुखेन मुखभूतेन प्रमुखतया द्योतकेन सूर्येण (यत् पयः स्वम्-अक्रत) यं ज्ञानरसं *"रसो वै पयः" [श० ४ । ४ । ४ । ८]* ये स्वीकुर्वन्ति-आत्मसात्कुर्वन्ति (अत्र सचेतसः-अभ्यर्चन्ति) ते प्रज्ञावन्तो विद्वांसस्तज्ज्ञानप्रदं विष्णुं परमात्मानमस्मिन् स्वस्मिन् जीवने सम्यक् स्तुवन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इत्था) ऐसे (अस्य) इस सूर्य के (परमं तृतीयम्) परे वर्तमान द्युलोक को (विद्वान् बृहन् विष्णुः जातः अभिपाति) जानता हुआ महान् व्यापक परमात्मा पूर्व से प्रसिद्ध हुआ वहां द्युलोक में इस सूर्य का सर्वतोभाव से रक्षण करता है (अस्य-आसा) इस व्यापक परमात्मा के मुखभूत—प्रमुखद्योतक सूर्य के द्वारा (यत् पयः स्वम्-अक्रत) जिस ज्ञानरस को जो स्वकीय बनाते हैं—आत्मसात् करते हैं, (अत्र सचेतसः-अभ्यर्चन्ति) वे प्रज्ञावान् विद्वान् उस ज्ञान के दाता व्यापक परमात्मा की इस अपने जन्म में सम्यक् स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—द्युलोक में सूर्य को सम्भालने वाला महान् व्यापक परमात्मा है, विद्वान् जन उस परमात्मा की स्तुति कर उससे अध्यात्मरस अपने अन्दर आत्मसात् करे तथा विद्यासूर्य विद्वान् अपने ऊंचे ज्ञानपीठ से विराजमान हुए परमात्मा से प्राप्त वेद-ज्ञान का ज्ञानरस देकर जनमात्र को परमात्मा के उपासक बनावें ॥ ३ ॥

अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः ।
ता ईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता ॥ ४ ॥

अतः । ऊँ इति । त्वा । पितुऽभृतः । जनित्रीः । अन्नऽवृधम् । प्रति । चरन्ति । अन्नैः । ताः । ईम् । प्रति । एषि । पुनः । अन्यऽरूपाः । असि । त्वम् । विक्षु । मानुषीषु । होता ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अतः-उ) अत एव (अन्नावृधं त्वा) अन्नवर्धकं बृहन्तमग्निं त्वां सूर्यम् (पितुभृतः-जनित्रीः-अन्नैः) ओषधयोऽन्नं धारयित्र्यः *"पितु-अन्ननाम"* *[निघं० २ । ७]* जनयित्र्यश्च प्राणिनां प्रादुर्भावयित्र्यः पोषयित्र्योऽन्नैः, यान्यन्नानि धारयन्ति तैरेवेत्यर्थः (प्रतिचरन्ति) त्वां सूर्यं स्वस्मिन् धारयन्ति, न हि त्वया विना ता अन्नं धारयितुं शक्ता न च प्राणिपोषणे समर्था भवन्ति (पुनः-ईम्) पुनः खलु (ताः-अन्यरूपाः प्रत्येषि) ताः शुष्का ओषधीः पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा प्राप्तो भवसि (मानुषीषु विक्षु होता-असि) मानवीयप्रजासु तदर्थं भोजनपाकहोमाद्यभीष्टकार्यस्य सम्पादयिता भवसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अतः-उ) अतएव (अन्नावृधं त्वा) अन्नवर्धक तुझ सूर्य को (पितुभृतः-जनित्रीः-अन्नैः) अन्न को धारण करने वाली और जीवन-पोषण देने वाली ओषधियां (प्रतिचरन्ति) तुझ सूर्य को अपने अन्दर धारण करती हैं—आत्मसात् करती हैं; तेरे बिना वे अन्न धारण नहीं कर सकतीं, न प्राणियों को प्रादुर्भूत कर सकतीं तथा न जीवन पोषण दे सकती हैं (पुनः-ईम्) पश्चात् ही (ताः-अन्यरूपाः- प्रत्येषि) उन अन्यरूप हुई-सूखी हुई ओषधियों को तू पार्थिव अग्नि होकर प्राप्त होता है (मानुषीषु विक्षु होता भवसि) यतः मानव प्रजाओं के निमित्त उनके भोजन पाक होम आदि अभीष्ट कार्य का सम्पादन करने वाला होता है—बनता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य ओषधियों में अन्न धारण करता है, प्राणियों के लिए उनमें जीवन-पोषण शक्ति देता है। पुनः पकी-सूखी हो जाने पर पार्थिव अग्नि के रूप में होकर उन्हें जला देता है जो मनुष्यों के लिए भोजन होम आदि अभीष्ट कार्य का साधक बनता है। विद्यासूर्य विद्वान् अपने ज्ञानोपदेश से ओषधियों को फलने, रक्षण करने और प्राणियों को उनके सेवन से स्वस्थ रहने तथा दीर्घ जीवन तक पुष्टि प्राप्त करने के लिए समर्थ बनावें ॥ ४ ॥

होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम् ।
प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्व१ग्निमतिथिं जनानाम् ॥ ५ ॥

होतारम् । चित्रऽरथम् । अध्वरस्य । यज्ञस्यऽयज्ञस्य । केतुम् । रुशन्तम् । प्रतिऽअर्धिम् । देवस्यऽदेवस्य । मह्ना । श्रिया । तु । अग्निम् । अतिथिम् । जनानाम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध्वरस्य यज्ञस्य-यज्ञस्य होतारम्) अहिंसनीयस्य-अबाध्यस्य यज्ञमात्रस्य जीवनयज्ञस्य होमयज्ञस्य च सम्पादयितारम् (रुशन्तम्-केतुम्) ज्वलन्तं सर्वप्रेरकं सूर्यम् (चित्ररथम्) दर्शनीयमण्डलवन्तं तथा (देवस्य देवस्य प्रत्यर्धिम्) द्योतमानस्य ग्रहनक्षत्रादिकस्य *"देवः-द्युस्थानो भवतीति वा"* [*निरु० ७ । १६*] दिव्यपदार्थस्य ज्ञानिनो जनस्य च प्रतिवर्धकम् (जनानां मह्ना श्रिया तु-अतिथिम्) जन्यमानानां प्राणिनां स्वमहत्या कान्त्या दीप्त्या क्षिप्रं निरन्तरं गमनशीलं प्रवेशकर्त्तारम् (अग्निम्) सूर्यरूपं बृहन्तमग्निं वयं सेवेमहि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध्वरस्य यज्ञस्य यज्ञस्य होतारम्) अहिंसनीय–अबाध्य प्रत्येक जीवन यज्ञ और होमयज्ञ के सम्पादक (रुशन्तम् केतुम्) प्रकाशमान प्रेरक (चित्ररथम्) दर्शनीय मण्डल वाले (देवस्य देवस्य प्रत्यर्धिम्) प्रत्येक द्योतमान आकाश में प्रकाशमान ग्रह नक्षत्र आदि के और ज्ञानी जन के प्रतिपोषक (जनानां मह्ना श्रिया तु अतिथिम्) जन्यमान प्राणियों में अपनी महती दीप्ति से शीघ्र–तुरन्त निरन्तर प्रवेश करने वाले (अग्निम्) महान् अग्नि सूर्य का हम सेवन करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रयेक जीवनयज्ञ होमयज्ञ का सम्पादक, तथा प्रत्येक ग्रह तारे का प्रकाशक, ज्ञानी जन का उत्साहक, उत्पन्न प्राणियों के अन्दर अपनी दीप्ति द्वारा प्रवेश कर उत्साहित करने वाला सूर्य है; उसका प्रातः अथवा अन्य विधियों से सेवन करना चाहिए । ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् कर्मपरायण जन के कर्मयाग और ज्ञानीजन के ज्ञानयज्ञ को सम्पन्न करावें, तथा जनमात्र में जीवन निर्वाहक साधनों का प्रवचन करें ॥ ५ ॥

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः ।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन्यक्षीह देवान् ॥ ६ ॥

सः । तु । वस्त्राणि । अध । पेशनानि । वसानः । अग्निः । नाभा । पृथिव्याः । अरुषः । जातः । पदे । इळायाः । पुरःऽहितः । राजन् । यक्षि । इह । देवान् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अथापि (सः-तु-अग्निः) स एव बृहन्-अग्निः सूर्यः (पृथिव्याः-नाभा) अन्तरिक्षस्य मध्ये *"पृथिवी-अन्तरिक्षनाम"* [*निघ० १ । ३*] *"सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छे"*० [*अष्टा० ७ । १ । ३९*] आकारादेशः *"मध्यं वै नाभिः* [*श० १ । १ । २ । २ ।*] (इळायाः पदे जातः-अरुषः) वृष्टयाः पदे मेघे *"वृष्टिर्वा इळा"* [*तै० सं० १ । ७ । २ । ५*] विद्युद्रूपेण जातो रोचमानः सन् (पेशनानि वस्त्राणि वसानः) हिरण्यानि सुवर्णरूपाणि *"पेशः-हिरण्यनाम"* [*निघ० १ । २*] वस्त्राणि-वस्त्राणीव तरङ्गात्मकानि शाटीसदृशानि तिरश्चीनि परिदधानः (पुरः-हितः) साक्षात् खल्वाकाशे धृतः

सन् (राजन्) त्वं वर्षाकामनायाः स्वामिन् ! (इह देवान् यक्षि) अस्मिन्मेघमण्डले वायुप्रभृतीन् देवान् स्वस्मिन् योजय वृष्टिनिपातनाय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध) और फिर (सः-तु-अग्निः) वह ही महान् अग्नि (पृथिव्याः-नाभा) अन्तरिक्ष के मध्य में (इळायाः पदे जातः-अरुषः) वृष्टि के प्राप्ति स्थान मेघ में विद्युद्रूप से प्रकट-रोचमान हुआ (पेशनानि वस्त्राणि वसानः) सुवर्णरूप-सुनहरी वस्त्रसदृश तिरछी साड़ी समान चमचमाती तरङ्गों को पहिनता हुआ (पुरः-हितः) सम्मुख-साक्षात् आकाश में रखा हुआ (राजन्) वर्षा की कामना का स्वामी तू (इह देवान् यक्षि) यहां मेघमण्डल में वायु आदि देवों को अपने में संयुक्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—महान् अग्नि सूर्य आकाश में वर्षा के स्थान मेघ में विद्युद्रूप से प्रकट हो, चमचमाती तिरछी तरङ्ग रूप साड़ी वस्त्र पहिना हुआ सा, वायु आदि देवों के सहयोग से वृष्टि का निमित्त बनता है। विद्यासूर्य विद्वान् विद्यालंकृत हुआ विद्या-स्थान में बैठकर प्रवचनामृत की वृष्टि करे ॥ ६ ॥

आ हि द्यावापृथिवी अग्न उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ ।
प्र याह्यच्छोशतो यविष्ठाथा वह सहस्येह देवान् ॥ ७ ॥

आ । हि । द्यावापृथिवी इति । अग्ने । उभे इति । सदा । पुत्रः । न । मातरा । ततन्थ । प्र । याहि । अच्छ । उशतः । यविष्ठ । अथ । आ । वह । सहस्य । इह । देवान् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यविष्ठ सहस्य-अग्ने) हे युवतम ! लोकत्रयेण महातिशयेन यौति मिश्रयति संयुक्तो भवति यः स यविष्ठः, तथाभूत ! दिवि सूर्यरूपेण, अन्तरिक्षे च विद्युद्रूपेण वर्त्तमान सहस्य ! सहसि सामर्थ्ये–आकर्षणे साधुर्यस्तत्सम्बुद्धौ सहस्य *"सहसा सामर्थ्येनाकर्षणेन वा"* [ऋ० १ । ५१ । १ । दयानन्दः] पृथिव्यां सर्वकार्याणामग्रणी-भूतस्तथाभूत त्वमग्ने बृहन्नग्ने ! (उभे द्यावापृथिवी) उभौ द्युलोकपृथिवीलोकौ (सदा हि-आततन्थ) सर्वदैव सूर्यरूपः सन् स्वप्रकाशेन प्रकाशयति (पुत्रः-न मातरा) माता-पितरौ यथा पुत्रः स्वगुणाचरणैः प्रकाशयति–प्रसिद्धौ करोति (उशतः अच्छ प्रयाहि) त्वां कामयमानानस्मान् साधुरूपेण प्राप्तो भवसि, अतः (इह देवान्-आवह) अत्र स्वरश्मीन् *"उदिता देवाः सूर्यस्य"* [ऋ०] *"आदित्यस्य वै रश्मयो देवाः* [तै० सं० ६ । ४ । ५ । ५ ।] प्रापय प्रापयसि वा ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यविष्ठ सहस्य-अग्ने) हे युवतम ! तीनों लोकों के साथ अतिशय से संयुक्त होने वाले ! द्युलोक में सूर्यरूप से तथा अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से वर्त्तमान ! सहस्य ! सह-सामर्थ्य आकर्षण वाले प्रदर्शन में साधु, पृथिवी पर सब कार्यों का अग्रणी अग्नि ! (उभे

द्यावापृथिवी) दोनों-द्युलोक पृथिवी लोक को (सदा हि-आ ततन्थ) सर्वदा ही सूर्यरूप हुआ अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है (पुत्रः-न मातरा) जैसे कि मातापिताओं को पुत्र अपने गुणाचरणों द्वारा प्रकाशित करता है–प्रसिद्ध करता है। (उशतः-अच्छ प्रयाहि) तुझे चाहने वाले हम लोगों को साधुरूप से प्राप्त हो–होता है (इह देवान्-आवह) यहां हमारी ओर अपनी किरणों को प्राप्त कराता–प्रेरित करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्य महान् अग्नि है, वह तीनों लोकों से संयुक्त होता है, द्युलोक में साक्षात् सूर्यरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से और पृथिवी पर अग्नि रूप से प्रसिद्ध होता है। सूर्य के प्रकाश का जीवन में उपयोग लेना चाहिये। विद्यासूर्य विद्वान् केवल अपने वंश या स्थान में ही ज्ञान का प्रकाश नहीं करते किंतु राष्ट्रभर में अपितु पृथिवी भर में करते हैं ॥ ७ ॥



द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।
देवता—अग्निः ।
छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ५-७ निचृत् त्रिष्टुप् । ३, ४ त्रिष्टुप् ।
स्वरः—धैवतः
विषयः—पूर्ववत् ।

पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ विद्वाँ ऋतूँरृतुपते यजेह ।
ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वं होतॄणामस्यायजिष्ठः ॥ १ ॥

पिप्रीहि । देवान् । उशतः । यविष्ठ । विद्वान् । ऋतून् । ऋतुऽपते । यज । इह । ये । दैव्याः । ऋत्विजः । तेभिः । अग्ने । त्वम् । होतॄणाम् । असि । आऽयजिष्ठः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यविष्ठ) हे युवतम ! लोकत्रयेण सह मिश्रणधर्मन् ! (ऋतुपते) हे-ऋतूनां स्वामिन् ! पालक ! वा सूर्य ! *"ऋतुपाः-य ऋतुं पाति रक्षति स सूर्यः"* [*ऋ० ३ । ४६ । २ । दयानन्दः*] (उशतः-देवान्) स्वां कामयमानान् ज्योतिर्विदो विदुषः (पिप्रीहि) स्वविज्ञानेन प्रीणय (विद्वान्) वेदयन्-ज्ञापयन् ज्ञापनायेत्यर्थः *"लक्षणहेत्वोः क्रियायाः"* [*अष्टा० ३ । २ । १३६*] इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः (इह-ऋतून् यज) अत्र संसारे ऋतून् वसन्तादीन्, कालान्-कालविभागान् वा *"ऋतुभिः कालैः"* [*निरु० ८ । ४*] सङ्गमय *"यज-सङ्गमय"* [*ऋ० १ । १४ । ११ । दयानन्दः*] (ये दैव्याः-ऋत्विजः) ये खलु मन्त्राः *"छन्दांसि वा ऋत्विजः"* [*मै० ३ । ६ । ८*] अथवा दिशः *"सप्तर्त्विजः सूर्याः सप्त दिशो नानाः सूर्याः* [*तै० आ० १ । ७ । ४*] (तेभिः) तैः सह (अग्ने) हे बृहन्-अग्ने सूर्य ! (त्वं होतॄणाम्-आयजिष्ठः-असि) ज्ञानग्रहीतॄणां त्वं समन्तात् सङ्गन्तृतमोऽसि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यविष्ठ) हे तीनों लोकों के साथ अत्यन्त संयुक्त होने वाले (उशतः-देवान्) तुझे चाहने वाले ज्योतिर्विद्या ज्ञाता विद्वानों को (पिप्रीहि) अपने विज्ञान से प्रसन्न कर-सन्तुष्ट कर (ऋतुपते) हे ऋतुओं के स्वामी या पालक ! (विद्वान्) उन्हें जनाने के हेतु (इह) इस संसार में (ऋतून् यज) वसन्त आदि ऋतुओं या कालों—कालविभागों–वर्ष, मास, दिन, रात्रि, प्रहर आदि को सङ्गत कर (ये दैव्याः-ऋत्विजः) जो मनुष्यों के नहीं किन्तु देवों—आकाशीय देवों के ऋत्विक् मन्त्र—मननीय वचन, विचार या दिशाएं हैं (तेभिः) उनके द्वारा (अग्ने त्वम्) हे सूर्य ! तू (होतॄणाम्-आयजिष्ठः) उन ज्ञानग्राहक विद्वानों को सब ओर से अत्यन्त ज्ञानग्रहण कराने वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—ज्योतिषी विद्वानों के लिये सूर्य एक ज्ञान ग्रहण कराने का साधन है। ऋतु या काल विभाग सूर्य से ही होते हैं तथा दिशाओं में वर्त्तमान ग्रह तारे आदि का ज्ञान भी सूर्य से ही मिलता है। विद्यासूर्य विद्वान् के द्वारा दिव्य ज्ञानों की प्राप्ति होती है। वह सुखद समय का निर्माण करता है। जीवन यात्रा की दिशाओं को दिखाता है॥ १॥

वेषि होत्रमुत पोत्रं जनानां मन्धातासि द्रविणोदा ऋतावा।
स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन्॥ २॥

वेषि। होत्रम्। उत। पोत्रम्। जनानाम्। मन्धाता। असि। द्रविणःऽदाः। ऋतऽवा। स्वाहा। वयम्। कृणवाम। हवींषि। देवः। देवान्। यजतु। अग्निः। अर्हन्॥ २॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जनानां होत्रम्-उत पोत्रं) जायमानानां प्राणिनां होतव्यं हव्यमदनीयं भोज्यमाहारं तथा पोतव्यं पवित्रीकरणीयं पवनीयं जलं शरीरं शरीरस्वास्थ्यम् (वेषि) प्रापयसि (द्रविणोदाः) धनस्य-नानाधनस्य दाता (ऋतावा) सत्यज्ञानप्रदः—सत्यज्ञानस्य हेतुः (मन्धाता) मनं मननं धापयतीति मन्धाता विचार-शक्तिप्रदः (असि) भवसि (वयं हवींषि कृणवाम) वयं बहुविधज्ञानानि सम्पादयेम "हविः-आदेयं विज्ञानम्" [ऋ० १। १०। ८। दयानन्दः] अथ परोक्षेणोच्यते (अर्हन् अग्निः-देवः-देवान् यजतु) स प्रशंसनीयो बृहन् अग्निः सूर्यः कामयमानान् ज्योतिर्विदो विदुषः-सङ्गमयतु स्वज्ञानेन (स्वाहा) इति सुष्ठु ज्ञानम्॥ २॥

भाषान्वयार्थ—(जनानां होत्रम्-उत पोत्रं वेषि) जायमान प्राणियों का अदनीय-भोगने योग्य-खाने योग्य अन्नादि को और पवित्र करने योग्य जल शरीर को प्राप्त कराता है (द्रविणोदाः) सोना आदि विविध धनों का दाता (ऋतावा) सत्यज्ञान का निमित्त (मन्धाता) मननशक्ति धारण कराने वाला (असि) है (वयं हवींषि कृणवाम) हम बहुविध ज्ञान सम्पादन करें (अग्निः-देवः-देवान् यज) महान् अग्नि सूर्य उसे चाहने वाले ज्योतिषियों को अपने ज्ञान से संयुक्त करे (स्वाहा) यह अच्छा ज्ञान है।॥ २॥

भावार्थ—प्राणियों के भोजन और जीवन रक्षा का निमित्त सूर्य है। वही सोना आदि धन पृथिवी में उत्पन्न करने का भी निमित्त है, सत्यज्ञान मननशक्ति का भी वही दाता है। ज्योतिषी लोग उससे बहुत कुछ ज्ञान लेते हैं। विद्यासूर्य विद्वान् से मनुष्य भोजन-पदार्थ और स्वास्थ्य का ज्ञान करें तथा दानादि कर्त्तव्य को सीखें॥ २॥

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोळ्हुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता सो अध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति॥ ३॥

आ । देवानाम् । अपि । पन्थाम् । अगन्म । यत् । शक्नवाम । तत् । अनु । प्रऽवोळ्हुम् । अग्निः । विद्वान् । सः । यजात् । सः । इत् । ऊं इति । होता । सः । अध्वरान् । सः । ऋतून् । कल्पयाति ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानाम्-अपि पन्थाम्) द्युस्थानभवानां चन्द्रादिग्रहोपग्रहाणां खल्वपि *"देवः-द्युस्थानो भवतीति वा"* *[निरु० ७ । १६]* पन्थानं मार्गं गगनक्रमम् पन्थानमिति स्थाने पन्थामिति छान्दसः प्रयोगः (आ-अगन्म) जानीयाम (यत्-शक्नवाम) यतो ज्ञातुं समर्था भवेम (तत्-अनु प्रवोढुम्) तदनुसरन्तः प्रवाहयितुं प्रचारयितुं कार्येऽनुष्ठातुमारभेमहि-इत्यर्थः (सः-अग्निः-विद्वान्) स एव सूर्योऽग्निर्वेदयन्-द्युस्थानानां ग्रहाणां मार्गं ज्ञापयन् सन् (यजात्) ज्योतिर्विद्यायां सङ्गमयेत्-'अन्तर्गतणिजर्थः (स-इत्) सः *"सुपां सुलुक्०"* *[अष्टा० ७ । १ । ३९]* इति सोलुक्, एव (होता) ज्योतिर्विज्ञानस्य सम्पादननिमित्तीभूतः (सः-अध्वरान् सः-ऋतून् कल्पयाति) सः प्राणान् *"प्राणोऽध्वरः"* *[श० ७ । ३ । १ । ५]* ऋतूंश्च सम्पादयति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानाम्-अपि-पन्थाम्) द्युस्थानी ग्रहों के भी मार्ग—गतिक्रम को (आ-अगन्म) हम जान लें (यत्-शक्नवाम) जिससे कि जानने में समर्थ होवें (तत्-अनु प्रवोढुम्) उसके अनुसार प्रचार अनुष्ठान करने का आरम्भ कर सकें (सः-अग्निः-विद्वान्) वह सूर्य अग्नि ग्रहों के मार्ग को जनाता हुआ (सः-यजात्) हमें ज्योतिर्विद्या में जोड़ देता है (स-इत्) वह ही (होता) ज्योतिर्विज्ञान का सम्पादक या निमित्त है (सः-अध्वरान् सः-ऋतून् कल्पयाति) वह समस्त जीवों में प्राणों का और समस्त स्थानों में ऋतुओं का सञ्चार करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य का ज्ञान मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आकाश में ग्रह तारों के गतिमार्गों के ज्ञान का निमित्त, ज्योतिर्विद्या का आधार तथा जीवों में प्राणों का प्रेरक एवं लोकों पर ऋतुसञ्चार का कारण वही सूर्य है। विद्यासूर्य विद्वान् से दिव्य जीवन के मार्ग को जानना चाहिये और प्राणविद्या तथा काल-ज्ञान को ग्रहण करना चाहिये ॥ ३ ॥

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद्विश्वमा पृणाति विद्वान्येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ॥ ४ ॥

यत् । वः । वयम् । प्रऽमिनाम । व्रतानि । विदुषाम् । देवाः । अविदुःऽतरासः । अग्निः । तत् । विश्वम् । आ । पृणाति । विद्वान् । येभिः । देवान् । ऋतुऽभिः । कल्पयाति ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे द्युस्थानिनो ग्रहास्तद्वेत्तारो वा (वयं-अविदुष्टरासः) वयं ज्योतिर्विद्यायां सर्वथाऽज्ञानिनः (वः- विदुषाम्) युष्माकं वेद्यानां विदुषां वा (यत्-व्रतानि प्रमिनाम) यत् खलु कर्म नियमेन हिंस्मः—उल्लङ्घयेम (अग्निः-विद्वान् तत्-विश्वम्-आपृणाति) स सूर्यो ज्ञाननिमित्तः सन् तत् सर्वमापूरयति पूर्णं करोति

(येभिः-ऋतुभिः-देवान् कल्पयाति) यैः कालैर्द्युस्थानान् ग्रहादीन् स स्वकीयसौरमण्डलस्थे मार्गे गमनाय समर्थान् करोति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे द्युस्थान के ग्रहो ! (वयम्-अविदुष्टरासः) हम ज्योतिर्विद्या में सर्वथा अज्ञानी (वः-विदुषाम्) तुम ज्योतिर्विद्या के ज्ञाननिमित्तों के (यत्-व्रतानि प्रमिनाम) जिन कर्मों—नियमों को हिंसित करते हैं—तोड़ते हैं, भूल करते हैं (अग्निः-विद्वान्) सूर्य अग्नि ज्ञान का निमित्त हुआ (तत्-विश्वम्-आपृणाति) उस सब को पूरा कर देता है (येभिः-ऋतुभिः देवान् कल्पयाति) जिन काल क्रियाओं द्वारा वह ग्रहों को अपने सौर मण्डल के गतिमार्ग में गति करने को समर्थ बनाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ग्रहों के ज्ञान में अनभिज्ञ जन जो भूल कर देते हैं सूर्य को ठीक-ठीक समझने पर वह भूल दूर हो जाती है कारण कि सूर्य ही कालक्रम से ग्रहों को सर्व गति-मार्गों में चलाता है। विद्वानों के शिक्षण में कहीं अपनी अयोग्यता से भूल या भ्रांति प्रतीत हो तो विद्यासूर्य महा विद्वान् से पूर्ति करनी चाहिए ॥ ४ ॥

यत्पा॑क॒त्रा मन॑सा दी॒नद॑क्षा॒ न य॒ज्ञस्य॑ मन्व॒ते मर्त्या॑सः ।
अ॒ग्निष्टद्धोता॑ क्रतु॒विद्वि॑जा॒नन्यजि॑ष्ठो दे॒वाँ ऋ॑तु॒शो य॑जाति ॥ ५ ॥

यत् । पा॒क॒ऽत्रा । मन॑सा । दी॒नऽद॑क्षाः । न । य॒ज्ञस्य॑ । म॒न्व॒ते । मर्त्या॑सः । अ॒ग्निः । तत् । होता॑ । क्र॒तु॒ऽवित् । वि॒ऽजा॒नन् । यजि॑ष्ठः । दे॒वान् । ऋ॒तु॒ऽशः । य॒जा॒ति ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पाकत्रा मनसा) पक्तव्येनार्थादविपक्वेन *"पाकः पक्तव्यः"* [*निरु० ६ । १२*] *"देव····द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्"* [*अष्टा० ५ । ४ । ५६*] बहुलग्रहणात् तृतीयायां त्रा प्रत्ययः, मनसा (दीनदक्षाः) क्षीणज्ञानबलाः (मर्त्यासः) मनुष्याः (यज्ञस्य न मन्वते) यज्ञं भुवनज्येष्ठं द्युमण्डलम् *"यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः"* [*कौ० २५ । ११*] *"यज्ञो वै भुवनम्"* [*तै० ३ । ३ । ७ । ५*] द्वितीयार्थे षष्ठी व्यत्ययेन, न खलु जानन्ति (यत्-होता-क्रतुवित्-अग्निः-तत्-विजानन्) यत् ग्रहीता स्वाश्रये स्थापयिता, क्रियावन्तं ग्रहादिकं स्वाश्रये लब्धा प्रापयिता महान्-अग्निः-सूर्यो विज्ञायमानः, "कर्मणि कर्तृ प्रत्ययः" (यजिष्ठः) अतिशयेन सर्वैः सह सङ्गतः (ऋतुशः-देवान् यजाति) कालशो यथाकालं ग्रहान् तद्गत्यां सङ्गमयति संयोजयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(पाकत्रा मनसा) पकने योग्य—न पके अल्पज्ञान वाले मन से (दीनदक्षाः) क्षीण ज्ञानबल वाले या क्षीण आत्मबल वाले (मर्त्यासः) मनुष्य (यज्ञस्य न मन्वते) द्युमण्डल रूप यज्ञ को नहीं समझते हैं, (यत् होता क्रतुवित्-अग्निः-तत्-विजानन्) कि स्वाश्रय में ग्रहों को ग्रहण—स्थापन करने वाला, क्रिया वाले गतिशील ग्रह आदि को अपने आश्रय में लेने वाला महान् अग्नि सूर्य विज्ञान में आया हुआ (यजिष्ठः) अत्यन्त सयुक्त होने वाला प्रेरक (ऋतुशः-देवान् यजाति) समयानुसार—कालव्यवस्था से—कालक्रम से ग्रहों को उनकी गति से युक्त करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जन साधारण अल्पज्ञान के कारण यह नहीं जानते कि द्युमण्डल में ग्रह तारों को सूर्य अपने आश्रय में रखकर, उनका आकर्षण बल से कालक्रम में गतिप्रेरक है, यह ज्योतिर्वित् ही जानते हैं। अल्पज्ञान के कारण जो मनुष्य पदार्थों को समझने में असमर्थ हों और उनके प्रयोग को न जान सकें तो उन्हें ज्योतिर्विद्वानों से जानना चाहिये ॥ ५ ॥

विश्वे॑षां ह्य॑ध्वरा॒णामनी॑कं चि॒त्रं के॒तुं जनि॑ता त्वा ज॒जान॑ ।
स आ य॑जस्व नृ॒वती॒रनु॑ क्षाः स्पा॒र्हा इषः॑ क्षु॒मती॑र्वि॒श्वज॑न्याः ॥ ६ ॥

विश्वे॑षाम् । हि । अ॒ध्व॒राणा॑म् । अनी॑कम् । चि॒त्रम् । के॒तुम् । जनि॑ता । त्वा॒ । ज॒जान॑ । सः । आ । य॒ज॒स्व॒ । नृ॒ऽवती॑ः । अनु॑ । क्षाः । स्पा॒र्हाः । इषः॑ । क्षु॒ऽमती॑ः । वि॒श्वऽज॑न्याः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वेषाम्-अध्वराणां हि) सर्वेषां खल्वध्वनि रममाणानां, अध्वनि रमते-इति 'डः' प्रत्ययः *"सप्तम्यां जनेर्डः"* [अष्टा० ३ । २ । ९७] *"अन्येभ्योऽपि दृश्यते"* [वा० अष्टा० ३ । २ । १०१] यद्वा-अध्ववतां ग्रहाणाम्-अध्वशब्दात् र प्रत्ययो मत्वर्थीयश्छान्दसः (अनीकम्) मुखं प्रमुखं यथा सेनायाः सेनानीरनीकं भवति *"सेनायाः सेनानीरनीकम्"* [श० ५ । ३ । ८ । १] (चित्रम्) चायनीयम्-दर्शनीयम् (केतुम्) दर्शकं सूर्यम् (त्वा जनिता जजान) त्वां सूर्यं जनयिता परमात्मा-उत्पादितवान् (सः-आ) त्वं सूर्यः (नृवतीः क्षाः) मनुष्यादिप्रजावतीः *"प्रजा वै नरः"* [ऐ० २ । ४] पृथिवीः, तथा (स्पार्हाः क्षुमतीः-विश्वजन्याः-इषः-यजस्व) स्पृहणीया अन्नवतीः सर्वप्राणिजननयोग्याः-वृष्टीः *"वृष्टचै तदाह यदाहेषे"* [श० १४ । २ । २ । १७] सङ्गमय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थः—(विश्वेषाम्-अध्वराणाम्) समस्त मार्ग में रमण करने वाले या मार्ग वाले ग्रहतारों के (अनीकम्) मुख—प्रमुख सेनाओं के सेनानी के समान (चित्रम्) दर्शनीय (केतुम्) दर्शक (त्वा) तुझ सूर्य को (जनिता जजान) उत्पादक परमात्मा ने उत्पन्न किया है (सः) वह तू (नृवतीः क्षाः) मनुष्यादि प्रजावाली पृथिवियों, तथा (स्पार्हाः क्षुमतीः-विश्व-जन्याः-इषः-यजस्व) चाहने योग्य, कमनीय अन्नवाली और सबको उत्पन्न करने वाली या सब उत्पन्न होने वाले प्राणियों के योग्य वर्षा से संयुक्त करा-प्राप्त करा ॥ ६ ॥

भावार्थ—द्युमण्डल में मार्ग वाले या मार्ग में चलने वाले ग्रहों का नेता तथा दर्शक सूर्य है और उसका परमात्मा उत्पादक है, सूर्य स्वतः नहीं। प्राणियों वाली पृथिवियों और कमनीय अन्न उत्पन्न करने वाली सबको योग्य वर्षाओं का प्राप्त कराने वाला सूर्य है। विद्यासूर्य विद्वान् को परमात्मा बनाता है। वह विद्यासूर्य विद्वान् राष्ट्रभूमि को सुख शांति व जीवन रक्षा की अमृत वर्षा से सिंचित करे ॥ ६ ॥

यं त्वा॒ द्यावा॑पृथि॒वी यं त्वापस्त्वष्टा॒ यं त्वा॑ सु॒जनि॑मा ज॒जान॑ ।
पन्था॒मनु॑ प्रवि॒द्वान्पि॑तृ॒याणं॑ द्यु॒मद॑ग्ने समि॒धा॒नो वि भा॑हि ॥ ७ ॥

यम् । त्वा । द्यावापृथिवी इति । यम् । त्वा । आपः । त्वष्टा । यम् । त्वा । सुऽजनिमा । जजान । पन्थाम् । अनु । प्रऽविद्वान् । पितृऽयानम् । द्युऽमत् । अग्ने । सम्ऽइधानः । वि । भाहि ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यं त्वा) यं बृहन्तमग्निं लोकत्रये वर्तमानं सूर्यम्-अग्निं विद्युतं च (द्यावापृथिवी) द्युलोकः सूर्यरूपेण पृथिवीलोको ऽग्निरूपेण (यं त्वा) यं त्वाम् (आपः) अन्तरिक्षं विद्युद्रूपेण *"आपो ऽन्तरिक्षनाम"* [*निघ० १ । ३*] (यं त्वा) यं त्वाम् (सुजनिमा त्वष्टा) शोभनं सुगमतया वा जनिमानि जन्मानि भवन्ति यतः–यद्वा सुगमतया ऽनायासेन जनयति यः सः तूर्णमश्नुवानः परमात्मा *"त्वष्टा तूर्णमश्नुते"* [*निरु० ८ । १४*] (जजान) सर्वरूपेण जनयति (पितृयाणं पन्थाम्–अनु प्र विद्वान्) पितुः संवत्सरस्य यानं गमनस्थानं प्रवेशो यस्मिन् तं *"संवत्सरो वै पिता"* [*श० १ । ५ । १ । १*] पन्थानं प्रज्ञायते येन तथा भूतस्त्वमग्ने बृहन्नग्ने (द्युमत्-समिधानः-विभाहि) दीप्तिं समिधानः प्रज्वलन्–प्रकाशमानः सन् विशेषेण प्रकाशितो भव ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यं त्वा) जिस तुझ तीनों लोकों में वर्तमान महान् अग्नि अर्थात् सूर्य, विद्युत् और अग्नि को [द्यावापृथिवी] द्युलोक सूर्यरूप से पृथिवी अग्नि रूप से (यं त्वा) जिस तुझको (आपः) अन्तरिक्ष विद्युत् रूप से (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा त्वष्टा) सुगमतया उत्पन्न करने वाला शीघ्र व्यापी परमात्मा (जजान) सर्वरूप से उत्पन्न करता है वह तू (पितृयाणम् पन्थाम्-अनु प्रविद्वान्) संवत्सर के गति मार्ग को जिससे प्रबुद्ध रूप से जाना जाय ऐसा तू (द्युमत् समिधानः-विभाहि) दीप्ति वाली शक्ति से प्रकाशित हुआ जगत् को विशेष रूप से चमका ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा अनायास तीनों लोकों में बृहन् अग्नि को उत्पन्न करता है, जिसे द्युलोक सूर्यरूप में, अन्तरिक्ष विद्युत् रूप में, पृथिवी अग्निरूप में पुनः प्रकट करता है। ऐसा वह बृहत् अग्नि वर्ष-परिमाण को बतलाता हुआ अपनी दीप्ति से जगत् को प्रकाशित करता है। विद्यासूर्य विद्वान् को, उपर्युक्त समग्र ज्ञान के सम्पादन के लिये गुरुकुल बनाने में राज्याधिकारी और प्रजाजन भी पूरा साहाय्य देवें ॥ ७ ॥



तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।
देवता—अग्निः ।
छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ३, निचृत् त्रिष्टुप् । ४ विराट् त्रिष्टुप् । ५-७ त्रिष्टुप् ।
स्वरः—धैवतः
विषयः—पूर्ववत् ।

इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि ।
चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ॥ १ ॥

इनः । राजन् । अरतिः । सम्ऽइद्धः । रौद्रः । दक्षाय । सुसुऽमान् । अदर्शि । चिकित् । वि । भाति । भसा । बृहता । असिक्नीम् । एति । रुशतीम् । अपऽअजन् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(राजन्) स्वप्रकाशेन प्रकाशमानः बृहन्नग्निः सूर्यः, व्यत्ययेन सोर्लुक् (इनः) लोकत्रयस्य स्वामी यतः (अरतिः) एकस्मिन् स्थाने ह्येव प्रभावकारी न, किन्तु लोकत्रये प्रभावकारी, तस्मादेव (समिद्धः) प्रकाशमानः सन् (रौद्रः) रुद्राण्या तेजस्विन्या वैद्युतशक्त्या सम्पन्नः *"वैद्युतीनाम्–रुद्राणीनाम्"* [तै० आ० १ । १७ । १] *"रौद्रेण शत्रुरोदयित्रीणामिदं तेन* [*यजु० ५ । ३४ दयानन्दः*] (सुषुमान्) सर्वेषां प्राणिनामोषधीनां च सुगमतया-उत्पादयित्री प्रेरयित्री या शक्तिः सा सुषुस्तद्वान् सुषुमान् (दक्षाय) सर्वसंसारार्थं बलप्रदानाय (अदर्शि) साक्षात्-दृष्टो भवति (चिकित्-बृहता भासा विभाति) स सूर्यः सर्वांश्चेतयति-जागरयति महता तेजसा यतो विभाति–विशेषेण दीप्यते, तस्मात् (रुशतीम्-अपाजन्) स्वकीय दीप्तिं निजस्वरूपतः प्रक्षिपन् सन् (असिक्नीम्-एति) रात्रिं प्राप्नोति रात्रेरवसाने प्रातर्वेलामुत्पादयति *"असिक्न्यशुक्लासिता, सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधो ऽसितम्"* [*निरु० ९ । २५ ।*] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(राजन्) अपने प्रकाश से प्रकाशमान सूर्य (इनः) तीनों लोकों का स्वामी जिस कारण (अरतिः) एक स्थान पर ही रमणकर्त्ता प्रभावकारी नहीं किंतु तीनों लोकों में प्रभावकारी है तिस से (रौद्रः) रुद्राणी तेजस्विनी वैद्युत शक्तियों से सम्पन्न (सुषुमान्) सुगमता से प्राणियों को और ओषधियों को उत्पत्तिशक्ति प्रेरणाशक्ति देने वाला (दक्षाय) संसार को बल देने के लिए (अदर्शि) दृष्ट होता है साक्षात् देखा जाता है–सम्यक् दिखलाई पड़ता है, (चिकित्-बृहता भासा विभाति) चेताने–जगाने वाला वह सूर्य जिस कारण महती दीप्ति द्वारा विशेष

भासित होता है–प्रकाशित होता है–चमकता है इसलिये (रुशतीम्-अपाजन्) अपनी शुभ्रदीप्ति को फेंकता हुआ (असिक्नीम्-एति) रात्रि को प्राप्त होता है रात्रि के अन्त में प्रातर्वेला लाता है तब सब को चेताता है–जगा देता है, रात्रि से–अन्धेरे से मुक्त करा देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—महान् अग्नि सूर्य तीनों लोकों पर प्रकाशमान हुआ उनका स्वामी सा बना हुआ है। वह एक ही लोक पर रमण नहीं करता अपितु सब लोकों पर प्रभावकारी है और वैद्युत शक्तियों से सम्पन्न वह संसार को बल देता है। प्राणियों और ओषधियों को उत्पत्ति शक्ति और उभरने की प्रेरणा देने वाला साक्षात् दृष्ट होता है–ज्योति से चमकता है। वही सबको चेताने–जगाने वाला है। अपनी ज्योति को फेंकता हुआ रात्रि का अन्त करता है–प्रातर्वेला बनाता है। ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् या सूर्य समान प्रतापी राजा अपने विद्या विज्ञान से या अधिकार से तीनों लोकों का उपयोग करता है। ज्ञान धर्म का प्रकाश फैलाकर अविद्या रात्रि को एवं पाप भावना को मिटाता है ॥ १ ॥

कृ॒ष्णां यदेनी॑म॒भि वर्प॑सा॒ भूज्ज॒नय॒न्योषां॑ बृह॒तः पि॒तुर्जाम् ।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं सूर्य॑स्य स्तभा॒यन्दि॒वो वसु॑भिरर॒तिर्वि भा॑ति ॥ २ ॥

कृष्णाम् । यत् । एनीम् । अ॒भि । वर्प॑सा । भूत् । ज॒नय॑न् । योषा॑म् । बृ॒ह॒तः । पि॒तुः । जाम् । ऊ॒र्ध्वम् । भा॒नुम् । सूर्य॑स्य । स्त॒भा॒यन् । दि॒वः । वसु॑ऽभिः । अ॒र॒तिः । वि । भा॒ति ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहतः-पितुः-जाम्) महतो द्युलोकस्य जायमानामपत्यभूतां कन्यामुषसम् *"द्यौर्मे पिता"* [ऋ० १ । १६४ । ३३] *"पिता द्यौः"* [तै० २ । ७ । १५ । ३] *"जा-अपत्यनाम"* [निघं० २ । २] (योषां जनयन्) सहयोगिनीं भार्यां सम्पादयन् (यत्-कृष्णाम्-एनीं वर्पसा-अभिभूत्) यदा कृष्णवर्णां रात्रिम् *"कृष्णवर्णा रात्रिः"* [निरु० २ । २१] गमनशीलां नदीमिव वर्त्तमानां *"एनी-नदीनाम"* [निघ० १ । १३] स्वतेजोरूपेण स सूर्योऽभिभवति, तदा दिनं भवतीत्यर्थः, परन्तु (सूर्यस्य भानुम्-ऊर्ध्वं स्तभायन्) यदा स सूर्यः 'प्रथमार्थे षष्ठी व्यत्ययेन' स्वाभीष्टं *"अजस्रेण भानुना दीद्यतमित्यजस्रेणार्चिषा दीप्यमानमित्याह"* [श० ६ । ४ । १ । २] पृथिवीत उपरि स्तब्धं करोति तदा पृथिव्यां रात्रिर्भवति पुनरपि (अरतिः) सर्वत्रगमनकर्त्ता सूर्यः (दिवः-वसुभिः-विभाति) द्युलोकस्य वासिभिर्नक्षत्रैर्वैपरीत्ये प्रकाशते हि *"नक्षत्राणि वंते वसवः"* [श० ११ । ६ । ३ । ६] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहतः पितुः-जाम्) महान् द्युलोक की कन्या उषा को (योषां जनयन्) सहयोगिनी बनाता हुआ सूर्य (यत् कृष्णाम्-एनीम्) जब प्रवाहशीला नदी जैसी कृष्ण वर्ण वाली रात्रि को (वर्पसा-अभिभूत्) अपने तेज से अभिभूत करता है, दबा लेता है, तब पृथिवी पर दिन होता है परन्तु जब (सूर्यस्य भानुम्-ऊर्ध्वः स्तभायन्) सूर्य अपनी ज्योति–प्रकाश को पृथिवी से ऊपर आकाश में रोके हुए भी–रोक लेने पर भी (अरतिः-दिवः-वसुभिः-विभाति) सर्वत्र प्राप्त सूर्य द्युलोक के वासी चन्द्र ग्रह तारों के साथ प्रतिफलित हो प्रकाश देता है ॥ २ ॥

भावार्थ—आकाश में फैलने वाली उषा को अपना कर सूर्य अपने तेज से रात्रि को दबा लेता है तो पृथिवी पर दिन प्रकट होता है और जब सूर्य अपनी ज्योति को पृथिवी से परे आकाश में रोक लेता है तो रात्रि हो जाती है तब भी सूर्य आकाश के ग्रह तारों में प्रतिफलित होता है और उन्हें प्रकाशित करता है। दिन में पृथिवी को प्रकाशित करता हुआ दीखता है, रात्रि में ग्रह तथा नक्षत्रों को प्रकाशित करता है। ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् महान् पिता परमात्मा की वेद-विद्या रूपी ज्ञानज्योति को अपना कर सदा उसे संसार में फैलाते हैं साक्षात् सभाओं में असाक्षात् घर परिवारों में–दिन में विद्यालयों में रात्रि को जन साधारण में ॥ २ ॥

भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ॥ ३ ॥

भद्रः । भद्रया । सचमानः । आ । अगात् । स्वसारम् । जारः । अभि । एति । पश्चात् । सुऽप्रकेतैः । द्युऽभिः । अग्निः । विऽतिष्ठन् । रुशत्ऽभिः । वर्णैः । अभि । रामम् । अस्थात् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भद्रया सचमानः-भद्रः-अग्निः-स्वसारम्) भासा द्रवणशीलया खलूषसा समवेतः सङ्गच्छमानो भासाद्रवणः सूर्यः सुगमतया क्षेपणीयां रात्रिम् "स्वसा सु-असा" [निरु० ११ । ३२] (आगात्) प्राप्नोति, रात्रेरपरे काले (जारः पश्चात्-अभ्येति) स रात्रेर्जरयिता नाशयिता सूर्यः-उषसमग्रे कृत्वा प्रभाते-आगच्छति सुप्रकेतैः-द्युभिः-वितिष्ठन्) सुगमतया ज्ञातव्यैः सुप्रसिद्धैर्दिनैः "द्यु-अहर्नाम" [निघं० १ । ९] विशेषेण तिष्ठन् प्रभुत्वमाप्नुवन् (उशद्भिः-वर्णैः-रामम् अभि-अस्थात्) शुभ्रवर्णैः स्वप्रकाशधर्मैः तमः–तमसि–अन्धकारे अभि-अस्थात्–विराजते–अन्धकारमात्मसात्करोति निवर्तयतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(भद्रया-सचमानः-भद्रः-अग्निः-स्वसारम्-आगात्) भास–श्वेत प्रकाश से गति करने वाली उषा से सम्पृक्त हुआ और भास–शुभ्र प्रकाश-ज्योति को फैलाता हुआ सूर्याग्नि सुगमतया हटा देने योग्य रात्रि को प्राप्त होता है उसके पिछले भाग में (जारः पश्चात्-अभ्येति) रात्रि का जरण-क्षय करने वाला सूर्य उषा को आगे करके पीछे आता है (सुप्रकेतैः-द्युभिः-वितिष्ठन्) सुप्रसिद्ध दिनों के साथ विशेष रूप से प्रभुत्व प्राप्त करता हुआ (उशद्भिः-वर्णैः-रामम्-अभि-अस्थात्) शुभ्र वर्णों से-प्रकाशमय रूपों से अन्धकार को दबा लेता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाश रूप शक्ति से सङ्गत है। वह जब आगे-आगे भागने वाली रात्रि को प्राप्त होता है तो क्षीण जीर्ण होने वाली वह उस-उस स्थान से क्षीण होती चली जाती है। जब उषा–प्रकाश शक्ति के पीछे प्रकाशमान सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है, उसके ऊपर चढने से पृथिवी आदि लोकों के पृष्ठ पर सुप्राप्त होकर दिन होते हैं। प्रकाशमय रंगों से अन्धकार में सूर्य घुस बैठता है। ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् अपनी ज्ञान ज्योति से युक्त–ज्ञान-ज्योतिष्मान् बना हुआ अविद्या भ्रान्ति को हटाता है। ज्ञान प्रकाशों से अज्ञानान्धकार वाले स्थानों में घुसकर उसे भगा देता है ॥ ३ ॥

अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य ।
ईड्यस्य वृष्णो बृहतः स्वासो भामासो यामन्नक्तवश्चिकित्रे ॥ ४ ॥

अस्य । यामासः । बृहतः । न । वग्नून् । इन्धानाः । अग्नेः । सख्युः । शिवस्य । ईड्यस्य । वृष्णः । बृहतः । सुऽआसः । भामासः । यामन् । अक्तवः । चिकित्रे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य बृहतः-अग्नेः) अस्य खलु सूर्यस्य (यामासः) गमनशीलाः प्रकाशतरङ्गाः) (सख्युः-शिवस्य वृष्णः-ईड्यस्य) सर्वमित्रस्य कल्याणकरस्य कामवर्षकस्य स्तुत्यस्य परमात्मनः (वग्नून्-इन्धानाः-न) स्तुतिवचनानि प्रकाशयन्तः-इव "वग्नु-वाङ्नाम [निघं० १ । ११] प्रविभान्ति दृश्यन्ते वा (बृहतः-स्वासः-यामन् भामासः-अक्तवः-चिकित्रे) महतः शोभनमुखवतः शुभ्रस्वरूपस्य परमात्मनो मार्गे प्रकाशस्तम्भाः "भा-दीप्तौ" [अदादिः] ततो मन् प्रत्ययः, प्रकाशयन्तो दृश्यन्ते–ज्ञायन्ते ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य बृहतः-अग्नेः) इस महान् अग्नि अर्थात् सूर्य की (यामासः) गमनशील प्रकाशतरङ्गें (सख्युः-शिवस्य वृष्णः- ईड्यस्य) सर्वमित्र कल्याणकारी सुखवर्षक स्तुतिपात्र–स्तुतियोग्य परमात्मा के (वग्नून्-इन्धानाः-न) स्तुतिवचनों को प्रकाशित करते हुए से (बृहतः-स्वासः-यामन् भामासः-अक्तवः-चिकित्रे) महान् शुद्धस्वरूप परमात्मा के मार्ग में प्रदीप्त प्रकाशित प्रदीप–प्रकाशस्तम्भ जाने जाते हैं–प्रतीत होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य की प्रकाशतरङ्गें स्तुत्य उपासनीय परमात्मा के स्तवन–गुणगान करती हुई सी उपास्य परमात्मा के ज्ञान मार्ग में–उपासना मार्ग में प्रकाशस्तम्भ बन जाती हैं। इसी प्रकार विद्यासूर्य विद्वान् के ज्ञानप्रकाश परमात्मा की ओर ज्ञान प्रेरक होने चाहियें ॥ ४ ॥

स्वना न यस्य भामासः पवन्ते रोचमानस्य बृहतः सुदिवः ।
ज्येष्ठेभिर्यस्तेजिष्ठैः क्रीळुमद्भिर्वर्षिष्ठेभिर्भानुभिर्नक्षति द्याम् ॥ ५ ॥

स्वनाः । न । यस्य । भामासः । पवन्ते । रोचमानस्य । बृहतः । सुऽदिवः । ज्येष्ठेभिः । यः । तेजिष्ठैः । क्रीळुमत्ऽभिः । वर्षिष्ठेभिः । भानुऽभिः । नक्षति । द्याम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य बृहतः-रोचमानस्य सुदिवः) यस्य महतः प्रकाशमानस्य शोभनद्युलोकवतः सूर्यस्य (भामासः) प्रकाशतरङ्गाः (स्वनाः-न पवन्ते) स्वनवन्तः

शब्दवन्तः स्तुतिवचनवन्तः-इव स्वनः शब्दस्तद्वन्तः, अकारो मत्वर्थीयः, गच्छन्ति (यः) यश्च सूर्यः (ज्येष्ठेभिः) ज्येष्ठैः (तेजिष्ठैः) तेजस्वितमैः (क्रीडुमद्भिः) क्रीडावद्भिः (वर्षिष्ठेभिः) वृद्धतमैः (भानुभिः-द्यां नक्षति) स्वज्योतिर्धर्मैः द्युलोकमाप्नोति तं सर्वे विजानन्तु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य बृहतः-रोचमानस्य सुदिवः) जिस महान् प्रकाशमान उत्तम प्रकाशमान द्युस्थान वाले सूर्य के (भामासः) प्रकाशतरङ्गें (स्वनाः-न पवन्ते) स्तुतिवचन वाले जैसे गति करते हैं–प्राप्त होते हैं और (यः) जो सूर्य (ज्येष्ठेभिः) उन श्रेष्ठों (तेजिष्ठैः) अतितेजस्वियों (क्रीडुमद्भिः) क्रीडा वालों–क्रीडा से करते हुओं (वर्षिष्ठेभिः) बढ़े चढ़े (भानुभिः-द्यां-नक्षति) स्वज्योतियों द्वारा द्युलोक को व्याप्त होता है उस सूर्य को सब विशेष रूप से जानें ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रकाशमान सूर्य की प्रकाश तरङ्गें संसार में सर्वत्र क्रीडा सी करती हुई गति करती हैं, उपासक जैसे परमात्मा की स्तुति करते हुए संसार में विचरते हैं और अन्त में मोक्ष में विराजते हैं, ऐसे विद्यासूर्य विद्वान् की ज्ञानतरङ्गें संसार में फैला करती हैं । ऐसा विद्या-सूर्य विद्वान् का परमधाम विद्याधाम–विद्या प्रतिष्ठान है ॥ ५ ॥

अस्य शुष्मासो ददृशानपवेर्जेहमानस्य स्वनयन्नियुद्भिः ।
प्रत्नेभिर्यो रुशद्भिर्देवतमो वि रेभद्भिररतिर्भाति विभ्वा ॥ ६ ॥

अस्य । शुष्मासः । ददृशानऽपवेः । जेहमानस्य । स्वनयन् । नियुत्ऽभिः । प्रत्नेभिः । यः । रुशत्ऽभिः । देवऽतमः । वि । रेभत्ऽभिः । अरतिः । भाति । विऽभ्वा ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य) एतस्य (ददृशानपवेः) दृष्टिपथं प्राप्तो वज्रो यस्य *"पविर्वज्रनाम"* [*निघ० २ । २०*] तथाभूतस्य सूर्यस्य (जेहमानस्य) सर्वत्र गतिशीलस्य प्रवेशशीलस्य *"जेहते गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] (शुष्मासः) बलवन्तो रश्मयः *"शुष्म-बलनाम"* [*निघ० २ । ९*] अकारोऽत्र मत्वर्थीयश्छान्दसः *"शुष्म प्रशस्तानि शुष्मानि बलानि विद्यन्ते यस्मिन्"* [*ऋ० १ । १ । २ । दयानन्दः*] पुनः, तैः (नियुद्भिः) निमिश्रणधर्मैः-नियमनैः नियन्त्रणैर्वातसूत्रैः सह वा *"नियुतो नियमनात्"* [*निरु० ५ । २७*] *"नियुतो वायोः-आदिष्टोपयोजनानि"* [*निघ० १ । १२*] (स्वनयन्) समस्तलोकान् संसारं वा भूषयन्ति *"स्वन-अवतंसने"* [*भ्वादि०*] *"तसि-अलङ्कारे"* [*चुरादि०*] (यः-देवतमः-अरतिः) यश्च द्युस्थानगतानां मुख्यः सर्वत्र स्वबलेन गतिशीलः सूर्यः (विभ्वा) विशेषप्रभाववान् वैभवयुक्तः सन् (प्रत्नेभिः) शाश्वतिकैः (रुशद्भिः) शुभ्रैः (रेभद्भिः) शब्दं कुर्वद्भिः-घोषयद्भिरिव (विभाति) दीप्यते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य दृष्टशानपवे:) इस दृष्ट वज्र वाले–तापकास्त्र वाले (जेहमानस्य) सब संसार में गति शक्ति वाले सूर्य की (शुष्मासः) बल वाली रश्मियां–किरणें (नियुद्भिः) लोकों में अन्दर घुसने वाले धर्मों द्वारा या नियन्त्रण गुणों द्वारा अथवा वातसूत्रों द्वारा (स्वनयन्) लोकों–पिण्डों या संसार को अलंकृत कर देती हैं–चमका देती हैं (यः-देवतमः-अरतिः-विभ्वा) जो देवस्थानी देवों में मुख्य, सब में प्रवेश करने वाला एक ही स्थान पर रमणकर्त्ता–प्रभावकारी नहीं अपितु सर्वत्रही प्रभावकारी है, वैभवप्राप्त है, ऐसा सूर्य (प्रत्नेभिः) सनातन- (रुशद्भिः) शुभ्र- (रेभद्भिः) उसे घोषित करती हुई सी रश्मियों से (विभाति) विशेष दीप्त हो रहा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—तापक वज्र वाले सूर्य की रश्मियां नियन्त्रण गुणों या सर्वत्र घुसने वाले वातसूत्रों द्वारा सब लोकों को स्वायत्त करती हैं आकर्षित करती हैं, आकाश में चमकने वालों पिण्डों ग्रहों को इसकी रश्मियां घोषित करती हैं जिनसे यह प्रकाशित हो रहा है। इसी प्रकार विद्यासूर्य विद्वान् ब्रह्मास्त्र वाला होता है, उसकी ज्ञानरश्मियां लोगों को आकर्षित करने वाली होती हैं वे शाश्वतिक वेद ज्ञान वाली हैं और लोगों को संसार में रहने का उपदेश देती हैं ॥ ६ ॥

स आ वक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतिर्युवत्योः ।
अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वै रभस्वद्भी रभस्वाँ एह गम्याः ॥ ७ ॥

सः । आ । वक्षि । महि । नः । आ । च । सत्सि । दिवः । पृथिव्योः । अरतिः । युवत्योः । अग्निः । सुऽतुकः । सुऽतुकेभिः । अश्वैः । रभस्वत्ऽभिः । रभस्वान् । आ । इह । गम्याः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः अग्निः) स सूर्यरूपोऽग्निः, त्वम् (नः-महि-आवक्षि) अस्मभ्यं महनीयं सुखप्रकाशं प्रापयसि (युवत्योः-दिवः-पृथिव्योः) परस्परं मिश्रणधर्मवतोर्द्युलोकपृथिवीलोकयोर्मध्ये (अरतिः) स्वतेजसा गमनशीलः सन् (आसत्सि) आसीदसि–समन्तात् प्राप्तोऽसि (सुतुकः) सुतुकनः सुगमतया प्रापणयोग्यः सुप्राप्तव्यः (रभस्वान्) वेगवान् शीघ्र-प्रापणशक्तिमान् सन् (सुतुकेभिः- रभस्वद्भिः-अश्वैः) सुतुकनैः सुगमतया प्रापणयोग्यैः-सुप्राप्तव्यैस्तथा वेगवद्भिः–शीघ्रगमनशक्तिमद्भिर्व्याप्तै रश्मिभिः (इह-आगम्याः) अस्मिन् लोके समन्तात् प्राप्तो भवेः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-अग्निः) वह सूर्य रूप अग्नि, तू (नः-महि-आवक्षि) हमारे लिए महनीय महत्त्वपूर्ण सुख प्रकाश को भली प्रकार प्राप्त कराता है (युवत्योः-दिवः-पृथिव्योः) परस्पर मिलन धर्म वाले द्युलोक पृथिवी लोक के मध्य में (अरतिः) प्रापणशील एक ही स्थान पर न रमण करने वाला–द्युलोक से पृथिवी लोक पर्यन्त में प्राप्त होने वाला (आसत्सि) भलीभांति प्राप्त है (सुतुकः-सुतुकेभिः) सुगमतया प्राप्त होने योग्य, सुगमतया प्राप्त कराने वाले (रभस्वान्

रभस्वद्भिः) वेग से प्राप्त होने वाला, वेग से प्राप्त कराने वाले (अश्वैः) शीघ्र गतिशक्ति वाले रश्मि–घोड़ों द्वारा (इह-आगम्याः) इस स्थान–लोक पर भलीभांति प्राप्त हो ।। ७ ।।

भावार्थ—सूर्य द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में होता हुआ भी दूर से दूर द्युलोक में तथा पृथिवी लोक में भी सुगमता से प्राप्त कराने वाली रश्मियों द्वारा प्राप्त होता है, उन रश्मियों का प्रकाश सुख देने वाला है ऐसे ही विद्यासूर्य विद्वान् अपने वंश और समाज या राष्ट्र में रहकर भी दोनों को अपनी ज्ञानधाराओं और शिष्यों द्वारा उन्हें आलोकित करता है ।। ७ ।।



चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१-४ निचृत् त्रिष्टुप् । ५, ६ त्रिष्टुप् । ७ विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—

अत्र सूक्ते-अग्निनाम्ना परमात्मविद्युदग्नयो वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में परमात्मा, विद्युत् और अग्नि वर्णित किये जाते हैं ।

प्र ते॑ यक्षि॒ प्र त॑ इयर्मि॒ मन्म॒ भुवो॑ यथा॒ वन्द्यो॑ नो॒ हवे॑षु ।
धन्व॑न्निव प्र॒पा अ॑सि॒ त्वम॑ग्न इय॒क्षवे॑ पू॒रवे॑ प्रत्न राजन् ॥ १ ॥

प्र । ते॒ । य॒क्षि॒ । प्र । ते॒ । इ॒य॒र्मि॒ । मन्म॑ । भुवः॑ । यथा॑ । वन्द्यः॑ । नः॒ । हवे॑षु ।
धन्व॑न्ऽइव । प्र॒ऽपा । अ॒सि॒ । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । इ॒य॒क्षवे॑ । पू॒रवे॑ । प्र॒त्न॒ । रा॒ज॒न् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रत्न राजन्-अग्ने) हे शाश्वत पुरातन नित्यवर्त्तमान प्रकाशमान ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (ते प्र यक्षि) तुभ्यं स्वात्मानं समर्पयामि (ते मन्म प्र-इयर्मि) तुभ्यं मन्म मननीयम् स्तोमम् *"मन्ममिः-मननीयैः-स्तोमैः"* [निरु. १० । ६] प्रेरयामि (यथा नः-हवेषु वन्द्यः-भुवः) यथा हि त्वमस्माकं प्रार्थनाप्रसङ्गेषु वन्दनीयः-उपासनीयो भवेः (इयक्षवे पूरवे) आत्मयाजिने जनाय *"पुरुः-मनुष्यनाम"* [निघ० २ । ३] (त्वं धन्वन्-इव-प्रपा-असि) यथा मरुस्थले जलरहिते प्रदेशे प्रपा भवति तथा त्वमसि, तापतृष्णां हरसीत्यर्थः ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रत्न राजन्-अग्ने) हे शाश्वत नित्य राजमान ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् (ते प्र यक्षि) तेरे लिए अपने आत्मा को प्रदान करता हूँ—समर्पित करता हूँ (ते मन्म प्र-इयर्मि) तेरे लिए स्तोम—स्तुति वचन को प्रेरित करता हूँ (यथा नः-हवेषु वन्द्यः-भुवः) जिससे हमारे प्रार्थना-प्रसंगों में तू वन्दनीय बना रहे (इयक्षवे पूरवे) आत्मयाजी जन के लिये (त्वं धन्वन्-इव-प्रपा-असि) मरुभूमि—जलरहित प्रदेश में स्थित प्याऊ के समान तापतृष्णा को नष्ट करने वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—नित्य वर्तमान परमात्मा ही आत्मसमर्पण का पात्र है अनित्य वस्तु नहीं, उसकी उपासना प्रार्थना करनी चाहिये; वही तापतृष्णा को मिटाने वाला है, स्थायी सुख शांति देने वाला है ॥ १ ॥

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन ॥ २ ॥

यम् । त्वा । जनासः । अभि सम्ऽचरन्ति । गावः । उष्णम्ऽइव । व्रजम् । यविष्ठ ।
दूतः । देवानाम् । असि । मर्त्यानाम् । अन्तः । महान् । चरसि । रोचनेन ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यविष्ठ) हे युवतम सदा युवन् 'अनुत्पन्नत्वात्' बाल्य-वार्द्धक्यरहित परमात्मन् ! (जनासः-यं त्वा-अभि सञ्चरन्ति) जना यं त्वामभितः सम्प्राप्नुवन्ति (गावः- उष्णं व्रजम्-इव) यथा गावः शीतार्ता उष्णं गोष्ठं गोस्थानं स्व-गृहमभि सम्प्राप्नुवन्ति । (देवानां मर्त्यानाम्) मुमुक्षूणां साधारणजनानां च (दूतः-असि) प्रेरको दुःखनिवारकश्च त्वं भवसि, यतः (महान् रोचनेन-अन्तः-चरसि) महान् सन् स्वप्रकाशमयेन तेजसा सर्वेषामन्तः चरसि व्याप्नोषि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यविष्ठ) हे युवतम—न उत्पन्न होने वाला होने से बाल्य वार्धक्य से रहित सदा युवा परमात्मन् ! (जनासः) जन (यं त्वा-अभिसञ्चरन्ति) जिस तुझको सब ओर से सम्प्राप्त करते हुए अपने को तेरे अन्दर विराजमान समझते हैं (गावः-उष्णं व्रजम्-इव) जैसे कि गौएं शीतपीड़ित होने पर उष्ण—गरम शीत निवारक गोस्थान—गोशाला को सम्प्राप्त करती हैं, देवानां मर्त्यानाम्) मुमुक्षुओं और साधारण जनों का (दूतः-असि) सन्मार्गप्रेरक दुःखनिवारक है, यतः (महान् रोचनेन-अन्तः-चरसि) तू महान् होता हुआ अपने प्रकाशमय तेज से सबके अन्दर व्याप्त है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा उत्पत्ति रहित होने से बाल्य और वार्द्धक्य से रहित सदा युवा है । जनमात्र उसकी शरण लेते हैं जैसे शीतपीड़ित गौएँ गोशाला की । परमात्मा मुमुक्षु और साधारण जनों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, दुःख का निवारक है, वह प्रभावकारी तेज से सब में व्याप्त है, उसकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥

शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना ।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः ॥ ३ ॥

शिशुम् । न । त्वा । जेन्यम् । वर्धयन्ती । माता । बिभर्ति । सचनस्यमाना । धनोः ।
अधि । प्रऽवता । यासि । हर्यन् । जिगीषसे । पशुःऽइव । अवऽसृष्टः ॥ ३ ॥

विद्युदात्मनोऽग्नेर्वर्णनमुच्यते—

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वा) त्वां विद्युद्रूपमग्निम् (माता) एषा सर्वेषां प्राणि-वनस्पतीनां निर्मात्री मातृभूता पृथिवी (सचनस्यमाना) स्वस्मिन् समवेतं करिष्यमाणा सती "*षच-समवाये*" [*भ्वादि*] 'ततः श्नं विकरणं मध्ये पतितं छान्दसम्', यद्वा चन-

स्यमानैः-अन्नं सेवमानैः प्राणिभिः सह युक्ता–*"चायतेरन्ने ह्रस्वश्च"* [*उणा० ४ । २००*] इति चायृधातोरसुनि तदन्तात् क्यचि च चनस्य इनि नामधातुः, "चनस्यतम्-चनस् शब्दात् क्यच्प्रत्यये तदन्तान्नामधातोर्लोटि मध्यमस्य द्विवचने प्रयोगः" [ऋ. १ । ३ । १ दयानन्दः] (जेन्यं शिशुं वर्धयन्ती न बिभर्ति) जयशीलं प्रभावकारिणं वत्सं शंसनीयं शोभनं वर्धयन्तीव धारयति (धनोःअधि प्रवता यासि) त्वं च विद्युद्रूपाग्ने धनोः-अधि-धन्वनि-अन्तरिक्षे सन् 'धनुः-धन्वन्' वैदिक साहित्ये पर्यायत्वं भजेते *"धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः"* [*निरु० ५ । ५*] *"धन्वनाजिं जयेम" "धनुः शत्रोरपकामं कृणोति"* [*ऋ० ६ । ७५ । २ ।, निरु० ६ । १६*] प्रवणेन निम्नेन मार्गेण गच्छसि वृष्टिनिपातनद्वारा, किं च (अवसृष्टः-पशुः-इव) बन्धनान्मुक्तः पशुरिव (हर्यन् जिगीषसे) मेघान् जेतुमिच्छसि-अतस्तान्-गच्छसि *"हर्य-गतिकान्त्योः"* [*भ्वादि०*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वा) तुझ विद्युद्रूप अग्नि को (माता) यह सब प्राणी वनस्पतियों का निर्माण करने वाली माता बनी हुई पृथिवी (सचनस्यमाना) अपने में समवेत-संयुक्त करने वाली अथवा अन्न सेवन करने वाले प्राणियों से संयुक्त हुई (जेन्यं शिशुं वर्धयन्ती न बिभर्ति) जयशील-प्रभावकारी प्रशंसनीय शोभन वत्स को बढाती हुई के समान धारण करती है (धनोः-अधि प्रवता यासि) और हे विद्युद् रूप अग्ने ! तू अन्तरिक्ष में होती हुई वृष्टि गिराने द्वारा निम्न मार्ग से प्राप्त होती है और (अवसृष्टः-पशुः-इव) बन्धन से छूटे हुए पशु की भांति (हर्यन् जिगीषसे) मेघों को जीतना चाहती है अतः उन्हें प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्राणियों की माता पृथिवी जयशील विद्युद्रूप अग्नि को बढ़ावा देती है और वह विद्युद् अग्नि वृष्टि के निमित्त चमकती और कड़कती है ॥ ३ ॥

अत्र श्लेषिको ऽर्थः परमात्मविद्युतोः—

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन्रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन् ॥ ४ ॥

मूराः । अमूर । न । वयम् । चिकित्वः । महिऽत्वम् । अग्ने । त्वम् । अङ्ग । वित्से । शये । वव्रिः । चरति । जिह्वया । अदन् । रेरिह्यते । युवतिम् । विश्पतिः । सन् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(चिकित्वः) हे चेतानावन्-चेतयितः ! (अमूर) अमूढ ! अस्थिर ! वा (अङ्ग) प्रिय ! (अग्ने) परमात्मन् ! विद्युद्रूपाग्ने ! वा (त्वम्) त्वं खलु (महित्वं वित्से) जगतो विस्तारं वेत्सि, मेघं वा प्राप्नोषि (वयं मूरा न) वयं अज्ञाः न विद्म (शये वव्रिः-चरति) शयनस्थाने जगति मेघे वा ऽन्तर्हितः-व्याप्तः-सन् मेघैरावृतो वा प्रकटीभवति सः (जिह्वया-अदन् रेरिह्यते जिह्वया–निजग्रहणशक्त्या गृह्णन् *"अत्ता चराचरग्रहणात्"* [*वेदान्त १ । २ । ६*] यद्वा ज्वलयन् निजधारया मेघान् खादन् भृशं लेढि

च 'अभ्रंलिहा विद्युत्' (युवतिं विश्पतिः) युवतिं भार्यां प्रजापतिः सन्तानपतिर्गृहस्थ इव । अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(चिकित्वः-अमूर) हे चेतना वाले परमात्मन् या चेताने वाले विद्युद्रूप अग्नि ! अमूढ या अस्थिर ! (अङ्ग) प्रिय (अग्ने) परमात्मन् या विद्युद्रूप अग्नि ! (त्वम्) तू (महित्वं विरसे) विस्तृत जगत् को जानता है या महान् मेघ को प्राप्त होता है (वयं न) हम नहीं जानते (शये वव्रिः चरति) शयनस्थान जगत् में आवरक—व्याप्त है या मेघ में छिपा हुआ प्राप्त है (जिह्वया-अदन् रेरिह्यते) अपनी आदान शक्ति से ग्रहण करता हुआ अपने में चाट जाता है या मेघों को खाता हुआ सा चाट जाता है (युवतिं विश्पतिः) जैसे युवती पत्नी को गृहस्थ स्नेह से चाटता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा सदा सावधान सर्वज्ञ है अतः विस्तृत संसार को जानता है । अल्पज्ञ होने से मनुष्य सारे संसार को नहीं जान सकता है । परमात्मा संसार में व्याप्त रहता है, प्रलय में जगत् को चाट जाता है—अपने अन्दर ग्रहण कर लेता है । एवं विद्युत् चमक कर चेताने वाली है, वह मेघ में छिपी हुई रहती है उसे अपनी तरङ्गों से खा जाती है—चाट जाती है तभी वृष्टि होती है । वृष्टि का कारण विद्युत् है ॥ ४ ॥

कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः ।
अस्नातापो वृषभो न प्र वेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः ॥ ५ ॥

कूऽचित् । जायते । सनयासु । नव्यः । वने । तस्थौ । पलितः । धूमऽकेतुः । अस्नाता । आपः । वृषभः । न । प्र । वेति । सऽचेतसः । यम् । प्रऽनयन्त । मर्ताः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कूचित्-धूमकेतुः) कुत्रचित्-धूमः केतुर्ज्ञापको यस्य तथाभूतोऽग्निः (सनयासु) सनातनीषु पुरातनीषु-ओषधिषु शुष्कासु, सना शब्दाद् डयन् छान्दसः प्रत्ययः (जायते) उत्पद्यते (वने तस्थौ पलितः-नव्यः) अथ च कुत्रचित्- उदके स्थितः "वनमुदकम्" [निघ० १ । १२] नवीनः प्रियदर्शनः पलितः शुभ्रः सन् स्थितो भवति विद्युद्रूपः, स च (अस्नाता-आपः) अस्नातः, सु स्थाने-आकारादेशश्छान्दसः, अनिमज्जितोऽप्सु भवति, व्यत्ययेन जस् प्रत्ययः । जलप्रभावरहितो भवति (वृषभः- न प्रवेति) वृषभः-इव बलवान् सन् मेघे प्रगच्छति (यं सचेतसः-मर्ताः) यं प्रज्ञावन्तो जनाः (प्रणयन्त) प्रकटयन्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(कूचित्) कहीं (धूमकेतुः) धुआं जिसको जताने वाला है ऐसा अग्नि (सनयासु जायते) पुरानी सूखी ओषधियों लकड़ियों में उत्पन्न होता है (वने तस्थौ पलितः-नव्यः) और कहीं जल में रहता हुआ शुभ्र नया सुन्दर अग्नि-विद्युत् रूप में उत्पन्न होता है, वह (अस्नाता आपः) जलों में न बुझने योग्य है (वृषभः-न प्रवेति) वृषभ के समान बलवान् मेघ में दौड़ता है (यं प्रचेतसः-मर्ताः प्रणयन्त) जिसे प्रज्ञावान् जन प्रकट करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—एक पार्थिव अग्नि है जो धुएँ से जानी जाती है–धूमवान् है, सूखी लकड़ियों में उत्पन्न होती है। दूसरी विद्युत् रूप जो शुभ्र–श्वेत है जल में स्थित होकर भी जल से भीगती बुझती नहीं है जिसे प्रज्ञावान् जन उत्पन्न करते हैं। विद्युत् का आविष्कार किया जाना चाहिये उससे अनेक उपयोग लिये जाते हैं ॥ ५ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् ।
इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः ॥ ६ ॥

तनूत्यजाऽइव । तस्करा । वनर्गू इति । रशनाभिः । दशऽभिः । अभि । अधीताम् । इयम् । ते । अग्ने । नव्यसी । मनीषा । युक्ष्व । रथम् । न । शचयत्ऽभिः । अङ्गैः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्ने–पार्थिवाग्ने ! वैद्युताग्ने, वा (ते) तव-आविष्काराय (इयं नव्यसी मनीषा) इयं नवीना मनीषा विचारणा ऽस्ति तां त्वं प्राप्नुहि (शुचयद्भिः- अङ्गैः-रथं न युक्ष्व) ज्वलद्भिरङ्गभूतैः प्रकाशैस्त्वं रथमिवास्मिन् कार्ये युक्तो भव (तनूत्यजा तस्करा वनर्गू-इव) स्वदेहत्यागं कुर्वन्तौ चौरौ वनगामिना-विवाहर्निशं कर्मपरौ मन्थानौ (दशभिः-रशनाभिः) दशभिरङ्गुलिभिः सह "रशनाः-अङ्गुलिनाम [निघ० २ । ५] (अभ्यधीताम्) अभ्यधाताम् धार्यतां बध्यताम् । विद्युदुत्पादने द्वौ तारौ बध्यताम् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थः—(अग्ने) हे पार्थिव अग्नि ! या विद्युद्रूप अग्नि ! (तव) तेरे आविष्कार करने के लिये (इयं नव्यसी मनीषा) अत्यन्त नवीन या प्रशंसनीय विचारसरणी है (शुचयद्भिः–अङ्गैः–रथं न युक्ष्व) प्रज्वलन रूप अङ्गों–प्रकाशतरङ्गों से इस रथ समान कार्य में युक्त हो जा (तनूत्यजा वनर्गू तस्करा-इव) देहत्यागी वन में भाग छिपने वाले चोरों के समान अग्नि-मन्थन दो दण्ड या दो तार अग्नि या विद्युत् निकालकर छोड़ता है। (दशभिः-रशनाभिः-अभ्यधीताम्) दशों अंगुलियों सहित बांध दिये जावें। अग्निमन्थन कार्य या विद्युदाविष्करण कार्य में लगा दिये जावें ॥ ६ ॥

भावार्थः—अग्नि या विद्युत् के आविष्करण में नवीन या प्रशस्त विचारधारा से कार्य लेना चाहिए, दोनों भुजाओं को त्याग भाव से उन रस्सियों को दण्डों सहित उस कार्य में बांध दें किसी ऐसे साधन से जिससे विद्युत् का प्रभाव न पहुँचे ॥ ६ ॥

ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चेयं च गीः सदमिद्वर्धनी भूत् ।
रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वोऽ अप्रयुच्छन् ॥ ७ ॥

ब्रह्म । च । ते । जातऽवेदः । नमः । च । इयम् । च । गीः । सदम् । इत् ।

वर्धनी । भूत् । रक्ष । नः । अग्ने । तनयानि । तोका । रक्ष । उत । नः । तन्वः । अप्रऽयुच्छन् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः) हे उत्पन्नमात्रस्याग्न्यादिकस्य वेत्तः परमात्मन् ! (ते) तुभ्यम् (ब्रह्म) मन्त्रचिन्तनमुपासनम् (च) तथा (नमः) यज्ञः "यज्ञो वै नमः" [श. १ । ४ । २ । २४] (इयं गीः) इयं स्तुतिवाणी (सदम्-इत्) सदैव (वर्धनी भूत्) वर्धिका भवतु, अस्माकमात्मनि त्वां वर्धयेत् (नः) अस्माकं (तनयानि रक्ष) पुत्रान् रक्ष (तोका) तोकान्-पौत्रान् रक्ष (उत) अपि (नः-तन्वः) अस्माकमङ्गानि चापि (अप्रयुच्छन्) अनुपेक्षमाणः सन् रक्षेत्यर्थः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्नमात्र अग्नि आदि के ज्ञाता सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ते) तेरे लिए (ब्रह्म) मन्त्र विचार मनन ध्यानोपासन (च) और (नमः) यज्ञ (इयंगीः) यह स्तुतिवाणी (सदम्-इत्) सदा ही (वर्धनी भूत्) आत्मा को बढ़ाने वाली हो (नः) हमारे (तनयानि) पुत्रों को (रक्ष) सुरक्षित रख (तोका रक्ष) पौत्रों को सुरक्षित रख (उत) अपि (नः—तन्वः) हमारे अङ्गों को (अप्रयुच्छन्) विना उपेक्षा के सुरक्षित रख ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब उत्पन्न अग्नि आदि का जानने वाला है–सर्वज्ञ है उसके लिए मनन उपासन स्तुति यज्ञ आदि करने चाहियें जो हमारे आत्मा में उसके साक्षात् स्वरूप को बढ़ाने वाले हैं और वह परमात्मा हमारी तथा हमारे पुत्र पौत्रों आदि की सदा ही निःसंकोच रक्षा करने वाला है ॥ ७ ॥



पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।
देवता—अग्निः ।
छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप्, २-५ त्रिष्टुप्, ६-७ निचृत् त्रिष्टुप् ।
स्वरः—धैवतः ।
विषयः—अत्र सूक्ते अग्निशब्देन परमात्मविद्युत्सूर्या वर्ण्यन्ते ।
इस सूक्त में अग्नि शब्द से परमात्मा, विद्युत् और सूर्य वर्णित किये जाते हैं ।

एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे ।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥ १ ॥

एकः । समुद्रः । धरुणः । रयीणाम् । अस्मत् । हृदः । भूरिऽजन्मा । वि । चष्टे । सिसक्ति । ऊधः । निण्योः । उपऽस्थे । उत्सस्य । मध्ये । निऽहितम् । पदम् । वेरिति वेः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रयीणाम्) विविधपोषकधनानामन्नानाम् *"रयिं धेहि पोषं धेहि"* [काठ. १ । ७] *"पुष्टं रयिः"* [श. २ । ३ । ४ । १३] (समुद्रः-धरुणः-एकः) समुद्राता-सम्यगुदाता धारकश्चैक एव (भूरिजन्मा) बहुप्रकारेण बहुषु वा जन्म प्रसिद्धिः-यस्य सोऽग्निः (अस्मद्धृदः-विचष्टे) अस्माकं हृदयभावान् विकासयति (उपस्थे निण्योः-ऊधः-सिषक्ति) अन्तरिक्षे *"अपामुपस्थे अपां स्थान अन्तरिक्षे"* [निरु० ७ । २७] अन्तर्हितं गुप्तं रसं जलं सिञ्चति । *"ऊधो दुहन्ति"* [काठ. २५ । ६] *"षच-सेचने"* [भ्वादिः] *" सिषक्ति सिञ्चति"* [ऋ० ४ । २१ । ७ दयानन्दः] निण्योः-इति=*"निण्यम्-अन्तर्हितनाम* [निघ० ३ । २५] अम् प्रत्ययस्य स्थाने 'ओस्' स च डित् डोस्, *"सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्"* [अष्टा० ७ । १ । ३९ । वा०] (उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः) उत्स्रवणशीलस्य मेघस्य मध्ये पदं प्रापणीयं जलरूपं प्राप्नुहि विद्युद्रूप हे अग्ने ! इति प्रत्यक्षेणोच्यते ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(रयीणाम्) विविध पोषक धनों-अन्नों का (समुद्रः-धरुणः-एकः) सम्यक् उदारदाता तथा धारक एकमात्र (भूरिजन्मा) बहुत प्रकार से बहुत स्थानों में उत्पन्न होने वाला अग्नि (अस्मद् हृदः-विचष्टे) हमारे हार्दिक भावों को विकसित करता है (उपस्थे निण्योः-

ऊधः-सिषक्ति) अन्तरिक्ष में गुप्त रस–जल को सींचती है (उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः) बहने के स्वभाव वाले मेघ के अन्दर रखे प्राप्तव्य जलरूप को प्राप्त हुआ विद्युद्रूप अग्नि ।। १ ।।

भावार्थ—विविध अन्न धनों का उत्पन्नकर्ता तथा धारक विविध रूप में उत्पन्न हुआ अग्नि है। वह हार्दिक भावों का विकास करता है, अन्तरिक्ष में छिपे सूक्ष्म जल को सींचता है, मेघ में रखे जल को पकड़कर नीचे बिखेरता है। इसी प्रकार विद्युद्रूप अग्नि की तरह विद्वान् ज्ञानामृत की वृष्टि अपने अन्तः स्थल से निकालकर जनसमाज में बिखेरता है। राजा भी विज्ञान-साधनों द्वारा मेघ से तथा कूप आदि द्वारा राष्ट्र में जल पहुंचाकर अन्नादि को उत्पन्न करावे ।। १ ।।

समानं नीळं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः ।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि ।। २ ।।

समानम् । नीळम् । वृषणः । वसानाः । सम् । जग्मिरे । महिषाः । अर्वतीभिः ।
ऋतस्य । पदम् । कवयः । नि । पान्ति । गुहा । नामानि । दधिरे । पराणि ।। २ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(महिषाः) महान्तः *"महिषः-महन्नाम"* [*निघ० ३ । ३*] (वृषणः) पर्जन्याः- मेघाः *"वृषा-पर्जन्यः"* [*निघं० १ । ६*] समानं नीळं वसानाः) समान-माश्रयमग्निं वसाना आच्छादयन्तो वर्तन्ते (अर्वतीभिः-संजग्मिरे) ईरणवतीभिः-वेगवतीभि-र्विद्युद्भिः सङ्गताः भवन्ति–संयुक्ता भवन्ति *"अर्वंतु विद्युदादिषु"* [*यजु० ४ । ३१ दयानन्दः*] (ऋतस्य पदं कवयः- निपान्ति) सत्यस्य-उदकस्य विज्ञानं मेधाविनो रक्षन्ति स्वस्मिन् स्थापयन्ति (गुहा पराणि नामानि दधिरे) पराणि-उपरिस्थितानि-उदकानि *"नाम-उदकनाम"* [*निघ० १ । १२*] यानि गुहायामिव स्थितानि धारयन्ति ।। २ ।।

भाषान्वयार्थ—(महिषा) महान् (वृषणः) पर्जन्य जलभरे मेघ (समानं नीडं वसानाः) समान–एक ही आग्नेय–अग्नि तत्त्व को ढांपते हुए–अपने अन्दर रखते हुए (अर्वतीभिः-संजग्मिरे) विद्युत् शक्तियों से सङ्गत हो जाते हैं (ऋतस्य पदं कवयः निपान्ति) जल के प्रापणीय स्वरूप–लक्षण को वृष्टिवेत्ता मेधावी विद्वान् अपने अन्दर रखते हैं, भली भांति जानते हैं (गुहा पराणि नामानि दधिरे) उन उत्कृष्ट मेघस्थ जलों को वे प्राप्त करते हैं बरसा लेते हैं ।। २ ।।

भावार्थ—आकाश में मेघ आग्नेय तत्त्व के सहारे ठहरते हैं, जब वे विद्युत् से युक्त हो जाते हैं तब वृष्टि की ओर उन्मुख होते हैं। उनमें जल के स्वरूप को वृष्टिविज्ञान वेत्ता जन स्वरक्षित रखते हैं और जहां चाहते हैं बरसा लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि को धारण कर बुद्धि ज्योति से युक्त होकर, ज्ञानामृत की वृष्टि के लक्ष्य को अपने में धारण कर विद्वान् लोग होते हैं और इच्छानुसार उसकी वृष्टि करते हैं ।। २ ।।

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती ।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः ।। ३ ।।

ऋतयिनी इत्यृतऽयिनी । मायिनी इति । सम् । दधाते इति । मित्वा । शिशुम् । जज्ञतुः । वर्धयन्ती इति । विश्वस्य । नाभिम् । चरतः । ध्रुवस्य । कवेः । चित् । तन्तुम् । मनसा । विऽयन्तः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋतायिनी) ऋतायिन्यौ–ऋतमुदकं सन्तानबीजमेतः प्राप्नुत इति ते । णिनिः प्रत्ययः, स्त्रियामृतायिनी "अन्येषामपि दृश्यते" [अष्टा. ६ । ३ । १३५] दीर्घः, *"ऋतम्–उदकनाम"* [*निघ० १ । १२*] (मायिनी) मायिन्यौ सन्ताननिर्माणे प्रज्ञावन्त्यौ–मातापितरौ (मित्वा) शनैः शनैः स्वाहारव्यवहारौ सुपरिमितौ कृत्वा (सन्दधाते) यथा गर्भं सन्धत्तः (शिशुं-जज्ञतुः) प्रशंसनीयं पुत्रं जनितवत्यौ (वर्धयन्ती) वर्धयन्त्यौ तिष्ठतः, एवं (चरतः-ध्रुवस्य विश्वस्य नाभिम्) द्युलोकस्य गतिं कुर्वतः शुक्रादिकस्य तथा पृथिवीलोकस्य *"एषां लोकानामयमेव" ध्रुवमियं पृथिवी* [*श० ५ । १ । २ । ४*] संसारस्य नाभिभूतं *"मध्यं वै नाभिः"* [*श० १ । १ । २ । ३*] (तन्तुं चित्) सर्वज्ञं प्रजारूपमग्निम् *"प्रजा वै तन्तुः"* [*ऐ० ३ । ११*] (कवेः- मनसा वियन्तः) कवयः 'व्यत्ययेन' मनोभावेन विशेषतया प्राप्नुवन्तः सेवन्ते ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋतायिनी) सन्तान बीजरूप जल-सम्पन्न (मायिनी) सन्तानार्थं बुद्धि वाले माता-पिता (मित्वा) अपने आहार व्यवहारों को क्रमशः समुचित माप से सेवन करके (सन्दधाते) गर्भ को संस्थापित करते हैं—गर्भसन्धान करते हैं, पुनः (शिशुं जज्ञतुः) जैसे बालक को जनते हैं (वर्धयन्ती) उसे बढ़ाते हैं, ऐसे ही (विश्वस्य चरतः ध्रुवस्य नाभिम्) समस्त गतिशील शुक्रादिमय द्युलोक तथा पृथिवीलोक के मध्य में (तन्तुं चित्) पुत्र समान अग्नि को (कवेः) कवि-विद्वान् जन (मनसा वियन्तः) मन से विशेष जानते हुए सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—द्युलोक और पृथिवी लोक का पुत्ररूप अग्नि है उसे विद्वान् सुरक्षित करते हैं—लाभ लेते हैं, पुत्रोत्पति चाहने वाले माता पिता उचित आहार व्यवहार द्वारा अपने अन्दर सन्तति बीज रस को बनावें और अपनी प्रबल शुभ भावना से गर्भाधान करें तो उत्तम पुत्र की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते ।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम् ॥ ४ ॥

ऋतस्य । हि । वर्तनयः । सुऽजातम् । इषः । वाजाय । प्रदिवः । सचन्ते । अधीवासम् । रोदसी इति । वावसाने इति । घृतैः । अन्नैः । वावृधाते इति । मधूनाम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋतस्य हि) सृष्टियज्ञस्य खलु ब्रह्माण्डस्य मध्ये (वर्तनयः-प्रदिवः-इषः) वर्तमानाः-*"वर्तनिः-वर्तमानाः"* [*ऋ० १ । १४० । ३ दयानन्दः*] प्रकाशमानाः प्रजारूपा नक्षत्रादयः *"प्रजा वा इषः"* [*श० १ । ७ । ३ । १४*] (वाजाय सुजातं सचन्ते)

सुप्रसिद्धमग्निं सूर्यरूपं सेवन्ते (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ द्युलोकः पृथिवीलोकश्च "रोदसी-द्यावापृथिवीनाम" [निघ० ३ । ३] (अधीवासं वावसाने) उपरिवस्त्रमिवाच्छादयन्तौ (मधूनाम्) मनुष्याद्याः प्रजाः, व्यत्ययेन द्वितीयास्थाने षष्ठी "प्रजा वै मधुः" [जै० १ । ८८] (घृतैः-अन्नैः-वावृधाते) तेजोभिरन्नैश्च सूर्यात् प्राप्य वर्धयतः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋतस्य हि) सृष्टियज्ञ-ब्रह्माण्ड के मध्य में (वर्तनयः-प्रदिवः-इषः) वर्तमान प्रकाशमान ग्रहनक्षत्रादि लोक (वाजाय सुजातं सचन्ते) गति बल प्राप्ति के लिए सुप्रसिद्ध सूर्यरूप अग्नि को सेवन करते हैं (रोदसी) द्युलोक पृथिवीलोक (अधीवासं वावसाने) ऊपर वस्त्र समान आच्छादन करते हुए (घृतैः-अन्नैः-मधूनाम्-वावृधाते) सूर्य से प्राप्त तेजों और अन्नों द्वारा प्रजाओं को बहुत बढ़ाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि या ब्रह्माण्ड में वर्तमान पिण्ड ग्रह आदि सुप्रसिद्ध अग्निरूप सूर्य से बल पाते हैं, द्युलोक और पृथिवी लोक दोनों अपने ऊपर धारण करते हैं । तेजों अन्नों—तेजशक्ति अन्नशक्ति को प्राप्त कर मनुष्यादि प्रजाओं को समृद्ध करने के लिए द्युलोक सूर्य से तेज शक्ति को लेता है पृथिवीलोक सूर्य से अन्न शक्ति को लेता है । ऐसे ही प्रतापी गुणवान् राजा प्रजाओं को ज्ञानप्रकाश प्रदान करने की व्यवस्था तथा भोजन की व्यवस्था करे ॥ ४ ॥

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य ॥ ५ ॥

सप्त । स्वसॄः । अरुषीः । वावशानः । विद्वान् । मध्वः । उत् । जभार । दृश । कम् । अन्तः । येमे । अन्तरिक्षे । पुराऽजाः । इच्छन् । वव्रिम् । अविदत् । पूषणस्य ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विद्वान्) वेद्यमानो ज्ञायमानो ऽग्निः, कर्मणि कर्तृप्रत्ययो व्यत्ययेन (सप्त स्वसॄः-अरुषीः-वावशानः) सप्त संख्याकाः सप्तवर्णास्तमांसि सु सम्यक् क्षेप्त्रीः "स्वसा सु-असा" [निरु० ११ । ३२] आरोचमानाः–रश्मीन् भृशं प्रकाशयन् (दृशे) संसारं दर्शयितुम् (मध्वः-उज्जभार कम्) मधुमयात्-जलमयाकाशादुद्भावितान् करोति (अन्तरिक्षे-अन्तः) अन्तरिक्षस्याभ्यन्तरे (पुराजाः) पूर्वप्रसिद्धः सूर्यः (येमे) तान् रश्मीन् नियन्त्रयति (पूषणस्य वव्रिम्-इच्छन्-अविदत्) पृथिव्याः-रूपं=प्रकाशमिच्छन्निव पृथिवीं प्राप्तवान् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(विद्वान्) जानने योग्य अग्निसूर्यरूप (सप्त स्वसॄः-अरुषीः-वावशानः) सात रंगवाली अन्धकार को सम्यक् रूप से हटाने वाली आरोचमान रश्मियों को बहुत प्रकाश देता हुआ (दृशे) संसार को दिखाने—दृष्ट करने के लिए (मध्वः-उज्जभार कम्) जलमय आकाश से उभारता है (अन्तरिक्षे-अन्तः-पुराजाः) जो अन्तरिक्ष के अन्दर पूर्व से प्रसिद्ध होता है । (येमे) उन रश्मियों को नियन्त्रित रखता है (पूषणस्य वव्रिम्-इच्छन्-अविदत्) पृथिवी के रूप—स्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए जैसा ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य अपनी सात रंगवाली किरणों को जगत् को दृष्ट कराने के लिए जलमय आकाश से बाहर निकालता या उभारता है जो जलमय आकाश में स्वयं प्रथम गुप्त रहता है पुनः पृथिवी को भी स्वरूप देता है, जल को शोषित कर तथा बहाकर जलमय आकाश में बाहर दृष्ट कराता है। इसी प्रकार सूर्य समान राजमान राजा सप्त व्यवस्थाओं को राष्ट्र में प्रचारित कर उनसे राष्ट्र को चमकावे, सब प्रकार से पुष्ट करे ॥ ५ ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

सप्त । मर्यादाः । कवयः । ततक्षुः । तासाम् । एकाम् । इत् । अभि । अंहुरः । गात् । आयोः । ह । स्कम्भः । उपऽमस्य । नीळे । पथाम् । विऽसर्गे । धरुणेषु । तस्थौ ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कवयः) मेधाविनः-अनूचानः-ऋषयः *"कवि मेधाविनाम"* [*निघ० ३ । १५*] *"ये वा-अनूचानस्ते कवयः"* [*ऐ० २ । २*] *"ऋषयः कवयः"* [*मै० ४।१०३*] (सप्त मर्यादाः) जीवनयात्राया अनुल्लङ्घनीया मर्यादाः-व्यवस्थाः (ततक्षुः) चक्रुः तक्षन्ति कुर्वन्ति ताश्च यास्कोक्ताः—*"स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा, पातकेऽनृतोद्यमिति"* [*निरु० ६ । २७*] तासाम्-एकाम्-इत्) तासामेकामपि (अभि-अगात्) अभिक्राम्येत् यः (अंहुरः) सः अंहस्वान् पापी भवति (ह) परन्तु तद्भिन्नः पुण्यात्मा (आयोः-स्कम्भः) ज्योतिषः स्कम्भः— पूर्णज्योतिर्मयः परमोऽग्निः परमात्मा तस्य *"आयोर्ज्योतिषः"* [*निरु० १० । ४१*] (उपमस्य नीडे) उपमन्तुं योग्यस्यान्तिकतमस्य नीडे-गृहे-शरणे-मोक्षे *"नीडं गृहनाम"* [*निघ० ६ । ४*] (पथां विसर्गे) यत्र संसारयात्रायाः पन्थानो विसृज्यन्ते त्यज्यन्ते तत्र प्राप्तव्यस्थाने (धरुणेषु तस्थौ) प्रतिष्ठासु-उच्चस्थितिषु *प्रतिष्ठा धरुणम्"* [*श० ७ । ४ । २ । ५*] तिष्ठति विराजते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(कवयः) मेधावी आप्त ऋषिजन (सप्त मर्यादाः-ततक्षुः) सात मर्यादाएँ सीमाएंजीवन की बनाते हैं, उनका लङ्घन न करें-उन पर न पहुँचें जो कि निरुक्त में प्रदर्शित हैं— चोरी—डाका, गुरुपत्नी से सम्भोग, ब्रह्महत्या, गर्भपात, सुरापान, पापकर्म की पुनरावृत्ति, पाप करके झूठ बोलना—पाप को छिपाना, (तासाम्-एकाम्-इत) उन इनमें से एक को भी (अभि-गात्) पंहुचे—अपने में आरोपित करे, तो वह (अंहुरः) पापी होता है। (ह) इन से पृथक् पुण्यात्मा (आयोः-स्कम्भः) ज्योति का स्कम्भ—ज्योतिष्पुञ्ज महान् अग्नि परमात्मा है, उस (उपमस्य) समीप वर्तमान के (नीडे) घर में—शरण में मोक्ष में (पथां विसर्गे) जहां जीवन यात्रा के मार्गों का विसर्जन—त्याग होता है ऐसे प्राप्तव्य स्थान में (धरुणेषु तस्थौ) प्रतिष्ठाओं—ऊंची स्थितियों में स्थिर हो जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— ऋषि जन जीवन यात्रा की सात मर्यादाएं—सीमाएं प्रतिबन्धरेखाएं=चोरी आदि, बनाते हैं जिनकी ओर जाना नहीं चाहिये, उनमें से किसी एक पर भी आरूढ हो जाने पर मनुष्य

पापी बन जाता है। उनसे बचा रहने वाला ऋषिकल्प होकर, जीवनयात्रा के मार्गों का अन्त जहां हो जाता है ऐसी प्रतिष्ठाओं—ऊंची स्थितिओं में रमण करता हुआ परम प्रकाशमान के आश्रय—मोक्ष में विराजमान हो जाता है ॥ ६ ॥

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥ ७ ॥

असत् । च । सत् । च । परमे । विऽओमन् । दक्षस्य । जन्मन् । अदितेः । उपऽस्थे । अग्निः । ह । नः । प्रथमऽजाः । ऋतस्य । पूर्वे । आयुनि । वृषभः । च । धेनुः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अदितेः-उपस्थे) अखण्डितायाः-अविनाशिन्याः प्रकृतेः-उपाश्रये: *"अदितिः- अविनाशिनी प्रकृतिः"* [*ऋ० ५ । ४४ । ११ दयानन्दः*] (दक्षस्य जन्मन्) प्रवृद्धस्य जगतो जन्मनि प्रादुर्भावे सति *"दक्ष-वृद्धौ"* [*भ्वादिः*] तस्मिन् (सत्-च) नित्यं चेतनतत्त्वं *' 'सत्-नित्यम्"* [ऋ० ६ । १८ । ४ *दयानन्दः*] (असत्-च) अनित्यं जडं वस्तु च *"असत्-अनित्यम्"* [*अथर्व १० । ७ । १० ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायां दयानन्दः*] (परमे व्योमन्) परमे व्यापके परमात्मनि खल्वास्तां ते उभे प्रकटीभवतः, स च परमो व्योमा (प्रथमजाः-अग्निः-ह) अस्माकं प्रथमप्रसिद्धः परमात्मा-अग्निः (ऋतस्य पूर्वे आयुनि) कारणस्य प्रकृतेः *"ऋतम्-कारणम्'* [*ऋ० १ । १०५ । ५ दयानन्दः*] जीवने सृष्टिप्रादुर्भावकाले (वृषभः-धेनुः) वीर्यसेचकः पिता, स धेनुर्धात्री माता भवति *"माता धेनुः"* [*श०* २ । २ । १ । २१] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अदितेः-उपस्थे) अविनाशी प्रकृति के उपाश्रय में (दक्षस्य जन्मन्) प्रवृद्ध जगत् के प्रादुर्भाव होने पर (सत्-च-असत्-च) नित्य चेतनतत्त्व और अनित्य जड़ वृक्षादि (परमे व्योमन्) परम व्यापक परमात्मा के अधीन प्रकट होते हैं, वह परम व्यापक (नः-प्रथमजाः-अग्निः) हमारा इष्टदेव—प्रथम प्रसिद्ध अग्नि—परम अग्नि अग्रणायक परमात्मा (ऋतस्य पूर्वे-आयुनि) प्रकृतिः के प्रारम्भिक विकृति जीवन में (वृषभः-धेनुः) वीर्यसेचक पिता और धात्री—पालने वाली माता भी है ॥ ७ ॥

भावाथ—प्रकृति से प्रवृद्ध जगत् बना, इसमें चेतनतत्त्व मनुष्यादि और जड़ वृक्षादि हैं जो परमव्यापक परमात्मा के अधीन हैं। वह प्रथम प्रसिद्ध महान् अग्नि-अग्रणायक परमात्मा प्रकृति से विकृति होने पर आदिसृष्टि के जीवन में पिता—रक्षक जनक और धात्री माता भी होता है, आरम्भसृष्टि में परमात्मा ही माता पिता का कार्य करता है। सदा उसकी उपासना करनी चाहिए और उसी की शरण लेनी चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्र में राजा भी सब मनुष्यादि और वनस्पतियों के पालन करने की व्यवस्था करे, बैल आदि चार पैर वाले सवारी के योग्य पशुओं तथा दूध देने वाली गौ आदि की ॥ ७ ॥

———

षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । २ विराट् पंक्तिः । ३ निचृत् पंक्तिः । ४, ५ विराट् त्रिष्टुप् । ६ पंक्तिः । ७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१, ४, ५, ७ धैवतः । २, ३, ६ पञ्चमः ।

विषयः—पूर्ववत् ।

अयं स यस्य शर्मन्नवोभिरग्नेरेधते जरिताभिष्टौ ।
ज्येष्ठेभिर्यो भानुभिर्ऋषूणां पर्येति परिवीतो विभावा ॥ १ ॥

अयम् । सः । यस्य । शर्मन् । अवःऽभि । अग्नेः । एधते । जरिता । अभिष्टौ ।
ज्येष्ठेभिः । यः । भानुऽभिः । ऋषूणाम् । परिऽएति । परिऽवीतः । विभाऽवा ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य-अग्नेः-शर्मन्-अवोभिः) यस्य ह्यग्ने परमात्मनः शरणे-उपासने सति विविधरक्षणप्रकारैः (जरिता) स्तुतिकर्त्ता जनः *"जरिता स्तोतृनाम" [निघ० ३/१६]* (अभिष्टौ) निजाभिकांक्षाप्राप्तौ सत्याम् (एधते) समृद्धो भवति (सः-अयम्) सो ऽयं परमात्मा ऽस्ति (यः) यश्च (ज्येष्ठेभिः-भानुभिः) श्रेष्ठैर्निर्भ्रान्तैर्ज्ञानप्रकाशैः *"भानुभिः-विद्याप्रकाशैः" [यजु. १२/३२ दयानन्दः]* (परिवीतः) परिपूर्णः (विभावा) विशिष्टप्रकाशवान् (ऋषूणां पर्येति) ऋषून्-ऋषीन्-अग्न्यादीन् परमर्षीन् *"ऋषूणां मन्त्रार्थविदां व्यत्ययेन-इकारस्थान उत्वं षठी च [ऋ. १ । २५ । १ दयानन्दः]* सर्वभावेन प्राप्नोति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य-अग्नेः-शर्मन्) जिस अग्रणायक परमात्मा के शरण में–उपासन में (अवोभिः) विविध रक्षणविधानों द्वारा (जरिता) स्तुतिकर्त्ता–उपासक जन (अभिष्टौ) निज अभिकांक्षा–प्राप्ति हो जाने पर (एधते) समृद्ध हो जाता है अभ्युदय और मोक्ष पा लेता है (सः-अयम्) वह यह परमात्मा (यः) जो (ज्येष्ठेभिः-भानुभिः) श्रेष्ठ भ्रान्तिरहित ज्ञानप्रकाशों से (परिवीतः) परिपूर्ण है (विभावा) विशेष प्रकाशवान् (ऋषूणां पर्येति) मन्त्रसाक्षात्कर्त्ता अग्नि आदि परम ऋषियों को आरम्भ सृष्टि में सर्वभाव से प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासनारूप शरण में उपासक की रक्षा करने वाले परमात्मा के बहुत से प्रकार हैं जिनसे उसकी कार्यसिद्धि हो जाने पर उपासक समृद्ध हो जाता है, अभ्युदय और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि परम ऋषियों के अन्दर साक्षात् प्राप्त होकर उन्हें निर्भ्रान्त ज्ञान प्रकाश—वेद को देता है ॥ १ ॥

यो भानुभिर्विभावा विभात्यग्निर्देवेभिर्ऋतावाजस्रः ।
आ यो विवाय सख्या सखिभ्योऽपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः ॥ २ ॥

यः । भानुऽभिः । विभाऽवा । विऽभाति । अग्निः । देवेभिः । ऋतऽवा । अजस्रः । आ । यः । विवाय । सख्या । सखिऽभ्यः । अपरिऽह्वृतः । अत्यः । न । सप्तिः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-अग्निः-विभावा) यः परमात्मा सूर्यो वा विशिष्टप्रकाशमानः (भानुभिः-देवेभिः-विभाति) स्वप्रकाशैर्विशिष्टं प्रकाशते तथा सूर्यो ऽन्यान् लोकांश्च प्रकाशयति (ऋतावा) सत्यनियमवान् (अजस्रः) अनुपक्षीणः-अबाध्यः-एकरसः (यः सखिभ्यः सख्या-आविवाय) यः परमात्मा मुमुक्षुजीवात्मभ्यः समानख्यानेन "*द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः*" [*ऋ० १।१६४।२०*] उक्तत्वात्, तथा द्युस्थानकेभ्यश्च समानस्थानभावेन विशिष्टं प्राप्नोति (अपरिह्वृतः-न अत्यः सप्तिः) अकुटिलः सरलगतिकः सततगमनशीलो ऽश्व इव ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः—अग्निः—विभावा) जो परमात्मा विशेष प्रकाशमान (भानुभिः—देवेभिः—विभाति) अपने प्रकाशों द्वारा मुक्त आत्माओं के साथ तथा सूर्य ग्रहों के साथ विशेष प्रकाशमान हो रहा है (ऋतावा—अजस्रः) सत्यनियम वाला और एकरस अविनाशी (यः सखिभ्यः सख्या—आविवाय) जो समान ख्यान वाले उपासक आत्माओं के लिए समान ख्यान मित्र भाव से तथा सूर्य ग्रहों के लिए समानस्थान भाव से विशेष प्राप्त होता है (अपरिह्वृतः—न—अत्यः सप्तिः) सरलगामी सततगतिशील घोड़े के समान ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने प्रकाश से मुक्तात्माओं के साथ रहता है, वह सत्यज्ञानवान् एकरस है, उपासक आत्माओं का मित्र है उन्हें सरलरूप से प्राप्त होता है। ऐसे ही सूर्य भी आकाश में वर्तमान हुआ अपने प्रकाश से ग्रहों के साथ मित्र सा बना रहता है ॥ २ ॥

ईशे यो विश्वस्या देववीतेरीशे विश्वायुरुषसो व्युष्टौ ।
आ यस्मिन्मना हवींष्यग्नावरिष्टरथः स्कभ्नाति शूषैः ॥ ३ ॥

ईशे । यः । विश्वस्याः । देवऽवीतेः । ईशे । विश्वऽआयुः । उषसः । विऽउष्टौ । आ । यस्मिन् । मना । हवींषि । अग्नौ । अरिष्टऽरथः । स्कभ्नाति । शूषैः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-विश्वस्याः-देववीतेः-ईशे) यो ऽग्निरग्रणायकः परमात्मा सकलाया दिव्यभोगप्राप्तेः *"देववीतये दिव्यानां भोगानां प्राप्तये"* [*यजु० १।२२ दयानन्दः*] ईष्टे स्वामित्वं करोति-स्वामी खल्वस्ति (विश्वायुः- व्युष्टौ-उषसः-ईशे) विश्वं पूर्णमायुर्यस्मात् सः परमात्मा *"विश्वमायुर्यस्मात् सः"* [*यजु. १।२२ दयानन्दः*] तथा बुद्धेर्विकासे च स परमात्मा स्वामी खल्वस्ति (यस्मिन्-अग्नौ) यस्मिन्नग्रणायके परमात्मनि (मना-हवींषि) मननीयानि स्तुति प्रार्थनोपासनवचनानि देयानि समर्प्याणि समर्प्यन्ते सः (अरिष्टरथः) उपासकानामहिंसनीयरमणाधारः (शूषैः-आस्कभ्नाति) स्वकीयबलैः *"शूषं बलनाम"* [*निघ . २।९*] सकलं दिव्यं सुखं ज्ञानं जगच्च स्वाश्रये धारयति ॥३॥

भाषान्वयार्थ—(यः-विश्वस्याः-देववीतेः-ईशे) जो अग्रणायक परमात्मा सकल दिव्यभोगप्राप्ति का स्वामित्व करता (विश्वायुः–उषसः–व्युष्टौ–ईशे) पुर्ण आयु जिससे–जिसकी शरण से स्तुति प्रार्थना उपासना द्वारा प्राप्त होती है ऐसा वह परमात्मा बुद्धि के विकास में स्वामी है (यस्मिन्-अग्नौ) जिस परमात्मा में (मना-हवींषि) मननीय या मन से स्तुति प्रार्थनोपासना रूप वचन भेंट किये जाते हैं ऐसा वह परमात्मा (अरिष्टरथः) उपासकों का अहिंसनीयरमणाधार है (शूषैः–आस्कभ्नाति) अपने बलों से दिव्यभोगों, ऊंची बुद्धि और जगत् को अपने में आश्रय देता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—अग्रणायक परमात्मा उपासकों के लिए दिव्यभोगों और प्रकाशमय बुद्धि को प्रदान करने में समर्थ है, उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करने वालों को वह पूर्ण आयु देता है ॥ ३ ॥

शूषेभिर्वृधो जुषाणो अर्कैर्देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति ।
मन्द्रो होता स जुह्वा३ यजिष्ठः संमिश्लो अग्निरा जिघर्ति देवान् ॥ ४ ॥

शूषेभिः । वृधः । जुषाणः । अर्कैः । देवान् । अच्छ । रघुऽपत्वा । जिगाति । मन्द्रः । होता । सः । जुह्वा । यजिष्ठः । सम्ऽमिश्लः । अग्निः । आ । जिघर्ति । देवान् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-अग्निः) सो ऽग्रणायकः परमात्मा (अर्कैः-जुषाणः) अर्चनीयैर्मन्त्रैः *" अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति "* [*निरु० ५।४*] प्रियमाणः सेव्यमानो वा विद्वद्भिरुपासकैः (शूषेभिः-वृधः) स्वबलैःप्रवृद्धः सन् (देवान्) तान् विदुष उपासकान् (रघुपत्वा) लघुना समयेन शीघ्रतया यो याति सः शीघ्रगामी सद्यः प्रापणशीलः रघूपधात् 'पत्' धातोः' क्वनिप् प्रत्ययः *"अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"* [*अष्टा० ३।२।७५*] सः (अच्छा जिगाति) अच्छाभिमुखमप्रतिबन्धेन प्राप्नोति *"जिगाति गतिकर्मा "* [*निघ. २।१४*] तथा (मन्द्रः-होता) स्तुत्यः–आदाता स्वीकारकर्त्ता (जुह्वा यजिष्ठः) आत्मना *"आत्मा वै जुहूः "* [*मै. ४।१।१२*] अतिशयेन यजनीयः, कर्मणि कर्तृप्रत्ययो व्यत्ययेन

(सम्मिश्लः) स्वस्मिनुपासकान् सम्यक्-मिश्रयति सः *"कपलिकादीनामिति वक्तव्यम्"* [अष्टा० ८।२।१८ वा०] इति रेफस्य लत्वम् (देवान् आजिघर्ति) तानुपासकान्-आनन्दामृतेन सिञ्चति *"घृतमुदकनाम जिघर्त्तेः सिञ्चतिकर्मणः"* [निरु० ७।२४] ॥ ४॥

भाषान्वयार्थ—(सः-अग्निः) वह अग्रणायक परमात्मा (अर्कैः-जुषाणः) अर्चन करने वाले मन्त्रों द्वारा प्रसन्न होने वाला या प्रसन्न किया जाने वाला (शूषैः-वृधः) अपने बलों से प्रवृद्ध बढा-चढा हुआ (देवान्) उपासक विद्वानों को (रघुपत्वा) लघु—अत्यल्प समय या शीघ्र—तुरन्त प्राप्त होने वाला (अच्छ जिगाति) सीधा बिना किसी रुकावट के प्राप्त होता है (मन्द्रः-होता) वह स्तुति करने योग्य उपासकों को अपना बनाने वाला (जुह्वा यजिष्ठः) आत्मा के द्वारा अतीव यजनीय सङ्गमनीय (सम्मिश्लः) अपने में उपासकों को मिलाने वाला तल्लीन करने वाला (देवान्-आ जिघर्ति) उपासकों को आनन्दामृत से सींचता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासकों की अर्चनाओं से प्रसन्न होता है, उन पर कृपा करता है, वह उन्हें शीघ्र प्राप्त होता है—स्वीकार करता है या अपनाता है । वह परमात्मा आत्मा द्वारा सङ्गमनीय है, उपासकों को आनन्दामृत से सींच देता है ॥ ४ ॥

तमुस्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिरा कृणुध्वम् ।
आ यं विप्रासो मतिभिर्गृणन्ति जातवेदसं जुह्वं सहानाम् ॥ ५ ॥

तम् । उस्राम् । इन्द्रम् । न । रेजमानम् । अग्निम् । गीःऽभिः । नमःऽभिः । आ । कृणुध्वम् । आ । यम् । विप्रासः । मतिऽभिः । गृणन्ति । जातऽवेदसम् । जुह्वम् । सहानाम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यं जातवेदसं सहानां जुह्वम्) यं खलु जातस्योत्पन्नमात्रस्य वेत्तारं, सहस्वतां बलवतां स्वाभ्यन्तरे ग्रहीतारं परममात्मानम् *"आत्मा वै जुहूः"* [मै. ४।१।१२] (विप्रासः) ऋषयः *"विप्राः-यहषयः"* [श. ६।४।२।७] (मतिभिः-आ गृणन्ति) वाग्भिः समन्तादुपदिशन्ति *'वाग्वै मतिः [श. ८।१।२।७]* (तमुउस्राम्) तं सुखस्योत्स्राविणम् *"उस्रा उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः"* [निरु. ४।१९] उत् स्रु गतौ ततो डः प्रत्ययः कर्त्तरि पुनः "अम् प्रत्यये पूर्वरूपाभावश्छान्दसः उपसर्गस्य तकारलोपश्चापि छान्दसः, यद्वा स्वस्मिन् वासयितारम् अथवा वस् धातोः-रक छान्दसो दीर्घः, यद्वा स्वाभ्यन्तरे वासदातारं 'वस धातोः क्विपि भावे-उस्, उसं-वासं ददाति यः उस्राः, तम् "सम्प्रसारणाभावश्छान्दसः" (इन्द्रं न रेजमानम्-अग्निम्) इन्द्रो विद्युद्रूपोऽग्निस्तमिव कम्पायमानमग्रणायकं परमात्मानम् (गीर्भिः-नमोभिः आ कृणुध्वम्) स्तुतिभिरध्यात्मयज्ञैश्च *"यज्ञो वै नमः [श० २।४।२।२४]* साक्षात्कुरुतम्-यूयमुपासका इति शेषः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यं जातवेदसं सहानां जुह्वम्) जिस उत्पन्न मात्र के वेत्ता तथा बलवाले, शक्तिशाली वायु विद्युत् आदि को अपने अन्दर ग्रहण करने वाले महान् आत्मा परमात्मा का (विप्रासः-मतिभिः-आ गृणन्ति) आदि ऋषि महानुभाव वाणियों से समन्तरूप से उपदेश करते रहे

(तम्-उस्राम्) उस सुखस्रावी या अपने अन्दर वास देने वाले (इन्द्रं न रेजमानम्- अग्निम्) विद्युत् के समान दुष्ट को कंपा देने वाले अग्रणायक परमात्मा के (गीर्भिः-नमोभिः-आकृणुध्वम्) स्तुतिवाणियों द्वारा और अध्यात्मयज्ञों–योगाभ्यासों द्वारा हे उपासकजनो ! उसे साक्षात् करो ॥५॥

भावार्थ—उत्पन्नमात्र संसार का ज्ञाता–सर्वज्ञ, शक्तिशाली विद्युत् वायु आदि को अपने अधीन रखने वाला जिसका आदि ऋषि महानुभाव उपदेश करते रहे उस सुखदाता, दुष्टों को दण्ड देने वाले परमात्मा की स्तुति उपासना करनी चाहिये और योगाभ्यासों द्वारा साक्षात् करना चाहिये ॥ ५ ॥

सं यस्मिन्विश्वा वसूनि जग्मुर्वाजे नाश्वाः सप्तीवन्त एवैः ।
अस्मे ऊतीरिन्द्रवाततमा अर्वाचीना अग्न आ कृणुष्व ॥ ६ ॥

सम् । यस्मिन् । विश्वा । वसूनि । जग्मुः । वाजे । न । अश्वाः । सप्तिऽवन्तः । एवैः । अस्मे इति । ऊतीः । इन्द्रवातऽतमाः । अर्वाचीनाः । अग्ने । आ । कृणुष्व ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्मिन्) यस्मिन्नग्रणायके परमात्मनि (विश्वा वसूनि सञ्जग्मुः) सर्वाणि वासयोग्यानि धनादीनि समवेतानि वर्तन्ते यद्वा यस्मिन् प्राप्ते सर्वाणि धनानि प्राप्तानि भवन्तीति मान्यतासम्भवः 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं मदं विज्ञातं भवतीतिवत्', (वाजे न सप्तीवन्तः-अश्वाः-एवैः) बलपूर्णे संग्रामे *"वाजे संग्रामनाम"* [*निघ० २ । १७*] यथा वायुवन्तः–वायुबलवन्तो ऽश्वाः अयनैर्गतिक्रमैः सञ्चरन्ते *"वायुः सप्तिः"* [*तै० १।३।६।४*] *"एवैः अयनैः"* [*निघ० २।२५*] (अग्ने) एतादृश हे-अग्रणायक परमात्मन् ! त्वम् (अस्मे) अस्मभ्यम् 'अस्मद् शब्दात् 'शे' *"सुपां सुलक्पूर्व-सवर्णाच्छे ....[अष्टा० ७।१।३९]* इति शे प्रत्ययः, *"शे"* [*अष्टा० १।१।१३*] प्रगृह्यसंज्ञात्वात् प्रकृतिभावः (ऊतीः) रक्षाप्रीतितृप्तीः (इन्द्रवाततमाः) अतिशयेन विद्युद्वातयुक्ताः (अर्वाचीनाः) अस्मदभिमुखाः (आ कृणुष्व) आकारय-प्रेरय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्मिन्) जिस अग्रणायक परमात्मा में (विश्वा वसूनि सञ्जग्मुः) बसाने वाले समस्त धन भोग सुख सङ्गत हैं, जिसके पा लेने पर सब धन भोग सुख प्राप्त हो जाते हैं (वाजे न सप्तीवन्तः-अश्वाः-एवैः) जैसे बलों से पूर्णस्थल–संग्राम में गतिक्रमों से वायुबल वाले घोड़े पहुंचे हुए या प्राप्त होते हुए (अग्ने) अग्रणायक परमात्मन् ! तू (अस्मे) हमारे लिये–हमारे में या हमारे अन्दर (इन्द्रवाततमाः-ऊतीः)विद्युत् वायुवाली शक्ति और जीवन देने वाली रक्षा प्रीति तृप्तियों को (अर्वाचीनाः-आकृणुष्व) इधर की ओर प्रेरित कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा की प्राप्ति सब सुखों की प्राप्ति है जैसे बलपूर्ण संग्राम में अश्वबल आदि सब बल प्राप्त होते हैं ऐसे ही परमात्मा हमारे अन्दर सब बल और जीवन देने वाली रक्षा प्रीति तृप्तियों को प्रेरित करता है अतः उसकी शरण और उपासना आवश्यक है ॥ ६ ॥

अधा ह्यग्ने मह्ना निषद्या सद्यो जज्ञानो हव्यो बभूथ ।
तं ते देवासो अनु केतमायन्नधावर्धन्त प्रथमास ऊमाः ॥ ७ ॥

अध । हि । अग्ने । मह्ना । निऽसद्य । सद्यः । जज्ञानः । हव्यः । बभूथ । तम् । ते । देवासः । अनु । केतम् । आयन् । अध । अवर्धन्त । प्रथमासः । ऊमाः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (अध हि) तव कृपायाः अनन्तरमेव (मह्ना) त्वं स्वमहत्त्वेनोदारभावेन (सद्यः) तत्कालम् (निषद्य) हृदयं प्राप्य (हव्यः-जज्ञानः-बभूथ) प्रकाशमानानां स्तुत्यो भवसि (ते) तव (तं-केतुम्) तं प्रकाशमयस्वरूपम् (देवासः) उपासकाः (अनु-आयन्) अनुभवन्ति (अध) अथ च (प्रथमासः-ऊमाः-अवर्धन्त) ते श्रेष्ठाः-प्राप्तरक्षादिकाः-उपासका वर्धन्ते ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (अध हि) तेरी कृपा के अनन्तर (मह्ना) तू अपनी महत्ता से (निषद्य) मेरे हृदय में प्राप्त होके (हव्यः-सद्यः-जज्ञानः-बभूथ) तू स्तुत्य हो जाने पर तुरन्त साक्षात् हो जाता है (ते देवासः) तेरे उपासक महानुभाव (तं-केतुम्-अनु आयन्) उस स्वरूप को अनुभव करते हैं (प्रथमासः-ऊमाः-अध-अवर्धन्त) वे श्रेष्ठ उपासक रक्षादि प्राप्त हुए तुरन्त बढते हैं–समृद्ध हो जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो उपासक परमात्मा की कृपा में रहकर, उसका रक्षण प्राप्तकर उसके स्वरूप का ज्ञान करते हैं वे सदा उन्नति को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥



सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, ३, ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४ त्रिष्टुप् । ७ विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्तेऽग्निशब्देनाग्रणायकः परमात्मा प्रतिपाद्यते ।
इस सूक्त में अग्नि शब्द से अग्रणायक परमात्मा कहा जाता है ।

स्वस्ति नो दिवो अंग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव ।
सचेमहि तव दस्म प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः ॥ १ ॥

स्वस्ति । नः । दिवः । अग्ने । पृथिव्याः । विश्वऽआयुः । धेहि । यजथाय । देव ।
सचेमहि । तव । दस्म । प्रऽकेतैः । उरुष्य । नः । उरुऽभिः । देव । शंसैः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने देव) हे अग्रणायक परमात्मदेव ! (यजथाय) जीवनसम्पादनाय, श्रेष्ठकर्मकरणाय, दानाय (नः) अस्मभ्यम् (दिवः) द्युलोकात् (स्वस्ति) कल्याणं कल्याणकरं वर्षं वृष्टिजलम् (पृथिव्याः) पृथिवीतः (विश्वायुः) सर्वान्नम् *"आयुः-अन्ननाम"* [निघ० २।७] (धेहि) धापय-प्रापय (दस्म देव) हे दर्शनीय देव ! *"दस दर्शने"* [चुरादि०] (सचेमहि) वयं त्वयि समवेता भवेम *"षच समवाये"* [*भ्वादि०*] (तव शंसैः-उरुभिः- प्रकेतैः-नः-उरुष्य) तव प्रशंसनीयैर्बहुभिर्ज्ञानप्रकाशैरस्मान् रक्ष *"उरुष्यति रक्षाकर्मा"* [*निरु० ५।२३*] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने देव) हे अग्रणायक परमात्मदेव ! (यजथाय) जीवनसम्पादन, श्रेष्ठ कर्म करने तथा दान करने के लिए (नः) हमारे लिए (दिवः स्वस्ति) द्युलोक–आकाश से कल्याणकर वृष्टिजल को (पृथिव्याः) पृथिवी से (विश्वायुः) सब प्रकार के अन्न को (धेहि) धारण करा–प्राप्त करा (दस्म देव) हे दर्शनीय देव ! (सचेमहि) हम तेरे अन्दर समवेत हों–तेरी सङ्गति करें (तव शंसैः-उरुभिः-प्रकेतैः-नः-उरुष्य) तेरे अपने प्रशंसनीय बहुत ज्ञानप्रकाशों से हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा आकाश से वृष्टिजल और पृथिवी से विविध अन्नों को हमें शुभ जीवन यात्रा के लिए देता है साथ ही वह अपने प्रशंसनीय ज्ञानप्रकाशों द्वारा हमारी रक्षा करता है अतः उसकी सङ्गति और उपासना करनी चाहिये ॥ १ ॥

इमा अग्ने मतयस्तुभ्यं जाता गोभिरश्वैरभि गृणन्ति राधः ।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानड् वसो दधानो मतिभिः सुजात ॥ २ ॥

इमा । अग्ने । मतयः । तुभ्यम् । जाताः । गोभिः । अश्वैः । अभि । गृणन्ति । राधः । यदा । ते । मर्तः । अनु । भोगम् । आनट् । वसो इति । दधानः । मतिऽभिः । सुऽजात ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (इमाः-मतयः) एताः-मनुष्यप्रजाः-उपासकजनाः *"प्रजा वै मतयः"* [तै० आ० ५।६।८] (तुभ्यम्) त्वदर्थम् (गोभिः-अश्वैः-जाताः) इन्द्रियैराशुगमनशीलैर्मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः सुसम्पन्नाः (राधः-अभिगृणन्ति) राधनीयं स्तुत्यं वचनं स्तुवन्ति (यदा ते मर्तः) यदा तव मनुष्यः-उपासक-जनः (भोगम्-अनु-आनट्) आनन्दरसेन सह व्याप्नोति (वसो) हे वासयितः ! (सुजात मतिभिः-दधानः) हे सुप्रसिद्ध परमात्मन् ! अस्माभिरुपासकप्रजाभिर्धार्यमाणः सन् प्राप्तो भव ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (इमाःमतयः) ये मनुष्य प्रजाएं (तुभ्यम्) तेरे लिए (गोभिः-अश्वैः-जाताः) इन्द्रियों आशुगामी पवित्र अन्तःकरणों–मनबुद्धिचित्त अहंकारों से सुसम्पन्न हुए (राधः-अभिगृणन्ति) आराधनीय स्तुत्यवचन को पुनः पुनः कहते–जपते हैं (यदा ते मर्तः) जब तेरे उपासक जन (भोगम्-अनु-आनट्) आनन्दरस के साथ व्याप्त हैं (वसो) हे बसाने वाले (सुजात मतिभिः-दधानः) हे सुप्रसिद्ध परमात्मन् ! हम उपासक प्रजाओं द्वारा धारण किया गया–उपासना में लाया हुआ तू हमें प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो जन संयत इन्द्रियों और पवित्र अन्तः करणों से सम्पन्न होकर परमात्मा के लिये आराधनीय स्तुतिवचन समर्पित करते हैं उन ऐसे जनों द्वारा वह साक्षात् किया जाता है, ऐसे जन ही उसके आनन्दरस में विभोर होते हैं ॥ २ ॥

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम् ।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥ ३ ॥

अग्निम् । मन्ये । पितरम् । अग्निम् । आपिम् । अग्निम् । भ्रातरम् । सदम् । इत् । सखायम् । अग्नेः । अनीकम् । बृहतः । सपर्यम् । दिवि । शुक्रम् । यजतम् । सूर्यस्य ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निं पितरं सदम्-इत्-मन्ये) अग्रणायकं परमात्मानं सदैव पितरं मन्ये-भावयामि (अग्निम्-आपिम्) अग्रणायकपरमात्मानं सम्बन्धेन प्राप्तं सम्बन्धिनं सदैव भावयामि (अग्निं भ्रातरम्) अग्रणायकपरमात्मानं भ्रातरं भावयामि (सखायम्) तथा मित्रं भावयामि (दिवि बृहतः सूर्यस्य-अग्नेः) द्युलोके स्थितस्य महतः सूर्यरूपस्याग्नेः (अनीकं शुक्रं यजतं सपर्यम्) सेनानीरिव नायकं संस्थापकम् *"सेनाया वै सेनानीरनीकम्"* [*श० ५ । ३ । १ । १*] प्रकाशकं यजनीयं सङ्गमनीयं परमात्मानं परिचरेयम्-स्तूयाम् *"सपर्यति परिचरणकर्मा"* [*निघ० ३ । ५*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निं पितरं सदम्-इत्-मन्ये) अग्रणायक परमात्मा को पिता मानूं-पिता रूप में अपनाऊँ (अग्निम् आपिम्) अग्रणायक परमात्मा को प्राप्त सम्बन्धी मानूं-अपनाऊं (अग्नि-भ्रातरम्) अग्रणायक परमात्मा को भ्राता मानूं-अपनाऊं (सखायम्) मित्ररूप में मानूं-अपनाऊं (दिवि बृहतः सूर्यस्य-अग्नेः) द्युलोक में स्थित महान् सूर्यरूप अग्नि के (अनीकं शुक्रं यजतं सपर्यम्) सेनानी जैसे नायक, संस्थापक, प्रकाशक, सङ्गमनीय परमात्मा की उपासना करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—अग्रणायक परमात्मा हमारा पिता भ्राता सखा सम्बन्धी है । उसे ऐसा ही मानना चाहिये-अपने अन्दर भावित करना चाहिये तथा संसार के महान् अग्निपिण्ड सूर्य का भी जो नायक तथा समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाला है उस परमात्मा को उपकारक जानना और मानना चाहिए ॥ ३ ॥

सिध्रा अग्ने धियो अस्मे सनुत्रीर्यं त्रायसे दम आ नित्यहोता ।
ऋतावा स रोहिदश्वः पुरुक्षुर्द्युभिरस्मा अहभिर्वाममस्तु ॥ ४ ॥

सिध्राः । अग्ने । धियः । अस्मे इति । सनुत्रीः । यम् । त्रायसे । दमे । आ । नित्यऽहोता । ऋतऽवा । सः । रोहित्ऽअश्वः । पुरुऽक्षुः । द्युऽभिः । अस्मै । अहऽभिः । वामम् । अस्तु ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (अस्मे) अस्माकम् (धियः सनुत्रीः-सिध्राः) स्तुतिवाचः *"वाग्वै धीः"* [*का० श० ४ । २ । ४ । १*] त्वया सह त्वत्सङ्गत्या वा सम्भक्त्यस्त्वत्र समागमं प्राप्तवत्यः सिद्धाः सफलाः सन्ति, सन्तु वेति शेषः (दमे नित्यहोता यम्-आ त्रायसे) हृदये प्रतिदिनोपास्यः सन् त्वं यमुपासकं समन्तात् त्रायसे निजाश्रयं ददासि (सः-ऋतावा) स खलु सत्यवान् जीवनयज्ञं सफलं कृतवान् भवति, तथा (रोहिदश्वः) तेजस्वीन्द्रियाश्ववान् *"इन्द्रियाणि हयानाहुः"* [*कठो० व० ३ । ४*] (पुरुक्षुः) बह्वन्नादिभोगवान् भवति *"क्षु-अन्ननाम"* [*निघ० २ । ७*] (अस्मै द्युभिः-अहभिः- वामम्-अस्तु) अस्मै खलूपासकाय प्रकाशमयैर्दिनैः सह वननीयं सुखं भवतु-भवति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) अग्रणायक परमात्मन् ! (अस्मे) हमारी (धियः सनुत्रीः-सिध्राः) स्तुतियां तेरे साथ या तेरी सङ्गति से तेरे समागम को प्राप्त हुई सिद्ध सफल हों (दमे नित्यहोता यम्-आ त्रायसे) हृदय घर में समन्तात् नित्य उपास्य हुआ तू जिसकी सुरक्षा करता है—निज आश्रय देता है (सः ऋतावा) वह सत्यवान्–जीवनयज्ञ को सफल किया हुआ, तथा (रोहिदश्वः) तेजस्वी इन्द्रियों वाला, शुद्ध इन्द्रियों वाला (पुरुक्षुः) बहुत अन्नादि भोग वाला हो जाता है (अस्मै) इस उपासक के लिये (द्युभिः-अहभिः-वामम् अस्तु) प्रकाशमान दिनों के द्वारा वननीय सुख प्राप्त होता है ॥४॥

भावार्थ—जो प्रतिदिन परमात्मा की स्तुति करता है उसकी स्तुतियां सफल हो जाती हैं वह तेजस्वी और अच्छे दिनों वाला होता है ॥ ४ ॥

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम् ।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त ॥ ५ ॥

द्युऽभिः । हितम् । मित्रम्ऽइव । प्रऽयोगम् । प्रत्नम् । ऋत्विजम् । अध्वरस्य । जारम् । बाहुऽभ्याम् । अग्निम् । आयवः । अजनन्त । विक्षु । होतारम् । नि । असादयन्त ॥ ५ ।

संस्कृतान्वयार्थः—(द्युभिः-हितम्) ज्ञानज्योतिभिः सम्पन्नम् (मित्रम्-इव प्रयोगम्) मित्रसदृशं प्रकृष्टं योगकर्तारम्–सहयोगदातारम् (प्रत्नम्) शाश्वतिकम् (अध्वरस्य जारम्-ऋत्विजम्) अहिंसनीयस्याध्यात्मयज्ञस्य स्तोतव्यम् *"जरति-अर्चतिकर्मा"* *[निघ० ३ । १४]* (बाहुभ्याम्-आयवः-अग्निम्-अजनन्त) उपासकजनाः *"आयवः-मनुष्य-नाम" [निघ० २ । ३]* बाहुभ्यामिव-अभ्यासवैराग्याभ्यामग्रणायकं परमात्मानं साक्षात्कृतवन्तः (विक्षु होतारं न्यसादयन्त) समस्तप्रजासु होतृत्वेन विराजमानं जीवनदातारं तमुपासका जनाः स्वात्मनि निष्ठापयन्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ— (द्युभिः-हितम्) ज्ञान ज्योतियों से सम्पन्न (मित्रम्-इव प्रयोगम्) मित्र समान प्रकृष्ट सहयोगकर्त्ता (प्रत्नम्) शाश्वतिक (अध्वरस्य जारम्-ऋत्विजम्) अहिंसनीय अध्यात्म-यज्ञ के अर्चनीय ऋत्विक्–सम्पादक को (बाहुभ्याम्-आयवः-अग्निम्-अजनन्त) उपासक जन बाहुओं के समान अभ्यास-वैराग्य द्वारा अग्रणायक परमात्मा को अपने अन्दर साक्षात् प्रकट करते हैं (विक्षु होतारं न्यसादयन्त) समस्त प्रजाओं में जीवन-दाता के रूप में विराजमान परमात्मा को स्वात्मा में बिठाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— ज्ञान-ज्योतियों से युक्त, मित्रसमान, अध्यात्म-यज्ञ के सम्पादक, समस्त प्रजाओं में व्यापक परमात्मा को अभ्यास वैराग्य द्वारा उपासक जन साक्षात् अपने अन्दर बिठाते हैं ॥ ५ ॥

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः ।
यथायज ऋतुभिर्देव देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात ॥ ६ ॥

स्वयम् । यजस्व । दिवि । देव । देवान् । किम् । ते । पाकः । कृणवत् । अप्रऽचेताः । यथा । अयजः । ऋतुऽभिः । देव । देवान् । एव । यजस्व । तन्वम् । सुऽजात ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देव) हे परमेष्टदेव ! (दिवि देवान् स्वयं यजस्व) द्युलोके वर्तमानान् सूर्यादीन् *"देवो-द्युस्थानो भवतीति वा"* [*निरु० ७ । १५*] त्वं स्वयं सङ्गमय सम्यक् गुणवतः कृत्वा संस्थापय प्रेरय च–सङ्गमयसि–संस्थापयसि प्रेरयसि च (अप्रचेताः-पाकः-ते किं कृणवत्) यः खल्वप्रकृष्टचेताः-अल्पज्ञस्त्वया च पक्तव्यो ज्ञानदानेन *"पाकः पक्तव्यो भवति"* [*निरु० ३ । १२*] जीवात्मा तव किं साहाय्यं कुर्यात् ? न किमपि कर्त्तुमर्हति, यद्यपि जीवात्माऽपि त्वद्वन्नित्यश्चेतनश्चास्ति (देव) हे-उपास्यदेव परमात्मन् ! (यथा-ऋतुभिः- देवान्-अयजः) यथा खलु त्वमृतुभिः-उचितकालैस्तान् दिव्यगुणान् देवान् तत्तद्गुणैः समसृजत्-संसृजति (एव) एवम् (सुजात तन्वं यजस्व) हे सुप्रसिद्ध परमात्मदेव ! स्वतनूं मामात्मानं यजस्व योग्यं सम्पादय ज्ञानदर्शनदानेन *"वृणते तनूं स्वाम्"* [*मुण्डकोप० ३ । ३*] *"आत्मा वै तनूः"* [*श० ६ । ७ । २ । ६*] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ— (देव) हे परम इष्टदेव परमात्मन् ! (दिवि देवान् स्वयं यजस्व) द्युलोक में वर्तमान सूर्यादि को तू स्वयं सङ्गत कर–सङ्गत करता है–सम्प्रेरित करता है (अप्रचेताः- पाकः-ते किं कृणवत्) अप्रकृष्ट ज्ञानवाला–अल्पज्ञ मुझ से ज्ञान पाकर पक्का बनने वाला जीवात्मा तेरी क्या सहायता कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता, यद्यपि जीवात्मा तेरे जैसा नित्य, चेतन और सृष्टि के देवों-सूर्य आदि से पूर्व वर्तमान होता है (देव) हे उपास्यदेव परमात्मन् ! (यथा- ऋतुभिः-देवान्-अयजः) तू जैसे उस उसके कालों से सूर्यादि देवों को स्वस्व दिव्यगुणों से संसृष्ट करता है (एव) इसी प्रकार (सुजात तन्वम् यजस्व) हे सुप्रसिद्ध परमात्मन् ! अपने अङ्गरूप मुझ आत्मा को गुणों से संसृष्ट कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने आकाश के सूर्य आदि पदार्थों को उन-उन गुणों से युक्त उन-उन के समयानुसार रचा यद्यपि जीवात्मा उनके रचने से पूर्व वर्त्तमान रहता है परन्तु वह अल्पज्ञ- अल्पशक्ति होने से उनके रचने में उसका सहायक नहीं बन सकता अपितु परमात्मा अपनी कृपा से ज्ञान दर्शन देकर जीवात्मा को गुणवान् और कर्म करने में समर्थ बनाता है ॥ ६ ॥

भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः ।
रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वोऽ अप्रयुच्छन् ॥ ७ ॥

भव । नः । अग्ने । अविता । उत । गोपाः । भव । वयःऽकृत् । उत । नः ।

वयः॒ऽधाः । रा॒स्व । च॒ । नः॒ । सु॒ऽम॒हः॒ । ह॒व्यऽदा॑तिम् । त्रा॒स्व । उ॒त । नः॒ । त॒न्वः॑ । अप्र॑ऽयुच्छन् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! त्वम् (नः-अविता-उत-गोपाः-भव) अस्माकं बाह्यभयाद् रक्षकस्तथाऽऽन्तरिकरोगादपि रक्षको भव (नः) अस्माकम्—अस्मासु (वयस्कृत्-उत वयोधाः-भव) प्राणस्य कर्ता तथा प्राणस्य धारयिता भव *"प्राणो वै वयः"* [ऐ० १ । २८] (सुमहः) हे सुमहनीय परमात्मन् ! (हव्यदातिं रास्व) हव्यानां समर्प्याणां स्तुतिवचनानां दानयोग्यतां देहि (उत-नः) तथा अस्माकम् (तन्वः-अप्रयुच्छन्-त्रास्व) शरीराणि-अप्रमाद्यन्-अनुपेक्षमाणः सन् त्रायस्व ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! तू (नः-अविता-उत-गोपाः-भव) हमारा बाहरी भय से रक्षा करने वाला तथा भीतरी रोग से भी रक्षा करने वाला हो (नः) हमारा—हमारे में (वयस्कृत्-उत वयोधाः-भव) प्राण का सम्पादक तथा प्राण का धारण कराने वाला हो (सुमहः) हे उत्तमप्रशंसनीय परमात्मन् ! तू (हव्यदातिं रास्व) तेरे प्रति समर्पण योग्य स्तुतिवचनों के देने की योग्यता को प्रदान कर (उत नः) और हमारे (तन्वः-अप्रयुच्छन्-त्रास्व) शरीरों की उपेक्षा न करता हुआ रक्षा कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—अग्रणायक परमात्मा के प्रति स्तुतिवचनों को अर्पित करने से वह बाहरी भयों से और रोगों से बचाता है तथा वही परमात्मा प्राण सञ्चालन करने वाला व प्राणशक्ति धारण कराने वाला है और वह ही शरीर का भी नियतरूप से त्राण करने वाला है ॥ ७ ॥



अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः

देवता—१-६ अग्निः, ७-९ इन्द्रः।

छन्दः—१, २, ५-७, ९ निचृत् त्रिष्टुप् । ३, ४, ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्तेऽग्निशब्देन लोकत्रये वर्तमानस्याग्नितत्त्वस्य वर्णनं क्रियते । इन्द्रशब्देन च परमात्मोपास्यत्वेन वर्ण्यते ।

इस सूक्त में तीनों लोकों में वर्तमान अग्नितत्त्व का वर्णन किया जाता है । और इन्द्र शब्द से परमात्मा उपासनीय वर्णित किया है ।

प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ १ ॥

प्र । केतुना । बृहता । याति । अग्निः । आ । रोदसी इति । वृषभः । रोरवीति । दिवः । चित् । अन्तान् । उपऽमान् । उत् । आनट् । अपाम् । उपऽस्थे । महिषः । ववर्ध ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः) महान्-अग्निः (बृहता केतुना) महता ज्ञापकेन प्रकाशेन (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ-द्यावापृथिवीमयं जगत् प्रति (प्र याति) प्रगच्छति-प्राप्नोति, तत्र विभाग उच्यते (वृषभः-रोरवीति) पृथिव्यामग्निरूपेण प्रज्वलन् सन् वृषभ इव भृश शब्दयति वायुमिश्रितः (दिवः-अन्तान्-उपमान्-चित्) द्युलोके सूर्यरूपेण द्युलोकस्य प्रान्तभागानुपाश्रितान् पिण्डरूपान् खल्वपि (उदानट्) उपरि सन् व्याप्नोति (अपाम्-उपस्थे) अन्तरिक्षस्य *"आपोऽन्तरिक्षनाम"* [*निघ० १ । ३*] मध्ये यद्वा-अपां जलानामुपरिस्थाने-अन्तरिक्षे विद्युद्रूपेण (महिषः-ववर्ध) एवं महान् सन् वृद्धिमाप्तोऽस्ति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः) महान् अग्नि (बृहता केतुना) महान् ज्ञापक प्रकाश से (रोदसी) द्यावापृथिवीमय जगत् के प्रति (प्रयाति) प्राप्त हो रहा है । विभाग से कहते हैं-(वृषभः-रोरवीति) पृथिवी पर अग्निरूप से जलता हुआ वायुयोग से वृषभ समान शब्द करता है (दिवः-अन्तान्-उपमान्-चित्) द्युलोक के प्रान्तभागों को भी तथा उपाश्रित पिण्डों को भी (उदानट्) ऊपर

होता हुआ सूर्यरूप से व्याप्त होता है (अपाम्-उपस्थे) जलों के ऊपर स्थान—अन्तरिक्ष में विद्युद्रूप से (महिषः-ववर्ध) महान् त्रिविध अग्नि वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—महान् अग्नि द्यावापृथिवीमय जगत् में प्राप्त है, पृथिवी पर अग्निरूप में जलता हुआ—शब्द करता हुआ, द्युलोक में समस्त पिण्डों प्रान्तभागों को प्रकाश देता हुआ सूर्यरूप में, अन्तरिक्ष में मेघस्थ हुआ विद्युद्रूप में मिलता है। ऐसे ही विद्वान् या राजा की बल—ज्ञान—गुणख्याति विद्वन्मण्डल एवं साधारण जनों में हो जाया करती है ॥ १ ॥

मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मानस्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत् ।
स देवतात्युद्यतानि कृण्वन्स्वेषु क्षयेषु प्रथमो जिगाति ॥ २ ॥

मुमोद । गर्भः । वृषभः । ककुत्ऽमान् । अस्रेमा । वत्सः । शिमीऽवान् । अरावीत् ।
सः । देवऽताति । उत्ऽयतानि । कृण्वन् । स्वेषु । क्षयेषु । प्रथमः । जिगाति । २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ककुद्मान्) तेजोवीर्यं प्रशस्तं यस्मिन् स प्रशस्ततेजोवीर्यवान् *"एतद्वीर्यं यत्ककुत्"* [*तै० सं० २।४।११।१*] (वृषभः-गर्भः-मुमोद) स सुखवर्षको द्यावापृथिव्योर्द्यावापृथिवीमय जगतोऽन्तरस्थः सन् *"गर्भः-अन्तःस्थः"* [*ऋ० ३।२६।११ दयानन्दः*] विकसितो जातो मोदयति, सुखयति जनान् अन्तर्गतो णिजर्थः *"मोदध्वं सुखयत"* [*यजु० ११।४६ दयानन्दः*] (वत्सः-अस्रेमा शिमीवान्-अरावीत्) वत्स इवाल्पः सन् नाक्षयो बलहीनः *"अस्रेमाणम्-अक्षयम्"* [*ऋ० ३।३६।१३ दयानन्दः*] कर्मवान् प्रशस्तकर्मशक्तिमान् *"शिमी कर्मनाम"* [*निघ० २।१*] स्वात्मानं घोषयतीव (सः-देवतातिउद्यतानि कृण्वन्) स एवाग्निर्देवो दिव्यशक्तिमान् *"सर्वदेवात् तातिल्"* [*अष्टा० ४।४।१४२*] स्वार्थे, कार्याण्युद्यतानि बलवन्ति कुर्वन् (स्वेषु क्षयेषु प्रथमः-जिगाति) स्वेषु स्थानेषु द्युलोकेऽन्तरिक्षे पृथिव्यां च सूर्यविद्युदग्निरूपैः प्रतमः प्रकृष्टतमः सन् प्राप्तो भवति, *"प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति"* [*निरु० २।२२*] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(ककुद्मान्) महान् अग्नि, प्रशस्त तेजोवीर्यवाला (वृषभः) प्रकाशसुखवर्षक (गर्भः) द्यावापृथिवीमय जगत् के अन्दर स्थित (मुमोद) विकसित होता है या प्राणियों को सुख पहुंचाता है (वत्सः-अस्रेमा) बच्चा—अल्प होता हुआ भी क्षीणबलवाला नहीं—बलवान् है (शिमीवान्-अरावीत्) वह कर्म करने वाला अपने को घोषित करता है (सः-देवताति) वह दिव्य शक्ति वाला (उद्यतानि कृण्वन्) बलवाले कार्यों को करता हुआ (स्वेषु क्षयेषु प्रथमः-जिगाति) अपने स्थानों में—द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युद्रूप से, पृथिवी पर अग्निरूप से प्रकृष्टतम—प्रमुख प्राप्त होता है—रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ—महान् तेजोबल से सम्पन्न द्यावापृथिवीमय जगत् के अन्दर विकसित हुआ प्राणियों को प्रकाशसुख में बसाने वाला है वह अल्प होता हुआ भी बलपूर्ण है, बड़े—बड़े बलशाली कार्यों को करने वाला है। द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युद्रूप से, पृथिवी पर अग्निरूप से

प्रमुखतया वर्तमान है। राजा या विद्वान् को अग्नि से अनेक प्रकार का कार्य लेकर विविध लाभों को प्राप्त करना चाहिये तथा स्वयं भी उसी की भांति अन्यों के लिये लाभदायी–उपकारक बनना चाहिये ॥ २ ॥

आ यो मूर्धानं पित्रोररब्ध न्यध्वरे दधिरे सूरो अर्णः ।
अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त ॥ ३ ॥

आ । यः । मूर्धानम् । पित्रोः । अरब्ध । नि । अध्वरे । दधिरे । सूरः । अर्णः ।
अस्य । पत्मन् । अरुषीः । अश्वऽबुध्नाः । ऋतस्य । योनौ । तन्वः । जुषन्त ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः – (पित्रोः-मूर्धानम्-आ-अरब्ध) एष महान्–अग्निः–पित्रोः-मातापित्रोर्द्यावापृथिव्योः–द्यावापृथिवीमयस्य जगतो मूर्धानं मूर्धन्यं प्रधानस्थानं सूयमण्डलं ज्वलनमारभते, पुनः (अध्वरे सूरः-अर्णः-निदधिरे) सर्वलोकेभ्यो ऽध्वनो मार्गस्य दातरि खल्वन्तरिक्षे सरणशीला रश्मयो जलबिन्दवो जलांशाश्च 'सूरः-अर्णः' उभयत्र जसः स्थाने सुः "सुपां सुलुक्......" [अष्टा० ७ । १ । ३९] इत्यनेन, निधृतवन्तः–निदधति–निहितं कुर्वन्ति विद्युद्रूपेण तं महान्तं मार्गम् (अस्य पत्मन्) अस्याग्नेरधोगमनस्थाने पृथिवीलोके (अश्वबुध्नाः-अरुषीः) व्यापनशीलवज्रमूलाः "वज्रो वा अश्वः" [श० ४ । ३ । ४ । २७] आरोचमाना ज्वलनधाराः–ज्वालाः (ऋतस्य योनौ) यज्ञे यज्ञादिश्रेष्ठ-कर्मणि *"यज्ञो वा ऋतस्य योनिः"* [श० १ । ३ । ४ । १६] (तन्वः-जुषन्त) तनूमन्तः–तनूधारिणो देहवन्तः प्राणिनः 'छान्दसो मतुब्लोपः' यद्वा आत्मानः *"आत्मा वै तनूः"* [श० ६ । ७ । २ । ६] सेवन्ते ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पित्रोः-मूर्धानम्-आ-अरब्ध) यह महान् अग्नि मातापिताओं–द्यावापृथिवीमय जगत् के मूर्धा–मूर्धन्य–प्रधानस्थान सूर्यमण्डल से सूर्यरूप में ज्वलन आरम्भ करता है, पुनः (अध्वरे सूरः-अर्णः निदधिरे) लोगों को मार्ग देने वाले अन्तरिक्ष में सरणशील रश्मियां और जलांशधाराएं निहित गुप्तरूप में उस महान् मार्ग को धारण करती हैं विद्युद्रूप से (अस्य पत्मन्) इस महान् अग्नि के नीचे पतनस्थान पृथिवी पर (अश्वबुध्नाः-अरुषीः-) व्यापनशील वज्रमूलवाली रोचमान ज्वालाओं को (ऋतस्य योनौ) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्म में (तन्वः-जुषन्त) शरीरधारी आत्मा सेवन करते हैं–कार्य में लाते हैं अग्निरूप से ॥ ३ ॥

भावार्थ—महान् अग्नि का प्रथम स्थान सूर्यमण्डल है, सूर्यरूप अग्नि का दूसरा स्थान लोकों को मार्ग देने वाला अन्तरिक्ष है, सूर्यरश्मियों और जलकणधाराओं से सम्पन्न मेघ में विद्युद्रूप से है। तीसरा स्थान पृथिवी पर यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म में है उसे साक्षात् ज्वाला में अग्निरूप से मनुष्यादि कार्य में लाते हैं। इस ऐसे अग्नि को जानकर विद्वान् और राजा इस जैसे बनकर विद्या प्रचार और राष्ट्र व्यवहार को समृद्ध करें ॥ ३ ॥

उषउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा।
ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन्मित्रं तन्वेऽस्वायै ॥ ४ ॥

उषःऽउषः । हि । वसो इति । अग्रम् । एषि । त्वम् । यमयोः । अभवः । विभाऽवा । ऋताय । सप्त । दधिषे । पदानि । जनयन् । मित्रम् । तन्वे । स्वायै ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वसो त्वम्) हे स्वप्रकाशेन तेजसा च वासयितः-आच्छादयितः-अग्ने ! सूर्यरूप ! *"अग्निर्वै वसुः"* [मै० ३ । ४ । २] स एषोऽग्निरत्र वसुः [श० ६ । ३ । २ । १] त्वम् (उषःउषः-हि) प्रत्युषोवेलाम्-प्रतिप्रातर्हि-निरन्तरम् (अग्रम्-एषि) जनानां सम्मुखं प्राप्नोषि-उदेषि (यमयोः-विभावा-अभवः) युगलभूतयोरहोरात्रयोः प्रकाशयिता प्रकटयिता भवसि (ऋताय स्वायै तन्वे मित्रं जनयन्) यज्ञाय स्वायाः-तन्वाः *"षष्ठ्यर्थे चतुर्थीत्यपि वक्तव्यम्"* अग्निं पार्थिवं जनयन्-जननहेतोः *"एषः-अग्निः-भवति मित्रः"* [श० २ । ३ । २ । २] (सप्त पदानि दधिषे) सप्त रश्मीन् धारयसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वसो त्वम्) हे स्वप्रकाश तेज से आच्छादन करने वाले अग्नि-सूर्यरूप ! तू (उषःउषः हि) प्रत्येक उषोवेला-प्रति प्रातःकाल-निरन्तर (अग्रम्-एषि) मनुष्यों के सम्मुख प्राप्त होता है-उदय होता है (यमयोः-विभावा-अभवः) युगलरूप दिनरात का प्रकट करने वाला है (ऋताय स्वायै तन्वे मित्रं जनयन्) यज्ञ-श्रेष्ठ कर्म के लिये अपने स्वरूप से अग्नि को उत्पन्न करने हेतु (सप्त पदानि दधिषे) सात रंगवाली किरणों को धारण करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्निरूप सूर्य अपने प्रकाश या तेज से संसार को सुरक्षार्थ आच्छादित करता है, यज्ञादि श्रेष्ठकर्मों के सम्पादनार्थ अग्नि को पृथिवी पर प्रकट करता है, वह अग्नि सूर्य की सात रंगवाली किरणों द्वारा पृथिवी पर प्रकट होती है, सूर्यकान्त मणि के प्रयोग से कृत्रिम ढंग से भी प्रकट होती है । इस प्रकार विद्वान् तथा राजा भी प्रति प्रातःकाल समाज या राष्ट्र के स्त्री पुरुषों को बोध दे-सावधान करे । उन्हें उत्तम कार्य करने के लिए सप्तछन्द वाले ज्ञान को तथा सात मर्यादाओं की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रेरित करे ॥ ४ ॥

भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि ।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः ॥ ५ ॥

भुवः । चक्षुः । महः । ऋतस्य । गोपाः । भुवः । वरुणः । यत् । ऋताय । वेषि । भुवः । अपाम् । नपात् । जातऽवेदः । भुवः । दूतः । यस्य । हव्यम् । जुजोषः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(महः-ऋतस्य चक्षुः-भुवः) महतः-यज्ञस्य ब्रह्माण्डस्य भुवनज्येष्ठस्य दर्शकः सूर्यरूपेणाग्ने त्वं भवसि (गोपाः-भुवः) गवां-रश्मीनां पाता च भवसि (ऋताय यत्-वेषि वरुणः) उदकाय मेघादुदकसम्पादनाय पातनाय यदा प्राप्नोषि तदा वरुणो-उदकानां वरणाय वरुणो भवसि *"स वा एषोऽपः प्रविश्य सूर्यः वरुणो भवति"* [कौ० १८ । ६] (अपाम्-नपात्-भुवः) अपां न पातयिता-आकाशे स्तम्भयिता भवत्युदकानां यद्वा मेघे जायते तत्र विद्युद्रूपेण (जातवेदः) हे जातवेदस्त्वं जातो वेद्यते जनैः (यस्य हव्यं जुजोषः-दूतः-भुवः) यस्य होतव्यं यज्ञं सेवसे यस्य वा ओषध्यादिकं भोज्यं सेवयसि प्रापयसि तस्मै वा त्वं दूतः प्रेरको जीवनप्रेरको भवसि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(महः ऋतस्य चक्षुः-भुवः) महान् ब्रह्माण्डरूप या संसाररूप यज्ञ का दर्शक-दिखाने वाला, सूर्यरूप में तू है (गोपाः-भुवः) किरणों का रक्षक है-किरणों वाला है (ऋताय यत्-वेषि वरुणः) जल के लिए-मेघ से जलसम्पादन करने-बरसाने के लिये जब उन्हें प्राप्त करता है तो वरुण नाम वाला-उन्हें बरसाने, थामने और पुनः गिराने वाला होने से वरुण होता है (अपाम्-नपात्-भुवः) आकाश में जलसंग्रह को न गिराने वाला-थामने वाला या वहां से मेघ में विद्युद्रूप से प्रकट होने वाला-विद्युद्रूप अग्नि होता है (जातवेदः) उत्पन्न होते ही जाना जाने वाला तू (यस्य हव्यं जुजोषः- दूतः-भुवः) जिसके ओषधि आदि भोज्य को तू सेवन करता है या जिसे सेवन कराता है उस का तू प्रेरक है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्यरूप अग्नि ब्रह्माण्ड को दिखाता या चमकाता है। रश्मिमान् होने से रश्मियों द्वारा जलकणों को खींचकर आकाश में मेघों को बनाता और समय पर पुनः बरसाता है और पुनः मेघ में पहुँच कर विद्युद्रूप होकर जलों को थामता है बरसाता भी है। पृथिवी पर अग्नि रूप में ओषधि आदि को प्रेरित कर आहार कराता है। ऐसे ही विद्वान् या राजा समाज और राष्ट्र को उत्तम नीति द्वारा चमकावे, सुख की वर्षा करे और भोज्य पदार्थों को सुखमय बनावे ॥ ५ ॥

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ ६ ॥

भुवः । यज्ञस्य । रजसः । च । नेता । यत्र । नियुत्ऽभिः । सचसे । शिवाभिः । दिवि । मूर्धानम् । दधिषे । स्वःऽसाम् । जिह्वाम् । अग्ने । चकृषे । हव्यऽवाहम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! यदा त्वम् (जिह्वां स्वर्षां हव्यवाहं चकृषे) स्वज्वालां सुखसम्भाजिकां *"स्वः सुखं सनति सम्भजति यया सा स्वर्षा, ताम्"* [यजु० १३ । १५ दयानन्दः] *"षण सम्भक्तौ"* [भ्वादिः] होतुमर्हस्य वोढ्रीं करोषि (दिवि मूर्धानं दधिषे) तदा त्वं द्युलोके वर्तमानं सूर्यम् *"एष वै मूर्धा य एष सूर्यः-तपति"* [श० १३ । ४ । १ । १३] प्रति धारयसि-आश्रयसि-तद्धव्यं प्रसारयितुम्, उक्तं यथा-*'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य-*

मुपतिष्ठति" [मनु० ३ । ६७] (यत्र शिवाभिः-नियुद्भिः-सचसे) यत्र देशकल्याणकरीभिः-नियताहुतिभिः "नियुतो नियमनात्" [निरु० ५ । २७] सह समवैति (यज्ञस्य रजसः-च नेता भुवः) तत्र त्वं यज्ञस्य तत्फलभूतस्य रञ्जनीयप्रदेशस्य च नेता सम्पादको भवसि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे पार्थिव अग्नि ! तू (जिह्वां स्वर्षां हव्यवाहं चकृषे) अपनी ज्वाला को सुखसम्भाजन कराने वाली होमने योग्य वस्तु को वहन करने वाली करता है–बनाता है, तो (दिवि मूर्धानं दधिषे) द्युलोक में वर्तमान सूर्य को धारण करता है–आश्रय बनाता है, हव्य पदार्थ को ऊपर ले जाने को–सूर्य की ओर हव्य पदार्थ को प्रेरित करता है (यत्र शिवाभिः-नियुद्भिः-सचसे) जिस देश में कल्याण करने वाली नियत आहुतियों के साथ सङ्गत होता है तो (यज्ञस्य रजसः-च नेता भुवः) उस देश में तू यज्ञ का और उस रञ्जनात्मक प्रदेश का नेता–सम्पादक होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अग्नि की ज्वाला सुख-सम्भाजिका है । वह होमे हुए पदार्थ वहन करके सूर्य तक ले जाती है । नियत आहुतियों से संयुक्त होकर ही अग्नि यज्ञ को और यज्ञ से रञ्जनीय हुए देश या वातावरण को उत्तम बनाती है । ऐसे ही विद्वान् की वाणी मीठी और कल्याणकरी होकर समाज में ऊपर तक पहुंचकर वातावरण को अच्छा बनाती है ॥ ६ ॥

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन्धीतिं पितुरेवैः परस्य ।
सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ॥ ७ ॥

अस्य । त्रितः । क्रतुना । वव्रे । अन्तः । इच्छन् । धीतिम् । पितुः । एवैः । परस्य । सचस्यमानः । पित्रोः । उपऽस्थे । जामि । ब्रुवाणः । आयुधानि । वेति ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य परस्य पितुः) एतस्योत्कृष्टस्य पालकस्य पितृभूतस्य परमात्मनः (धीतिम्-इच्छन्-त्रितः) आधारणामाश्रयभूतामुपासनाम् *"धीङ्-आधारे" [दिवादिः]* ततः क्तिन् *"धीतिः–धारणा" [ऋ० १ । ११६ । २ दयानन्दः]* इच्छन्–वाञ्छन् त्रितः–त्रिस्थानः–त्रिषु स्थानेषु स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेषूत्पत्स्यमानः–आत्मा (क्रतुना–अन्तः–वव्रे) अध्यात्मकर्मणा योगाभ्यासेन स्वाभ्यन्तरे वृणोति, यथा (पित्रोः-उपस्थे) मातापित्रोराश्रये (सचस्यमानः) समवैष्यन्–सङ्गच्छमानः (जामि ब्रुवाणः) पुत्र इव जामित्वं पुत्रत्वं कथयन् रक्ष्यमाणः (आयुधानि वेति) अध्यात्मबलरूपाणि शस्त्राणि प्राप्नोति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य परस्य पितुः) इस उत्कृष्ट पिता पालक परमात्मा की (धीतिम्-इच्छन्-त्रितः) आधारणा–उपासना को चाहते हुए–चाहने प्राप्त करने हेतु तीन–स्थूलसूक्ष्मकारण-शरीरों में प्रवेश करने वाला आत्मा (क्रतुना-अन्तः-वव्रे) अध्यात्मकर्म योगाभ्यास से अपने अन्दर वरता है (पित्रोः-उपस्थे सचस्यमानः-जामि ब्रुवाणः) जैसे माता-पिता के आश्रय में सङ्गति को प्राप्त हुआ बालक अपने को पुत्र कहता हुआ और सुरक्षित रहता हुआ (आयुधानि वेति) अध्यात्मबलरूप शस्त्रों को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमपिता परमात्मा के आश्रयरूप–उपासना के हेतु तीन शरीरों में जाने वाले आत्मा को योगाभ्यास करना चाहिये। बन्धन को काटने वाले अध्यात्मबलरूप शस्त्र ही हैं। जैसे माता-पिता के आश्रय में बालक सुरक्षित रहता है ऐसे ही आत्मा परमात्मा के आश्रय में बन्धनरहित निर्भय और सुरक्षित हो जाता है ॥ ७ ॥

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत् ।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः ॥ ८ ॥

सः । पित्र्याणि । आयुधानि । विद्वान् । इन्द्रऽइषितः । आप्त्यः । अभि । अयुध्यत् । त्रिऽशीर्षाणम् । सप्तरश्मिम् । जघन्वान् । त्वाष्ट्रस्य । चित् । निः । ससृजे । त्रितः । गाः ॥ ८ ।

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-आप्त्यः) सः खलु सर्वज्ञातगुणप्राप्ते व्याप्ते परमात्मनि स्थित आत्मा (पित्र्याणि-आयुधानि-विद्वान्) पितुः परमात्मनः सङ्गेन प्राप्तव्यानि खल्वध्यात्मबलानि लब्धवान् सन् (इन्द्रेषितः-अभि-अयुध्यत्) तेन परमात्मना प्रेरितः-प्रकर्षं प्राप्तः सन् युद्धं कृतवान्-करोति (त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्) स्थूलसूक्ष्मकारणात्मकं शिरोवद्--यस्य तत्–शरीरं सप्तरश्मिं सप्तप्रग्रहाः प्रग्रहवज्ज्ञानेन्द्रियाणि मनस्तथोपस्थेन्द्रियं च यस्मिन् तथाभूतं शरीरत्रयं हतवान्–हन्ति–त्यजति (त्रितः-त्वाष्ट्रस्य गाः-चित्-निः ससृजे) स आत्मा अस्य शरीरस्य त्वष्टुः पुत्रस्य रेतस उत्पन्नस्य *"त्वष्टा रेतो भुवनस्य"* [मं० ४ । १४ । ६] गाः–रश्मीन् प्रग्रहान् *"गावः–रश्मिनाम"* [निघ० १ । ४] स्वांविषयेष्वाकर्षकेन्द्रियरूपान् प्रग्रहान् पुनर्जन्मनि गमयितॄन् निःसारयति बहिष्करोति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-आप्त्यः) वह सर्वज्ञानगुणप्राप्त व्याप्त परमात्मा में स्थित या वर्तमान आत्मा (पित्र्याणि–आयुधानि विद्वान्) पिता परमात्मा की सङ्गति से प्राप्त अध्यात्मबलरूप शस्त्रों को प्राप्त हुआ (इन्द्रेषितः-अभि-अयुध्यत्) ऐश्वर्यवान् परमात्मा द्वारा प्रेरित–प्रकर्ष को प्राप्त हुआ युद्ध करता है–संघर्ष करता है (त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्) तीन शिरों वाले शरीर के समान स्थूलसूक्ष्मकारण शिरों वाले शरीर तथा सात रश्मियों–प्रग्रहों–लगामों को अपने-अपने विषयों में लगामों के समान खींचने वाले ज्ञानेन्द्रियों मन और उपस्थेन्द्रिय वाले शरीर रूप विरोधी को परास्त करता है–त्यागता है (त्रितः-त्वाष्ट्रस्य गाः-चित्-निससृजे) आत्मा शरीरबीजभाव से उत्पन्न पुनर्जन्म में ले जाने वाली इन्द्रियवासनालगामों को निकाल फेंकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—योग द्वारा परमात्मा से आत्मा को अध्यात्मबल प्राप्त होता है तो स्थूलसूक्ष्म-कारणशरीरशिरों वाले और सात लगामों–पांच ज्ञानेन्द्रियां मन तथा उपस्थेन्द्रिय वाले शरीर को वह पराजित करता है। शरीर के कारणरूप गर्भधारण करानेवाले गर्भबीजप्रभाव की वासनाओं को भी निकाल फेंकता है ॥ ८ ॥

भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत् सत्पतिर्मन्यमानम् ।
त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क् ॥ ९ ॥

भूरि । इत् । इन्द्रः । उत्ऽइनक्षन्तम् । ओजः । अव । अभिनत् । सत्ऽपतिः । मन्यमानम् । त्वाष्ट्रस्य । चित् । विश्वऽरूपस्य । गोनाम् । आऽचक्राणः । त्रीणि । शीर्षा । परा । वर्गिति वर्क् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सत्पतिः-इन्द्रः) मुमुक्षुपालकः-ऐश्वर्यवान् परमात्मा (भूरि-इत्-ओजः-उदिनक्षन्तं मन्यमानम्) बहु खलु बलमुद्व्याप्नुवन्तं प्राप्तवन्तमात्मानं मन्यमानं कमपि (अव-अभिनत्) अवभिनत्ति-विनाशयति । सत्पुरुषस्य मुमुक्षोर्विरोधिनमिति यावत् तद्रक्षार्थम् (विश्वरूपस्य त्वाष्ट्रस्य चित्) सर्वप्राणिगतस्य वीर्यादुत्पन्नस्य शरीरस्यापि च (गोनाम्-आचक्राणः) पुनर्जन्मनि गमयितॄन् रश्मीन् प्रग्रहानाहतान् कुर्वाणः (त्रीणि शीर्षा परा वर्क्) त्रीणि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि परावर्जयति-पृथक्करोति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(सत्पतिः-इन्द्रः) सत्पुरुष स्वोपासक मुमुक्षु का पालक ऐश्वर्यवान् परमात्मा (भूरि-इत्-ओजः-उदिनक्षन्तं मन्यमानम्) स्वोपासकविरोधी, बहुत बल को प्राप्त हुए मन्यमान को (अव-अभिनत्) छिन्न-भिन्न कर देता है-नष्ट कर देता है, अतः (विश्वरूपस्य त्वाष्ट्रस्य चित्) सर्वप्राणिगत वीर्य से उत्पन्न शरीर के भी (गोनाम्-आचक्राणः) पुनर्जन्म में ले जाने वाली रश्मियों-लगामों को आहत करता हुआ (त्रीणि शीर्षा परा वर्क्) तीनों शिररूप स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरों को परे अलग कर देता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मुमुक्षुजनों का पालक परमात्मा अपने मुमुक्षु उपासकों के विरोधी अपने को बड़ा बलवान् मानने वाले अभिमानी को छिन्न-भिन्न कर देता है । पुनः वीर्य से उत्पन्न प्राणिमात्र को प्राप्त, इस देह की लगामों को—पुनर्जन्म में ले जाने वाली लगामों को नष्ट करता है और तीनों देहों शिरों को उपासक आत्मा से पृथक् कर उसे मोक्ष में पहुंचा देता है ॥ ९ ॥



नवमं सूक्तम्

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः, सिन्धुद्वीप आम्बरीषो वा ।

देवता—आपः ।

छन्दः—१-४, ६ गायत्री । ५ वर्धमाना गायत्री । ७ प्रतिष्ठा गायत्री । ८, ९ अनुष्टुप् ।

स्वरः—१-७ षड्जः । ८, ९ गान्धारः ।

विषयः—अत्रसूक्ते 'आपः' इति शब्देन जलानां गुणलाभाः प्रोच्यन्ते ।

इस सूक्त में 'आपः' शब्द से जलों के गुण और लाभ बतलाये गये हैं ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयःभुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन । महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ताः-आपः) ता यूयमापः ! (मयः-भुवः) सुखस्य भावयित्र्यः–सुखसम्पादिका वा *"मयः सुखनाम"* [निघ० ३ । ६] (हि स्थ) अवश्यं स्थ (नः) अस्मान् (ऊर्जे) जीवनबलाय (महे रणाय चक्षसे) महते रमणीयाय दर्शनाय (दधातन) धारयत ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(ताः- आपः) वे तुम जलो ! (मयः-भुवः) सुख को भावित कराने वाले–सुखसम्पादक (हि स्थ) अवश्य हो (नः) हमें (ऊर्जे) जीवनबल के लिए (महे रणाय चक्षसे) महान् रमणीय दर्शन के लिए (दधातन) धारण करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जल अवश्य सुखकारण और जीवनबल देने वाले हैं । यथावसर शीतजल या उष्णजल उपयुक्त हुआ तथा महान् रमणीय दर्शन बाहिरी दृष्टि से नेत्र-शक्ति धारण कराने वाला, भीतरी दृष्टि से मानसशांति वा अध्यात्मदर्शन कराने का हेतु भी है । इसी प्रकार आप्त विद्वान् जन भी सुखसाधक, जीवन में प्रेरणा देने वाले और अध्यात्मदर्शन के निमित्त हैं । उनका सङ्ग करना चाहिए ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिवऽतमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह । नः । उशतीःऽइव । मातरः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) हे आपः ! युष्माकम् (यः) यः खलु (शिवतमः-रसः) कल्याणतमोऽतिकल्याणसाधको रसोऽस्ति (तस्य नः) तम् 'व्यत्ययेन षष्ठी' नोऽस्मान् (इह) अस्मिन् शरीरे (भाजयत) सेवयत (उशतीः-मातरः-इव) पुत्रसमृद्धिं कामयमाना मातर इव, यथा ताः स्वस्तन्यं रसं दुग्धं पुत्रं भाजयन्ति पाययन्ति तद्वत् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) हे जलो ! तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः-रसः) अत्यन्तकल्याणसाधक रस है-स्वाद है (तस्य नः) उसे हमें (इह) इस शरीर में (भाजयत) सेवन कराओ (उशतीः-मातरः-इव) पुत्रसमृद्धि को चाहती हुई माताओं के समान, वे जैसे अपना दूध पुत्र को सेवन कराती हैं-पिलाती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जलों के अन्दर तृप्तिकर स्वाद है जोकि सुख देने वाला है और भोजन को रस में परिणत करता है । इसी प्रकार आप्तविद्वान् जनों का ज्ञानरस आत्मा को सुख वा जीवन देता है । उनके उपदेशों का श्रवण करना चाहिए ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै । अरम् । गमाम । वः । यस्य । क्षयाय । जिन्वथ । आपः । जनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य क्षयाय) यस्य रसस्य निवासाय शरीरे सात्म्यकरणाय संस्थापनाय *"क्षि निवासगत्योः"* [*तुदादिः*] (आपः-जिन्वथ) हे आपः ! तर्पयथ (तस्मै वः-अरं गमाम) तत्प्राप्तये युष्मान् पूर्णरूपेण सेवेमहि (च) यतश्च (नः-जनयथ) अस्मान् प्रादुर्भावयथ पोषयथ, उक्तं यथा—*"वेत्थ यदा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"* [*छान्दो० ५ । ३ । ३*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य) जिस रस के (क्षयाय) निवास के लिए—सात्म्य करने के लिए—संस्थापित करने के लिए (आपः) हे जलो ! (जिन्वथ) तृप्त करते हो (तस्मै) उस रस के लिए—उसकी पुष्टि के लिए (वः) तुम्हें (अरं गमाम) हम पूर्णरूप से सेवन करते हैं (च) और (नः) हमें (जनयथ) प्रादुर्भूत—समृद्ध—पुष्ट करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जल का सार भाग शरीर में सात्म्य हो जाता है, वह समृद्ध करने पुष्ट करने का निमित्त बनता है । इसी प्रकार आप्त विद्वान् जनों का ज्ञान—सार आत्मा में बैठ जाता है जो आत्मा को बल देता है ॥ ३ ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ ४ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वीः । अ॒भिष्ट॑ये । आपः॑ । भ॒व॒न्तु॒ । पी॒तये॑ । शम् । योः । अ॒भि । स्र॒व॒न्तु॒ । नः॒ ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवी:-आपः) दिव्यगुणवत्यो दृश्यमानाः-स्नानार्हाः पानार्हा आपः (नः) अस्माकम् (अभिष्टये) स्नानक्रियायै 'अभिपूर्वात् "ष्टै वेष्टने" [भ्वादिः] ततः किः प्रत्ययः' । (पीतये) पानक्रियायै (शं भवन्तु) कल्याणरूपाः कल्याणकारिण्यो भवन्तु, ता आपः (शंयोः) रोगाणां शमनं भयानां यावनं पृथक्करणम् "*शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्*" [निरु० ४ । २१] (अभिस्रवन्तु) अभितः-उभयतः स्रावयन्तु वाहयन्तु ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थः—(देवी:-आपः) दिव्यगुणवाले दृश्यमान स्नानयोग्य तथा पानयोग्य शरीर के अन्दर व्यापने योग्य जल (नः) हमारी (अभिष्टये) स्नानक्रिया के लिए और (पीतये) पानक्रिया के लिए (शं भवन्तु) कल्याणकारी होवें वे जल (शंयोः-अभिस्रवन्तु) वर्तमान रोगों का शमन और भावी रोगों के भयों का पृथक्करण करें—उन्हें बाहर भीतर दोनों ओर से रिसावें-बहावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल का स्नान और पान करने से शरीर में वर्तमान रोगों का शमन और भावी रोगभयों का पृथक्करण हो जाता है तथा दोनों ही प्रकार स्नान और पान सुख शांति को प्राप्त कराते हैं। इसीप्रकार आप्तजनों के सङ्ग से बाहरी पापसंस्पर्श का अभाव और भीतरी पापताप की उपशांति होती है। अध्यात्म से आपः—व्यापक परमात्मा के जगत् में प्रत्यक्षीकरण और अन्तरात्मा में साक्षात् अनुभव से सच्चा सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है—अमृत की वर्षा होती है ॥ ४ ॥

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम् ।
अ॒पो या॑चामि भेष॒जम् ॥ ५ ॥

ईशा॑नाः । वार्या॑णाम् । क्षय॑न्तीः । च॒र्ष॒णी॒नाम् । अ॒पः । या॒चा॒मि॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वार्याणाम्-ईशानाः) वरणीयानां गुणानां स्वामिनीः (चर्षणीनां क्षयन्तीः) मनुष्यादीनां निवासयित्रीः (अपः) ता अपः (भेषजं याचामि) सुखकरमौषधं प्रयोक्तुमिच्छामि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(वार्याणाम्-ईशानाः) वरणीय गुणों के स्वामीरूपों—(चर्षणीनां क्षयन्तीः) मनुष्यादियों में निवास कराने वाले (अपः) जलों को (भेषजं याचामि) सुखकारक औषध के रूप में चाहता हूं—यथोचित प्रयोग करना चाहता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जलों के सेवन करने से शरीर में उत्तम गुण प्राप्त होते हैं मानो वे संसार में निवास कराने व दीर्घ जीवन के हेतु हैं। जल सुखकारक औषध है इसका सेवन करना ही चाहिए। इसी प्रकार आप्तजनों के सङ्ग से उत्तम गुणों की प्राप्ति और मानवसमाज में अच्छा स्थान मिलता है। सचमुच उनका सङ्ग आत्मिक औषध है ॥ ५ ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ ६ ॥

अप्ऽसु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा । अग्निम् । च । विश्वऽशंभुवम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोमः) उत्पादकः परमात्मा (मे) मह्यम् (अब्रवीत्) उपदिशति (अप्सु-अन्तः) अपामभ्यन्तरे (विश्वानि भेषजा) सर्वाण्यप्यौषधानि सन्ति (विश्वशंभुवम्-अग्निं च) सर्वकल्याणस्य भावयितारं साधकमग्निं च 'अब्रवीत्' ब्रवीति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोमः) उत्पादक परमात्मा (मे) मेरे लिये (अब्रवीत) कहता है—उपदेश देता है, कि (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (विश्वानि भेषजा) सारे औषध हैं (विश्वशम्भुवम्—अग्नि च) सर्वकल्याण करने वाले अग्नि को भी कहता है—उपदिष्ट करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जलों में सर्वरोगों को दूर करने वाले गुण हैं, विविध रीति से सेवन करने से—स्नान, पान, स्पर्श, मार्जन आचमन आदि द्वारा वे प्राप्त होते हैं। जलों के अन्दर अग्नि भी है वह स्वास्थ्य का संरक्षण करती है। वह जलों में स्वतःप्रविष्ट है विद्युद्रूप से बाहर प्रकट होती है। इसी प्रकार आप्तजन, लोगों के आन्तरिक दोषों को दूर करते हैं और उनमें गुणों का आधान करते हैं ॥ ६ ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ७ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् । तन्वे । मम । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः) हे आपः ! (मम तन्वे) मम शरीराय (वरूथं भेषजम्) रोगनिवारकमौषधम् (पृणीत) दत्त—प्रयच्छत *"पृणातिर्दानकर्मा" [निघ० ३ । २०]* येन (ज्योक् च सूर्यं दृशे) चिरकालपर्यन्तं यावज्जीवं सूर्यं पश्येयम् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः) हे जलो ! (मम तन्वे) मेरे शरीर के लिये (वरूथं भेषजम्) रोगनिवारक औषध को (पृणीत) दो—प्रदान करो, जिससे कि (सूर्यं ज्योक् च दृशे) सूर्य को देर तक जीवनपर्यन्त देखता रहूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जल रोग को दूर करने वाले औषध को देता है साथ ही सूर्य को देखने की शक्ति को लुप्त नहीं होने देता—दृष्टि को बढ़ाता है—आंखों में मार्जन आदि करने से। इसी प्रकार आप्त विद्वान् अपने सत्सङ्ग—उपदेश से दोषों को दूर करते हैं और अध्यात्म दृष्टि देते हैं ॥ ७ ॥

इ॒दमा॑पः॒ प्र व॑हत॒ यत्किं च॑ दुरि॒तं मयि॑ ।
यद्वा॒हम॑भिदु॒द्रोह॒ यद्वा॑ शे॒प उ॒तानृ॑तम् ॥ ८ ॥

इ॒दम् । आप॒ः । प्र । व॒ह॒त॒ । यत् । किम् । च॒ । दुः॒ऽइ॒तम् । मयि॑ । यत् । वा॒ । अ॒हम् । अ॒भि॒ऽदु॒द्रोह॑ । यत् । वा॒ । शे॒पे । उ॒त । अनृ॑तम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः) हे आपः ! (इदम्) इदं प्रसिद्धं शरीरोपलिप्तं मलम् (प्रवहत) प्रवहत—दूरीकुरुत, तथा (यत् किञ्च दुरितं मयि) यत् किमपि दुरितं दुर्गतगमनं यत्-तत् तमोऽसावधानत्वं मयि भवेत् तदपि दूरं गमयत *"सूर्य-उद्यन्। दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः"* [अथर्व० १३ । २ । २४] (यत्-वा) यच्च (अहम्-अभिदुद्रोह) अहं द्रोहं क्रोधं कुर्यां तदपि दूरीकुरुत (यत्-वा) यच्च (उत) अपि (अनृतं शेपे) असत्यं शपामि—अपवदामि, निन्दामि-अन्यथा प्रलपामि वा तदपि मत्तो दूरीकुरुत ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः) जलो ! (इदम्) इस प्रसिद्ध शरीरमल—शरीर पर लिप्त मल को (प्रवहत) परे वहादो (यत् किञ्च दुरितं मयि) जो कुछ दुःख से गमन—किसी कार्य में गति हो उस अन्धरूप तमोगुण असावधानभाव को मेरे अन्दर से दूर करो (यत्-वा) और जो (अहम्-अभिदुद्रोह) मैं द्रोह—क्रोध करूं उसे भी परे करो (यत्-वा-उत) और जो भी (अनृतं शेपे) असत्य—झूठ या आक्षेपवचन किसी को बोलूं उसे भी दूर करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—जल मनुष्य के देहमलों को अलग करता है, तमोगुण, आलस्य, असावधानता को मिटाता है, क्रोध को शान्त करता है। बुरा कहने, निन्दा करने, अहित वचन बोलने से उत्पन्न क्लेश को भी दूर करता है—उस प्रवृत्ति को हटाता है। जल से स्नान, नेत्रमार्जन और उसके पान द्वारा मनुष्य पापकर्म के उपरान्त पश्चात्ताप करता है। इसी प्रकार आप्तजन के सत्सङ्ग से मलिनता, तमोगुण की प्रवृत्ति, क्रोधभावना और निन्दा से परे हो जाता है ॥ ८ ॥

आपो॑ अ॒द्यान्व॑चारिषं॒ रसे॑न॒ सम॑गस्महि ।
पय॑स्वानग्न॒ आ ग॑हि॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा ॥ ९ ॥

आप॑ः । अ॒द्य । अनु॑ । अ॒चा॒रि॒ष॒म् । रसे॑न । सम् । अ॒ग॒स्म॒हि॒ । पय॑स्वान् । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ । तम् । मा॒ । सम् । सृ॒ज॒ । वर्च॑सा ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः) हे आपः ! (अद्य) अस्मिन् जीवने (अनु-

अचारिषम्) अहं युष्मान्–आनुकूल्येन सेवे–उपयुञ्जे (रसेन समगस्महि) युष्माकं रसेन स्पर्शास्वादनरूपेण गुणेन सह सङ्गच्छेमहि–संसृष्टा भवेम–इत्यतः (अग्ने) हे आसामपां स्वामिन् ! प्रेरक ! अग्रणायक ! परमात्मन् ! (पयस्वान्-आगहि) तेजस्वान् तेजस्वी सन् *"ऐन्द्रं तेजः पयः"* [तै० ६ । ३ । ५ । ३] आगच्छ समन्तात् प्राप्नुहि (तं मा) तं माम् (वर्चसा संसृज) तेजसा संयोजय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः) हे जलो ! (अद्य) इस जीवन में (अनु–अचारिषम्) तुम्हें अनुकूलता से सेवन करता हूँ–बाहर स्नानद्वारा भीतर पानद्वारा (रसेन समगस्महि) तुम्हारे रस–स्पर्श स्वाद–रूप गुण से हम संयुक्त होते हैं अतः (अग्ने) हे इन जलों के अग्रणायक–प्रेरक स्वामी परमात्मन् ! तू (पयस्वान्–आगहि) तेजस्वी बनकर समन्तरूप से मुझे प्राप्त हो और फिर (तं मा) उस मुझ को (वर्चसा संसृज) तेज से संयुक्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जलों का ठीक–ठीक सेवन करने उचितरूप से स्नान, मार्जन और पान करने से लाभ लेने चाहिएं । इसी प्रकार आप्तजनों से साक्षात् सत्सङ्ग तथा उपदेश ग्रहण कर अपने बाह्य वातावरण को बनावें और आन्तरिक सुखशांति को प्राप्त करें तथा इन जलों एवं आप्तजनों के स्वामी प्रेरक परमात्मा के तेज आनन्द से अपने को तेजस्वी और आनन्दी बनावें ॥ ६ ॥



दशमं सूक्तम्

ऋषिः—१, ३, ५–७, ११, १३ यमी वैवस्वती । २, ४, ८–१०, १२, १४ यमो वैवस्वतः ।

देवताः—१, ३, ५–७, ११, १३ यमो वैवस्वतः । २, ४, ८–१०, १२, १४ यमी वैवस्वती ।

छन्दः—१, २, ४, ६, ८ विराट् त्रिष्टुप् । ३, ११ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ५, ९, १०, १२ त्रिष्टुप् । ७, १३ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । १४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

स्वरः—धैवतः ।

वक्तव्य

इस सूक्त में यम–यमी का संवाद है । सायण आदि भाष्यकारों ने यम-यमी का भाई–बहन अर्थ करके इतना अश्लील मैथुनी संवाद स्थिर किया है कि जिससे विधर्मी तथा पाश्चात्त्य विद्वानों को वेदों पर आक्षेप करने का अवसर मिला । अपि च सामयिक भारतीय स्वाध्यायि–मस्तिष्कों पर भी सायण की अनुचरता का रङ्ग चढा । किन्तु इस सूक्त के "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस मन्त्रांश को ऋषि दयानन्द ने सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ पति की ओर से सन्तानाभिलाषी पत्नी के लिये नियोग की आज्ञा में प्रमाणित किया है । ऋषि की योजना से प्रतीत होता है कि वे इस सूक्त को पति–पत्नी का संवाद समझते थे, अतएव ऋषि दयानन्द के मन्तव्य से यम-यमी पति–पत्नी हैं ।

अस्तु, वेदार्थ करने के लिए वेदाङ्गों की व्यवस्था माननीय है, उनमें भी प्रधान अङ्ग है व्याकरण–"षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्" [महाभाष्य आ० १] इसलिए *"पुंयोगादाख्यायाम्"* [अष्टा० ४ । १ । ४८] इस व्याकरण व्यवस्था का मानना अत्युचित है । इस सूत्र से यम–यमी का सम्बन्ध पति–पत्नी ही सिद्ध होता है क्योंकि उक्त सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर यमी शब्द बनता है । सूत्रार्थ यह है कि पुरुष के लिए जो शब्द है उस शब्द से स्त्री वाचक होने में ङीष् प्रत्यय हो यदि वह स्त्री उसके साथ पुरुषयोग (पुरुष-धर्म) से विद्यमान हो । आख्याग्रहण का प्रयोजन यह है कि पुंयोग के लिये वह उद्यत, वर्तमान और पश्चात् समय में भी प्रसिद्ध हो, जैसे–'गोप' की स्त्री 'गोपी' और 'आचार्य' की 'आचार्यानी' जो कि पुंयोग के लिये उद्यत अर्थात् विवाहानन्तर गर्भाधान से पूर्व तथा गर्भाधान काल और उसके पश्चात् पति के जीते हुए या मर जाने पर भी वह स्त्री गोपी, आचार्य्यानी नाम से विख्यात होवे । ऋषि दयानन्द भी यमी का अर्थ यम की पत्नी करते हैं क्योंकि वे पूरे वैयाकरण

थे, जैसे—*"यम्यै—यमस्य न्यायकर्तुः स्त्रियै"* [*यजु० २५ । ५*] अतः पुंयोग में ही यमी शब्द अन्यथा नहीं।

पुंयोगादित किम्=पुंयोग से भिन्न कन्या का वाचक होने में 'यमा' *"अजाद्यतष्टाप्"* [*अष्टा० ४ । १ । ४*] से टाप् प्रत्यय हुआ है। उदाहरण का स्थान तथा प्रमाण—*"यमे इव यतमाने यदैतम्"* [*ऋ० १० । १ ३ । २*] यहां पर 'यमा च यमा च=यमे' है, और 'यतमाना च यतमाना च=यतमाने', इस प्रकार प्रथमा द्विवचन बनाया है। तथा ब्राह्मणग्रन्थ भी यमा ही समझकर व्याख्या करता है *"यमे इव ह्येते यतमाने प्रबाहुगितः"* [*ऐत० ब्रा० ५ । ३*] इस स्थान पर सायण भी ठीक होकर अर्थ करता है *" यथा लोके तादृश्यौ द्वे कन्यके सह वर्तेते तथेमे शकटे (हविर्धाने)"* [*ऐत० ब्रा० ५ । ३, सायण भाष्य*]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि यम—यमी शब्दों का पति—पत्नी के लिए ही प्रयुक्त होना उचित है। अब इस बात को भी प्रस्तुत करते हैं कि यम—यमी शब्द जिनके वाचक हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है—

यहां यम—यमी का अर्थ दिन—रात्रि है। "यम—यमी" [निघ० ५ । ४—५] अन्तरिक्षस्थान देवताओं में 'पद' नाम करके पढ़े हुए हैं। इन्हीं को कोई नामान्तर से "अश्विनौ' भी कहते हैं जैसे *"तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके ऽ होरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके"* [निरु० दैव० ६ । १] द्यावापृथिवी, दिन—रात, सूर्य चन्द्र ये मिथुन (जोड़े) हैं इन्हीं को कुछेक 'प्राण-रयि' भी कहते हैं। प्रश्नोपनिषद् में इसका अत्यन्त स्पष्टीकरण है यथा—*"स मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः"* [*प्रश्नो० १ ।*] प्रजापति ने 'प्राण—रयि' जोड़ा उत्पन्न किया, इसलिए कि ये दोनों मेरे लिये बहुत प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे।

सो इस प्रकरण में 'आत्म—अनात्म=पुरुष—प्रकृति' 'अमूर्त—मूर्त' 'सूर्य—चन्द्र' 'उत्तरायण—दक्षिणायन' 'शुक्लपक्ष—कृष्णपक्ष' 'दिन—रात' 'वीर्य—रजः', ये सात जोड़े वर्णित किये हैं। अन्यत्र शास्त्रों में "अग्नि—पृथिवी' 'सूर्य—चन्द्र' 'राजा—रानी' को भी यम—यमी कहा है। अतः 'अश्विनौ' 'यम—यमी' 'प्राण—रयि' ये उक्त जोड़ों के अर्थवशात् नामान्तर हैं। उक्त जोड़े परस्पर पुरुष—स्त्री (नर-मादा) धर्म से वर्त्तमान हैं क्योंकि एक अग्नि प्रधान है और दूसरा जलप्रधान। यही बात निरुक्त में भी कही है "ज्योतिषा ऽ न्यो रसेनान्यः" [निरु० ६ । १]। सुबोध के लिए निम्नं०क्रम देखिये—

	(अग्नि प्रधान)	(जल प्रधान)
१.	द्यौः (अग्नि[1])	पृथिवी
२.	दिन	रात
३.	सूर्य	चन्द्र

१. *"अग्निर्वै यमः, इयं (पृथिवी) यमी आभ्या ँ ह्नीद ँ सर्वं यतम्"* [श० २ । १ । १०] अग्निः—द्यौः *"दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्* [*अथर्व० १० । १० । ३२*] *"अग्निर्मूर्धा"* [मुण्डको० २ । १] वेद में 'द्यौ' शब्द से और उपनिषद् में 'अग्नि' शब्द से मूर्द्धा का वर्णन किया है, तथा *"अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ"* इस निरुक्तवचन को सामने रखकर ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

४.	आत्मा (पुरुष)	अनात्म (प्रकृति)
५.	अमूर्त	मूर्त
६.	उत्तरायण	दक्षिणायन
७.	शुक्लपक्ष	कृष्णपक्ष
८.	वीर्य	रजः
९.	राजा	रानी

उक्त यम–यमी का सम्बन्ध पति–पत्नी है, अन्य कोई नहीं। प्रथम उपर्युक्त प्रश्नोपनिषद् के वचनों पर ही इस व्यवस्था को छोड़ देते हैं। देखिये वहां स्पष्ट ही मिथुन (जोड़ा) प्रजोत्पत्ति के लिए 'पति–पत्नी से ही वर्णन है, अन्यथा नहीं। क्योंकि प्रजोत्पत्ति 'पति–पत्नी' होकर ही करते हैं। पूर्वोक्त युग्मों में से कतिपय युग्म अन्यत्र शास्त्रों में पति–पत्नी शब्दों से वर्णित हैं जैसे– "अग्ने पृथिवीपते" [तै० ३ । ११ । ४ । १] "पृथिव्यग्नेः पत्नी" [गोपथ० २ । ९] वेद में भी 'द्यावापृथिवी' का पति–पत्नी भाव वर्णित है–"*द्यौर्मे पिता*....*माता पृथिवी महीयम्*" [ऋ० १ । १ ६ ४ । ३ ३] द्यौ को पिता और पृथिवी को माता कहा है। पिता और माता का सम्बन्ध पति–पत्नी का ही होता है दूसरा कोई नहीं। वस्तुतः पूर्वोक्त जितने भी युग्म हैं उन सभी का परस्पर पति–पत्नी सम्बन्व है।

जो महाशय पूर्वोक्त युग्मों के पति–पत्नी भाव को स्वस्वामी रूप में कहने का आग्रह करते हैं वे मानो प्राचीन ऋषियों की मर्यादा का उल्लंघन करने की धृष्टता करते हैं क्योंकि "*पत्युर्नो यज्ञसंयोगे*" [अष्टा० ४ । १ । ३३] में सिद्ध है कि 'पत्नी' शब्द यज्ञसंयोग अर्थात् दाम्पत्य–सम्बन्ध में ही है अन्यथा नहीं "इयं ब्राह्मणी ग्रामस्य पतिरस्ति न तु पत्नी"। अतः दाम्पत्य सम्बन्ध से जो एक दूसरे पर अधिकार रखते हैं उनको ही 'पति–पत्नी' कहते हैं इसलिए यम–यमी का सम्बन्ध पति–पत्नी है। स्वामी दयानन्द ने भी लिखा है कि यम–यमी के वाच्य दिन–रात परस्पर पति–पत्नी हैं–"*अथ रात्रिदिवसदृष्टान्तेन स्त्रीपुरुषौ कथं वर्तेयातामित्युपदिश्यते*" [*दयानन्द ऋ० भाष्य १ । ६ २ । ८*]।

इस प्रकार उपर्युक्त वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, व्याकरण और ऋषि दयानन्द के वचनों से सिद्ध हुआ कि 'यम–यमी' परस्पर पति–पत्नी रूप में वर्तमान हैं। 'यम–यमी' के 'भाई–बहिन' सम्बन्ध को मानने वालों को उक्त वचनों पर ध्यान देना चाहिए।

भाष्यम्

विषयः—अत्र सूक्ते यमयमीसंवादेनाहोरात्रविज्ञानं गार्हस्थ्यशिक्षणं चालङ्कारिकत्वेनोच्यते।

"द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण..." [ऋ० भा० भू०, नौविमानप्रकरण] अतः 'द्यावापृथिव्यौ' यम–यमी कहलाये। जैसे 'अग्नि–पृथिवी' को गोपथ ब्राह्मण ने मिथुन कहा है वैसे ही निरुक्त में उसी को "'अश्विनौ' नाम से मिथुन कहा है। सायण भी 'अश्विनौ' अर्थात् द्यावापृथिवी, अहोरात्र, सूर्यचन्द्र को यम–यमी समझता है। [ऋ० २ । ३ ९ । २]।

इस सूक्त में यम-यमी संवाद से दिन-रात का विज्ञान और गृहस्थधर्मशिक्षण आलङ्कारिक ढंग से कहा गया है।

आ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ओ (आ+उ[1]) इति। चित। सखायम्। सख्या। ववृत्याम्। तिरः। पुरु। चित्। अर्णवम्। जगन्वान्। पितुः। नपातम्। आ। दधीत। वेधाः। अधि। क्षमि। प्रऽतरम्। दीध्यानः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरु चित्-तिरः-अर्णवम-जगन्वान्) पुरूणां बहूनाम् 'सुपां सुपो भवन्तीति षष्ठी बहुवचने प्रथमाद्विवचनम् पदपाठाग्रहेण षष्ठीबहुवचनप्रत्ययस्य लुक्। चित्-चेतयिता। सूर्यस्तिरस्तीर्णं सुविस्तृतमर्णवम्, अर्णवः समुद्रस्तमन्तरिक्षम् *"समुद्र-इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् [निघ० १। ३]* तथा-अर्णः-जलं तद्वन्तमाकाशं जगन्वान् प्राप्तवान् अन्तरिक्षे स्थित इत्यर्थः। तदा किं जातमित्युच्यते (चित्) हे चेतनाशील ! अन्यान् चेतयितो दिवस ! (सखायं सख्या) अहं यमी रात्रिस्त्वां सखायं पूर्वतः सखीभूतं पतिमित्यर्थः, सख्या-सख्याय मित्रत्वाय, सख्यशब्दात् 'ङे' स्थाने आकारादेशः *"सुपां*

---

१. 'ओ' पद का 'आ+उ' के रूप में विभाग करना शास्त्रसम्मत पदविभाग है। उक्त पद का यह पदविभाग अन्य किसी भाष्यकार के मस्तिष्क में नहीं आया। यद्यपि सायण ने अन्य अनेक स्थानों पर इसी प्रकार पदविभाग किया है, उदाहरणार्थ—*"इहो इति। इह+उ, उ शब्दः अवधारणार्थः"* [अथर्व० ३। १४। ४] "एषो इति" एषैव····उण " [ऋ० १। ४६। १] इस प्रकार पदपाठ तीन प्रकार के शब्दों का होता है एक जो कि समस्त अर्थात् अवगृह्यपद दूसरे केवल पद और तीसरे प्रगृह्य पद। प्रगृह्य—पदों के पदपाठ के आगे सर्वदा इति शब्द का प्रयोग होता है जो उसके प्रगृह्य-स्वरूप का ज्ञान कराता है, ऐसा यजुःप्रातिशाख्य में लिखा है। प्रगृह्य पदपाठ दो प्रकार का होता है एक तो वह जो अष्टाध्यायी के *"ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्, अदसो मात् शे, निपात एकाजनाङ्, सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ऊँ, ईदूतौ च सप्तम्यर्थे"* [अष्टाध्यायी अ० १। पा० १। सू० ११-१४, १६-१९] इन सूत्रों से प्रगृह्य होता है, जो एक पद में ही होता है। दूसरा *"ओत्"* [अष्टा० १। १। १५] सूत्र से होता है जो दो पदों का होता है, जो कभी अनिपात और निपात का सन्धिपाठ, जैसे ऊपर "इहो, एषो" सायण भाष्य सहित दर्शाये हैं। और कभी दो निपातों का सन्धिपाठ प्रगृह्यपद होता है, किन्तु इस पक्ष में 'आङ्' के 'आ' का मेल होना आवश्यक है जिसका उपरि सूत्र के अनाङ् कहने से प्रतिषेध है जो कि 'आ+उ=ओ' हो जाता है। इसी ओत् सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है और उदाहरण भी साथ ही दिया है—*"अथवा प्रतिषेधार्थो ऽयमारम्भः। ओषु यातं मरुतः। ओषु यातं बृहती शक्वरी च। ओ चित् सखाय सख्या ववृत्याम्।"* [महा० १। १। १५] यह महान् सन्तोष की बात है कि महाभाष्य में प्रकृत मन्त्र को उदाहरण के रूप में रखा है।

सुलुक्–[अष्टा० ७ । १ । ३९] इत्यनेन । (आ-ववृत्याम्-उ) अतिशयेनावर्तयाम्येव–सुतरामाह्वयामि हि । आङ्पूर्वकवृतुधातोर्लिङि रूप लडर्थे शपश्श्लुश्च "बहुल छन्दसि" [अष्टा० २ । ४ । ७६] सूत्रेण, व्यत्ययेन परस्मैपदं च (अधिक्षमि) पृथिव्या अधोभागे[1] पृथिव्यधिकृता । कुतः ? यदहमत्र पृथिव्या अधो भागेऽस्मि तस्मान्मत्समीपमागच्छेत्यर्थः (प्रतरम्) प्रकृष्टं तरन्ति जना दुःखमनेनेति प्रतरं योग्यसन्तानं पितृणस्योन्नायकम् (दीध्यानः) ध्यायन्–लक्षयन्निति यावत् (वेधाः) मेधावी (पितुः-नपातम्) जनकस्य नप्तारं स्वकायपुत्रमित्यर्थः (आदधीत) गर्भाधानरीत्या मयि स्थापयेति गर्भाधानस्य प्रस्तावः ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरु) अपने प्रकाश और तेज से अनेक पृथिवी आदि लोकों को (चित्) चेताने वाले सूर्य ने (तिरः) सुविस्तृत (अर्णवम्) जलमय अन्तरिक्ष को जब (जगन्वान्) प्राप्त किया अर्थात् उसमें स्थित हुआ, तब पृथिवी के निचले भाग में स्थित यमी–रात कहने लगी कि (चित्) हे चेतनाशील ! अन्यों को चेताने वाले दिवस ! (सख्या) सखिपन के लिए प्रेम से (सखायम्) तुझ सखारूप पति को (आववृत्याम्+उ) आमन्त्रित करती हूं अवश्य, आप (अधिक्षमि) इस पृथिवीतल पर नीचे आवें क्योंकि मैं पृथिवी के अधोभाग में हूं एवं मेरे समीप आकर (प्रतरम्) दुःख से तराने तथा पितृ–ऋण से अनृण कराने वाली योग्य सन्तान को (दीध्यानः) लक्ष्य में रखते हुए (वेधाः) आप मेधावी (पितुः-नपातम्) अपने पिता के पौत्र अर्थात् निजपुत्र को (आदधीत) गर्भाधान रीति से मेरे में स्थापन करो, यह मेरा प्रस्ताव है ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्योदय होने पर दिन पृथिवी के ऊपर और रात्रि नीचे होती है । गृहस्थाश्रम में पति से नम्र हो गृहस्थधर्म की याचना पत्नी करे तथा पितृ ऋण से अनृण होने के लिए पुत्र की उत्पत्ति करे ।

समीक्षा—प्रस्तुत मन्त्र पर सायण ने जो अश्लील अर्थ दिया है संदेह निवृत्ति के लिए उसकी समीक्षा दी जा रही है—

१—"अत्रास्मिन् सूक्ते वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवाद उच्यते–अस्यामृचि यमं प्रति यमी प्रोवाच–तिरः–अन्तर्हितमप्रकाशमानं निर्जनप्रदेशमित्यर्थः"=विवस्वान् के लड़के–लड़की यम यमी का इस सूक्त में संवाद है, इस ऋचा में यम के प्रति यमी ने कहा–अप्रकाशमान निर्जनप्रदेश (को गई और यम से कहने लगी) ।

---

१. अधि–शब्दः *"अधिरीश्वरे"* [अष्टा० १ । ४ । ९६] इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयः *"यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"* [अष्टा० २ । ३ । ९] अनेन च सप्तमी, क्षमा शब्दे ऽधियोगे 'अधिक्षमि' भसंज्ञायामाकारलोपः *"आतोधातोः"* [अष्टा० ६ । ४ । १४०] इति सूत्रे भाष्योक्तयोगविभागेन *"क्मश्च क्त्वि"* [अष्टा० ६ । ४ । १८] यथा, *"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"* [महाभाष्ये···] इतिवचनाच्च याडागमो न भवतः, अन्यत्रापि वेदे *"तन्वि"* [ऋ० १ । ५५ । ८] ।

समीक्षा—क्या यहां विवस्वान् कोई देहधारी मनुष्य है कि जिसके यम यमी सन्तानों की कथा वेद वर्णन करता है ? क्या वैदिक काल से पूर्व उनकी उत्पत्ति हो चुकी थी अथवा अलङ्कार है जैसा कि नवीन लोग कहते हैं कि विवस्वान् सूर्य है उसका लड़का दिन और लड़की रात्रि है, ऐसा यदि मानते हैं तो वह अप्रकाशमान निर्जन देश कौनसा है जहां रात्रि गयी ?

२—"अर्णवं समुद्रैकदेशमवान्तरद्वीपम्"

समीक्षा—यहां 'अर्णवम्' का अर्थ 'अवान्तरद्वीपम्' अत्यन्त गौणलक्षणा में ही हो सकता है।

३—"जगन्वान् गतवती यमी" वहां जगन्वान् पुंल्लिङ्ग को स्त्रीलिङ्ग का विशेषण करना शब्द के साथ बलात्कार ही हैं।

४—"ओववृत्याम्=आवर्त्तयामि=त्वत्सम्भोगं करोमि" यहाँ 'त्वत्संभोगं करोमि=तेरा सम्भोग करती हूं" यह कहना और सम्भोग की प्रार्थना भी करते जाना यह कितना विपरीत अर्थ है !

५—"पितुः=आवयोर्भविष्यतः पुत्रस्य पितृभूतस्य तवार्थाय=हम दोनों के होने वाले पुत्र का तुझ पितृरूप के निमित्त" यह अर्थ अत्यन्त दुःसाध्य और गौरवदोषयुक्त है।

६—'अधिक्षमि=अधि पृथिव्यां पृथिवीस्थानीयनभोदरे इत्यर्थः"="पृथिवीस्थानीय नभोदर में।" द्वीपान्तर में स्थिति और नभोदर में गर्भाधान हो यह असम्बद्ध अर्थ है।

७—"पुत्रस्य जननार्थमावां ध्यायन्नादधीत प्रजापतिः=पुत्रजननार्थ हम दोनों का ध्यान करता हुआ प्रजापति गर्भाधान करे" कितनी असङ्गति है—प्रस्ताव और प्रार्थना पति से और आधान करे प्रजापति ! ॥ १ ॥

न ते सखा सख्यं वष्टचेतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

न । ते । सखा । सख्यम् । वष्टि । एतत् । सऽलक्ष्मा । यत् । विषुऽरूपा । भवाति ।
महः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः । दिवः । धर्तारः । उर्विया । परि । ख्यन् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे रात्रे ! (ते) तव (सखा) अहमित्येष दिनरूपः पतिः (एतत् सख्यम्) एतद् गर्भाधानरूपं मित्रत्वं (न वष्टि) नैव कांक्षति । कुतः ? (यत्) यतो हि पत्नी (सलक्ष्मा) समानलक्षणा-समानगुणा, लक्ष्मेति लक्षणपर्यायो यथा वामनीये लिङ्गानुशासने—*"लिङ्गस्य लक्ष्म हि समस्य विशेषयुक्तमुक्तं मया परिमितं त्रिदशा इहार्याः"* [*श्लोक० ३१*] (विषुरूपा) विशेषेण सुरूपा सुन्दरीत्यर्थः, 'वि' अत्र विशेषार्थे यथा "'विसुदूरं गतः' अत्यन्तं दूरं गत इत्यर्थः, (भवाति) भवेत्, *"लिङर्थे लेट्"* [*अष्टा० ३ । ४ । ७*] इति सूत्रेण लेट्, प्रत्युत भवती तु न सुन्दरी किन्तु कृष्णरूपाऽस्ति, तथा च न मादृशी समानगुणा, कथम् ? अहं तु प्राणिनश्चेतयामि भवती तु तान् स्वापयतीति शेषः । एवं सत्यपि यदि चाहं ते ऽनुकूलं सख्यमनुतिष्ठेयं तर्हीमे (उर्विया) द्यावापृथिव्योर्मध्ये *"उर्वीति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्"* [*निघ० ३ । ३०*] तस्माच्च डियाजा-

देशः, "इयाड्डियाजीकाराणामुपसंख्यानम्" [वा० ७ । १ । ३६ अष्टा०] ये (महः-पुत्रासः) महतः प्रजापतेः पुत्राः-पुत्रवद्वर्तमानाः प्रजारूपाः "मह इति महन्नाम" [निघ० ३ । ३] (असुरस्य) असून् प्राणान् राति ददातीति तस्य सूर्यस्य "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" [प्रश्नो० १ । ८] (वीराः) वीर्य्यवन्तः सैनिकाः सेनायामिव व्यूहनियमेन गन्तारः (दिवः) प्रकाशस्य (धर्तारः) धारका नक्षत्रादयः (परि ख्यन्) परिभाषेरन्-निन्द्येयुः, "उपसंवादाशङ्कयोश्च" [अष्टा० ३ । ४ । ८] ख्या प्रकथनेऽस्मादाशङ्कायां लेट्, तस्माद् हे रात्रे ! क्षम्यतां नैतत् सख्यमिच्छाम्यहम् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—हे रात्रि ! (ते) तेरा (सखा) 'मैं' यह दिन पति (एतत् सख्यम्) इस गर्भाधानसम्बन्धी मित्रता को (न वष्टि) नहीं चाहता (यत्) क्योंकि गर्भाधान में पत्नी (सलक्ष्मा) समान लक्षण वाली अर्थात् समान गुण की, और (विषुरूपा) विशेष रूपवती अर्थात् सुन्दरी (भवाति) होनी चाहिए, किन्तु आप न सुन्दरी हैं बल्कि काले रंग की हैं, तथा न मेरे जैसी समानगुणवाली हैं, क्योंकि मैं प्राणियों को चेताने वाला हूं और आप निद्रा में मूढ बनाती हैं। ऐसा होते हुए फिर भी यदि मैं गर्भाधान करके मैत्री का स्थापन करूं तो ये (उर्विया) पृथिवी और द्युलोक के मध्य में (दिवः-धर्तारः) जो प्रकाश को धारण कर रहे हैं, तथा (महः-पुत्रासः) महान् प्रजापति के पुत्र, और (असुरस्य वीराः) सूर्य के वीर सैनिक, सेना में व्यूह नियम के समान चलने वाले ये नक्षत्रादि तारागण, महानुभाव (परिख्यन्) निन्दा कर डालें, यह एक बड़ी आशंका है। ॥ २ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष का विवाह समानगुणकर्म स्वभाव और रूप के अनुसार होना चाहिए, विपरीत विवाह असन्तोषजनक और समाज में अपवाद और अनादर करने वाला होता है ॥ २ ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"सखा=गर्भवासलक्षणेन" यहां सखिपद मुख्यवृत्ति से भ्राता की ओर न घटते हुए देखकर सायण को खींचातानी करके उक्त विशेषण लगाना पड़ा तथा "सलक्ष्मा=समानयोनित्वलक्षणा; विषुरूपा भगिनीत्वात् विषमरूपा" यहां से 'योनित्व' और "भगिनीत्वात्" ये अध्याहार पद निकाल दें तो सायण के मत में एक ही वस्तु के लिए 'समानलक्षणा' और 'विषमरूपा' विपरीत अर्थ होंगे। वास्तव में अपने कल्पनाजन्य अर्थ को सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह अनावश्यक अध्याहार किया।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥ ३ ॥

उशन्ति । घ । ते । अमृतासः । एतत् । एकस्य । चित् । त्यजसम् । मर्त्यस्य । नि । ते । मनः । मनसि । धायि । अस्मे इति । जन्युः । पतिः । तन्वम् । आ । विविश्याः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे पते दिवस ! पूर्वोक्तेयं विचारणा तु दाम्पत्य-सम्बन्धात्प्रागेव कर्त्तव्या न तु सम्प्रति, कुतः ? दाम्पत्यसम्बन्धकाले तु नाहमेवं कृष्णारूपाऽसमानगुणा वाऽऽसं किन्तु रूपेण तु भवादृशी विरूपा सुन्दरी तथा सलक्ष्मा समानलक्षणैवाऽऽसं, प्रत्युत हे पते ! दैविकनियमानुल्लंघयितुं न कस्यापि सामर्थ्यम्। तस्माद्विवाहसम्बन्धादनन्तरमियं शङ्का न कार्या। यच्च भवान् ब्रवीति यदिमे दिवो धर्तारो नक्षत्रादयोऽस्मदपेक्षया ये(अमृतासः) अमराः सन्ति, (एतत्-ते घ) एतेऽपि *"ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कु"*......[अष्टा० ६ । ३ । १३१] इति दीर्घः, (एकस्य मर्त्यस्य) एकस्य मनुष्यस्य सन्तानरूपस्य (चित्) तु (त्यजसम्) त्यागम् (उशन्ति) कांक्षन्ति, अर्थात्–एकस्मै बालकाय तु गर्भाधानमवश्यं कार्य्यमितीष्टं तेषामपि, कथम् ? दाम्पत्यकालानन्तरं दैवादुत्पन्नो दोषो न द्रष्टव्यः प्रत्युतैकापत्योत्पत्त्यर्थं तु निःशङ्कं गर्भाधानं कार्यम्। तस्माद्यत् (ते) तव (मनः) इच्छाऽस्ति, ताम् (अस्मे) अस्माकम् *"सुपां सुलुक्"*...... [अष्टा० ७ । १ । ३९] इत्यनेन 'आम्' स्थाने 'शे' आदेशः, (मनसि निधायि) मनसि मनोभावानुकूल्येन निधेहि–स्थिरीकुरु, *"व्यत्ययो बहुलम्"* [अष्टा० ३ । १ । ८५] इत्यनेन लकारव्यत्ययो लोडर्थे लुङ्, *"बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"* [अष्टा० ६ । ४ । ७५] अनेनाऽडभावः, तथा च (जन्युः-पतिः) मयि पुनर्जायमान हे पते ! त्वं मे (तन्वम्) शरीरम् (आविविश्याः) आसमन्तात् सुतरां प्रविश । जायते–इति जन्युः *"यजिमनिशुन्धि-जनिभ्यो युच्* [उ० ३ । २०] पतिविशेषणमेतत्, न तु जनीशब्दस्य षष्ठ्यां कश्चिन्निर्देशो जन्युरिति व्युत्पत्तुं शक्यते तथा जायते जन्युरित्यत्र प्रमाणम्–*"पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।"* [ऐत० ३३ । १] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—हे पते द्युतिमन् दिवस ! पूर्वोक्त यह विचारणा तो विवाह सम्बन्ध से पहिले ही करनी चाहिए न कि अब, क्योंकि दाम्पत्यसम्बन्धकाल अर्थात् विवाह काल में तो मैं इस प्रकार काले रङ्ग की और विपरीत गुणवाली न थी किन्तु आप जैसी सुन्दरी और समानगुण वाली थी। हे पते ! दैविक नियमों का उल्लंघन करने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है, अतः दाम्पत्य सम्बन्ध के अनन्तर इस मेरी पूर्वोक्त सामयिक स्थिति में शङ्का नहीं करनी चाहिए। और जो आपने यह कहा है कि ये जो "दिवो धर्तारः" तेजस्वी नक्षत्र आदि हमारी निन्दा करेंगे, सो नहीं किन्तु (ते) वे (अमृतासः) अमरधर्मी हमारी अपेक्षा मुक्त अव्याहत अर्थात् स्वतन्त्र गति से विचरने वाले महानुभाव (एतत्) यह (उशन्ति) चाहते हैं, कि (घ) इस ऐसी अवस्था में भी (एकस्य मर्त्यस्य) एक सन्तान का (चित्) तो अवश्य ही (त्यजसम्) गर्भाधान द्वारा मेरे प्रति त्याग हो, ऐसा इनको भी इष्ट है। क्योंकि दाम्पत्यकाल के अनन्तर दैव से उत्पन्न हुआ दोष न देखना चाहिये अपितु एक सन्तान के लिए तो निःशङ्क गर्भाधान करना ही उचित है। इसलिये जो (ते) तेरा (मनः) मन है उसको (अस्मे) हमारे (मनसि) मन में (निधायि) स्थिर कर अर्थात् मेरे मनोभाव के अनुकूल अपना मनोभाव बना और (जन्युः) पुनर्नव रूप में प्रकट होने वाले (पतिः) तू मेरे पति (तन्वम्) मेरी काया में (आविविश्याः) सुतरां सम्यक् प्रकार से प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विवाह के अनन्तर किसी रोगादि से पत्नी कुरूप हो जावे तो भी कम से कम एक पुत्र तो उत्पन्न करें ऐसी व्यवस्था धर्मोपदेश से और शासन से करें॥ ३॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"एकस्य चित्सर्वस्य जगतो मुख्यस्यापि प्रजापत्यादेः स्वदुहितृभगिन्यादीनां सम्बन्धोऽस्तीति शेषः" 'एकस्य चित' यहां एक का अर्थ मुख्य करके प्रजापति आदि का अप्रासंगिक अध्याहार किया है। तथा "जन्युरिति लुप्तोपममेतत् जन्युरिव यथा जनयिता प्रजापतिः" यहां प्रथम तो लुप्तोपमा गौरव है दूसरे 'जायते-इति जन्युः=जन्+युच् [उ० ३। २०] से युच् प्रत्यय हुआ है, णिजन्त से नहीं। जो यह जनयिता अर्थ किया है वह तथा उपर्युक्त अध्याहार अपनी कल्पनासिद्धि के लिए खींचातानी है॥ ३॥

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ॥ ४॥

न। यत्। पुरा। चकृम। कत्। ह। नूनम्। ऋता। वदन्तः। अनृतम्। रपेम। गन्धर्वः। अप्ऽसु। अप्या। च। योषा। सा। नः। नाभिः। परमम्। जामि। तत्। नौ॥ ४॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे रात्रे पत्नि! (ऋता वदन्तः पुरा यत्-चकृम) ऋता-ऋतानि वेदान् मन्त्रानिति यावत् "शेश्छन्दसि बहुलम्" [अष्टा० ६। १। ६८] इत्यनेन शेर्लोपः, वदन्तः-उच्चारयन्तः पुरा-इदानीन्तनात्पूर्वे दाम्पत्यकाले यद् गार्हस्थ्यं सन्तानोत्पादनरूप व्रतं चकृम कृतवन्तः, "अस्मदो द्वयोश्च" [अष्टा० १। २। ५९] अनेन द्विवचने बहुवचनम्, तत् (नूनं कत्-ह न-अनृतं रपेम) तद् गार्हस्थ्यव्रतं नूनमद्यतनम् नूनमित्यस्यार्थो ऽद्यतनम् [निरु० १। ६] कत्-ह-कुतोऽपि 'कच्चित्-कुतश्चित्' इत्यस्मात्कुतश्चिदर्थकात् 'कत्-चित्' शब्दाद्योगविभागः। "योगविभागादिष्टसिद्धिः" [महाभाष्य] न-अनृतं वेदविरुद्धं नकाररूपं वचनं रपेम-रपितुं वक्तुमर्हेम "अर्हेकृत्यतृचश्च" [अष्टा० ३। ३। १६९] अनेनार्हार्थे लिङ्, अर्थात्-अच्छा हे प्राणप्रिये! अहं निश्चितवान् यदस्माभिर्दाम्पत्यं वेदमन्त्रैर्गर्भाधानार्थं प्रतिज्ञातं तदतिक्रम्य सम्प्रति नकाररूपमशास्त्रवचनं न कुतोऽपि वक्तुमर्हेम किन्तु गर्भाधानायोद्यताः स्मः, प्रत्युत हा शोकम् (गन्धर्वः-अप्सु) पतिरहमन्तरिक्षे "आप इत्यन्तरिक्षनाम" [निघ० १। ३] (अप्या च योषा) त्वं पत्न्यप्यन्तरिक्षे (सा नो नाभिः) सेयं पृथिवी नावावयोर्नाभिरस्ति यत आवामरारूपावहोरात्रौ तस्याः परितश्चक्रं वर्तेवहि (नौ तत्परमं जामि) नावावयोर्मध्ये तत् परममत्यन्तं जामि-असमानजातीयकं व्यवधायकं गर्भाधानक्रियायामिति शेषः। "जामि····वाऽसमानजातीयस्य····उपजनः" [निरु० ४। २०] द्वयोर्बहूनां वा संयोगाभावकारणं व्यवधायकमेव भवति तच्चासमानजातीयं यथा 'नुद्' अत्र न्द् अनयोः द्वयोः संयोगाभावकारणम् 'उ' अज्रूपं व्यवधायकमसमानजातीयमेवेति। हे प्रियेऽहं गर्भाधानसंयोगायोद्यतोऽस्मि किन्तु येयं पृथिवी यस्याः परित आवां दैवनियमेन भ्रमावः साऽऽवयोर्मध्येऽत्यन्तं व्यवधायकं वस्तु गर्भाधानसंयोगस्यास्ति किं करवाव विवशताऽत्रावयोः॥ ४॥

भाषान्वयार्थ—हे प्रिये पत्नि! (पुरा) पूर्वदाम्पत्य काल में (ऋता वदन्तः) वेदमन्त्रों को उच्चारण करते हुए अर्थात् प्रजोत्पत्ति निमित्त ईश्वरीय नियमों को स्वीकारते हुए (यत्) जो गार्हस्थ्य अर्थात् सन्तानोत्पादक रूप व्रत (चकृम) हम ने किया था उसको (नूनम्) आज (अनृतम्) वेदविरुद्ध निषेध वचन (न) नहीं (रपेम) कह सकते, अर्थात् हे प्राणप्रिये ! मैंने यह निश्चय किया है कि हमने जो दाम्पत्य वेदमन्त्रों ईश्वरीयनियमों से गर्भाधान के लिए प्रतिज्ञावद्ध किया था सो उसके उल्लङ्घन से इस समय नकाररूप अर्थात् निषेधरूप अशास्त्रवचन कथंचित् नहीं बोल सकते । किन्तु गर्भाधान के लिये उद्यत हैं । प्रत्युत (गन्धर्वः) गर्भाधान सम्बन्ध का इच्छुक मैं तेरा पति (अप्सु) अन्तरिक्ष में (योषा च) और तू गर्भाधान को चाहने वाली मेरी पत्नी भी (अप्या) अन्तरिक्ष में है एवं हम दोनों ही जलप्रवाह की नाईं निरन्तर गति कर रहे हैं तथा जिस पृथिवी के नीचे ऊपर की ओर हम दोनों की (नाभिः) नाभि है क्योंकि अरारूप धुरी की नाईं दिन और रात हम दोनों पति–पत्नी इस पृथिवी के चारों ओर चक्र काटते हैं (तत्) बस वह यह (नौ) हम दोनों के मध्य में (परमम्) अत्यन्त (जामि) असमानजातीय–व्यवधायक अर्थात् गर्भाधान क्रिया में रुकावट डालने वाला पदार्थ है । क्योंकि दो व्यक्तियों के संयोगाभाव का कारण व्यवधायक मध्य में बैठा हुआ असमानजातीय ही होता है, जैसे 'नुद' में 'न्द्' इन दो हलों के संयोग का व्यवधायक–असमानजातीय 'उ' अच् है । हे प्रिये ! मैं गर्भाधान संयोग के लिये उद्यत हूँ किन्तु यह पृथिवी दोनों के मध्य में स्थित हुई गर्भाधान संयोग की अत्यन्त बाधक है । जिसके चारों ओर हम दोनों दैविक नियम से घूमते हैं । हा ! शोक क्या करें हम दोनों ही यहां विवश हैं ।। ४ ।।

भावार्थ—विवाह वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिज्ञापूर्वक हो, प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन कभी न हो । कारणवश दूर–दूर होने पर भी स्नेह समाचार बना रहे, दिन–रात पृथिवी के साथ समकक्ष में होते हैं पर उनके ओर छोर मिले रहते हैं यही प्रातः सायं कहलाते हैं ।। ४ ।।

समीक्षा (सायण भाष्य)—"वयं ऋता ऋतानि सत्यानि वदन्तः, अनृतमसत्यं कद्ध कदा खलु नूनं निश्चितं रपेम=हम सत्य बोलते हुए असत्य कब बोल सकते हैं ।" इस प्रकार की अर्थप्रक्रिया में यह सन्देह होता है कि वे कौनसा सत्य बोलते थे जो यहां असत्य बोलना पड़ रहा था ? अर्थ स्पष्ट नहीं है । "जामि बान्धवम्" यह अर्थ निरुक्त के विरुद्ध है तथा अधिक आश्चर्य तो यह है कि यहां पर तो 'जामि' का अर्थ 'बान्धव' किया है और मन्त्र ९ में 'अजामि भ्राता' अर्थात् 'अजामि–भ्राता' 'जामि–अभ्राता' । मन्त्र १० में 'जामि–भगिनी' 'अजामि–अभ्राता' अर्थात् 'जामि–भ्राता' । सायण कृत जामि शब्द के अर्थ इसी सूक्त में निम्न० हुए—

"जामि–वन्धुता, अभ्राता, भगिनी, भ्राता", ये चारों ही अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं ।।

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ।। ५ ।।

गर्भे । नु । नौ । जनिता । दंपती इति दम्ऽपती । कः । देवः । त्वष्टा । सविता । विश्वऽरूपः । नकिः । अस्य । प्र । मिनन्ति । व्रतानि । वेद । नौ । अस्य । पृथिवी । उत । द्यौः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वरूपः) विश्वं संसारं रूपयति प्रकटयतीति विश्वरूपः (त्वष्टा) त्वक्षति सर्वेषां पदार्थानां कृत्यानीति त्वष्टा (सविता) विवस्वान् (कः) प्रजापतिः *"प्रजापति र्वै कः"* [*गोप० १ । २२*] (देवः) दिव्यगुणः (गर्भे नु नौ दम्पती जनिता) गर्भे हि–आवां पतिपत्न्यौ जनिता–जनयिता सम्पादयिता, यथा चान्यत्र वेदेऽप्युक्तम्–*"त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्"* [*अथर्व० ६ । ७८ । ३*] जनिता मन्त्रे सूत्रेण णिजन्तो निपातितः । हा, दैवनियमान् ! पूर्वतोऽपि दाम्पत्ये सिद्धेऽत्राहं गर्भाधानरहिता सन्तानशून्या वा तिष्ठेयम् । हा ! न मर्षये दुःखमेतत् (नकिः-अस्य व्रतानि प्रमिनन्ति) 'नकिर्' अव्ययमाकांक्षायाम्, यद्येवमेव दुःखपङ्के प्रजापतिसम्पादित-दाम्पत्यस्य फलमन्तरेणावां स्थास्यावः । नकिर्नोचेत्तर्ह्यस्य प्रजापतेर्व्रतानि–सर्वे नियमाः प्रमिनन्ति–प्रहिंसेयुर्विनश्येयुरिति सम्भाव्यमेतत्, *"मीङ् हिंसायाम्"* [*क्रयादिः*] तस्माल्लिङर्थे लेट् *"सिब्बहुलं लेटि"* [*अष्टा० ३ । १ । ३४*] इति बहुलवचनाच्च न सिप्, श्ना प्रत्यय एव, *"मीनातेर्निगमे"* [*अष्टा० ७ । ३ । ८१*] अनेन च ह्रस्वः (अस्य पृथिवी-उत द्यौः-नौ वेद) न चावामत्रासत्यवादिनौ, कुतः ? अस्य प्रजापतेर्यद् द्यावापृथिव्यौ मिथुनमस्ति तद्–मिथुनम् नावावां दम्पतीति वेद जानाति । यत्–आवयोर्दाम्पत्यं विवाहं दृष्टवत् तस्मात्तन्मिथुनमावयोः साक्षि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वरूपः) संसार को प्रकट करने वाला (त्वष्टा) सबके कृत्यों का नियामक (सविता) विवस्वान् (कः) प्रजापति (देवः) देव (गर्भे नु) गर्भ में ही अर्थात् पृथिवीतल पर आने से पूर्व ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) पति–पत्नी (जनिता) बना चुका है । हा ! दैव नियम कैसे हैं ? कि पूर्व ही से दाम्पत्य सिद्ध होने पर भी मैं गर्भाधानरहित या सन्तानशून्य रह जाऊँ । हा ! मुझे यह दुःख सहन नहीं होता है । हम प्रजापति के सम्पादित दाम्पत्य फल के बिना ही इस घने दुःख पङ्क में रह जावेंगे । (नकिः) तो फिर (अस्य) इस प्रजापति के (व्रतानि) सारे नियम (प्रमिनन्ति) टूट जाने चाहिएं । क्योंकि हम तो झूठ बोलते ही नहीं कि हमारा दाम्पत्य प्रजापति ने स्थिर किया था जिसके गर्भाधान फल के लिए हम विलाप कर रहे हैं, अपितु (अस्य) इस प्रजापति का (पृथिवी-उत-द्यौः) द्यावापृथिवी यह एक मिथुन अर्थात् जोड़ा भी (नौ) हम दोनों 'दिनरात' के दाम्पत्य को (वेद) जानता है, क्योंकि हमारे दोनों के विवाह को इस जोड़े ने देखा है अतः यह द्यावापृथिवी मिथुन भी हमारा साक्षी है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सृष्टि में जोड़े पदार्थ ईश्वरीय व्यवस्था से हैं, उनके टूटने से सृष्टि नहीं चलेगी । ऐसे ही गृहस्थ नियम का भी उल्लङ्घन न करें । वर–वधू का विवाह अन्य विवाहित जनों के साक्ष्य में होना चाहिए, संन्यासी व ब्रह्मचारी का विवाह में साक्ष्य अपेक्षित नहीं ॥ ५ ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"मातुरुदरे सहवासजनित्वं दम्पतित्वं पृथिवी भूमिर्वेद जानाति, उतापि च द्यौर्द्युलोकोऽपि जानाति ।" प्रस्तुत व्याख्या में द्यावापृथिवी सहवासजनित

दम्पतित्व कैसे जानते हैं इस बात को सायण अपनी कल्पनासिद्धि के आग्रह के कारण स्पष्ट न कर सके।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ ६॥

कः। अस्य। वेद। प्रथमस्य। अह्नः। कः। ईम्। ददर्श। कः। इह। प्र। वोचत्। बृहत्। मित्रस्य। वरुणस्य। धाम। कत्। ऊँ इति। ब्रवः। आहनः। वीच्य। नॄन्॥ ६॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे दिवस ! यद्यपि द्यावापृथिव्याविति मिथुनमावयोः साक्षि, प्रत्युत हा ! (इह) इहास्मत्सम्बद्धेऽन्तरिक्षे तु (अस्य प्रथमस्य–अह्नः) पूर्वस्य विवाह-समयस्य वृत्तम् (कः-वेदः) को जानाति ? न कोऽपीत्यर्थः, तथा च (कः-ईम्) गतं विवाहं कः खलु (ददर्श) दृष्टवान् न कोऽपीति भावः, अपि च (कः-प्रवोचत्) कश्च श्रुत्वा प्रवोचत् यद् जातोऽनयोर्विवाह इति प्रवक्तुमर्हति न कोऽपीत्येव, कुतः ? प्रत्यक्षवादिनो वै संसारिणः प्रत्यक्षं यत्पश्यन्ति तद्वदन्तीति (मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहत्) मित्रावरुणयोर्धाम स्थानं बृहत् लम्बायमानं दूरमित्यर्थः (आहनः) हे हृदयपीडक पते ! (कत्-उ) कुतो हि तद् धाम गत्वा तत्रस्थान् (नॄन् वीच्य) जनान् वीक्ष्य सम्मुखीकृत्य तान् (ब्रवः) कश्चिद् ब्रूयादेतदावयोर्दुःखवृत्तान्तमिति। मित्रः सूर्य्यस्ते पिता पूर्वस्यां दिशि वरुणश्च मे पिता पश्चिमायां दिशि, एवमुभयोः स्थानं गत्वैतद्दुःखवृत्तान्तं कः श्रावयेत् ? न कश्चिदपि तत्र गन्तुमस्माकमत्र विद्यते। मित्रः सूर्य्योऽत्र प्रमाणम्–*"मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्"* [ऋ० ३।५९।१] अत्र दयानन्दर्षिणा ऽप्यस्य सूर्य एवार्थो लिखितः। दिनस्य पिता मित्रः, रात्रेः पिता वरुणः, इत्थमेव तैत्तिरीयेऽप्युक्तम्–*"मैत्रं वा अहः, वारुणी रात्रिः"* [तै० ब्रा० १।७।१०।१]॥ ६॥

भाषान्वयार्थ—हे दिवस ! यद्यपि द्यावाथिवी मिथुन हमारा साक्षी है प्रत्युत हा ! (इह) हमारे साथ सम्बन्ध रखने वाले इस अन्तरिक्ष में (अस्य प्रथमस्य-अह्नः) इस प्रथम दिन अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में हुए विवाह को (कः) कौन (वेद) जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता, और (ईम्) उस गत विवाह को (कः) किसने (ददर्श) देखा है, तथा (कः) कौन ही (प्रवोचत्) सुनकर कह सके कि हां इनका विवाह हुआ, अर्थात् कोई नहीं क्योंकि संसार प्रत्यक्षवादी है जो कुछ प्रत्यक्ष देखता है उसी को कहता है। (मित्रस्य) मित्र का और (वरुणस्य) वरुण का (धाम) स्थान (बृहत्) दूर है (आहनः) हे हृदयपीडक पते ! (कत्) कैसे (उ) ही, कोई उस स्थान को जाकर वहां के (नॄन्) मनुष्यों को (वीच्य) सम्मुख करके उनको (ब्रवः) हमारा यह दुःख वृत्तान्त कहे। मित्र अर्थात् सूर्य तेरा पिता पूर्व दिशा में और वरुण मेरा पिता पश्चिम में है। इस प्रकार अत्यन्त दूर हम दोनों के इन पितृकुलों में जाकर जो इस दुःखवृत्तान्त को सुना सके, ऐसा हमें कोई नहीं दिखलाई पड़ता । दिन का पिता मित्र 'सूर्य' और रात्रि का पिता वरुण है॥ ६॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों का विवाह सम्बन्ध दूर स्थान पर होना चाहिए, निकट स्थानवालों का विवाहसम्बन्ध उपयोगी नहीं होता। कभी संकट होने पर पितृकुलों को सहायक बनना चाहिए ॥ ६ ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"मित्रस्य वरुणस्य मित्रावरुणयोर्बृहन्महद्धाम स्थानमहोरात्रं यदस्ति।" यहां "दिन और रात मित्रावरुण के धाम हैं" यह सायण का कथन उनकी अभीष्ट व्याख्या से विपरीत है क्योंकि 'दिन–रात' स्थान नहीं हैं। दूसरे यहां इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि यदि दिन रात के पितृकुल मित्रावरुण के धाम माने जावें तब तो यहां दिनरात का संवाद अपने दुःख वृत्तान्त को सुनाना उचित ही है। जो हमारी अर्थ योजना के साथ सम्बन्ध रखता है ॥

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥

यमस्य। मा। यम्यम्। कामः। आ। अगन्। समाने। योनौ। सहऽशेय्याय। जायाऽइव। पत्ये। तन्वम्। रिरिच्याम्। वि। चित्। वृहेव। रथ्याऽइव। चक्रा ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(समाने योनौ) एकस्मिन् गृहे "योनिरिति गृहनाम" [निघ० ३।४] (सहशेय्याय) सङ्गम्य शयितुम्, 'शीङ्' धातोः "अचो यत्" [अष्टा० ३।१।०७] इति यत्प्रत्ययो यत्वागमश्छान्दसः'। (यमस्य) दिनस्य (मा यम्यम्) मां यमीं रात्रिं (कामः) अभिलाषः (आगन्) आगतः, किं कर्तुम्? यद् (जायेव) जायया यथाभाव्यं तथा तत्प्रकारेणेति यावत्। 'जायेव' अत्र केचनैवमाचक्षते यद् 'जाया–पत्नी, इवउपमार्थे' तस्माद् भगिनो हि–अपत्नी सती पत्नीव प्रार्थयते। अत्रोच्यते–'इव शब्द उपमार्थे हि प्रवर्तते नैष नियमः, कुतः? तस्यान्यार्थे ऽपि दृष्टत्वात् तद्यथा *"परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्विषः"* [ऐ० ३५।३०], [तै० १।१।९] अत्र सायणः, "इव शब्द एवकारार्थः" तस्मादुपमार्थे हि इवशब्द इत्याग्रहस्तु परास्तः। यद्यप्यत्र वयमुपमार्थे हि योजयामस्तथापि जाया शब्दः पत्नीवाचीति न स्वीकुर्मो यत्–*"तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः"* [ऐ० ३३।१] सन्तानोत्पादनयोग्या स्त्रीव्यक्तिर्जायापदवाच्या भवति कामं पत्नी वा स्याद् भगिनी वा दुहिता वेति यथा जानश्रुती रैक्वं निवेदयति निजदुहितरं लक्षीकृत्य *"इयं जायाऽयं ग्रामः"* [छान्दो० ४।२] तस्माद्युवतिरेव जायापदेनोच्यते न तु कन्या वृद्धा वा, तया गर्भं धारयितुं योग्यया यथाऽनुष्ठेयं तथाऽनुतिष्ठन्ती जायाधर्मं यथावत्पालयन्ती सती (पत्ये) पूर्वोक्ताय जन्यवे गर्भमाधापयितुं योग्याय निजपतये (तन्वम्) स्वकीयशरीरम् (रिरिच्यां चित्) समर्पयेयमेव। कस्मै प्रयोजनाय? (विवृहेव) यद् गार्हस्थ्यभारमुद्यच्छेव (रथ्येव चक्रा) रथ्यस्य चक्रे–इव यथा रथस्य चक्रे रथं वहतस्तद्वद् गार्हस्थ्यरूपं रथं वहेव ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(समाने योनौ) एक स्थान में (सहशेय्याय) मिलकर सोने के लिए (यमस्य) तुझ यम दिन की (मा यम्यम्) मुझ यमी रात्रि को (कामः) कामना (आगन्) प्राप्त हुई कि (जायेव) पुत्रजनन में योग्य स्त्री की नाईं अर्थात् इस समय मैं जाया–गर्भधारण में समर्थ सन्तानोत्पन्न करने योग्य हूं । ब्राह्मणवचन के अनुसार गर्भधारण करने योग्य स्त्री को जाया कहते हैं कन्या या वृद्धा को नहीं । इसलिए गर्भधारण करने योग्य स्त्री को जैसे अनुष्ठान करना चाहिए उसी प्रकार अनुष्ठान करती हुई (पत्ये) पति के लिए अर्थात् पूर्वोक्त जन्यु–गर्भाधान कराने में योग्य निज पति के लिए (तन्वम्) अपने शरीर को (रिरिच्यां चित्) समर्पण कर ही दूं । इसलिए कि (विवृहेव रथ्येव चक्रा) गार्हस्थ्यभार को हम दोनों रथ के पहियों के समान उठा ले चलें ॥ ७ ॥

भावार्थ—विवाह युवा और युवति का होना चाहिए और उन्हें विवाहोपरान्त पारस्परिक व्यवहार लज्जा का त्याग करके वरतना चाहिए । अपने गृहस्थ के भार को–रथ को वहन करते हुए चक्रों के समान आपत्ति–विपत्ति में भी सुचारु रूप से वहन करते चलना चाहिए ॥ ७ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

न । तिष्ठन्ति । न । नि । मिषन्ति । एते । देवानाम् । स्पशः । इह । ये । चरन्ति । अन्येन । मत् । आहनः । याहि । तूयम् । तेन । वि । वृह । रथ्याऽइव । चक्रा ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे रात्रे ! यत्त्वया विलापं कुर्वत्योक्तम्–'बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रवः' यद्यपि मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहद् लम्बायमानं दूरं यदस्ति तद्धाम गन्तारो गमनशीलास्तु सन्ति (इह ये चरन्ति) इहान्तरिक्षे ये चलन्ति प्रत्युत ते (देवानाम्) सूर्यादीनाम् (स्पशः) स्पशन्ति स्पृशन्ति ते स्पशः, ज्योतिर्विद्यया नक्षत्राण्युच्यन्ते प्रवहनामके वायुमार्गे वर्तमानाः सूर्य्यादीन् देवान् स्पृशन्तीति यतः "स्पश बाधनस्पर्शयोः" [भ्वादिः] "अन्येभ्यो ऽपि दृश्यते" इति ताच्छीलिकः क्विप्, एवंस्वभावास्ते यात्रिणो भूत्वा सूर्यादीन् देवानभिगच्छन्ति, अन्योऽन्यस्य देवस्य वृत्तस्य प्रेषकाः (एते न तिष्ठन्ति) एते न विरमन्ति (न निमिषन्ति) स्वकीय मार्गं परित्यज्येतस्ततो न चेष्टन्ते, तर्हि हे रात्रे ! आवयोर्दुःखवृत्तान्तं को नयेत्; कश्चास्मत्पितृकुलयोः श्रावयेन्न कश्चिदपीत्यथः । अतोऽसाध्यं दुःखमेतत् तस्मात् (आहनः) हे हृदयपीडिके ! योऽयम् (मत्-अन्येन) मद्विवसाद्भिन्नः को ऽपि पुरुषस्तेन सह सङ्गमनम् (तूयम्) शीघ्रम् (याहि) प्राप्नुहि (तेन) तेन सह (विवृह) गार्हस्थ्यभारमुद्यच्छ (रथ्येव चक्रा) रथस्य चक्रे–इव ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—हे रात्रि ! जो तुझ विलाप करती हुई ने कहा है कि 'बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रवः'—मित्र और वरुण हमारे पितृस्थान दूर हैं कौन वहां हमारे दुःख को सुनावे' यद्यपि मित्र और वरुण के उस दूर धाम को जाने वाले भी हैं तो सही (ये) जो (इह) यहां

अन्तरिक्ष में (चरन्ति) चलते हुये दीखते हैं, प्रत्युत वे (देवानाम्) सूर्यादि देवों के (स्पशः) स्पर्श करने वाले अर्थात् नक्षत्र जो प्रवहनामक वायुमार्ग में वर्तमान, सूर्यादि देवों को स्पर्श करते हैं ऐसे स्वभाववाले वे यात्री बनकर सूर्यादि देवों के प्रति जाते हैं और एक देव का दूसरे देव के पास वृत्तान्त पहुंचाते हुए हरकारों के समान हैं (एते) ये (न तिष्ठन्ति) न विराम करते हैं (न निमिषन्ति) न ही मार्ग को छोड़कर इधर-उधर उन्मार्ग में चेष्टा करते हैं, तब हे रात्रे ! हम दोनों के दुःखमय वृत्तान्त को कौन ले जावे और कौन दुःख का सन्देश हम दोनों के पितृकुलों में सुनावे अथवा कौन हमें दुःख से छुड़ावे, अहो ! (आहनः) हे हृदयपीड़िके ! यह तो असाध्य दुःख है, इस लिये (मत्) मुझ से भिन्न (अन्येन) जो कोई अन्य पुरुष तुझे दिखलाई पड़े उसके साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) तू समागम को प्राप्त हो (तेन) उसी के साथ (विवृह) गार्हस्थ्यभार को उठा और (रथ्येव चक्रा) रथ के पहियों के समान वहन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—ग्रह तारे आकाश में सदैव गतिशील रहते हैं, सूर्य के द्वारा उन्हें ज्योति प्राप्त होती है । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट है कि सन्तानोत्पादन में असमर्थ पति द्वारा पत्नी को नियोग की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर यदि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहे तो रह सकती है सन्तानप्राप्ति की इच्छा हो तो नियोग करे ॥ ८ ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"ये स्पशोऽहोराश्रादयश्चाराश्चरन्ति" यहां यम-यमी को सायण दिन-रात नहीं समझता है. किन्तु मन्त्र १० में "अहोरात्रयोरस्मै यमाय कल्पितं भागम्" में यम का सम्बन्ध दिन-रात से वर्णित किया है । पारस्परिक विरोध है ॥ ८ ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥ ९ ॥

रात्रीभिः । अस्मै । अहऽभिः । दशस्येत् । सूर्यस्य । चक्षुः । मुहुः । उत् । मिमीयात् । दिवा । पृथिव्या । मिथुना । सबन्धू इति सऽबन्धू । यमीः । यमस्य । बिभृयात् । अजामि ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे प्रिये ! यद्यपि भवितुमर्हत्येतद्यत् प्रजापतिर्देवः (अस्मै) एतं जामिरूपं पृथिवीलोकम् *"सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्"* [अष्टा० ७ । १ । ३९ वा०] अत्र भाष्यवचनात् द्वितीयैकवचने 'स्मै' आदेशः *'तस्मा इन्द्राय गायत"* [ऋ० १ । ५ । ४] इतिवत् (दशस्येत्) उपक्षिणुयात् सूक्ष्मीकृत्यावयोर्मध्यात्पृथक् कुर्यात् "दसु उपक्षये" [दिवा०] श्यन् विकरणः, लिङि रूपम् । धातुमध्ये शकारागमश्छान्दसः *"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्"* इति वचनात् । तत्कथं पृथक् कुर्यादित्युच्यते (रात्रीभिः) रात्रिगणेन (अहभिः) अहर्गणेन सह, अर्थादहोरात्रगणाभ्यामस्य पृथिवीलोकस्य स्थितिसमयं समाप्य पृथक् कुर्यात्तदाऽऽवयोः सङ्गमेन सम्भाव्यमित्यभिप्रायः, कुतश्च स्थितिसमयसमाप्तिः ? उच्यते,

कालगणनया । साच कालगणना भवति रात्रिगणेनाहर्गणेन च । अहोरात्रसंख्या च बह्वी कथं स्यात् तच्च, हे रात्रे ! यद्यप्येक एवाहं भवती चाप्येका तथापि भवितुमर्हत्या-वयोर्बह्वी संख्या । तदित्थं यत् (सूर्य्यस्य चक्षुः) सूर्यदेवस्य दर्शनरश्मिः (मुहुः) पुनः पुनः (उन्मिमीयात्) उद्गच्छेत्प्रकटीभवेल्लोकदृष्ट्येति शेषः 'यल्लौकिकाः सूर्य्यप्रकाशदर्शने-नाहोरात्रसंख्यां कुर्वन्तु । तदा (दिवा पृथिव्या) द्यावापृथिवीभ्यां तुल्यौ (मिथुना) मिथुनौ (सबन्धू) समानबन्धनौ सङ्गतौ भवेव तथा च (यमीः) यमी रात्रिर्भवती मे पत्नी (यमस्य) मे दिनस्य-पत्युः (अजामि बिभृयात्) जामिराहित्यमर्थादव्यवधायकं संयोगं धारयेत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—हे प्रिये ! यद्यपि यह सम्भव है कि प्रजापति देव (अस्मै) इस जामिरूप अर्थात् हमारे संयोग में रुकावट डालने वाले पृथिवीलोक को (दशस्येत्) सूक्ष्म बनाकर हमारे बीच में से अलग करदे वह इस प्रकार कि (रात्रीभिः) रात्रिगण से (अहभिः) अहर्गण से, अर्थात् अहोरात्रगण से इस पृथिवीलोक के स्थितिसमय को समाप्त करके पृथक् कर दे, तब हम दोनों का सङ्गम होना सम्भव है । क्योंकि वह स्थितिसमय कालगणना से समाप्त हो सकता है और वह कालगणना रात्रिगण और अहर्गण से हो सकती है । अब वह अहोरात्र अर्थात् दिन-रात की अधिक संख्या किस प्रकार होनी सम्भव है सो सुन हे रात्रे ! यद्यपि मैं भी पृथिवी के ऊपर अकेला हूं और आप भी पृथिवी के नीचे अकेली हैं तथापि हम दोनों की संख्या अधिक हो सकती है वह ऐसे कि (सूर्यस्य) सूर्यदेव की (चक्षुः) दर्शनरश्मि (मुहुः) बारम्बार (उन्मिमीयात्) उगाली ले, लोकदृष्टि से प्रकट हो जिससे लोग सूर्यप्रकाश के दर्शन से दिन-रात की गणना करते जावें तब (दिवा पृथिव्या) द्यावापृथिवी के समान (मिथुना) मिथुन (सबन्धू) समानाङ्ग-एकाङ्ग-सङ्गत हो जावें (यमीः) यमी आप रात्रि (यमस्य) मुझ दिन के (अजामि) व्यवधायकाभावता-बिना रुकावट के संयोग को (बिभृयात्) धारण कर सकें ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि पिण्ड बहुत दिन-रातों-अहर्गणों के पश्चात् घिसघिसकर परमाणु बनकर हीन हो जाते हैं । गृहस्थ जनों के लिए इस मन्त्र में उपदेश है कि विवाहित स्त्रीपुरुष सङ्कट आने पर परस्पर सहयोग करें । एक दूसरे का व्यवहार आपस में स्नेहपूर्ण और सहयोग की भावना से युक्त हो ॥ ६ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १० ॥

आ । घ । ता । गच्छान् । उत्ऽतरा । युगानि । यत्र । जामयः । कृणवन् । अजामि । उप । बर्बृहि । वृषभाय । बाहुम् । अन्यम् । इच्छस्व । सुऽभगे । पतिम् । मत् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—किन्तु हे रात्रे ! (ता) तानि (युगानि घ) युगानि-अवसराणि तु (उत्तरा) उत्तरकालीनानि-उत्तराणि (आगच्छान्) आगमिष्यन्ति (यत्र जामयः) असमानजातीया मध्ये व्यवधायकाः (कृणवन्-अजामि) करिष्यन्त्यजा-

मिकर्माणि-असमानजातीयरहितकर्माणि – अव्यववायक-कर्माणि – अविरुद्धकर्माणि, हे रात्रे ! न तावत्पर्यन्तं गार्हस्थ्यमन्तरेण त्वया पुत्राभिलाषिण्या स्थातुं शक्यते तस्मात् त्वम् (उपबर्बृहि वृषभाय बाहुम्-अन्यम्-इच्छस्व सुभगे पतिं मत्) *"उपधेहि–प्रसारय"* *[निरु० ४ । २०]* ! सुभगे वृषभाय वीर्यसेक्त्रे बाहुं प्रसारय तथा च मद्दिनादन्यं पतिमिच्छस्व-स्वीकुरु ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—किन्तु हे रात्रे ! (ता) वे (युगानि) युग–अवसर (घ) तो (उत्तरा) बहुत काल के अनन्तर (आगच्छात्) आवेंगे (यत्र) जबकि ये (जामयः) असमानजातीय–व्यवधायक–मेल में रुकावट डालने वाले (अजामि) असमानजातीयरहितकर्म–अव्यवधायक कर्म–अविरुद्ध कर्म (करिष्यन्ति) करेंगे । परन्तु हे रात्रे ! तब तक तुझ पुत्राभिलाषिणी से बिना गार्हस्थ्य के ठहरना दुष्कर है इसलिये मैं पुत्रोत्पन्न करने में असमर्थ होता हुआ तुझे आज्ञा देता हूं कि (सुभगे) हे प्यारी (वृषभाय) वीर्य प्रदान करने में समर्थ पुरुष के लिए (बाहुम्) अपनी भुजा को (उपबर्बृहि) फैला, और (मत्) मुझ दिन से (अन्यम्) भिन्न (पतिम्) पुरुष को (इच्छस्व) स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ—ज्योतिष के रहस्य को स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि एक समय ऐसा आयेगा कि ये युगल अलग–अलग रूप में न रहकर एक हो जावेंगे, वह सृष्टि का प्रलयकाल होगा । गृहस्थ के लिए वेद का आदेश है–जो पति गर्भाधान करने में असमर्थ है वह सन्तानाभिलाषिणी पत्नी को नियोग से सन्तानोत्पत्ति करने की अनुमति दे देवे ॥ १० ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"यत्र येषु कालेषु जामयो भगिन्यो–अजाम्यभ्रातरं पतिं कृण्वन्करिष्यन्ति" यमी जो सायण के मत में भगिनी है वह इसी वैदिक समय में ही सम्भोग करने को तैयार है, फिर यह कैसा हेतु वचन है ? हां यदि वाक्य वचन हो कि यम भ्राता अभ्राता का कार्य करेगा ऐसा उत्तर समय आवेगा, तब तो हेतु दर्शाना ठीक भी था किन्तु सायण की अर्थ योजना हेतुदोष से युक्त है ॥ १० ॥

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ ११ ॥

किम् । भ्राता । असत् । यत् । अनाथम् । भवाति । किम् । ऊँ इति । स्वसा । यत् । निःऽऋतिः । निऽगच्छात् । कामऽमूता । बहु । एतत् । रपामि । तन्वा । मे । तन्वम् । सम् । पिपृग्धि ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे दिवस ! 'दैवकृतापत्त्या' शरीरसंयोग–सम्बन्धे भवान् (किं भ्राता–असत्) अधुना किं भ्राता–अभवत् ? "अस् भुवि" [अदादिः] लङि रूपम् *"बहुलं छन्दसि"* *[अष्टा० २ । ४ । ७३]* इत्यनेन शपो लुग्न भवति तथाडागमोऽपि न *"बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"* *[अष्टा० ६ । ४ । ७५]* (यत्-अनाथम्) अविद्यमानो नाथो यस्मिन् तदनाथं नाथराहित्यमपतित्वमिति यावत्–क्रियाविशेषणञ्चैतत् *"नञ्*

सुभ्याम्" [अष्टा० ६ । २ । १७२] अनेन चान्तोदात्तत्वम् । (भवाति) भवेत् "लिङर्थे लेट्" [अष्टा० ३ । ४ । ७] (किमु) किञ्चाहं ते पत्नी (स्वसा-असत्) अभवत्, असदित्यनेनान्वयः, (यत्) यतः (निर्ऋतिः) निः-रतिः-रतिमन्तरेण सम्भोगेन विना "निर्ऋतिर्निरमणात्" [निरु० २ । ७] अत्र रम् धातोः क्तिनि "बहुलं छन्दसि" [अष्टा० ६ । १ । ३४] अनेन सम्प्रसारणम् (निगच्छात्) पुरुषान्तरं गच्छेत् "लिङर्थे लेट्" [अष्टा० ३ । ४ । ७] (काममूता) कामेन बद्धा कामग्रस्ता-कामवशा "मूङ्" [भ्वादिः] 'मूञ्' क्र्यादिरुभावपि बन्धनेऽर्थे, (बहु-एतत्-रपामि) बहुप्रकारेण हावभावाभ्यामेतद्रपामि-निवेदयामि यत् (मे तन्वा तन्वम्) मम शरीरेण स्वशरीरम् (सम्पिपृग्धि) सम्पृक्तं कुरु-संयोजय ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—हे दिवस ! दैवकृत आपत्ति से शरीर संयोगसंबन्ध में (किम्) क्या अब आप (भ्राता) भाई (असत्) हो गये हो ? (यत्) जिससे इस प्रकार (अनाथम्) आपकी ओर से अनाथता–अपतिपन (भवाति) हो जावे, और जो मैं तेरी पत्नी हूं (किमु) क्या इस समय (स्वसा-असत्) बहिन हो गयी (यत्) जिस से (निर्ऋतिः) बिना संभोग के (निगछात्) दूसरे पुरुष को प्राप्त होवे (काममूता) काम से बंधी हुई (बहु) बहुत प्रकार से हावभाव दर्शाती हुई (एतत्) यह (रपामि) निवेदन करती हूं कि (मे तन्वा तन्वम्) मेरी काया से अपनी काया को (सम्पिपृग्धि) सम्पृक्त कर अर्थात् मिलादे ॥ ११ ॥

भावार्थ—सन्तानोपत्ति या गर्भाधान की स्थापना में असमर्थ स्त्रीपुरुष भाई बहन की भांति रहें ॥ ११ ॥

समीक्षा (सायण भाष्य)—"यस्मिन् भ्रातरि सति स्वसादिकमनाथं नाथरहितं भवाति-भवति स भ्राता किमसत् किं भवति न भवतीत्यर्थः किं च यस्यां भगिन्यां सत्यां भ्रातरं निर्ऋतिर्दुःखं निगच्छात् नियमेन गच्छति प्राप्नोति सा किमु किंवा भवति ।" इस स्थान पर सायण की खींचातान की कोई सीमा नहीं रह गई। 'अनाथम्' क्रियाविशेषण को 'स्वसा' का विशेषण करता है परन्तु 'अनाथम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है और 'स्वसा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है इस लिए 'आदिकम्' शब्द अधिक जोड़कर 'स्वसादिकम्' लिखता है। यहां पर क्या भ्राता के साथ स्वसा से भिन्न–व्यक्ति का भी सम्बन्ध है जो 'आदिकम्' पद अधिक जो[illegible] है ? यदि 'आदिकम्' से 'दुहिता' 'माता' भी सम्बन्ध रखते हैं तब तो भ्राता नहीं होगा अपितु दुहिता के साथ पिता और माता के साथ पुत्र का सम्बन्ध होगा, अतः यह कल्पना निर्बल है। तथा 'वह ऐसा भ्राता न होने के बराबर ही है जिसके होते हुए बहिन अनाथ रहे, यह हेतु भी निरर्थक है क्योंकि वह यम उस यमी को अविवाहित रहने का उपदेश तो दे ही नहीं रहा था। अपितु पूर्व मन्त्र में आज्ञा दे चुका था "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" फिर कैसे इस मिथ्या हेतु की वेद में यह स्थापना है ? इसी प्रकार 'वह बहिन भी कुछ नहीं जिसके होते हुए भाई को दुःख प्राप्त हो', यह हेतु भी अयुक्त है। उस यम को क्या दुःख था ? क्या उसका कोई विवाह नहीं करता था ? अथवा वह महादरिद्र था जिससे उसको दूसरी स्त्री न मिल सकती हो। इन हेतुओं को सामान्य बुद्धि के व्यक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकते । इस प्रकार अपनी कल्पनासिद्धि के लिए सायण को अनावश्यक खींचतान करनी पड़ी ॥ ११ ॥

न वा उ ते तन्वा तन्वं१सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥

न । वै । ऊँ इति । ते । तन्वा । तन्वम् । सम् । पपृच्याम् । पापम् । आहुः । यः । स्वसारम् । निऽगच्छात् । अन्येन । मत् । प्रऽमुदः । कल्पयस्व । न । ते । भ्राता । सुऽभगे । वष्टि । एतत् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—हे रात्रे ! एवमस्तु यद् दैवकृतापत्त्याऽहमिदानीं सम्भोगानर्हत्वान्नियोगस्यानुज्ञां दत्तवान्, अतस्त्वदुक्तवचनानुसारतोऽहं शरीरसंयोगसम्बन्धे भ्राताऽभवं त्वञ्च स्वसाऽभवस्तस्मात् (ते) तव (तन्वा तन्वं न वा-उ सम्पपृच्याम्) शरीरेणाहं स्वकीयशरीरं नैव हि सम्पृक्तं कुर्याम्, यतः (यः स्वसारं निगच्छात्) यः स्वसारं निगच्छेत्, जनास्तम् (पापम्-आहुः) पापं वदन्ति, तस्मात् (सुभगे) हे सुभगे ! त्वम् (मत्-अन्येन) मत्तो भिन्नेन पुरुषेण सह (प्रमुदः) पुत्रोत्पादनयोग्यान् भोगान् (कल्पयस्व) सम्पादय, अहं च यः प्रासङ्गिकः (ते) तव (भ्राता) भ्राता, सः त्वदुक्तम् (एतत्-न वष्टि) एतन्नेच्छति ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—हे रात्रे ! हां ठीक है कि दैवकृत आपद् से इस समय सम्भोग में असमर्थ होने से तथा नियोग की अनुज्ञा दे देने से 'किं भ्राताऽसत्' इस वचनानुसार शरीर संयोग सम्बन्ध में वस्तुतः मैं भ्राता ही हो चुका हूं और तू बहिन हो चुकी है, इसलिए (ते) तेरी (तन्वा) काया के साथ (तन्वम्) अपनी काया को (न वा-उ) बिल्कुल नहीं (सम्पपृच्याम्) मिलाऊँ, क्योंकि (यः) जो (स्वसारम्) बहिन के साथ (निगच्छात्) विषयभोग करे (पापमाहुः) भद्रजन उसको पाप कहते हैं, अतः (सुभगे) हे देवि ! (मत्) मुझ से (अन्येन) भिन्न पुरुष के साथ (प्रमुदः) पुत्रोत्पादन सम्बन्धी भोग (कल्पयस्व) सम्पादन कर, मैं (ते) तेरा (भ्राता) प्रासङ्गिक–प्रसङ्ग प्राप्त भाई (एतत्-न वष्टि) इस तेरे आग्रह किये भोग को नहीं चाहता ॥ १२ ॥

भावार्थ—भाई बहिन का विवाह नहीं होना चाहिए, ऐसा करना पाप है। कदाचित् कोई ऐसा करे भी तो समाज को पाप कहकर उसकी निन्दा करनी चाहिये और उसे रोकना चाहिये। गर्भाधान में असमर्थ पति नियोग की आज्ञा देने के अनन्तर पत्नी के साथ भ्रातासम व्यवहार करे और पुनः उसके द्वारा सम्भोग के लिए आग्रह किये जाने पर दृढ़ता से निषेध कर दे ॥ १२ ॥

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १३ ॥

बतः । बत । असि । यम । न । एव । ते । मनः । हृदयम् । च । अविदाम । अन्या । किल । त्वाम् । कक्ष्याऽइव । युक्तम् । परि । स्वजाते । लिबुजाऽइव । वृक्षम् ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः— (यम) हे दिवस ! (बत) हा ! दुःखं किं कुर्यां यत्त्वम् (बतः-असि) बलादतीतो विवशोऽसि *"बतः—बलादतीतः"* *[निरु० ६ । २८]* कुतः ? दैवकृतबाधकं न कश्चिदपि द्रागपाकर्तुं शक्नोति, तस्मात् (ते) तव (मनः-हृदयं च) मनो हृदयञ्च (न-एव-अविदाम) नालभे 'विद्लृ लाभे तुदादिरुभयतोभाषः', *"अस्मदो द्वयोश्च" [अष्टा० १ । २ । ५९]* इत्यनेनैकस्मिन् बहुवचनम् (अन्या) मद्भिन्ना काचित् स्त्री (किल) हि (कक्ष्या-इव) कक्षगता बन्धनरज्जुरिव (युक्तम्) सम्यक् प्रकारेण (त्वां परिष्वजाते) त्वां परिष्वजेत–आलिङ्गेत् *"लिङर्थे लेट्"* सूत्रेण लेट्, अथ च (लिबुजा-इव वृक्षम्) लता वृक्षं यथा परिष्वजेत ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यम) हे दिवस ! (बत) हा ! दुःख है कि तू (बतः) विवश (असि) है, क्योंकि दैवकृतबाधा को सहसा कोई भी नहीं हटा सकता, इसीलिए (ते) तेरे (मनः) मन (च) और (हृदयम्) वक्षःस्थल को मैंने (न-एव) नहीं (अविदाम) प्राप्त किया (अन्या किल) मुझ से भिन्न कोई भी स्त्री (कक्ष्याइव-युक्तम्) कक्ष—कांख में बंधी पेटी के समान सम्यक् प्रकार से (त्वाम्) तुझ को (परिष्वजाते) आलिङ्गन करे अथवा (लिबु-जा-इव वृक्षम्) जैसे लता वृक्ष को लिपटती है वैसे तुझ से भी लिपटे ॥ १३ ॥

भावार्थ—यदि स्त्री में कोई दोष है जिसके कारण वह सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ है तो उसे भी चाहिए कि वह पति को दूसरी स्त्री से सन्तानोत्पत्ति के लिये अनुमति दे देवे ॥ १३ ॥

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १४ ॥

अन्यम् । ऊँ इति । सु । त्वम् । यमि । अन्यः । ऊँ इति । त्वाम् । परि । स्वजाते । लिबुजाऽइव । वृक्षम् । तस्य । वा । त्वम् । मनः । इच्छ । सः । वा । तव । अध । कृणुष्व । सम्ऽविदम् । सुऽभद्राम् ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमि) हे रात्रे ! (सु) सुष्ठु त्वदुक्तमेतद्वचः, तस्मात् (त्वम्-अन्यम्-उ) त्वमपि, अन्यं पुरुषम् (लिबुजा इव वृक्षम्) वृक्षं यथा लता (परिष्वजाते) परिष्वजेथाः, तथा (अन्यः-उ) अन्यः पुरुषोऽपि (त्वां) परिष्वजाते–परिष्वजेत (त्वं वा) त्वं च *"वा चार्थे पठितः"* [निरु० १ । ४] (तस्य) पुरुषस्य (मनः-इच्छ) मनः कामयस्व (सः-वा) स च (तव) तव मनः कामयताम् (अधा) अनन्तरम् [ऋ० १ । ७२ । ७ दयानन्दस्तथा च सायणः] एवं जाते सति (संविदम्) नियोगरूपां प्रतिज्ञाम् (सुभद्राम्) सुसुखाम् (कृणुष्व) पूरय 'संवित्–प्रतिज्ञा *" संविदा देयम्" [तैति-उप०]* ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यमि) हे रात्रे ! (सु) हां तेरा पूर्वोक्त वचन ठीक है, अतः (त्वम्) तू भी (अन्यम् उ) अन्य पुरुष को (लिबुजा-इव वृक्षम्) लता की नाईं वृक्ष को आलिङ्गन कर

तथा (अन्य उ) वह अन्य पुरुष भी (त्वाम्) तुझको (परिष्वजाते) आलिङ्गन करे (त्वं वा) और तू (तस्य) उस पुरुष के (मनः) मन को (इच्छ) चाह (सः-वा) और वह पुरुष (तव) तेरे मन की चाह करे (अधा) इस के अनन्तर (संविदम्) नियोग रूप प्रतिज्ञा को (सुभद्राम्) अच्छे कल्याणयुक्त अर्थात् सुसन्तान वाली (कृणुष्व) बना ॥ १४ ॥

भावार्थ—सन्तानोपत्ति में असमर्थ होते हुए भी यदि वैराग्यवशात् या परोपकार-कार्यवशात् नियोग न करें और संयम से रहें तो यह अनूचित नहीं अपितु अधिक अच्छा है ॥ १४ ॥



एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिर्हविर्धानः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, २, ६ निचृज्जगती । ३-५ विराड् जगती । ७-९ त्रिष्टुप् ॥

स्वरः—१-६ निषादः । ७-९ धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्तेऽग्निशब्देन सूर्यपरमात्मानौ गृह्येते प्रधानतयाऽध्यात्मराष्ट्रसमृद्धिविषयकप्रकारश्चोपदिश्यते ।

इस सूक्त में अग्नि शब्द से सूर्य परमात्मा गृहीत हैं और प्रधानता से अध्यात्म-राष्ट्र-समृद्धि विषयक प्रकार उपदिष्ट है ।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजतु यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १ ॥

वृषा । वृष्णे । दुदुहे । दोहसा । दिवः । पयांसि । यह्वः । अदितेः । अदाभ्यः । विश्वम् । सः । वेद । वरुणः । यथा । धिया । सः । यज्ञियः । यजतु । यज्ञियान् । ऋतून् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यह्वः) महान् *"यह्वो महन्नाम"* [निघ० १ । ३] (अदाभ्यः) अहिंसनीयः (वृषा) सुखवृष्टिकर्त्ता परमात्मा सूर्यो वा (वृष्णे) राष्ट्रे सुखवर्षकाय राजन्याय-राज्ञे *"वृषा वै राजन्यः"* [ता० ६ । १० । ६] देहे सुखवर्षकाय मनसे *"वृषा हि मनः"* [श० १ । ४ । ४ । ३] वृष्टिकर्त्रे पर्जन्याय मेघाय वा *"वृषा पर्जन्यः"* [तै० सं० २ । ४ । ६ । ४] (अदितेः-दिवः) अनश्वरान्मोक्षादमृतधामतः *"त्रिपादस्यामृतं दिवि"* [ऋ० १० । ६० । ३] द्युलोकादाकाशाद्वा (पयांसि) आनन्दरसान्, जलानि जलांशान् वा (दोहसा दुदुहे) दोहनसामर्थ्येन दोग्धि प्रपूरयति (सः) परमात्मा सूर्यो वा (वरुणः) वरयिता सन् (विश्वं वेद) सर्वं ह्यास्तिकमनो नास्तिकमनो वेत्ति सर्वं जगत्-पृथिवीप्रदेशान् लभते (यथा) यथा खलु (सः-यज्ञियः) स सङ्गमनधर्मा (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (यज्ञियान्-ऋतून् यजतु) सङ्गमनीयानृतून्-अवसरान् 'अत्यन्तसंयोगे

द्वितीया" [अष्टा० २ । ३ । ५] उपासकान् सुखेन सह, जडजङ्गमान् जडेन सह वा सङ्गमयतु ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ— (यह्वः) महान् (अदाभ्यः) अहिंसनीय (वृषा) सुखवृष्टिकर्त्ता परमात्मा या सूर्य (वृष्णे) देह में सुखवर्षक मन के लिए, राष्ट्र में सुखवर्षक राजा के लिए, पृथिवी पर जलवर्षक मेघ के लिये (अदितेः-दिवः) अनश्वर मोक्षधाम से, (पयांसि) आनन्दरसों को, जलों, जलांशों–जलकणों को (दोहसा दुदुहे) दोहनसामर्थ्य से दोहता है (सः) परमात्मा या सूर्य (वरुणः) वरयिता होता हुआ (विश्वं वेद) सब आस्तिकमन नास्तिकमन, सब न्यायकारी अन्यायकारी राजा को जानता है; या सब जगत्–पृथिवीप्रदेशों को प्राप्त हुआ (यथा) जसा ही (सः-यज्ञियः) वह सङ्गमनीय (धिया) प्रज्ञा द्वारा या कर्म द्वारा (यज्ञियान्-ऋतून् यजतु) सङ्गमनीय अवसरों पर आस्तिकजनों को सुख के साथ, जड़जङ्गमों को जड़ के साथ सङ्गति करावे–कराता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सुखवृष्टिकर्त्ता महान् परमात्मा आस्तिक व नास्तिक मन वालों को तथा न्यायकारी या अन्यायकारी राजाओं को जानता है–वह सर्ववेत्ता है । अपने धाम–मोक्षधाम से आनन्दरसों की वृष्टि करता है, अपनी सर्वज्ञता से यथावसर सङ्गमनीय है, वह अपना समागमलाभ देता है । सूर्य महान् पिण्ड सब प्रदेशों पर प्रखरताप से प्राप्त हुआ मेघ में जलांशों को भरता है, वही ऋतुओं का प्रसार करने वाला है, सङ्गमनीय है ॥ १ ॥

रपद्गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥२॥

रपत् । गन्धर्वीः । अप्या । च । योषणा । नदस्य । नादे । परि । पातु । मे । मनः । इष्टस्य । मध्ये । अदितिः । नि । धातु । नः । भ्राता । नः । ज्येष्ठः । प्रथमः । वि । वोचति ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(गन्धर्वीः) सुखवृष्टिप्रसङ्गे मानसी वृत्तिः "मनो गधर्व्वः" [श० ६ । ४ । १ । १२] यद्वा गां पृथिवीं धारयति स गन्धर्वः–सूर्यः [श० ८ । ४ । १ । ८] राजा वा तच्छक्तिः (अप्या) आपनशीला–व्यापनशीला, अन्तरिक्षभवा विद्युत् "आपः–अन्तरिक्षनाम" [निघ० १ । ३] (च) तथा (योषणा) मिश्रणशीला विषये यद्वा राष्ट्रे मेघे वा (रपत्) परमात्मानं स्तौति, राजानं राजनीतिं घोषयति, गर्जति (नदस्य नादे) नदनीयस्य स्तोतव्यस्य स्तवने "नदति–अर्चतिकर्मा" [निघ० ३ । १४] यद्वा घोषणीयस्य घोषणे, गर्जनीयस्य गर्जने (मे मनः-परिपातु) मम मनोभावं कामं परिरक्षतु–परिपूरयतु (अदितिः-इष्टस्य मध्ये नः-निदधातु) 'अदितिः–षष्ठीस्थाने प्रथमा व्यत्ययेन', अखण्डनीयस्यानश्वरस्याभीष्टस्य मोक्षस्य, अखण्डराष्ट्रस्य, पार्थिवस्यान्नादिभोगस्य मध्येऽस्मान् स परमात्मा सूर्यो वा नितरां निरन्तरं स्थापयतु (प्रथमः-ज्येष्ठः-भ्राता नः-विवोचति) प्रतमः-

प्रकृष्टतमः श्रेष्ठो भरणकर्त्ता परमात्मा विशिष्टं वदति-स्वीकारवचनं ब्रवीति-अस्मान् स्वीकरोति, स सूर्यो विवाचयति-वाक्शक्तिं प्रयच्छति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(गन्धर्वीः) सुखवृष्टिप्रसङ्ग में मानसीवृत्ति या पृथिवी को धारण करने वाले राजा की या सूर्य की शक्ति (अप्या) जगत् में व्यापने वाली या राष्ट्र में व्यापने वाली या अन्तरिक्ष में—आकाश में और मेघ में होने वाली विद्युत् (योषणा) मिश्रणशील विषयों में जाने वाली या राष्ट्र में फैलने वाली, मेघ में मिलने वाली (रपत्) परमात्मा की स्तुति करती है, गरजती—कड़कती है (नदस्य नादे) स्तुतियोग्य के स्तुतिवचन में, घोषणीय के घोषण में, गर्जनीय के गर्जन में (मे मनः-परिपातु) मेरे मनोभाव—कामना को परिपूर्ण करे (अदितिः--इष्टस्य मध्ये नः-निदधातु) अनश्वर मोक्ष के मध्य, अच्छिन्न राष्ट्र के अन्दर, पृथिवीप्रदेश के मध्य वह परमात्मा, राजा, सूर्य निरन्तर स्थापित करे (प्रथमः-ज्येष्ठः-भ्राता नः-विवोचति) प्रकृष्टतम महान् भरणपोषणकर्त्ता परमात्मा, राजा, सूर्य हमें स्वीकार करता है, विशेषरूप से शासित करता है, वाणी शक्ति को प्रदान करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मन की व्यापनशील मनोवृत्ति परमात्मा से मिलाने वाली है, राजा की राष्ट्र में फैली राजनीति-न्यायनीति भी परमात्मा से मिलाने वाली होती है। सूर्य में व्याप्त अग्नि ही विद्युत् रूप में मेघ में दृष्टिगोचर होती है। परमात्मा के स्तवन से, घोषणीय राजा की घोषणा से, मेघ की गर्जना से, मानव के मनोभाव पूर्ण होते हैं। अनश्वरमोक्ष में विराजमान होना, अच्छिन्न राष्ट्र में रहना, सतत पार्थिव अन्नादि भोगों से तृप्त होना, साथ ही परमात्मा द्वारा हमें स्वीकार करना, राजा द्वारा शुभवचन—अभयवचन देना, मेघ का वाक्शक्ति देना आदि सुख हमारे लिये सदैव बने रहें ॥ २ ॥

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥ ३ ॥

सो इति । चित् । नु । भद्रा । क्षुऽमती । यशस्वती । उषाः । उवास । मनवे । स्वः॑ऽवती । यत् । ईम् । उशन्तम् । उशताम् । अनु । क्रतुम् । अग्निम् । होतारम् । विदथाय । जीजनन् ॥ ३॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सा-चित्-उ नु) सा खल्वपि सद्यः *"नु क्षिप्रनाम"* [*निघ० २ । १५*] (भद्रा) भजनीया; भागवती *"भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयम्"* [*निरु० ४ । ९*] (क्षुमती) प्रशस्यान्नवती *"क्षु--अन्ननाम"* [*निघ० २ । ७*] (यशस्वती) कीर्तिमती (स्वर्वती) सुखवती (उषाः-मनवे-उवास) कमनीया प्रतिभा प्रादुर्भवति, राष्ट्रभूमिः कामयमाना प्रजा वा सम्भवति, मनवे-आस्तिकमनस्विने विदुषे *"विद्वांसस्ते मनवः"* [*श० ८ । ६ । ३ । १८*] प्रजापालकाय राज्ञे वा *"प्रजापतिर्वै मनुः"* [*श० ६ । ६ । १ । १९*] (यत्-ईम्) यदा हि (उशताम्-उशन्तं क्रतुं होतारम्-अग्निम्-अनु) कामयमानानां कामयमानं कर्त्तारं सुखदातारं ज्ञानप्रकाशकं परमात्मानमानुकूल्येन (विदथाय) वेदनाय

स्वात्मनि भावनाय "तज्जपस्तदर्थभावनम्" [योग० ....] "विदथा वेदनेन" [निरु० ३ । १२] (जीजनन्) प्रादुर्भावयन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(सा चित्-उ नु) वह भी तुरन्त (भद्रा) भजनीया (क्षुमती) प्रशस्त अन्नादिभोग देने वाली (यशस्वती) यश कीर्ति प्राप्त कराने वाली (स्ववंती) सुखवाली-सुखदेनेवाली (उषाः) कमनीया प्रतिभा, कमनीया राष्ट्रभूमि या प्रजा (मनवे) आस्तिक मनस्वी विद्वान् के लिए या प्रजापालक राजा के लिये (उवास) प्रादुर्भूत होती है या सम्पन्न होती है (उशताम्-उशन्तम्) कामनाकरने वालों के-चाहने वालों के कामनाकरनेवाले-चाहने वाले-(क्रतुं होतारम्-अग्निम्-अनु) जगत्कर्ता सुखदाता ज्ञानप्रकाशक परमात्मा को अनुकूलता से (विदथाय) स्वात्मा में उस ओ३म् का जप अर्थ भावन द्वारा भावित करने के लिए (जीजनन्) प्रादुर्भूत करते हैं-साक्षात् करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—आस्तिक की मानसवृत्ति प्रतिभा, न्यायकारी राजा की राष्ट्रभूमि या प्रजा, परमात्मा की कृपा से उसके लिए शीघ्र अच्छी सेवनीया व दिव्यभोग देने वाली, यशस्करी, सुख पहुंचाने वाली हो जाती है। परमात्मा को चाहने वाले को सुखदाता परमात्मा भी चाहता है। उपासक जन उसके अनुकूल चलने से, उसे स्वात्मा में अनुभव करने से, साक्षात् करते हैं ॥ ३ ॥

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषितः श्येनो अध्वरे ।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥ ४ ॥

अध । त्यम् । द्रप्सम् । विऽभ्वम् । विऽचक्षणम् । विः । आ । अभरत् । इषितः । श्येनः । अध्वरे । यदि । विशः । वृणते । दस्मम् ॥ आर्याः । अग्निम् । होतारम् । अध । धीः । अजायत ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अनन्तरम् (त्यं विभ्वं विचक्षणं द्रप्सम्) तं महान्तं सावधानकर्त्तारं प्रकाशरूपं हर्षकरं मोक्षपदम् "दृप् हर्षे" [दिवा०] ततः सः प्रत्यय औणादिकः, तथा महान्तं सावधानतया रक्षणीयं पार्थिवं पृथिवीपतिपदम् "द्रप्सं पार्थिवं भूगोलम्" [यजु० १३ । २ दयानन्दः] (अध्वरे) अध्यात्मयज्ञे, राजसूययज्ञे (विः-श्येनः-दूषितः-आभरत्) अर्चयिता-स्तुतिकर्त्ता "वेति-अर्चति कर्मा" [निघ० २ । ६] शंसनीयगतिकः-पुण्यवान्-इन्द्रः-आत्मा "इन्द्रो वा एतेन साम्ना श्येनो भूत्वा असुरानपवयत्" [जै० ३ । १५८] परमात्मना प्रेरितः-आसमन्ताद् धारयति (यदि दस्मम् -अग्निं होतारम्-आर्याः-विशः-वृणते) यदा हि दर्शनीयं ज्ञानप्रकाशकं परमात्मानं सर्वसुखदातारं वा श्रेष्ठा उपासका जनाः प्रजा वा सम्भजन्ति वरयन्ति वा (अध धीः-अजायत) अनन्तरं स परमात्माऽऽस्तिकानां राजा वा प्रजानामाधारः "धीङ्-आधारे" [दिवादिः] अजायत-प्रसिद्धो भवति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध) अनन्तर (त्यं विभ्वं विचक्षणं द्रप्सम्) उस महान् सावधान करने वाले प्रकाशरूप हर्षप्रद मोक्षपद को या उस महान् सावधानता से रक्षणीय पृथिवीपतिपद-

राजपद को (अध्वरे) अध्यात्मयज्ञ में या राजसूय यज्ञ में (विः-श्येनः-इषितः-आभरत्) अर्चना करनेवाला—स्तुतिकर्त्ता प्रशंसनीयगतिप्रवृत्तिवाला पुण्यवान् आत्मा या राजा परमात्मा से प्रेरित हुआ (यदि दस्मम्-अग्निं होतारम्-आर्याः-विशः-वृणते) जब दर्शनीय सुखदाता ज्ञानप्रकाशक परमात्मा या राजा को श्रेष्ठ मानव या प्रजाजन उपासित करते हैं या वरते हैं (अध धीः-अजायत) अनन्तर वह परमात्मा उपासक जनों या प्रजाजनों का आधार प्रसिद्ध होता है ।। ४ ।।

भावार्थ—उपासक आत्मा अध्यात्म यज्ञ में प्रशंसनीय प्रवृत्तिवाला होकर ईश्वर से प्रेरित हुआ महान् हर्षप्रद मोक्षपद को प्राप्त करता है । जब दर्शनीय सुखदाता परमात्मा की उपासक उपासना करते हैं तो वह उनका आधार होकर उनके अन्दर साक्षात् होता है । राजा राजसूययज्ञ में प्रशंसनीय गतिप्रवृत्तिवाला होकर परमात्मा से प्रेरित हुआ भूपतिपद—राजपद को प्राप्त करता है ।। ४ ।।

सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव पु॒ष्यते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः ।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यं१ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑प॒यासि॒ भूरि॑भिः ॥५॥

सदा॑ । अ॒सि॒ । र॒ण्वः । यव॑साऽइव । पुष्य॑ते । होत्रा॑भिः । अ॒ग्ने॒ । मनु॑षः । सु॒ऽअ॒ध्व॒रः । विप्र॑स्य । वा॒ । यत् । श॒श॒मा॒नः । उ॒क्थ्य॑म् । वाज॑म् । स॒स॒ऽवान् । उ॒प॒ऽयासि॑ । भूरि॑ऽभिः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (यवसा इव पुष्यते सदा रण्वः-असि) स्वात्मनः पोषणं कुर्वते पशवे यथा यवसानि भक्ष्यतृणानि रमणीयानि रोचकानि सन्ति तथा त्वं रण्वो रमणीयोऽसि खल्वस्मभ्यम्, यतः (होत्राभिः-मनुषः-स्वध्वरः) वाग्भिः-वेदवाग्भिरुपदेशवचनैः *"होत्रा वाङ्नाम"* **[** *निघ० १ ।११* **] मनुष्यस्य राजजनस्य** *"मनुषः-मनुष्यस्य"* **[** *निरु० ८ । ५* **] शोभनो राजसूययज्ञो सिध्यति तथाभूतोऽसि (विप्रस्य वा यत्-उक्थ्यं शशमानः) स्वां स्वात्मसमर्पणेन विशिष्टतया प्रणयितुश्च** *"वा समुच्चयार्थः"* **[** *निरु० १ । ५* **] यत्राऽस्तिकमनस्त्वतः स्तुतिवचनं प्रशंसमानः** *"शशमानः शंसमानः* **[** *निरु० ६ । ८* **] अभिप्रीयमाणः स्वीकुर्वन् (वाजं ससवान्) अमृतभोगं सम्भावयन्** *"अमृतोऽन्नं वै वाजः"* **[** *जं० २ । १९३* **] (भूरिभिः-उपयासि) बहुभिः कृपाभावै रक्षाभिर्वा तमुपगच्छसि—प्राप्नोषि ।। ५ ।।**

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (यवसा-इव पुष्यते सदा रण्वः-असि) अपना पोषण करते हुए पशु के लिए जैसे घासतृण रमणीय रोचक होते हैं वैसे तू हमारे लिए सदा रमणीय है—रोचक है, क्योंकि तू (होत्राभिः-मनुषः-स्वध्वरः) वेदवाणियों द्वारा मनुष्यों का, शोभन राजसूय यज्ञ का आधार है (विप्रस्य वा यत्-उक्थ्यं शशमानः) स्वात्मसमर्पण द्वारा विशेषरूप से तृप्त करने वाले, आस्तिकमनवाले उपासक का भी स्तुतिवचन को प्रसन्न—पसन्द करने वाला तू, स्वीकार करता हुआ (वाजं ससवान्) अमृतभोग को देने के हेतु (भूरिभिः-उपयासि) बहुत प्रकारों से बहुत रक्षाओं के साथ पास आता है—प्राप्त होता है ।। ५ ।।

भावार्थ—जैसे बुभुक्षित पशु के लिए घास रमणीय–प्रिय–प्यारा होता है, ऐसे ही आस्तिक मन वाले के लिए वेदवाणियों द्वारा तू प्रिय है। परमात्मा स्तुति करने वालों का व राजसूय यज्ञ का आधार है। स्वात्मसमर्पण द्वारा तृप्त करने वाले स्तुतिवचनों को वह पसन्द करता है और अनेक प्रकार से उपासकों की रक्षा करता है ॥ ५ ॥

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति ।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती ॥ ६ ॥

उत् । ई॒र॒य॒ । पि॒तरा॑ । जा॒रः । आ । भग॑म् । इय॑क्षति । ह॒र्य॒तः । हृ॒त्तः । इ॒ष्य॒ति॒ ।
विव॑क्ति । वह्निः॑ । सु॒ऽअ॒प॒स्यते॑ । म॒खः । त॒वि॒ष्यते॑ । असु॑रः । वेप॑ते । म॒ती ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भगम्-उदीरय) अग्ने ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! भगमध्यात्मयज्ञं राजसूययज्ञम् *"यज्ञो वै भगः"* [*श० ६ । १ । १ । १९*] ऊर्ध्वं नय–समृद्धं कुरु (जारः-आ पितरा) यथा जारः–रात्रेर्जरयिता सूर्यः–द्यावापृथिव्यौ स्वतेजसा–आपूरयति (हर्यतः-हृत्तः-इयक्षति-इष्यति) एष आस्तिकमनस्वी राजा वा हर्तुं योग्यं हर्यं मनस्तस्माद् यष्टुमिच्छति, हृत्तो हृदयाच्चेच्छति (वह्निः) अध्यात्मभावं वहमानः–आस्तिकमनस्वी, राष्ट्रं प्रजां वा वहमानो राजा (विवक्ति) त्वां परमात्मानं नियमेन प्रार्थयते (स्वपस्यते) सम्यक् कर्माचरति (मखः-तविष्यते) यज्ञोऽध्यात्मयज्ञो राजसूययज्ञो वा समृद्ध्यते *"यज्ञो वै मखः"* [*तै. ३ । २ । ८ । ३*] (मती-असुरः-वेपते) ततः मत्या विमत्या–आसुरः दुर्विचारोऽनृतभावः दुर्विचारवान् दुष्टो जनो वा *"अनृतेनासुरान्"* [*का० ६ । ११*] वेपते–कम्पते–पलायते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(भगम्-उदीरय) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! इस अध्यात्मयज्ञ या राजसूययज्ञ को उन्नत कर (जारः-आ पितरा) रात्रि का जरण करने वाला सूर्य जैसे अपने तेज को द्यावापृथिवी के प्रति पृथिवी से लेकर द्युलोक तक पहुंचाता है (हर्यतः-हृत्तः-इयक्षति-इष्यति) यह आस्तिकमनवाला या राजा हरने योग्य मन से यज्ञ करना चाहता है और हृदय से चाहता है (वह्निः) अध्यात्मयज्ञ को वहन करने वाला आस्तिकमनवाला या राष्ट्र तथा प्रजा को वहन करने वाला राजा (विवक्ति) तुझ परमात्मा से नियम से प्रार्थना करता है (स्वपस्यते) सम्यक् कर्माचरण करता है (मखः-तविष्यते) अध्यात्मयज्ञ तथा राजसूययज्ञ समृद्ध होता है (मती-असुरः-वेपते) तब मति से–स्वविपरीत मति से अनृतभाव दुर्विचार या असत्याचरण करने वाला दुष्टजन कांपता है–भाग जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—आस्तिकमनवाले तथा प्रजापालक राजा के अध्यात्मयज्ञ और राजसूय को परमात्मा समृद्ध करता है, उसके पास से दुर्भाव मिट जाता है, दुष्ट अत्याचारी भी नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

यस्ते॑ अग्ने सुम॒तिं मर्तो॒ अक्ष॒त्सह॑सः सूनो अति॒ स प्र शृ॑ण्वे ।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान्भूषति॒ द्यून् ॥ ७ ॥

यः । ते । अग्ने । सुऽमतिम् । मर्तः । अक्षत् । सहसः । सूनो इति । अति । सः । प्र । शृण्वे । इषम् । दधानः । वहमानः । अश्वैः । आ । सः । द्युऽमान् । अमऽवान् । भूषति । द्यून् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सहसः सूनो-अग्ने) ओजसोऽध्यात्मबलस्योत्पादक परमात्मन् ! (ते) तव (सुमतिम्) कल्याणीं वाचं वेदवाचम् *"वाग्वै मतिः" [श० ८ । १ । २ । ७]* (यः-मर्तः-अक्षत्) यो मनुष्यः–अश्नुते स्वात्मनि धारयति (सः-अति प्रशृण्वे) सोऽति प्रश्रुतवान्–अध्यात्मगुणसम्पन्नो भवति, अथ च (इषं दधानः) कामनानुरूपं भोगं धारयन् प्राप्नुवन् सन् (सः-अश्वैः-वहमानः) सः–व्याप्तिशीलैः किरणैः *"अश्वाः व्याप्तिशीलाः किरणाः" [ऋ० ३ । ६ । ८ दयानन्दः]* प्रशस्तेन्द्रियैः, विद्युदादिभिराशुगामिभि-र्वहमानः प्राप्यमाणः (द्युमान्-अमवान्-आ द्यून् भूषति) तेजस्वी–आत्मवान् *"अमवान्.... आत्मवान्" [निरु. ६ । १२]* यावज्जीवनदिनानि स्वात्मानमलङ्करोति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सहसः सूनो-अग्ने) हे ओज–अध्यात्म–तेज के उत्पादक परमात्मन् ! (ते) तेरी (सुमतिम्) कल्याणी वेदवाणी को (यः-मर्तः-अक्षत्) जो मनुष्य अपने अन्दर समा लेता है (सः-अति प्रशृण्वे) वह अत्यन्त अध्यात्मगुणसम्पन्न हो जाता है, और (इषं दधानः) कमनीय भोगों को धारण करता हुआ–प्राप्त करता हुआ (सः-अश्वैः-वहमानः) वह व्याप्तिशील सूर्यकिरणों द्वारा, प्रशस्त इन्द्रियों द्वारा वहन किया जाता हुआ आस्तिक मन वाला, विद्युदादि यानों द्वारा वहन किया जाता हुआ राजा (द्युमान्-अमवान्-आ द्यून् भूषति) तेजस्वी आत्मवान् होता हुआ अपने को भूषित करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की वेदवाणी को अपने अन्दर आचरित कर लेता है वह तेजस्वी तथा अध्यात्मगुणों से सम्पन्न हो जाता है तथा वह कमनीय भोगों को प्राप्त करता हुआ प्रशस्त इन्द्रियों वाला होकर अपने को भूषित करता है । इसी प्रकार राजा भी विद्युदादि वाहनों से युक्त होकर भूषित होता है ॥ ७ ॥

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद्विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥ ८ ॥

यत् । अग्ने । एषा । सम्ऽइतिः । भवाति । देवी । देवेषु । यजता । यजत्र । रत्ना । च । यत् । विऽभजासि । स्वधाऽवः । भागम् । नः । अत्र । वसुऽमन्तम् । वीतात् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यजत्र-अग्ने) हे यजनीय सङ्गमनीय परमात्मन् 'यज् धातोः–अत्रन् प्रत्ययः' [उणा० ३ । १०५] (यद्) यदा (यजता देवेषु) यजनीयेषु सङ्गमनीयेषु–इन्द्रियेषु विद्वत्सु वा 'यज्धातोः–अतच् प्रत्ययः' [३ । ११०] (समितिः-देवी भवाति) तव सङ्गतिः सङ्क्रान्तिर्देवी जायते (यत्-अत्र) यतोऽत्र तदा (स्वधावः) हे

रसवन् परमात्मन्! *"स्वधायै त्वा रसाय त्वेत्येतत्"* [श० ५ । ४ । ३ । ७] अन्नदाता वा *"स्वधा–अन्ननाम"* [निघ० २ । ७] त्वम् (रत्ना च विभजासि) रमणीयानि सुखानि वसूनि वा वितरसि (नः-वसुमन्तं भागं वीतात्) अस्माकं धनवन्तं भागमंशं प्रापय ॥८॥

भाषान्वयार्थ—(यजत्र-अग्ने) हे यजनीय सङ्गमनीय परमात्मन्! (यत्) जब (यजता देवेषु) यजनीय सङ्गमनीय इन्द्रियों में या सङ्गमनीय विद्वानों में (समितिः-देवी भवाति) तेरी दिव्या सङ्गति–सङ्क्रान्ति हो जाती है (यत्–अत्र) जिससे यहां तब (स्वधावः) हे आनन्द रसवाले या अन्नदाता परमात्मन्! (रत्ना विभजासि) रमणीय सुखों या वस्तुओं को देता है (नः) हमारे (वसुमन्तं भागं वीतात्) धनवाले भाग को प्राप्त करा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब सङ्गमनीय परमात्मा की समागम धारा इन्द्रियो में आ जाती है तो आस्तिक मनस्वी को रमणीय सुख प्राप्त हो जाते हैं। मोक्ष में बसाने वाला धन भी मिल जाता है, ऐसे सङ्गमनीय परमात्मा की समागमप्रतीति राष्ट्र के विद्वानों में पहुंच जाती है तो राजा को रत्न और अन्न प्रचुर प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

श्रुधी नो॑ अग्ने॒ सद॑ने स॒धस्थे॑ यु॒क्ष्वा रथ॑म॒मृत॑स्य द्र॒वि॒त्नुम् ।
आ नो॑ वह॒ रोद॑सी दे॒वपु॑त्रे॒ माकि॑र्दे॒वाना॒मप॑ भू॒रि॒ह स्याः ॥ ९ ॥

श्रु॒धि । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सद॑ने । स॒धऽस्थे॑ । यु॒क्ष्व । रथ॑म् । अ॒मृत॑स्य । द्र॒वि॒त्नुम् । आ । नः॒ । व॒ह॒ । रोद॑सी॒ इति॑ । दे॒वपु॑त्रे॒ इति॑ दे॒वऽपु॑त्रे । माकि॑ः । दे॒वाना॑म् । अप॑ । भूः॒ । इ॒ह । स्याः॒ ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन्! (सधस्थे सदने) आवयोः समागमस्य सहस्थाने–हृद्गृहे–आगत्य (नः-श्रुधि) अस्माकं प्रार्थनावचनं शृणु–स्वीकुरु (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युक्ष्व) अमृतस्यानन्दस्य द्रावकं स्रावकं रथं रमणीयमात्म-स्वरूपं मयि योजय *"रथः–रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा"* [*निरु. ९ । ११*] अन्तर्गतणिजर्थः (देवपुत्रे रोदसी नः-आवह) परमात्मनो देवस्य दुहितराविव रोदसी रोधसी रोधनकर्त्र्यौ सृष्टिमुक्ती उभे–अभ्युदयनिःश्रेयससाधिके *"देवपुत्रे देवस्य परमात्मनः पुत्रवद्वर्तमाने"* [*ऋ० १ । १८५ । ४ दयानन्दः*] अस्मभ्यं प्रापय (देवानां माकिः- अपभूः) आस्तिकमनस्विनामस्माकं मध्यतः कश्चित् त्वदसङ्गत्योऽभ्युदयनिः–श्रेयसाभ्यां पृथगर्थाद् वञ्चितो न भवेत् (इह स्याः) तथा त्वमत्र हृदये साक्षाद् भव ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन्! (सधस्थे सदने) हमारे तुम्हारे समागम के सहस्थान–हृदय में (नः श्रुधि) हमारे प्रार्थनावचन को सुन–स्वीकार कर (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युक्ष्व) अमृत–आनन्द के द्रवित करने–रिसाने वाले अपने रमणीय स्वरूप को मेरे में युक्त कर (देवपुत्रे रोदसी नः- आवह) तुझ परमात्मदेव की पुत्रियों–सृष्टि और मुक्ति अभ्युदय निःश्रेयस साधने वाली को हमारे लिए प्राप्त करा (देवानां माकिः-अपभूः) हम देवों–आस्तिक

मनस्वीजनों में से कोई भी अभ्युदय और निःश्रेयस से पृथक् न हो—वञ्चित न हो (इह स्याः) वैसें तू यहां हृदय में साक्षात् हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—आस्तिक मनवाले उपासक जन की प्रार्थना को परमात्मा सुनता—स्वीकार करता है। जब कोई हृदय में श्रद्धा और ध्यान द्वारा परमात्मा का स्मरण करता है वह अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है कोई भी आस्तिक मन वाला अभ्युदय निःश्रेयस से वञ्चित नहीं रहता है ॥ ६ ॥



द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिर्हविर्धानः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, ३ विराट् त्रिष्टुप् । २, ४, ५, ७ निचृत् त्रिष्टुप् । ६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ९ त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१–९ धैवतः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्तेऽग्निशब्देन परमात्मा विद्वान् पुरोहितो राजा चोच्यन्ते मोक्षराजधर्मौ च विषयौ प्रतिपाद्येते ।

इस सूक्त में अग्निशब्द से परमात्मा विद्वान् पुरोहित और राजा कहे हैं, तथा मोक्ष तथा राजधर्म विषय प्रतिपादित हैं ।

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान्यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् ॥ १ ॥

द्यावा । ह । क्षामा । प्रथमे इति । ऋतेन । अभिऽश्रावे । भवतः । सत्यऽवाचा । देवः । यत् । मर्तान् । यजथाय । कृण्वन् । सीदत् । होता । प्रत्यङ् । स्वम् । असुम् । यन् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः – (ऋतेन-सत्यवाचा-अभिश्रावे) ज्ञानेन सत्यवचनेन च खल्वभितः श्रावयितुं यद् वा बोधयितुं (प्रथमे ह द्यावाक्षामा भवतः) अवश्यं प्रारम्भिकौ मातापितरौ, प्रकृष्टतमौ राजराज्यौ वा स्तः (देवः) परमात्मदेवः-विद्वान् पुरोहितो वा (मर्तान् यजथाय यत् कृण्वन्) मनुष्यान् प्रजाजनान् यज्ञानुष्ठानाय सबोधान् कुर्वन्, राजसूययज्ञाय समुद्यतान् कुर्वन् (होता सीदत्) ज्ञानग्राहयिता परमात्मा प्रथमजनानां हृदये सीदति पुरोहितो वा वेद्यां तिष्ठति (प्रत्यङ् स्वम्-असुं यन्) साक्षात् स्वीयं प्राणमात्मभावं प्राप्नुवन् ॥ १ ॥

भाषान्वार्थ—(ऋतेन सत्यवाचा-अभिश्रावे) ज्ञान और सत्यवचन से सब पर प्रसिद्ध

करने के निमित्त (प्रथमे ह द्यावाक्षामा भवतः) प्रारम्भ सृष्टि में प्रसिद्ध मातापिता या प्रकृष्ट राजा राणी है-(देवः) परमात्मा या पुरोहित (मर्तान् यजथाय यत् कृण्वन्) मनुष्यों को, प्रजाजनों को यज्ञानुष्ठान के लिए या राजसूय यज्ञ के लिए समुद्यत करता हुआ (प्रत्यङ् स्वम्-असुं यन्) साक्षात् अपना प्राण आत्मभावप्राप्त करता हुआ (होता सीदत्) ज्ञानदाता परमात्मा प्रथमजनों ऋषियों के हृदय में प्राप्त होता है या पुरोहित राजसूय वेदि पर बैठता है ॥ १ ॥

भावार्थ— आरम्भसृष्टि के प्रकृष्ट मातापिताओं को ज्ञान और सत्यवाणी द्वारा बोधित कराने के निमित्त परमात्मा उनके हृदय में बैठ अध्यात्म-यज्ञ कराता है तथा श्रेष्ठ राजा राणी को राजसूय कराने के निमित्त विद्वान् पुरोहित अपनाकर वेदि पर बैठता है ॥ १ ॥

देवो देवान्परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥२॥

देवः । देवान् । परिऽभूः । ऋतेन । वह । नः । हव्यम् । प्रथमः । चिकित्वान् । धूमऽकेतुः । सम्ऽइधा । भाःऽऋजीकः । मन्द्रः । होता । नित्यः । वाचा । यजीयान् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवः-देवान् परिभूः) परमात्मदेवः सूर्यादीन् दिव्यगुणान् विदुषः परिभवति, जयशीलो राजा-अन्यजयशीलान् राज्याधिकारिणः परिभवति (नः-हव्यम्-ऋतेन वह) अस्माकमुपासकानां प्रजाजनानां वाऽऽह्वानं प्रार्थनावचनं स्वज्ञानेन सर्वज्ञत्वेन प्रापय-पूरय (प्रथमः-चिकित्वान्) त्वं प्रकृष्टतमश्चेतनावानसि (धूमकेतुः-भाऋजीकः) धूननयोग्यान्-बहिष्कार्यान्-अज्ञानिनः पापिनश्च जनान् केतयिता सूचयिता प्रक्षेप्ता वा प्रसिद्धिदीप्तिकः सर्वतो ज्ञानप्रकाशरूपः (समिधा मन्द्रः) स्वात्मनि सम्यक्-आराधनसाधनसिद्ध्या ज्ञानदीप्त्या स्तुतियोग्यः (नित्यः-होता वाचा यजीयान्) सदा ग्रहीता स्वीकारकर्त्ता सदा स्तुतिवाचा स्तुत्याऽतिशयेन यष्टा फलदाताऽसि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवः-देवान् परिभूः) परमात्मदेव आदि विद्वानों को परिभव करता है—उन्हें उपदेश करता है या विजयशील राजा अन्य जयशील राज्याधिकारियों को शासित करता है (नः-हव्यम्-ऋतेन वह) हम उपासकों के या प्रजाजनों के प्रार्थना वचन को अपने ज्ञान द्वारा अपनी शरण में ले लेता है (प्रथमः-चिकित्वान्) प्रकृष्टतम चेतनावान् या सावधान है (धूमकेतुः-भाऋजीकः) धूनने योग्य अज्ञानी पापियों को बाहिर फेंकने वाला प्रसिद्ध ज्ञानज्योति वाला सर्वत्रज्ञानप्रकाशक (समिधा मन्द्रः) सम्यक् आराधन साधन सिद्धि द्वारा स्तुतियोग्य-उपासनीय है—शरण होने के योग्य है (नित्यः-होता वाचा यजीयान्) सदा स्तुति वचन से स्वीकार करने वाला अत्यन्त सङ्गमनीय है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा आरम्भ-सृष्टि में आदिविद्वानों पर कृपा से परिभूत होता है, उनकी प्रार्थना सुनता—स्वीकार करता है, अज्ञानों को दूर करता है, अपनी प्रसिद्ध दीप्ति होने से चेताता है और उन्हें श्रेष्ठ मार्ग पर चलाता है, नित्य अपनाने वाला है। राजा भी राज्यप्रधान पुरुषों को

शासित करे उनके प्रार्थनीय कथन को सुने अपने ज्ञानप्रकाश से सावधान करे उनकी सत्याचरणशीलता से उनका शरण्य बने ॥ २ ॥

स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३ ॥

स्वावृक् । देवस्य । अमृतम् । यदि । गोः । अतः । जातासः । धारयन्ते । उर्वी इति । विश्वे । देवाः । अनु । तत् । ते । यजुः । गुः । दुहे । यत् । एनी । दिव्यम् । घृतम् । वारिति वाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(गोः-देवस्य) सर्वत्रप्रापणशीलस्य परमात्मदेवस्य (स्वावृक्) निजावर्जितम् 'स्वपूर्वात् वृजी वर्जने, इत्यस्मादाङ्पूर्वात् क्विप्-औणादिकः सर्वलिङ्गः' स्वस्मिन् शाश्वतिकं स्थितम् (अमृतम्) अनश्वरसुखम् (यत्-इ) यतोऽस्ति तस्मात् (उर्वी) द्यावापृथिव्यौ-द्यावापृथिव्योर्मध्ये 'विभक्तिव्यत्ययः' द्यावापृथिवीमये जगति *"उर्वी द्यावापृथिवीनाम" [निघ० ३ । ३०]* (विश्वे देवाः-धारयन्ति) परमात्मनि प्रवेशशीला मुमुक्षवो जीवन्मुक्ताः धारयन्ति (ते तत्-यजुः-अनुगुः) हे परमात्मदेव ! ते तव यजुर्यजनं दानमनुगायन्ति प्रशंसन्ति (यत्-एनी दिव्यं घृतं वाः-दुहे) यथा काचित् नदी *"एन्यो नद्यः" [निघ० १ । १३]* दिव्यं तेजोरूपं जलं वहेदिति तथा त्वममृतं प्रवहसि *"तेजो वै घृतम्" [मै० १ । ६ । ८]* ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(गोः-देवस्य) सर्वत्र व्यापनशील परमात्मदेव का (स्वावृक्) स्वतःप्राप्त (अमृतम्) अनश्वर सुख को (यत्-इ) यतः (उर्वी) द्यावापृथिवीमय जगत् में (विश्वेदेवाः-धारयन्ति) परमात्मा में प्रवेश करने वाले मुमुक्षु जीवन्मुक्त विद्वान् धारण करते हैं-प्राप्त करते हैं (ते तत्-यजुः-अनुगुः) तेरे इस यजनदान को वे अनुरूपगान प्रशंसन करते हैं (यत्-एनी दिव्यं घृतं वाः-दुहे) जैसे कोई नदी दिव्य तेजस्वी जल को दोह रही होती है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सर्वत्र व्याप्त परमात्मा के अपने निजी अनश्वर सुख को जीवन्मुक्त धारण करते हैं। उन्हें ऐसा लगता है जैसे नदी दिव्य जल रिसा रही है। उसे पाकर वे उसका गान स्तवन करते हैं ॥ ३ ॥

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् द्यावोऽसुनीतिमयन्मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ४ ॥

अर्चामि । वाम् । वर्धाय । अपः । घृतस्नू इति घृतऽस्नू । द्यावाभूमी इति । शृणुतम् । रोदसी इति । मे । अहा । यत् । द्यावः । असुऽनीतिम् । अयन् । मध्वा । नः । अत्र । पितरा । शिशीताम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(घृतस्नू) हे तेजसो जलस्य च सम्भाजयितारौ *"घृतस्नूर्घृतसानिन्यः"* [निरु. १२ । ३६] (रोदसी) रोधसी रोधस्वतौ संरक्षकौ *"रोदसी रोधसी रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः"* [निरु. ६ । १] (द्यावाभूमी) सूर्यपृथिव्याविव (पितरा) मातापितरौ ज्ञानप्रकाशजीवनरसप्रदातारौ (वाम्-अर्चामि) युवां स्तौमि—इत्यत्र त्वामग्निं परमात्मानं सूर्यरूपं भूमिरूपं मातृरूपं पितृरूपं ज्ञानप्रकाशदातारं जीवनरसदातारं त्वां स्तौमि (अपः-वर्धाय) कर्मक्षेत्रस्य जीवनस्य वर्धनाय *"अपः कर्मनाम"* [निघ० २ । १] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' (मे शृणुतम्) मम प्रार्थनावचनं शृणु (यत्-अहा द्यावः) यतो हि दिनानि द्युसंलग्नत्वादत्र रात्रयोऽपेक्ष्यन्ते रात्रयश्च (असुनीतिम्-अयन्) प्राणनयनशक्तिं जीवनशक्तिं प्राप्नुवन्तु *"असुनीतिरसून् नयति"* [निरु० १० । ३९] (अत्र) अस्मिन् जीवने (नः) अस्मभ्यम् (मध्वा शिशीताम्) निजमधुरसुखानि 'मध्वा' इत्यात् प्रत्ययः [अष्टा० ७ । १ । ३९] दत्तम्—देहि *"शिशीतिर्दानकर्मा"* [निरु० ५ । २३] ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(घृतस्नू) हे तेज और जल के सम्भाजन कराने वाले (रोदसी) अनर्थों से रोधने—रोकने वाले संरक्षको (द्यावाभूमी) सूर्य और पृथिवी के समान (पितरा वाम्-अर्चामि) मातापिताओ ! तुम्हारी अर्चना स्तुति करता हूं—तुझ माता और पिता रूप परमात्मा की स्तुति करता हूं (अपः-वर्धाय) कर्मक्षेत्र या कर्मसाधन जीवन की वृद्धि के लिए (मे शृणुतम्) मेरे प्रार्थना-वचन को सुनो (यत्) यतः-कि (अहा द्यावः) दिन और रातें (असुनीतिम्-अयन्) प्राणनयन शक्ति—जीवन शक्ति की ओर चलावें प्राप्त करावें (अत्र) इस जीवन में (नः) हमारे लिए (मध्वा शिशीताम्) निज मधुर सुखों को प्रदान करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—माता—पिता बालक को संरक्षण पोषण स्नेह से पालते हैं, परमात्मा भी माता—पिता के समान या सूर्य पृथिवी के समान प्रकाश और स्निग्धरस—दूध पिलाता है। दिन रात का विभागकर्ता वही परमात्मा है ॥ ४ ॥

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ५ ॥

किम् । स्वित् । नः । राजा । जगृहे । कत् । अस्य । अति । व्रतम् । चकृम । कः । वि । वेद । मित्रः । चित् । हि । स्म । जुहुराणः । देवान् । श्लोकः । न । याताम् । अपि । वाजः । अस्ति ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(राजा नः किं स्वित्-जगृहे) ज्ञानप्रकाशेन राजमानः परमात्माऽस्माकं किं हि खलु स्तुतिवचनं स्वीकुर्यात् (अस्य कत्- व्रतम्-अतिचकृम) अस्य किं कथम्भूतं व्रतं कर्म विधानं शासनं वयमत्यन्तं सेवेमहि, इति (कः-विवेद) कश्चन भाग्यशाली धीरो विविच्य वेत्तुमर्हति (जुहुराणः) आहूयमानः (मित्रः-चित्-हि-स्म) स तु मित्र इव हि खलु (श्लोकः-देवान् न याताम्) स स्तुतिश्रवणसमर्थः सत्यस्तुतिसंयुक्तः *"श्लोकः शृणोतेः"* [निरु० ९ । ६] *"श्लोकः सत्यवाक्संपृक्तः"* [यजु० ११ । ५

दयानन्दः] न सम्प्रत्यर्थे, अस्मान्-उपासकान् मुमुक्षून् प्राप्नोति (वाजः-अस्ति) मुमुक्षूणां वाजोऽमृतभोगोऽस्ति *"अमृतोऽन्नं वै वाजः"* [*जै० २ । १९३*] ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(राजा) ज्ञानप्रकाश से राजमान परमात्मा (नः) हमारे (किं स्वित्-जगृहे) किस ही स्तुतिवचन को ग्रहण कर सके—स्वीकार कर सके (अस्य कत्-व्रतम्) इसके किस कर्मविधान शासन को (अतिचक्रम) हम अत्यन्त सेवन करें, यह (कः-विवेद) कोई भाग्यशाली धीर विवेचन करके जान सकता है (जुहुराणः) बुलाया जाता हुआ—प्रार्थित किया जाता हुआ (मित्रः-चित्-हि-स्म) वह तो मित्रसमान ही (श्लोकः-देवान्-न याताम्) स्तुति सुनने में समर्थ सत्यस्तुति से संयुक्त हुआ हम उपासक मुमुक्षुओं को प्राप्त होवे (वाजः-अस्ति) मुमुक्षुओं का अमृतभोग है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा को कौनसा स्तुतिवचन स्वीकार होता है तथा उसके किस कर्मशासन आदेश—उपदेश का आचरण या पालन करना चाहिए यह तो उपासक वीर मुमुक्षु जान सकता है। वह ऐसे मुमुक्षु उपासक का बुलाने स्मरण करने योग्य मित्र है स्तुति को सुनने वाला, स्तुति सुनने में समर्थ, अमृत भोग देने वाला उन्हें प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ६ ॥

दुःऽमन्तु । अत्र । अमृतस्य । नाम । सऽलक्ष्मा । यत् । विषुऽरूपा । भवाति । यमस्य । यः । मनवते । सुऽमन्तु । अग्ने । तम् । ऋष्व । पाहि । अप्रऽयुच्छन् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यद्-अत्र) यदाऽस्मिन् जन्मनि (सलक्ष्मा नाम विषुरूपा भवाति) समानलक्षणा मानवी बुद्धिः खलु विषुरूपा तद्भिन्नरूपा विलक्षणा दैवी बुद्धिः सुसूक्ष्मा भवेत् *"लिङर्थे लेट्"* [अष्टा० ३ । ४ । ६] *"विषुरूपः प्राप्तविद्यः"* [ऋ० ५ । १५ । ४ *दयानन्दः*] तदा (अमृतस्य यमस्य) अमृतस्वरूपस्य जगन्नियन्तुस्तव परमात्मनः (सुमन्तु दुर्मन्तु यः-मनवते) सुगमतया मन्तव्यं दुर्गमतया—कठिनतया मन्तव्यं स्वरूपं निश्चिनोति सः (ऋष्व-अग्ने) हे महान् परमात्मन् । (तम्-अप्रयुच्छन् पाहि) त्वमप्रमाद्यन्—निरन्तरं तं रक्ष—रक्षसि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यद्-अत्र) जब इस जन्म में (सलक्ष्मा नाम विषुरूपा भवाति) समानलक्षणा मानवी बुद्धि उससे भिन्न विलक्षण दैवी मुमुक्षुजनवाली सुसूक्ष्मा बुद्धि हो जावे तो (अमृतस्य यमस्य) अमृतस्वरूप जगन्नियन्ता तुझ परमात्मा के (सुमन्तु दुर्मन्तु) सुगमता से मानने योग्य तथा कठिनता से मानने योग्य स्वरूप को (यः-मन्वते) जो निश्चय कर लेता है, वह (ऋष्व अग्ने) हे महान् परमात्मन् ! (तम्-अप्रयुच्छन् पाहि) उसकी निरन्तर रक्षा करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—उपासक इसी जन्म में अपनी मानवी बुद्धि को दैवी बुद्धि सुसूक्ष्मा बनाकर अमृतस्वरूप परमात्मा के लोकप्रसिद्ध तथा गुह्यस्वरूप को जान लेता है उसकी परमात्मा रक्षा करता है ॥ ६ ॥

यस्मिन्नदेवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते ।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून्परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ॥ ७ ॥

यस्मिन् । देवाः । विदथे । मादयन्ते । विवस्वतः । सदने । धारयन्ते । सूर्ये । ज्योतिः । अदधुः । मासि । अक्तून् । परि । द्योतनिम् । चरतः । अजस्रा ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) मुमुक्षवो विद्वांसः (यस्मिन् विदथे) यस्मिन् वेदने वेदनीये स्वात्मवेदनं यदाश्रयं तस्मिन् वा ज्ञानप्रकाशस्वरूपे परमात्मनि *'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते"* [*छान्दो० ८ । ३ । ४*] इत्युक्तं यथा (मादयन्ते) हर्षमाप्नुवन्ति–आनन्दन्ति तं च (विवस्वतः-सदने धारयन्ते) मनुष्यस्य *"विवस्वन्तो मनुष्याः"* [*निघ० २ । ३*] शरीरे निवसते–आत्मनो हृदयगृहे धारयन्ति, यश्च परमात्मा (सूर्ये ज्योतिः-अदधुः) सूर्ये ज्योतिः–प्रकाशमदधात्–दधाति, 'व्यत्ययेन बहुवचनम्', पूजार्थं वा (मासि-अक्तून्) मासयति मासश्चन्द्रमाः *"एषः-चन्द्रमाः-मासः"* [*जै० २ । ३*] तत्र चन्द्रमसि तद्विरुद्धमन्धकारमन्धकारे दृश्यमानानि व्यक्तानि नक्षत्राणि दधाति (द्योतनिम्-अजस्रा परिचरतः) तौ सूर्याचन्द्रमसौ तं स्वद्योतयितारं निरन्तरं स्वव्यवहारकर्तारौ परितः–आश्रयतः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) मुमुक्षु विद्वान् जन (यस्मिन्-विदथे) जिस वेदनीय-अनुभवनीय में या स्वात्मरूप जिसके आश्रय पर अनुभव करते हैं उस ऐसे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा में (मादयन्ते) हर्ष आनन्द को प्राप्त करते हैं उसे (विवस्वतः-सदने धारयन्ते) मनुष्य के शरीर में में बसने वाले आत्मा के हृदयगृह में धारणकरते हैं, जो परमात्मा (सूर्ये ज्योतिः-मासि-अक्तून्-अदधुः) सूर्य में प्रकाश चन्द्रमा में अन्धकार–अन्धकार में व्यक्त होने वाले नक्षत्रतारों को धारण करता है, उस (द्योतनिम्-अजस्रा परिचरतः) अपने प्रकाशित करने वाले परमात्मा को सूर्य चन्द्रमा निरन्तर परिपूर्णरूप आश्रय कर रहे हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा में ममुक्षुजन आनन्द प्राप्त करते हैं, उसे अपने हृदय में धारण करते हैं । वह सूर्य में प्रकाश चन्द्रमा में अन्धकार एवं चमकने वाले तारों को आश्रित करता है । सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर परमात्मा के आश्रय में रहते हैं । इसी तरह परमात्मा द्वारा उपासक हृदय में प्रकाश तेज और मन में शान्ति प्राप्त करता है ज्ञानविकास करता है ॥ ७ ॥

यस्मिन्देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥ ८ ॥

यस्मिन् । देवाः । मन्मनि । सम्ऽचरन्ति । अपीच्ये । न । वयम् । अस्य । विद्म । मित्रः । नः । अत्र । अदितिः । अनागान् । सविता । देवः । वरुणाय । वोचत् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्मिन् मन्मनि-अपीच्ये) यस्मिन् हि मननीये *"मन्मभिः-मननीयैः" [निरु० १० । ६]* अपीच्ये – अपचिते प्रशंसां प्राप्ते हृदयान्तर्हिते वा *"अपीच्यमपचितमपिहितमन्तर्गतं वा" [निरु० ४ । २५]* परमात्मनि (देवाः-सञ्चरन्ति) मुमुक्षवो विद्वांसः सम्यक् चरन्ति सम्यग् विहरन्ति–सङ्गच्छन्ते (वयम्-अस्य न विद्म) वयं साधारणजनाः–अस्य परमात्मनः स्वरूपं न विद्म, सः (अत्र) अस्मिन् जन्मनि (मित्रः) संसारे कर्मकरणाय प्रेरकः सखा (अदितिः) अविनाशिनी माता (सविता) उत्पादकः–पिता (देवः) ज्ञानदाता गुरुः (वरुणाय) 'वरुणः' मोक्षार्थं वरयिता बन्धुः, 'व्यत्ययेन प्रथमास्थाने चतुर्थी' (नः-अनागान्-वोचत्) अस्मान् पापसम्पर्करहितान् पुण्यवत आध्यात्मिक जनान् स्वं कल्याणवचनं वदेत्–उपदिशेत् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्मिन् मन्मनि-अपीच्ये) जिस मननीय प्रशंसाप्राप्त तथा हृदयान्तर्हित परमात्मा में (देवाः- सञ्चरन्ति) मुमुक्ष आत्माएं सङ्गत होते हैं–समागमलाभ करते हैं (अस्य वयं न विद्म) इसके स्वरूप को हम साधारण जन नहीं जान पाते हैं, वह (अत्र) इसी जन्म में (मित्रः) कर्मार्थ प्रेरित करने वाला सखा (अदितिः) अविनाशी माता (सविता) उत्पादक पिता (देवः) ज्ञानदाता गुरु (वरुणाय) 'वरुणः' मोक्षार्थ वरने वाला बन्धु भ्राता (नः-अनागान् वोचत्) हम पापरहितों पुण्यात्मा हुओं को बुलाता है, कल्याणवचन कहता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मुमुक्षु आत्माएं मननीय स्तुति करने योग्य हृदयस्थित परमात्मा में समागम करते हैं । साधारण जन उसे नहीं जान पाते हैं । इसी जन्म में वह कर्मार्थ प्रेरक सखा अविनाशी माता उत्पादक पिता ज्ञानदाता गुरु मोक्षार्थ वरने वाला बन्धु हम पापरहितों पुण्यात्माओं को बुलाता है, कल्याणवचन सुनाता है ॥ ८ ॥

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ ९ ॥

गत एष मन्त्रः पूर्वसूक्तान्ते, तद्वत् संस्कृतार्थभाषार्थभावार्था विज्ञेयाः ॥ ९ ॥



त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—विवस्वानादित्यः ।

देवता—हविर्धाने ।

छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ४ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् । ५ निचृज्जगती ।

स्वरः—१-४ धैवतः । ५ निषादः ।

विषयः—अत्र सूक्ते हविर्धानाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां मिषेण वरवध्वो-र्गार्हस्थ्यचर्या विधीयते, अनन्तरं वनगमनं च ।
इस सूक्त में हविर्धान-द्युलोकपृथिवीलोक के मिष से वरवधू की गृहस्थचर्या का विधान है, उसके पश्चात् वनगमन का भी ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ १ ॥

युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमःऽभिः । वि । श्लोकः । एतु । पथ्याऽइव । सूरेः । शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतस्य । पुत्राः । आ । ये । धामानि । दिव्यानि । तस्थुः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाम्) युवाभ्यां हविर्धानाभ्यां हविषां धानमाधानं ययोर्याभ्यां वा ते द्यावापृथिव्यौ *"द्यावापृथिवी वै देवानां हविर्धाने"* [*ऐ० १ । २९*] तद्वन्मनुष्याणां हविर्धाने स्त्रीपुरुषौ, भार्यापती, वधूवरौ, विवाहकाले याभ्यां मिलित्वा हविषामाधानं क्रियते—इति ताभ्यां पुरोहितो ब्रवीति (पूर्व्यं ब्रह्म) शाश्वतिकं मन्त्रविधानम् (नमोभिः) यज्ञैर्यज्ञाङ्गैः *"यज्ञो वै नमः"* [*श० ७ । ४ । १ । २०*] यज्ञानाश्रित्य (युजे) युनज्मि प्रयुञ्जे-उच्चारयामि—उपदिशामि (सूरेः श्लोकः पथ्या-इव वि-एतु) सर्वोत्पादकस्य परमात्मनः *"सूङः क्रिः"* [*उणा० ४ । ६४*] श्रवणीय आदेशः *"श्लोकः शृणोतेः"* [*निरु० ९ । ९*] पथ्यापथ्यया पथ्याभिर्वा मार्गदिग्भिः-विविधतया विशिष्टतया सर्वत्र गच्छतु यथा तम् (अमृतस्य विश्वे पुत्राः शृण्वन्तु) अमरस्य परमात्मनः सर्वे पुत्राः श्रोतारः शृण्वन्तु (ये दिव्यानि धामानि-आ तस्थुः) येऽत्र यज्ञियानि स्थानानि समातिष्ठन्ति

"सुवर्गो लोको दिव्यं धाम" [तै० २।६।७।६] "स्वर्गो वै लोको यज्ञः" [कौ० १४।१] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाम्) तुम हविर्धान-हवियों का, धान-आधान जिनके द्वारा हो वे द्युलोक पृथिवीलोक की भांति स्त्री–पुरुष, वर और वधू विवाहकाल में जो हवियों का आधान करते हैं ऐसों के लिए पुरोहित कहता है (पूर्व्यं ब्रह्म) शाश्वतिक मन्त्रविधान को (नमोभिः) यज्ञों के द्वारा–यज्ञों का आश्रय लेकर (युजे) मैं प्रयुक्त करता हूं, उच्चारण करता हूं–उपदेश करता हूं (सूरेः श्लोकः पथ्याइव वि-एतु) सर्वोत्पादक परमात्मा का श्रवणीय आदेश मार्ग–दिशाओं से विशेषता से सर्वत्र प्राप्त हो, जैसे उसको (अमृतस्य विश्वे पुत्राः शृण्वन्तु) अमर परमात्मा के सब श्रोतापुत्र सुनें (ये दिव्यानि धामानि-आ तस्थुः) जो यहां यज्ञीय स्थानों में समासीन हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले वर–वधुओं का विवाह पुरोहित द्वारा वेदमन्त्रों से होना चाहिए। इस विवाह प्रसङ्ग में उच्चारित किये वेदमत्रों को वेदि पर बैठे हुए समस्त जन सुनें, मानो विवाह के साक्षी बनें ॥ १ ॥

यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्तः ।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः ॥ २ ॥

यमे इवेति यमेऽइव । यतमाने इति । यत् । ऐतम् । प्र । वाम् । भरन् । मानुषाः । देवऽयन्तः । आ । सीदतम् । स्वम् । ऊँ इति । लोकम् । विदाने इति । स्वासस्थे इति सुऽआसस्थे । भवतम् । इन्दवे । नः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमे-इव यतमाने यत्-ऐतम्) हे वधूवरौ ! युवां यथा मातुरुदराद् बहिरागमनं कुरुतो द्वे कन्ये तथा यतमानौ परस्परं बन्धनबद्धौ यतो वेदीं प्राप्नुतम् तदा (मानुषाः-देवयन्तः-वां प्रभरन्) देवं परमात्मानमिच्छन्तः-आस्तिका जनाः युवां प्रकृष्टं भरन्ति पुष्णन्ति–अनुमोदयन्ति (स्वं लोकम्-उ-आसीदतम्) विवाहानन्तरं स्वगृहं खलु समन्तात् प्राप्नुतम्, तत्र गत्वा च (विदाने स्वासस्थे) स्वात्मनि ज्ञापयन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ सुप्रतिष्ठिते–इव प्रतिष्ठितौ (नः-इन्दवे भवतम्) अस्माकं यज्ञाय श्रेष्ठकर्मसाधनाय सहयोगिनौ भवतम् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यमे-इव यतयाने यत्-ऐतम्) हे वधूवरो ! तुम जैसे माता के उदर से दो युगलकन्यायें परस्पर बन्धन में बद्ध होकर उत्पन्न होती हैं वैसे तुम वेदी पर प्राप्त होओ (मानुषाः देवयन्तः वां प्रभरन्) तब परमात्मा को चाहते हुए आस्तिक जन तुम्हारा प्रकृष्टरूप से भरण–पोषण और अनुमोदन करते हैं (स्वं लोकम्-उ-आसीदतम्) अतः तुम विवाह के अनन्तर अपने घर को भलीभांति प्राप्त होओ; और वहां जाकर (विदाने स्वासस्थे) स्वात्मा में द्युलोक और पृथिवीलोक जैसे प्रतिष्ठित हुए अपने को समझो (नः-इन्दवे भवतम्) हमारे यज्ञ–श्रेष्ठकर्म को साधने के लिए सहयोगी होओ ॥ २ ॥

भावार्थ—विवाह हो चुकने पर गृहस्थ बन्धन में जब स्त्री–पुरुष बंध जावें तो आस्तिक जन उनका अनुमोदन करें और वे अपने घर में गृहस्थ को चलाने के लिए जैसे द्युलोक पृथिवीलोक संसार को चलाते हैं ऐसे अपने को समझकर स्थिर रहें। इस प्रकार अन्य गृहस्थ आश्रमियों की भांति यज्ञादि श्रेष्ठकर्म करते रहें ॥ २ ॥

पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि ॥ ३ ॥

पञ्च। पदानि। रुपः। अनु। अरोहम। चतुःऽपदीम। अनु। एमि। व्रतेन। अक्षरेण। प्रति। मिमे। एताम्। ऋतस्य। नाभौ। अधि। सम्। पुनामि ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रुपः पञ्च पदानि-अनु-अरोहम्) शरीरे विमोहं प्राप्तोऽहं जीवः "रुप विमोहने" [दिवादि०] इदानीं गार्हस्थ्यान्निवृत्तो विरक्तो वनस्थोऽनुभवामि यत्–शरीरस्य पञ्चकोशात्मकानि रूपाणि खल्वनुक्रान्तवान् (व्रतेन चतुष्पदीम्-अन्वेमि) सद्व्रतेन योगाभ्यासेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयावस्थासु तुरीयावस्थामप्यनुभवामि, तदा (एताम्-अक्षरेण-प्रतिमिमे) एतामवस्थां 'ओ३म' इत्याख्येन–अविनाशिना ब्रह्मणा सह सायुज्यं सादृश्यं नयामि, एवम् (ऋतस्य नाभौ अधि सम् पुनामि) अध्यात्मयज्ञस्य मध्ये स्वात्मानं सम्यग् निर्मलीकरोमि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(रुपः-पञ्च पदानि-अनु-अरोहम्) शरीर में विमोह को प्राप्त हुआ मैं गृहस्थाश्रम से निवृत्त-विरक्त हुआ अपने को वानप्रस्थ अनुभव करता हूं, अत एव शरीर के पांच कोशों को मैं लांघ चुका हूं–लांघता हूं (व्रतेन चतुष्पदीम्-अन्वेमि) योगाभ्यास रूप सद्व्रत के द्वारा जागृतस्वप्नसुषुप्तितुरीय अवस्थाओं में तुरीय अवस्था को अनुभव करता हूं, तब (एताम्-अक्षरेण प्रतिमिमे) इस अवस्था को 'ओ३म्' इस अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म के साथ संयोग–सादृश्य को प्राप्त होता हूं, इस प्रकार (ऋतस्य नाभौ-अधि सम् पुनामि) अध्यात्मयज्ञ के मध्य में अपने स्वात्मा को सम्यक् निर्मल करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानव को गृहस्थ आश्रम पूरा करने के पश्चात् वैराग्यवान्–वानप्रस्थ होकर पांचकोशों का अनुभव करना चाहिए तथा जागृत–स्वप्न–सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं में भी चलते हुए योगाभ्यास के द्वारा 'ओ३म्' अविनाशी ब्रह्म के साथ अपनी सङ्गतिरूप अध्यात्म यज्ञ के अन्दर अपने को पवित्र करना चाहिए ॥ ३ ॥

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं१ प्रारिरेचीत् ॥ ४ ॥

देवेभ्यः। कम। अवृणीत। मृत्युम। प्रऽजायै। कम। अमृतम्। न। अवृणीत। बृहस्पतिम। यज्ञम्। अकृण्वत। ऋषिम। प्रियाम्। यमः। तन्वम। प्र। अरिरेचीत् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवेभ्यः कं मृत्युम्-अवृणीत) बृहस्पतिः 'उत्तरार्द्धितः' वेदवाचः स्वामी परमात्मा मुमुक्षुभ्यः कतमं मृत्युं स्वीकरोति ? न कमपि, स्वाभाविकं जरानन्तरभाविनमेव सकृन्मृत्युं-अवृणीत-स्वीकरोति ते देवास्तु खल्वमृतभागिनः (प्रजायै कम्-अमृतं न-अवृणीत) प्रजायमानायै देवेभ्यो भिन्नायै केवलं जन्मधारणयोग्यायै कमपि खल्वमृतं न स्वीकरोति सा तु जन्मनि भोगरता, कुत एवं यत् (बृहस्पतिम्-ऋषिं यज्ञम्-अकृण्वत) वेदस्वामिनं सर्वद्रष्टारं परमात्मानं सङ्गमनीयं ते कुर्वन्ति-आश्रयन्ति तेभ्यो मुमुक्षुभ्यः कमपि मृत्युं न कृत्वा तान् स अमृतान् करोति, अथ तद्विपरीतानां प्रजायमानानां नास्तिकानां प्रेयमार्गे प्रवृत्तानाम् (प्रियां तन्वं यमः प्रारिरेचीत्) प्रियां तनुं-प्रियं देहं यमः-कालः प्राणरहितं करोति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवेभ्यः कं मृत्युम्-अवृणीत) बृहस्पति परमात्मा मुमुक्षुजनों के लिए किस मृत्यु को स्वीकार करता है अर्थात् किसी भी मृत्यु को नहीं किन्तु स्वाभाविक जरानन्तर होने वाली मृत्यु को स्वीकार करता है क्योंकि देव तो अमर होते हैं (प्रजायै कम्-अमृतं न-अवृणीत) देवों से भिन्न प्रजायमान केवल जन्म धारण करने योग्य प्रजा के लिए किसी भी अमृत को नहीं स्वीकार करता । वह तो जन्म में भोगरत है, यह कैसे ? (बृहस्पतिम्-ऋषिं यज्ञम्-अकृण्वत) वेदस्वामी सर्वज्ञद्रष्टा परमात्मा को जो सङ्गमनीय बनाते हैं उसे आश्रित करते हैं उन मुमुक्षुओं के लिए किसी मृत्यु को न करके उन्हें अमृत बनाता है और उनसे विपरीत पुनः पुनः प्रजायमान नास्तिकों-प्रेयमार्ग में प्रवृत्त हुओं की (प्रियां तन्वं यमः प्रारिरेचीद) प्यारी देह को काल प्राणरहित कर देता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा उपासना करते हुए मुमुक्षुओं के लिए जरा के अनन्तर ही मृत्यु को करता है मध्य में नहीं और उनसे भिन्न नास्तिक जनों की देह को काल प्राणों से रिक्त कर देता है उनको अमृत की प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम् ।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः ॥ ५ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि । अवीवतन् । ऋतम् । उभे इति । इत् । अस्य । उभयस्य । राजतः । उभे इति । यतेते इति । उभयस्य । पुष्यतः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मरुत्वते शिशवे) प्राणवते शंसनीयाय जीवात्मने *"प्राणो वै मरुतः"* [ऐ० ३ । १६] (पित्रे पुत्रासः सप्त क्षरन्ति) पितृभूताय पुत्राः पुत्ररूपाः सर्पणशीला ते प्राणाः सञ्चलन्ति *'क्षर सञ्चलने"* [*भ्वादिः*] (ऋतम्-अपि अवीवतन्) जीवनयज्ञं खल्ववश्यं वर्तयन्ति चालयन्ति 'वृतु धातोर्णिजन्तस्य लुङि चङि प्रयोग ऋकारलोपश्छान्दसः' (अस्य-उभयस्य) अस्य जीवात्मन उभयरूपस्य मनुष्यरूपस्य पुनः पुनर्जायमानस्य, देवभूतस्य मुमुक्षोश्च (उभे-इत् राजतः) बृहस्पतिर्यमश्च, बृहस्पतेः

सङ्गमने यमस्य क्रियानिमित्ते स्वामित्वं कुरुतः (यतेते) यत्नं विधत्तः (उभे-उभयस्य पुष्यतः) उभे निमित्ते ह्युभयस्य पुनः पुनर्जायमानस्य मुक्तिं गतस्य च फलं प्रयच्छतः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(मरुत्वते शिशवे) प्राणवान् शंसनीय–प्रशंसनीय जीवात्मा के लिए (पित्रे पुत्रासः सप्त क्षरन्ति) पिता समान के लिए पुत्ररूप सर्पणशील प्राण सञ्चार करते हैं (ऋतम्-अपि-अवीवतन्) जीवनयज्ञ को अवश्य वर्तातें हैं–चलाते हैं (अस्य-उभयस्य) इस जीवात्मा के उभयरूप–दोनों रूप, अर्थात् मनुष्यरूप पुनः पुनः जन्मते हुए तथा देवरूप मुमुक्षु के (उभे-इत्-राजतः) बृहस्पति और यम दोनों स्वामित्व करते हैं, बृहस्पति समागम में और यम प्राणहरण में (यतेते) वे दोनों इस प्रकार यत्न करते हैं (उभे-उभयस्य पुष्यतः) वे दोनों बृहस्पति और यम दोनों रूप वाले मुमुक्षु और साधारण जन को मुक्ति और भुक्ति फल को देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा जब शरीर धारण करके संसार में प्राणवान् होता है तब प्राण इसके पुत्र के समान रक्षार्थ सञ्चार करते हैं और जीवनयज्ञ को आगे बढाते हैं। इस जीवात्मा के दो रूपों मुमुक्षुरूप और बारम्बार जन्म लेने वाले मनुष्यरूप का बृहस्पति और यम स्वामित्व करते हैं और मुक्ति तथा बारम्बार जन्म देकर भुक्ति–भोग फल देते हैं ॥ ५ ॥



चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—वैवस्वतो यमः ।

देवता—१-५, १३-१६ यमः । ६ लिङ्गोक्ताः । ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा । १०-१२ श्वानौ ।

छन्दः—१, १२ भुरिक् त्रिष्टुप् । २, ३, ७, ११ निचृत् त्रिष्टुप् । ४, ६ विराट् त्रिष्टुप् । ५, ९ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ८ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । १० त्रिष्टुप् । १३, १४ निचृदनुष्टुप् । १५ विराड् बृहती । १६ अनुष्टुप् ॥

स्वरः—१-१२ धैवतः । १३, १४, १६ गान्धारः । १५ मध्यमः ॥

वक्तव्य

इस सूक्त के प्रथम और षष्ठ मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात हैं, निरुक्तकार ने यम का अर्थ या उसका सम्बन्ध मृतपुरुषों के अधिष्ठाता का नहीं दर्शाया अपितु उससे भिन्न किसी विशेष विज्ञान का दर्शक अर्थ किया है जो उसकी अत्युत्तमग्राह्य नैरुक्त प्रक्रिया है । जिसका अवलम्बन हमारे अर्थों में है । इस सूक्त में वैवस्वत यम की चर्चा है, जहां-जहां यम का वैवस्वत विशेषण दिया गया है वहां वहां विवस्वान् (सूर्य) से उत्पन्न हुआ काल यम का अर्थ है । अत एव यहां भी वैवस्वत विशेषण होने से यम का अर्थ काल है । ज्योतिर्विद्या में दो प्रकार का काल माना गया है, एक लोकों का अन्त करने वाला काल जिसको विश्वकाल (व्यापी काल) कहते हैं । दूसरा गणनात्मक काल जिसको संख्येय काल (कालविभाग) कहते हैं—

"लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।" [सूर्यसिद्धान्त १ । १०]

इस प्रकार इस सूक्त में उभयविध काल का विज्ञान है । काल का संसार के बड़े बड़े और छोटे छोटे पदार्थों के साथ सम्बन्ध, जीवनकाल की वृद्धि का प्रकार, काल के ऋतु आदि विभाग और उनका अन्य वस्तुओं से सहचार तथा उपयोग, प्राणियों की उत्पत्ति, देहपात तथा पुनर्जन्म में काल का सम्बन्ध, भूत-वर्तमान-भविष्यत् में काल-क्रान्ति और उसका प्रभाव आदि-आदि आवश्यक विज्ञान इस सूक्त में है ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ १ ॥

परेयिऽवांसम् । प्रऽवतः । महीः । अनु । बहुऽभ्यः । पन्थाम् । अनुऽपस्पशानम् । वैवस्वतम् । सम्ऽगमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । दुवस्य ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(महीः- अनु-प्रवतः परेयिवांसम्) महीरनु पृथिवीलोकाननु "महीति पृथिवीनाम" [निघ० १ । १] प्रवतः प्रगतान् पुराणानुद्वत उद्गतानुन्नतान् निवतो निगतानल्पसमयकान् पदार्थान् पर्यागतवन्तं परिक्रम्य सर्वतोऽधिकृत्य प्राप्तवन्तम् "महीरनु प्रवत उद्वतो निवतः पर्यागतवन्तम्" [निरु० १० । २०] (बहुभ्यः पन्थाम्-अनुपस्पशानम्) बहुभ्यः प्रकारेभ्यः 'हेतौ पञ्चमी' विशेषेण पाशयमानं पाशमिव विस्तारयन्तम् "बहुभ्यः पन्थामनुपस्पाशयमानम्" [निरु० १० । २०] (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा दुवस्य) जनानां जायमानानामुत्पद्यमानानां पदार्थानाम् "जायते इति जनः" सङ्गमनमन्ते प्राप्तिस्थानं वैवस्वतं विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं यमं यन्तारं कालं समयं प्रातःसायन्दर्शपौर्णमासतु संवत्सरविभागात्मकं राजानं राजानमिव वर्तमानं हविषा हविर्दानेन दुवस्य राध्नुहि संसाधय स्वानुकूलं कुरु दीर्घायुष्यलाभायेति यावत् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(महीरनु प्रवतः परेयिवांसम्) पृथिवी लोकों पर स्थित पुराने, उन्नत और थोड़े समय के या ताजे उत्पन्न एवं सभी पदार्थों को सर्वतः अधिकार करके प्राप्त तथा (बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानम्) बहुत प्रकारों से जीवन मार्ग को पाशतुल्य स्वाधीन करते हुए और (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा दुवस्य) जायमान अर्थात् उत्पन्नमात्र वस्तुओं के प्राप्तिस्थानरूप सूर्य के पुत्र काल-समय प्रातः सायं-अमावस्या-पूर्णिमा-ऋतु-संवत्सर विभाग-युक्त राजा के समान वर्तमान विश्वकाल 'समय' को आहुति क्रिया से हे जीव ! तू दीर्घायुलाभ के लिए स्वानुकूल बना । यह आन्तरिक विचार है ॥ १ ॥

भावार्थ—विश्वकाल संसार के सब पदार्थों को व्याप्त और प्राप्त है । वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश का निमित्त है । उस सूर्यपुत्र को आयुवर्धक पदार्थों के होम द्वारा स्वानुकूल बनाना चाहिए ॥ १ ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥ २ ॥

यमः । नः । गातुम् । प्रथमः । विवेद । न । एषा । गव्यूतिः । अपऽभर्तवै । ऊँ इति । यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । पराऽईयुः । एना । जज्ञानाः । पथ्याः । अनु । स्वाः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमः-नः-गातुं प्रथमः-विवेद) यमः-कालो नः-अस्माकं गातुम्-गमनम्-गतिम् "गातुं गमनम्" [निरु० ४ । २१] प्रथमः सन् विवेद-लब्धवान्, 'विद्लृ लाभार्थोऽत्र' अस्माकं जीवनगतिं प्रारम्भिकः समयः प्राप्तवानित्यर्थः । (एषा गव्यूतिः-न-अपभर्तवा उ) एषा गव्यूतिरेष मार्गो नैवापहर्तव्यस्त्यक्तुं शक्यः

"कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" [अष्टा० ३ । ४ । १४] (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) यस्मिन् मार्गेऽस्माकं पूर्वे पितरोऽस्मदपेक्षया पूर्वे जनकादयः पालयितृजनाः परेयुः-परागच्छन्ति कुलपरम्परया यात्रां कुर्वन्ति 'परेयुरिति सामान्ये काले लिट्' (एना जज्ञानाः स्वाः पथ्या-अनु) अनेनैव मार्गेण जाता उत्पन्नाः सर्वेऽपि पदार्थाः स्वाः-निजान् मार्गे भवान् धर्मान् "भवे छन्दसि" [अष्टा० ४ । ४ । ११०] अनुगच्छन्ति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यमः-नः-गातुं प्रथमः-विवेद) समय ने ही हमारी जीवनगति को प्रथम से ही प्राप्त किया हुआ है, अत एव (एषा गव्यूतिः-न-अपभर्तवा-उ) यह काल मार्ग किसी तरह त्यागा नहीं जा सकता (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) जिस मार्ग में हमसे पूर्व उत्पन्न जनक आदि पालक जन भी कुलपरम्परा से यात्रा करते चले आये हैं और (एना जज्ञानाः स्वाः पथ्या-अनु) इसी मार्ग से उत्पन्न हुए सभी प्राणी और वनस्पति आदि पदार्थ निज मार्ग संबंधी धर्मों का अनुगमन करते हैं, अत एव उस समय को पूर्वमन्त्रानुसार होम द्वारा स्वानुकूल बनाना चाहिए ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी के गर्भकाल ने ही जीवन की गति को आरम्भ कर दिया है। यावत् शरीरपात हो यह जीवनगति चलती रहती है। उस काल के अधीन होकर जनक आदि भी यात्रा करते हैं अपितु संसार के सभी जड़ चेतन पदार्थ अपनी-अपनी प्रकृति, योनि किंवा कर्मानुसार परिणाम और पुष्पफलादि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह यात्रा सबके लिए अवश्यम्भावी है ॥ २ ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ३ ॥

मातली । कव्यैः । यमः । अङ्गिरःऽभिः । बृहस्पतिः । ऋक्वऽभिः । वावृधानः । यान् । च । देवाः । वावृधुः । ये । च । देवान् । स्वाहा । अन्ये । स्वधया । अन्ये । मदन्ति ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मातली कव्यैः-यमः-अङ्गिरोभिः-बृहस्पतिः-ऋक्वभिः-वावृधानः) मातली कव्यैर्वावृधानो यमोऽङ्गिरोभिर्वावृधानो बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानो भवति । मातली-भूतली-पृथिवीतली पृथिवीस्थानी पृथिवीस्थानोऽग्निर्देवः, "मा--पृथिवी" "अयं वै पृथिवीलोको माऽयं हि लोको मित इव [श० ८ । ३ । ३ । ५] तस्यास्तलमस्यास्तीति मत्वर्थे इनौ मातली पृथिवीस्थानोऽग्निः, स च द्विविधः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निरपरो भौतिकाग्निः, अस्ति चात्र मन्त्रे श्लेषालङ्कारः । तत्र प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निः कव्यैरन्नादिभोजनैर्भौतिकश्चाग्निः कुः पृथिवी तत्र भवैः कव्यैः पार्थिवैर्घृततैलान्नकाष्ठादीन्धनद्रव्यैर्वर्धमानो भवति-वर्धत इति सिद्धान्तः । कुः पृथिवीत्यत्र प्रमाणम् "रविवर्षार्धं देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः । शशिमासार्धं पितरः शशिगाः कुदिनार्धमिह मनुजाः [आर्यभट्टीय ज्योतिषम् गीतिका १७] "जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्" [कठो० १ । १ । २८] "दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥" [मनु० ३ । १३०] इत्यत्र

कव्येनान्नादिभोजनं गृह्यते। यमो मध्यस्थानो देवः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनकालोऽपरश्च भौतिको लोकानामन्तकृद् विश्वकालोऽङ्गिरोभिः-अङ्गानां रसैः प्राणैः प्राणसञ्चरणैस्तत्तुल्यकालावयवैः सूर्यरश्मिभिस्तन्निष्पन्नकालगतिभिर्वा वर्धते, *"अङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वाऽङ्गानां रसः"* [बृहदारण्य० १ । ३६ । ३] *"प्राणो वाऽङ्गिराः"* [श० ६ । १ । २ । २८] प्राणः कालावयवः *"प्राणादिः कथितो मूर्त्तः (कलनात्मकः कालः)"* [सूर्यसिद्धान्ते १ । ११] बृहस्पतिरूर्ध्वस्थानः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनप्राणः, न तु श्वासप्रश्वासात्मकः, अपि तु जीवयति यः प्राणिनं स जीवनशक्तिरूपः प्राणः जीवनप्राणः, यथा बृहदारण्यके-*"एष उ एव प्राणो बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः"* [१ । २ । २०] द्वितीयश्च भौतिको वर्षाधिपतिर्देवः, यथा निरुक्ते-*"बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा"* [निरु० १० । १२] *"द्यौर्वै बृहत्"* [श० ६ । १ । २ । ३७] *"असौ द्युलोको बृहत्"* [ऐत० ८ । २] द्यौश्च मेघमण्डलम् *"असौ वै द्युलोकः समुद्रो नभस्वान्"* [श० ६ । ४ । २ । ५] *"द्यौर्वाऽपां सदनं दिवि ह्यापः सन्नाः* [श० ७ । ५ । २ । ५६] एवं मत्वा यास्केनगुदाहृता-*तस्यैषा भवति-अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् । निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य"* [ऋ० १० । ६८ । ८] व्यापनवता मेघेन जलमपिनद्धमासीत्तद् विशेषशब्देन बृहस्पतिर्निहृतवान् पृथिव्यामिति निरुक्तार्थः । स एवं द्विविधः शरीरभुवनभेदाभ्यां जीवनः प्राणो वर्षाधिपतिश्च बृहस्पतिर्देव ऋक्वभिर्विविधगुणवतीभिः कृत्रिमस्वाभाविकवाग्भिः विरवैः स्तनयित्नुभिर्गर्जनशब्दैर्वर्धते वृद्धिं महत्त्वमाप्नोति । वाग्विरवयोः सम्बन्धश्च बृहस्पतिना सह समीपं दर्शित इव । ऋक्वभिरित्यत्र शब्दश्च सामान्यो धात्वर्थः, यथा निरुक्ते-*"मित्रो जनान्यातयति प्रब्रुवाणः-शब्दं कुर्वन्"* [निरु० १० । २२] एवं सति (देवाः-यान्-च ववृधुः) पूर्वोक्ता मातल्यादिनामभिर्व्यवहृता अग्न्यादयो देवा वर्धमानाः सन्तो यांश्च जनान् ववृधुर्वर्धितवन्तस्तथा (ये च देवान्) ये जनाश्च देवान् पूर्वोक्ताग्न्यादीन् ववृधुर्वर्धितवन्तस्ते जनाः (अन्ये स्वधया-अन्ये स्वाहा मदन्ति) अन्ये केचित् स्वधयाऽन्नादिभोजनैर्मदन्ति तानग्न्यादीन् शरीरदेवान् तर्पयन्ति । 'अत्र मदेस्तृप्त्यर्थः' केचित् स्वाहाहुतिप्रदानेन मदन्ति तानग्न्यादीन् भौतिकदेवान् युञ्जतेऽनुतिष्ठन्ति, 'मद तृप्तियोगे' तृप्तिश्च योगश्च, *"सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति"* [महाभाष्य १ । २ । ६ ३] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(मातली कव्यैः-यमः-अङ्गिरोभिः-बृहस्पतिः ऋक्वभिः-ववृधानः) मातली-पृथिवीस्थानी अग्नि, वह दो प्रकार का है-एक प्राणी के अन्तर्गत जीवनाग्नि कव्य अन्नादि भोजनों से तथा भौतिक अग्नि कव्य पृथिवी से उत्पन्न पार्थिव अन्न-घृत-तैल-काष्ठ आदि ईन्धन द्रव्यों से बढता है, यम मध्यस्थानी देव प्राणी के अन्तर्वर्ती जीवनकाल । दूसरा, भौतिक लोकों का अन्तकारी विश्वकाल; अङ्गिरों, प्राणों, प्राणक्रियाओं तथा प्राण नामक कालविभागों, सूर्य रश्मियों से निष्पन्नकाल गतियों से बढता है, बृहस्पति ऊर्ध्वस्थानी देव । प्राणी के अन्तर्वर्ती जीवन-प्राण और दूसरा भौतिक वर्षा का नियामक देव जो कि मेघमण्डल में वर्तमान जलवृष्टि से प्रजा को जीवन प्रदान करता है । वह ऋक्वों-विविधगुणवाली कृत्रिम और स्वाभाविक वाणियों स्तनयित्नुरूप गर्जन शब्दों से वृद्धि को प्राप्त होता है । ऐसा होने पर (देवाः-यान्-च ववृधुः) पूर्वोक्त वृद्धि को

प्राप्त हुए अग्नि देवों ने जिन लोगों को बढाया तथा (ये च देवान्) और जिन लोगों ने पूर्वोक्त अग्नि आदि देवों को बढाया वे (अन्ये स्वधया मदन्ति) कुछ एक जन तो अन्नादि भोजनों से उन शरीर के अन्तर्वर्ती अग्नि आदि देवों को तृप्त करते हैं (अन्ये स्वाहा मदन्ति) कतिपय जन आहुति प्रदान करके भौतिक अग्नि आदि देवों का सेवन करते हैं ।। ३ ।।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि अपने व्यक्तिजीवन की उन्नति के लिए निज जीवनाग्नि, जीवनकाल और जीवनप्राण को उत्तमोत्तम भोजनों के सेवन से उपयुक्त बनावें तथा समाज वा सर्वप्राणियों के हितार्थ अग्निहोत्र से भौतिक अग्नि, 'सामष्टिक काल और मेघमण्डल को उपयुक्त करते रहें ।। ३ ।।

समीक्षा—"मातलिरिन्द्रस्य सारथिस्तद्वानिन्द्रो मातली" (सायण) यहां 'मातलि इन्द्र का सारथि और उस सारथि से युक्त मातली इन्द्र है' यह तथा मातली का इन्द्र अर्थ करना सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि प्रथम तो मातलि इन्द्र का सारथि हो इसके लिए निरुक्तादि वैदिक साहित्य में स्थान नहीं, दूसरे इकारान्त शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय हो ही नहीं सकता उसका विधान अकारान्त से है । इसलिये मातली का इन्द्र अर्थ करना अनुचित है ।।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ४ ॥

इमम् । यम । प्रऽस्तरम् । आ । हि । सीद । अङ्गिरःऽभिः । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । आ । त्वा । मन्त्राः । कविऽशस्ताः । वहन्तु । एना । राजन् । हविषा । मादयस्व ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यम-अङ्गिरोभिः-पितृभिः-संविदानः-इमं प्रस्तरं हि-आसीद) यम—हे जीवनकाल ! अङ्गानां रसैः प्राणैः सहानुकूलःसंस्त्वमिमं प्रस्तरम्—शरीर रूपं यज्ञं जीवन-वृद्धिहेतोरवश्यमासीद—समन्तात्प्राप्तो भव *"यज्ञो वै प्रस्तरः"* [श० १ । ३ । ४ । १०] *'पुरुषो वाव यज्ञः"* [छान्दो० ३ । ६ । १] *"पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीयः"* [गो० ५ । ४] (कविशस्ताः-मन्त्राः-त्वा-आवहन्तु) विद्वत्प्रोक्तानि शरीरविद्यावित्प्रोक्तानि मन्तव्यानि त्वामावहन्तु—अत्र शरीरे समन्तात् प्रापयन्तु चिरं रक्षन्त्वित्यर्थः, अत एव (राजन्-एना हविषा-मादयस्व) राजन्—हे राजमान देव ! अनेन हविर्दानेनादानयोग्येन वस्तुना वा मां मादयस्व—युङ्क्ष्व—संतोषय सजीवनं कुर्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यम-अङ्गिरोभिःपितृभिःसंविदानः-इमं प्रस्तरं हि-आसीद) हे जीवनकाल ! तू प्राणों के साथ अनुकूल होता हुआ मेरे इस शरीररूपी यज्ञ को जीवनवृद्धि के हेतु अवश्य भली प्रकार प्राप्त हो (कविशस्ताः-मन्त्राः-त्वा-आवहन्तु) शरीर—विद्यावेत्ता विद्वानों के निर्दिष्ट मन्तव्य तुझ को मेरे शरीर में चिरकाल तक रखें, अत एव (राजन्-एना-हविषा मादयस्व) हे राजमान देव ! इस हविर्दान तथा खाने योग्य पदार्थ से मुझ को सन्तुष्ट, सजीवन कर ।। ४ ।।

१४

भावार्थ—प्राणशक्ति के अभ्यास और वैद्यक सिद्धान्तों के अनुसार खानपान हवनादि क्रियाओं से मनुष्य दीर्घजीवी और सुखी हो सकता है ॥ ४ ॥

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ५ ॥

आङ्गिरःऽभिः । आ । गहि । यज्ञियेभिः । यम । वैरूपैः । इह । मादयस्व । विवस्वन्तम् । हुवे । यः । पिता । ते । अस्मिन् । यज्ञे । बर्हिषि । आ । निऽसद्य ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यज्ञियेभिः-वैरूपैः-अङ्गिरोभिः-यम-आ गहि इह मादयस्व) यज्ञार्हैर्यज्ञयोग्यैर्विभिन्नरूपैरङ्गिरोभिः–सायम्प्रातरमावस्यापौर्णमास्यादि– सन्धि – समप्राणैः कालावयवैः सह हे समय ! त्वमागह्यागच्छ तथाऽऽगत्येहास्मिन् यज्ञेऽस्मान्मादयस्व तर्पय (यः-ते पिता तं विवस्वन्तं बर्हिष्या निषद्य–अस्मिन् यज्ञे हुवे) यश्च ते पिता विवस्वान् सूर्योऽस्ति तमहमासनमुपविश्योपविष्टः सन्नस्मिन् क्रियमाणे यज्ञे हुवे–आहुतिप्रदानेनाददे युनज्मि । 'अत्र हु धातुरादानार्थः' *"हु दानादनयोरादाने च"* [*जुहोत्यादिः*] ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यज्ञियेभिः-वैरूपैः-अङ्गिरोभिः-यम-आगहि इह मादयस्व) यज्ञ के योग्य नानाविध सायं प्रातः, अमावस्या, पूर्णिमा, आदि सन्धियों के मुहूर्तरूप कालावयवों के साथ हे समय ! तू प्राप्त हो और इस यज्ञ यज्ञ में हमको अपने लाभ से तृप्त कर (यः-ते पिता तं विवस्वन्तं बर्हिष्या निषद्य-अस्मिन् यज्ञे हुवे) और जो तेरा पिता सूर्यदेव है उसका भी मैं आसनोपविष्ट इस यज्ञ में आहुतिप्रदान द्वारा प्रयोग करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—भिन्न–भिन्न पर्व दिवसों में जबकि सूर्यरश्मियां भी यज्ञ में संयुक्त हों ऐसे स्थान पर पार्वण यज्ञ समय को अनुकूल बनाने के लिए करने चाहियें ॥ ५ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ६ ॥

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नवऽग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः । सोम्यासः । तेषाम् । वयम । सुऽमतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अङ्गिरसः पितरः नवग्वाः-अथर्वाणः-भृगवः सोम्यासः-नः) अङ्गिरसः-ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः, पितरः–वर्षर्तुसम्बन्धिरविकिरणाः, नवग्वः-शरदृतुसम्भन्धिभानुरश्मयः, अथर्वाणः–हेमन्तर्तुसम्बन्धिरवि–किरणाः, भृगवः–शिशिरर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः, सोम्यासः–वसन्तर्तुसम्बन्धिसूर्यकिरणाः, नः–अस्मभ्यं जीवनाय सन्ति । पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'विवस्वन्तं हुवे' इति वचनात् तेन विवस्वता साकमृतव-स्तत्सहिताः सूर्यरश्मयश्चापि युज्यन्त इति दर्शयितुमङ्गिरःप्रभृतीनां वचनम् । अन्यत्रापि–*"आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः"* [*अथ० ३ । ८ । १*] सूर्यः, -

भिरुस्त्रियाभिश्च सह आयातीति सिद्धान्तः। अत्र तु ते रश्मय ऋतुसहचरिता वर्णिताः सन्ति। एवंवच्च विज्ञानम्।"*वीलु चिद् दृढा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण। चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः*" [ऋ० १। १। २] अत्रापि दर्शितं यदङ्गिरसो ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनः सूर्यरश्मयोऽद्रिं मेघं चक्रुः कृतवन्तस्तमेवाद्रिं मेघं पितरो वर्षर्तुसम्बन्धिरविकिरणा रुजन् भङ्क्ष्यन्ति नीचैर्निपातयन्ति पुनश्चोस्रा विविधगुणवासयितारः शारदाः सूर्यकिरणा आदित्यं दिनं पृथिवीं प्राप्नुवन्ति, एवमृतुसाम्यं दर्शितम्। ऋतुत्रयत्वमपि भवति यथा चरके–"*विकृता-स्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव*" [चरके १२। १३] तथा कृत्वैवात्र पितर इति शब्दो न विशेषणरूपेणापित्वङ्गिरआदिवद्देवतारूपेण स्वतन्त्र एव। सायणेन 'पितरो नवग्वाः सोम्यासः' इत्योऽप्यङ्गिरआदीनां विशेषणवाचकाः सन्तीति व्याख्यातं परन्तु सूक्तभाष्यावतरणे "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा इति षष्ठ्या अङ्गिरःपित्रथर्वभृगुलक्षणा लिङ्गोक्ता देवताः" एवमत्र तु सायणेन 'पितरः' इति शब्दस्य देवतात्वं प्रतिपादितम्। अस्तु, निरुक्तेऽप्यस्मद्वत् पितर इत्यस्य स्वतन्त्रं देवतात्वमेव प्रतिपादितमङ्गिरआदीना-मर्थाश्च यथा—

"*पिता पाता वा पालयिता वा*......*पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः*" [निरु० ४। २१] इति लक्ष्यीकृत्योक्तमत्र "*पितरो व्याख्याता। अङ्गारेष्वङ्गिराः अर्चिषि भृगुः संबभूव*" इति कृत्वैवोक्तं यास्केन। "*अङ्गिरसो व्याख्याताः, भृगवो व्याख्याताः, अथर्वाणोऽथनवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। तेषामेषा साधारणा भवति–'अङ्गिरसो नः पितरो*...... *।' अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वाथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनः*" [निरु० ११। १९] "*रसः सोमः*" [श० ७। ३। १। ३] सोम्यासः सोमसम्पादिनो रससम्पादिनो वसन्तर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मय इत्यर्थः। एवं नात्राङ्गिरआदयो मृतपितरोऽपि तु सन्ति देवा ऋतुयुक्तसूर्यरश्मयः। उक्तं च निरुक्ते 'पितर' इत्याख्यानम्। "*माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः*" [निरु० ११। १९] रश्मयो देवाः–"*उदिता देवाः सूर्यस्य*" (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे–अपि सौमनसे वयं स्याम) "*तेषां यज्ञियानां सुमतौ कल्याण्यां मतौ भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्याम*" [निरु० ११। १९] तेषां पूर्वोक्तानां यज्ञार्हाणां सुमन्तव्ये व्यवहारे भाजनवति कल्याणे मनसि सुखयुक्ते प्रसन्नभावे वर्तेमहि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अङ्गिरसः पितरः-नवग्वाः-अथर्वाणः-भृगवः-सोम्यासः-नः) ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी सूर्यरश्मियां वर्षाऋतु सम्बन्धी सूर्यकिरणें, शरद्तु संबंधी भानुरश्मियां, हेमन्तऋतु संबन्धी दिवाकर किरणें, शिशिरऋतु संबंधी सूर्यरश्मियां, वसंतऋतु संबंधी आदित्य किरणें, हमारे जीवन के लिये हैं (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे-अपि सौमनसे वयं स्याम) उन यज्ञयोग्य सूर्यकिरणों के विचारणीय विज्ञान व्यवहार में हम कल्याण मन से सुखयुक्त होकर रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रत्येक ऋतु को स्वानुकुल और सुखमय बनाने के लिए पुष्कल ऋतुयाग करने चाहियें ॥ ६ ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ७ ॥

प्र । इहि । प्र । इहि । पथिऽभिः । पूर्व्येभिः । यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । पराऽईयुः । उभा । राजाना । स्वधया । मदन्ता । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूर्व्येभिः पथिभिः प्रेहि प्रेहि) पूर्वोत्पन्नवृहज्जनैः कृतैर्मर्यादितैर्जीवनमार्गैरिष्टापूर्त्तादिभिराचरणैर्हे जीव ! त्वं प्रेहि प्रेहि, जीवनान्तं गच्छ गच्छ पुनः पुनर्गच्छ नित्यं गच्छेत्यर्थः *"नित्यवीप्सयोः" [अष्टा० ८ । १ । ४]* (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) येषु वर्त्तमाना अस्माकं पूर्वे पितरः–पालकजनाः परागता जीवनान्तं प्राप्ताः सन्ति (स्वधया मदन्ता-उभा राजाना यमं वरुणं च देवं पश्यासि) उदकेन त्वां मादयन्तौ तर्पयन्तौ *"हर वैवस्वतोदकम्"* [कठो० १ । ७] इति चोक्तम् । 'मदन्ता–इत्यत्रान्तर्गतो णिजर्थः' *"स्वधा–उदकनाम"* [निघं० १ । १२] उभा राजानोभौ राजमानौ महत्सत्ताकौ सर्वत्र व्याप्तौ, यमम्–यमनशीलं सर्वान् पदार्थान् स्वायत्तीकर्तारमन्तकालं तथा वरुणं जन्मनोऽधिष्ठातृदेवं नूतनोत्पादनाय सर्वपदार्थवरणशीलमाकाशे वर्तमानं मेघस्थं सूक्ष्मजलं देवं पश्यासि–पश्येः *"लिङर्थे लेट्"* [अष्टा० ३ । ४ । ७] *"आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण"* [गोपथ १ । ७] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूर्व्येभिः पथिभिः प्रेहि प्रेहि) पूर्वोत्पन्न बड़े लोगों के बनाये मर्यादित किये हुए जीवनयात्रा सम्बन्धी इष्टापूर्त्त आदि आचरणरूप मार्गों से हे जीव ! तू जीवनान्त को पुनः पुनः या नित्य प्राप्त कर (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जिन मार्गों में वर्त्तमान हुए हमारे पालक जन जीवनान्त आयु की पूर्णता को प्राप्त हुए हैं (स्वधया मदन्ता-उभा राजाना यमं वरुणं च देवं पश्यासि) जल के द्वारा तुझे संतुष्ट करते हुए दोनों राजमान बड़ी सत्ता वाले सर्वत्र व्याप्त सब पदार्थों को स्ववश करने वाले अन्तकारी काल तथा जन्म के अधिष्ठाता नूतन उत्पत्ति के लिये सब को वरने वाले आकाश में वर्तमान सूक्ष्म जलरूप वरुणदेव को तू देख । यह एक आन्तरिक विचाररूप उपदेश है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जीव का आयु को पूर्ण करके मृत्युरूप अन्तकाल और फिर पुनर्जन्म के लिये मेघ के सूक्ष्म जल रूप वरुण का प्राप्त करना अनिवार्य है । अतः जीवन की अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए उत्तम कर्ममार्गों पर चलना चाहिये ॥ ७ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ८ ॥

सम् । गच्छस्व । पितृऽभिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे । विऽओमन् । हित्वाय । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छस्व । तन्वा । सुऽवर्चाः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(परमे व्योमन् पितृभिः सङ्गच्छस्व यमेन-इष्टपूर्तेन सम्) हृदयाकाशे वर्तमानस्त्वं हे जीव ! प्राणैः सह सङ्गतो भव पुनर्जन्मप्राप्तय इत्यर्थः *"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"* [तैत्ति० उप० २ । १ । १] *"व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः"* [मुण्डको० २ । २ । ७] तत्रैव च यमेन जीवनकालेन सह सङ्गतो भव । इष्टापूर्तेनानुष्ठितेन यज्ञादिशुभकर्मरूपेण धर्मेण सह सङ्गतो भव *"एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः"* [मनु० ८ । १७] इति चोक्तम् (अवद्यं हित्वाय पुनः-अस्तम्-एहि सुवर्चाः-तन्वा सङ्गच्छस्व) गर्ह्यमिदं शरीरं त्यक्त्वा पुनरस्तम्-पुनर्गृहं पुनर्योनिं पुनर्जन्मेत्यर्थः *"अस्तं गृहनाम"* [नि० ३ । ४] एहि प्राप्नुहि । तत्र च पुनर्जन्मनि सुन्दरेण शरीरेण सह सङ्गतो भव । 'सुवर्चाः' इत्यत्र "सुपां सु···" [अष्टा ७ । १ । ३६] इति तृतीयास्थाने सुप्रत्ययः ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(परमे व्योमन् पितृभिः संगच्छस्व यमेन-इष्टापूर्तेन सम्) हृदयाकाश में वर्तमान हुए हे जीव ! तू प्राणों के साथ सङ्गत हो जा और वहीं जीवनकाल के साथ भी सङ्गत हो । इष्टापूर्त यज्ञादि रूप सञ्चित किये धर्मधन के साथ सङ्गति कर जो तेरा सच्चा मित्र है और मरने पर साथ जाता है (अवद्यं हित्वाय पुनः-अस्तम्-एहि सुवर्चाः-तन्वा सङ्गच्छस्व) गर्ह्य अर्थात् म्रियमाण या मरणधर्मी शरीर को छोड़कर पुनर्जन्म को प्राप्त हो और उस पुनर्जन्म में सुन्दर शरीर के साथ युक्त हो जा ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रत्येक जीव वर्तमान देहपात के अनन्तर पुनः प्राणों और जीवनकाल से सङ्गत होता है और कर्मों के अनुसार पुनः नूतन नाड़ी आदि से युक्त शरीर को धारण करता है ॥ ८ ॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ९ ॥

अप । इत । वि । इत । वि । च । सर्पत । अतः । अस्मै । एतम् । पितरः । लोकम् । अक्रन् । अहःऽभिः । अत्ऽभिः । अक्तुऽभिः । विऽअक्तम् । यमः । ददाति । अवऽसानम् । अस्मै ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पितरः-अस्मै-एतं लोकम्-अक्रन्) ये पितरः सूर्यरश्मयोऽस्माच्छरीराज्जीवं नीत्वास्मा एतं लोकमिमं पृथिवीलोकं पुनर्जन्मार्थं कुर्वन्ति *"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"* [अष्टा० ३ । ४ । ६] सामान्यकाले लुङ् । *"सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु । तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः"* [यजु० ३५ । २] (अतः-अपेत वीत विसर्पत च)अस्मात् स्थानात्तेऽपगच्छन्तु वियन्तु विसर्पन्तु, 'अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः' । अस्माच्छरीराज्जीवमादाय सूर्यरश्मयः क्रमेण पृथिव्यामपगच्छन्ति प्रसरन्ति अन्तरिक्षे वियन्ति विस्तरेण गच्छन्ति, दिवि विसर्पन्ति सौक्ष्म्येन सर्पन्तीति सिद्धान्तितम् । यतो हि सूर्यस्त्रिधा स्वरश्मीन् प्रेरयति । उक्तं च वेदे—*"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"* [ऋ० १ । २२ । १७] तथा च निरुक्तमत्र *"यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति"* [निरु० १२ । १९] (यमः-अस्मै-अहोभिः-अद्भिः-अक्तुभिः-व्यक्तम्-अवसानं ददाति) यमो विश्वकालोऽस्मै जीवायाहर्गणेन, उषोगणेन,

रात्रिगणेनार्थात्कतिपयैरहरुषोरात्रिभिः प्रकटीकृतं विरामं ददाति पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थान-गमनक्रमैः पुनर्जन्मप्राप्तये स्थिरीकरोतीत्यर्थः *"तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे"* [कठो०] इति चोक्तम् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(पितरः-अस्मै-एतं लोकम्-अक्रन्) जो ये सूर्य की रश्मियां हैं इस जीव के लिये इस पृथिवी लोक को पुनर्जन्मार्थ तैयार करती हैं (अतः-अपेत वीत विसर्पत च) अत एव इस स्थान से वे सूर्य की किरणें जीव को साथ लेकर अपगमन, विगमन और विसर्पण करती हैं अर्थात् प्रथम पृथिवी पर फैलती हैं पश्चात् ऊपर अन्तरिक्ष में पक्षी के तुल्य उड़ती हुई विस्तृत हो ले जाती हैं पुनः द्युलोक में अति सूक्ष्मता से पहुंचती हैं (यमः-अस्मै अहोभिः-अद्भिः-अक्तुभिः-व्यक्तम्-अवसानं ददाति) सूर्य इस जीव के लिये अहर्गण—उषोगण—रात्रिगण से अर्थात् कुछ दिनों उषाओं और रात्रियों से प्रकटीभूत विराम को देता है। जैसे कठोपनिषद् में यम के यहां जीवात्मा के तीन दिन रात के रहने की चर्चा है जो कि पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्युस्थान के गमन—क्रम से संबंध रखता है, इस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्ति के लिये स्थिर करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—शरीरपात हो जाने के पश्चात् जीव सूर्य की पृथिवी सम्बन्धी रश्मियों को प्राप्त होता है पुनः अन्तरिक्ष सम्बन्धी किरणों को और पश्चात् द्युस्थान सम्बन्धी रश्मियों तक पहुंचता हैं एवं स्थूल शरीर के बिना ही कुछ दिन, उषा और रात्रियों तक विराम में रहकर पुनर्जन्म में आता है ॥ ९ ॥

अति॑ द्रव सारमे॒यौ श्वानौ॑ चतुर॒क्षौ श॒बलौ॑ सा॒धुना॑ प॒था ।
अथा॑ पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॒ उपे॑हि य॒मेन॒ ये स॑ध॒मादं॒ मद॑न्ति ॥ १० ॥

अति॑ । द्र॒व । सा॒र॒मे॒यौ । श्वानौ॑ । च॒तुः॒ऽअ॒क्षौ । श॒बलौ॑ । सा॒धुना॑ । प॒था । अथ॑ । पि॒तॄन् । सु॒ऽवि॒दत्रा॑न् । उप॑ । इ॒हि । य॒मेन॑ । ये । स॒ध॒ऽमाद॑म् । मद॑न्ति ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(साधुना पथा चतुरक्षौ शबलौ सारमेयौ श्वानौ अतिद्रव) हे जीव ! त्वं धर्म्येण मार्गेण चतुष्प्रहरकौ चित्रवर्णौ सारमेयौ-सरमाया उषायाः पुत्रावहोरात्रौ, 'सरमेति शब्दो मध्यस्थानदेवताप्रकरणे पदनामसु निघण्टौ पठितत्वान्निरुक्ते च सरमा सरणादिति व्याख्यातत्वातददितिशब्देन साकं वर्णनाच्च सरमा शब्दस्यार्थं उषाऽत्र गृह्यते। सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चित्रवर्णावहोरात्रौ शबलावत्रोच्येते। शबलावहोरात्रावित्यत्र प्रमाणम्—*"श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा विदीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ् मनाः"* [अथ० ८। १। ९] प्रकृते दशममन्त्रे 'श्वानौ' एकादशे च 'पथिरक्षी' एवं द्वावपि शब्दौ पथिरक्षी श्वानौ, अथर्ववेद-स्यैकस्मिन्नेव मन्त्रे पठितौ स्तः। तन्मन्त्रे च यत् कौषीतकिब्राह्मणवचनं तदत्र प्रमाणमुद्धियते *"अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः"* [कौ० २। ९] इति प्रामाण्यादृङ्-मन्त्रोक्तशबलौ पथिरक्षी श्वानावहोरात्राविति सिद्धम्। तावहोरात्रौ हे जीव ! त्वमतिद्रव सम्यक् प्राप्तो भव (अथ सुविदत्रान् पितॄन्-उपेहि ये यमेन सधमादं मदन्ति) अथानन्तरं हे जीव; सुशोभनान् कल्याणसम्पादकान् पालकान्–ऋतुसह-

चरितान् सूर्यरश्मीनुपेह्युपागच्छ, ये पितरो रश्मयो यमेन-कालेन सहयोगं भजन्ते ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(साधुना पथा चतुरक्षौ शबलौ सारमेयौ श्वानौ अतिद्रव) हे जीव ! तू उचित मार्ग से चार प्रहररूप चार आँखों वाले, सूर्य तथा चन्द्र प्रकाश से चित्र रंगयुक्त उषा-पुत्रों-दिन और रात को समीचीन रूप से प्राप्त हो (अथ सुविदत्रान् पितॄन्-उपेहि ये यमेन सधमादं मदन्ति) इसके पश्चात् कल्याणसम्पादक ऋतुसहचरित सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर जो समय के साथ सदा सहयोग रखती हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—देहान्त के पश्चात् जीव शीघ्र-शीघ्र दिन रातों को सूर्य रश्मियों द्वारा पुनर्जन्मार्थ प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥११॥

यौ । ते । श्वानौ । यम । रक्षितारौ । चतुःऽअक्षौ । पथिरक्षी इति पथिऽरक्षी । नृऽचक्षसौ । ताभ्याम् । एनम् । परि । देहि । राजन् । स्वस्ति । च । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यम ते यौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ श्वानौ) हे यम ! तव यौ रक्षकौ चतुष्प्रहरकौ पथिरक्षी-मार्गपालौ, नृचक्षसौ-नृणां मनुष्याणां द्रष्टारौ, श्वानौ-श्वानाविव पृष्ठगामिनावहोरात्रौ स्तः (ताभ्याम्-एनं परिदेहि) ताभ्यामहोरात्राभ्यामेनमेतं जीवं परिदेहि पुनर्जन्मार्थं समर्पय (राजन्-अस्मै स्वस्ति च-अनमीवं च धेहि) हे राजन् ! अस्मै जीवाय स्वस्ति च नैरोग्यं च धेहि-सम्पादय ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(यम ते यौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ श्वानौ) हे समय ! तेरे जो रक्षक चारप्रहररूप चार आंखों वाले मार्गपाल प्राणियों के सदा दर्शक श्वान तुल्य प्रत्येक जीव के पीछे-पीछे चलने वाले दिन और रात हैं (ताभ्याम्-एनं परिदेहि) उन दिन रातों के साथ इस जीव को पुनर्जन्म के लिये छोड़ (राजन्-अस्मै स्वस्ति च-अनमीवं च धेहि) हे राजन् ! इस जीव के लिये सत्तारूप स्वस्ति और नीरोगता का सम्पादन कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—जीव का जीवन समय समाप्त हो जाने पर फिर से नया जीवन मिलता है जो कि शुद्ध और स्वस्थ होकर दिनरात के साथ पुनर्वहन करता है ॥ ११ ॥

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १२ ॥

उरुऽनसौ । असुऽतृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः । जनान् । अनु । तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः । दाताम् । असुम् । अद्य । इह । भद्रम् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमस्य दूतौ उरूणसौ-असुतृपौ-उदुम्बलौ जनान्-अनु चरतः) यमस्य दूतौ महाकुटिलौ [णस् कौटिल्ये भ्वादि०] ततोऽच्¹,असुतृपौ–प्राणैस्तृप्यन्तौ, इत्यालङ्कारिकत्वम्, उरुबलौ महाबलौ जनान्–जायमानानुत्पद्यमानाननु चरतो गतिं कुरुतः (तौ सूर्याय दृशये-अद्य-इह-अस्मभ्यं भद्रम्-असुं पुनः-दाताम्) तावहोरात्रौ सूर्याय दृशये पुनः पुनः सूर्यं दर्शयितुमद्येहास्मिन् लोकेऽस्मभ्यं सुखकरं प्राणं परजन्म धारयितुं पुनर्दत्तः ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(यमस्य दूतौ-उरूणसौ-असुतृपौ-उदुम्बलौ जनान्-अनु चरतः) वे दिन और रात काल के दूत बने हुए बड़े कुटिल कठोर स्वभाव के, प्राणों से तृप्त होने वाले महाबली (यह आलङ्कारिक कथन है) उत्पन्न हुए सभी जीवों में साथ–साथ चलते हैं (तौ सूर्याय दृशये-अद्य-इह-अस्मभ्यं भद्रम्-असुं पुनः-दाताम्) वे दिन और रात बारम्बार सूर्यदर्शन के लिये आज इस लोक में हमारे लिये सुखदायक जीवन धारण करने को दूसरा जन्म फिर देवें ॥ १२ ॥

भावार्थ—दिन और रात आयुरूप जीवनकाल के दूत बन कर बारम्बार सूर्यदर्शन कराते हुए जीव को अन्तिम काल तक ले जाते हैं एवं पुनर्जन्म भी धारण कराते हैं ॥ १२ ॥

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १३ ॥

यमाय । सोमम् । सुनुत । यमाय । जुहुत । हविः । यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमाय सोमं सुनुत) आयुरूपाय जीवनकालाय विश्वकालाय च तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः, सोममोषधिरसं निःसारयत (यमाय हविः-जुहुत) यमाय पूर्वोक्ताय हविः-होत्रं कुरुत (अग्निदूतः-अरङ्कृतः-यज्ञः-यमं ह गच्छति) अग्निर्दूतो यस्य स एवमलङ्कृतःसम्यक्कृतो यज्ञः कालं गच्छति ॥ १३ ॥

भाषान्वयाथ—(यमाय सोमं सुनुत) समय को अनुकूल बनाने के लिये ओषधि रस निकालना चाहिए पुनः (यमाय हविः-जुहुत) उस ओषधि रस की हवि–आहुति अग्नि में होम करो (अग्निदूतः-अरङ्कृतः यज्ञः-यमं ह गच्छति) अग्निदूत के द्वारा यह सम्पादित यज्ञ काल को प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—आयुर्वेदिक ढंग से ओषधिरस का होम जीवन को चिरकालीन बनाने का हेतु है ॥ १३ ॥

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ १४ ॥

यमाय । घृतऽवत् । हविः । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत । सः । नः । देवेषु । आ । यमत् । दीर्घम् । आयुः । प्र । जीवसे ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यमाय घृतवत्-हविः-जुहोत प्रतिष्ठत च) यमाय पूर्वोक्ताय जीवनकालाय विश्वकालाय वा तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः। घृतयुक्तं हवनं जुहोत कुरुत प्रतिष्ठत च तत्र प्रकृष्टतां च प्राप्नुत (सः-नः-जीवसे देवेषु दीर्घम् आयुः प्रायमत्) सोऽस्माकं जीवनाय देवेष्विन्द्रियेषु दीर्घस्थायित्वं विस्तारयति ॥ १४॥

भाषान्वयार्थ—(यमाय घृतवत्-हविः-जुहोत प्रतिष्ठत च) पूर्वोक्त जीवनकाल और विश्वकाल को अनुकूल बनाने के लिए घृतसहित ओषधिरस रूप हवि आदि का होम करो और जीवन की उच्चता को प्राप्त होओ (सः-नः-जीवसे देवेषु दीर्घम्-आयुः प्रायमत्) एवं वह काल हमारे अधिक और उत्तम जीवन के लिये हमारी इन्द्रियों में दीर्घजीवन का विस्तार करे ॥ १४ ॥

भावार्थ—हव्य वस्तुओं में घृत मिलाकर या घृत के साथ हवन करने से इन्द्रिय-शक्तियां चिरस्थायी रहती हैं ॥ १४ ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

यमाय । मधुमत्ऽतमम् । राज्ञे । हव्यम् । जुहोतन । इदम् । नमः । ऋषिऽभ्यः । पूर्वऽजेभ्यः । पूर्वेभ्यः । पथिकृत्ऽभ्यः ॥ १५ ।

संस्कृतान्वयार्थः—(यमाय राज्ञे मधुमत्तमं हव्यं जुहोतन) पूर्वोक्ताय सर्वत्र राजमानाय कालाय मधुमत्तमं मधुररसयुक्तं होतव्यं वस्तु जुहुत (पथिकृद्भ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः-ऋषिभ्यः-इदं नमः) धर्ममार्ग-सम्पादकेभ्यः पूर्वजापेक्षया पूर्वेभ्यः प्राक्तनेभ्य ऋषिभ्य इदं मन्त्रत्रयोक्तं सोमघृतमधुमिश्रं हविष्प्रदानं नम्रत्वं शिष्टाचारोऽस्तु, अस्तीत्यर्थः 'आम्राश्च सिक्ताः पितारश्च प्रीणिताः' इतिवत् ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यमाय राज्ञे मधुमत्तमं हव्यं जुहोतन) पूर्वोक्त सर्वत्र राजमान समय को अनुकूल बनाने के लिए मधु या मिष्ट से युक्त हवि का होम करना चाहिये (पथिकृद्भ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः-ऋषिभ्यः-इदं नमः) धर्म-मार्ग सम्पादन करने वाले पूर्वजों की अपेक्षा भी जो पूर्व ऋषि हो चुके हैं उनके लिये यह तीन मन्त्रों में कहा हुआ सोम घृत मधु-सहित हवि का होमरूप कर्म नम्रतारूप या शिष्टाचाररूप हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—समय को उपयोगी बनाने के लिये मधु या मिष्ट वस्तु से युक्त हवि का होम करना चाहिये। इस प्रकार सोमादि ओषधि का रस घृत और मधु से मिश्रित हवियों का हवन करना आदि उत्तम कर्म पुराने ऋषियों के लिये शिष्टाचार का अनुष्ठान भी समझना चाहिये ॥ १५ ॥

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

त्रिऽकद्रुकेभिः । पतति । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् । त्रिऽस्तुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आऽहिता ॥ १६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एकम्-इत्-बृहत् त्रिकद्रुकेभिः-षट्उर्वीः पतति) एक एव स्वाभाविकः स्वातन्त्र्येण विराजमानः कालः त्रिकद्रुकेभिः-भूतवर्तमानभविष्यन्नामकैस्त्रिचक्रैः षडुर्वीः-भूमिरूपानृतून् प्राप्नोति *"उर्वी पृथिवीनाम* [*निरु०* १ । १] कद्रुकं चक्रम् *"कद् वैकल्ये"* [*भ्वादिः*] एतस्मादौणादिको रुः प्रत्ययस्ततश्च कः (त्रिष्टुप्) द्युलोकः *"त्रिष्टुबसौ द्यौः"* [श० १ । ७ । २ । १५] (गायत्री) पृथिवीलोकः । *"या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी"* [श० १ । ४ । १ । ३४] (ता सर्वा छन्दांसि) ताः सर्वा दिशोऽन्तरिक्षलोक इत्यर्थः *"छन्दांसि वै दिशः"* [श० ८ । ३ । १ । १२] (यमे) काले विश्वकाले (आहिता) वर्तन्ते ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(एकम्-इत्-बृहत् त्रिकद्रुकेभिः-षट् उर्वीः पतति) स्वभाव तथा निज स्वतन्त्रता में किसी की अपेक्षा न करने वाला एक अकेला काल 'भूत वर्तमान भविष्यत्' इन तीन कालचक्रों से ऋतु रूप छः भूमियों को प्राप्त होता है (त्रिष्टुब् गायत्री ता सर्वा छन्दांसि यमे-आहिता) द्यावापृथिवी और सारी दिशायें अर्थात् अन्तरिक्ष काल के अन्दर ही रखे हुए हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—काल 'भूत वर्तमान भविष्यत्' रूप तीन चक्रों द्वारा छः ऋतुओं में विभक्त हो जाता है । न केवल प्राणियों के लिये ही यह काल यमन करने वाला है अपितु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ एवं तीनों लोकों अर्थात् सम्पूर्ण भुवन समय के नियन्त्रण में रहता है अत एव समय का परिज्ञान और उस से उचित लाभ उठाना चाहिये ॥ १६ ॥



पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—शंखो यामायनः ।

देवताः— पितरः ।

छन्दः—१, २, ७, १२-१४ विराट् त्रिष्टुप् । ३, ९, १० त्रिष्टुप् । ४, ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ६ निचृत् त्रिष्टुप् । ५ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् । ११ निचृज्जगती ।

स्वरः—१-१०, १२-१४ धैवतः । ११ निषादः ।

वक्तव्य

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या निरुक्त में की गई है जो नीचे मन्त्रभाष्य में उद्धृत है। उसमें निरुक्तकार ने आधिदैविक विषय को दर्शाया है। तथा *"तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते"* [*निरु० ११ । १८*] इस निरुक्तवचन से भी विशेष स्पष्टीकरण हो जाता है। सम्पूर्ण सूक्त के देवता पितर हैं। और इसमें मुख्यरूपेण यज्ञप्रक्रिया का विधान है जिसमें दो प्रकार के पितर उपयुक्त होते हैं। एक जड़ पितर सूर्य की रश्मियां, दूसरे चेतन पितर ज्ञानी लोग। लोकप्रत्यक्ष भी यही है। यज्ञ का उत्तम उपयोग बिना सूर्यकिरणों और ज्ञानी पुरुषों के नहीं हो सकता, अत एव सूर्योदय के पश्चात् से सूर्यास्त से पूर्व–पूर्व यज्ञ करने का याज्ञिक सिद्धान्त है। तथा ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता, होता आदि ज्ञानी जनों के द्वारा यज्ञ करने का आदेश भी है। अत एव इस सूक्त में संक्षेप से यज्ञप्रक्रियाविज्ञान है। साथ–साथ पितृपरिचय, ज्ञानीजनों का यज्ञ में कर्त्तव्य और सूर्यरश्मियों का उपयोगविज्ञान दर्शाया है। यज्ञ के तीन सवन, पृथिवीभ्रमण से अहोरात्रवृत में सूर्यरश्मियों के मुख्यस्थान या केन्द्र, यज्ञ के योग से किरणों का पोषक और वलदायक बनना, बुद्धि का विकसित करना, उदित, तृप्त और शान्त रश्मियों का वर्तन, उत्तरायण और दक्षिणायन में सूर्यरश्मियों का यज्ञ में लाभ और यज्ञाहुति का रश्मियों द्वारा प्रसार, ज्ञानी जनों के द्वारा यज्ञ का सेवन और उनका सत्कार, निज सन्देहों या प्रश्नों का उनसे समाधान तथा उपदेश प्राप्त करना आदि–आदि उपयोगी बातों का वर्णन है—

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥

उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः । असुम् । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतऽज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उदीरताम्-अवरे-उत्-परासः-उत्मध्यमाःपितरः सोम्यासः) *"उदीरतामवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्ते"* [निरु० ११ । १८] अवरे प्रातःसवनीयाः सोमसम्पादिन उत्पद्यमानेषु रससम्पादिनः सूर्यरश्मयो रसयुक्तान् पदार्थानुदीरतामुन्नयन्तु मध्यमा माध्यन्दिनसवनीयाः पूर्ववद्रससम्पादिनो रविकिरणा उदीरताम्-उन्नयन्तु तानेव पदार्थान् । परे वर्तमानास्तृतीयसवनिकाः सूर्यरश्मय उदीरतामुन्नयन्तु तानेव । एवं त्रीणि सवनानि यज्ञस्य भवन्ति तत्सम्बद्धाः सर्वे हि सूर्यरश्मय उन्नयन्तु (असुं ये-ईयुः-अवृकाः-ऋतज्ञाः-ते नः-पितरः-हवेषु-अवन्तु) "असुं ये *प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो हवेषु"* [निरु० ११ । १८] ये पितरः सूर्यरश्मयोऽसुं प्राणं प्राणवन्तं जीवमात्रमीयुः प्राप्ताः सन्ति तेऽवृका अनमित्रा अस्माभिः सह संश्लिष्टा ऋतज्ञा यज्ञज्ञा वा यज्ञस्य ज्ञानसाधकाः । 'कृतो बहुलमित्यपि करणे कः' अस्माकं ज्ञानेषु विचारस्पर्द्धासून्नेतुमागच्छन्तु-आगच्छन्ति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अवरे पितरः सोम्यासः-उदीरताम्-उत्-मध्यमाः- उत्-परासः) उत्पन्न हुए जगत् पदार्थों में रस को सम्पादन करने वाली प्रातःसवनीय सूर्यरश्मियां उन जगत्पदार्थों को उन्नत करती हैं एवं मध्यसवन और तृतीय सवन की रश्मियां भी उनको उन्नत करती हैं, जब कि यज्ञ से संयुक्त हुई रश्मियां फैलती हैं (ये-असुम्-ईयुः-अवृकाः-ऋतज्ञाः-ते पितरः नः- हवेषु-अवन्तु) और वे सूर्यरश्मियां जीवमात्र में सङ्गत होती हैं अतएव हम से संश्लिष्ट होकर यज्ञ के उपयुक्त ज्ञान की साधक बन हमारे आन्तरिक विकासों में उन्नति के लिए प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यज्ञ के योग से सूर्य की रश्मियां जड़ चेतन प्राणीमात्र के जीवनरस को उन्नत करने वाली बनती हैं। अत एव यज्ञ के उपयोग-ज्ञान से उन रश्मियों को अपने जीवन के लिये उन्नायक बनावें ॥ १ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ २ ॥

इदम् । पितृऽभ्यः । नमः । अस्तु । अद्य । ये । पूर्वासः । ये । उपरासः । ईयुः । ये । पार्थिवे । रजसि । आ । निऽसत्ताः । ये । वा । नूनम् । सुऽवृजनासु । विक्षु ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पितृभ्यः-इदं नमः-अस्तु) सूर्यरश्मिभ्य इदं नमोऽयं यज्ञोऽस्तु । *"यज्ञो वै नमः"* [श० २ । ४ । २ । २४] कतमेभ्यः ? (अद्य ये पूर्वासः-ये-उपरासः-ईयुः-ये-पार्थिवे रजसि-आ निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु) अद्यास्मिन्दिनेऽद्यतने ये पूर्वदिशासम्बन्धिनः सूर्यरश्मय ईयुः प्राप्ताः सन्ति ये-उपरासः-पश्चिमदिशामीयुः प्रतिगताः सूर्यरश्मयो ये पार्थिवे रजसि-पृथिवीलोके पृथिवीतले वा सम्प्रविष्टा रश्मयः । *"लोका रजांस्युच्यन्ते"* [निरु० ४ । १६] ये वा सुवृजनासु सुस्पष्टं निर्मलं वृजनमन्तरिक्षमाकाशं

यासां तासु-अन्तरिक्षवासिनीषु विक्षु प्रजासु समन्तात्प्रविष्टाः सन्ति तेभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः पूर्वोक्तो यज्ञोऽस्तु *"वृजनमन्तरिक्षम्"* [*उणादि० दयानन्दः*] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(पितृभ्यः-इदं नमः-अस्तु) सूर्यरश्मियों के लिए यज्ञ हो (अद्य ये पूर्वासः-ये-उपरासः-ईयुः- ये पार्थिवे रजसि आ निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु) आज जो पूर्वदिशा सम्बन्धी सूर्य रश्मियां प्राप्त होती हैं तथा जो पश्चिम दिशा में वर्तमान हैं या जो किरणें पृथिवी के अन्दर और जो आकाश में रहने वाले लोकों या प्राणीवर्ग में वर्तमान हैं उन सभी किरणों को उपयोगी बनाने के लिये यज्ञ है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य के पूर्व पश्चिम रूप उदयास्त मार्ग से प्राप्त किरणों तथा पृथिवी के अन्दर पार्थिव वस्तुओं और आकाशस्थ पदार्थों को प्राप्त रश्मियों को यज्ञक्रिया से उपयोगी बनाना चाहिये ॥ २ ॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ३ ॥

आ । अहम् । पितॄन् । सुऽविदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । च । विऽक्रमणम् । च । विष्णोः । बर्हिऽसदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आऽगमिष्ठाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं सुविदत्रान् पितॄन्-आ-अवित्सिवि ष्णोः-नपातं विक्रमणं च) अहं कल्याणविद्यान् पालकजनान् तथा विष्णोर्यज्ञस्य स्थिरत्वं व्याप्तित्वं विक्रमणं चान्तरिक्षे सञ्चारविशेषं चावित्सि–आस्मरामि मनसि धारयामि *"यज्ञो वै विष्णुः"* [*श० १३-।१।८।८*] अवित्सि 'विद् विचारणे' लुङि रूपम् । (ये बर्हिषदः सुतस्य पित्वः स्वधया भजन्त ते-इह-आगमिष्ठाः) ये बर्हिषदो यज्ञासने सीदन्ति ते सुतस्य सम्पादितस्य पक्वस्य पित्वोऽन्नस्य *"पितुरन्ननाम"* [*नि० २।७*] स्वधया स्वधारणया स्वेच्छया भजन्त भजत सेवेध्वम्, 'अत्र नकारोपजनश्छान्दसः' । अत एव यूयमत्रागमिष्ठाः-आगच्छत । स्वधा-स्वधारणास्वं दधातिस्वधा *"आतोऽनुपसर्गे कः* [*अष्टा० ३।२।३*] स्त्रियां स्वधा ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं सुविदत्रान् पितॄन्-आ-अवित्सि विष्णोः-नपातं विक्रमणं च) मैं शुभ विद्या सम्पन्न पालक जनों, विद्वानों तथा यज्ञ की प्रसाररूप व्याप्ति को भली प्रकार जानता हूं (ये बर्हिषदः सुतस्य पित्वः स्वधया भजन्त ते-इह आगमिष्ठाः) इस यज्ञावसर पर तुम सब विद्वानो ! शुभासन पर विराजित हुए स्वेच्छा से भोजन खाओ, अतएव यहां आकर विराजो ॥ ३ ॥

भावार्थ—यज्ञक्रिया का फल बहुत दूर तक व्यापता है । और उस यज्ञ का अनुष्ठान परिचित शुभविद्यासम्पन्न विद्वानों के द्वारा करना चाहिये । पुनः उन विद्वानों को उनकी इच्छानुसार भोजन खिलाना चाहिये ॥ ३ ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ४ ॥

बर्हिऽसदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् । ते । आ । गत । अवसा । शम्ऽतमेन । अथ । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बर्हिषदः पितरः-ऊती-अर्वाक्-वः-इमा हव्या-चकृम जुषध्वम्) यज्ञासन उपविष्टा ऊती-ऊत्यै-अस्मद्रक्षायै "सुपां सुपो भवन्ति" [अष्टा० ७ । १ । ३९ वार्तिकम्] विभक्तिव्यत्ययः । अत्र यज्ञे युष्मभ्यमिमानि हव्यानि कुर्मः सम्पादयामः सज्जीकुर्मो यूयं जुषध्वमग्नौ प्रक्षेपार्थं प्रयुङ्ध्वम् (ते शंतमेन-अवसा-आगत नः-अरपः शंयोः-दधात) ते यूयं विद्वांसः सुखमयेन रक्षणेन सदैव प्राप्नुत, अस्मभ्यं पापरहितं भावं रोगाणां शमनं यावनं च भयानां धारयत, तथा च निरुक्तम् [४ । ११] ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(बर्हिषदः पितरः-ऊती-अर्वाक्-वः-इमा हव्या-चकृम जुषध्वम्) यज्ञासन पर बैठे हुए हे विद्वानो ! हम अपनी रक्षा के लिये तुम्हारे वास्ते होम की वस्तुओं को तैयार करते हैं इनको तुम अग्नि में डालकर काम में लाओ (ते शंतमेन-अवसा-आगत नः-अरपः शंयोः-दधात) वे तुम विद्वानो ! सुखमय रक्षण के कारण सदा प्राप्त हुआ करो और हमारे लिये शुद्धभाव, रोगनिवृत्ति और भय के दूरीकरण का उपाय करते रहो ॥ ४ ॥

भावार्थ—यज्ञ में विद्वानों को निमन्त्रित करके उनसे अपनी रोगनिवृत्ति और आपत्तियों से बचने के लिये कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ४ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५ ॥

उपऽहूताः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिष्येषु । निऽधिषु । प्रियेषु । ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि । ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु-उपहूताः सोम्यासः पितरः) यज्ञसम्बन्धिषु स्वानुकूलेषु दक्षिणारूपगवादिधनेषु निमन्त्रिताः सोमसम्पादिनः सोमवन्तः सोमौषधिरससम्पादनादिक्रियाकुशलाः ज्ञानिजनाः सन्ति *"तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः"* [श० २ । ६ । १ । ७] (ते-आगमन्तु ते-इह श्रुवन्तु ते-अधि ब्रुवन्तु ते-अस्मान् अवन्तु) पूर्वोक्तास्ते विद्वांस इहात्रागच्छन्तु श्रुवन्त्वस्मत्प्रश्नान् शृण्वन्त्वधि ब्रुवन्तु पश्चादुपदिशन्त्वित्थं श्रवणोपदेशाभ्यामस्मान् रक्षन्तु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु-उपहूताः सोम्यासः पितरः) यज्ञसम्बन्धी स्वानुकूल दक्षिणारूप गौ आदि धनों के निमित्त निमन्त्रित जो सोमवान् सोमौषधिरस सम्पादन आदि क्रिया में कुशल विद्वान् ज्ञानिजन हैं (ते-आगमन्तु ते-इह श्रुवन्तु ते-अधि ब्रुवन्तु-ते-अस्मान्-अवन्तु) वे विद्वान् यहां आवें, हमारे प्रश्नों को सुनें उपदेश दें या समाधान करें इस प्रकार श्रवण और उपदेश से हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—यज्ञ में क्रियाकुशल विद्वानों को निमन्त्रित करना तथा उनसे अपने विविध प्रश्नों का समाधान और उपदेश सुनना चाहिये और सत्कारार्थ इच्छानुकूल गौ आदि पदार्थ दक्षिणा में देने चाहियें ॥ ५ ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६ ॥

आऽअच्य । जानु । दक्षिणतः । निऽसद्य । इमम् । यज्ञम् । अभि । गृणीत । विश्वे । मा । हिंसिष्ट । पितरः । केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पितरः-जानु-आच्य विश्वे दक्षिणतः-निषद्य-इमं यज्ञम्-अभिगृणीत) हे पितरो विद्वांस उभे जानुनी प्रसार्यासनं विधायेत्यर्थः । जानु "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०" [अष्टा० ७ । १ । ३९] अनेन द्विवचनप्रत्ययस्य लुक् । यूयं सर्वे दक्षिणायां दिशि दक्षिणपार्श्वे वा निषद्य स्थित्वेमं यज्ञं स्वीकुरुत 'विदुषां वामपार्श्वे स्थेयमिति शिष्टाचारः । ब्रह्मासनं च दक्षिणायां कल्प्यते' । (यद्-वः-आगः पुरुषता कराम केनचित्-नः-मा हिंसिष्ट) यद्वो युष्माकमपराधं सत्कारे दक्षिणायां वा पुरुषतया कराम कुर्मः । अत्र सामान्ये काले लोट् शप् च विकरणव्यत्ययेन । केनचिदप्यपराधेनास्मान् मा हिंस्थेति वयं जानीमः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(पितरः-जानु-आच्य विश्वे दक्षिणतः-निषद्य इमं यज्ञम्-अभिगृणीत) हे विद्वान् लोगो ! दोनों जानुओं को आसन की विधि से फैलाकार तुम सब दक्षिण दिशा या दक्षिण भाग में बैठकर इस यज्ञ को स्वीकार करो क्योंकि विद्वानों के वामपार्श्व में बैठने का शिष्टाचार है अथवा यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दक्षिण में होता है (यद्-वः-आगः पुरुषता कराम केनचित्-नः-मा हिंसिष्ट) और जो तुम्हारे प्रति हम कोई शिष्टाचार या दक्षिणा आदि में मनुष्य होने से गलती करें तो उस किसी भी गलती के कारण तुम लोग हिंसा नहीं करते हो यह हम जानते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वानों को दक्षिणभाग में आसन पर बिठलाकर यज्ञ का आरम्भ करना चाहिये । अपनी भूल के सम्भव होने से उनसे नम्रता पूर्वक गलती को स्वीकार करना चाहिये ॥ ६ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ७ ॥

आसीनासः । अरुणीनाम् । उपऽस्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय । पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् । दधात ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अरुणीनाम्-उपस्थे-आसीनासः पितरः- दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त तस्य पुत्रेभ्यः-वस्वः प्रयच्छत ते-इह-ऊर्जम् दधात) *"अरुण्यो गाव उषसाम्"* [*निघं०* २ । २८] इति प्रामाण्यात् । अरुणीनामुषोऽन्तर्गतप्रकाशधाराणामुपस्थ उपस्थाने-उपरिभागे संलग्नाः संस्थिताः सूर्यरश्मयो यजमानाय मनुष्याय रयिम्-वीर्यं बलमित्यर्थः *"वीर्यं वै रयिः"* [*श०* १३ . ४ । २ । १३] धत्त धारयन्तु । पुरुषव्यत्ययः । तस्य सन्तानेभ्यः प्राणान् प्रयच्छत-प्रयच्छन्तु ददतु । *"प्राणा वाव वसवः"* [*छान्दो०* ३ । १६ । १] पूर्वोक्तास्त उषःकालसम्बद्धाः सूर्यरश्मय इहोभयत्र यजमाने तत्पुत्रेषु चोर्जं रसं दधात धारयन्तु *"ऊर्ग्रसः"* [*निरु०* ६ । ४३] *"ऊर्वै रसः"* [*श०* ५ । १ । २ । ८] अन्यत्रापि वेदेऽरुणी-शब्दस्योषःशब्देन सह सम्बन्धस्तथा पितरः सूर्यरश्मय इति विज्ञानं प्रतीयते *"आवहन्त्यरुणी ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना । प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन"* [*ऋ०* ४ । १४ । ३] *"अधा यथा नः पितरः परासोऽग्न ऋतमाशुषाणाः । शुचीदयन्दीधिति-मुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्"* [*ऋ०* ४ । २ । १६] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अरुणीनाम्-उपस्थे-आसीनासः पितरः-दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त) उषा सम्बन्धी प्रकाश धाराओं के उपरिभाग पर संस्थित सूर्यरश्मियां यजमान मनुष्य के लिये बल को धारण कराती हैं (तस्य पुत्रेभ्यः-वस्वः प्रयच्छत) और उसके पुत्रों के लिये भी शुद्ध प्राणों का दान करती हैं (ते-इह-ऊर्जं दधात) वे सूर्यरश्मियां इस प्रकार दोनों यजमान और उसकी सन्तति में जीवनरस को धारण कराती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—यज्ञ सेवन करने वाले मनुष्य तथा उनकी सन्तति में जीवनरस बल और प्राण-शक्तियों का सूर्य की रश्मियां वास कराती हैं ॥ ७ ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ८ ॥

ये । नः । पूर्वे । पितरः । सोम्यासः । अनुऽऊहिरे । सोमऽपीथम् । वसिष्ठाः । तेभिः । यमः । सम्ऽरराणः । हवींषि । उशन् । उशत्ऽभिः । प्रतिऽकामम् । अत्तु । ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये पूर्वे सोम्यासः पितरः सोमपीथं वसिष्ठाः-नः-अनूहिरे) ये पूर्वे प्रातस्तनाः सूर्योदयकालप्रमाणाः सोमसम्पादिनो रससम्पादिनः-वसन्ततु वत्

सूर्यरश्मयः सोमस्य पीथं रसस्य पातारं सूर्यं वसिष्ठाः-वस्तृतमाः-अस्माननूहन्तेऽनुवितर्कयन्ति कार्येषु प्रेरयन्ति *"यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति ते नो एव वसिष्ठाः"* [श० ८ । १ । १६] (तेभिः-उषद्भिः-संरराणः-यमः-उशन् हवींषि प्रतिकामम्-अत्तु) तैर्दीप्यमानै रश्मिभिः संरममाणो यमः-सूर्यः *"यमो रश्मिभिरादित्यः"* [*निरु०* १२ । २६] दीप्यमानो हवींष्यग्नौ प्रक्षिप्तानि हव्यानि वस्तूनि-अस्मत्कामनानुसारमत्तु गृह्णातु-गृह्णाति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये पूर्वे सोम्यासः पितरः सोमपीथं वसिष्ठाः-नः-अनूहिरे) जो पूर्वकालीन सूर्योदय के साथ ही उदय होने वाली वसन्त ऋतु के तुल्य रससम्पादन करने वाली किरणें सूर्य का अत्यन्त आश्रय लेने वाली हम को कार्यों में प्रेरित करती हैं (तेभिः-उषद्भिः-संरराणः-यमः-उशन् हवींषि प्रतिकामम्-अत्तु) उन देदीप्यमान रश्मियों के साथ सम्यक् रम्यमाण सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ अग्नि में डाली हुई हवियों का हमारी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ग्रहण करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रातःकाल की सूर्यरश्मियां यज्ञ में उपयुक्त हुई-हुई हमारे अन्दर कार्य-कुशलता की प्रेरणा करती हैं और उदयकाल का सूर्य भी हमारी मानस प्रसन्नता और शारीरिक सुखजीवनी का हेतु बनता है ॥ ८ ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ९ ॥

ये । ततृषुः । देवऽत्रा । जेहमानाः । होत्राऽविदः । स्तोमऽतष्टासः । अर्कैः । आ । अग्ने । याहि । सुऽविदत्रेभिः । अर्वाङ् । सत्यैः । कव्यैः । पितृऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये देवत्रा जेहमानाः-होत्राविदः स्तोमतष्टासः-अर्कैः-तातृषुः) ये सूर्यरश्मयो देवान् गच्छन्तो देवत्वं द्युस्थानत्वं प्राप्नुवन्तः, *"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा"*] *निरु०* ७ । १५] होत्राविदः-अङ्गचेतकाः *"होत्रा अङ्गानि"* [*गोपथ* ३ । ६ । ६] स्तोमतष्टासः स्तोमा प्राणास्तष्टाः शोधिता यैस्ते *"प्राणा वै स्तोमाः"* [श० ८ । ४ । १ । ४] अद्भिस्तृष्यन्ति जलमाकर्षितुं पृथिवीं पतन्ति *"आपो वा अर्कः"* [श० १० । ४ । १ । २३] हेतौ तृतीया (सुविदत्रेभिः-सत्यैः कव्यैः-घर्मसद्भिः पितृभिः-अग्ने-अर्वाङ्-आयाहि) कल्याणी विद्या येषां तैः सत्यैः सत्सु विद्यमानेषु भवैर्व्याप्तैः कव्यैः-सूर्यान्तर्भवैः *"असौ वा आदित्यः कविः"* [श० ६ । ७ । २ । ४] घर्मसद्भिः-अहःसद्भिर्मध्यमदिनं प्राप्नुवद्भिः *"तप्त इव वै घर्मः"* [श० १४ । ३ । १ । ३३] किरणैः सहाग्ने-आयाह्यत्र यज्ञे वृष्टिनिमित्तमायाहि प्राप्नुहि ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये देवत्रा जेहमाना:--होत्राविद:-स्तोमतष्टास:-अर्कै:-तातृषुः) जो सूर्य की किरणें देवत्व को प्राप्त होती हुई तीक्ष्णता के कारण प्राण्यङ्गों में घुसती हुई प्राणों को स्वेदन से संशोधित करती हुई जलों के आकर्षण के लिये तृषित हुई भूमि पर गिरती हैं (सुविदत्रेभि:-सत्यै: कव्यै:- घर्मसद्भि:-पितृभि:-अग्ने-अर्वाङ्-आयाहि) उचित विज्ञानलाभ जिनसे हो सकता हो ऐसी उन मध्याह्नगत किरणों के साथ यह अग्नि वृष्टिनिमित्त यज्ञ में प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मध्याह्नकाल में सूर्य की किरणें प्राणियों के अङ्ग-अङ्ग में घुस जाती हैं और प्राणों का शोधन करती हैं । इनका विज्ञान के द्वारा उपयोग होना चाहिये ॥ ६ ॥

ये सत्यासो॑ हविरदो॑ हविष्पा इन्द्रे॑ण देवैः सरथं॑ दधा॑नाः ।
आग्ने॑ याहि सहस्रं॑ देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ १० ॥

ये । सत्यासः । हविःऽअदः । हविःऽपाः । इन्द्रे॑ण । देवैः । सऽरथम् । दधा॑नाः । आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देवऽवन्दैः । परैः । पूर्वैः । पितृऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये सत्यास:-हविरद:-हविष्पा:-इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) ये स्थिराः सर्वत्र व्याप्ता अब्भक्षास्तथोदकपाः सूर्येण देवै:-विद्युद्भिश्च सह समानरमणस्थानं धारयन्तः (देववन्दैः पूर्वैः परैः-घर्मसद्भिः पितृभि:-अग्ने सहस्रं आ याहि) देवानां वन्दनसाधनैः पूर्वैः-प्रथमैः प्रातःकालिकैः परैः सायन्तनैश्च घर्मसद्भि:-अहःसद्भिः सूर्यरश्मिभिरग्ने सहस्रं बहुवारं मुहुर्मुहुर्वा याहि प्राप्तो भव ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ये सत्यास:-हविरद:-हविष्पा:-इन्द्रेण देवै:-सरथं दधानाः) जो सर्वत्र व्याप्त जल का भक्षण तथा शोषण करने वाली किरणें सूर्य तथा विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों के साथ सहयोग रखती हुई (देववन्दैः पूर्वैः परैः- घर्मसद्भिः पितृभि:-अग्ने सहस्रं आ याहि) देववन्दन दिव्यज्ञान की साधनभूत प्रातःकालीन और सायंकालीन रश्मियों के साथ तथा दिन में प्राप्त किरणों के साथ भी हे अग्ने ! तू असंख्यरूपेण बारम्बार प्राप्त हो ॥ १० ॥

भावार्थ—जो सूर्य की किरणें जल का भक्षण या शोषण करती हुई हों उनके प्रकाश से किन्हीं दिव्य बातों का परिचय लेना चाहिये ॥ १० ॥

अग्नि॑ष्वात्ताः पितर॒ एह ग॑च्छत॒ सदः॑सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अ॒त्ता ह॒वींषि॒ प्रय॑तानि ब॒र्हिष्यथा॑ र॒यिं सर्व॑वीरं दधातन ॥ ११ ॥

अग्नि॑ऽस्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदः॑ऽसदः । सदत । सुऽप्रनीतयः । अत्त । हवींषि । प्रऽयतानि । बर्हिषि । अथ । रयिम् । सर्वऽवीरम् । दधातन ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निष्वात्ताः पितर:-इह-आगच्छत सुप्रणीतयः सदःसदः सदत) अग्निर्यैः स्वात्तः सम्यग्गृहीतो यैस्ते पितर:-सूर्यरश्मयः "अग्निष्वात्ता ऋतुभिः

संविदानाः" [तै० २ । ६ । १६ । २] "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः" [अथर्व० ३ । ८ । १] इहाऽस्मद् गृहे समन्तात्प्राप्ता भवन्तु, 'पुरुषव्यत्ययः' तथा सुप्रणीतयः सु सम्यक् प्रणीतिः प्रणयनं घृतादिसम्पर्कः सञ्चारो येषां ते सदःसदः प्रतिसदं-प्रतिगृहं सदत गच्छन्तु (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि-आ+अत्त-अध रयिं सर्ववीरं दधातन) यज्ञे प्रदत्तानि हव्यानि वस्तूनि गृह्णन्तु, अध-अनन्तरं सर्ववीरम्-सर्वे वीरा यस्मात्तत्सर्ववीरं वीर्यं बलमस्मासु धारयन्तु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निष्वात्ताः पितरः-इह आगच्छत सुप्रणीतयः सदःसदः सदत) यज्ञाग्नि को सम्यक् ग्रहण की हुई किरणें इस मण्डल में समन्त रूप से फैलें एवं सुसंचरित होकर घर घर या स्थान-स्थान में भली प्रकार प्राप्त हों (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि-आत्त-अध रयिं सर्ववीरं दधातन) यज्ञ में दी गई हव्यवस्तुओं को प्राप्त हों पुनः सर्वप्रकार के वीरगुणयुक्त बल को हम में धारण करावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—सूर्य की रश्मियां यज्ञ के सम्पर्क से सुगन्ध गुण युक्त होकर यज्ञमण्डल के घर-घर में प्रवेश करती हैं और लाभप्रद होती हैं ॥ ११ ॥

त्वम॑ग्न ईळि॒तो जा॑तवे॒दोऽवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी ।
प्रादा॑ः पि॒तृभ्य॑ः स्व॒धया॑ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥ १२ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । ई॒ळि॒तः । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । अवा॑ट् । ह॒व्यानि॑ । सु॒र॒भीणि॑ । कृ॒त्वी । प्र । अ॒दा॒ः । पि॒तृऽभ्य॑ः । स्व॒धया॑ । ते । अ॒क्ष॒न् । अ॒द्धि । त्वम् । दे॒व॒ । प्रऽय॑ता । ह॒वींषि॑ ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-अग्ने त्वम्-ईडितः-हव्यानि सुरभीणि कृत्वी-अवाट्) हे जातेषु विद्यमानाग्ने ! यज्ञाग्ने ! त्वं यज्ञे-अध्येषितः प्रेरितः सन् हव्यानि वस्तूनि सुगन्धीनि कृत्वी-कृत्वाऽवाड्-ऊढवान् (देव प्रयता हवींषि त्वम्-अद्धि पितृभ्यः प्रादाः स्वधया ते अक्षन्) हे अग्निदेव ! दत्तानि हव्यानि वस्तूनि त्वमद्धि-भक्षय सूक्ष्मी-कुरु, सूर्यरश्मिभ्यः प्रादाः-देहि ते च रश्मयः स्वधया स्वधारणशक्त्याऽक्षन् भक्षयन्तु सूक्ष्मीकृत्य प्रसारयन्त्विति यावत् ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-अग्ने त्वम्-ईडितः-हव्यानि सुरभीणि कृत्वी-अवाट्) सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्ने ! तू यज्ञ में प्रेरित प्रज्वलित होकर हव्य वस्तुओं को सुगन्ध वाली बना कर वहन करती है (देव प्रयता हवींषि-त्वम्-अद्धि पितृभ्यः प्रादाः स्वधया ते-अक्षन्) हे अग्निदेव ! दी हुई उन हव्य वस्तुओं को खा, अर्थात् सूक्ष्म बना और पुनः सूर्य रश्मियों के सुपुर्द कर वे भी अपनी धारण शक्ति से सूक्ष्म करके सर्वत्र फैला दें ॥ १२ ॥

भावार्थ—अग्नि में हव्य वस्तु अति सुगन्ध को प्राप्त होती है और पुनः अग्नि में सूक्ष्म होकर किरणों के आधार पर और भी सूक्ष्म बन कर फैल जाती है ॥ १२ ॥

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्चं विद्म याँ उं च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १३ ॥

ये। च। इह। पितरः। ये। च। न। इह। यान्। च। विद्म। यान्। ॐ इति। च। न। प्रऽविद्म। त्वम्। वेत्थ। यति। ते। जातऽवेदः। स्वधाभिः। यज्ञम्। सुऽकृतम्। जुषस्व ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये च पितरः-इह ये च न-इह यान्-च विद्म यान्-उ च न प्रविद्म) ये च पितरः सूर्यरश्मय इहात्राऽस्मद्गृहे ये च नेह नात्र याँश्च सूर्यरश्मीन् विद्म वयं जानीमो यान् उ-यानपि न प्रविद्म न जानीमः (जातवेदः-यति त्वं वेत्थ स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) हे जातेषु विद्यमानाग्ने ! यति-यावतस्त्वं वेत्थ लब्धवान् तान् सर्वानपि रश्मीन् स्वधाभिः स्वधारणशक्तिभिरिमं सुकृतं सुसम्पादितं यज्ञं प्रापय ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ— (ये च पितरः-इह ये च न-इह यान् च विद्म यान्-उ च न प्रविद्म) जो सूर्यरश्मियां इस यज्ञगृह या यज्ञकाल में हैं या जो यहां नहीं हैं तथा जिन किरणों को प्रतिदिन उपयोग द्वारा जानते हैं अथवा जिनको हम नहीं भी जानते हैं (जातवेदः-यति त्वं वेत्थ स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) उन सभी को हे अग्निदेव ! तू प्राप्त करता है अतएव उन सब में इस सुसम्पादित हमारे यज्ञ को अपनी धारणशक्तियों से पहुंचा दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—अग्नि में किया हुआ यज्ञ अपने घर, दूसरे के घर तथा वर्तमान समय और दूसरे समय एवं विज्ञात और अविज्ञात सूर्य की किरणों को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ १४ ॥

ये। अग्निऽदग्धाः। ये। अनग्निऽदग्धाः। मध्ये। दिवः। स्वधया। मादयन्ते। तेभिः। स्वऽराट्। असुऽनीतिम्। एताम्। यथाऽवशम्। तन्वम्। कल्पयस्व ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये अग्निदग्धाः-ये-अनग्निदग्धाः-दिवः-मध्ये स्वधया मादयन्ते)ये-अग्निदग्धाः-अग्निर्दग्धो दीपितो यैस्ते ग्रैष्मा उत्तरायणान्ते भवाः सूर्यरश्मयः, *"जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः"* [अष्टा० ६ । २ । १७०] इति सूत्रेण बहुव्रीहावन्तोदात्तः, दह धातुर्दीप्तौ *"दहिक् दीप्तौ"* [कविकल्पद्रुमः] येऽनग्निदग्धास्तद्विपरीता हैमन्तिका दक्षिणायनान्ते भवाः सूर्यरश्मयस्ते सर्वे दिवोऽन्तरिक्षस्य मध्ये स्वधयोदकेनोदकवृष्ट्या मादयन्ते प्राणिनो जीवयन्ति (स्वराट् तेभिः-एताम्-असुनीतिं तन्वं यथावशं कल्पयस्व) स्वराट्-हे प्रकाशमानाग्ने ! तेभिः सूर्यरश्मिभिरेतां तन्वमेतं जीवशरीरमसुनीतिं प्राणसञ्चारस्थानं यथावश्यकं यथायोग्यं समर्थयस्व ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये-अग्निदग्धाः-ये अनग्निदग्धाः-दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) अग्नितेज या ताप जिन किरणों से बढ़ जाता है वे ग्रीष्मकाल अर्थात् उत्तरायण के अन्त की तथा उनसे विपरीत शीतकाल अर्थात् दक्षिणायन के अन्त की सूर्यरश्मियां जो आकाश के मध्य में विचरती हुई जलवृष्टि से प्राणियों को जीवन देती हैं (स्वराट् तेभिः-एताम्-असुनीतिं तन्वं यथावशं कल्पयस्व) हे यज्ञ में प्रकाशमानाग्ने ! उन किरणों के द्वारा प्राणसञ्चार के स्थान जीवशरीर को यथायोग्य समर्थ बना ॥ १४ ॥

भावार्थ—उत्तरायण और दक्षिणायन के अन्त में होने वाली वर्षा की कारणभूत सूर्यकिरणों को आकाश से सुवृष्टि के लिये यज्ञाग्नि प्रेरित करती है। जिस से जीव शरीर यथायोग्य प्राणशक्ति को धारण कर सकता है ॥ १४ ॥



षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—दमनो यामायनः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१,४,७,८ निचृत् त्रिष्टुप् । २,५ विराट् त्रिष्टुप् । ३ भुरिक् त्रिष्टुप् । ६,९ त्रिष्टुप् । १० स्वराट् त्रिष्टुप् । ११ अनुष्टुप् । १२ निचृदनुष्टुप् । १३, १४ विराडनुष्टुप् ॥

स्वरः—१-१० धैवतः । ११-१४ गान्धारः ।

वक्तव्य

इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता अग्नि है । देहान्त हो जाने पर कृत्रिम और सर्वत्र सिद्ध अग्नि, शव का किस प्रकार छेदन भेदन, विभाग करती है तथा अजन्मा जीवात्मा को पुनर्देह धारण करने के लिये योग्य बनाती है । एवं अग्निसंस्कार का औषधतुल्य वर्णन, शवाग्नि परिणाम और उसका घृतादि आहुति से शवदहनगन्धदोषनिवारण द्वारा उपचार, शवाग्नि से दग्ध देशभूमि की प्रतिक्रिया उसका पुनः पूर्व के तुल्य बना देना आदि-आदि प्रतिकार योग्य बातों का वर्णन है । मनुष्य जिन पर ध्यान न देकर और तदनुसार आचरण न करके शवदहन आदि से जनित हानियों के अपराध से नहीं छुट सकता ।

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृभ्यः ॥ १ ॥

मा । एनम् । अग्ने । वि । दहः । मा । अभि । शोचः । मा । अस्य । त्वचम् । चिक्षिपः । मा । शरीरम् । यदा । शृतम् । कृणवः । जातऽवेदः । अथ । ईम् । एनम् । प्र । हिणुतात् । पितृऽभ्यः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने-एनं मा विदहः-मा-अभिशोचः-अस्य त्वचं मा चिक्षिपः मा शरीरम्) अग्नेऽयमग्निरेनं मृतदेहं मा विदहः-न विदहेद् विदग्धमर्द्धपक्वं न कुर्यात् 'सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः' माभिशोचः- नाभिज्वलेत्प्रेतं विहायेतस्तत एव न ज्वलेत् *"शोचतिर्ज्वलतिकर्मा"* [नि० १ । १७] अस्य प्रेतस्य त्वचं मा चिक्षिपः- क्षिपेत् शरीरञ्च न क्षिपेत् । वस्तुतस्तु प्रेतमेवं दहेद्यत् (जातवेदः यत्-ईम्-एनम्-शृतं कृणवः-अथ पितृभ्यः प्रहिणुतात्) अग्निर्यदैवेनं मृतदेहं शृतं पक्वं कृणवः कुर्यादथानन्तरं तदैव पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः प्रहिणोतु प्रेरयेत् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने-एनं मा विदहः-मा-अभिशोचः- अस्य त्वचं मा चिक्षिपः-मा शरीरम्) अग्नि मृतदेह को विदग्ध अधपका न करे, न शव से अलग ही इधर–उधर जलकर अग्नि रह जावे और न इसके त्वचा या शरीर को फेंके। वास्तव में प्रेत को इस प्रकार जलावे कि (जातवेदः-यत्-ईम्-एनं शृतं कृण्वः-अथ पितृभ्यः प्रहिणुतात्) अग्नि जब इस मृत शरीर को पकादे तो फिर इस मृत शरीर को सूर्यरश्मियों के प्रति पहुंचा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—शवदहन के लिये इतना इन्धन होना चाहिये कि जिससे शव कच्चा न रह जावे और बहुत इन्धन होने पर भी अग्नि इधर–उधर चारों तरफ जलकर ही न रह जावे–इसके लिये ठोस इन्धन का प्रयोग करना चाहिये तथा अङ्ग–अङ्ग चटक–चटक कर इधर–उधर न उड़ जावें या गिर जावें ऐसे न चटकाने वाले इन्धन से शव को जलाना चाहिये। जिससे अग्नि के द्वारा शव सूक्ष्म होकर सूर्य किरणों में प्राप्त हो सके ॥ १ ॥

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्यः ॥
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ २ ॥

शृतम् । यदा । करसि । जातऽवेदः । अथ । ईम् । एनम् । परि । दत्तात् । पितृऽभ्यः । यदा । गच्छाति । असुऽनीतिम् । एताम् । अथ । देवानाम् । वशऽनीः भवाति ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-यत्-एमेनं शृतं करसि-अथ पितृभ्यः परिदत्तात्) जातवेदोऽग्निर्यदा-ईम्-एनं यदैवैनं मृतदेहं शृतं पक्वं करोति, अथानन्तरं तदैव सूर्यरश्मिभ्यः परिददाति समर्पयति (यत्-एताम्-असुनीतिं गच्छति-अथा देवानां वशनीः-भवाति) यस्मिन् काले-एतां मरणस्थितिं गच्छेदनन्तरं तदाप्रभृति देवानां पृथिव्यप्तेजो-वाय्वादीनां वशपात्रं वश्यं भवाति–भवेत् *"लिङर्थे लेट्"* [अष्टा० ३ । ४ । ७] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-यदा-ईम्-एनं शृतं करसि-अथ पितृभ्यः परिदत्तात्) अग्नि जिस समय इस मृत शरीर को पका देती है तब ही इस को सूर्यरश्मियों के सुपुर्द कर देती है (यत्-एताम्-असुनीतिं गच्छति-अथा देवानां वशनी-भवाति) जिस समय यह जीवशरीर मरण-स्थिति को प्राप्त हो चुकता है तभी से यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि देवों का वश्य हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—आत्मा के वियुक्त होते ही यह शरीर पृथिवी आदि भूतों में मिलने लगता है। अग्नि में जलने से सूर्य की रश्मियां इस का उक्त छेदन भेदन जल्दी कर देती हैं ॥ २ ॥

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ३ ॥

सूर्यम् । चक्षुः । गच्छतु । वातम् । आत्मा । द्याम् । च । गच्छ । पृथिवीम् । च । धर्मणा । अपः । वा । गच्छ । यदि । तत्र । ते । हितम् । ओषधीषु । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(चक्षुः सूर्यं गच्छतु-आत्मा वातं द्यां च पृथिवीं च धर्मणा गच्छ) चक्षुः-नेत्रं नेत्रप्रकाशः सूर्यम्-सूर्यप्रकाशं गच्छतु प्राप्नोतु, जीवो वातं जीवाधारं वायुं वाय्वालयं यमालयमन्तरिक्षं प्राप्नोतु । 'एष वाय्वालय एव यमालयः' *"यमेन वायुना"* इति प्रामाण्यात् । द्युलोकं प्रकाशयुक्तलोकं वा पृथिवीलोकं वा धर्मणा-स्वकृतकर्मणा गच्छ (अपः-वा गच्छ यदि तत्र ते हितम्) जलमयं लोकं वा गच्छ यदि तत्र ते-तव हितं पथ्यं कर्मफलं स्यात् (शरीरैः-ओषधीषु प्रतितिष्ठ) शरीरधारणमात्रधर्मैरोषधीषु प्रतितिष्ठ गमनाभावेन स्थिरत्वं जडत्वं प्राप्नुहि यदि तत्र ते कर्मफलं स्यात् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(चक्षुः सूर्यं गच्छतु-आत्मा वातं द्यां च पृथिवीं च धर्मणा गच्छ) नेत्रप्रकाश सूर्यप्रकाश को प्राप्त हो, जीवात्मा वायुमय अन्तरिक्ष को एवं पुनः प्रकाश युक्त लोक को या पृथिवीलोक को अपने किये कर्म से प्राप्त हो (अपः-वा गच्छ यदि तत्र ते हितम्) जलमय लोक को जा यदि तेरा वहां कर्मफल हो (शरीरैः-ओषधीषु प्रतितिष्ठ) शरीरधारणमात्र गुणों से ओषधियों में गमनाभावरूप स्थावरत्व जड़त्व को प्राप्त हो यदि वहां तेरा कर्मफल हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—देहपात के अनन्तर देह तो अपने-अपने कारण पदार्थों में लीन हो जाता है और जीव स्वकर्मानुसार प्रकाशमय, जलमय, पृथिवीमय लोकों तथा वृक्षादि की जड़ योनियों तक प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ४ ॥

अजः । भागः । तपसा । तम् । तपस्व । तम् । ते । शोचिः । तपतु । तम् । ते । अर्चिः । याः । ते । शिवाः । तन्वः । जातऽवेदः । ताभिः । वह । एनम् । सुऽकृताम् । ऊँ इति । लोकम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-अजः-भागः-तं तपसा तपस्व तं ते शोचिः-तपतु तं ते-अर्चिः) हे सर्वत्रविराजमानाग्ने ! अग्निर्वा यो ऽ यमजन्मा जीवस्तं ज्वलनेन पृथिवीस्थेन तेजसा तपसोर्ध्वं प्रेरय प्रेरयति वा । तं ते शोचिर्ज्वलनमन्तरिक्षस्थं तपतूर्ध्वं प्रेरयतु, तं तेऽर्चिर्द्युस्थानं ज्वलनं तपतूर्ध्वं प्रेरयतु । *"तपः, शोचिः, अर्चिः, ज्वलतो नामधेयानि"* [निघ० १ । १७] (याः-ते शिवाः-तन्वः-ताभिः एनं सुकृताम्-उ-लोके वह) याः कल्याणकारिण्यस्तन्वः प्रसरणशीलास्तैजसधारास्ताभिरेनं जीवं पुण्यकृतामुलोकं स्थानं नय ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-अजः-भागः-तं तपसा तपस्व तं ते शोचिः-तपतु तं ते-अर्चिः) सर्वत्र विराजमान यह अग्नितत्त्व इस अजन्मा जीव को अपने पार्थिव ज्वलन धर्म से ऊपर प्रेरणा

करता है तथा इस अग्नि का अन्तरिक्षस्थ तेज उसी जीव को ऊपर की ओर प्रेरित करता है और द्युस्थान रश्मितेज भी और आगे बढाता है (याः-ते शिवाः-तन्वः-ताभिः-एनं सुकृताम्-उ-लोके वह) जो कल्याणकारी फैलने वाली तैजस धारायें हैं उनके द्वारा अग्नि इस जीव को पुण्य शुद्ध जन्म की ओर ले जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— देहान्त के साथ ही अग्नितत्त्व जो सब जगह तेजोरूप से वर्तमान है वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान के क्रम से ले जाता है ॥ ४ ॥

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ५ ॥

अव । सृज । पुनः । अग्ने । पितृऽभ्यः । यः । ते । आऽहुतः । चरति । स्वधाभिः ।
आयुः । वसानः । उप । वेतु । शेषः । सम् । गच्छताम् । तन्वा । जातऽवेदः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने यः-ते-आहुतः-चरति पितृभ्यः स्वधाभिः पुनः-अवसृज) हे अग्ने यस्त आहुतः-आत्तो गृहीतश्चरति तं सूर्यरश्मिभ्य उदकैः सह पुनः पृथक् कुरु (जातवेदः शेषः-आयुः-वसानः-उपवेतु तन्वा सङ्गच्छताम्) हे सर्वत्र विद्यमानाग्ने ! शिष्यतेऽसाविति शेषो जीवात्मा शरीरेण सङ्गतो भवतु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने यः-ते-आहुतः-चरति पितृभ्यः स्वधाभिः पुनः-अवसृज) हे अग्ने ! जो तेरे अन्दर आश्रित हुआ विराजता है उसको सूर्यरश्मियों के लिये जलों के द्वारा फिर छोड़ (जातवेदः-शेषः-आयुः-वसानः-उपवेतु तन्वा सङ्गच्छताम्) हे सर्वत्र विद्यमान अग्ने ! विनाशी पदार्थों के नष्ट हो जाने पर शेष रहने वाला जीवात्मा शरीर के साथ संगत हो जावे अर्थात् पुनर्जन्म को धारण करे, इस प्रकार कार्य में सहायक बन ॥ ५ ॥

भावार्थ—देहान्त के पश्चात् मृत पुरुष के दो परिणाम अग्नि द्वारा होते हैं । एक शवाग्नि से शवदहन होकर उसके सूक्ष्म कण सूर्यरश्मियों को प्राप्त होते हैं । दूसरे सर्वत्र विद्यमान सूक्ष्माग्नि तेज देहान्त के साथ ही जीव को पुनर्जन्म में जाने के लिये प्रेरक बनता है ॥ ५ ॥

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ६ ॥

यत् । ते । कृष्णः । शकुनः । आऽतुतोद । पिपीलः । सर्पः । उत । वा । श्वापदः ।
अग्निः । तत् । विश्वऽअत् । अगदम् । कृणोतु । सोमः । च । यः । ब्राह्मणान् ।
आऽविवेश ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-ते कृष्णः-शकुनः पिपीलः-सर्प -उत वा श्वापदः-आतुतोद) बहुविज्ञानोऽयं मन्त्रस्तत्रेह प्रथमः प्रकारः । हे जीव ! अत्र सांसारकजीवनयात्रायां कृष्णः

शकुनो गृध्रः पिपीलः पिपीलिका सर्पं उत वा श्वापदो हिंस्रपशुस्ते यदङ्गमातुतोद-आतुदति पीडयति। सामान्ये काले लिट् [अष्टा० ३।४।६] (विश्वात्-अग्निः-तत्-अगदं कृणोतु सोमः-च यः-ब्राह्मणान्-आविवेश) सर्वभक्षकोऽग्निस्तदङ्गमगदं करोतु-करोति सोमरसो यो ब्राह्मणान् ब्रह्मविदो योगिनो जनान्-आविशति प्राप्नोति। ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः। तथा च-*"येन केनचिदाछन्नो येन केन चिदाशितः। यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत्स्थितम्। अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः" [महाभारते]* ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-ते कृष्णः शकुनः पिपीलः सर्पः-उत वा श्वापदः-आतुतोद) हे जीव इस सांसारिक जीवनयात्रा में गृध्र आदि पक्षी, पिपीलिका आदि कृमि, सर्पादिविषमय प्राणी अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जिस-जिस अङ्ग को पीड़ित वा विकृत करते हैं (विश्वात्-अग्निः-तत्-अगदं कृणोतु सोमः-च यः-ब्राह्मणान्-आविवेश) उस-उस अङ्ग को विश्वभक्षक अग्नि और ब्रह्मवेत्ताओं को प्राप्त हुआ साम स्वस्थ कर देता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अग्नि और सोम विश्वभैषज और सर्वभयनिवारक पदार्थ हैं। यह एक आयुर्वेदिक और रक्षाविज्ञान का सिद्धान्त वर्णित है। मनुष्य-जीवन में भयानक पक्षी, कृमि, सर्प और व्याघ्रादि प्राणियों से प्राप्त भय और पीड़ा का निवारण अग्नि और सोम से करना चाहिये। तथा उक्त जन्तुओं से आक्रमित मरे हुये मनुष्य का अग्नि और सोम द्वारा शव दहन करने से रोगसंक्रामक कारणों का प्रतिकार हो जाता है। क्योंकि ऐसा किये बिना अन्य प्राणी उनके विषसम्पर्क आदि से बच न सकेंगे ॥ ६ ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते ॥ ७ ॥

अग्नेः। वर्म। परि। गोभिः। व्ययस्व। सम्। प्र। ऊर्णुष्व। पीवसा। मेदसा। च। न। इत्। त्वा। धृष्णुः। हरसा। जर्हृषाणः। दधृक्। विऽधक्ष्यन्। परिऽअङ्खयाते ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्नेः-वर्म गोभिः परि व्ययस्व पीवसा मेदसा च सम्प्रोर्णुष्व) अग्नेर्वर्म गृहमग्निस्थानं वेदिम् *"वर्मेति गृहनाम" [नि० ३।४]* इन्द्रियैर्नाडीभिर्वाऽयं प्रेतः परितो गच्छेत्सर्वतः प्राप्नुयात् पुरुषव्यत्ययः *"व्यय गतौ"* [भ्वादिः] तथा पीवसा मांसेन मेदसा वपया च तामेव ज्वलन्तीं वेदिं सम्यक् प्रोर्णुष्व प्रसरेत्। कुतः ? (धृष्णुः-जर्हृषाणः-दधृक्-विधक्ष्यन्-नेत्त्वा पर्यङ्खयाते) प्रसह्यकारी 'प्रसहनार्थस्य चौरादिकस्य धृष् धातोः *"त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" [अष्टा० ३।२।१४०]* इत्यनेन क्नुः। जर्हृषाणो ऽतिशयेन वस्तुमात्रमलीकं कर्त्तुं शक्तिर्यस्य सः *"हृषु-अलीके" [भ्वादिः]* तस्मात् *"ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" [अष्टा० ३।२।१२९]* इति शक्त्यर्थे चानश् प्रत्ययः *"अभ्यस्तानामादिः" [अष्टा० ६।१।१८९]* इत्याद्युदात्तः। दधक प्रगल्भोऽतिदृढ एषो

ऽग्निः। "धृष् प्रागल्भ्ये" [स्वादिः] "ऋत्विग्दधृक्...." [अष्टा० ३।२।५९] त्वां तं प्रेतं विधक्ष्यन् विशेषं दग्धं करिष्यन्-नेत्-नोचेत्। पर्यङ्ख्याते-पर्यङ्ख्येत् परिक्षिपेदितस्ततः पातयेत् "उपसंवादाशङ्कयोश्च" [अष्टा० ३।४।८] इत्याशङ्कायां लेट् प्रत्ययः॥ ७॥

भाषान्वयार्थ— (अग्नेः-वर्म गोभिः परिव्ययस्व पीवसा मेदसा च सम्प्रोर्णुष्व) अग्नि के घर अर्थात् चिता को इन्द्रियों और नाड़ियों सहित यह प्रेत भली प्रकार प्राप्त होवे और मांस मेदः-चर्बी द्वारा जलती हुई शववेदि अर्थात् चिता को सम्यक् पूर्णता से प्राप्त हो, क्योंकि (धृष्णुः-जर्हृषाणः-दधृक्-विधक्ष्यन् नेत्त्वा पर्यङ्ख्याते) प्रसह्यकारी अतिशय से वस्तुमात्र को अकिञ्चित् करने वाली अग्नि उस प्रेत को विशेषरूपेण जलाती हुई शवाङ्गों को इधर-उधर न फेंक दे॥ ७॥

भावार्थ—शवदहनवेदि का परिमाण इतना होना चाहिये कि मृत शरीर सुगमता से पूरा आजावे और उसके प्रत्येक नसनाड़ी, मांस, चर्बी आदि अंशों में अग्नि का प्रवेश भली प्रकार हो सके। शवदहन करने वालों को यह ध्यान रखना चाहिये कि चिता में अग्नि इस प्रकार जलाई जावे कि वह अतितीक्ष्ण और बलवान् होकर विपरीतता से जलाती हुई शवाङ्गों को इधर-उधर न फेंक दे॥ ७॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते॥ ८॥

इमम्। अग्ने। चमसम्। मा। वि। जिह्वरः। प्रियः। देवानाम्। उत। सोम्यानाम्। एषः। यः। चमसः। देवऽपानः। तस्मिन्। देवाः। अमृताः। मादयन्ते॥ ८॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने-इमं चमसं मा विजिह्वरः) हे अग्ने इमं घृतचमसं हव्यचमसञ्च यत् क्षिप्यते जनैरन्त्येष्टिकर्मणि त्वयि ज्वलति तं मा न विचालय नेतस्ततः प्रक्षिप (देवानाम्-उत सोम्यानां प्रियः) देवानां द्योतमानानां सूर्यरश्मीनाम् "देवो दानाद्वा.... द्योतनाद्वा" [निरु० ७।१५] उदिता देवाः सूर्यस्य" इत्युक्तं च पूर्वम्। उत सोम्यानां सोमे चन्द्रमसि भवानां ज्योत्स्नावाचिनां शान्तानां चन्द्रदीधितीनां प्रियोऽनुकूल उपयोग-साधनमित्यर्थः। सोमश्चन्द्रमाः "सोमं मन्येत पपिवान्....सोमश्चन्द्रमाः" [निरु० ११।४-५] (एषः-यः-चमसः-देवपानः-तस्मिन् देवाः-अमृताः-मादयन्ते) एष यः पूर्वोक्तश्चमसो देवपानोऽस्ति यतो देवानां हविष्पानसाधनमस्मिंश्च घृतचमसे हव्यचमसे देवाः सूर्यरश्मयोऽमृता मृतं मरणं न येभ्यस्तेऽमृताः सन्तः "नञो जरमरमित्रमृताः" [अष्टा० ६।२।११६] इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे उत्तरपदमाद्युदात्तम्। मादयन्ते-हर्षयन्ति सुखयन्ति॥ ८॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने-इमं चमसं मा विजिह्वरः) हे अग्ने इस घृत और सुगन्ध हव्य के चमस को जो कि तेरे अन्दर आहुतिरूप में डाला जाता है उसको विचलित न कर अर्थात्

उपयोगिता के लिये स्वीकार कर (देवानाम्-उत सोम्यानां प्रियः) वही यह चमस द्योतमान सूर्यरश्मियों और चन्द्रज्योत्स्नाधाराओं का प्रिय अर्थात् उपयोगी अनुकूल साधन हो (एषः-यः-चमसः-देवपानः-तस्मिन् देवाः-अमृताः-मादयन्ते) पूर्वोक्त यह चमस देवों के पान का साधन हो क्योंकि देव इसकी हवि का पान करते हैं और इसी घृतहव्ययुक्त चमस में सूर्यरश्मियां अपने अमृतधर्म से विराजमान होकर मनुष्यों को आनन्द प्रदान करती हैं ।। ८ ।।

भावार्थ—शवगन्ध के प्रतिकारार्थ अन्त्येष्टि कर्म के समय अग्नि में घृत और सुगन्ध पदार्थों की आहुतियां देनी चाहियें । वे आहुतियां शवदोष का सम्पर्क हटाकर सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों को अनुकूलता की साधक बनाती हैं विशेषतः सूर्यरश्मियों को सुखकारक बनाती हैं ।। ८ ।।

क्रव्यादम॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्ञो गच्छतु रिप्रवा॒हः ।
इ॒हैवायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥ ९ ॥

क्र॒व्य॒ऽअद॑म् । अ॒ग्निम् । प्र । हि॒णो॒मि । दू॒रम् । य॒मऽरा॑ज्ञः । ग॒च्छ॒तु । रि॒प्र॒ऽवा॒हः । इ॒ह । ए॒व । अ॒यम् । इत॑रः । जा॒तऽवे॑दाः । दे॒वेभ्यः॑ । ह॒व्यम् । व॒ह॒तु । प्र॒ऽजा॒नन् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(क्रव्यादम् अग्नि दूरं प्रहिणोमि) शवरूप-मांसभक्षक-अग्नि पूर्वमन्त्रोक्तचमसाहुतिभिर्दूरमतिदूरं प्रहिणोमि प्रेरयामि प्रक्षिपामि (रिप्रवाहः-यमराज्ञः-गच्छतु) रिप्रवाहः-शवरूपामेध्यवाहकोऽग्निः "तद्यदमेध्यं रिप्रं तत् [श० ३ । १ । २ । ११] यमराज्ञो यमो यमनशीलः कालोऽन्तकारी कालो मृत्यू राजा येषां तान् मृत्युराजकदेशान् गच्छतु-गच्छति, यतो हि मृतः प्राणी मृत्युदेशान् विनाशप्रदेशान् गच्छति तस्मात्तं शीघ्रं विनाशप्रदेशान् नेतुं शववाहनोऽग्निरपि तान् प्रदेशान् शीघ्रं गच्छतीत्युक्तम् (अयम्-इतरः-जातवेदाः-प्रजानन् देवेभ्यः-हव्यं वहतु) अयं चमसाहुतिलक्षितो जातवेदा अग्निर्ज्वलन् सन् दिव्यपदार्थेभ्यो जीवनलाभायैतच्चमसप्रक्षिप्तं हव्यं प्रापयतु ।। ९ ।।

भाषान्वयार्थ—(क्रव्यादम्-अग्नि दूरं प्रहिणोमि) शवरूप मांस-भक्षक अग्नि को सुगन्ध आहुतिचमस द्वारा दूर हटाता हूं (रिप्रवाहः-यमराज्ञः-गच्छतु) वह शववाहक अग्नि पृथिवीतल से ऊपर उठकर विनाश प्रदेशों को जहां कि प्रत्येक वस्तु विच्छिन्न अतिसूक्ष्म होकर लीन हो जाती है उन अन्तरिक्षस्थानों को प्राप्त हो (अयम्-इतरः-जातवेदाः प्रजानन् देवेभ्यः-हव्यं वहतु) चमसाहुतिओं द्वारा हव्यवाहक यह प्रसिद्धाग्नि जलती हुई दिव्य पदार्थों के लिये जीवनलाभ के हेतु उस चमसरूप हव्य का वहन करे ।। ९ ।।

भावार्थ—घृत और सुगन्ध कपूर आदि वस्तुओं की आहुति से शवदुर्गन्धवाहक अग्नि-ज्वालाओं की शान्ति हो जाती है और सुगन्धित हव्य प्रसारक अग्निज्वालाओं का उदय होता है ।। ९ ।।

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात्प्र॑वि॒वेश॑ वो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम् ।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दे॒वं स घ॒र्ममि॑न्वात्पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥ १० ॥

यः । अ॒ग्निः । क्र॒व्यऽअत् । प्र॒ऽवि॒वेश॑ । वः॒ । गृ॒हम् । इ॒मम् । पश्य॑न् । इत॑रम् । जा॒तऽवे॑दसम् । तम् । ह॒रा॒मि । पि॒तृ॒ऽय॒ज्ञाय॑ । दे॒वम् ॥ सः । घ॒र्मम् । इ॒न्वा॒त् । प॒र॒मे । स॒धस्थे॑ ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः क्रव्यात्-अग्निः-वः-गृहं प्रविवेश-इमम्-इतरं जातवेदसं पश्यन्) हे प्रेतहाराः ! यः शवाग्निर्युष्माकं शरीरं प्रविष्टवान्, अहमिममितरं हव्यवाहं जातवेदसं पश्यन् लक्ष्यीकुर्वन् प्रयुञ्जानः (तं देवं हरामि पितृयज्ञाय-सः-घर्मम्-इन्वात् परमे सधस्थे) तं देवमग्निं हरामि पृथक्करोमि पितृयज्ञाय-प्राणयज्ञाय युष्माकं प्राणपरिशोधनाय प्राणधारणायेत्यर्थः *"प्राणो वै पिता"* [ऐ० २ । ३८] स क्रव्यादग्निः परमे सधस्थे-उच्च-व्योम्नि घर्मं सूर्यं व्याप्नोतु *"असौ वै घर्मो यो ऽसौ सूर्यः तपति* [कौ० २ । १] *"इवि व्याप्तौ"* [भ्वादिः] ततो लेट् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(यः क्रव्यात्-अग्निः-वः-गृहं प्रविवेश) हे प्रेतहारो ! जो शवदहनाग्नि तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हुई है (इमम्-इतरं जातवेदसं पश्यन्) मैं इस दूसरी अग्नि को प्रयुक्त करता हुआ—होमाहुति द्वारा सम्पादन करता हुआ (तं देवं हरामि पितृयज्ञाय) उस क्रव्याद् शवगन्धाग्नि को पृथक् करता हूँ जिससे आपका प्राणसञ्चार सुखमय हो सके (सः-परमे सधस्थे घर्मम्-इन्वात्) वह शवगन्धाग्नि ऊपर आकाश सूर्य को लक्ष्य करके व्याप्त हो जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—चिताग्नि में दी हुई होमाहुति प्रेतहारों के भीतर घुसी शवगन्धाग्नि के सम्पर्क को हटाती है जिससे उनके जीवन प्राण में खराबी नहीं आती किन्तु सूक्ष्म होकर ऊपर आकाश में शवगन्ध छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ १० ॥

यो अ॒ग्निः क्र॑व्य॒वाह॑नः पि॒तॄन्यक्ष॑दृता॒वृधः॑ ।
प्रेदु॑ ह॒व्यानि॑ वोचति दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ ॥ ११ ॥

यः । अ॒ग्निः । क्र॒व्य॒ऽवाह॑नः । पि॒तॄन् । यक्ष॑त् । ऋ॒त॒ऽवृधः॑ । प्र । इत् । ऊँ इति॑ । ह॒व्यानि॑ । वो॒च॒ति॒ । दे॒वेभ्यः॑ । च॒ । पि॒तृऽभ्यः॑ । आ ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः क्रव्यवाहनः-अग्निः-ऋतावृधः पितॄन्-यक्षत्-इत्-उ-देवेभ्यः-च पितृभ्यः-आ हव्यानि प्रवोचति) यः शवमांसस्य वोढाऽग्निः "क्रव्ये च" [अष्टा० ३ । २ । ६९] इति योगविभागात् क्रव्योपपदे वहधातोर्ल्युट् । ऋतावृधः-ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयितॄन् *'ऋतावृधो यज्ञवृधः'* [निरु० १२ । १३] पितॄन्-सूर्यरश्मीन् यजेत्-सङ्गतो भवेत्, "सङ्गतिकरणमत्र यज्ञार्थः" । स एवाग्निरिदु-इदानीं तु-आहुतियुक्तचमसेन देवेभ्यः-दिव्यगुणेभ्यश्च पितृभ्यश्च पूर्वोक्तेभ्यः, 'आकारः समुच्चयार्थः' । *"एतस्मिन्नेवार्थे*

(समुच्चयार्थे) देवेभ्यश्च पितृभ्य एत्याकारः" [निरु० १ । ४] हव्यानि प्रवोचति प्रवदति, 'लडर्थे लेट्' । शवमांसचटचटास्थानेऽधुना हव्य-सरसरशब्दं करोति-इत्यर्थः ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः क्रव्यवाहनः-अग्निः ऋतावृधः पितॄन्-यक्षत्-इत्-उ-देवेभ्यः-च पितृभ्यः-आ हव्यानि प्रवोचति) जो शवमांस की वोढा अग्नि यज्ञवर्धक सूर्यरश्मियों से सङ्गत होती है वही अग्नि इस समय आहुतियुक्तचमस से देवों दिव्यगुणयुक्त पदार्थों और पूर्वोक्त सूर्यरश्मियों के लिये भी हव्यों का उच्चारण अर्थात् शवमांस के चटचटा शब्द के स्थान में घृतादि हव्य की सरसर ध्वनि करती है ॥ ११ ॥

भावार्थ—शवाग्नि में घृतादि हव्य डालने से शवमांस के चटचटा शब्द को भी दबाकर हव्य की सरसर ध्वनि के साथ उक्त अग्नि देवयज्ञ और पितृयज्ञ के रूप को धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ १२ ॥

उशन्तः । त्वा । नि । धीमहि । उशन्तः । सम् । इधीमहि । उशन् । उशतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उशन्तः-त्वा निधीमहि-उशन्तः-समिधीमहि) हे-अग्ने ! यतो वयमिच्छन्तस्त्वां स्थापयेम तथा-इच्छन्त एव च सन्दीपयेम, तस्मात्त्वमपि (उशन्-उशतः पितॄन् हविषे-अत्तवे-आवह) अस्मदिष्टमिच्छन्-अस्मदिष्टमिच्छतः पितॄन् प्रति हविषे-हविरत्तवेऽत्तुं ग्रहीतुम् 'तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः' । आवह-प्रयोजय ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(उशन्तः-त्वा निधीमहि-उशन्तः-समिधीमहि) हे अग्ने ! जिससे कि हम सदैव निज इष्ट की इच्छा करते हुए तुझको अन्त्येष्टि पर्यन्त सब संस्कारों में स्थापित करते हैं तथा इष्ट चाहते हुए ही प्रज्वलित करते हैं (उशन्-उशतः पितॄन् हविषे-अत्तवे-आवह) इसलिये तू भी हमारा इष्ट चाहती हुई, अपने जैसी इष्ट चाहती हुई सूर्यरश्मियों को यज्ञ में प्रयुक्त कर जिस से तेरे अन्दर डाली हवि सूक्ष्म बन कर फैल जावे ॥ १२ ॥

भावार्थ—संस्कारों और मङ्गलकार्यों में अग्निहोम करना चाहिये ॥ १२ ॥

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥ १३ ॥

यम् । त्वम् । अग्ने । सम्ऽअदहः । तम् । ऊँ इति । निः । वापय । पुनरिति । कियाम्बु । अत्र । रोहतु । पाकऽदूर्वा । विऽअल्कशा ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने त्वं यं समदहः-तम्-उ पुनः-निर्वापया) हे अग्ने ! त्वं यं देशं सङ्गत्य दग्धवानुपरिष्टाद्दग्धवानित्यर्थः । तमेव देशं पुनर्निर्वापया त्यज ।

"निर्वपेद् भुवि" [मनु० ३ । ९२] इति मनुप्रामाण्यात् त्यागार्थः .(अत्र व्यल्कशा पाक-दूर्वा कियाम्बु रोहतु) अत्र देशे दग्धस्थाने व्यल्कशा–विविधपर्याप्तशाखी, पाकदूर्वा–दूर्वाणां पाकः "राजदन्तादिषु परम्" [अष्टा० २ । २ । ३१] इति परनिपातः । कियाम्बु–कियदम्बु यावज्जलः पर्याप्तजलयुक्तो रोहतूत्पद्यताम् । एवं त्वं निर्वापयेति सम्बन्धः ॥१३॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने त्वं यं समदहः-तम्-उ-पुनः-निर्वापया) हे अग्निदेव ! तूने जिस देश को अन्त्येष्टि समय जलाया है उसको अपने तेज से फिर रहित कर दे (अत्र व्यल्कशा पाकदूर्वा कियाम्बु रोहतु) और इस देश अर्थात् दग्धस्थान में विविध पूर्ण शाखा वाला दूब घास का पाक आवश्यक जलसिञ्चन से हो जावे ॥ १३ ॥

भावार्थ—शवाग्नि से दग्ध स्थान को प्रथम अग्नि से रहित करना चाहिए पुनः उसमें इतना जलसिञ्चन करे कि जिससे वहां अच्छी दूब घास उत्पन्न हो सके ॥ १३ ॥

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्या३ सु सं गम इमं स्व१ग्निं हर्षय ॥ १४ ॥

शीतिके । शीतिकाऽवति । ह्लादिके । ह्लादिकाऽवति । मण्डूक्या । सु । सम् । गमः । इमम् । सु । अग्निम् । हर्षय ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति मण्डूक्या सु सङ्गमः–इमम्–अग्निं सुहर्षय) हे शीतिके शीतरूपे दूर्वे ! "शीता दूर्वानाम" [धन्वन्तरिनिघण्टौ पर्पटादिवर्गे तथा च वाचस्पत्ये] 'ततोऽनुकम्पायां कन्'। शीतिकावति ! हे दूर्वावति भूमे ! ह्लादिके–मनःप्रसादिके वल्लकि । "वल्लकी ह्लादा सुरभिः सुस्रवा च सा" [धन्वन्तरिनिघण्टौ] ह्लादिकावति–हे ह्लादिकावति भूमे ! मण्डूक्या सह सु सम्यक् सङ्गमः–सङ्गच्छस्व तथेममग्निमग्निप्रभावं सुहर्षय–सम्यगलीकं शान्तं कुरु, ' हृषु–अलीके" [भ्वादिः] ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति मण्डूक्या सुसङ्गमः-इमम्-अग्निं सुहर्षय) हे शीतरूप दूब ! हे शीतदूबयुक्त भूमे ! हे मन को प्रसन्न करने वाली सुगन्ध वल्लकि ! हे सुगन्धवल्लकियुक्त भूमे ! तू मण्डूकी के साथ भली भांति इस प्रकार सङ्गत हो कि अन्त्येष्टि अग्नि के प्रभाव का यहां कोई भी चिह्न न रहे ॥ १४ ॥

भावार्थ—शवाग्नि के पश्चात् उस भूमि का उपचार इस प्रकार होना चाहिये कि वहां ठण्डी–ठण्डी दूब और सुगन्धलता उगकर भूमि हरीभरी और मेण्डकियों के साथ सुन्दर प्रतीत होने लगे एवं शवाग्नि के प्रभाव का कोई भी चिह्न न रहे ॥ १४ ॥



सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—यामायनो देवश्रवाः ।

देवताः—१,२ सरण्यूः । ३–६ पूषा । ७–९ सरस्वती । १०, १४ आपः ११–१३ आपः सोमो वा । उद्गीथमते-आप एव ।

छन्दः—१, ५, ८ विराट् त्रिष्टुप् । २, ६, १२ त्रिष्टुप् । ३, ४, ७, ९–११ निचृत् त्रिष्टुप् । १३ ककुम्मती बृहती । १४ अनुष्टुप् ॥

स्वरः—१–१२ धैवतः । १३ मध्यमः । १४ गान्धारः ॥

विषयः—अत्र सूक्ते परमात्मसूर्यविद्वद्भिर्विविधा लाभा ग्राह्या इत्युच्यते ।
इस सूक्त में परमात्मा, सूर्य और विद्वानों से अनेक लाभ प्राप्त करने के लिये कहा गया है ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ १ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । कृणोति । इति । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । सम् । एति । यमस्य । माता । परिऽउह्यमाना । महः । जाया । विवस्वतः । ननाश ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) *"त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोति"* [*निरु० १२ । १२*] त्वष्टा क्षिप्रव्यापनधर्मा दीपनशीलः पदार्थानां व्यक्तीकर्त्ता वा *"त्वष्टा तूर्णमश्नुते त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्तक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः"* [निरु० ८ । १४] सूर्यः, परमात्मा वा दुहितुरुषसः, दोहनयोग्यायाः प्रकृतेर्गौरिव वहनं विवाह्यप्रसारणं वा करोति (विश्वं भुवनं समेति) इमानि च समस्तानि वस्तूनि सम्मुखीभवन्ति दृश्यानि व्यक्तानि वा भवन्ति *"इमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति"* [*निरु० १२ । १२*] (यमस्य माता परि-उह्यमाना) कालस्य निर्मात्री सैवोषः प्रेर्यमाणा यन्तव्यस्य नियन्त्रणी-यस्य जगतो वा निर्मात्री सा प्रकृतिः यदाऽग्रे प्रेर्यमाणा विस्तार्यमाणा वाऽऽसीत्, तदा (महः-विवस्वतः-जाया ननाश) महतः सूर्यस्य जायाभूता रात्रिर्नष्टा भवति यदुषसोऽग्रगम-

नेन सूर्यः प्रकाशते रात्रिर्विनश्यते *"महतो विवस्वतः-आदित्यस्य जाया रात्रिरादित्योदयेऽन्तर्धीयते"* [*निरु० १२ । १२*] महतो विशिष्टतया सम्पादकस्य परमात्मनो जायाभूता रात्रिः प्रलयावस्था-अव्यक्ता प्रकृतिः-नष्टा भवति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) शीघ्रव्यापन धर्मवाला, पदार्थों का स्वरूपदाता सूर्य या परमात्मा, उषा का या दोहने योग्य प्रकृति का गौ की भांति, विशेषरूप से वहन करता है या अग्रसर करता है (विश्वं भुवनं समेति) सारी वस्तुएँ या भूत प्रकट या दृष्ट हो जाती हैं (यमस्य माता परि-उह्यमाना) काल की निर्मात्री उषा या जगत् का निर्माण करने वाली प्रकृति जब आगे प्रेरित की जाती हुई या विस्तृत की जाती हुई होती है तब (महः-विवस्वतः जाया ननाश) महान् सूर्य की जाया रात्रि उसके उदय होने पर विलीन हो जाती है या महान् विशेष निष्पादक परमात्मा की जायाभूत प्रकृति—प्रलयावस्था रूप रात्रि नष्ट हो जाती है ॥ १ ॥

भावार्थ—विश्वरचयिता परमात्मा विश्व को रचने के लिये प्रकृति को विस्तार देकर जगत् का निर्माण करता है; जो जगत् की निर्मात्री प्रकृति अपने पूर्वरूप में नहीं रहती है किन्तु जगत्रूप में आकर विलीन हो जाती है इसी प्रकार सूर्य जब अपनी उषा को आगे करता है—फैलाता है रात्रिरूप जाया उसके उदय होने पर विलीन हो जाती है ॥ १ ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ २ ॥

अप । अगूहन् । अमृताम् । मर्त्येभ्यः । कृत्वी । सऽवर्णाम् । अददुः । विवस्वते । उत । अश्विनौ । अभरत् । यत् । तत् । आसीत् । अजहात् । ऊँ इति । द्वा । मिथुना । सरण्यूः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मर्त्येभ्यः-अमृताम्-अपागूहन्) मरणधर्मेभ्यो मनुष्यादिभ्यस्तद्धितार्थममृतामुषसम् *"अमृता-उषाः"* [*निघ० २ । २*] प्रकृतिर्वा, रश्मयो रचनप्रवाहाः-रचनशक्तयो वाऽन्तर्हितामकुर्वन् प्रकृतिरूपामलोपयन् भोगप्राप्तये (सवर्णां कृत्वी विवस्वते-अददुः) सूर्योदयानन्तरमुषसः सवर्णां प्रभां कृत्वा ते रश्मयः सूर्याय दत्तवन्तो दिवसाभारूपे, तथाभूतां जडां सृष्टिं विशिष्टतया व्यापिने परमात्मने तद्रचनशक्तयः स्थापितवत्यः (उत-अश्विनौ-अभरत्) अपि खल्वश्विनौ ज्योतिषान्यं रसेनान्यं चाग्नेयं सोम्यं चाधारयत्—धारयति (तत्-यत्-आसीत्) याऽऽसीत् (द्वा मिथुना सरण्यूः-अजहात्) द्वौ मिथुनौ सरण्यूः-अत्यजत् सरणशीला सैवोषाः "सरण्यूः सरणात् [निरु० १२ । ६] मध्यमं वायुं माध्यमिकां वाचं विद्युतं चान्तरिक्षे त्यक्तवती *"मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति"* [*निरु० १० । १०*] तावेवाश्विनावाग्नेयसोम्यौ पदार्थौ सृष्टवती प्रकृतिः-आग्नेयसोम्यमयी सृष्टिः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(मर्त्येभ्यः-अमृताम्-अपागूहन्) मरणधर्मवाले मनुष्यादि के लिये उससे भिन्न अनश्वर प्रकृति को परमात्मा की रचनशक्तियां या सूर्य की रश्मियां रात्रि को छिपा देती हैं–भोगप्राप्ति के लिए (सवर्णां कृत्वी विवस्वते-अददुः) सूर्य उदयानन्तर उषा की जैसी वर्णवाली प्रभा को करके ये रश्मियां सूर्य के लिये दे देती हैं दिवस आभा के रूप में, इसी प्रकार प्रकृति अपनी जैसी जड़सृष्टि को व्यापक परमात्मा के लिये उसकी रचनशक्तियां स्थापित करती हैं (उत-अश्विनौ-अभरत्) अपि च अश्विनौ–अर्थात् ज्योति से अन्य, रस से अन्य, आग्नेय और सोम्य विभागों को धारण करता है (तत्-यत्-आसीत्) वह जो यह थी (द्वा मिथुना सरण्यूः-अजहात्) दो मिथुनों–एक साथ प्रकट होने वालों को सरणशील उषा मध्यम अर्थात् वायु और माध्यमिक अर्थात् वाणी–विश्ववाणी विद्युत् को अन्तरिक्ष में छोड़ा या उस फैलने वाली प्रकृति ने आग्नेय और सोम्यमयी सृष्टि को प्रकट किया ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के हितार्थ सूर्य की रश्मियों ने उषा को भी छिपा दिया या परमात्मा की शक्तियों ने प्रकृति को भी विलीन कर दिया। प्रकृति जड़ है उससे जड़ सृष्टि का विस्तार होता है–उषा प्रकाशवती है उससे दिन का प्रकाश होता है। सृष्टि में वायु और विद्युत् प्रकट हो जाते हैं ॥ २ ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

पूषा । त्वा । इतः । च्यवयतु । प्र । विद्वान् । अनष्टऽपशुः । भुवनस्य । गोपाः । सः । त्वा । एतेभ्यः । परि । ददत् । पितृऽभ्यः । अग्निः । देवेभ्यः । सुऽविदत्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषा भुवनस्य गोपाः) आदित्यो भूतमात्रस्य–जातमात्रस्य रक्षकः *"भूतानां गोपायितादित्यः"* [निरु० ७ । १०] (अनष्टपशुः) अनश्वरदृश्यरश्मिमान् (प्रविद्वान्) प्रख्यातवेद्यमानः 'कर्मणि कर्तृप्रत्ययो व्यत्ययेन' (त्वा-इतःच्यावयतु) हे म्रियमाण प्राणिन् ! त्वामितो देहात् पृथक् करोति (सः-अग्निः) स अग्रणायकः परमात्मा (त्वा) त्वाम् (एतेभ्यः पितृभ्यः) एभ्योऽत्रत्येभ्यः प्रसिद्धेभ्यो मातापितृभ्यो जनकेभ्यः पुनर्जन्मार्थम्, यद्वा (सुविदत्रियेभ्यः-देवेभ्यः) शोभनज्ञानैश्वर्यवद्भ्यो मोक्षैश्वर्यवद्भ्यो मुक्तेभ्यः (परिददत्) समर्पयति सम्प्रेरयति ॥

यद्वा—

(पूषा भुवनस्य गोपाः) पोषयिता प्राणिमात्रस्य रक्षकः परमात्मा (अनष्टपशुः) अनश्वराः पश्यन्तो जीवा यस्याधीनं सन्ति तथाभूतः (प्रविद्वान्) तेषां पश्यतां जीवानां मध्ये प्रकृष्टज्ञानवान् (त्वा-इतः प्रच्यावयतु) हे पात्र ! पुत्र ! शिष्य ! त्वां प्रकृष्टं मार्गं गमयतु (सः-अग्निः) स खलु ह्यग्रणायकः परमात्मा (त्वा) त्वाम् (एतेभ्यः पितृभ्यः) अत्रत्येभ्यो जनकेभ्यः पुनर्जन्मार्थम्, यद्वा (सुविदत्रियेभ्यः-देवेभ्यः) शोभनैश्वर्यवद्भ्यो मुक्तेभ्यो मोक्षलाभार्थम् (परिददत्) परिप्रेरयतु स त्वया खलूपास्यः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषा भुवनस्य गोपाः) सूर्य भूतमात्र उत्पन्नमात्र प्राणियों का रक्षक है, (अनष्टपशुः) अनष्टपशु व अनश्वर रश्मि वाला है, उसकी रश्मियों का कभी लोप नहीं होता (प्र विद्वान्) वह प्रसिद्ध जाना जाने वाला है (त्वा-इतः प्रच्यावयतु) हे मरणासन्न प्राणी ! तुझे इस देह से पृथक् करता है (सः-अग्निः) वह अग्रणायक परमात्मा (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन प्रसिद्ध मातापिताओं आदि से पुनर्जन्मार्थ (सुविदत्रियेभ्यः-देवेभ्यः) शोभनज्ञान ऐश्वर्यवाले मुक्तात्माओं के लिए (परिददत्) सर्मपित करता है—सम्प्रेरित करता है ।।

अथवा—

(पूषा भुवनस्य गोपाः) पोषण करने वाला प्राणिमात्र का रक्षक परमात्मा (अनष्टपशुः) अनश्वर देखने वाले जीव जिसके अधीन हैं वह (प्र विद्वान्) उन देखने वाले जीवों के मध्य में प्रकृष्ट ज्ञान वाला है (त्वा-इतः प्रच्यावयतु) हे पुत्र या शिष्य ! तुझे प्रकृष्ट मार्ग में चलावे (सः-अग्निः) वह अग्रणायक परमात्मा (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन माता पिता आदि के लिए पुनर्जन्मार्थ अथवा (सुविदत्रियेभ्यः-देवेभ्यः) शोभन ऐश्वर्य वाले मुक्त आत्माओं के लिए मोक्षलाभार्थ (परिददत्) तुझे प्रकृष्टरूप में—पूरे रूप में प्रेरित करता है क्योंकि वह तेरा उपास्यदेव है ।। ३ ।।

भावार्थ—१—सूर्य उत्पन्नमात्र प्राणियों का रक्षक है, उसकी रश्मियां नष्ट नहीं होतीं, वह रश्मियों के द्वारा प्रसिद्धरूप में जाना जाता है । म्रियमाण—मरते हुये प्राणी को इस देह से पृथक् कर देता है । परन्तु परमात्मा मातापिताओं आदि के लिये पुनर्जन्मार्थ देता है और मुक्ति के पात्र उत्तम अधिकारी को मुक्तों में सौंप देता है ।।

२—प्राणी मात्र का पोषक रक्षक परमात्मा नित्य वर्तमान ज्ञानदृष्टि से देखने वालों का स्वामी है वह उन मुक्त जीवात्माओं के मध्य में प्रकृष्ट ज्ञानवान् अर्थात् सर्वज्ञ है । वह ही संसार के मातापिताओं में जीवात्मा को जन्मार्थ भेजता है और शोभन ऐश्वर्य वाले मुक्तों में भी मोक्षार्थ भेजता है ।। ३ ।।

आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ।। ४ ।।

आयुः । विश्वऽआयुः । परि । पासति । त्वा । पूषा । त्वा । पातु । प्रऽपथे । पुरस्तात् । यत्र । आसते । सुऽकृतः । यत्र । ते । ययुः । तत्र । त्वा । देवः । सविता । दधातु ।। ४ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वायुः) विश्वं सर्वं प्रकारकमायुः सांसारिकं मोक्षगतं चायुर्यस्मात् प्राप्यते तथाभूतः सः (आयुः) आश्रयः परमात्मा (त्वा) हे पात्र ! शिष्य ! त्वाम् (पासति) रक्षेत् 'पाधातोर्लेटि सिपि' (प्रपथे) पंथाग्रे (पुरस्तात्) पूर्वतः (पूषा पातु) पोषयिता परमात्मा रक्षतु (सुकृतः) सुकर्माणो मुमुक्षवः (यत्र-आसते) यत्र मोक्षे तिष्ठन्ति (यत्र ते ययुः) यत्र मोक्षे ते गताः (तत्र त्वा देवः सविता दधातु) तत्र त्वां स उत्पादकः परमात्मदेवः-स्थापयतु—स्थापयति ।। ४ ।।

भाषान्वयार्थ—(विश्वायुः) सब प्रकार की आयु-सांसारिक और मोक्षपथ की आयु जिसमें प्राप्त हो वह ऐसा परमात्मा (आयुः) आश्रय रूप है (त्वा) हे पात्र ! शिष्य ! तुझे (पासति) सुरक्षित रखता है (प्रपथे पुरस्तात्) पथाग्र पर पूर्व से ही (पूषा पातु) वह पोषणकर्त्ता परमात्मा तेरी रक्षा करे (सुकृतः) पुण्यकर्म वाले मुमुक्षुजन-मुमुक्षु आत्मायें (यत्र-आसते) जहाँ मोक्ष में रहते हैं (यत्र ते ययुः) जहां मोक्ष में वे गये हैं (तत्र त्वा देवः सविता दधातु) वहां तुझे वह उत्पादक परमात्मदेव स्थापित करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रकार की आयु देने वाला स्वयं आयुरूप शरण परमात्मा उपासक या सत्पात्र आत्मा की रक्षा करता है । वह जीवनयात्रा के पथाग्र-मार्ग के मुख पर प्रथम ही रक्षण करता है पुण्य आत्माओं को मोक्ष में पहुँचाता है ॥ ४ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन् ॥ ५ ॥

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभयऽतमेन । नेषत् । स्वस्तिऽदाः । आघृणिः । सर्वऽवीरः । अप्रऽयुच्छन् । पुरः । एतु । प्रऽजानन् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषा) पोषयिता परमात्मा (इमाः-आशाः-सर्वाः-अनुवेद) एताः सर्वा खलु दिशोऽनुगत्य जानाति *"आशा दिङ्नाम"* [*निघ०* १ । ६] (सः-अस्मान्-अभयतमेन नेषत्) सोऽस्मान्-उपासकानत्यन्तं भयरहितेन मार्गेण नयेत्-नयति *"णीञ् प्रापणे"* [*भ्वादिः*] लेटि सिपि (स्वस्तिदाः) स कल्याणदाता (आघृणिः) आगतघृणिः-समन्तात् प्राप्तज्योतिष्को प्राप्तदीपिको वा (सर्ववीरः) सर्वबलयुक्तः (अप्रयुच्छन्) सावधानोऽनुपेक्षमाणः (प्रजानन्) अस्मान् प्रजानन् प्रबोधयन् सन् (पुरः-एतु) साक्षात् प्राप्तो भवतु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषा) पोषण करने वाला परमात्मा (इमाः सर्वाः-आशाः-अनुवेद) इन सारी दिशाओं को प्राप्त होकर जानता है (सः-अस्मान्-अभयतमेन नेषत्) वह हम उपासकों को अत्यन्त भयरहित मार्ग से ले जाता है (स्वस्तिदाः) वह कल्याणदाता (आघृणिः) समन्तरूप से प्राप्त दीप्ति वाला है (सर्ववीराः) सर्वबलयुक्त (अप्रयुच्छन्) सदा सावधान तथा अनुपेक्षमाण है, वह (प्रजानन्) हमें बोध देता हुआ (पुरः एतु) साक्षात् प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा हमारा पोषण करता है वह सारी दिशाओं में वर्तमान प्राणी अप्राणी को जानता हुआ जागता है । भयरहित मार्ग से उपासकों को जीवन यात्रा कराता है प्रसिद्ध ज्योति और समस्त बलों से युक्त हुआ बिना प्रमाद या उपेक्षा के हमें बोध देता है । हमें सबसे पूर्व उसकी उपासना करनी चाहिए ॥ ५ ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ ६ ॥

प्रऽपथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्रऽपथे । दिवः । प्रऽपथे । पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रियऽतमे । सधस्थे इति सधऽस्थे । आ । च । परा । च । चरति । प्रऽजानन् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषा) पोषणकर्ता परमात्मा (पथां प्रपथे-अजनिष्ट) मार्गाणामैहिकजीवनमार्गाणां पथाग्रभागे लक्ष्ये मानवमजनयत्-समर्थं करोति 'अन्तर्गतणिजर्थः' (दिवः प्रपथे पृथिव्याः प्रपथे) मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये पुनर्जन्मनि च सफलं समर्थं करोति (उभे प्रियतमे सधस्थे) उभे-अभ्युदयं निःश्रेयसञ्चानुकूलसहस्थाने (अभि) अभ्याप्य (प्रजानन्) अनुभवन् सुखेन यापयन्-यापयितुं (आचरति पराचरति) अनुतिष्ठति पुनर्वैराग्येण त्यजति च ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषा) पोषणकर्त्ता परमात्मा (पथां प्रपथे-अजनिष्ट) मार्गों के सांसारिक जीवनयात्रा के पथाग्र पर मानवमात्र को समर्थ बनाता है (दिवः-प्रपथे पृथिव्याः प्रपथे) मोक्षमार्ग के लक्ष्य पर तथा पुनर्जन्म के लक्ष्य पर सफल और समर्थ बनाता है (उभे प्रियतमे सधस्थे) दोनों प्रियतमों अर्थात् अभ्युदय और सधस्थ-समान स्थान मोक्ष में (अभि) अभिप्राप्त होकर (प्रजानन्) अनुभव करता हुआ (आचरति पराचरति) अनुष्ठान करता है और पुनर्वैराग्य से त्यागता भी है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासकों को जीवनयात्रा के पथाग्र पर समर्थ बनाता है। मोक्षमार्ग में भी और संसार के मार्ग में भी जो सुख प्राप्त होता है आत्मा परमात्मा की कृपा से अभ्युदय और निःश्रेयस को अनुभव करता है। संसार में संसार के सुखों का सेवन करता है और वैराग्य से उनको त्यागकर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ७ ॥

सरस्वतीम् । देवऽयन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । तायमाने । सरस्वतीम् । सुऽकृतः । अह्वयन्त । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवयन्तः) आत्मनो देवमिष्टदेवं परमात्मानमिच्छन्तो जना मुमुक्षवः (सरस्वतीं हवन्ते) स्तुतिवाचमनुतिष्ठन्ति (तायमाने-अध्वरे सरस्वतीम्) यज्ञेऽध्यात्मयज्ञे विस्तार्यमाणे-विस्तार्यमाणाध्यात्मयज्ञनिमित्तं सरस्वतीं स्तुतिवाचमाश्रयन्ति मुमुक्षवः (सुकृतः सरस्वतीम्-अह्वयन्त) पुण्यकर्माणः स्तुतिवाचं स्मरन्ति (सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्) स्तुतिवाणी खल्वात्मसमर्पणं कृतवते वरणीयं मोक्षपदं ददाति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवयन्तः) अपने इष्टदेव परमात्मा को चाहते हुए मुमुक्षुजन (सरस्वतीं हवन्ते) स्तुतिवाणी का सेवन करते हैं (तायमाने-अध्वरे सरस्वतीम्) विस्तृत किये हुये अध्यात्म-

यज्ञ के निमित्त स्तुति वाणी को आश्रित करते हैं (सुकृतः सरस्वतीम्-अह्वयन्त) पुण्यकर्मी स्तुतिवाणी का स्मरण करते हैं (सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्) स्तुतिवाणी आत्मसमर्पण करने वाले के लिये रमणीय मोक्षपद देती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—स्तुतिवाणी के द्वारा पुण्यात्मा या मुमुक्षुजन अपना परमात्मा को समर्पण करके अभीष्ट मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ८ ॥

सरस्वति । या । सऽरथम् । ययाथ । स्वधाभिः । देवि । पितृऽभिः । मदन्ती । आऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयस्व । अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सरस्वति देवि) हे स्तुतिवाणि ! देवि ! (या) यैषा त्वम् (पितृभिः सरथं ययाथ) मनोभावैः सह *"मनः पितरः" [श० १४ । ४ । ३ । १३]* समानरमणीयं परमात्मानं प्रति गच्छसि (स्वधाभिः-मदन्ती) तत्रत्यैः-आनन्दरसैः *"स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतदाह" [श० ५ । ४ । ३ । ७]* माद्यन्ती (अस्मिन् बर्हिषि-आसद्य) अस्मिन् मानसे ज्ञानयज्ञे *"बर्हिषि—मानसे ज्ञानयज्ञे" [यजु० ३१ । ९ दयानन्दः]* विराज्य (मादयस्व) अस्मान् हर्षय (अस्मे-अनमीवाः-इषः-आधेहि) अस्मभ्यं रोगवर्जिताः-रोगवर्जकान् कमनीयभोगान्-आधारय प्रापय ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सरस्वति देवि) हे दिव्या स्तुतिवाणी ! (या) जो ये तू (पितृभिः सरथं ययाथ) मनोभावों के साथ समानरमणीय परमात्मा के प्रति जाती है (स्वधाभिः-मदन्ती) वहां के आनन्दरसों के साथ हर्षित करती हुई (अस्मिन् बर्हिषि-आसद्य) इस मानस ज्ञानयज्ञ में विराजकर (मादयस्व) हमें हर्षित कर (अस्मे-अनमीवाः-इषः-आ धेहि) हमारे लिये रोगरहित कमनीय भोगों को भलीभांति धारण करा ॥ ८ ॥

भावार्थ— मानसिक भावनाओं के साथ जब परमात्मा की स्तुति अध्यात्मयज्ञ में की जाती है तो वह हमें सब रोगों से अलग रखती हुई कमनीय भोगों को धारण कराती है ॥ ८ ॥

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥ ९ ॥

सरस्वतीम् । याम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभिऽनक्षमाणाः । सहस्रऽअर्घम् । इळः । अत्र । भागम् । रायः । पोषम् । यजमानेषु । धेहि ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पितरः-यज्ञम्-अभिनक्षमाणाः) मनः-मनोभावा अध्यात्मयज्ञमभ्याप्नुवन्तः *"नक्षति व्याप्तिकर्मा" [निघ० २ । १८]* (दक्षिणा यां सरस्वतीं

हवन्ते) आत्मदानेन-आत्मसमर्पणेन "सुपां सुलुक्...." [अष्टा० ७ । १ । ३६] इति तृतीयाया लुक्, यां स्तुतिमाचरन्ति (अत्र-सहस्रार्घम्-इळः-भागम्) सा स्तुतिः-अस्मिन् जीवने स्तुत्यस्य भोगस्य "इळः–ईडेः स्तुतिकर्मणः" [निरु० ८ । ८] सहस्रगुणितं भजनीयं सुखम् (रायः-पोषम्) धनस्य पोषकं फलम् (यजमानेषु धेहि) अस्मासु–आत्मयाजिषु धारय–स्थापय ॥ ६॥

भाषान्वयार्थ—(पितरः-यज्ञम्-अभिनक्षमाणाः) मनोभाव अध्यात्मयज्ञ को प्राप्त होते हुए (दक्षिणा यां सरस्वतीं हवन्ते) आत्मदान–आत्मसमर्पण से जिस स्तुति का आचरण करते हैं (अत्र सहस्रार्घम्-इळः-भागम्) यहां वह स्तुति इस जीवन में सहस्रगुणित भजनीय सुख को (रायः पोषम्) धन के पोषक फल को (यजमानेषु धेहि) हम आत्मयाजी मुमुक्षुओं में धारण करा ॥ ६ ॥

भावार्थ—अध्यात्मयज्ञ को मनोभाव जब प्राप्त हो जाते हैं और आत्मसमर्पण परमात्मा के प्रति कर दिया जाता है तो सहस्रगुणित सुखलाभ पोषण आत्मयाजी मुमुक्षु को मिलता है ॥ ६ ॥

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्वः॑ पुनन्तु ।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्यः॒ शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥ १० ॥

आपः॑ । अ॒स्मान् । मा॒तरः॑ । शु॒न्धय॑न्तु । घृ॒तेन॑ । नः॒ । घृ॒त॒ऽप्वः॑ । पु॒नन्तु । विश्व॑म् । हि । रि॒प्रम् । प्र॒ऽवह॑न्ति । दे॒वीः । उत् । इत् । आ॒भ्यः॒ । शुचिः॑ । आ । पू॒तः । ए॒मि ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मातरः-आपः-अस्मान् शुन्धयन्तु) मातृवत् स्नेहशान्तिप्रदाः, जीवनकलानिर्मात्र्यः–आपः–आप्तविद्वांसो वा "मनुष्या वा आपश्चन्द्राः" [श० ७ । ३ । १ । २७] "आपः-आप्ताः" [यजु० ६ । २७ दयानन्दः] अस्मान् शोधयन्तु–पवित्रीकुर्वन्तीति भावः "शुन्ध शौचकर्मणि" [चुरादिः] (घृतप्वः-घृतेन नः पुनन्तु) सेचनेन पवित्रीकुर्वन्त्य आपः, यद्वा तेजसा पवित्रीकुर्वन्त आप्तविद्वांसः "तेजो वै घृतम्" [मै० १ । ६ । ८] सेचनधर्मेण "घृ सेचने" [भ्वादिः] "नपुंसके भावे क्तः" [अष्टा० ३ । ३ । ११४] तेजसा वाप्तजनाः पवित्रीकुर्वन्त्वस्मान् (विश्वं हि रिप्रं देवीः प्रवहन्ति) सर्वं ह्यमेध्यं मलं "तद्यदमेध्यं रिप्रं तत्" [श० ३ । १ । २ । ११] दिव्यगुणा आपो दूरीकुर्वन्ति, उपदेशेन सर्वपापान् पृथग् कुर्वन्त्याप्ता दिव्यगुणाः "रिप्रं पापनाम" [निरु० ४ । २१] (इत्) अनन्तरम् (आभ्यः "आभिः-"-आपूतः शुचिः-उत्-एमि) एतैः सह सङ्गत्य समन्तात् प्रगति-प्राप्तः पवित्रो निर्मलो निष्पापो वा सन्नुत्सहे–उच्चत्वं प्राप्नोमि वा ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(मातरः- आपः-अस्मान् शुन्धयन्तु) माता के समान स्नेह शान्तिप्रद, जीवनकला निर्माण करने वाले जन या आप्त विद्वान् हमें पवित्र करते हैं (घृतप्वः-घृतेन नः पुनन्तु) घृत से सींचते हुए जैसे पवित्र करते हुए जल अथवा तेज से पवित्र करने वाले आप्त विद्वान् हमें पवित्र करें (विश्वं हि रिप्रं देवीः प्रवहन्ति) सारे मल दोष को दिव्यगुण वाले जल तथा आप्त

विद्वान् पाप को दूर बहाते हैं–दूर करते हैं (इत्) अनन्तर (आभ्यः-"आभिः-"आपूतः शुचिः-उत्-एमि) इनके साथ भलीभांति सङ्गत होकर पवित्र निर्मल या निष्पाप होता हुआ उन्नत होता हूँ ॥ १० ॥

भावार्थ—जल अपने स्नेह से तथा आप्त विद्वान् अपने तेज–ज्ञान से हमें पवित्र किया करते हैं। उनसे यथोचित लाभ लेकर मानव निर्मल व निष्पाप हो जाते हैं और उन्नति के पथ को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

द्रप्सश्चस्कन्द प्रथमाँ अनु द्यूनिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ११ ॥

द्रप्सः । चस्कन्द । प्रथमान् । अनु । द्यून् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः । समानम् । योनिम् । अनु । सम्ऽचरन्तम् । द्रप्सम् । जुहोमि । अनु । सप्त । होत्राः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(द्रप्सः) आदित्यः *"असौ वा आदित्यो द्रप्सः" [श० ७ । ४ । १ । २०]* रसो जलमोषधिरसो वा *"यो वा अस्याः पृथिव्या रसः स द्रप्सः" [मै० ४ । १ । १०]* (प्रथमान् द्यून्-अनु चस्कन्द) प्रकृष्टतमान् द्योतमानान् लोकान् लक्ष्यीकृत्य प्राप्नोति (यः-च पूर्वः) यः खलु पुरातनः शाश्वतिकः पूर्वभावी वा (इमं योनिं च-अनु) इमं पृथिवीलोकञ्च पश्चात् प्राप्नोति *"योनिः इयं पृथिवी" [जै० १ । ५३]* (समानं योनिं सञ्चरन्तं द्रप्सम्) समानमन्तरिक्षं स्थानं सञ्चरन्तं प्राप्नुवन्तं खलु तमादित्यं पृथिवीरसं वा (सप्त होत्राः-अनु) सप्त रश्मीन् अनुलक्ष्य *"रश्मयो वाव होत्राः" [गो० २ । ६ । ६]* (जुहोमि) आददे–प्रयुञ्जे–स्वजीवनोत्कर्षाय खल्वोषधिरसम्, सूर्य-चिकित्सापद्धत्या जलचिकित्सापद्धत्या वा ओषधिचिकित्सया वा ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(द्रप्सः) सूर्य या ओषधि रस (प्रथमान् द्यून्-अनु चस्कन्द) प्रकृष्टतम प्रकाशित लोकों को लक्ष्य करके प्राप्त होता है (यः-च पूर्वः) और जो पुरातन–शाश्वतिक या पूर्वभावी है (इमं योनिं च-अनु) इस पृथिवीलोक को पीछे प्राप्त होता है (समानं योनिम्-अनु सञ्चरन्तम्) समान अन्तरिक्षस्थान में प्राप्त होते हुए उस (द्रप्सम्) सूर्य और ओषधि रस को (सप्त होत्राः-अनु) सात रश्मियों को लक्ष्य करके (जुहोमि) स्वजीवनोत्कर्ष के लिए मैं ग्रहण करता हूं–प्रयुक्त करता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—द्युस्थानीय लोकों को सूर्य उनकी अपेक्षा पूर्वभावी रूप से प्राप्त होता है और इस पृथिवी पर पश्चात् प्राप्त होता है। सात रश्मियां उस सूर्य के साथ विचरण करती हैं उनका उपयोग मनुष्यों को चिकित्सा के लिये करना चाहिए। इसी प्रकार पृथिवी पर ओषधिरस को भी चिकित्सा के लिए उपयोग में लाना चाहिये ॥ ११ ॥

यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थात् ।
अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतम् ॥ १२ ॥

यः । ते । द्रप्सः । स्कन्दति । यः । ते । अंशुः । बाहुऽच्युतः । धिषणायाः । उपऽस्थात् । अध्वर्योः । वा । परि । वा । यः । पवित्रात् । तम् । ते । जुहोमि । मनसा । वषट्ऽकृतम् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे परमात्मन् ! तव (द्रप्सः) रसः (स्कन्दति) पृथिव्यां प्रगच्छति–प्रवहति (ते) तव (यः-अंशुः) वाष्परूपः (बाहुच्युतः) बलवीर्याभ्यां प्राप्तः (धिषणायाः-उपस्थात्) वाचः स्थानात् मेघात् *"धिषणा वाक्"* [*निघ० १ । ११*] (अध्वर्योः-परि वा) द्युलोकाच्च *"द्यौरध्वर्युः"* [*मै० १ । ६ । १*] (यः-वा पवित्रात्) यश्चान्तरिक्षात् *"अन्तरिक्षं वै पवित्रम्"* [*काठ० २६ । १०*] (ते) तव (तं वषट्कृतम्) तं वज्रघोषकृतं यद्वा *"क्रियानिष्पादितम्"* [*ऋ० १ । १६३ । १५ दयानन्दः*] शिल्पविद्याजन्यम् *"वषट्कृतस्य शिल्पविद्याजन्यस्य"* [*ऋ० १ । १२० । ४ दयानन्दः*] (मनसा जुहोमि) मनसा विचारयामि–स्वीकरोमि ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे परमात्मन् ! तेरा (द्रप्सः) रस (स्कन्दति) पृथिवी पर प्राप्त होता है (ते) तेरा (यः-अंशुः) वाष्परूप (बाहुच्युतः) बलवीर्यद्वारा प्राप्त (धिषणायाः-उपस्थात्) वाणी के स्थान से (अध्वर्योः-परि वा) द्युलोक से परे (यः पवित्रात्-वा) और जो अन्तरिक्ष से परे (ते-तं वषट्कृतम्) तेरे उस वज्रघोषकृत या क्रिया से निष्पादित शिल्पविद्याजन्य को (मनसा जुहोमि) मन से विचार करता हूं–मन में धारण करता हूं ॥।१२ ॥

भावार्थ—परमात्मा का रचा सूर्य या रसरूप जलांशु अन्तरिक्ष के माध्यम से पृथिवी पर प्राप्त होता है, उस सूर्य या जल का मन से विचार करके अधिकाधिक उपयोग करना चाहिए ॥ १२॥

यस्ते द्रप्सः स्कन्नो यस्ते अंशुरवश्च यः परः स्रुचा ।
अयं देवो बृहस्पतिः सं तं सिञ्चतु राधसे ॥ १३ ॥

यः । ते । द्रप्सः । स्कन्नः । यः । ते । अंशुः । अवः । च । यः । परः । स्रुचा । अयम् । देवः । बृहस्पतिः । सम् । तम् । सिञ्चतु । राधसे ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) परमात्मन् ! तव (यः-द्रप्सः स्कन्नः) आनन्दरसः प्राप्तः (ते) तव (यः-अंशुः) यो रश्मिः-ज्योतिः (स्रुचा) वाचा स्तुत्या *"वाग्वै स्रुक्"* [*श० ६ । ३ । १ । ८*] (यः-अवः-च परः-च) अवरेऽस्मिन् लोके जीवने परस्मिन् लोके जीवने वा प्राप्तो भवति (अयं देवः-बृहस्पतिः) एष दिव्यः प्राणः *"एष प्राण उ एव बृहस्पतिः"*

[श० १४ । ४ । १ । २२] (राधसे) सुखसमृद्धये (तं संसिञ्चतु) तमानन्दरसं ज्ञानरश्मिं च मयि सम्यक् प्रवाहयतु ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे परमात्मन् ! तेरा (यः-द्रप्सः-स्कन्नः) प्राप्त आनन्दप्रद रस (ते) तेरा (यः-अंशुः) जो रश्मि ज्योति (स्रुचा) स्तुति वाणी द्वारा (यः-अवः-च परः-च) जो इस लोक में—इस जीवन में और परलोक में—परजीवन में प्राप्त होता है (अयं देवः-बृहस्पतिः) यह दिव्य प्राण (राधसे) सुखसमृद्धि के लिये (तं सम् सिञ्चतु) उस आनन्दरश्मि और ज्ञानरश्मि को मेरे में सम्यक् प्रवाहित करे ॥ १३ ॥

भावार्थ—आध्यात्मिक दृष्टि में परमात्मा का आनन्दरस और ज्ञानज्योति स्तुति करने से इस जीवन में और परजीवन में प्राप्त होते हैं। प्राण उन्हें सुखसमृद्धि के लिए जीवन में प्रवाहित कर देता है ॥ १३ ॥

पय॑स्वती॒रोष॑धय॒ः पय॑स्वन्माम॒कं वच॑ः ।
अ॒पां पय॑स्व॒दित्पय॒स्तेन॑ मा स॒ह शु॑न्धत ॥ १४ ॥

पय॑स्वतीः । ओष॑धयः । पय॑स्वत् । मा॒म॒कम् । वच॑ः । अ॒पाम् । पय॑स्वत् । इत् । पय॑ः । तेन॑ । मा॒ । स॒ह । शु॒न्ध॒त॒ ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ओषधयः पयस्वतीः) ओषं तापं धयन्त्य आपो रसवत्यः सारवत्यो गुणवत्यः सन्तु "रसो वै पयः" [श० ४ । ४ । ४ । ८] (मामकं वचः पयस्वत्) तत्सेवनेन मदीयं वचनं स्तुतिवचनं तव परमात्मन् रसवत् स्यात् (अपां पयः पयस्वत्) अपामुदकानां रसोऽपि रसवान् बहुगुणवान् भवतु (तेन सह मा शुन्धत) तेन गुणवता रसेन मां शोधयतु ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ओषधयः पयस्वतीः) ओष—ताप को पीने वाली समाप्त करने वाली रसभरी ओषधियां सारवती गुणवती होवें (मामकं वचः पयस्वत्) उनके सेवन से मेरा स्तुतिवचन रसवाला हो (अपां पयः पयस्वत्) जलों का रस भी बहुत गुण वाला हो (तेन सह मा शुन्धत) उस गुण वाले रस से मुझे शुद्ध कर ॥ १४ ॥

भावार्थ— परमात्मा की कृपा से ओषधियां मानवों के लिए गुणवती एवं ताप को—रोग को दूर करने वाली होती हैं। उनके ठीक सेवन से परमात्मा का स्तुतिवचन सफल होता है। इसी प्रकार जल भी बहुत गुणवाला होता है जो हमारा अनेक प्रकार से शोधन करता है ॥ १४ ॥



अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—यामायनः सङ्कुसुकः ।

देवता—१-४ मृत्युः । ५ धाता । ६ त्वष्टा । ७-१३ पितृमेधः प्रजापतिर्वा ।

छन्दः—१,५,७-९ निचृत् त्रिष्टुप् । २-४,६,१२,१३ त्रिष्टुप् । १० भुरिक् त्रिष्टुप् । ११ निचृत् पंक्तिः । १४ निचृद-नुष्टुप् ।

स्वरः—१-१०,१२,१३ धैवतः । ११ पञ्चमः । १४ गान्धारः ।

विषयः—अत्र सूक्ते मुमुक्षूणां मोक्षप्रापणं तद्भिन्नानां संसारप्रवृत्तिश्च वर्ण्येते ।

इस सूक्त में मुमुक्षुओं की मोक्षप्राप्ति, और संसारी जनों की संसारप्रवृत्ति वर्णित है ।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥ १ ॥

परम् । मृत्यो इति । अनु । परा । इहि । पन्थाम् । यः । ते । स्वः । इतरः । देवऽयानात् । चक्षुष्मते । शृण्वते । ते । ब्रवीमि । मा । नः । प्रऽजाम् । रिरिषः । मा । उत । वीरान् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मृत्यो) हे मारयितः काल ! *'मृत्युः-मारयतीति सतः"* [*निरु० ११ । ७*] (परं पन्थाम्-अनुपरेहि) अन्यं पन्थानं प्रति प्राप्नुहि (यः-ते) यः पन्थास्ते तवास्ति (देवयानात्) मुमुक्षुयानाद्भिन्नः पितृयाणः, यत्र पुनर्जन्मार्थं मातापितरौ प्राप्नुवन्ति साधारणा जनाः (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) चक्षुष्मते शृण्वते तुभ्यं ब्रवीमि-इति त्वालङ्कारिकं कथनम् (नः प्रजां मा रिरिषः-मा-उत वीरान्) अस्माकं देवयानमार्गिणामिन्द्रियाणि मा हिंसीः *"इन्द्रियं प्रजाः"* [*का० २७ । २*], नापि प्राणान् नाशय *"प्राणा वै वीराः"* [*श० ६ । ४ । ३ । १०*] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(मृत्यो) हे मारने वाले काल ! (परं पन्थाम् अनुपरेहि) अन्य मार्ग की ओर जा (यः-ते) जो तेरा मार्ग है (देवयानात्) मुमुक्षु यान से भिन्न-पितृयान जहां

साधारणजन पुनर्जन्मार्थ माता पिताओं को प्राप्त होते हैं (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) आंख वाले सुनते हुए तेरे लिए कहता हूँ 'यह कथन आलङ्कारिक ढंग से है।' (नः-प्रजां मा रिरिषः-मा-उत वीरान्) देवयान की ओर जाने वालों की इन्द्रियों को मत नष्ट कर और न हमारे प्राणों को नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मारने वाला काल पुनः पुनः जन्मधारण करने वाले साधारण जनों को पुनः पुनः मारता रहता है परन्तु देवयान–मोक्षमार्ग की ओर जाने माले मुमुक्षुओं को पुनः पुनः या मध्य में नहीं मारता, उन्हें पूर्ण अवस्था प्रदान करता है ॥ १ ॥

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥ २ ॥

मृत्योः । पदम् । योपयन्तः । यत् । ऐत । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । दधानाः । आऽप्यायमानाः । प्रऽजया । धनेन । शुद्धाः । पूताः । भवत । यज्ञियासः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यज्ञियासः) अध्यात्मयज्ञकर्त्तारो मुमुक्षवो देवयानमार्गिणः *"यज्ञियानां यज्ञसम्पादिनाम्" [निरु० ७ । २७]* (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्योः पदं कारणमज्ञानविषयसेवनं विलोपयन्तस्त्यजन्तः (यत्) यतः (द्राघीयः प्रतरम्-आयुः-दधानाः-ऐत) अतिदीर्घकालान्तं प्रकृष्टतरं स्वास्थ्यपूर्णमायुर्जीवनं धारयन्तः, संसारे यात्रां कुरुत (प्रजया धनेन-आप्यायमानाः) पुत्रादिसन्तत्या भोगैश्वर्येण वर्धमानाः (शुद्धाः पूताः-भवत) दोषरहिताः पवित्रान्तःकरणा भवत ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यज्ञियासः) अध्यात्मयज्ञ करने वाले मुमुक्षु देवयानमार्गी (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के कारण अज्ञान विषयसेवन को विलुप्त करते हुए–त्यागते हुए (यत्) जिससे (द्राघीयः प्रतरम्-आयुः-दधानाः-ऐत) अतिदीर्घकालतक प्रकृष्टतर स्वास्थ्यपूर्ण जीवन को धारण करते हुए संसार में यात्रा करो (प्रजया धनेन-आप्यायमानाः) पुत्रादि सन्तान से और मोक्ष ऐश्वर्य के साथ बढ़ते हुए (शुद्धाः पूताः-भवत) दोष रहित पवित्र अन्तःकरण वाले होओ ॥ २ ॥

भावार्थ—अध्यात्मयज्ञ करने वाले मुमुक्षुजन मृत्यु के कारणरूप अज्ञान और विषयसेवन को त्यागते हैं और स्वास्थ्यपूर्ण लम्बी आयु को प्राप्त करते हैं। सन्तान तथा ऐश्वर्य से भरपूर होते हुए शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण वाले बन जाया करते हैं ॥ २ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ३ ॥

इमे । जीवाः । वि । मृतैः । आ । अववृत्रन् । अभूत् । भद्रा । देवऽहूतिः । नः । अद्य । प्राञ्चः । अगाम । नृतये । हसाय । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । दधानाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इमे जीवाः) एते वयं जीवन्तः (मृतैः-वि आववृत्रन्) मरणधर्मैर्मृत्युकारणैर्वियुक्ता भवेम (अद्य) अस्मिन् जीवने (नः) अस्मभ्यम् (देवहूतिः-भद्रा-अभूत्) देवस्य परमात्मनो हूतिर्ह्वानभावना स्तुतिप्रार्थना कल्याणकरी भवति-भविष्यति (द्राघीयः प्रतरम्-आयुः-दधानाः) दीर्घकालपर्यन्तं स्वास्थ्यपूर्णजीवनं धारयन्तः (नृतये-हसाय प्राञ्चः-अगाम) हर्षपूर्वकगात्रविक्षेपाय हसनाय प्रकृष्टमार्गान् गच्छेम ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इमे जीवाः) ये हम जीवनधारण करते हुए (मृतैः-वि-आववृत्रन्) मरण धर्मों–मृत्यु के कारणों से पृथक् वियुक्त होवें (अद्य) इस जीवन में (नः) हमारे लिए (देवहूतिः-भद्रा-अभूत्) परमात्मदेव की स्तुति प्रार्थना कल्याणकारी होती है (द्राघीयः प्रतरम्-आयुः-दधानाः) दीर्घकाल पर्यन्त स्वास्थ्यपूर्ण जीवन धारण करते हुए (नृतये हसाय प्राञ्चः-अगाम) हर्षपूर्वक नाचने और हसने के लिए श्रेष्ठ मार्गों पर चलें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो जीव मृत्यु के कारणों अज्ञान व्यसनसेवन से अलग हो जाते हैं वे अपने जीवन में परमात्मा की कल्याणकारी स्तुति करते हुए दीर्घकाल तक स्वास्थ्यपूर्ण आयु प्राप्त करते हैं। और जीवन का विनोद, हर्ष, श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हुए लिया करते हैं ॥ ३ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ ४ ॥

इमम् । जीवेभ्यः । परिऽधिम् । दधामि । मा । एषाम् । नु । गात् । अपरः । अर्थम् । एतम् । शतम् । जीवन्तु । शरदः । पुरूचीः । अन्तः । मृत्युम् । दधताम् । पर्वतेन ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जीवेभ्यः) जीवनवद्भ्यः (इमं परिधिं दधामि) एतं पर्यावारकं प्रबन्धं नियतं करोमि, यत् (एषाम्-अपरः-एतम्-अर्थं नु मा-गात्) अध्यात्ममार्गिणां मुमुक्षूणां कश्चनान्य एतमरमणीयमनिष्टं मृत्युपथं नैव शीघ्रं गच्छेत् (पुरूचीः शतं शरदः-जीवन्तु) बहुसुखं प्रापयन्तीः *"बहूनि सुखान्यञ्चतीः"* [ऋ० ३ । ५८ । ८ दयानन्दः] शतसंख्याकाः शरदो जीवन्तु ते (पर्वतेन-अन्तर्मृत्युं दधताम्) पर्ववता पूर्णकरणसाधनवता ब्रह्मचर्येण *"पर्वतेन ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण वा"* [यजु० ३५ । १५ दयानन्दः] मृत्युमन्तर्हितं कुर्वन्तु–क्षयं नाशं कुर्वन्तु *"अन्तो वै क्षयः"* [कौ० ८ । १] *"अन्तः–नाशः"* [ऋ० ७ । २१ । ६ दयानन्दः] तिरस्कुर्वन्तु वा *"तिरो मृत्युं दधताम्"* [अथर्व० १२ । २ । २३] ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(जीवेभ्यः) जीने वालों के लिए (इमं परिधिं दधामि) इस घेरे रूप प्रबन्ध को नियत करता हूं, जो (एषाम्-अपरः-एतम्-अर्थं मा नु गात्) इन अध्यात्म मार्गी मुमुक्षुओं का कोई अन्य इस अरमणीय, अनिष्ट मृत्युपथ को नहीं प्राप्त हो (पुरूचीः शतं शरदः-जीवन्तु) बहुत सुख प्राप्त कराने वाली सौ शरदियों तक वे जीवित रहें (पर्वतेन-अन्तर्मृत्युं दध-

ताम्) पूर्ण करने के साधन वाले ब्रह्मचर्य रूप पर्वत के द्वारा मृत्यु को अन्तर्हित लुप्त करें–नष्ट करें–तिरस्कृत करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा दीर्घ जीवन चाहने वाले मुमुक्षु जनों के लिए नियत परिधि बनाता हैं । कोई भी मुमुक्षु उसमें रहकर शीघ्र मृत्यु का ग्रास नहीं बनता है । किन्तु सौ या बहुत वर्षों तक वे जीते हैं, ब्रह्मचर्य रूप पर्वत को मृत्यु लांघ नहीं सकती है ॥ ४ ॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतवं ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ ५ ॥

यथा । अहानि । अनुऽपूर्वम् । भवन्ति । यथा । ऋतवः । ऋतुऽभिः । यन्ति । साधु । यथा । न । पूर्वम् । अपरः । जहाति । एव । धातः । आयूंषि । कल्पय । एषाम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यथा-अहानि-अनुपूर्वं भवन्ति) यथा हि दिनानि प्रातरारभ्य सायमिति यावत्, अहानि खल्वहोरात्राणि क्रमानुरोधेन प्रवर्तन्ते (यथा-ऋतवः-ऋतुभिः साधु यन्ति) यथा हि खल्वृतवो वसन्तादयः-ऋतुभिः क्रमैः सम्यक् प्रवर्तन्ते (यथा पूर्वम्-अपरः-न जहाति) यथैव वंशे पूर्वभाविनं पितरमपरः पुत्रो न त्यजति यतः पूर्वं पितरमपेक्ष्य हि पुत्रो भवतीति वंशपरम्परा भवति (एव धातः-एषाम्-आयूंषि कल्पय) एषां मुमुक्षूणां जीवनानि-अग्रेऽग्रे सिद्धानि कुरु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यथा-अहानि-अनुपूर्वं भवन्ति) जैसे दिन प्रातः से सायं पर्यन्त होकर निरन्तर दिन अर्थात् दिन रात क्रम से चलते हैं–प्रवृत्त होते हैं (यथा-ऋतवः-ऋतुभिः साधु यन्ति) जैसे वसन्तादि ऋतुएँ परस्पर ऋतुओं के साथ क्रमशः प्रवृत्त होती हैं–चलती हैं (यथा पूर्वम्-अपरः- न जहाति) जैसे वंश में पूर्वभावी पिता आदि को पिछला पुत्र नहीं त्यागता, जिससे कि पूर्वभावी पिता आदि का पश्चात् भावी पुत्र होता है–इस प्रकार वंश-परम्परा होती है (एवं धातः-एषाम्-आयूंषि-कल्पय) धाता विधाता परमात्मा ! इन मुमुक्षुओं की आयु तथा जीवनों को आगे–आगे सिद्ध कर–सफल–समृद्ध कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे दिन रात आनुपूर्वी क्रम से निरन्तर होते रहते हैं तथा जैसे ऋतुएँ एक दूसरे क्रम से चलती रहती हैं अथवा जैसे पूर्वोत्पन्न पिता के पश्चात् पुत्र और, पुत्र–भावी पिता के पीछे उसका पुत्र वंश-परम्परा से होते रहते हैं, इसी प्रकार मुमुक्षुओं के जीवन भी आगे–आगे चलते रहते हैं ॥ ५ ॥

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥ ६ ॥

आ । रोहत । आयुः । जरसम् । वृणानाः । अनुऽपूर्वम् । यतमानाः । यति । स्थ । इह । त्वष्टा । सुऽजनिमा । सऽजोषाः । दीर्घम् । आयुः । करति । जीवसे । वः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यति) यावन्तः 'यत् शब्दात् डतिप्रत्ययश्छान्दसः (स्थ) यूयं मुमुक्षवः-भवथ सर्वे खल्वपि (जरसं वृणानाः) जरावस्थां वृण्वन्तः (अनुपूर्वं यतमानाः) पूर्वेषां मुमुक्षूणां सरणिमनु तेषामिवाचरणं कुर्वन्तः (आयुः-आरोहत) जीवनसोपानमुपरि गच्छत (इह) अस्मिन् मोक्षार्थकर्मणि (सुजनिमा) शोभनं जन्म यस्मात् भवति यस्योपासनेन जायते सः (सजोषाः) समानं प्रीतिकराः, यावतीं प्रीतिमुपासकाः कुर्वन्ति तावतीं प्रीतिं सोऽपि करोति तथाभूतः (त्वष्टा) विश्वस्य जगतो रचयिता जीवात्मनां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयिता परमात्मा (वः जीवसे) युष्माकं जीवनाय (दीर्घम्-आयुः करति) दीर्घं मोक्षविषयकमायुर्जीवनं करोति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यति) जितने (स्थ) तुम मुमुक्षु हो सब ही (जरसं वृणानाः) जरावस्था को वरते हुए अर्थात् जरावस्था तक पहुंचते हुए (अनुपूर्वं यतमानाः) पूर्व मुमुक्षुजनों की सरणि के अनुसार आचरण करते हुए (आयुः-आरोहत) जीवन सोपान पर चढ़ो (इह) इस मोक्षकर्म में (सुजनिमा) शोभन जन्म जिससे होता है, जिसकी उपासना से (सजोषाः) समान प्रीति करने वाले अर्थात् जितनी प्रीति उपासक करते हैं उतनी प्रीति परमात्मा भी करता है, ऐसा परमात्मा (त्वष्टा) जगत् का रचियता जीवात्माओं के कर्मानुरूप फल सम्पादन करने वाला है (वः-जीवसे) तुम्हारे जीवन के लिए (दीर्घम्-आयुः करति) दीर्घ मोक्ष विषयक आयु करता है देता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा सभी मुमुक्षु आत्माओं को जरा अवस्था तक पहुंचाता है जबकि वे मुमुक्षुओं की सरणि के अनुसार आचरण करते हों । जितनी प्रीति मुमुक्षु परमात्मा से करते हैं परमात्मा भी उनसे उतनी ही प्रीति करता है और उन्हें दीर्घायु प्रदान करता है ॥ ६ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ७ ॥

इमाः । नारीः । अविधवाः । सुऽपत्नीः । आऽअञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । विशन्तु । अनश्रवः । अनमीवाः । सुऽरत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इमाः-अविधवाः-सुपत्नीः-नारीः-आञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु) इमाः सपतिकाः सुपत्न्यो नार्यः, 'अत्र सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः' । समन्तादञ्जनेन नेत्रमुखप्रक्षालनहेतुना सर्पिषा 'सर्पिरुदकम्' सङ्गृह्णन्तु । "*सर्पिरुदकनाम*" [नि० १ । १२] 'विभक्तिव्यत्ययः' (अनश्रवः-अनमीवाः सुरत्नाः-जनयः-अग्रे योनिम्-आरोहन्तु)

अश्रुरहिताः–रोगरहिताः–स्वस्थाः सुरमणा जनयः–युवतयः पूर्वत एव योनिम्–गृहं, आरोहन्तु–अधितिष्ठन्तु ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(इमाः-अविधवाः-सुपत्नीः-नारीः-आञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु) ये जीवित पतिवाली सुशील नारियां भली प्रकार नेत्रमुखप्रक्षालन के कारण जल का सेवन करें (अनश्रवः-अनमीवाः सुरत्नाः-जनयः-अग्रे योनिम्-आरोहन्तु) आंसू रहित हुई स्वस्थ सुन्दर युवतियां पूर्व से ही घर में आ विराजें ॥ ७ ॥

भावार्थ—शव के साथ जाने वाली स्त्रियां जो पतिवाली और युवति हों वे किसी जलाशय तक पहुंचकर वहाँ नेत्र मुख आदि धोकर पुनः आंसू रहित स्वस्थ हुई घर को वापिस चली आवें ॥ ७ ॥

उदी॑र्ष्व ना॒र्य॒भि जी॑वलो॒कं ग॒तासु॑मे॒तमुप॑ शेष॒ एहि॑ ।
ह॒स्त॒ग्रा॒भस्य॑ दिधि॒षोस्तवे॒दं पत्यु॑र्जनि॒त्वम॒भि सं ब॑भूथ ॥ ८ ॥

उत् । ई॒र्ष्व॒ । ना॒रि॒ । अ॒भि । जी॒व॒ऽलो॒कम् । ग॒तऽअ॑सुम् । ए॒तम् । उप॑ । शे॒षे॒ । आ । इ॒हि॒ । ह॒स्त॒ऽग्रा॒भस्य॑ । दि॒धि॒षोः । तव॑ । इ॒दम् । पत्युः॑ । ज॒नि॒ऽत्वम् । अ॒भि । सम् । ब॒भू॒थ॒ ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नारि) हे नारि ! (एतं गतासुम्) एतं गतप्राणं मृतं त्यक्त्वा (जीवलोकम्-अभ्येहि) जीवन्तं तं द्वितीयं पतिं प्राप्नुहि (हस्तग्राभस्य दिधिषोः पत्युः-तव-इदं जनित्वम्-उदीर्ष्व) विवाहे गृहीतहस्तस्य धारयितुः पत्युस्तव चेदं जनित्वं सन्तानमुत्पादय (अभि संबभूथ) एवं त्वं सुखसम्पन्ना भव ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(नारि) हे विधवा नारि तू ! (एतं गतासुम्) इस मृत को छोड़कर (जीवलोकम्-अभ्येहि) जीवित पति को प्राप्त हो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः पत्युः-तव-इदं जनित्वम्-उदीर्ष्व) विवाह में जिसने तेरा हाथ पकड़ा था उस पति की और अपनी सन्तान को उत्पन्न कर (अभि संबभूथ) तू इस प्रकार सुखसम्पन्न हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विधवा अपने पूर्वपति की सम्पत्ति आदि के अधिकार को भोग सकती है तथा उसके प्रतिनिधि और अपनी सन्तान को उत्पन्न कर सकती है ॥ ८ ॥

धनु॒र्हस्ता॑दा॒दद॑ानो मृ॒तस्या॒स्मे क्ष॒त्राय॒ वर्च॑से॒ बला॑य ।
अत्रै॒व त्वमि॒ह व॒यं सु॒वीरा॒ विश्वाः॒ स्पृधो॑ अ॒भिमा॑तीर्जयेम ॥ ९ ॥

धनुः॑ । हस्ता॑त् । आ॒ऽदद॑ानः । मृ॒तस्य॑ । अ॒स्मे इति॑ । क्ष॒त्राय॑ । वर्च॑से । बला॑य । अत्र॑ । ए॒व । त्वम् । इ॒ह । व॒यम् । सु॒ऽवीरा॑ः । विश्वा॑ः । स्पृध॑ः । अ॒भिऽमा॑तीः । ज॒येम॒ ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मृतस्य हस्तात्-धनुः-आददानः) मृतस्य राज्ञः शासकस्य हस्तात् खलु धनुः शस्त्र राज्यशासनं गृह्णन् तत्पुत्रस्तदन्वधिकारप्राप्त उत्तराधिकारी (अस्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय) अस्माकं राष्ट्रबलाय राष्ट्रपोषणाय, ज्ञानबलाय, शरीरबलाय च (त्वम्) हे उत्तराधिकारिन् ! त्वम् (अत्र-एव-इह) अत्र राष्ट्रे हि खल्वस्मिन् राज्यासने राजपदे विराजस्वेत्यर्थः (वयं सुवीराः-विश्वाः स्पृधः-अभिमातीः-जयेम) वयं सनिकाः पूर्णवीराः सर्वाः–अभिमत्ता विरोधिन्यः शत्रुसेनाः–जयेम ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(मृतस्य हस्तात्-धनुः-आददानः) मृत राजा–शासक के हाथ से शस्त्र–राज्यशासन को ग्रहण करता हुआ उसका उत्तराधिकारी (अस्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय) हमारे राष्ट्रबल, राष्ट्रवर्धन–राष्ट्रपोषण, ज्ञानबल और शरीरबल के लिए (त्वम्) हे उत्तराधिकारी ! तू (अत्र-एव-इह) इस राष्ट्र में ही या इस राजस्थान–राजपद पर ही राजमान हो (वयं सुवीराः- विश्वाः स्पृधः- अभिमातीः जयेम) हम सैनिक पूर्णवीर सारी अभिमत्त शत्रुसेनाओं को जीतें–जीतते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्व शासक के उसके शासनकाल का समय हो जाने पर उत्तराधिकारी उसके शस्त्र और शासन को हाथ में संभाल ले और क्षात्रधर्म, राष्ट्रवृद्धि और शरीरबल के लिए राज्य शासन पद पर विराजमान होकर अपने सैनिकों को ऐसा बनाये जिससे वे विरोधी अभिमानी शत्रुसेनाओं को जीत लें ॥ ६ ॥

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदा युव॒तिर्दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु॒ निर्ऋ॑ते॒रु॒पस्था॑त् ॥ १० ॥

उप॑ । स॒र्प॒ । मा॒तर॑म् । भूमि॑म् । ए॒ताम् । उ॒रु॒ऽव्यच॑सम् । पृ॒थि॒वीम् । सु॒ऽशेवा॑म् । ऊर्ण॑ऽम्रदाः । यु॒व॒तिः । दक्षि॑णाऽवते । ए॒षा । त्वा॒ । पा॒तु॒ । निःऽऋ॑तेः । उ॒पऽस्था॑त् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एताम्-उरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां भूमिं मातरम्-उपसर्प) हे जीव जन्म धारयितुं योग्यां त्वमेतां बहुशरीर-व्यक्ति-निर्मात्रीं पृथिवीं सुखसम्पादिकां भूमिं मातरमुपगच्छाश्रयस्व (दक्षिणावते-एषा युवतिः-ऊर्णम्रदाः) स्वकर्मफल-शरीरधारण-योग्यजीवायैषा युवतिरिव यद्वा बीजं स्वान्तरे मिश्रयती कृषिभूमिरिव ऊर्णवन्मृद्वी भवति (निर्ऋतेः-उपस्थात् त्वा पातु) मृत्युरूपायाः कृच्छ्रापत्तेः *"निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः* कृच्छ्रापत्ति [*निरु० २ । ८*] उपाश्रयात् त्वां रक्षतु ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(एताम्-उरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां भूमिं मातरम्-उपसर्प) हे जीव ! जन्म धारण करने के लिये तू इस बहुत प्रकार से जीव व्यक्तियों को प्रकट करने वाली विस्तृत और अनुकूलता की सम्पादिका भूमि रूपी माता को प्राप्त हो (दक्षिणावते-एषा युवतिः-ऊर्णम्रदाः) स्वकर्म-

फल शरीर के धारण योग्य जीव के लिये यह युवति की भांति या बीज को अपने अन्दर मिलाने वाली कृषि भूमि की भांति (निर्ऋतेः-उपस्थात् त्वा पातु) मृत्युरूप घोर आपत्ति के आञ्चल से तेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि में सब जीवों की एकमात्र माता पृथिवी ही होती है। अत एव उस समय मनुष्यों की भी अमैथुनी सृष्टि होती है। नानाभेदों से मनुष्यादि शरीरों का प्रादुर्भाव होता है। आरम्भ सृष्टि में पृथिवी युवति जैसी या कृषि भूमि जैसी कोमल होती है ॥ १० ॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

उत् । श्वञ्चस्व । पृथिवि । मा । नि । बाधथाः । सुऽउपायना । अस्मै । भव । सुऽउपवञ्चना । माता । पुत्रम् । यथा । सिचा । अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पृथिवि-उच्छ्वञ्चस्व मा निबाधथाः) हे पृथिवि ! त्वं जीवगर्भं धारयितुमुद्गच्छ पुलकितपृष्ठा भव *"श्वचि गतौ"* [*भ्वादिः*] जीवं न पीडय (अस्मै सूपायना सूपवञ्चना भव) अस्मै जीवाय सूपायना-शरीरधारणवर्धनयोग्या शोभनाश्रययोग्या भव (भूमे माता पुत्रं यथा सिचा-एनम्-अभि-ऊर्णुहि) हे भूमे ! माता यथा पुत्रं जननान्तरं सिचा-दुग्धसेचनपार्श्वेन स्तनपार्श्वेनाच्छादयति तथा त्वमपि जीवरूपं पुत्रं प्रकटीकृत्य वनस्पतियुक्तेन निजपार्श्वेनाच्छादय ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(पृथिवि-उच्छ्वञ्चस्व मा निबाधथाः) हे पृथिवि ! तू जीवगर्भ को धारण करने के लिये पुलिकतपृष्ठा—उफनी हुई हो जा जिससे इस जीव को पीड़ा न दे सके (अस्मै सूपायना सूपवञ्चना भव) इस जीव के लिए शरीर धारण कराने योग्य शोभन आश्रय देने वाली हो (भूमे माता पुत्रं यथा सिचा-एनम्-अभि-ऊर्णुहि) हे भूमि जैसे माता पुत्र को जनने के पश्चात दूध वाले स्तनपार्श्व से ढकती है ऐसे तू भी वनस्पतियुक्त पार्श्व से इसे आच्छादित कर—करती है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जीवगर्भ जब भूमि में आता है तो भूमि ऊपर के पृष्ठ पर पुलकित उफनी हुई पोली सी हो जाती है जिससे आसानी के साथ जीव बढ सके और वह गर्भ की आवश्यकताओं को पूरा करती है। गर्भ के पूर्ण होते ही उसको ऊपर उभरने—बाहर प्रकट करने में योग्य होती है तथा बाहर प्रकट हो जाने पर ओषधियों से उसका पोषण करती है अतएव उस समय जीव सब प्रकार कुशल कुमारावस्था में उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥१२॥

उत्ऽश्वञ्चमाना । पृथिवी । सु । तिष्ठतु । सहस्रम् । मितः । उप । हि । श्रयन्ताम् । ते । गृहासः । घृतऽश्चुतः । भवन्तु । विश्वाहा । अस्मै । शरणाः । सन्तु । अत्र ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु) यदा पुलकितपृष्ठा पृथिवी सम्यक् तिष्ठति तदा (सहस्रं मितः-हि उपश्रयन्ताम) सहस्रं बहुसंख्यां प्राप्ताः 'मितः-क्विपि ह्रस्वस्य पिति कृति तुकि प्रयोग औणादिकः' *"मिनोतिर्गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] जीवा उपतिष्ठन्ते (ते गृहासः-घृतश्चुतः-भवन्तु-अस्मै विश्वाहा-अत्र शरणाः सन्तु) जीवात्मने ते गृहासो गर्भकोशा घृतश्चुतः-रसपूर्णा भवन्तु-सन्तु, सर्वदाऽत्र शरणाः-शरण्याः सन्तु-सन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु) जब पुलकितपृष्ठा उफनी हुई-पोली सी बनी हुई पृथिवी तैयार हो जाती है तब (सहस्रं मितः-हि-उपश्रयन्ताम्) बहुसंख्या प्राप्त जीव उसके आश्रित रहते हैं (ते गृहासः-घृतश्चुतः-भवन्तु-अस्मै विश्वाहा-अत्र शरणाः सन्तु,) जीवात्मा के लिए वे गर्भगृह रसपूर्ण और सर्वदा आश्रय देने वाले होते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जीवसृष्टि के लिए पृथिवी ऊपर पोली और मृदु कुछ काल तक बनी रहती है। पुनः उनमें असंख्य जीव आश्रित रहते हैं अतएव आज तक भी स्व-स्व जातीय सङ्घ में रहने का स्वभाव प्रायः सभी जीवों में वर्तमान है। आत्मा के लिए गर्भगृह स्वाभाविक रस देते हुए शरणीय हैं ॥ १२ ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ १३ ॥

उत् । ते । स्तभ्नामि । पृथिवीम् । त्वत् । परि । इमम् । लोगम् । निऽदधत् । मो इति । अहम् । रिषम् । एताम् । स्थूणाम् । पितरः । धारयन्तु । ते । अत्र । यमः । सदना । ते । मिनोतु ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पृथिवीं ते-उत् स्तभ्नामि) हे जीव ! तुभ्यमहमीश्वरः पृथिवीं जलमिश्राद् भूगोलादुपर्याकर्षामि (त्वत्-इमं लोगं परिनिदधत्-म-उ-अहं रिषम्) तव 'विभक्ति व्यत्ययः' इमं लोगं लुञ्ज ग्रहणं गर्भकोशमित्यर्थः *'लुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु"* [*चुरादिः*] *"इदितो नुम् धातोः"* [*अष्टा० ७ । १ । ५८*] इति छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्तेऽतो नुमभावः, अधिकरणार्थे घञ् *"चजोः कु घिण्यतोः"* [*अष्टा० ७ । ३ । ५२*] इति कुत्वम्, परिनिदधत्-समर्पयन् नैवाहं हिंसेयम् (एतां स्थूणां पितरः-धारयन्तु) एतां स्थूणामुपर्युत्थितां भूमिं सूर्यरश्मयो धारयन्तु-स्थिरीकुर्वन्तु-स्थिरीकुर्वन्ति, (तत्र यमः-ते सदना मिनोतु) तत्र यमः-सूर्यस्तुभ्यं सदना-गर्भकोशान् मिनोतु-प्रापयतु 'अन्तर्गतणिजर्थः' *"मिनोतिर्गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पृथिवीं ते-उत् स्तभ्नामि) हे जीव ! तेरे लिए मैं ईश्वर, पृथिवी को जलमिश्रित भूगोल से ऊपर खींचता हूं (इमं त्वत्-लोगं परिनिदधत्-म-उ-अहं रिषम्) वहाँ तेरे इस गर्भकोश को रखता हुआ मैं पीड़ा नहीं देता हूं (एतां स्थूणां पितरः-धारयन्तु) इस ऊपर उठी हुई पृथिवी को सूर्यकिरणें धारण करें (तत्र यमः-ते सदना मिनोतु) सूर्य तेरे लिए सब आवश्यक कोशों को प्राप्त करावे ।। १३ ।।

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि भूगोल के ऊंचे भाग पर होती है । वह भाग जलमिश्रित भूगोल से पर्वतभूमि के रूप में ऊपर खींचा जाता है । उस उठे हुए भूभाग को सूर्य की रश्मियां धारण करती हैं और सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा जीवात्मा के गर्भादि को प्राप्त कराता है, अतएव उसका दूसरा नाम सविता है ।। १३ ।।

प्रतीचीने मामहनीष्वाः पर्णमिवा दधुः ।
प्रतीचीं जग्रभा वाचमश्वं रशनया यथा ।। १४ ।।

प्रतीचीने । माम् । अहनि । इष्वाः । पर्णम् ऽइव । आ । दधुः । प्रतीचीम् । जग्रभ । वाचम् । अश्वम् । रशनया । यथा ।। १४ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रतीचीने-अहनि) अभिमुखे दिने कालेऽग्रिमे प्रवर्त्तमाने जीवने स्वर्गे-मोक्षे *"अहः स्वर्गः"* [*श० १३ । २ । १ । ६*] तन्निमित्ते-इति यावत् (माम्) मोक्षकांक्षिणं जनं संसारे वर्त्तमानम् (इष्वाः पर्णम्-इव-आदधुः) इषुचालका इष्वाः बाणस्य पर्णम् लोहपत्रं फलकमादधाति-आधानं कुर्वन्ति तद्वत् खलु मामाधेहि परमात्मन् ! प्रणवात्मके धनुषि *"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा"* [मुण्ड० २।२।४] उक्तं यथा (प्रतीचीं वाचं जग्रभ) अभिमुखीं त्वां प्रति गन्त्रीं स्तुतिवाचम् *"प्रतीची अभिमुखी* [*निरु० ३ । ५*] त्वं गृहाण तया प्रसन्नं सन्तं चाहं त्वाम् (रशनया-अश्वं यथा) ओषध्या घासादिना यथा *"ओषधयो रशना"* [*क० ४१ । ४*] अश्वं स्वानुकूलं नयन्ति तथा स्वानुकूलं नयामि ।।१४।।

भाषान्वयार्थ—(प्रतीचीने- अहनि) सामने आने वाले सुखमय दिन अर्थात् आगामी समय मोक्ष के निमित्त (माम्) मोक्ष चाहने वाले मुझ संसारी जन को (इष्वाः-पर्णम्-इव आदधुः) बाण चालक बाण के पर्व अर्थात् लोहपत्र का जैसे आधान करते हैं उसी भांति परमात्मा मुझे समन्तरूप से अपने अन्दर धारण करे (प्रतीचीं वाचं जग्रभ) अभिमुखीन-तेरे प्रति जाने वाली स्तुति वाणी को तू ग्रहण कर, उससे प्रसन्न हुए तुझको (रश्मयः-अश्वं यथा) घास आदि ओषधि घोड़े को जैसे अपने अनुकूल करती हैं, ऐसे तुझे स्तुति से स्वानुकूल बनाता हूं ।। १४ ।।

भावार्थ—जीवन के अग्रिम भाग में मोक्षप्राप्ति के निमित्त उपासक अपने को परमात्मा के प्रति सौंप देते हैं स्तुतिवाणी के द्वारा, जैसे बाण के फलक को लक्ष्य पर धरते हैं ऐसे ही । वह स्तुति परमात्मा के लिए अपनी ओर अनुकूल बनाने वाली ऐसी ही है जैसे घोड़े को अनुकूल बनाने के लिए घास होती है ।। १४ ।।



एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः ।

देवताः—आपो गावो वा । प्रथममन्त्र उत्तरार्द्धर्चः-अग्निषोमौ ।

छन्दः—१, ३--५ निचृदनुष्टुप् । २ विराडनुष्टुप् । ६ गायत्री । ७,८ अनुष्टुप् ।

स्वरः—१--५,७,८ गान्धारः । ६ षड्जः ।

विषयः—अत्र सूक्ते प्राधान्येन गावः (इन्द्रियाणि) वर्ण्यन्ते ।
इस सूक्त में प्रमुखतया गौवों (इन्द्रियों) का वर्णन किया है ।

नि व॑र्तध्वं॒ मानु॑ गाता॒स्मान्त्सि॑षक्त रेवतीः ।
अग्नी॑षोमा पुनर्वसू अ॒स्मे धा॑रयतं र॒यिम् ॥ १ ॥

नि । व॒र्त॒ध्व॒म् । मा । अनु॑ । गा॒त॒ । अ॒स्मान् । सि॒स॒क्त॒ । रे॒व॒तीः॒ । अग्नी॑षोमा । पु॒न॒र्व॒सू॒ इति॑ पुनः॒ऽवसू । अ॒स्मे इति॑ । धा॒र॒य॒त॒म् । र॒यिम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रेवतीः) हे रेवत्यः-दुग्धादिपोषणपदार्थवत्यः-पोषणपदार्थप्रदात्र्यो गावः प्रजा इन्द्रियशक्तयो वा *"रयिं देहि पोषं देहि"* [काठ० १ । ७] *"वीर्यं वै रयिः"* [श० १३ । ४ । २ । १३] *"रयेर्मतौ बहुलम्"* [अष्टा० ६ । १ । ३७] छन्दसि सम्प्रसारणं मस्य वत्वं च । 'गोपतौ' (३) 'गोपाः' (४) (५) 'गाः' (६) मन्त्रेषु दर्शनात्प्राधान्येन गावो देवताः । ताश्चात्र पशवः, प्रजाः, इन्द्रियाणि लक्ष्यन्ते (निवर्तध्वम्) इतस्ततो वने चरित्वा प्रत्यागच्छत, यात्रां कृत्वा प्रत्यागच्छत, विषयान् लब्ध्वा स्वस्थाने स्वस्था भवत (मा-अनुगात) अन्यस्यानुगमनं मा कुरुत (अस्मान् सिषक्त) अस्मान् दुग्धादिभिः पुनः पुनः सेचयत, राज्याभिषेकाय वृणुत, भोगैस्तर्पयत (पुनर्वसू-अग्नीषोमा) पुनः पुनः निरन्तरं वासयितारौ प्राणा पानौ ! *"प्राणापानावग्नीषोमौ"* [ऐ० १ । ८] (अस्मे) अस्मभ्यम् (रयिं धारयतम्) पोषं धारयतं सम्पादयतम् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(रेवतीः) हे दूध आदि पोषक पदार्थ देने वाली गौवो, प्रजाओ या इन्द्रियो ! (निवर्तध्वम्) इधर-उधर वन में चर कर लौट आवो, यात्रा को समाप्त करके फिर आ जाओ, विषयों को प्राप्त करके अपने स्थान पर स्वस्थ हो जाओ (मा-अनुगात) अन्य का अनुगमन मत करो (अस्मान् सिषक्त) हमें दुग्धादि पदार्थों से पुनः-पुनः सींचो राज्याभिषेक के लिए

वरो, भोगों से तृप्त करो (पुनर्वसू-अग्निषोमा) पुनः-पुनः निरन्तर बसाने वालो हे प्राण अपान ! (अस्मे) हमारे लिए (रयिं धारयतम्) पोषण को प्राप्त कराओ ॥ १ ॥

भावार्थ—गौओं के स्वामी के लिए गौवें पुष्कल दूध देने वाली हों, राजा के लिए प्रजायें धन और बल देने वाली हों, इन्द्रियस्वामी आत्मा के लिए इन्द्रियाँ निर्दोष भोग देने वाली हों और वे स्व-व्यापारों का सम्पादन करके स्वस्थान पर सदा स्वस्थ रहें । ऐसे ही प्राण-अपान भी प्रत्येक प्राणी को चिर-जीवन-दायक होवें ॥ १ ॥

पुनरेना नि वर्तय पुनरेना न्या कुरु ।
इन्द्र एणा नि यच्छत्वग्निरेना उपाजतु ॥ २ ॥

पुनः । एनाः । नि । वर्तय । पुनः । एनाः । नि । आ । कुरु । इन्द्रः । एनाः । नि । यच्छतु । अग्निः । एनाः । उपऽआजतु ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एनाः पुनः-निवर्तय) हे गोपते ! प्रजापते ! इन्द्रिय-स्वामिन्-आत्मन् वा त्वमेताः-गाः, प्रजाः, इन्द्रियाणि वा पुनर्विषयमार्गात् खलु प्रत्याव-र्तयावरोधय (एनाः पुनः-नि-आ कुरु) एताः खलु गवाद्याः पुनरपि नियन्त्रिताः कुरु स्वाधीनाः कुरु (इन्द्रः-एनाः-नियच्छतु) ऐश्वर्यवान् परमात्माऽप्येताः खलु नियमयतु नियन्त्रणे मां समर्थयतु (अग्निः-एनाः- उपाजतु) अग्रणायकः परमात्मा खल्वेता गवाद्या ममाधीने प्रेरयतु ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(एनाः पुनः-निवर्तय) हे गौवों के स्वामी ! हे प्रजारक्षक ! हे प्रशस्त इन्द्रिय वाले आत्मन् ! तू इन गौवों, प्रजाओं और इन्द्रियों को विषय मार्ग से रोक (एनाः पुनः नि-आ कुरु) इन गौ आदि को फिर नियन्त्रित कर-अपने अधीन कर (इन्द्रः-एनाः-नियच्छतु) ऐश्वर्य-वान् परमात्मा भी इनको नियन्त्रित करे या इनके नियन्त्रण में मुझे समर्थ करे (अग्निः-एनाः-उपाजतु) अग्रणायक परमात्मा इन गौ आदि को मेरी अधीनता के लिए प्रेरित करे ॥ २ ॥

भावार्थ—गौ आदि पशुओं, प्रजाओं, तथा इन्द्रियों को नित्य नियम में रखना चाहिए और परमात्मा से इनके यथावत् नियन्त्रण के लिए बल मांगना चाहिए ॥ २ ॥

पुनरेता नि वर्तन्तामस्मिन् पुष्यन्तु गोपतौ ।
इहैवाग्ने नि धारयेह तिष्ठतु या रयिः ॥ ३ ॥

पुनः । एताः । नि । वर्तन्ताम् । अस्मिन् । पुष्यन्तु । गोऽपतौ । इह । एव । अग्ने । नि । धारय । इह । तिष्ठतु । या । रयिः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एताः पुनः-निवर्तन्ताम्) पूर्वोक्ताः गावः, प्रजाः, इन्द्रिय-शक्तयः स्वव्यापारं विधाय पुनः प्रत्यागच्छन्तु (अस्मिन् गोपतौ पुष्यन्तु) अस्मिन् गोस्वामिनि, प्रजास्वामिनि, इन्द्रियस्वामिनि-आत्मनि मयि पुष्टीभवन्तु (अग्ने) अग्रणायक

परमात्मन् ! (इह एव निधारय) अत्र मयि हि निरोधय (इह) अत्र मयि (या रयिः-तिष्ठतु) या पुष्टिः पोषणसम्पत्तिः सा स्थिरीभवतु ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(एताः पुनः-निवर्तन्ताम्) ये गौवें प्रजायें और इन्द्रियवृत्तियां अपना-अपना उचित व्यापार करके लौट आवें (अस्मिन् गोपतौ पुष्यन्तु) इस गोस्वामी, प्रजापालक और इन्द्रिय-स्वामी आत्मा के आधार पर पुष्ट होवें (अग्ने) अग्रणायक परमात्मन् ! (इह-एव निधारय) यहाँ मेरे अधीन नियत करे (इह) मेरे अधीन (या रयिः-तिष्ठतु) जो पुष्टि, सम्पत्ति हो वह स्थिर होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—गौ आदि पशु, प्रजायें तथा इन्द्रियां पुनः पुनः अपना व्यापार करके लौट आयें और मुझ स्वामी के अधीन पुष्ट होवें। परमात्मा पुष्टि व सम्पत्ति को मेरे अधीन स्थिर रखे ॥ ३ ॥

यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत्परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ ४ ॥

यत् । निऽयानम् । निऽअयनम् । समऽज्ञानम् । यत् । पराऽअयनम् । आऽवर्तनम् । निऽवर्तनम् । यः । गोपाः । अपि । तम् । हुवे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत् नियानम्) गवां प्रजानामिन्द्रियाणां वा यत् खलु नियतं नैत्यिकं स्वकार्ये गमनम् (नि-अयनम्) तथा पुनर्नियतं नैत्यिकं निश्रयणम् (संज्ञानम्) संल्लाभो दुग्धादिकं भोग उपहारो वा (यत् परायणम्) यत् खलु दूरगमनं स्वकार्यान्निवर्तनम् (आवर्तनम्) पुनः प्रवर्तनम् (निवर्तनम्) कार्याद् विरमणम् (यः-गोपाः-अपि तं हुवे) यः सर्वतो गोस्वामी प्रजापतिः, इन्द्रियस्वामी परमात्मा तमपि प्रार्थये ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-नियानम्) गौओं, प्रजाओं और इन्द्रियों का जो नियत नैत्यिक कार्य में गमन है (नि-अयनम्) तथा फिर नियत नैत्यिक निश्रयण-रहना (संज्ञानम्) संल्लाभ-दुग्धादि, उपहार वा भोग देना (यत् परायणम्) जो दूरगमन-स्वकार्य से निवृत्त होना है, और (आवर्तनम्) पुनः प्रवृत होना (निवर्तनम्) कार्य से विराम करना, आदि क्रियाओं का (यः गोपाः-अपि तं हुवे) जो सब ओर से गोस्वामी, प्रजापति इन्द्रियस्वामी परमात्मा है, उसकी प्रार्थना करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—गौओं, प्रजाओं, इन्द्रियों का नित्य स्वकार्य में प्रवेश होना-जाना-स्थिर होना और उनसे लाभ लेना; कार्य से पुनः निवृत्त होना फिर कार्य में लगना आदि क्रियायें सब रक्षक परमात्मा के अधीन हैं। उसकी हम स्तुति करें ॥ ४ ॥

य उदानड् व्ययनं य उदानट् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनमपि गोपा नि वर्तताम् ॥ ५ ॥

यः । उत्ऽआनट् । विऽअयनम् । यः । उत्ऽआनट् । पराऽअयनम् । आऽवर्तनम् । निऽवर्तनम् । अपि । गोपाः । नि । वर्तताम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-गोपाः) यो गवां पालकः, प्रजानां स्वामी, तथेन्द्रियाणां प्रवर्तकश्च परमात्मा (व्ययनम्-उदानट्) विशिष्टगमनमधितिष्ठति (यः-परायणम्-उदानट्) यः परे गमनं विपरीतगमनं प्रवर्तनमधितिष्ठति (आवर्तनं निवर्तनम्-अपि) सुखसाधने प्रवर्तनं दुःखात् खलुनिवर्तनं चाधितिष्ठति (गोपाः-निवर्तताम्) स गवां प्रजानामिन्द्रियाणां रक्षकः परमात्मा अस्मदभिमुखं प्राप्तो भवतु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ— (यः गोपाः) जो गौवों, प्रजाओं, इन्द्रियों का स्वामी परमात्मा है, और (व्ययनम्-उदानट्) जो विशिष्ट गमन का अधिष्ठाता है (यः परायणम् उदानट्) जो परगमन का भी अधिष्ठाता है (आवतनं निवर्तनम्-अपि) और जो सुखसाधन के प्रवर्तन और दुःख से निवर्तन का भी अधिष्ठाता है (गोपाः-निवर्तताम्) वह गौवों, प्रजाओं और इन्द्रियों का रक्षक परमात्मा हमें प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—गौवों, प्रजाओं, इन्द्रियों का रक्षक परमात्मा उनकी सारी गति प्रवृत्तियों का अधिष्ठाता है। वह हमें प्राप्त हो ॥ ५ ॥

आ निवर्त नि वर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि ।
जीवाभिर्भुनजामहै ॥ ६ ॥

आ । निऽवर्त । नि । वर्तय । पुनः । नः । इन्द्र । गाः । देहि । जीवाभिः । भुनजामहै ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र-आ निवर्त) हे-अस्मदभिमुखीभवितः—ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (निवर्तय) अस्मदभिमुखी भव (नः पुनः-गाः-देहि) अस्मभ्यं पुनः पुनः—पुनर्जन्मनि वा गाः, प्रजाः, इन्द्रियाणि वा देहि (जीवाभिः-भुनजामहै) जीवयन्तीभिर्जीवनं प्रयच्छन्तीभिर्वयं भोगं प्राप्नुयाम ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रा-आ निवर्त) हे हमारी ओर अभिमुख होने वाले ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! (निवर्तय) हमारे अभिमुख हो (नः पुनः-गाः-देहि) हमारे लिए पुनः पुनः और पुनर्जन्म में भी गौवों, प्रजाओं, इन्द्रियों को दे (जीवाभिः भुनजामहै) हम जीती हुई, स्वस्थ रहती हुई गौवों, प्रजाओं, इन्द्रियों के द्वारा भोग को प्राप्त हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा हमें गौवों, प्रजाओं, इन्द्रियों को प्रदान करे जिससे हम उनके सम्बन्ध से भोगों को प्राप्त करें ॥ ६ ॥

परि वो विश्वतो दध ऊर्जा घृतेन पयसा ।
ये देवाः के च यज्ञियास्ते रय्या सं सृजन्तु नः ॥ ७ ॥

परि । वः । विश्वतः । दुधे । ऊर्जा । घृतेन । पयसा । ये । देवाः । के । च । यज्ञियाः । ते । रय्या । सम् । सृजन्तु । नः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये के च यज्ञियाः-देवाः) ये केचित् सङ्गमनीया विद्वांसः (रव्या संसृजन्तु) रमणीयेन ज्ञानेनास्मान् संयोजयन्तु (वः) युष्मान् (ऊर्जा घृतेन पयसा) अन्नेन *"अन्नं वा-ऊर्क्"* [*तै० ५।४।४।१*] घृतेन दुग्धेन च (विश्वतः परिदधे) सर्वतः परितृप्तान् करोमि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये के च यज्ञियाः-देवाः) जो कोई भी सत्सङ्ग के योग्य विद्वान् हैं (रव्या संसृजन्तु) रमणीय ज्ञान से हमें संयुक्त करें (वः) तुम्हें, मैं (ऊर्जा घृतेन पयसा) अन्न, घृत और दुग्ध से (विश्वतः परिदधे) सब प्रकार से परितृप्त करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—सत्सङ्ग करने योग्य विद्वान् जन हमें अपने रमणीय ज्ञान से संयुक्त करते हैं। हम भी उनको अन्न घृत दुग्ध आदि से परितृप्त करें ॥ ७ ॥

आ निवर्तन वर्तय नि निवर्तन वर्तय।
भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना नि वर्तय ॥ ८ ॥

आ। निऽवर्तन। वर्तय। नि। निऽवर्तन। वर्तय। भूम्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। ताभ्यः। एनाः। नि। वर्तय ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(निवर्तन) निवर्तनशील अस्मत्प्रत्यागमनशील परमात्मन् ! (आवर्तय) अस्मदभिमुखागमने खल्वावृत्तिं कुरु (निवर्तन) हे कदाचिन्निवर्तनस्वभाव ! (वर्तय) त्वं कदाचित् प्रवृत्तो भव (भूम्याः-चतस्रः प्रदिशः) भूम्याश्चतस्रः प्रदिशो याः सन्ति (ताभ्यः-एनाः-निवर्तय) ताभ्यो दिग्भ्य एता गाः प्रजा इन्द्रियाणि वा-अत्र प्रत्यागमय ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(निवर्तन) हे अन्यत्र से हमारी ओर आगमनशील परमात्मा ! (आवर्तय) हमारी ओर प्रवृत्त हो (निवर्तन) हे कदाचित् निवर्तन स्वभाव वाले ! (वर्तय) तू हमें अपनी ओर प्रवृत्त कर (भूम्याः-चतस्रः प्रदिशः) भूमि की जो चारों प्रदिशायें हैं (ताभ्यः-एनाः-निवर्तय) उन दिशाओं से इन गौ आदि को यहाँ प्राप्त करा ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे अन्यत्र से हमारी ओर प्राप्त होने वाले परमात्मन् ! तू हमारे अभिमुख हो, हमें अपनी ओर ले तथा भूमि की चारों दिशाओं से गौ आदियों को हमें प्राप्त करा ॥ ८ ॥



२१

विंशं सूक्तम्

ऋषिः—ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा विमदः, वासुक्रो वसुकृद्वा ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१ आसुरी त्रिष्टुप् । २, ९ अनुष्टुप् । ३ पादनिचृद् गायत्री । ४, ५, ७, निचृद् गायत्री । ६ गायत्री । ८ विराड् गायत्री । १० त्रिष्टुप् ।।

स्वरः—१, १० धैवतः । २, ९ गान्धारः । ३-८ षड्जः ।।

विषयः—अत्र सूक्ते राज्ञा, गोपतिना, इन्द्रियस्वामिना प्रजानां गवामिन्द्रियाणां नियन्त्रणं यथावद् रक्षणादिव्यवहाराश्चोपदिश्यन्ते ।

इस सूक्त में राजा, गोपालक, इन्द्रिय स्वामी आत्मा द्वारा प्रजाओं, गौओं, इन्द्रियों के नियन्त्रण और भलीभांति रक्षणादि व्यवहार उपदिष्ट हैं ।

भद्रं नो अपि वातय मनः ।। १ ।।

भद्रम । नः । अपि । वातय । मनः ।। १ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(नः-मनः) हे अग्रणायक परमात्मन् ! यद्वा राजन् ! अस्माकं मनोऽन्तःकरणम (भद्रम्-अपि वातय) कल्याणं कल्याणमार्गं प्रति प्रेरय चालय *"वात गतिसुखसेवनेषु" [चुरादिः]* ।। १ ।।

भाषान्वयार्थ—(नः मनः) हे अग्रणायक परमात्मन् वा राजन् ! हमारे अन्तःकरण को (भद्रम्-अपि-वातय) कल्याण मार्ग पर प्रेरित कर–चला ।। १ ।।

भावार्थ— परमात्मा या राजा हमारे अन्तःकरण को कल्याणकारी मार्ग पर चलाये, उपासक तथा प्रजायें इस बात की अभिलाषा करें ।। १ ।।

अग्निमीळे भुजां यविष्ठं शासा मित्रं दुर्धरीतुम् ।
यस्य धर्मन्त्स्व१ रेनीः सपर्यन्ति मातुरूधः ।। २ ।।

अग्निम् । ईळे । भुजाम् । यविष्ठम् । शासा । मित्रम् । दुःऽधरीतुम् । यस्य । धर्मन् । स्वः । एनीः । सपर्यन्ति । मातुः । ऊधः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भुजाम्) भोगप्रदानां पालकानां मध्ये (यविष्ठम्) अतिशयेन मिश्रणधर्माणं सङ्गन्तारम् (शासा मित्रं दुर्धरीतुम्) शासनेन ज्ञानशिक्षणेन मित्रं तथा शासनेन दण्डदानेन दुर्धारणीयम् (अग्निम्) परमात्मानं राजानं वा (ईळे) स्तौमि प्रशंसामि वा (यस्य धर्मन्) यस्य धर्त्तुं धारयितुं योग्ये ज्ञाने यद्वा ज्ञापने (एनीः-स्वः सपर्यन्ति) प्रगतिशीला मानवप्रजाः सुखमभिलक्ष्य तं परिचरन्ति (मातुः--ऊधः) यथा मातृभूताया दुग्धाधानं वत्साः प्राप्नुवन्ति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(भुजाम्) भोगप्रद पालकों के मध्य में (यविष्ठम्) अतिशय से मिश्रण-धर्मी समागम-कर्त्ता को (शासा मित्रं दुर्धरीतुम्) ज्ञान शिक्षण से मित्र तथा शासन–दण्डप्रदान से दुर्धारणीय को (अग्निम्) परमात्मा या राजा को (ईडे) प्रशंसित करता हूँ–स्तुत करता हूँ (यस्य धर्मन्) जिसके धारण करने योग्य ज्ञान या ज्ञापन में (एनीः स्वः सपर्यन्ति) प्रगतिशील मानव प्रजायें सुखप्राप्ति के लक्ष्य से उसे सत्कृत कर प्राप्त होते हैं (मातुः-ऊधः) माता के दुग्धा-धान स्तन को जैसे बच्चे प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—समस्त पालकों में उपासक के लिए परमात्मा और प्रजा के लिए राजा मित्र समान और विरोधी के लिए दण्डदाता है । उसकी स्तुति या प्रशंसा करनी चाहिए । उपासक और प्रजायें सुख को लक्ष्य करके उसका सत्कार कर प्राप्त करते हैं जैसे बच्चे माता के स्तन को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

यमासा कृपनीळं भासाकेतुं वर्धयन्ति ।
भ्राजते श्रेणिदन् ॥ ३ ॥

यम् । आसा । कृपऽनीळम् । भासाऽकेतुम् । वर्धयन्ति । भ्राजते । श्रेणिऽदन् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यं कृपनीडम्) यं खलु शक्त्यागारं यद्वा दयासदनम् *"नीडं गृहनाम" [निघ० ३ । ४]* (भासाकेतुम्) ज्ञानदीप्त्या ज्ञेयं ज्ञानप्रकाशकं वा (आसा) उपासनया यद्वाऽऽश्रयेण (वर्धयन्ति) स्वात्मनि साक्षात्कुर्वन्ति यद्वा स्वात्मानं वर्धयन्ति, यश्च (श्रेणिदन् भ्राजते) परमात्मा राजा वा श्रेण्यै प्राणिगणाय प्रजागणाय वा भोजनं ददत् तन्मध्ये प्रकाशते ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यं कृपनीडम्) जिस शक्ति–आगार या दयासदन (भासा केतुम्) ज्ञान-प्रकाशक को (आसा) उपासना से अथवा आश्रय कर (वर्धयन्ति) अपने आत्मा में साक्षात् करते हैं या अपने को बढ़ाते हैं, और जो (श्रेणिदन् भ्राजते) परमात्मा या राजा प्राणीगण के लिए भोजन देता हुआ प्रकाशमान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—शक्ति का सदन परमात्मा या राजा ज्ञानप्रकाशक होता है उसकी उपासना या आश्रय से उपासक अपने आत्मा में उसे साक्षात् करते हैं और प्रजायें राजा के आश्रय से वृद्धि प्राप्त करती हैं। परमात्मा प्राणीगण को और राजा प्रजाओं को भोजन देता है॥ ३॥

अर्यो विशां गातुरेति प्र यदानड् दिवो अन्तान्।
कविरभ्रं दीद्यानः॥ ४॥

अर्यः। विशाम्। गातुः। एति। प्र। यत्। आनट्। दिवः। अन्तान्। कविः अभ्रम्। दीद्यानः॥ ४॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विशाम्-अर्यः-कविः) मनुष्यादीनां स्वामी परमात्मा प्रजाजनानां वा स्वामी राजा *"अर्यः स्वामिवैश्ययोः"* [अष्टा० ३। १। १०३] क्रान्तद्रष्टा मेधावी वा (गातुः) तेषु मनुष्यादिषु गन्ता प्रापणशीलः (एति) प्राप्नोति–व्याप्नोति प्राप्तो भवति वा (दिवः-अन्तान् प्रानट्) ज्ञानप्रकाशकान् जनान् प्राप्तो भवति, यथा (दीद्यानः-अभ्रम्) दीप्यमानो विद्युदग्निरभ्रं प्राप्तो भवति॥ ४॥

भाषान्वयार्थ—(विशाम्-अर्यः-कविः) मनुष्यों का स्वामी परमात्मा क्रान्तदर्शी और प्रजाओं का स्वामी राजा मेधावी होता है, वह (गातुः) मनुष्यादि में प्रापणशील (एति) व्याप्त या प्राप्त होता है। (दिवः-अन्तान् प्रानट्) ज्ञान प्रकाशक वह जनों को प्राप्त होता है (दीद्यानः-अभ्रम्) जैसे दीप्यमान विद्युत अग्नि मेघ को प्राप्त होता है॥ ४॥

भावार्थ—मनुष्यों के मध्य में क्रान्तदर्शी परमात्मा व्याप्त है और प्रजाजनों के मध्य में मेधावी राजा प्राप्त होता है। वह ऐसा गतिशील ज्ञानी जनों को जानता हुआ उनमें साक्षात् होता है जैसे चमकता हुआ विद्युद्रूप अग्नि मेघ को प्राप्त होता है॥ ४॥

जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृभ्वा यज्ञे।
मिन्वन्त्सद्म पुर एति॥ ५॥

जुषत्। हव्या। मानुषस्य। ऊर्ध्वः। तस्थौ। ऋभ्वा। यज्ञे। मिन्वन्। सद्म। पुरः। एति॥ ५॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋभ्वा) स क्रान्तदर्शी तथाऽग्रणायकः परमात्मा यद्वा मेधावी राजा *"ऋभुः-मेधाविनाम"* [निघ० ३। १५] ऋभुशब्दादाकारादेशश्छान्दसः (यज्ञे) अध्यात्मयज्ञे राजसूययज्ञे वा (मानुषस्य) उपासक-जनस्य प्रजाजनस्य वा (हव्या जुषत्) प्रार्थनावचनानि सेवमानः, उपहारवस्तूनि प्रियमाणो वा (ऊर्ध्वः-तस्थौ) शिरोधार्यो भूतो भवति मान्यो भवति, उच्चासनाधिकारी भवति वा (सद्म मिन्वन्) हृदयसदनं प्राप्नुवन् *"मिनोति गतिकर्मा"* [निघ० २। १४] राजभवनं प्राप्नुवन् (पुरः-एति) सम्मुखं प्राप्नोति–साक्षाद् भवति॥ ५॥

भाषान्वयार्थ—(ऋभ्वा) वह क्रान्तदर्शी अग्नि परमात्मा या मेधावी राजा (यज्ञे) अध्यात्म-यज्ञ में या राजसूययज्ञ में (मानुषस्य) उपासक जन के या प्रजा जन के (हव्या जुषत्) प्रार्थनावचनों को सेवन करता हुआ या उपहार वस्तु को पसन्द करता हुआ (उर्ध्वः तस्थौ) शिरोधार्य या मान्य होता है या उच्चासन पर विराजमान होता है। (सद्म मिन्वन्) हृदय सदन को प्राप्त होता हुआ या राजभवन को प्राप्त होता हुआ (पुरः-एति) सम्मुख या साक्षात् प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा या राजा अध्यात्मयज्ञ या राजसूय यज्ञ में प्रार्थना वचन या उपहार वस्तुओं को स्वीकार करता है, शिरोधार्य होता हुआ उपासकों के हृदय में परमात्मा और राजभवन में राजा विराजमान होता है ॥ ५ ॥

स हि क्षेमो॑ ह॒विर्य॒ज्ञः श्रु॒ष्टीद॑स्य गा॒तुरे॑ति ।
अ॒ग्निं दे॒वा वाशी॑मन्तम् ॥ ६ ॥

सः । हि । क्षेमः॑ । ह॒विः । य॒ज्ञः । श्रु॒ष्टी । इत् । अ॒स्य । गा॒तुः । ए॒ति । अ॒ग्निम् । दे॒वाः । वाशी॑ऽमन्तम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य गातुः) अस्मै प्रापणशीलस्य परमात्मनो राज्ञो वा *"चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि"* [*अष्टा० २ । ३ । ६२*] षष्ठी (सः-हविः 'हविषः'-यज्ञः-हि क्षेमः-श्रुष्टी-इत्) स खलु प्रार्थनारूपो यज्ञः-अध्यात्मयज्ञ उपहाररूपो यज्ञो वा कल्याणसाधकः शीघ्रमेव (अग्निम्-एति) अग्रणायकं परमात्मानं राजानं वा प्राप्नोति, तथा (देवाः-वाशीमन्तम्) उपासकजना वाग्वन्तं स्तुतिमन्तं परमात्मानं प्रार्थनावन्तं राजानं वा प्राप्नुवन्ति *"वाशी वाङ्नाम"* [*निघ० १ ११*] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य गातुः) इस प्राप्त होने योग्य परमात्मा या राजा के लिए (सः-हविः-यज्ञः-हि क्षेमः- श्रुष्टी-इत्) वह प्रार्थनारूप यज्ञ तथा उपहाररूप यज्ञ कल्याणसाधक ही होता है (अग्निम्-एति) अग्रणायक परमात्मा को या राजा को जो प्राप्त होता है तथा (देवाः-वाशीमन्तम्) उपासक जन स्तुतिपात्र परमात्मा को या राजा को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— प्राप्त करने योग्य परमात्मा या राजा के लिए जो प्रार्थनावचन या उपहार दिया जाता है वह उपासकों या प्रजाजनों का कल्याण साधता है। उस स्तुतिपात्र प्रशंसापात्र परमात्मा या राजा को उपासक या विद्वान् प्रजाजन प्राप्त किया करते हैं ॥ ६ ॥

य॒ज्ञा॒साहं॒ दुव॑ इषे॒ऽग्निं पूर्व॑स्य॒ शेव॑स्य ।
अद्रेः॑ सू॒नुमा॒युमा॑हुः ॥ ७ ॥

य॒ज्ञ॒ऽसह॑म् । दुवः॑ । इ॒षे । अ॒ग्निम् । पूर्व॑स्य । शेव॑स्य । अद्रेः॑ । सू॒नुम् । आ॒युम् । आ॒हुः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्रेः सूनुम) श्लोककृतः-स्तुतिकर्तु रुपासकस्य प्रशंसकस्य वा "अद्रिरसि श्लोककृत्" [कठ० १ । ५] प्रेरकम् (आयुम्-आहुः) आयुरूपमायुप्रदं वा कथयन्ति विद्वांसस्तम् (यज्ञसाहम) अध्यात्मयज्ञस्य राजसूययज्ञस्य वा सोढुं योग्यम (पूर्वस्य शेवस्य) उत्कृष्टस्य सुखस्य "शेवः सुखनाम" [निघ० ३ । ४] (दुवः-अग्निम्-इषे) आराधनीयम् "दुवस्यति राध्नोति कर्मा" [निरु० १० । २०] नमस्यं परिचरणीयं सेवनीयं वा "दुवस्यत''''नमस्यतेत्येतत्"] श० ६ । ८ । १ । ६] "दुवस्यति परिचरणकर्मा" [निघ० ३ । ५] परमात्मानं राजानं वा प्रार्थये-इच्छामि वा ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्रेः सूनुम्) स्तुतिकर्ता या प्रशंसक के प्रेरक (आयुम्-आहुः) आयुरूप-आयुप्रद उसे कहते हैं (यज्ञसाहम्) अध्यात्मयज्ञ के या राजसूय यज्ञ के सहने योग्य (पूर्वस्य शेवस्य) उत्कृष्ट सुख के (दुवः-अग्निम्-इषे) आराधनीय तथा परिचरणीय परमात्मा या राजा को प्रार्थित करता हूँ-चाहता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा या राजा स्तुतिकर्त्ता अथवा प्रशंसक को आगे प्रेरित करता है वह परमात्मा या राजा आयुरूप-आयु देने वाला होता है। अध्यात्मयज्ञ में परमात्मा आश्रयणीय है और राजसूययज्ञ में राजा आश्रणीय है। दोनों ही श्रेष्ठ सुख के देने वाले हैं ॥ ७ ॥

नरो ये के चास्मदा विश्वेत्ते वाम आ स्युः ।
अग्निं हविषा वर्धन्तः ॥ ८ ॥

नरः । ये । के । च । अस्मत् । आ । विश्वा । इत् । ते । वामे । आ । स्युरिति स्युः । अग्निम् । हविषा । वर्धन्तः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये के च-अस्मत्-नरः) ये केचन-अस्माकं पक्षे स्तोतारः प्रशंसका जनाः (विश्वा) सर्वे 'आकारादेशश्छान्दसः' (ते-इत्) ते हि (वामे) वननीये भजनीयवस्तुनिमित्ते (हविषा) प्रार्थनया (अग्निं वर्धन्तः) परमात्मानं राजानं वा वर्धयन्तः प्रशंसन्तः (आ-आस्युः) समन्तादाश्रयीकुर्वन्तु ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये के च-अस्मत्- नराः) जो कोई हमारे में स्तोता या प्रशंसक जन हैं (विश्वा) सब (ते) वे (इत्) ही (वामे) वननीय भजनीय (हविषा) प्रार्थना से (अग्नि वर्धन्तः) परमात्मा या राजा को प्रशंसित करते हुए (आ-आस्युः) समन्तरूप से आश्रय करें-करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब श्रेष्ठ जन परमात्मा या राजा को प्रार्थनाओं द्वारा प्रशंसाओं द्वारा बढाते हुए उसके आश्रय में रहते हैं ॥ ८ ॥

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् ।
हिरण्यरूपं जनिता जजान ॥ ९ ॥

कृष्णः । श्वेतः । अरुषः । यामः । अस्य । ब्रध्नः । ऋज्रः । उत । शोणः । यशस्वान् । हिरण्यऽरूपम् । जनिता । जजान ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य) एतस्य परमात्मनो राज्ञो वा (यामः) यमनीयः स्वाधीनीकर्त्तव्यः संसारो राष्ट्रप्रदेशो वा (कृष्णः) आकर्षकः (श्वेतः) निर्दोषः (अरुषः) आरोचमानः (ब्रध्नः) महान् (ऋज्रः) अकुटिलः (उत) अपि (शोणः) गतिशीलश्चलः प्रगतिप्राप्तो वा (यशस्वान्) अन्नादिभोगवान् *"यशोऽन्ननाम"* [*निघ० २ । ७*] अस्ति, तम् (हिरण्यरूपम्) चमत्कृतम् (जनिता) जनयिता परमात्मा राजा वा (जजान) उत्पादितवान् प्रसाधितवान् वा ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य) इस परमात्मा या राजा के (यामः) यमनीय–स्वाधीन करने योग्य संसार या राष्ट्रप्रदेश (कृष्णः) आकर्षक (श्वेतः) निर्दोष (अरुषः) आरोचमान (ब्रध्नः) महान् (ऋज्रः) अकुटिल (उत) और (शोणः) प्रगतिप्राप्त (यशस्वान्) अन्नादि भोगवाला है उसे (हिरण्यरूपम्) चमत्कृत (जनिता) उत्पन्न करने वाला परमात्मा या सम्पन्न करने वाला राजा (जजान) उत्पन्न करता है या सम्पन्न करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—संसार परमात्मा के अधीन है और राष्ट्र प्रदेश राजा के अधीन होता है। संसार या राष्ट्र प्रदेश आकर्षक, निर्दोष, रोचमान, महान्, अकुटिल, अन्नों भोगों से सम्पन्न और प्रगतिशील होना बनाना चाहिए। इनका उत्पादक परमात्मा है और राजा इनको सम्पन्न करता है ॥ ६ ॥

एवा ते अग्ने विमदो मनीषामूर्जो नपादमृतेभिः सजोषाः ।
गिर आ वक्षत्सुमतीरियान इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः ॥ १० ॥

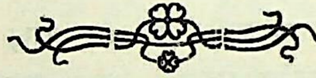
एव । ते । अग्ने । विऽमदः । मनीषाम् । ऊर्जः । नपात् । अमृतेभिः । सऽजोषाः । गिरः । आ । वक्षत् । सुऽमतीः । इयानः । इषम् । ऊर्जम् । सुऽक्षितिम् । विश्वम् । आ । अभारित्यभाः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऊर्जः-नपात्-अग्ने) बलस्य न पातयितः ! हे अग्रणायक परमात्मन् ! वा राजन् ! (ते) तुभ्यम् (एव) हि (विमदः) विशिष्टमदनः–विशिष्टः स्तोता प्रशंसको वा *"मदति-अर्चतिकर्मा"* [*निघ० ३ । १४*] (सजोषाः) त्वया सह प्रीतिं प्राप्तः (अमृतेभिः) अमृतकल्पैर्भोगैः–स्थिरसुखभोगैर्वा निमित्तभूतैः–तानमृतकल्पान् स्थिरभोगान् वा निमित्तीकृत्य (सुमतीः-गिरः-इयानः-आवक्षत्) मतिवतीः शोभनस्तुतीः प्राप्नुवन्नावहति समर्पयति, अत्र (विश्वम्-इषम्-ऊर्जं सुक्षितिम्-आभाः) तस्मै सर्वमेषणीयमन्नं सुविवासमाभासय प्रकाशय–प्रदेहि ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ऊर्जः-नपात्-अग्ने) बल के न गिराने वाले हे अग्रणायक परमात्मन् ! वा राजन् ! (ते) तेरे लिए (एव) ही (विमदः) विशिष्ट स्तुति करने वाला या प्रशसक

(सजोषाः) तेरे साथ प्रीति को प्राप्त (अमृतेभिः) अमृतभोगों द्वारा–स्थिर भोगों द्वारा या उनको नियत बनाकर (सुमतीः-गिरः-इयान-आवक्षत्) शोभन स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने के हेतु समर्पित करता है (विश्वम्-इषम्-ऊर्जं सुक्षितिम्-आभाः) उसके लिए सब एषणीय अन्न व सुनिवास को आभासित कर–प्रकाशित कर–प्रदान कर ॥ १० ॥

भावार्थ—अग्रणायक परमात्मा किसी के बल को गिराने वाला नहीं होता ऐसे ही राजा को भी किसी प्रजा के बल को नहीं गिराना चाहिए, प्रत्येक स्तोता अथवा प्रजाजन उसके साथ प्रीति को प्राप्त हों। उपासक या प्रजाजन उसके लिए स्तुति तथा प्रशंसा को समर्पित करते रहें जिससे कि परमात्मा या राजा सब प्रकार के अन्नों व बलों तथा उत्तम निवास को प्रदान करता रहे ॥ १० ॥



एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा विमदः, वासुक्रो वसुकृद्वा ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, ४, ८ निचृत्पंक्तिः । २ पादनिचृत् पंक्तिः ।
३, ५, ७ विराट् पंक्तिः । ६ आर्ची पंक्तिः ॥

स्वरः—१–८ पञ्चमः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्तेऽग्निशब्देन परमात्मा वर्ण्यते तस्य भिन्न-भिन्न प्रकारैः स्तुतयश्चोच्यन्ते ।

इस सूक्त में अग्नि शब्द से परमात्मा वर्णित है तथा उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार से स्तुतियां कही गई हैं ॥

आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे ॥ १ ॥

आ । अग्निम् । न । स्ववृक्तिऽभिः । होतारम् । त्वा । वृणीमहे । यज्ञाय । स्तीर्णऽबर्हिषे । वि । वः । मदे । शीरम् । पावकऽशोचिषम् । विवक्षसे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यज्ञाय-अग्निं न) यथा होमयज्ञायाग्निं वृणीमहे तथा (त्वा पावकशोचिषं क्षीरम्) त्वां पवित्रदीप्तिमन्तं सर्वत्र शायिनं सर्वत्रव्यापकं *"शीरं पावकशोचिषम्" "पावकदीप्तिम् । अनुशायिनमिति वाशिनमिति वा"* [*निरु० ४ । १४*] (होतारम) अध्यात्मयज्ञसम्पादयितारमग्रणायकं परमात्मानम् (स्ववृक्तिभिः) आत्मस्तुतिभिः *"सुवृक्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः"* [*निरु० २ । २४*] (स्तीर्णबर्हिषे वृणीमहे) आच्छादितान्तरिक्षं हृदयाकाशो येन तथा भूतायाध्यात्मयज्ञाय *"बर्हिः-अन्तरिक्ष-नाम"* [*निघ० १ । ३*] (विवक्षसे वः-मदे वि) अथ महति हर्षनिमित्ते त्वां 'वः' व्यत्ययेन बहुवचनम् विशिष्टं वृणुयाम *"विवक्षसे महन्नाम"* [*निघ० ३ । ३*] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यज्ञाय- अग्नि न) जैसे होम यज्ञ के लिये अग्नि को वरते हैं, वैसे ही (त्वा पावकशोचिषं क्षीरम्) तुझ पवित्र दीप्तिवाले सर्वत्रशायी–सर्वव्यापक (होतारम्) अध्यात्मयज्ञ के सम्पादक परमात्मा को (स्ववृक्तिभिः) अपनी स्तुतियों से (स्तीर्णबर्हिषे वृणीमहे) आच्छादित होता है अन्तरिक्ष–अन्तर्हित हृदयाकाश जिसके द्वारा वैसे अध्यात्मयज्ञ के लिए वरते हैं (विवक्षसे वः मदे) महान् हर्ष के निमित्त तुझे विशिष्ट रूप में वरते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—होमयज्ञ में जैसे अग्नि को वरते है ऐसे ही अध्यात्मयज्ञ में हृदय के अन्दर उस पवित्र दीप्तिमान् सर्वत्र व्यापक परमात्मा को विशेष आनन्द प्राप्ति के लिए वरना चाहिए ॥ १ ॥

त्वामु ते स्वाभुवः शुम्भन्त्यश्वराधसः ।
वेति त्वामुपसेचनी वि वो मद ऋजीतिरग्न आहुतिर्विवक्षसे ॥ २ ॥

त्वाम् । ऊँ इति । ते । सुऽआभुवः । शुम्भन्ति । अश्वऽराधसः । वेति । त्वाम् । उपऽसेचनी । वि । वः । मदे । ऋजीतिः । अग्ने । आऽहुतिः । विवक्षसे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (ते) ते खलु (अश्वराधसः) इन्द्रियरूपाश्वानां साधका जितेन्द्रियाः संयमिनः *"इन्द्रियाणि हयानाहुः"* *[कठो० १ । ३ । ४]* (स्वाभुवः) सुशोभनं मनोऽन्तःकरणं समन्ताद् भावयन्ति शिवसङ्कल्पिनः-उपासकजनाः (त्वाम्-एव) त्वामवश्यम् (शुम्भन्ति) भाषन्ते-स्तुवन्ति *"शुम्भ भाषणे"* [*भ्वादिः*] (ऋजीतिः-आहुतिः- उपसेचनी त्वां वेति) तेषां सरलगामिनी समर्प्यमाणोपाहुतिः-उपस्तुतिस्त्वां प्राप्नोति (विवक्षसे) यया त्वं महत्त्वं प्राप्नोषि (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्ते विशिष्टं वृणुयाम ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (ते) वे (अश्वराधसः) इन्द्रियरूप घोड़ों के साधक–जितेन्द्रिय संयमी (स्वाभुवः) सुशोभन अन्तःकरण भावित–सम्पादित करने वाले शिवसङ्कल्पी उपासक जन (त्वाम्-एव) तुझे अवश्य (शुम्भन्ति) स्तुत करते हैं (ऋजीतिः-आहुतिः-उपसेचनी त्वां वेति) उनकी सरलगामिनी समर्पित होती हुई आहुति उपस्तुति तुझे प्राप्त होती है (विवक्षसे) जिससे तू महत्त्व को प्राप्त होता है (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त विशिष्ट रूप से वरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय, संयमी, अपने अन्तःकरण को भावित करने वाले शिवसंकल्पी जन तेरी स्तुति किया करते हैं। उनकी उपयोगी स्तुति से तू उनके अन्दर महत्त्वरूप में साक्षात् होता हैं इसीलिए तुझे वे वरते हैं ॥ २ ॥

त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव ।
कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे विश्वा अधि श्रियो धिषे विवक्षसे ॥३॥

त्वे इति । धर्माणः । आसते । जुहूभिः । सिञ्चतीःऽइव । कृष्णा । रूपाणि । अर्जुना । वि । वः । मदे । विश्वाः । अधि । श्रियः । धिषे । विवक्षसे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वे) हे अग्रणायक परमात्मन् ! त्वयि 'सप्तम्यर्थे शे प्रत्ययः' *"सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे····"* *[अष्टा० ७ । १ । ३९]* (धर्माणः-आसते) तव गुणानां धारकाः–उपासकाः– विराजन्ते (जुहूभिः सिञ्चतीः-इव) होमदर्विभिर्यथा सिञ्चन्त्यो घृतधाराः खलु होमाग्निमाश्रयन्ते तद्वत् (कृष्णा-अर्जुना रूपाणि) कृष्णानि

धूममयानि श्वेतानि शुभ्राणि रूपाणि-उपसृजन्त्यो वृणावत्यः, तथा (मदे) हर्षनिमित्ते (वः) त्वाम् (वि) विशिष्टं वृणुयाम (विश्वाः श्रियः-अधि धिषे) सर्वाः सम्पदा अधिधारयसि (विवक्षसे) महत्त्वं प्राप्तोऽसि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वे) हे अग्रणायक परमात्मन् ! तेरे अन्दर या तेरे आश्रय में (धर्माणः-आसते) तेरे गुणों के धारक–उपासक विराजते हैं (जुहूभिः-सिञ्चतीः-इव) होम के चम्मच से जैसे घृत-धारायें सींची जाती हुई होमाग्नि में आश्रय लेती हैं, उसी भांति (कृष्णा अर्जुना रूपाणि) कृष्ण धूममय श्वेत–शुभ्ररूपों को छोड़ती हुई होती हैं, वैसे (मदे) हर्ष के निमित्त (वः) तुझे (वि) विशिष्ट रूप से वरण करते हैं (विश्वाः श्रियः-अधि धिषे) सारी सम्पदायें तू धारण करता है (विवक्षसे) अतः तू महत्त्व को प्राप्त हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा के गुणों को धारण करने वाले उसमें ऐसे विराजते हैं जैसे होमाग्नि में आहुतियां भिन्न–भिन्न रूपों को छोड़ती–विराजती हुई आश्रय लेती हैं । ऐसे वे उपासक सारी सम्पदाओं को तेरे अन्दर प्राप्त करते हैं, तू उनका महान् देव है ॥ ३ ॥

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे ॥ ४ ॥

यम् । अग्ने । मन्यसे । रयिम् । सहसाऽवन् । अमर्त्य । तम् । आ । नः । वाजऽसातये । वि । वः । मदे । यज्ञेषु । चित्रम् । आ । भर । विवक्षसे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अमर्त्य सहसावन्-अग्ने) हे सदावर्तमान जन्ममरणरहित बहुबलवन् ! *"बहु सहो बलं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ भूम्नि भूमार्थे मतुप्"* [ऋ० १ । ६१ । २३ *दयानन्दः*] अग्रणायक परमात्मन् ! (यं रयिं मन्यसे) यमध्यात्ममैश्वर्यमस्मभ्यं जानासि (तं वाजसातये नः-आ भर) तममृतान्नं सेव्यते यस्यां सा मुक्तिस्तस्यै–अस्मानाभर–धापय (यज्ञेषु) अध्यात्मयज्ञप्रसङ्गेषु (चित्रम्) चायनीयं दर्शनीयं (मदे) हर्षाय–हर्षनिमित्ते (आ) प्रापयेति सम्बन्धः (विवक्षसे वि) त्वां विशिष्टं वृणुयाम ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अमर्त्य सहसावन्-अग्ने) हे सदा वर्तमान जन्ममरण से रहित बहुन बलवान् अग्रणायक परमात्मन् ! (यं रयिं मन्यसे) जिस अध्यात्म ऐश्वर्य को हमारे लिए कल्याण-कारी तू मानता है (तं वाजसातये नः-आभर) उस अमृतान्न का सेवन करते हुए मुक्ति के लिए हमें प्राप्त करा–पहुंचा (यज्ञेषु) अध्यात्मयज्ञ प्रसङ्ग में (चित्रम्) चायनीय–दर्शनीय (मदे) हर्ष के निमित्त (आ) प्राप्त करा (विवक्षसे वि) तुझे विशिष्ट रूप में वरते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा जन्ममरण से रहित और बहुत बलवान् है इसीलिए सारे संसार को सभालने में समर्थ है । मानव के लिए जिस सम्पत्ति को श्रेष्ठ समझता है उस मुक्तिरूप सम्पदा को प्राप्त कराता है । अध्यात्म-प्रसङ्गों में हर्ष के निमित्त परमात्मा का वरण करना चाहिए, वह बड़ा महान् है ॥ ४ ॥

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या ।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥ ५ ॥

अग्निः । जातः । अथर्वणा । विदत् । विश्वानि । काव्या । भुवत् । दूतः । विवस्वतः । वि । वः । मदे । प्रियः । यमस्य । काम्यः । विवक्षसे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अथर्वणा) स्थिरचित्तवता योगिना (अग्निः-जातः) अग्रणायकः परमात्मा सम्पादितः स्वात्मनि साक्षात्कृतः (विश्वानि काव्या विदत्) समस्तानि वेदज्ञानानि *"त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः"* [श० ८ । ५ । २ । ४] वेदयत्-अवेदयत्-अज्ञापयत् 'अडभावश्छान्दसः' अन्तर्गतो णिजर्थश्च । (विवस्वतः-दूतः-अभवत्) स्वस्मिन् विशिष्टतया वासं कुर्वतः-उपासकस्य प्रेरको भवति (यमस्य प्रियः काम्यः) संयमिनो जनस्य प्रियकारी कमनीयो भवतीति शेषः (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्ताय वृणुयाम (विवक्षसे) विशिष्टमहत्त्ववान् त्वमसि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अथर्वणा) स्थिर चित्तवाले योगी के द्वारा (अग्निः-जातः) अग्रणायक परमात्मा अपने आत्मा में साक्षात् किया हुआ (विश्वानि काव्या विदत्) समस्त वेदज्ञानों को जनाता है (विवस्वतः-दूतः-अभवत्) अपने अन्दर विशिष्ट रूप से बसाने वाले उपासक का प्रेरक होता है (यमस्य प्रियः काम्यः) संयमी जन का प्रियकारी कमनीय होता है (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त हम वरते हैं (विवक्षसे) तू विशिष्ट महत्त्ववान् है ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्थिर चित्त वाला योगी परमात्मा को अपने आत्मा में साक्षात् करता है। साक्षात् हुआ परमात्मा उपासक के अन्दर वेदज्ञान को समझने की योग्यता प्रदान करता है उस संयमी उपासक का परमात्मा प्यारा बनता हैं । उसे अपने हर्ष, आनन्द के लिए अपनाना चाहिए ॥ ५ ॥

त्वां यज्ञेष्वीळतेऽग्ने प्रयत्यध्वरे ।
त्वं वसूनि काम्या वि वो मदे विश्वा दधासि दाशुषे विवक्षसे ॥ ६ ॥

त्वाम् । यज्ञेषु । ईळते । अग्ने । प्रऽयति । अध्वरे । त्वम् । वसूनि । काम्या । वि । वः । मदे । विश्वा । दधासि । दाशुषे । विवक्षसे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (यज्ञेषु प्रयति-अध्वरे) यजनीयप्रसङ्गेषु श्रेष्ठकर्मसु प्रवर्तमानेऽध्यात्महितसाधके ध्याने (त्वाम्-ईडते) त्वां स्तुवन्ति लौकिकाः जनाः (त्वं दाशुषे) तेषु जनेषु यः खलु दाश्वान् स्वात्मानं तुभ्यं दत्तवान् तस्मै ह्यात्मसमर्पिणे त्वम् (विश्वा काम्या वसूनि दधासि) समस्तानि कमनीयानि संसारे वासहेतूनि वस्तूनि धारयसि तस्मै दानाय (वः-मदेवि) त्वां हर्षनिमित्ताय विशिष्टं वृणुयाम (विवक्षसे) त्वं विशिष्टो महानसि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (यज्ञेषु प्रयति-अध्वरे) यजनीय प्रसङ्गों–श्रेष्ठ कर्मों में प्रवर्तमान अध्यात्मसाधक ध्यान में (त्वाम्- ईडते) साधारण जन तेरी स्तुति करते हैं (त्वं दाशुषे) उन साधारण जनों में जो अपने आत्मा को तेरे लिए दे देते हैं–समर्पित कर देते हैं, ऐसे जनों के लिए तू (विश्वा काम्या वसूनि दधासि) संसार में बसाने की हेतु सारी कमनीय वस्तुएं दान करता है (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त विशिष्टरूप से वरते हैं (विवक्षसे) तू विषिष्ट महान् है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यजनीय श्रेष्ठ कर्मों में, ध्यान में परमात्मा की साधारण जन स्तुति करते हैं–श्रेष्ठ कर्मों की सिद्धि के लिए। परन्तु जो उनमें अपने आत्मा को समर्पित कर देता है उसके लिए वह परमात्मा समस्त सुख की वस्तुएं प्रदान करता है अतः हर्ष व आनन्द के निमित्त उसको वरना चाहिए ॥ ६ ॥

त्वां यज्ञेष्वृत्विजं चारुमग्ने नि षेदिरे ।
घृतप्रतीकं मनुषो वि वो मदे शुक्रं चेतिष्ठमक्षभिर्विवक्षसे ॥ ७ ॥

त्वाम् । यज्ञेषु । ऋत्विजम् । चारुम् । अग्ने । नि । सेदिरे । घृतऽप्रतीकम् । मनुषः । वि । वः । मदे । शुक्रम् । चेतिष्ठम् । अक्षऽभिः । विवक्षसे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (यज्ञेषु) अध्यात्मयज्ञप्रसङ्गेषु तान् निमित्तीकृत्य (त्वां चारुं घृतप्रतीकम्–ऋत्विजम्) त्वां चरणयोग्यं सेवनीयं तेजसा प्रत्यक्तं तेजस्विनम् "तेजो वै घृतम्" [मं० १ । ६ । ८] अध्यात्मयज्ञसम्पादकम् (शुक्रं चेतिष्ठम्) शुभ्रम्–अतिचेतयितारम् (मनुषः-निषेदिरे) मनुष्या उपासकजनाः "सुपां सुलुक्....." [अष्टा० ७ । १ । ३९] इति जसः स्थाने सुप्रत्ययः । आश्रितवन्तः–आश्रयन्ते (वः-मदे वि) त्वां हर्षाय विशिष्टं वृणुयाम (विवक्षसे) विशिष्टतया महानसि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् (यज्ञेषु) अध्यात्मयज्ञ प्रसङ्गों में उनको निमित्त बनाकर (त्वां चारुं घृतप्रतीकम् ऋत्विजम्) तुझ सेवन योग्य तेजस्वी, अध्यात्मयज्ञ के सम्पादक को (शुक्रं चेतिष्ठम्) शुभ्र अत्यन्त चेताने वाले को (मनुषः निषेदिरे) उपासक जन आश्रय करते हैं (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त विशेष रूप से वरण करते हैं (विवक्षसे) तू विशिष्ट महान् है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अध्यात्मयज्ञ के प्रसङ्गों में–तेजस्वी, अध्यात्मयज्ञ के सम्पादक, सावधान करने वाले परमात्मा की उपासकजन शरण लें, वही आनन्द हर्ष का साधक है और महान् है ॥ ७ ॥

अग्ने शुक्रेण शोचिषोरु प्रथयसे बृहत् ।
अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे ॥ ८ ॥

अग्ने । शुक्रेण । शोचिषा । उरु । प्रथयसे । बृहत् । अभिऽक्रन्दन् । वृषऽयसे । वि । वः । मदे । गर्भम् । दधासि । जामिषु । विवक्षसे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन्! (शुक्रेण शोचिषा) शुभ्रेण ज्ञानप्रकाशेन (उरु बृहत् प्रथयसे) बहुविधम् *"उरु बहुविधम्"* [*यजु० १ । ७ दयानन्दः*] महत् प्रख्यायसे सर्वत्र व्याप्नोषि (अभिक्रन्दन् वृषायसे) ज्ञानोपदेशं कुर्वन्–अमृतवृष्टिकर्त्तेव प्रतिभासि (जामिषु गर्भं दधासि) त्वां प्राप्तुं कर्त्तृषु स्वोपासकेषु *"जमति गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] शब्दं वेदप्रवचनं धारयसि (वः-मदे) त्वां हर्षाय (वि) विशिष्टं वृणुयाम (विवक्षसे) विशिष्टं महत्त्ववान् भवसि ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (शुक्रेण शोचिषा) शुभ्र ज्ञानप्रकाश से (उरु बृहत् प्रथयसे) बहुत प्रकार से महान् प्रसिद्धि को प्राप्त होकर सर्वत्र व्याप्त है (अभिक्रन्दन् वृषायसे) ज्ञानोपदेश करता हुआ—अमृतवृष्टि करता हुआ प्रतिभासित हो रहा है (जामिषु गर्भं दधासि) तुझे प्राप्त करने वाले उपासकों में वेदोपदेश को धारण कराता है (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त विशेषरूप से वरण करते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अपने शुभ्र तेज से बहुप्रख्यात सर्वत्र व्यापक महान् परमात्मा ज्ञान का उपदेश करता हुआ तथा अमृत वृष्टि बरसाता हुआ उपासकों के अन्दर साक्षात् होता है। उसे आनन्द हर्ष के निमित्त वरना चाहिए ॥ ८ ॥



द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ४, ८, १०, १४ पादनिचृद् बृहती । ३, ११ विराड् बृहती । २, ६, १२, १३ निचृदनुष्टुप् । ५ पादनिचृदनुष्टुप् । ७ आर्च्यनुष्टुप् । ९ अनुष्टुप् । १५ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

स्वरः—१, ३, ४, ८, १०, ११, १४ मध्यमः । २, ५–७, ९, १२, १३ गान्धारः । १५ धैवतः ॥

विषयः—

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते ।
ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ॥ १ ॥

कुह । श्रुतः । इन्द्रः । कस्मिन् । अद्य । जने । मित्रः । न । श्रूयते । ऋषीणाम् । वा । यः । क्षये । गुहा । वा । चर्कृषे । गिरा ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-इन्द्रः-ऋषीणां क्षये वा गुहा वा गिरा चर्कृषे) यः खल्वैश्वर्यवान् परमात्मा ऋषीणां परमात्मदर्शनयोग्यतावतां विदुषां निवासे च "क्षि निवासगत्योः" [तुदादिः] बुद्धौ च "गुहा-बुद्धौ" [ऋ० १ । ६७ । २ दयानन्दः] गिरा चर्कृषे-स्तुतिवाण्या-स्तुत्या कृष्यते-आकृष्यते–आहूयते साक्षात् क्रियते, सः (कुह श्रुतः) कस्मिन् प्रसङ्गे स्थाने वा श्रोतव्यो भवति "कृत्यलुटो बहुलम्" [अष्टा० ३ । ३ । ११३] 'कृतो बहुलमित्यपि' (अद्य) अधुना (कस्मिन् जने मित्रः-न श्रूयते) पूर्ववत्–ऋषीणामिव कस्मिन् मनुष्ये श्रितः प्रेरकः स्नेही श्रूयते प्रसिद्धिमाप्नोति साक्षाद् भवति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः-इन्द्रः-ऋषीणां क्षये वा) जो ऐश्वर्यवान् परमात्मा ऋषियों–परमात्मदर्शन की योग्यतावालों–विद्वानों के निवास में भी (गुहा वा) बुद्धि में भी (गिरा चर्कृषे) स्तुतिवाणी द्वारा आकर्षित किया जाता है–साक्षात् किया जाता है (कुह श्रुतः) किस प्रसङ्ग या स्थान में श्रोतव्य–सुनने योग्य होता है (अद्य) अब (कस्मिन् जने मित्रः-न श्रूयते) पूर्ववत् ऋषियों की भांति किस मनुष्य के अन्दर प्रेरक स्नेही सुना जाता है–प्रसिद्धि को प्राप्त होता है या साक्षात् होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा दर्शन की योग्यता वाले ऋषियों के हृदय में और बुद्धि में स्तुति द्वारा परमात्मा साक्षात् किया जाता है वह आज भी श्रेष्ठ मनुष्य के अन्दर मित्र समान स्नेही प्रेरक बनकर साक्षात् होता है ॥ १ ॥

इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे वज्र्यृचीषमः ।
मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या ॥ २ ॥

इह । श्रुतः । इन्द्रः । अस्मे इति । अद्य । स्तवे । वज्री । ऋचीषमः मित्रः । न । यः । जनेषु । आ । यशः । चक्रे । असामि । आ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः- इन्द्रः) य ऐश्वर्यवान् परमात्मा (जनेषु मित्रः-न) जनेषु-उपासकेषु मित्रः स्नेहीव (असामि यशः-आ चक्रे) असुसमाप्तं परिपूर्णं *"असामि–असुसमाप्तम्"* [*निरु० ६ । २३*] यशश्च-अन्नं च *"यशोऽन्ननाम"* [*निघ० २ । ७*] धनं च *"यशो धननाम"* [*निघ० २ । १०*] समन्तात् करोति सः (इह) अत्र जनसमाजे (श्रुतः) प्रसिद्धः (वज्री) ओजस्वी *"वज्रो वा ओजः"* [*श० ८ । ४ । १ । २०*] (ऋचीषमः) ऋचीनामृचां मन्त्राणां गमयिता दर्शयिता–अत एव यशो ददाति स्तोतृभ्यः-ऋषिभ्यः यद्वा– ऋचीषां स्तोतृणां माता–उत्कर्षयिता, अत एवान्नं ददाति, अथवा–ऋचा समः-स्तुत्या समः स्तुतेरनुरूपो भूतस्तदनुरूपस्य फलस्य प्रदाता, अत एव धनं ददाति, इत्थम्भूतः (अद्य-अस्मे स्तवे) अवरकालेऽस्माभिरुपासकैः स्तूयते । 'ऋचीषमः' शब्दोऽनेकार्थः, निरुक्ते नैगमप्रकरणे पठितत्वात् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः इन्द्रः) जो ऐश्वर्यवान् परमात्मा (जनेषु मित्रः-न) उपासक जनों में मित्र–स्नेही के समान (असामि यशः-आचक्रे)असु–समाप्त–अर्थात् परिपूर्ण यश और अन्न तथा धन को भलीभांति प्राप्त कराता है (इह) यहाँ जनसमाज में (श्रुतः) प्रसिद्ध (वज्री) ओजस्वी (ऋचीषमः) मन्त्रों का दर्शाने वाला अतएव स्तुति करने वाले ऋषियों के लिए यश प्रदान करता है अथवा स्तुति करने वालों का मान करता है, उनको उत्कर्ष की ओर ले जाता है, अन्न का दान करता है या स्तुति के समान स्तुति के अनुरूप हुआ उसी के अनुरूप फल प्रदान करता है । वह धन देने वाला भी है, ऐसा वह परमात्मा (अद्य-अस्मे स्तवे) इस काल में हम उपासकों के द्वारा स्तुत किया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— परमात्मा मनुष्यों में मित्र के समान पूर्णरूप से यश अन्न और धन प्राप्त कराता है, मन्त्रों का परिज्ञान कराता है स्तोताओं का मान करता है और स्तुति के अनुरूप फल देता है । ऐसा वह परमात्मा हमारे लिए उपासनीय है ॥ २ ॥

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः ।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥ ३ ॥

महः । यः । पतिः । शवसः । असामि । आ । महः । नृम्णस्य । तुतुजिः । भर्ता । वज्रस्य । धृष्णोः । पिता । पुत्रम् ऽइव । प्रियम् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) य इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा (महः-शवसः पतिः) महतो बलस्य-आत्मबलस्य पालको रक्षको दाता *"शवः बलनाम"* [निघ० २ । ६] (महः-नृम्णस्य-असामि-आ तूतुजिः) महतो धनस्य मोक्षैश्वर्यस्य *" नृम्ण धननाम"* [निघ० २ । १०] असुसमाप्तश्च शीघ्रकारी-शीघ्रदातेत्यर्थः, *"तूतुजिः क्षिप्रनाम"* [निघ० २ । १५] *"तूतुजिः शीघ्रकारी"* [ऋ० ४ । ३२ । २ दयानन्दः] (धृष्णोः-वज्रस्य) धर्षणशीलस्य प्रखरौजसः-ओजस्विन उपासकस्य 'मतुब्लोपश्छान्दसः' (प्रियं पुत्रम्-इव पिता) प्रियं पुत्रं प्रति पिता-इव-अस्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा (महः शवसः पतिः) महान् बल-आत्मबल का पालक रक्षक और दाता है (महः नृम्णस्य-असामि-आ-तूतुजिः) न समाप्त होने वाले महान् मोक्ष धन का शीघ्रदाता है (धृष्णोः वज्रस्य) घर्षणशील ओजस्वी उपासक का (प्रियं पुत्रम्-इव पिता) प्यारे पुत्र के प्रति पिता के समान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान्बल-आत्मबल का स्वामी तथा रक्षक एवं पालक है, महान् धन-मोक्ष का प्रदान करने वाला है । वह दृढ़ अभ्यासी ओजस्वी उपासक प्रियपुत्र के प्रति पिता के समान व्यवहार करता है ॥ ३ ॥

युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः ।
स्यन्ता पथा विरुक्मता सृजानः स्तोष्यध्वनः ॥ ४ ॥

युजानः । अश्वा । वातस्य । धुनी इति । देवः । देवस्य । वज्रिऽवः । स्यन्ता । पथा । विरुक्मता । सृजानः । स्तोषि । अध्वनः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वज्रिवः) हे ओजस्विन् ! परमात्मन् ! (देवः) जीवनदाता सन् *"देवो दानाद्वा"* [निरु० ७ । १५] (देवस्य वातस्य) जीवनदातुः प्राणस्य *"यो वै प्राणः स वातः"* [श० ५ । २ । ४ । ६] (धुनी-अश्वा युजानः) चेष्टमानौ-अश्वाविव प्राणापानौ-श्वासप्रश्वासौ योजयन् (विरुक्मता पथा) विरोचमानेन दिव्येन पथा-देवयानेन मार्गेण (अध्वनः-स्यन्ता) यात्राया मार्गान् समापयन्तो (सृजानः-स्तोषि) सम्पादयन् स्तूयसे ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वज्रिवः) हे ओजस्वी परमात्मन् ! (देवः) तू जीवन दाता होता हुआ (देवस्य वातस्य) जीवन दाता प्राण का (धुनी-अश्वा युजानः) चेष्टा करते हुए दो घोड़ों की भांति प्राण-अपान-श्वास प्रश्वासों को युक्त करता हुआ (विरुक्मता पथा) विरोचमान दिव्य मार्ग

से–देवयान मार्ग से (अध्वनः स्यन्ता) यात्रा के मार्गों का अन्त करते हुए (सृजानः-स्तोषि) सम्पन्न करता हुआ स्तुत किया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—उपासक जन के जीवन देने वाले प्राण तथा जीवन शक्तिरूप प्राण के श्वास प्रश्वासों को दो घोड़ों की भांति युक्त करता हुआ देवयान मार्ग से जीवन यात्रा के मार्गों को पार करता है अतः वह परमात्मा स्तुत्य है ॥ ४ ॥

त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै ।
ययोर्देवो न मर्त्यो यन्ता नकिर्विदाय्यः ॥ ५ ॥

त्वम् । त्या । चित् । वातस्य । अश्वा । आ । अगाः । ऋज्रा । त्मना । वहध्यै । ययोः । देवः । न । मर्त्यः । यन्ता । नकिः । विदाय्यः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वं चित्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन्! त्वं हि, चित् पूजायामत्र "आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम् [निरु० १ । ४] (वातस्य) प्राणस्य (त्या-ऋज्रा-अश्वा) तावृजुगामिनौ गतिमन्तौ शरीरे व्यापिनौ प्राणापानौ श्वासप्रश्वासौ (वहध्यै) वहनाय चालनाय (त्मना-अगाः) स्वीयस्वरूपतः–गमयसि 'अन्तर्गतणिजर्थः' (ययोः-यन्ता) ययोः प्राणापानयोः श्वासप्रश्वासयोर्यमयिता चालयिता (देवः-न मर्त्यः) न मुमुक्षुर्न मरणधर्मा साधारणजनोऽस्ति (नकिः-विदाय्यः) न कश्चिद् वेत्ता ज्ञाताऽस्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वं चित) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् । तू ही (वातस्य) प्राण के (त्या-ऋज्रा-अश्वा) उन ऋजुगामी गतिशील शरीर में व्यापक प्राण अपान–श्वास प्रश्वास (वहध्यै) वहने–चलाने के लिए (त्मना-अगाः) स्वकीयरूप से चलाता है (ययोः-यन्ता) जिन श्वास प्रश्वासों का चलाने वाला (देवः-न मर्त्यः) न मुमुक्षु और न मरणधर्मा साधारण जन है (नकिः-विदाय्यः) न कोई वेत्ता व ज्ञाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्राण के ऋजुगामी श्वास प्रश्वासों को चलाने के लिए परमात्मा तू ही समर्थ है। तुझ से अतिरिक्त न कोई मुमुक्षु, न साधारण जन, और न कोई इनका ज्ञाता ही है ॥ ५ ॥

अध ग्मन्तोशना पृच्छते वां कदर्था न आ गृहम् ।
आ जग्मथुः पराकाद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम् ॥ ६ ॥

अध । ग्मन्ता । उशना । पृच्छते । वाम् । कत्ऽअर्था । नः । आ । गृहम् । आ । जग्मथुः । पराकात् । दिवः । च । ग्मः । च । मर्त्यम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अथ-अनन्तरं जीवनस्यान्तकाले (उशनाः) जीवितुं कामयमानाः–इन्द्र आत्मा (ग्मन्ता पृच्छते) गच्छन्तौ प्राणापानौ पृच्छति, युवां कथं

गच्छथः ? अत्र तिष्ठतम् (वाम) युवाम (नः) अस्माकम (गृहम्-आ) गृहं देहं प्रति-आगच्छतम् (मर्त्यम्) मरणधर्माणम् (पराकात्-दिवः-ग्मः-च) दूरतः "पराके दूर नाम" [निघ० ३ । २६] द्युलोकात् तथा पृथिवीलोकादपि "गौः ग्मा पृथिवीनाम" [निघ० १ । १] (कदर्था-आजग्मथुः) हे प्राणापानौ किम्प्रयोजनौ खल्वागतवन्तौ-आगच्छतम् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ– (अध) जीवन के अन्तकाल में (उशनाः) जीवन की कामना करने वाला आत्मा (ग्मन्ता पृच्छते) जाते हुए श्वास प्रश्वासों से पूछता है कि यहाँ ठहरो क्यों जाते हो ? (वाम्) तुम दोनों (नः) हमारे (गृहम्-आ) देहगृह के प्रति आओ (मर्त्यम) मरण धर्मा देह से (पराकात्-दिवः-ग्मः-च) दूर से द्युलोक से तथा पृथिवीलोक से भी (कदर्था-आ जग्मथुः) किस प्रयोजन के लिए आये हो ? ॥ ६ ॥

भावार्थ—जीवन के अन्तकाल में जीवन की कामना करने वाला आत्मा जाते हुए प्राणापानों से पूछता है–तुम क्यों जाते हो ? यहीं ठहरे रहो अर्थात् मरणकाल में भी आत्मा इन प्राणापानों को नहीं त्यागना चाहता । यही चाहता है कि मेरे इस नश्वर देह में प्राण बने रहें । चाहे द्युलोक से चाहे पृथिवीलोक से आये प्राण–अपान किस प्रयोजन के लिए आये हैं यह ठीक ठीक समझ मनुष्य को उनके उपयोग के लिए आचरण करना चाहिए ॥ ६ ॥

आ नं इन्द्र पृक्षसेऽस्माकं ब्रह्मोद्यतम् ।
तत्त्वां याचामहेऽवः शुष्णं यद्धन्नमानुषम् ॥ ७ ॥

आ । नः । इन्द्रः । पृक्षसे । अस्माकम् । ब्रह्म । उत्ऽयतम् । तत् । त्वा । याचामहे । अवः । शुष्णम् । यत् । हन् । अमानुषम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वम् (नः-आ-पृक्षसे) अस्मान् समन्तात् सम्पर्कयसि–आलिङ्गयसि, अतस्त्वदथम् (अस्माकं ब्रह्म-उद्यतम्) अस्माकं मन्त्रं मननीयं स्तवनं समर्पणमस्तु (तत्) तस्मात् (त्वा-अवः शुष्णम् याचामहे) त्वां रक्षाकरं बलं कामयामहे "शुष्णं बलनाम" [निघ० २ । ९] येन बलेन (यत्-अमानुष हन्) यतस्त्वं दैवं बलं प्राप्तोऽसि "हन् हिंसागत्योः" [अदादिः] इति गत्यर्थः, यद्वा राक्षसं हसि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! तू (नः-आ पृक्षसे) हमें सब प्रकार से आलिङ्गन करता है, अतः (अस्माकं ब्रह्म-उद्यतम्) हमारे मननीय स्तवन तेरे समर्पित हों (तत) तिसमे (त्वा-अवः शुष्णं याचामहे) तुझ रक्षा करने वाले बल को हम चाहते हैं (यत्-अमानुष हन्) जिससे कि तू दैव-बल को प्राप्त है अथवा राक्षस-बल को नष्ट करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा भलीभांति हमारे साथ सम्पर्क करता है, इसलिए हमारी स्तुति–स्तवन उसके प्रति होना चाहिए । हम उसके सुखमय रक्षण को चाहते हैं । वह दैव-बल रखता है एवं राक्षस बल को नष्ट करता है ॥ ७ ॥

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ॥ ८ ॥

अकर्मा । दस्युः । अभि । नः । अमन्तुः । अन्यऽव्रतः । अमानुषः । त्वम् । तस्य । अमित्रऽहन् । वधः । दासस्य । दम्भय ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अकर्मा) यः सत्कर्मशून्यः (दस्युः) उपक्षयकर्त्ता (अमन्तुः) अन्यस्मै न मानदः स्वयं मर्षितः (अन्यव्रतः) अन्यथाचारी कदाचारी (अमानुषः) मनुष्यस्वभावाद्भिन्नः (नः-अभि) अस्मानभिभवति (तस्य दासस्य) तस्य नीचजनस्य (वधः) यो वधः–हननसाधनमस्ति (त्वम्-अमित्रहन्) त्व क्रूरजनस्य हन्तः परमात्मन् राजन् वा (दम्भय) नाशय ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अकर्मा) जो सत्कर्मशून्य–धर्मकर्मरहित (दस्युः) पीडक तथा (अमन्तुः) दूसरे को मान न देने वाला गर्वित (अन्यव्रतः) अन्यथाचारी (अमानुषः) मनुष्य स्वभाव से भिन्न (नः-अभि) हमारे पर अभिभूत होता है–हमें दबाता है–सताता है (तस्य दासस्य) उस नीच जन का (वधः) जो हनन साधन है (त्वम्-अमित्रहन्) तू क्रूरजन के हन्ता परमात्मन् या राजन् ! (दम्भय) उसे नष्ट कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—धर्म कर्म रहित, गर्वित, अन्यथाचारी मनुष्य स्वभाव से भिन्न, दूसरों को दबाने वाले–सताने वाले को परमात्मा या राजा नष्ट किया करता है ॥ ८ ॥

त्वं न इन्द्र शूर शूरैरुत त्वोतासो बर्हणा ।
पुरुत्रा ते वि पूर्तयो नवन्त क्षोणयो यथा ॥ ९ ॥

त्वम् । नः । इन्द्र । शूर । शूरैः । उत । त्वाऽऊतासः । बर्हणा । पुरुऽत्रा । ते । वि । पूर्तयः । नवन्त । क्षोणयः । यथा ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शूर इन्द्र) हे पापहिंसक *"शूर पापाचरणानां हिंसक"* [*ऋ० ७ । ३२ । २२ दयानन्द*] प्रगतिशील परमात्मन् राजन् वा *"शूरः शवतेर्गतिकर्मणः"* [*निरु० ३ । १३*] (त्वं शूरैः-नः) त्वं पापहिंसकवीरैः प्रगतिशीलैर्वा-अस्मान् रक्षेत्यर्थः (उत) अपि (बर्हणा त्वा-ऊतासः) परिबर्हणायां पापपरिस्थितौ परिवृद्धहिंसायां सांग्रामिकभूमौ वा त्वया रक्षिताः स्यामेति यावत् (ते पूर्तयः पुरुत्रा) तव कामपूर्तयो बहुत्र (वि नवन्त) विशेषेण प्राप्यन्ते *"नवति गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] 'कर्मणि कर्तृप्रत्ययः' (यथा क्षोणयः) भूमयो यथा सर्वत्र प्राप्यन्ते । तत्र सर्वत्र भूमिस्थलेषु प्राप्यन्ते ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(शूर इन्द्र) हे पापहिंसक प्रगतिशील परमात्मन् या राजन् (त्वं शूरैः-न) तू पापहिंसकवर्मा या वीरों, प्रगतिशीलों के द्वारा हमारी रक्षा कर (उत) तथा

(बर्हणा त्वा-ऊतासः) परिवृद्ध हिंसा वाली परिस्थिति या संग्राम भूमि में तेरे द्वारा रक्षित होवें (ते पूर्तयः-पुरुत्रा) तेरी यहाँ बहुत कामपूर्तियां (वि नवन्त) विशेषरूप से प्राप्त होती हैं (यथा क्षोणयः) जैसे भूमियां-भूमिस्थल सर्वत्र प्राप्त होती हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा तथा राजा अपनी पराक्रमशक्तियों या सैनिकों के द्वारा पापों या पापियों का संहार करके रक्षा करता है–कठिन से कठिन स्थितियों में भी। तेरी कामपूर्तियों को साधक विशेष रूप से प्राप्त होते हैं जैसे निवास के लिए भूप्रदेश सर्वत्र प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

त्वं तान् वृ॑त्रहत्ये॑ चोदयो॒ नॄन् का॑र्पा॒णे शू॑र वज्रिवः ।
गुहा॒ यदी॑ क॒वीनां॑ वि॒शां नक्ष॑त्रशवसाम् ॥ १० ॥

त्वम् । तान् । वृ॒त्र॒ऽह॒त्ये॑ । चो॒द॒यः॒ । नॄन् । का॒र्पा॒णे । शू॒र॒ । व॒ज्रि॒ऽवः॒ । गुहा॑ । यदि॑ । क॒वीना॑म् । वि॒शाम् । नक्ष॑त्रऽशवसाम् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शूर वज्रिवः) पराक्रमिन्, ओजस्विन् परमात्मन्! यद्वा वज्रवन् राजन्! (त्वं तान् नॄन्) त्वं तान् देवविशः-उपासकान् *"नरो ह वै देवविशः"* [ऐ० २ । ४] यद्वा राष्ट्रनायकान् सैनिकान् (वृत्रहत्ये कार्पाणे) पापनाशनकार्ये त्वत्कृपापेक्ष्ये, आवरकानामाक्रमणकारिणां हत्या यस्मिन् कृपाणप्रयुक्ते संग्रामे वा (चोदय) प्रेरय-उत्साहय (नक्षत्रशवसां कवीनां विशां गुहा यदि) अक्षीणधनवता-मध्यात्ममैश्वर्यवतां विदुषां *"शव धननाम"* [*निघ० २ । १०*] त्वयि प्रविशतामुपासकानां हृद्गुहां यदा कदापि प्रेरय, यद्वा–अक्षीणबलवतां *"तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं यन्न क्षियन्ति"* [*गो० २ । १ । ८*] *"शव इति बलनाम"* [*निघ० २ । ९*] क्रान्तिकारिणां जनानां गूहनीये गोपनीये स्थले शिविरे यदा कदापि प्रेरय ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(शूर वज्रिवः) हे पराक्रमशील ओजस्वी परमात्मन्! या वज्रवाले राजन्! (त्वं तान् नॄन्) तू उन मुमुक्षु उपासकों या राष्ट्रनायकों सैनिकों को (वृत्रहत्ये कार्पाणे) पापनाशक कार्य में अथवा आक्रमणकारी की हत्या जिसमें हो ऐसे कृपाणयुक्त संग्राम में (चोदय) प्रेरित कर उत्साहित कर (नक्षत्रशवसां कवीनां विशां गुहा यदि) अक्षीण धन वाले, अध्यात्म ऐश्वर्यवाले विद्वानों के तेरे में प्रवेश करते हुए उपासकों के हृदयगृहों में जब कभी तू प्रेरणा कर या अक्षीणबल वालों के क्रान्तिकारी जनों के गूहनीय स्थल–शिविर में जब कभी भी प्रेरणा कर ॥१० ॥

भावार्थ—परमात्मा मुमुक्षुजनों के पापनाशन-कार्य में या राजा आक्रमणकारी की हत्या के अवसर पर कृपाणयुक्त संग्राम में बल की प्रेरणा करता है। अध्यात्म ऐश्वर्यरूप धन वाले विद्वानों को परमात्मा जैसे प्रेरणा देता है ऐसे ही राजा भी बलवान् पुरुषों को प्रेरणा देता है ॥ १० ॥

म॒क्षू ता त॑ इन्द्र दा॒नाप्न॑स आक्षा॒णे शू॑र वज्रिवः ।
यद्ध॒ शुष्ण॑स्य द॒म्भयो॑ जा॒तं विश्वं॑ स॒याव॑भिः ॥ ११ ॥

मक्षु । ता । ते । इन्द्र । दानऽअप्नसः । आक्षाणे । शूर । वज्रिऽवः । यत् । ह । शुष्णस्य । दम्भयः । जातम् । विश्वम् । सयावंऽभिः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः— शूर वज्रिवः-इन्द्र) हे पराक्रमिन् ओजस्विन् परमात्मन् वज्रास्त्रवन् राजन् वा (ते दानाप्नसः) तव मोक्षदानकर्मवतो रक्षणकर्मवतो वा "अप्सः कर्मनाम" [निघ० २ । १] (ता) तानि दानकर्माणि रक्षणकर्माणि वा (आक्षाणे) मक्षु) आश्नुवाने व्याप्नुवाने तव परमात्मन् तव स्वरूपे मोक्षे, तथा राजन् ! तव प्रवर्तमाने सङ्ग्रामे वा "आक्षाणः-आश्नुवानः" [निरु० ३ । १०] 'अशूङ् व्याप्तौ ततः शानचि सिप् च बहुल छन्दसि' "सिब्बहुलं लेटि" [अष्टा० ३ । १ । ३४] बहुलग्रहणादन्यत्रापि भवति, मक्षु सद्यः-एव (शुष्णस्य यत्-ह विश्वं जातम्) शोषयितुः-पापस्य शत्रोर्वा 'शुष्णस्य शोषयितुः' [निरु० ५ । १६] "शुष्णस्य शोषकस्य शत्रोः" [ऋ० १ । १२१ । १० दयानन्दः] यत् खलु समस्तं प्रसिद्ध रूपं बलं वा तत् (सयावभिः-दम्भयः) "ये समानं यान्ति ते सयावानस्तैः" [ऋ० १ । ४४ । १३ दयानन्दः] स्वसमानगुणैरुपासके प्राप्तैर्यद्वा स्वसमान-योद्धृभिर्नाशय-नाशयसि वा । "दम्भय-छिन्धि" [ऋ० १ । ५४ । ६ दयानन्दः] ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(शूर वज्रिवः-इन्द्र) हे पराक्रमी ओजस्वी परमात्मन् ! या वज्रास्त्र वाले राजन् ! (ते दानाप्सः) तेरे मोक्ष दान कर्म वाले के या रक्षण कर्म वाले के (ता) वे दानकर्म (आक्षाणे मक्षु) व्याप्त होते हुए तेरे स्वरूप या मोक्ष में तथा हे राजन् ! तेरे प्रवर्तमान संग्राम में तुरन्त (शुष्णस्य यत्-ह विश्वं जातम्) शोषण करने वाले पाप या शत्रु के समस्त प्रसिद्ध रूप या बल को (सयावभिः- दम्भयः) जो समान जाते हैं, उपासकों में प्राप्त स्वसमान गुणों द्वारा या समान योद्धाओं द्वारा नष्ट कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—ओजस्वी तथा पराक्रमी परमात्मा या राजा अपने मोक्षप्रदायक कर्मों द्वारा रक्षण करता है। व्याप्त हुआ या प्राप्त हुआ शोषण करने वाले पापों या शत्रुओं को वह नष्ट करता है ॥ ११ ॥

माकुध्र्यगिन्द्र शूर वस्वीरस्मे भूवन्नभिष्टयः ।
वयं वयं त आसां सुम्ने स्याम वज्रिवः ॥ १२ ॥

मा । अकुध्र्यक् । इन्द्र । शूर । वस्वीः । अस्मे इति । भुवन् । अभिष्टयः । वयम्ऽवयम् । ते । आसाम् । सुम्ने । स्याम । वज्रिऽवः ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शूर इन्द्र) हे पराक्रमिन् परमात्मन् राजन् वा (अस्मे) अस्माकम् (वस्वीः-अभिष्टयः) वासयित्रीः-अभिकांक्षाः (मा-अकुध्र्यक्-भूवन्) मा-अकिञ्चित्कर्यः-अभवन् न व्यर्था भवन्तु (वयं वयम्) अवश्यं वयं सर्वे (वज्रिवः) ओजस्विन् (ते-आसां सुम्ने स्याम) आसामभिष्टीनां सुखे वयं स्याम ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ— (शूर इन्द्र) हे पराक्रमी परमात्मन् या राजन् ! (अस्मे) हमारी (वम्वीः- अभिष्टयः) अत्यन्त बसाने वाली अभिकांक्षायें (मा अकुध्यक् भूवन्) अकिंचित्कर न होवें-व्यर्थ न जावें (वयं वयम्) अवश्य हम सब (वज्रिवः) हे ओजस्वी परमात्मन् या राजन् ! (ते आसां सुम्ने स्याम) इन अभिकांक्षाओं के तेरे प्रदान किये सुख में निरन्तर रहें ॥ १२ ॥

भावार्थ—पराक्रमी परमात्मा या राजा हमारी बसाने वाली आकांक्षाओं को व्यर्थ नहीं जाने देता । हम सब परमात्मा तथा राजा के दिये हुए आकांक्षा-सुख में निरन्तर बने रहें ॥ १२ ॥

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥ १३ ॥

अस्मे इति । ता । ते । इन्द्र । सन्तु । सत्या । अहिंसन्तीः । उपऽस्पृशः । विद्याम । यासाम् । भुजः । धेनूनाम् । न । वज्रिऽवः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वज्रिवः-इन्द्र) हे ओजस्विन् परमात्मन् राजन् वा (ते) तव (उपस्पृश) ताः-दयास्पर्शाः-दयादृष्टयः (अहिंसन्तीः) हिंसां न कुर्वन्त्यः कल्याणकारिण्यः (ताः-अस्मे सत्याः सन्तु) अस्मभ्यं सफलाःभवन्तु (यासां भुजः) यासां भागान् (विद्याम) प्राप्नुयाम (धेनूनां न) गवां दुग्धधारा इव ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(वज्रिवः इन्द्र) हे ओजस्वी परमात्मन् या राजन् (ते) तेरी (उपस्पृशः) दयास्पर्श—दयादृष्टियां (अहिंसन्तीः) न दुख देने वाली कल्याणकारी हैं (ताः अस्मे सत्याः सन्तु) वे हमारे लिए सफल हों (यासां भुजः) जिनके भोग (विद्याम) हम प्राप्त करें (धेनूनां न) गौवों को दुग्धधारा के समान ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा या राजा के दयासम्पर्क या दयादृष्टियां उपासकों या प्रजाओं के लिए कल्याणकारी हुआ करती हैं । वे जीवन में सफलता को लाती हैं और गौवों से प्राप्त होने वाले दूध की भांति भाग दिलाती हैं ॥ १३ ॥

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्विश्वायवे नि शिश्नथः ॥ १४ ॥

अहस्ता । यत् । अपदी । वर्धत । क्षाः । शचीभिः । वेद्यानाम् । शुष्णम् । परि । प्रऽदक्षिणित् । विश्वऽआयवे । नि । शिश्नथः ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-अहस्ता-अपदी क्षाः) हस्ताभ्यां न ग्रहीतुं योग्या न पद्भ्यां प्राप्तुं योग्या तथाभूता क्षाः-भूमिः-अध्यात्मभूमिः 'सुपां सुपो भवन्तीति" सुस्थाने जस् (वेद्यानां शचीभिः-वधते) वेदितव्याभिः-निवेदनीयाभिः विभक्तिव्यत्ययः "वेद्याभिर्वेदितव्याभिः" [निरु० २ । २१] वाग्भिः "शचीति वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] परमात्मनः-उत्तमस्तुतिभिवर्धते सम्यङ् निष्पद्यते (शुष्णं परि प्रदक्षिणित्) शोषयितारं

बन्धनकर्त्तारं रागादिकं पापं त्वमिन्द्र परमात्मा परतः प्रदक्षिणमेत्य सर्वतः परिभूय (विश्वायवे) स्तोतॄणां पूर्णायुर्दानाय (नि शिश्नथः) हंसि "श्नथयति वधकर्मा" [निघ० २ । १३]

तथा—

(यत्-अहस्ता-अपदी क्षाः) या हस्ताभ्यां न ग्रहीतुं योग्या न हस्तयोर्बन्धनयोग्या न च पादयोर्बन्धनयोग्या राष्ट्रप्रजा यद्वा न हस्ताभ्यां कृषिकरणयोग्या न पद्भ्यां यात्राकरणयोग्या तथाभूता सकण्टका भूमिः (वेद्यानां शचीभिः) वेदितव्याभिः प्रजाभिः-नीतिभिः कर्मभिर्वा "शची प्रज्ञानाम" [निघ० ३ । ९] "शची कर्मनाम" [निघ० २ । १] (वधते) संवर्धते सुखसम्पन्ना सम्पद्यते (शुष्णं परि प्रदक्षिणित्) शोषकं प्रजाघातकं चौरादिकं हिंसकं दुर्भिक्षं दुष्कालं परितोऽभिशाध्य (विश्वायवे) सर्वजनाय सर्वान्नाय वा (नि शिश्नथः) नाशय ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-अहस्ता अपदी क्षाः) जो दोनों हाथों से न ग्राह्य, न पैरों से प्राप्त होने योग्य, ऐसी अध्यात्मभूमि (वेद्यानां शचीभिः-वर्धते) वेदितव्य निवेदन करने योग्य स्तुतियों द्वारा परमात्मा साक्षात् होता है (विश्वायवे) पूर्ण आयु प्राप्त कराने के लिए (शुष्णं परि प्रदक्षिणित्) शोषण करने वाले—बन्धन करने वाले राग आदि पापों को परमात्मा सब ओर से दबाकर (निशिश्नथः) नष्ट करता है ॥ १४ ॥

अथवा—

(यत्-अहस्ता अपदी-क्षाः) जो हाथों से बन्धन में न करने योग्य, और न पैरों से बन्धन में करने योग्य राष्ट्रप्रजा अथवा न हाथों द्वारा कर्षण योग्य—खेती करने के अयोग्य न पैरों द्वारा यात्रा करने योग्य ऐसी सकण्टका भूमि (वेद्यानां शचीभिः-वर्धते) वेदितव्य प्रज्ञाओं तथा कर्मों द्वारा सुखसम्पन्न होती है—बढ़ती है (विश्वायवे) सर्वजन के जीवनार्थ (शुष्णं परि प्रदक्षिणित्) शोषक प्रजाघातक चोर आदि हिंसक तथा दुर्भिक्ष को सब ओर से शोधकर (नि शिश्नथः) राजा नष्ट करता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो हाथों से न ग्रहण करने योग्य, न पैरों से प्राप्त करने योग्य अध्यात्मभूमि—योगभूमि होती है वह निवेदन करने योग्य स्तुतियों द्वारा बढ़ती है—सम्पुष्ट होती है। मोक्ष सम्बन्धी आयु को प्राप्त कराने के लिए परमात्मा बन्धनकारक रागादि को सर्वथा नष्ट कर देता है एवं राजा जो प्रजा न हाथों और न पैरों से बन्धन के योग्य-अनुशासनरहित है और जो भूमि हाथों से खेती करने के अयोग्य और पदयात्रा के अयोग्य कण्टकाकीर्ण है, उस ऐसी प्रजा एवं भूमि को राजा उपयोगी बनाता है ज्ञानशिक्षाओं से या विविध उपायों से। जो प्रजाओं में या राष्ट्रभूमि में औरों का शोषण करने वाले चोर आदि या दुर्भिक्ष कदाचित् आ जायें उन्हें नष्ट करता है ॥ १४ ॥

पिबापिबेदिन्द्र शूर सोमं मा रिषण्यो वसवान् वसुः सन् ।
उत त्रायस्व गृणतो मघोनो महश्च रायो रेवतस्कृधी नः ॥ १५ ॥

पिबऽपिब । इत् । इन्द्र । शूर । सोमम् । मा । रिषण्यः । वसवान । वसुः । सन् ।
उत । त्रायस्व । गृणतः । मघोनः । महः । च । रायः । रेवतः । कृधि । नः ॥१५॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शूर वसवान इन्द्र) हे पराक्रमिन् वसमान ! स्वानन्द-गुणैरस्मानाच्छादयन् परमात्मन् ! राजन् वा । *"वस आच्छादने"* [अदादिः] *"अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुङ् न शानचि व्यत्ययेन मकारस्य वकारः"* [ऋ० १ । ६० । २ । दयानन्दः] त्वम् (वसुः सन्) मोक्षे वासयिता राष्ट्रे वासयिता सन् (मा रिषण्यः) नास्मान् हिंसीः (सोमं पिब पिब) अध्यात्मयज्ञे-उपासनारसं पिब; राष्ट्रभूमौ समुत्पन्नमन्नभागं पुनः पुनः स्वीकुरु (उत) अपि च (नः-गृणतः-मघोनः-त्रायस्व) अस्मान् स्तुवतोऽध्यात्मयज्ञवतः, यद्वा प्रशंसतः, श्रेष्ठकर्मवतः, कृषियज्ञवतः *"यज्ञेन मघवान्"* [तै० ४ । ४ । ८ । १] (च) तथा (महः-रायः-रेवतः-कृधि) महता राया-महता मोक्षैश्वर्येण मोक्षैश्वर्ययुक्तान् कुरु यद्वा महताऽन्नादिधनेन धनिनः कुरु । 'महः-रायः' उभयत्र तृतीया-स्थाने षष्ठी व्यत्ययेन ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(शूर वसवान-इन्द्र) हे पराक्रमी अपने गुणों से आच्छादित करने वाले परमात्मन् या राजन् ! (वसुः-सन्) तू मोक्ष में बसाने वाला होता हुआ या राष्ट्र में बसाने वाला होता हुआ (मा रिषण्यः) हमें हिंसित न कर (सोमं पिब पिब) अध्यात्मयज्ञ में उपासना रस का पुनः पुनः पान कर या राजसूययज्ञ में हमारे दिये सोमरस को पी तथा राष्ट्रभूमि में सम्यगुत्पन्न अन्नभाग को पुनः पुनः स्वीकार कर (उत) तथा (नः-गृणतः-मघोनः-त्रायस्व) हमें स्तुति करने वालों को–कृषि करने वालों को (च) और (महः-रायः-रेवतः कृधि) महान् मोक्ष–ऐश्वर्ययुक्त कर या महत् अन्नादि धन से धनी कर ॥ १५ ॥

भावार्थ—अपने गुणों से आच्छादित करने वाला परमात्मा तथा राजा उपासकों तथा प्रजाओं को बसाने वाला होता है । उपासकों के उपासना-रस को स्वीकार करता है तथा राजा राजसूययज्ञ में प्रजा द्वारा दिये सोमरस तथा भूमि में उत्पन्न अन्नादि भार को स्वीकार करता है । परमात्मा की स्तुति करने वाले उपासकों की परमात्मा रक्षा करता है और उन्हें मोक्ष प्रदान करता है । राजा भी श्रेष्ठाचारी जनों की रक्षा करता है और उन्हें सम्पन्न बनाता है ॥ १५ ॥



त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—ऐन्द्रः प्राजापत्यो विमदः, वासुक्रो वसुकृद्वा ।
देवता—इन्द्रः ।
छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप् । २-४ आर्ची भुरिग् जगती । ५-७ निचृत् त्रिष्टुप् ।
स्वरः—१, ५-७ धैवतः । २-४ निषादः ।

अत्र सूक्ते इन्द्रशब्देन राजा वर्ण्यते तथा तस्य प्रजापालनादि-व्यवहाराश्चोपदिश्यन्ते ।

इस सूक्त में इन्द्र शब्द से राजा का वर्णन है तथा उसके प्रजापालन आदि व्यवहारों का उपदेश है ।

यजा॑मह॒ इन्द्रं॒ वज्र॑दक्षिणं॒ हरी॑णां र॒थ्यं१॒॑ विव्र॑तानाम् ।
प्र श्मश्रु॒ दोधु॑वदू॒र्ध्वथा॑ भू॒द्वि सेना॑भि॒र्दय॑मानो॒ वि राध॑सा ॥ १ ॥

यजा॑महे । इन्द्र॑म् । वज्र॑ऽदक्षिणम् । हरी॑णाम् । र॒थ्य॑म् । विऽव्र॑तानाम् । प्र । श्मश्रु॑ । दोधु॑वत् । ऊ॒र्ध्वऽथा॑ । भू॒त् । वि । सेना॑भिः । दय॑मानः । वि । राध॑सा ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विव्रतानां हरीणाम्) विविधं कर्म कर्तॄणां मनुष्याणाम् "हरयो मनुष्याः" [निघ० २ । ३] (वज्रदक्षिणं रथ्यम्-इन्द्रं यजामहे) वज्रो दक्षिणे दक्षिणहस्ते यस्य तथाभूतं रमणीयमाश्रयणीयमैश्वर्यवन्तं राजानं सत्कुर्मः (सेनाभिः-राधसा वि दयमानः) यो बहुविधाभिः सेनाभिस्तथा धनैश्वर्येण च प्रजाः-उपकुर्वन् (श्मश्रु प्र दोधुवत्) मुखकेशसमूहं प्रकम्पयन् स्वप्रभावं प्रदर्शयन् (ऊर्ध्वथा-भूत्) उपरिस्थितो भवति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(विव्रतानां हरीणाम्) विविध कर्म करने वाले मनुष्यों के (वज्रदक्षिणं रथ्यम्-इन्द्रं यजामहे) वज्र–शत्रु को प्राणों से वर्जित कर देने वाला शस्त्रास्त्र जिसके दक्षिण हाथ में है ऐसे रमणीय आश्रयणीय ऐश्वर्यवान् राजा को हम सत्कृत करते हैं (सेनाभिः-राधसा विदयमानः) जो बहुत प्रकार की सेनाओं द्वारा तथा धनैश्वर्य द्वारा प्रजाओं को उपकृत करने रक्षित और सुखयुक्त करने के हेतु (श्मश्रु प्रदोधुवत्) मुखमण्डल के केशसमूह को प्रकम्पित करता हुआ स्वप्रभाव को दर्शाता हुआ (ऊर्ध्वथा-भूत) ऊपर स्थित होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा या शासक भिन्न-भिन्न कर्म करने वाला प्रजाओं की रक्षार्थ शस्त्रास्त्र-

सम्पन्न हो सेनाओं द्वारा तथा धनधान्य सम्पत्ति से पालना करता हुआ प्रभावशाली हो उसका सत्कार प्रजाजन किया करें ॥ १ ॥

हरी न्व॑स्य या वने॑ वि॒दे वस्विन्द्रो॑ म॒घैर्म॒घवा॑ वृत्र॒हा भु॑वत् ।
ऋ॒भुर्वाज॑ ऋ॒भु॒क्षाः पत्य॑ते॒ शवोऽव॑ क्ष्णौमि॒ दास॑स्य॒ नाम॑ चित् ॥ २ ॥

हरी॒ इति॑ । नु । अ॒स्य॒ । या । वने॑ । वि॒दे । वसु॑ । इन्द्रः॑ । म॒घैः । म॒घऽवा॑ । वृ॒त्र॒ऽहा । भु॒व॒त् । ऋ॒भुः । वाजः॑ । ऋ॒भु॒क्षाः । पत्य॑ते॒ । शवः॑ । अव॑ । क्ष्णौमि॒ । दास॑स्य । नाम॑ । चि॒त् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य या हरी नु वसु विदे) अस्य राज्ञो यौ दुःखापहर्त्तो सुखाहर्त्तो च सभाविभागः सेनाविभागश्च धनं वेदयेते (मघैः-मघवा-इन्द्रः) धनैर्धनवान् भवति स राजा (वृत्रहा भुवत्) शत्रुहन्ता भवति (ऋभुः-वाजः- ऋभुक्षाः) मेधावी *"ऋभुर्मेधावी"* [*निघ० ३ । १५*] बलवान् तथा महान् *"ऋभुक्षाः-महन्नाम* [*निघं० ३ । ३*] (पत्यते) स्वामित्वं करोति *"पत्यते ऐश्वर्यकर्मा"* [*निघं० २ । २१*] (दासस्य शवः-नाम चित्-अवक्ष्णौमि) योऽस्मान् दासयति क्षिणोति तस्य बलं नामापि नाशयति 'पुरुषव्यत्यय-श्छान्दसः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य या हरी नु वसु विदे) इस राजा के जो दुःखहर्त्ता और सुख-आहर्त्ता सभाविभाग और सेना-विभाग धन को प्राप्त कराते हैं । (मघैः-मघवा-इन्द्रः) धनों के द्वारा धनवान् होता है वह राजा है । (वृत्रहा भुवत्) शत्रुहन्ता होता है । (ऋभुः-वाजः-ऋभुक्षाः) मेधावी बलवान् तथा महान् होता हुआ (पत्यते) स्वामित्व करता है-शासन करता है । (दासस्य शवः-नामचित्-अवक्ष्णौमि) जो हमें क्षीण करता है उसके बल और नाम को भी तेजो-हीन कर देता है—नष्ट कर देता है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा के सभाविभाग और सेनाविभाग दुःख नाशक और सुख-प्रापक होते हुए प्रजा के लिए धन प्राप्त कराने वाले होने चाहियें । ऐसा राजा शत्रुनाशक, मेधावी, महान् बलवान् होकर शासन करता है । प्रजा को दुःख देने वाले शत्रु के बल और नाम तक को मिटा देता है ॥ १ ॥

य॒दा वज्रं॒ हिर॑ण्य॒मिद॒था रथं॒ हरी॒ यम॑स्य॒ वह॑तो॒ वि सू॒रिभिः॑ ।
आ ति॑ष्ठति म॒घवा॒ सन॑श्रुत॒ इन्द्रो॒ वाज॑स्य दी॒र्घश्र॑वस॒स्पतिः॑ ॥ ३ ॥

य॒दा । वज्र॑म् । हिर॑ण्यम् । इत् । अथ॑ । रथ॑म् । हरी॒ इति॑ । यम् । अ॒स्य॒ । वह॑तः । वि । सू॒रिऽभिः॑ । आ । ति॒ष्ठ॒ति॒ । म॒घऽवा॑ । सन॑ऽश्रुतः । इन्द्रः॑ । वाज॑स्य । दी॒र्घऽश्र॑वसः । पतिः॑ ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यदा) यस्मिन् काले (इन्द्रः) राजा-शासकः (सूरिभिः) विद्वद्भिः सह (वज्रं हिरण्यं यं रथम्-इत्) ओजोरूपं सर्वहितरमणीयं स्वरमणीयं राष्ट्रं-राष्ट्रशासनस्थानं खलु (वि-आ तिष्ठति) विराजते स्वाधीने चालयति च तदा (अस्य हरी वहतः) सभासेनाविभागौ राष्ट्रं वहतः (मघवा) राजसूययज्ञवान् राजा *"यज्ञेन मघवान्"* [तै० सं० ४ । ४ । ८ । १] (सनश्रुतः दीर्घश्रवसः-वाजस्य पतिः) परम्परातः प्रसिद्धस्य दीर्घकालकीर्त्तिप्रदस्य भोगैश्वर्यस्य पतिर्भवति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यदा) जिस समय (इन्द्र) राजा-शासक (सूरिभिः) विद्वानों के द्वारा (वज्रं हिरण्यं यं रथम्-इत्) ओजोरूप सर्वहितरमणीय तथा स्वरमणीय जिस राष्ट्र-शासन पद पर (वि-आ तिष्ठति) विराजता है-और स्वाधीन चलाता है, तब (अस्य हरी वहतः) इसके सभासेना विभाग राष्ट्र का वहन करते हैं। (मघवा) राजसूय यज्ञ वाला-राजसूय को प्राप्त हुआ राजा (सनश्रुतः) परम्परा से प्रसिद्ध हुए (दीर्घश्रवसः) दीर्घकाल तक कीर्ति देने वाले (वाजस्य) भोग ऐश्वर्य का पति स्वामी हो जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों द्वारा राजा-या शासक ओजस्वी सर्वहित-रमणीय तथा स्वरमणीय राष्ट्रशासन पद पर विराजमान हो जाता है तो उसके सभाविभाग और सेनाविभाग राष्ट्र का वहन करते हैं एवं परम्परा से प्रसिद्ध दीर्घकालीन कीर्ति वाले भोग ऐश्वर्य का स्वामी राजा बनता है ॥ ३ ॥

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते ।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ४ ॥

सो इति । चित् । नु । वृष्टिः । यूथ्या । स्वा । सचा । इन्द्रः । श्मश्रूणि । हरिता । अभि । प्रुष्णुते । अव । वेति । सुऽक्षयम् । सुते । मधु । उत् । इत् । धूनोति । वातः । यथा । वनम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सा-उ चित्-नु वृष्टिः) सैव खलूत्तमा सुखवृष्टी राष्ट्रे, यया (इन्द्रः, स्वा यूथ्या सचा) राजा "स्वा" स्वया, यूथ्या यूथया साकम् (हरिता श्मश्रूणि) हरितवर्णानि कृषिभूमेर्धान्यतृणानि (अभि प्रुष्णुते अभिषिक्तानि मन्यते "प्णु प्रस्रवणे" [अदादि०] तदा हि (सुक्षयम्-अव वेति) उत्तमस्थानं राष्ट्रं प्राप्नोति (सुते) निष्पन्ने (मधु) मधुनि-मधुमये राष्ट्रे (इत्) एव (उद्-धूनोति) विरोधिनं कम्पयति (वातः-यथा वनम्) प्रबलो वायुर्यथा वनं कम्पयति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सा-उ चित्-नु वृष्टिः) वह ही उत्तम सुखवृष्टि राष्ट्र में होती है, जिससे (इन्द्रः स्वा यूथ्या सचा) राजा अपनी यूथ रूप सभा के साथ (हरिता श्मश्रूणि) हरित रंग वाले हरे-भरे धान्य तृणों को (अभि प्रुष्णुते) अभिषिक्त मानता है तब ही (सुक्षयम्-अववेति) उत्तमस्थान राष्ट्र को प्राप्त होता है (सुते) निष्पन्न- (मधु) मधुमय राष्ट्र में (इत्) अवश्य (उद्-धूनोति) विरोधी को कम्पाता है (वातः-यथा वनम्) प्रबल वायु जैसे वन को कम्पाता है ॥४॥

भावार्थ—राष्ट्र में उत्तम वृष्टि होने पर राजा सभा के साथ हरे-भरे कृषि धान्यों को देखकर अपने को सफल मानता है और विरोधी दुष्काल आदि को नष्ट करता है ॥ ४ ॥

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ५ ॥

यः । वाचा । विऽवाचः । मृध्रवाचः । पुरु । सहस्रा । अशिवा । जघान । तत्ऽतत् । इत् । अस्य । पौंस्यम् । गृणीमसि । पिताऽईव । यः । तविषीम् । ववृधे । शवः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) यः खल्विन्द्रः शासकः (वाचा) वज्रेण "वज्र एव वाक्" [ऐ० २ । २१] (विवाचः-मृध्रवाचः) विरुद्धा वाग्येषां ते तथा मृध्रा हिंसिका वाग्येषां ते "मृध्रा हिंस्रा वाग्येषां ते" [ऋ० ७ । ६ । ३ दयानन्दः] अशिवाः अकल्याणचिन्तकाः शत्रवः सन्तीति तेषाम् (पुरू सहस्रा) पुरूणि बहूनि सहस्राणि "पुरु बहुनाम" [निघ० ३ । १] आकारादेश उभयत्र छान्दसः (जघान) हन्ति (अस्य तत्-तत्-इत् पौंस्यम्) अस्य तत्तद्विषयकं सर्वं हि पौरुषम् (गृणीमसि) प्रशंसामः (यः) यः खलु (पिता-इव तविषीं शवः-ववृधे) यथा पिता तद्वदस्माकं बलम् "तविषी बलनाम" [निघ० २ । ६] धनम् "शवः-धननाम" [निघ० २ । १०] वर्धते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो शासक (वाचा) वज्र द्वारा (विवाचः-मृध्रवाचः) विविध वाणी वाले तथा हिंसक वाणी वाले (अशिवाः) अकल्याणचिन्तक शत्रु हैं, उनके (पुरुसहस्रा) बहुत सहस्र जनों या गणों को (जघान) नष्ट करता है—मारता है (अस्य तत् तत्-इत् पौंस्यम्) इसके उस उस विषय वाले सब पौरुष-बल की (गृणीमसि) हम प्रशंसा करते हैं (यः) जो (पिता-इव तविषीं शवः-ववृधे) पिता की भांति हमारे बल एवं धन को बढ़ाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपने शासन वज्र से विविध वाणी वाले और हिंसक वाणी वाले अहित चिन्तक जनों या शत्रुओं का हनन करे तथा पिता की भांति प्रजा के बल और धन को बढ़ाता रहे वह प्रजा द्वारा प्रशंसा के योग्य होता है ॥ ५ ॥

स्तोमं त इन्द्र विमदा अजीजनन्नपूर्व्यं पुरुतमं सुदानवे ।
विद्मा ह्यस्य भोजनमिनस्य यदा पशुं न गोपाः करामहे ॥ ६ ॥

स्तोमम् । ते । इन्द्र । विऽमदा । अजीजनन् । अपूर्व्यम् । पुरुऽतमम् । सुऽदानवे । विद्म । हि । अस्य । भोजनम् । इनस्य । यत् । आ । पशुम् । न । गोपाः । करामहे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन् (ते सुदानवे) तुभ्यं शोभनसुखदात्रे (विमदाः) तव राष्ट्रे विशिष्टहर्षप्राप्ताः प्रजाजनाः (पुरुतमम्-अपूर्व्यं स्तोमम्-अजीजनन्) बहुप्रकारं श्रेष्ठमन्नं *"अन्नं वै स्तोमः"* [मै० ३ । ४ । २] शुल्करूपं समपादयन्-सम्पादितवन्तस्ते खलु वयं स्मः, यतः (अस्य-इनस्य भोजनं विद्म हि) अस्य तव स्वामिभूतस्य शासकस्य पालनं वयं जानीमः (यत् पशुं न गोपाः-आकरामहे) यतो दुग्धदातारं पशुं प्रति दुग्धप्रतिदाननिमित्तं तदाहारदानेन तं गोपाला यथा सत्कुर्वन्ति तद्वत्त्वां वयं सत्कुर्मः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् (ते सुदानवे) तुझ शोभन सुखदाता के लिये (विमदाः) तेरे राष्ट्र में विशिष्ट हर्ष को प्राप्त हुए प्रजाजन (पुरुतमम्-अपूर्व्यं स्तोमम्) बहुत प्रकार के श्रेष्ठ शुल्करूप अन्न को (अजीजनन्) हम सम्पन्न करते हैं (अस्य-इनस्य भोजनं विद्म हि) इस तुझ स्वामिरूप शासक के पालन को हम मानते हैं (यत् पशुं न गोपाः) क्योंकि दूध देने वाले पशु के प्रति दूध के प्रतिकार रूप में उसका आहारदान से जैसे गोपालक सत्कार करते हैं उसी भांति पालनादि निमित्त तेरा उपहार द्वारा हम सत्कार करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रजा को उत्तम सुख देने वाले राजा के राष्ट्र में विशेष रूप से हर्षित सुखी प्रजा वहुप्रकार से उत्तम अन्न आदि तथा उपहार दिया करें। ऐसे सुख देने वाले शासक का प्रजायें सत्कार किया करती हैं। जैसे दूध देने वाले पशु के प्रतिदान आहारदान से सत्कार करते हैं ॥ ६ ॥

माकिर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः ।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि ॥ ७ ॥

माकिः । नः । एना । सख्या । वि । यौषुः । तव । च । इन्द्र । विमदस्य । च । ऋषेः । विद्म । हि । ते । प्रमतिम् । देव । जामिवत् । अस्मे । ते । सन्तु । सख्या । शिवानि ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन् (तव विमदस्य-ऋषेः-च) तव तथा त्वदीयराष्ट्रे विशिष्टहर्षयितुस्त्वां प्राप्तस्य प्रजागणस्य (एना सख्या) एतानि सखित्वानि खलूभयहितकराणि (माकिः-न वियौषुः) न कदाचिद् वियुज्येरन्-न शिथिलानि भवेयुः (देव) हे सुखदातः ! राजन् ! (ते प्रमतिं विद्म हि) तव प्रकृष्टां राज्यशासनमतिं प्रजापालनपरायणां मतिं वयं प्रजाजना जानीमः (अस्मे) अस्मभ्यम् (ते) तुभ्यं च (सख्या शिवानि) समानराज्यशासकशास्यसम्बन्धिकर्माणि कल्याणकराणि (जामिवत् सन्तु) वंश्यानि शाश्वतिकानि स्थिराणि भवन्तु ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (तव) तेरे (च) और (विमदस्य-ऋषेः) राष्ट्र

में विशेषहर्षित करने वाले तुझे प्राप्त प्रजागण के (एना सख्या) ये सखिभाव दोनों के हितकर (माकिः-न वियौषुः) कदापि न वियुक्त हों न शिथिल हों (देव) हे सुखदाता राजन् ! (ते प्रमति विद्म हि) तेरी प्रकृष्ट-ऊंची प्रजापालनपरायणा मति को हम प्रजाजन जानते हैं (अस्मे) हमारे लिये (ते) और तेरे लिये (सख्या शिवानि) समान राष्ट्र शासक शास्य सम्बन्धि कर्म कल्याण-कर (जामिवत् सन्तु) वंशज शाश्वतिक स्थिर होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—शासक और शास्य प्रजा वर्ग के पारस्परिक सखिभाव सदा बने रहने चाहिएं और वंशज सम्बन्ध के समान कल्याणकारी होवें ॥ ७ ॥



चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्वसूक्तवत् ।

देवताः—१-३ इन्द्रः । ४-६ अश्विनौ ।

छन्दः—१ आस्तार पंक्तिः, २ आर्ची स्वराट् पंक्तिः, ३ शंकुमती पंक्तिः, ४-६ अनुष्टुप्, ५ निचृदनुष्टुप् ॥

स्वरः—१-३ पञ्चमः, ४-६ गान्धारः ।

अस्मिन् सूक्ते राजधर्मा राष्ट्रसञ्चालनञ्चोपदिश्यन्ते ।

इस सूक्त में राजधर्मों और राष्ट्र संचालन का उपदेश है ।

इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम् ।
अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे सहस्रिणं पुरूवसो विवक्षसे ॥ १ ॥

इन्द्र । सोमम् । इमम् । पिब । मधुऽमन्तम् । चमू इति । सुतम् । अस्मे इति । रयिम् । नि । धारय । वि । वः । मदे । सहस्रिणम् । पुरुवसो इति पुरुऽवसो । विवक्षसे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन् (इमं मधुमन्तं चमूसुतं सोमं पिब) एतं मधुररसवन्तं सुस्वादु द्यावापृथिव्योरिव *"चम्वौ द्यावापृथिवी नाम"* [*निघ० ३ । ३०*] सभासेनयोर्मध्ये सम्पन्नं राज्यैश्वर्यं भुञ्जीथाः सेवस्व (अस्मे सहस्रिणं रयिं नि धारय) अस्मभ्यं प्रजाजनेभ्यः सहस्रगुणितं बहुहितकरं धनं पोषणं पालनं नियोजय (पुरूवसो) हे बहुधनवन् राजन् (मदे) हर्षकरधननिमित्तम् (वः-वि) त्वां विशिष्टं प्रशंसामः (विवक्षसे) त्वं महान्-असि *"विवक्षसे महन्नाम"* [*निघ० ३ । ३*] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् (इमं मधुमन्तं चमू सुतं सोमं पिब) इस मधुर रस वाले सुस्वादु सभा सेना के मध्य सम्पन्न राज्य-ऐश्वर्य को भोग—सेवन कर (अस्मे सहस्रिणं रयिं निधारय) हम प्रजाजनों के लिये सहस्रगुणित बहुत हितकर धन पालन पोषण को नियतकर—स्थिरकर (पुरूवसो) हे बहुत धन सम्पन्न राजन् ! (मदे) हर्षाने वाले धन के निमित्त (वः-वि) तेरी विशेष प्रशंसा करते हैं । (विवक्षसे) तू महान् है ॥ १ ॥

भावार्थ—सभा और सेना में सम्पन्न राज्य ऐश्वर्य को राजा उत्तम रूप से भोगे । प्रजाओं के लिये सहस्रगुणित अर्थात् जितना राज्य शुल्क ग्रहण करे उससे बहुत गुणे धन से प्रजा का पालन पोषण करे । प्रजा भी अपने हर्ष आनन्द के प्राप्त करने के निमित्त राजा की प्रशंसा किया करें । क्योंकि राजा एक महान् गुणवाला होता है ॥ १ ॥

त्वां यज्ञेभिरुक्थैरुप हव्येभिरीमहे ।
शचीपते शचीनां वि वो मदे श्रेष्ठं नो धेहि वार्यं विवक्षसे ॥ २ ॥

त्वाम् । यज्ञेभिः । उक्थैः । उप । हव्येभिः । ईमहे । शचीऽपते । शचीनाम् । वि । वः । मदे । श्रेष्ठम् । नः । धेहि । वार्यम् । विवक्षसे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शचीनां शचीपते) हे विविधप्रजाहितकर्मणां कर्मपालक राजन् ! (त्वाम्) त्वां वयम् (यज्ञेभिः- उक्थैः-हव्येभिः) यज्ञियभावनाभिः प्रशंसा-वचनैरुपहारैश्च (उप-ईमहे "उपेमहे") उपमन्यामहे–सत्कुर्मः (नः-श्रेष्ठं वार्यं धेहि) अस्मभ्यं श्रेष्ठं वरणीयं सुखं धारय (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं प्रशंसामः (विवक्षसे) त्वं महत्त्वम्प्राप्तोऽसि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(शचीनां शचीपते) हे नाना प्रकार के प्रजाहित कर्मों के कर्मपालक–कर्मों के पालन कराने वाले राजन् ! (त्वाम्) तुझे हम (यज्ञेभिः-उक्थैः-हव्येभिः) यज्ञिय भावनाओं, प्रशंसा वचनों और उपहारों के द्वारा (उप-ईमहे "उपेमहे") सत्कृत करते हैं। (नः-श्रेष्ठं वार्यं धेहि) हमारे लिए उत्तम वरण करने योग्य सुख को धारण करा। (वः-मदे वि) तुझे हर्ष के निमित्त विशेष रूप से हम प्रजाजन प्रशंसित करते हैं। (विवक्षसे) तू महत्त्व को प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजाजनों को प्रजाहित तथा राष्ट्रहित विविध कर्मों में प्रेरित करने वाले राजा का यज्ञिय भावनाओं, प्रशंसावचनों और उपहारों के द्वारा सत्कार करना चाहिये। क्योंकि राजा उन्हें श्रेष्ठ और वाञ्छनीय सुख प्रदान करता है ॥ २ ॥

यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता ।
इन्द्र स्तोतृणामविता वि वो मदे द्विषो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ॥ ३ ॥

यः । पतिः । वार्याणाम् । असि । रध्रस्य । चोदिता । इन्द्र । स्तोतृणाम् । अविता । वि । वः । मदे । द्विषः । नः । पाहि । अंहसः । विवक्षसे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-वार्याणां पतिः-असि) यस्त्वं वरणीयानां धनानां पतिरसि (रध्रस्य चोदिता) हितसाधकधनस्य प्रेरयिता प्रदाताऽसि (इन्द्र) हे राजन् (स्तोतृणाम्-अविता) विद्यागुणप्रशंसकानां विदुषां रक्षकोऽसि (नः-द्विषः-अंहसः पाहि) अस्मान् द्वेष्टुः शत्रोः पापाच्च रक्ष (वि--मदे वि) त्वां हर्षप्रदसुखनिमित्तं विशिष्टतया प्रशंसामः (विवक्षसे) त्वं विशिष्टमहत्त्वं प्राप्तोऽसि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः वार्याणां पतिः-असि) जो तू वरणीय धनों का स्वामी है (रध्रस्य चोदिता) हितसाधक धन का प्रदाता है (इन्द्र) हे राजन् (स्तोतृणाम्-अविता) विद्यागुण-

प्रशंसक विद्वानों का रक्षक है (द्विषः-अंहसः- नः पाहि) द्वेष करने वाले शत्रु और पाप से हमारी रक्षा कर (वः-मदे वि) हर्षाने वाले सुख के निमित्त विशिष्ट रूप से हम तुझे प्रशंसित करते हैं (विवक्षसे) तू विशेष महत्त्व को प्राप्त है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजाओं द्वारा वरने योग्य धनों का स्वामी राजा होता है, वह हितसाधक धन को प्रदान करता है तथा विद्यागुणों के प्रशंसक विद्वानों का रक्षक होता है, शत्रु और पाप से सब को बचाता है, सुख के निमित्त उसकी प्रशंसा करनी चाहिये क्योंकि वह महान् है ॥ ३ ॥

युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम् ।
विमदेन यदीळिता नासत्या निरमन्थतम् ॥ ४ ॥

युवम् । शक्रा । मायाऽविना । समीची इति सम्ऽईची । निः । अमन्थतम् ।
विऽमदेन । यत् । ईळिता । नासत्या । निःऽअमन्थतम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवम्) युवाम् (शक्रा) शक्तौ-राष्ट्रसञ्चालने शक्तौ (मायाविना) मायाविनौ प्रज्ञावन्तौ *"माया प्रज्ञानाम"* [*निघ० ३ । ६*] (समीची) परस्परमैकमत्यं गतौ (नासत्या) नियमेन सत्यव्यवहारकर्त्तारौ सभासेनेशौ *"सत्यगुणकर्मस्वभावौ सभासेनेशौ* [*ऋ० १ । ३४ । १० दयानन्दः*] (निरमन्थतम्) राष्ट्रैश्वर्यं निष्पादयतम् (यत्-ईळिता) यदा युवाम् राष्ट्रैश्वर्यनिष्पादनेऽध्येषितौ प्रेरितौ नियुक्तौ स्यातम्, *"ईळितः-अध्येषितः [ऋ० १ । १३ । ४ दयानन्दः]* (मदेन वि) तदा हर्षेणानन्देन विराजमानौ (निर्-अमन्थतम्) राष्ट्रैश्वर्यं निष्पादयतम् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(शक्रा) राष्ट्र-सञ्चालन में समर्थ (मायाविना) प्रज्ञावान्—बुद्धिमान् (समीची) परस्पर एक मति वाले (नासत्या) नियम से सत्यव्यवहार करने वाले सभापति एवं सेनापति (युवम्) तुम दोनों (निरमन्थतम्) राष्ट्रैश्वर्य को निष्पन्न करो—सिद्ध करो (यत्-ईळिता) जब तुम राष्ट्रैश्वर्य के निष्पादन में युक्त होवो तब (मदेन वि) आनन्द से विराजमान होकर (निर्-अमन्थतम्) राष्ट्रैश्वर्य को सिद्ध करते हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् सभापति और सेनापति राष्ट्रैश्वर्य को सिद्ध करते हैं और आनन्द से विराजमान हुए प्रजा के सुख को भी सिद्ध करते हैं ॥ ४ ॥

विश्वे देवा अकृपन्त समीच्योर्निष्पतन्त्योः ।
नासत्यावब्रुवन् देवाः पुनरा वहतादिति ॥ ५ ॥

विश्वे । देवाः । अकृपन्त । सम्ऽईच्योः । निःऽपतन्त्योः । नासत्यौ । अब्रुवन् ।
देवाः । पुनः । आ । वहतात् । इति ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(निष्पतन्त्योः समीच्योः) राष्ट्रैश्वर्याय निरन्तरं प्रगतिं कुर्वाणयोः सम्यक् सहयोगे वर्त्तमानयोः कर्म (विश्वे देवाः-अकृपन्त) सर्वे विद्वांस

ऋषयो बलं प्रयच्छन्ति-समर्थयन्ति (नासत्यौ देवाः-अब्रुवन्) हे सत्याचरणवन्तौ सभासेनेशौ ! विद्वांसो घोषयन्ति यत् (पुनः-आवहतात्-इति) पुनः पुनः राष्ट्रं वह, इति प्रत्येकदृष्ट्या खल्वेकवचनम्, पुनः पुनस्तत्पदं गृहीत्वा कार्यं कुरु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(निष्पतन्त्योः समीच्योः) राष्ट्रैश्वर्य के लिये निरन्तर प्रगति करते हुए भलीभाँति सहयोग में वर्त्तमान हुए उन सभापति और सेनापति तुम दोनों के कर्म को (विश्वे देवाः-अकृपन्त) समस्त विद्वान् ऋषिजन सामर्थ्य देते हैं (नासत्यौ देवाः-अब्रुवन्) हे सत्याचरण वाले सभापति और सेनापति ! विद्वान् जन घोषित करते हैं कि (पुनः-आवहतात्-इति) पुनः पुनः राष्ट्र को वहन करो अर्थात् पुनः पुनः स्वकीयपद ग्रहण करके कार्य करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—राष्ट्रैश्वर्य के लिये निरन्तर प्रगति करते हुए परस्पर सहयोग में वर्त्तमान हुए सभापति और सेनापतियों के कर्म को समस्त विद्वान् बल देवें और अनुमति देवें कि वे राष्ट्र का वहन करें—चलावें ॥ ५ ॥

मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायनम् ।
ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम् ॥ ६ ॥

मधुऽमत । मे पराऽअयनम् । मधुऽमत । पुनः । आऽअयनम् । ता । नः । देवा । देवतया । युवम् । मधुऽमतः । कृतम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मे परायणं मधुमत्) हे सभासेनेशौ ! युवाभ्यां चालिते रक्षिते राष्ट्रे मम राष्ट्रपतेः परायणं बहिर्गमनं मधुमद् भवतु यत्र गच्छामि तत्रस्थजनेभ्यः कल्याणमयं बहिर्गमनं भवतु (पुनः-आयनम्-मधुमत्) तत्र कार्यं विधाय स्वराष्ट्रे पुनरागमनं मधुमद् भवतु स्वप्रजाभ्यः कल्याणमयं भवतु (ता देवा युवम् देवतया नः-मधुमतः कृतम्) तौ विद्वांसौ युवां स्वविद्वत्तया-योग्यतयाऽस्मान् मधुयुक्तान्-आनन्दयुक्तान् कुरुतम् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(मे परायणं मधुमत्) हे राजसभेश और सेनापति तुम्हारे द्वारा चालित और रक्षित राष्ट्र में मुझ राष्ट्रपति का बहिर्गमन मधुमय हो—जहाँ मैं जाऊँ वहाँ के प्रजाजनों के लिये भी कल्याणमय हो (पुनः-आयनं मधुमत्) बाहर से कार्य साधकर फिर स्वराष्ट्र में आना मधुमय हो—स्वप्रजाजन के लिये कल्याणमय हो (ता देवा युवम् देवतया नः-मधुमतः कृतम्) वे तुम विद्वान् अपनी विद्वत्ता के द्वारा हमको मधुयुक्त—आनन्दयुक्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुशल राजसभेश तथा सेनेश के द्वारा सञ्चालित तथा रक्षित राष्ट्र में वर्त्तमान राष्ट्रपति का अन्य राष्ट्र में जाना मधुमय अर्थात् कल्याणकारी हो वहाँ की प्रजाओं के लिये भी तथा अपने राष्ट्र में फिर आगमन भी कल्याणकारी हो ऐसे सभेश और सेनेश स्वराष्ट्रवासियों को कल्याण से युक्त करें ॥ ६ ॥



पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्ववत् ।
देवता—सोमः ।
छन्दः—१, २, ६, १०, ११ आस्तारपंक्तिः, ३-५ आर्षी निचृत् पंक्तिः, ७-९ आर्षी विराट् पंक्तिः ।
स्वरः—पञ्चमः ।
विषयः—अत्र सूक्ते सोमशब्देन परमात्मगुणा उपदिश्यन्ते ।
इस सूक्त में सोम शब्द से परमात्मा के गुणों का उपदेश है ।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे ॥१॥

भद्रम् । नः । अपि । वातय । मनः । दक्षम् । उत । क्रतुम् । अध । ते । सख्ये । अन्धसः । वि । वः । मदे । रणन् । गावः । न । यवसे । विवक्षसे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नः-मनः-दक्षम्-उत क्रतुं भद्रम्-अपि वातय) हे सोम शान्तस्वरूप परमात्मन् ! त्वमस्माकं मनोऽन्तः करणं तथा प्राणबलं "दक्षो बलनाम" [निघ० २ । ८] 'प्राणा वै दक्षः' [जै० ३ । ६२] ज्ञानेन्द्रियबलं, एवं कर्म-कर्मेन्द्रियपरिवर्त्तनं भद्रं कल्याणमार्गं प्रति चालय (अध) अनन्तरौ (ते-अन्धसः सख्ये) तव सोमस्य "अन्धः सोमः" [काठ० ३४ । १४] शान्तस्वरूपस्य परमात्मनो मित्रभावे वर्त्तमाना वयम् (रणन्) रममाणाः स्याम (वः-मदे वि) तव हर्षप्रदस्वरूपे विशिष्टं वर्त्तेमहि । (गावः-न-यवसे) यथा गावो घासे वर्तन्ते । (विवक्षसे) त्वं महान् असि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(नः-मनः दक्षम्) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! तू हमारे मन को तथा प्राणबल को (उत क्रतुं भद्रम्-अपि वातय) और ज्ञानेन्द्रिय बल को एवं कर्मेन्द्रिय व्यापार को कल्याण मार्ग के प्रति चला (अध) पुनः (ते-अन्धसः सख्ये) तुझ शान्त स्वरूप परमात्मा के मित्र भाव में (रणन्) रममाण होवें । (वः-मदे वि) तेरे हर्षप्रद स्वरूप में विशेष रूप से बढ़ते रहें । (गावः-नः यवसे) गौवें जैसे घास में रमती है (विवक्षसे) तू महान् है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा के मित्रभाव में रहने पर वह हमारे मन, प्राणबल और इन्द्रियों के बल को कल्याण मार्ग की ओर चलाता है । उसके आश्रय पर ऐसे आनन्द में रमण करते हैं जैसे गौवें घास के अन्दर रमण करती हैं ॥ १ ॥

हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु ।
अधा कामा इमे मम वि वो मदे वि तिष्ठन्ते वसूयवो विवक्षसे ॥ २ ॥

हृदिऽस्पृशः । ते । आसते । विश्वेषु । सोम । धामऽसु । अध । कामाः । इमे । मम । वि । वः । मदे । वि । तिष्ठन्ते । वसुऽयवः । विवक्षसे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (विश्वेषु, धामसु) समस्तेषु स्थानेषु सर्वत्रेत्यर्थः (ते) तुभ्यं त्वा प्राप्तुम् (हृदिस्पृशः) हृदयं स्पृशन्तः-हृदयगताः (इमे मम कामाः) एते ममाभिलाषाः (आसते) वर्त्तन्ते। (अध) अतः (वः-मदे वि वसुयवः-वितिष्ठन्ते) तव हर्षप्रदस्वरूपे विशिष्टभावेन वासमिच्छन्तो जना उपासका विराजन्ते (विवक्षसे) यतस्त्वं महानसि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् । (विश्वेषु धामसु) समस्त स्थानों में अथात् सर्वत्र (ते) तेरे लिये-तुझे प्राप्त करने को (हृदिस्पृशः) हृदय को स्पर्श करने वाले-हृदयगत (इमे मम कामाः) ये मेरी कामनायें (आसते) रहती हैं। (अधः) इसलिये (वः-मदे वि वसुयवः-वि तिष्ठन्ते) तेरे हर्षप्रद स्वरूप में विशेष भावना से वास चाहने वाले उपासक जन विराजते हैं। (विवक्षसे) क्योंकि तू महान् है ॥ २ ॥

भावार्थ—सभी स्थानों में तुझे प्राप्त करने को, तेरे अन्दर वास के इच्छुक उपासकों की कामनायें बनी रहती हैं ॥ २ ॥

उत व्रतानि सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या ।
अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो अभि चिद्वधाद्विवक्षसे ॥ ३ ॥

उत । । व्रतानि । सोम । ते । प्र । अहम् । मिनामि । पाक्या । अध । पिताऽइव । सूनवे । वि । वः । मदे । मृळ । नः । अभि । चित् । वधात् । विवक्षसे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (उत) अपि-अवश्यम् (ते व्रतानि) तव नियमान्-आदेशान् (अहम्) अहमुपासकः खलु (पाक्या प्र-मिनामि) विपक्वप्रज्ञया प्रगच्छामि-प्रकृष्टं पालयामि *"मिनाति, गतिकर्मा"* *[निघ० २।१४]* (अध) अनन्तरम् (सूनवे पिता-इव) त्वं च पुत्राय पिता-इव यथा भवति तथा (नः-मृळ) अस्मान् सुखय (अभिचित्-वधात्) कदाचिद् वधादपि सुखय रक्षेत्यर्थः (वः-मदे वि) तव हर्षप्रदशरणे विशिष्टतया वयं भवेम (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (उत) अवश्य (ते व्रतानि) तेरे नियमों-आदेशों को (अहम्) मैं उपासक (पाक्या प्र-मिनामि) विपक्व प्रज्ञा से प्रकृष्ट रूप में प्राप्त होता हूँ पालन करता हूँ (अध) पुनः (सूनवे पिता-इव) तू पुत्र के लिये पिता की भाँति वर्त्तता है (नः मृळ) हमें सुखी कर (अभिचित्-वधात्) कदाचिद् होने वाले घातक प्रहार

से भी रक्षा कर (वः-मदे वि) तेरे हर्षप्रदशरण में विशेष रूप से हम रहें (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विशेष परिपक्व बुद्धि से परमात्मा के आदेशों को पालन करना चाहिये । वह पुत्र को पिता के समान होने वाले घातक प्रहार से बचाता है ॥ ३ ॥

समु प्र यन्ति धीतयः सर्गासोऽवताँ इव ।
क्रतुं नः सोम जीवसे वि वो मदे धारया चमसाँ इव विवक्षसे ॥ ४ ॥

सम् । ऊँ इति । प्र । यन्ति । धीतयः । सर्गासः । अवतान्ऽइव । क्रतुम् । नः । सोम । जीवसे । वि । वः । मदे । धारय । चमसान्ऽइव । विवक्षसे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (क्रतुम्) त्वां कार्यसाधकं (धीतयः) प्रज्ञाः कर्मप्रवृत्तयश्च *"धीतिः प्रज्ञा"* [*निरुक्त १० । ४४*] *"धीतिभिः कर्मभिः"* [*निरु० ११ । १६*] (उ) निरन्तरम् (सम्प्रयन्ति) सम्यक् प्रगतिं कुर्वन्ति (सर्गासः-अवतान्-इव) उदकप्रवाहा यथा निम्नप्रदेशान् *"सर्गाः उदकनाम"* [*निघं० १ । १२।*] *"अवतः कूपनाम"* [*निघं० ३ । २३*] (नः-जीवसे) अस्माकं जीवनाय (चमसान्-इव धारय) त्वमस्मान् चमसान् त्वदानन्दरसस्य पात्रभूतान् धारय-स्वीकुरु (वः-मदे वि) तव हर्षनिमित्ते शरणे वयं विशिष्टतया स्याम (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (क्रतुम्) तुझ कार्य साधक को (धीतयः) प्रज्ञायें तथा कर्म-प्रवृत्तियाँ (उ) निरन्तरम् (सम्प्रयन्ति) सम्यक् प्राप्त होती हैं (सर्गासः-अवतान्-इव) उदक-प्रवाह जैसे निम्न प्रदेशों को प्राप्त होते हैं (नः जीवसे) हमारे जीवन के लिये (चमसान्-इव धारय) अपने आनन्द रस के पात्र भूत हम उपासकों को धारण कर स्वीकार कर (वः मदे वि) तेरे हर्ष निमित्त शरण में हम विशेष रूप से रहें (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ४ ॥

भावार्थ—उपासकों की प्रज्ञायें और कर्म प्रवृत्तियाँ परमात्मा की ओर ऐसे झुकी रहती हैं जैसे जलप्रवाह निम्न स्थान की ओर झुके रहते हैं । वह हमारे जीवन के लिये हमें अपने आनन्द रसों का पात्र बनाता है । हमें उसकी शरण में रहना चाहिये ॥ ४ ॥

तव त्ये सोम शक्तिभिर्निकामासो व्यृण्विरे ।
गृत्सस्य धीरास्तवसो वि वो मदे व्रजं गोमन्तमश्विनं विवक्षसे ॥ ५ ॥

तव । त्ये । सोम । शक्तिऽभिः । निऽकामासः । वि । ऋण्विरे । गृत्सस्य । धीराः । तवसः । वि । वः । मदे । व्रजम् । गोऽमन्तम् । अश्विनम् । विवक्षसे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (गृत्सस्य तपसः-तव) स्तोतृभिरभिकाङ्क्षितस्य *"गृत्स अभिकाङ्क्षितः"* [*ऋ० २ । १९ । ८ दयानन्दः*] बलवतस्तव (त्ये निकामासः-धीराः) ते नियमेन नित्यं वा त्वां कामयमाना धीमन्तो ध्यानिन उपासकाः *"धीरसीत्याह यद्धि मनसा ध्यायति* [*तै० सं० ६ । १ । ७ । ४*] (शक्तिभिः-ऋण्विरे) साधनाकर्मभिर्योगाभ्यासैः" *'शक्तिः कर्मनाम"* [*निघं० २ । १*] त्वां प्राप्नुवन्ति (गोमन्तम्-अश्विनं व्रजम्) प्रशस्तेन्द्रियवन्तं प्रशस्तमनस्विनं शरीररूपं स्थानं च प्राप्नुवन्ति (वः-मदे वि) तव हर्षप्रदस्वरूपनिमित्ते विशिष्टं स्तुवन्तीति शेषः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (गृत्सस्य तवसः-तव) श्रोताओं द्वारा वाञ्छित तुझ बलवान् के (त्ये निकामासः-धीराः) वे नियम से या नित्य तुझे चाहने वाले ध्यानी उपासक (शक्तिभिः-ऋण्विरे) साधना कर्मों-योगाभ्यासों के द्वारा तुझे प्राप्त होते हैं (गोमन्तम्-अश्विनं व्रजम्) प्रशस्त इन्द्रियों वाले और प्रशस्त मन वाले शरीर रूप स्थान को प्राप्त होते हैं (वः-मदे वि) तेरे हर्षप्रद स्वरूप के निमित्त विशेष स्तुति करते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वाञ्छनीय परमात्मा का नियम से नित्य योगाभ्यास आदि द्वारा ध्यान करने वाले उपासक जन शोभन इन्द्रिय वाले और प्रशस्त मन वाले शरीर को प्राप्त होते हैं। तभी वे परमात्मा का हर्षप्रद स्वरूप अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

पशुं नः सोम रक्षसि पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ।
समाकृणोषि जीवसे वि वो मदे विश्वा संपश्यन्भुवना विवक्षसे ॥ ६ ॥

पशुम् । नः । सोम । रक्षसि । पुरुऽत्रा । विऽस्थितम् । जगत् । सम्ऽआकृणोषि । जीवसे । वि । वः । मदे । विश्वा । सम्ऽपश्यन् । भुवना । विवक्षसे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (नः) अस्माकं (पशुम्-रक्षसि) पश्यन्तं ज्ञानवन्तमात्मानं *"आत्मा वै पशुः"* [*कौ० १२ । ७*] रक्षसीति शेषः (जीवसे) जीवनाय (विश्वा भुवना पश्यन्) समस्तानि भूतानि लक्षयन् (पुरुत्रा विष्ठितं जगत्) बहुत्र विविधतया स्थितं जगच्च (समाकृणोषि) सम्यक् प्रकटयसि (वः-मदे वि) तव हर्षप्रदस्वरूपनिमित्तं विशिष्टतया त्वां प्राप्नुमः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (नः) हमारे (पशुम्-रक्षसि) देखने वाले-ज्ञान वाले आत्मा की तू रक्षा करता है (जीवसे) जीवन के लिये (विश्वा भुवना पश्यन्) समस्त भूतों को लक्ष करता हुआ (पुरुत्रा विष्ठितं जगत्) सर्वत्र विविध रूप से स्थित जगत् को (समाकृणोषि) सम्यक् प्रकट करता है उत्पन्न करता है (वः-मदे वि) तेरे हर्षप्रद स्वरूप के निमित्त विशेष रूप से तुझे प्राप्त करते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा आत्मा का रक्षक है। सभी प्राणियों के जीवन के लिये सर्व प्रकार की विविध सृष्टि करता है। उसके हर्षप्रद स्वरूप को प्राप्त करना चाहिये ॥ ६ ॥

त्वं नः सोम विश्वतो गोपा अदाभ्यो भव ।
सेध राजन्नप स्रिधो वि वो मदे मा नो दुःशंस ईशता विवक्षसे ॥ ७ ॥

त्वम् । नः । सोम । विश्वतः । गोपाः । अदाभ्यः । भव । सेध । राजन् । अप । स्रिधः । वि । वः । मदे । मा । नः । दुःऽशंसः । ईशत । विवक्षसे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन्। (त्वम्-अदाभ्यः-नः-विश्वतः-गोपाः-भव) त्वं केनाप्यहिंस्योऽस्माकं सर्वतो रक्षकः स्याः (राजन्) हे सर्वत्र राजमान परमात्मन्! (स्रिधः-अपसेध) हिंसकान् *"स्रिधः हिंसकान्"* [ऋ० १ । ३६ । ७ *दयानन्दः*] दूरीकुरु नाशय वा (दुःशंसः-नः-मा-ईशत) दुष्टस्य शंसकोऽहितवक्ताऽस्मान् मा स्वामित्वं करोतु (वः मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं विशिष्टतया मन्यामहे (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (त्वम्-अदाभ्यः-नः-विश्वतः-गोपाः-भव) तू किसी से भी हिंसित न होने वाला हमारा सर्व प्रकार से रक्षक हो (राजन्) हे सर्वत्र प्रकाशमान परमात्मन् ! (स्रिधः-अपसेध) हिंसकों को दूर कर—नष्ट कर (दुःशंसः-नः-मा-ईशत) दुष्ट-प्रशंसक अहितवक्ता हम पर अधिकार न करे (वः-मदे वि) तुझे हर्षनिमित्त विशेष रूप से मानते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा किसी से भी बाधित न होने वाला सदा रक्षक और हिंसकों को नष्ट करने वाला है। हम पर अन्यथा अधिकार करने वाले न हों। अतः उसके विशेष हर्षप्रद स्वरूप को हम धारण करें। वह महान् है ॥ ७ ॥

त्वं नः सोम सुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि ।
क्षेत्रवित्तरो मनुषो वि वो मदे द्रुहो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ॥ ८ ॥

त्वम् । नः । सोम । सुऽक्रतुः । वयःऽधेयाय । जागृहि । क्षेत्रवित्ऽतरः । मनुषः । वि । वः । मदे । द्रुहः । नः । पाहि । अंहसः । विवक्षसे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (नः) अस्मभ्यम् (सुक्रतुः-वयोधेयाय) शोभनप्रज्ञानवान् शोभनप्रज्ञानप्रदः-जीवनस्य धारणाय (जागृहि) जागरय अन्तर्गतो णिजर्थः (क्षेत्रवित्तरः) देहक्षेत्रस्यातिशयेन प्रापयिता (द्रुहः-मनुषः-अंहसः) द्रोग्धुर्मनुष्यात् तथा पापात् (नः पाहि) अस्मान् रक्ष (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं स्तुमः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (नः) हमारे लिये (सुक्रतुः) तू शोभनप्रज्ञा-प्रद है (वयोधेयाय) जीवन धारण कराने के लिये (जागृहि) हमें सावधान कर (क्षेत्रवित्तरः) हमारे देह क्षेत्र को प्राप्त कराने वाला तू (द्रुहः-मनुषः-अंहसः) द्रोह करने वाले मनुष्य से एवं पाप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर (वः मदे वि) हम हर्ष के निमित्त तेरी स्तुति करते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासक को उत्तम बुद्धि देने वाला एवं जीवन-प्रदाता है तथा उत्तम देह को भी प्राप्त कराने वाला है। वह द्रोही मनुष्य और पाप से भी बचाता है। इसलिये विशेष हर्ष के निमित्त उसकी स्तुति करनी चाहिये ॥ ८ ॥

त्वं नो वृत्रहन्तमेन्द्रस्येन्दो शिवः सखा ।
यत्सीं हवन्ते समिथे वि वो मदे युध्यमानास्तोकसातौ विवक्षसे ॥ ९ ॥

त्वम् । नः । वृत्रहन्ऽतम । इन्द्रस्य । इन्दो इति । शिवः । सखा । यत् । सीम् । हवन्ते । सम्ऽइथे । वि । वः । मदे । युध्यमानाः । तोकऽसातौ । विवक्षसे ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृत्रहन्तम-इन्दो) हे ! अत्यन्त-पापनाशक-आनन्दरसपूर्ण परमात्मन् (त्वम्-इन्द्रस्य शिवः सखा) त्वमात्मनः कल्याणसाधकः सखाऽसि (तोकसातौ समिथे) प्रजानां सन्ततीनां प्राप्तिरूपे संग्रामे गृहस्थाश्रमे (युध्यमानाः) संघर्षं कुर्वाणाः (यत् सीं हवन्ते) त्वामामन्त्रयन्तेऽर्चन्ति (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं विशिष्टतया स्तुमः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(वृत्रहन्तम-इन्दो) हे अत्यन्त पापविनाशक ! आनन्दरसपूर्ण परमात्मन् ! (त्वम्-इन्द्रस्य शिवः सखा) तू आत्मा का कल्याण-साधक मित्र है । (तोकसातौ समिथे) सन्तानों के प्राप्तिरूप संग्राम में—गृहस्थ आश्रम में (युध्यमानाः) संघर्ष करते हुए (हवन्ते) अर्चित करते हैं। (वः-मदे वि) तेरी हर्षनिमित्त विशिष्ट रूपसे हम स्तुति करते हैं। (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासक के पापों को नष्ट करने वाला और आनन्दरस से पूर्ण करने वाला कल्याणकारी मित्र है। गृहस्थ आश्रम में सन्तानों की प्राप्ति के लिये वह स्तुति करने योग्य है ॥ ९ ॥

अयं घ स तुरो मद इन्द्रस्य वर्धत प्रियः ।
अयं कुक्षीवतो महो वि वो मदे मतिं विप्रस्य वर्धयद्विवक्षसे ॥ १० ॥

अयम् । घ । सः । तुरः । मदः । इन्द्रस्य । वर्धत । प्रियः । अयम् । कक्षीवतः । महः । वि । वः । मदे । मतिम् । विप्रस्य । वर्धयत् । विवक्षसे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रस्य) आत्मनः (अयं घ सः) एष खलु सः (तुरः प्रियः-मदः-वर्धत) त्वरणशीलः प्रियो हर्षकरः सोमः शान्तस्वरूपः परमात्मा तस्यात्मनो हृदये वर्धते—साक्षाद् भवति। (महः कक्षीवतः-विप्रस्य-अयं मतिम्-वर्धयत्) महतः कक्ष्यावतः *"कक्षीवान् कक्ष्यावान्"* [*निरु ६ । १०*] संयमकक्षागतस्य विप्रस्य स्तुति-प्रेरकस्य बुद्धिं वर्धयति। (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं विशिष्टतया स्तुमः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रस्य) आत्मा का (अयं घ सः) यह सचमुच वह (तुरः प्रियः-मदः-वर्धत) शीघ्र स्वभाव वाला प्रिय हर्षदायक शान्तस्वरूप परमात्मा आत्मा के हृदय में बढ़ता है—साक्षात् होता है। (महः कक्षीवतः-विप्रस्य-अयं मतिम्-वर्धयत्) महान् तथा संयम बांधने वाले स्तुति कर्त्ता विद्वान् की बुद्धि को बढ़ाता है। (वः-मदे-वि) तेरी हर्षनिमित्त विशिष्ट रूप से हम स्तुति करते हैं। (विवक्षसे) तू महान् है ॥ १० ॥

भावार्थ—शीघ्र प्रियकारी परमात्मा उपासक के हृदय में साक्षात् होता है। वह संयमी उपासक की बुद्धि को बढ़ाता है, उन्नत करता है। इसलिये उसकी स्तुति करनी चाहिये ॥ १० ॥

अयं विप्राय दाशुषे वाजाँ इयर्ति गोमतः।
अयं सप्तभ्य आ वरं वि वो मदे प्रान्धं श्रोणं च तारिषद्विवक्षसे ॥११॥

अयम्। विप्राय। दाशुषे। वाजान्। इयर्ति। गोऽमतः। अयम्। सप्तऽभ्यः। आ। वरम्। वि। वः। मदे। प्र। अन्धम्। श्रोणम्। च। तारिषत्। विवक्षसे ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयम्) एष शान्तस्वरूपः परमात्मा (दाशुषे विप्राय) स्वात्मसमर्पणं कृतवते स्तोत्रे (गोमतः-वाजान्-इयर्ति) स्तुतियोग्यान्-अमृतान्नभोगान् *"अमृतोऽन्नं वै वाजः"* [*जै० ३ । १८३*] प्रेरयति प्रयच्छति (अयं सप्तभ्यः) एष सृप्तेभ्यः प्रगतिशीलेभ्य उपासकेभ्यः (वरम्-आ०) वरणीयं मोक्षपदमावहति। (अन्धं श्रोणं च प्र तारिषत्) आध्यानीयं श्रोतव्यं च *"श्रोणं श्रोतव्यम्"* [*ऋक् १ । १६१ । १० दयानन्दः*] तेभ्यः-मोक्षानन्दं प्रवर्धयति (वः-मदे वि) त्वां हर्षनिमित्तं विशिष्टतया स्तुमः (विवक्षसे) त्वं महानसि ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयम्) शान्तस्वरूप परमात्मा (दाशुषे विप्राय) स्वात्म-समर्पण-कर्त्ता स्तुति करने वाले के लिये (गोमतः-वाजान्-इयर्ति) स्तुतियोग्य अमृत-अन्न भोगों को प्रदान करता है (अयं सप्तभ्यः) यह प्रगतिशील उपासकों के लिये (वरम्-आ०) वरणीय मोक्ष-पद को प्राप्त कराता है। (अन्धं श्रोणं च प्र तारिषत्) भली भांति ध्यान करने योग्य और

श्रवण करने योग्य उस मोक्षानन्द को बढ़ाता है (वः-मदे वि) हर्षनिमित्त विशेष रूप से हम तेरी स्तुति करते हैं (विवक्षसे) तू महान् है ॥ ११ ॥

भावार्थ—स्वात्मसमर्पण-कर्त्ता उपासक के लिये परमात्मा प्रशंसनीय अमृत भोगों को प्रदान करता है। उन प्रगतिशील उपासकों के लिये श्रवण करने और साक्षात् करने योग्य उत्कृष्ट वर मोक्षानन्द को बढ़ाता है। उसकी स्तुति करनी चाहिये ॥ ११ ॥



षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवताः—पूषा ।

छन्दः—१ उष्णिक् । ४ आर्षी निचृदुष्णिक् । ३ ककुम्मत्यनुष्टुप् । ५-८ पादनिचृदनुष्टुप् । ९ आर्षी विराडनुष्टुप् । २ आर्ची स्वराडनुष्टुप् ।

स्वरः—१, ४ ऋषभः । २, ३, ५-९ गान्धारः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते पूषन्नामतः परमात्मा तद्गुणोपकारस्तुतयश्च वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में पूषा नाम से परमात्मा और उसके गुण उपकार स्तुति का उपदेश है ।

प्र ह्यच्छा मनीषाः स्पार्हा यन्ति नियुतः ।
प्र दस्रा नियुद्रथः पूषा अविष्टु माहिनः ॥ १ ॥

प्र । हि । अच्छ । मनीषाः । स्पार्हाः । यन्ति । निऽयुतः । प्र । दस्रा । नियुत्ऽरथः । पूषा । अविष्टु । माहिनः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्पार्हाः) अस्माकं वाञ्छनीयाः (नियुतः) नियताः स्थिराः प्रत्यहं कर्त्तव्याः (मनीषाः) मनस ईषा मानसिक्यः स्तुतयः (अच्छ हि) अभिमुखमेव (प्र यन्ति) पूषणं पोषकं परमात्मानं प्रकृष्टं गच्छन्ति (दस्रा माहिनः) दर्शनीयः सुस्थाने आकारादेशश्छान्दसः, महान् *"माहिनः-महन्नाम"* [*निघ० ३ । ३*] (नियुद्रथः) स्थिरो नित्यो रमणयोग्यो मोक्षो यस्य सः (पूषा) पोषणकर्त्ता परमात्मा (प्र-अविष्टु) प्रकृष्टं स्थानमवतु-रक्षतु-रक्षतीत्यर्थः ॥ १)

भाषान्वयार्थ—(स्पार्हाः) हमारी वाञ्छनीय (नियुतः) नियत-स्थिर प्रतिदिन करने योग्य (मनीषाः) मानसिक स्तुतियां (अच्छ हि) अभिमुख ही (प्रयन्ति) पोषक परमात्मा को प्राप्त होती हैं। (दस्रा माहिना) वह दर्शनीय महान् (नियुद्रथः) नित्यरमणयोग्य मोक्ष जिसका है ऐसा (पूषा) पोषणकर्त्ता परमात्मा (प्र-अविष्टु) उस श्रेष्ठ स्थान मोक्ष को हमारे लिये सुरक्षित रखे-रखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—उपासकों की प्रशस्त मानसिक स्तुतियाँ पोषणकर्त्ता परमात्मा को जब प्राप्त

होती हैं तो वह दर्शनीय महान् मोक्षदाता परमात्मा उनके लिये मोक्षस्थान को सुरक्षित रखता है ॥ १ ॥

यस्य त्यन्महित्वं वाताप्यमयं जनः ।
विप्र आ वंसद्धीतिभिश्चिकेत सुष्टुतीनाम् ॥ २ ॥

यस्य । त्यत् । महिऽत्वम् । वाताप्यम् । अयम् । जनः । विप्रः । आ । वंसत् । धीतिऽभिः । चिकेत । सुऽस्तुतीनाम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयं विप्रः-जनः) सर्वप्राणिषु मेधावी जनः (यस्य) यस्य पूष्णः पोषयितुः परमात्मनः (महित्वम्) महित्वेन महत्या कृपया "व्यत्ययेन तृतीयास्थाने प्रथमा" (त्यत्-वाताप्यम्) तत्-वातापेः-इन्द्रस्य जीवात्मनो भोज्यम्-अन्नम् "इन्द्र उ वातापिः-स वातमाप्त्वा शरीराण्यहंन प्रतिप्रैति" *[कौ० २० । ४]* (धीतिभिः) स्वकर्मभिः *"धीतिभिः कर्मभिः" [निरु० ११ । १६]* (आवंसत् समन्तात् सम्भजते संसेवते भुङ्क्ते सः (सुष्टुतीनां चिकेत) शोभनस्तुतिभिः "व्यत्ययेन तृतीयास्थाने षष्ठी" तं परमात्मानं स्मरेत्-स्मरति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयं विप्रः-जनः) सब प्राणियों में मेधावि जन (यस्य) जिस पोषण करने वाले परमात्मा की (महित्वम्) महती कृपा से (त्यत्-वाताप्यम्) उस जीवात्मा के अन्नादि भोग को (धीतिभिः) अपने कर्मों से-अपने कर्मानुसार (आवंसत्) भली भांति भोगता है (सुष्टुतीनां चिकेत) उत्तम स्तुतियों द्वारा परमात्मा का स्मरण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि जिस पोषण-कर्त्ता परमात्मा की कृपा से अन्नादि भोग को अपने कर्मानुसार प्राप्त करता है सेवन करता है उस परमात्मा को स्तुतियों द्वारा स्मरण करे ॥ २ ॥

स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा ।
अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति ॥ ३ ॥

सः । वेद । सुऽस्तुतीनाम् । इन्दुः । न । पूषा । वृषा । अभि । प्सुरः । प्रुषायति । व्रजम् । नः । आ । प्रुषायति ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषा) पोषयिता परमात्मा (इन्दुः- न वृषा) चन्द्र इवानन्दवर्षकः (सः-सुष्टुतीनां वेद) स खल्वस्माकं शोभनस्तुतीर्वेद जानाति तदनुरूपमनुग्रहं करोति "द्वितीयास्थाने षष्ठी व्यत्ययेन" (प्सुरः-अभि प्रुषायति) साक्षाद्भूतः सन् स्वानन्दरसेनास्मानुपासकान् सिञ्चति (नः-व्रजम्-आप्रुषायति) अस्माकमिन्द्रियव्रजं स्वानन्दरसेन प्रवाहयति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषा) पोषणकर्त्ता परमात्मा (इन्दुः-न वृषा) चन्द्रमा की भाँति आनन्दवर्षक (सः-सुष्टुतीनां वेद) वह हमारी शोभन स्तुतियों को जानता है तदनुसार अनुग्रह करता है (प्सुरः-अभि प्रुषायति) साक्षात् हुआ अपने आनन्दरस से हम उपासकों को सींचता है—तृप्त करता है (नः-व्रजम्-आप्रुषायति) हमारे इन्द्रियस्थान को अपने आनन्दरस से भरपूर करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—पोषणकर्त्ता परमात्मा स्तुतियों द्वारा चन्द्रमा की भाँति अपने आनन्द रस से उपासकों को तृप्त करता है और प्रत्येक इन्द्रियस्थान में भी अपने आनन्द की अनुभूति कराता है ॥ ३ ॥

मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन् ।
मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् ॥ ४ ॥

मंसीमहि । त्वा । वयम् । अस्माकम् । देव । पूषन् । मतीनाम् । च । साधनम् । विप्राणाम् । च । आऽधवम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषन् देव) हे पोषयितर्देव परमात्मन् ! (अस्माकं मतीनां च) अस्मद्विधानां तव अस्तित्वं मन्यमानानां मेधाविनाम् *"मतयो मेधाविनाम"* [*निघं० ३ । १५*] (साधनम्) साधयितारम्, तथा (विप्राणां च) स्तुतिभिस्त्वां प्रीणयितॄणां च (आधवम्) समन्तादग्रे गमयितारं त्वाम् (मंसीमहि) अर्चामः-स्तुवीमहि *"मन्यते-अर्चतिकर्मा"* [*निघं ३ । १४*] ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषन् देव) हे पोषणकर्त्ता परमात्मदेव ! (अस्माकं मतीनां च) हम तेरे अस्तित्व को मानने वालों के (साधनम्) ज्ञान एवं सुखसम्पन्न कराने वाले (विप्राणां च) और स्तुतियों के द्वारा तुझे प्रसन्न करने वालों के (आधवम्) भली भांति आगे ले जाने वाले अथवा पाप कर्म से शोधने वाले तुझको (मंसीमहि) मानते हैं—पूजते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—उसके अस्तित्वको मानने वाले, उस उन्नत पथपर ले जाने वाले पापनाशक परमात्मा को उपासक जन स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करते हैं-अनुकूल बनाते हैं ॥ ४ ॥

प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम् ।
ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः ॥ ५ ॥

प्रतिऽअर्धिः । यज्ञानाम् । अश्वऽहयः । रथानाम् । ऋषिः । सः । यः । मनुःऽहितः । विप्रस्य । यवयत्ऽसखः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यज्ञानां प्रत्यर्धिः) यज्ञानां श्रेष्ठकर्मणां प्रतिवर्धकः "प्रति-पूर्वाद्-ऋधधातोर्बाहुलकादिन् प्रत्ययः" [औणादिकः] (रथानाम्-अश्वहयः) रमणीयानां पदार्थानां व्यापकप्रेरकः (सः-यः-मनुः-हितः) स यः खलु मननशीलानां

हितो हितकरः (विप्रस्य यावयत्सखः) मेधाविन उपासकस्य मिश्रणधर्मणा समाप्तिं कुर्वतां पूषा-पोषयिता (ऋषिः) सर्वज्ञः परमात्माऽस्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यज्ञानां प्रत्यर्धिः) श्रेष्ठ कर्मों का प्रतिवर्धक-अत्यन्त बढाने वाला या पोषक (रथानाम्-अश्वहयः) रमणीय पदार्थों का व्यापक प्रेरणा करने वाला (सः-यः-मनु-हितः) वह परमात्मा मननशील उपासकों का हितकर है (विप्रस्य यावयत्सखः) बुद्धिमान् उपासकों का समागम करने वाला मित्र (ऋषिः) सर्वज्ञ परमात्मा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त श्रेष्ठ कर्मों का पोषक, रमणीय पदार्थों का महान् प्रेरक, मननशील उपासकों का हितकर मिलने वाला मित्र और पोषणकर्त्ता सर्वज्ञ है ॥ ५ ॥

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च ।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥ ६ ॥

आऽधीषमाणायाः । पतिः । शुचायाः । च । शुचस्य । च । वासःऽवायः । अवीनाम् । आ । वासांसि । मर्मृजत् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शुचायाः-आधीषमाणायाः) प्रकाशमानायाः-आ समन्ताद् धार्यमाणायाः-उषसः (च) तथा (शुचस्य च) प्रकाशमानस्य प्रकाशकस्य सूर्यस्य च (पतिः) स्वामी स पोषयिता परमात्मा (वासः-वायः) "अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः" वस्त्रवायस्तन्तुवाय इव (अवीनाम्) पृथिव्यादीनां पिण्डानाम् "इयं पृथिव्यविः" [श० ६ । १ । २ । ३३] (वासांसि) आच्छादनानि तद्गतिमण्डलानि (आ मर्मृजत्) उषसा सूर्येण समन्तात्-शोधयति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(शुचायाः-आधीषमाणायाः) प्रकाशमान भली भांति धारण करने योग्य उषा का (शुचस्य च) तथा प्रकाशमान प्रकाशक सूर्य का (पतिः) स्वामी व पोषक परमात्मा (वासः-वायः) वस्त्र बुनने वाले तन्तुवाय के समान (अवीनाम्) पृथिवी आदि पिण्डों के (वासांसि) आच्छादन-मण्डलों आवरणों को (आ मर्मृजत्) उषा और सूर्य के द्वारा भली भांति शोधता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—उषा और सूर्य का स्वामी परमात्मा समस्त पृथिव्यादि पिण्डों के वस्त्ररूप मण्डलों आवरणों को उषा और सूर्य के द्वारा शोधन करता है ॥ ६ ॥

इनो वाजानां पतिरिनः पुष्टीनां सखा ।
प्र श्मश्रु हर्यतो दूधोद्वि वृथा यो अदाभ्यः ॥ ७ ॥

इनः । वाजानाम् । पतिः । इनः । पुष्टीनाम् । सखा । प्र । श्मश्रु । हर्यतः । दूधोत् । वि । वृथा । यः । अदाभ्यः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इनः) स पूषा पोषयिता स्वामी परमात्मा (वाजानां पतिः) बलानां स्वामी (इनः पुष्टीनां सखा) स परमात्मा पोषणानां पालकः सखा (हर्यतः) कामयमानस्य स्तोतुः (श्मश्रु) श्मश्रूणि सर्वाङ्गाणां रोमाणि हर्षेण (वृथा प्रदूधोत्) अनायासेन प्रधुनोति प्रहर्षयति (यः-अदाभ्यः) यः पूषा परमात्माऽहिंस्योऽस्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(इनः) पोषणकर्त्ता परमात्मा जगत् का स्वामी (वाजानां पतिः) बलों का स्वामी (इनः पुष्टीनां सखा) आत्म-पुष्टि वालों का पालक स्वामी (हर्यतः) कामयमान स्तोता उपासक के (श्मश्रु) सब अंगों के रोमों को (वृथा प्र दूधोत्) अनायास प्रहर्षित करता है (यः-अदाभ्यः) जो परमात्मा अहिंसनीय है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब जगत् का स्वामी सब बलों का स्वामी सब आत्म-पुष्टि वालों का सखा रूप स्वामी है। कामना करने वाले उपासक का रोम हर्षित कर देता है। ऐसा वह अबाध्य स्वामी उपासनायोग्य है ॥ ७ ॥

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः ।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः ॥ ८ ॥

आ । ते । रथस्य । पूषन् । अजाः । धुरम् । ववृत्युः । विश्वस्य । अर्थिनः । सखा । सनःऽजाः । अनपऽच्युतः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पूषन्) हे पोषयितः परमात्मन् (ते रथस्य धुरम्) तव रमणीयस्य मोक्षस्य धारणं प्रापणं *"धूः धारयतेः"* [*निरु०* ३ । ९] (अजाः-आववृत्युः) वाचः स्तुतयः *"वाग्वा अजा [श० ६ । ४ । ४ । १५]* आवर्तन्ते-आवर्तयन्ति-आस्थापयन्ति यतस्त्वम् (विश्वस्य-अर्थिनः) सर्वस्योपासकस्य प्रार्थिनः (सनोजाः-अनपच्युतः सखा) सनातनकालात् प्रसिद्धः शाश्वतिकोऽनश्वरः सखाऽस्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(पूषन्) हे पोषक परमात्मन् ! (ते रथस्य धुरम्) तेरे रमणीय मोक्ष के धारण-साधन को (अजाः-आववृत्युः) स्तुतियां आवर्तित करती हैं—आस्थापित करती हैं (विश्वस्य-अर्थिनः) सब उपासक प्रार्थी का (सनोजाः-अनपच्युतः सखा) शाश्वतिक अनश्वर मित्र है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा के आश्रय मोक्ष धाम की प्राप्ति उसकी स्तुतियों के द्वारा होती है। प्रत्येक उपासक का वह शाश्वतिक अनश्वर मित्र है ॥ ८ ॥

अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः ।
भुवद्वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम् ॥ ९ ॥

अस्माकम् । ऊर्जा । रथम् । पूषा । अविष्टु । माहिनः । भुवत् । वाजानाम् । वृधः । इमम् । नः । शृणवत् । हवम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(माहिनः पूषा) महान् पोषयिता परमात्मा (अस्माकं रथम्) अस्माकमभीष्टं यद्वाऽस्मभ्यम् "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" [अष्टा० २ । ३ । ६३] षष्ठी रमणीयं मोक्षम् (ऊर्जा-अविष्टु) स्वकीयेन शाश्वतिकज्ञानबलेन रक्षतु (वाजानां वृधः-भुवत्) सोऽमृतान्नभोगानाम् "अमृतोऽन्नं वै वाजः" [जं० २ । १९२] वर्धको भवेत् (नः-इमं हवं शृणवत्) अस्माकमिदं प्रार्थनावचनं शृणुयात् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(माहिनः पूषा) महान् पोषक परमात्मा (अस्माकं रथम्) हमारे अभीष्ट या हमारे लिये रमणीय मोक्ष को (ऊर्जा-अविष्टु) अपने शाश्वतिक ज्ञान बल से सुरक्षित रखे–रखता है (वाजानां वृधः-भुवत्) वह अमृत अन्न भोगों का बढ़ाने वाला हो–है (नः-इमं हवं शृणवत्) हमारे इस प्रार्थना वचन को सुने–स्वीकार करे–स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान् पोषक है वह अपने शाश्वतिक ज्ञान बल से हमारे लिये मोक्ष को प्रदान करता है और विविध अमृतान्न भोगों का बढ़ाने वाला हमारी प्रार्थना को स्वीकार करने वाला है ॥ ६ ॥



२७

सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ५, ८, १०, १४, २२ त्रिष्टुप् । २, ९, १६, १८ विराट् त्रिष्टुप् । ३, ४, ११, १२, १५, १९–२१, २३ निचृत् त्रिष्टुप् । ६, ७, १३, १७, पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २४ भुरिक् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्ते परमात्मजीवात्मगुणाः सृष्टिरचना शरीर-रचनादयो विविधा विषयाः प्रदर्श्यन्ते ।

इस सूक्त में परमात्मा जीवात्मा के गुण सृष्टिरचना शरीररचना आदि का उपदेश है ।

असत्सु मे जरितः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम् ।
अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम् ॥ १ ॥

असत् । सु । मे । जरितरिति । सः । अभिऽवेगः । यत् । सुन्वते । यजमानाय । शिक्षम् । अनाशीःऽदाम् । अहम् । अस्मि । प्रऽहन्ता । सत्यऽध्वृतम् । वृजिनऽयन्तम् । आभुम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जरितः) हे स्तोतः *"जरिता स्तोतृनाम [निघं० ३ । १६]* (मे) मम (सः-अभिवेगः) 'मन्त्रे सन्धिश्छान्दसः' "सुपां सुलुक्० [अष्टा० ७ । १ । ३९] इति सोर्लुकि कृते' स खल्वभिवेगः शाश्वतिकः स्वभावः (सु-असत्) शोभनोऽस्ति (यत्) यतः (सुन्वते यजमानाय शिक्षम्) उपासनारसं निष्पादयते स्वात्मानं समर्पयते ऽध्यात्मयाजिने निजानन्तानन्दं ददामि *"शिक्षतिर्दानकर्मा [निघं ३ । २०]* (अनाशीर्दाम्) आशीः प्रार्थना *"बह्वी वै यजुः स्वाशीः" [श० १ । २ । १ । ७]* *"अथेयमितराशीराशास्ते"* *[निरु० ६ । ८]* अनाशीर्दाः-अस्तुतिप्रार्थनाकर्त्ता सामर्थ्यात्–अस्तोता नास्तिकस्तम् (अहं प्रहन्ता अस्मि) अहं प्रहन्मीति शीलवानस्मि (सत्यध्वृतं वृजिनायन्तम्-आभुम्) सत्यविनाशकं पापमाचरन्तमाक्रमणकारिणं जनं च प्रहन्मि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(जरितः) हे स्तुति करने वाले उपासक ! (मे) मेरा (सः-अभिवेगः) वह शाश्वतिक स्वभाव (सु-असत्) कल्याणकारी है (यत्) कि जो (सुन्वते यजमानाय शिक्षम्) उपासनारस निष्पादन करने वाले-अपने आत्मा को समर्पित करने वाले आत्मयाजी के लिये निज आनन्द को मैं देता हूँ (अनाशीर्दाम्) प्रार्थना न करने वाले-नास्तिक (सत्यध्वृतं वृजिनायन्तम्-आभुम्) एवं सत्यविनाशक पापाचरण करने वाले आक्रमणकारी को (अहं-प्रहन्ता-अस्मि) मैं नष्ट करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा का यह शाश्वतिक स्वभाव है कि वह अपने प्रति समर्पणकर्त्ता उपासक को अपना आनन्द प्रदान करता है, और नास्तिक पापाचरण अन्यथा पीडक मनुष्य को नष्ट करता है ॥ १ ॥

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून् तन्वा३ शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ॥ २ ॥

यदि । इत् । अहम् । युधये । सम्ऽनयानि । अदेवऽयून् । तन्वा । शूशुजानान् । अमा । ते । तुम्रम् । वृषभम् । पचानि । तीव्रम् । सुतम् । पञ्चऽदशम् । नि । सिञ्चम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते-अमा) हे इन्द्र-ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! तव साहाय्येन (यदि-इत्-अहम् युधये) यदि ह्यहमुपासको युद्धाय खलूद्यतो भवेयम् (तन्वा शूशुजानान्) शरीरेण शूशुचानान् जाज्वल्यमानान् 'चकारस्थाने जकारश्छान्दसः' (अदेवयून्) ये त्वां स्वदेवं परमात्मानं न मन्यन्ते तथाभूतान् नास्तिकान् (सम्-नयानि) सम्प्रभावयामि त्वदुपासकान्-आस्तिकान् सम्पादयामि (तुम्रं वृषभं पचामि) आहन्तारम् "तुम्रः-आहन्ता" [ऋ० ३ । ५० । १ दयानन्दः] वृषभमिव पापं भक्षयामि-नाशयामि (तीव्रं सुतम्-पञ्चदशं नि षिञ्चम्) प्रबलं निष्पन्नमोजः "ओजो वै पञ्चदशः" [मै० ३ । २ । १०] निजे मनसि यद्वा-आत्मनि निषिञ्चामि-निधारयामि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते-अमा) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! तेरी सहायता से (यदि-इत्-अहं युधये) यदि तो मैं उपासक युद्ध के लिये उद्यत हो जाऊँ (तन्वा शूशुजानान्) शरीर से जाज्वल्यमान क्रोधित हुए (अदेवयून्) जो तुझे अपना इष्टदेव नहीं मानते उन ऐसे नास्तिकों को (सम्-नयानि) सम्यक् प्रभावित करता हूँ—तेरे उपासक आस्तिक बनाता हूँ । (तुम्रं वृषभं पचानि) घोर घातक वृषभ समान पाप को खा जाता हूँ—नष्ट करता हूँ (तीव्रं सुतम् पञ्चदशं नि षिञ्चम्) प्रबल सिद्ध ओज को अपने मन में आत्मा में पूर्ण धारण करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा की सहायता से उपासक जन बड़े क्रोधी और नास्तिक जनों के साथ आत्मशक्ति से युद्ध करके उनको परमात्मा के उपासक—आस्तिक बनाते हैं, और अपने अन्दर के प्रबल पापों को समाप्त करते हैं तथा निज मन और आत्मा में ओज—आत्मिक तेज को धारण करते हैं ॥ २ ॥

नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान् ।
यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥ ३ ॥

न । अहम् । तम् । वेद । यः । इति । ब्रवीति । अदेवऽयून् । सम्ऽअरणे । जघन्वान् । यदा । अवऽअख्यत् । सम्ऽअरणम् । ऋघावत् । आत् । इत् । ह । मे । वृषभा । प्र । ब्रुवन्ति ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अदेवयून् समरणे जघन्वान्) मां देवं न मन्यमानान् संग्रामे हन्मि (इति यः-ब्रवीति) एवं यो ब्रवीति घोषयति (तम्-न अहं वेद) न खलु-अहमित्थं वेद्मि जानामि-मन्ये, मया विना न कोपि इत्थं वक्तुमर्हति मम साहाय्येनैव हन्तुमर्हति (यदा समरणे-अवाख्यत्) यदा संग्रामे साक्षात् पश्यति स्वाभ्यन्तरे (ऋघावत्-आत्-इत्-ह) परस्परं देवासुरवृत्तयः सत्यासत्यविवेचिका मतयो विद्यन्ते यस्मिन् स ऋघावान्-तद्वत् *"ऋघाः सत्यासत्यविवेचिका मतयो विद्यन्ते यस्मिन् सः-ऋहन् शत्रून् घ्नन्ति यस्मिन् हन् धातोर्वर्णव्यत्ययेन हस्य घ न लोपश्च"* [ऋ० १ । १५२ । २ । *दयानन्दः*] अनन्तरं हि (मे वृषभा प्रब्रुवन्ति) तदा मम बलवन्ति कर्माणि स्वाभ्यन्तरे प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अदेवयून् समरणे जघन्वान्) मुझे अपना इष्टदेव न मानने वालों को संग्राम में मारता हूं (इति यः-ब्रवीति) ऐसी जो घोषणा करता है (तम्-न-अहं वेद) मैं उसे नहीं जानता क्योंकि मेरे बिना कोई ऐसा नहीं कह सकता है, मेरी सहायता से ही मार सकता है (यदा समरणे-अवाख्यत्) जब संग्राम को अपने अन्दर साक्षात् देखता है (ऋघावत्-आत्-इत्-ह) परस्पर देवासुर वृत्तियां सत्य-असत्य-विवेचक जिसमें मतियां होती हैं वह ऋघावान् उसकी भांति तुरन्त ही (मे वृषभा प्रब्रुवन्ति) मेरे बलवान् कर्मों को प्रशंसित करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य किसी भी संग्राम-प्रसंग में अपने विरोधी को बिना परमात्मा की सहायता पाये परास्त नहीं कर सकता। देवासुर वृत्तियों के आन्तरिक संग्राम में जैसे परमात्मा की सहायता की आवश्यकता है। अतः उस परमात्मा के गुण कर्म पौरुष की स्तुति करनी चाहिये ॥ ३ ॥

यदज्ञातेषु वृजनेष्वासं विश्वे सतो मघवानो म आसन् ।
जिनामि वेत्क्षेम आ सन्तमाभुं प्र तं क्षिणां पर्वते पादगृह्य ॥ ४ ॥

यत् । अज्ञातेषु । वृजनेषु । आसम् । विश्वे । सतः । मघऽवानः । मे । आसन् । जिनामि । वा । इत् । क्षेमे । आ । सन्तम् । आभुम् । प्र । तम् । क्षिणाम् । पर्वते । पादऽगृह्य ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्) यतः (अज्ञातेषु वृजनेषु) अन्यैरज्ञातेष्वज्ञातव्येषु

बलेषु (आसम्) अहं वर्त्तमानोऽस्मि (मे सतः-मघवानः-आसन्) तादृशभूतस्य मम प्राप्तये यज्ञवन्तोऽध्यात्मयज्ञं कुर्वाणा उपासका भवन्ति सन्ति (वा-इत्-) अथ चैव (क्षेमे) उपासकानां कल्याणनिमित्तं "निमित्तसप्तमी" (आभु सन्तम्) तमाभवन्तमाक्रमणकारिणं महत्पापं पापिनं वा (जिनामि) अभिभवामि निर्बलीकरोमि पुनश्च (तं पादगृह्य पर्वते प्रक्षिणाम्) पादौ गृहीत्वेव पर्ववति विषमस्थाने प्रक्षिपामि सञ्चूर्णयामि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्) जिससे (अज्ञातेषु वृजनेषु) अन्यों के द्वारा न जानने योग्य बलों में (आसम्) मैं वर्तमान हूँ (मे-सतः-मघवानः-आसन्) उस मेरी प्राप्ति के लिये अध्यात्म यज्ञ करने वाले उपासक हैं (वा-इत्) और (क्षेमे) उपासकों के कल्याणनिमित्त (आभु सन्तम्) आक्रमणकारी महान् पाप या पापी को (जिनामि) निर्बल करता हूँ—दबाता हूँ (तं पादगृह्य पर्वते प्रक्षिणाम्) उसे पैरों में बांध जैसे निष्क्रिय करके पर्ववाले विषमस्थान—गहन कष्टमय स्थान में फेंकता हूँ—नष्ट करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा के बल अनन्त हैं जो कि मनुष्यों द्वारा न जानने योग्य हैं। अध्यात्म यज्ञ करने वाले उपासक उसे जानते हैं—मानते हैं। उनके कल्याण के निमित्त आक्रमणकारी पाप और पापी को अपने अज्ञात बलों से वह नष्ट भ्रष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये ।
मम स्वनात्कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून्किरणः समेजात् ॥ ५ ॥

न । वै । ऊँ इति । माम् । वृजने । वारयन्ते । न । पर्वतासः । यत् । अहम् । मनस्ये । मम । स्वनात् । कृधुऽकर्णः । भयाते । एव । इत् । अनु । द्यून् । किरणः । सम् । एजात् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(न वा-उ) नैव (वृजने) बलप्रसङ्गे (मां वारयन्ते) मां केचिदपि निवारयन्ते बलप्रदर्शनान्निवृत्तं कर्त्तुं शक्नुवन्ति (यत्-अहं मनस्ये) यत् खल्वहं कर्त्तुमिच्छामि तस्मात् (पर्वतासः-न) पर्वताः पर्वतसदृशा बलवन्तो नावरोद्धुं समर्थाः (मम स्वनात्) मम—आदेशाच्छासनात् (कृधुकर्णः-भयाते-एव-इत्) अल्पकर्णः—अल्पेन्द्रियशक्तिकः पापिजनः "*कृधिवति ह्रस्वनाम*" [*निरु० ६ । ३*] बिभेति (किरणः-अनुद्यून् समेजात्) किरणवान् सूर्यः "अकारो मत्वर्थीयोऽत्र" सर्वदिनानि प्रति "*द्युः-अहर्नाम*" [*निघं० १ । ६*] सम्यक् स्वगतिं करोति स्वकार्यं करोति प्रकाशते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(न वा-उ) न ही (वृजने) बल प्रसंग में (मां वारयन्ते) कोई भी मुझे बल प्रदर्शन से हटा सकते हैं (यत्-अहं मनस्ये) जो मैं करना चाहता हूँ उससे (पर्वतासः-न) पर्वत समान बल वाले भी रोकने में समर्थ नहीं है (मम स्वनात्) मेरे आदेश से—शासन से (कृधुकर्णः-भयाते-एव-इत्) अल्पकान वाला—अल्पेन्द्रियशक्ति वाला पापी जन भय

करता ही है (किरणः-अनुद्यून् समेजात्) प्रचण्ड किरणों वाला सूर्य भी प्रतिदिन–दिनोंदिन सम्यक् गति करता है–अपना कार्य करता है–प्रकाश करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा को उसके बल प्रदर्शन से कोई हटा नहीं सकता। पर्वत जैसे महान् बलवान् भी उसको रोक नहीं सकते। सूर्य भी उसके अधीन चमकता है प्रकाश देता है और अल्पशक्ति वाला जीवात्मा उससे भय खाता है–कर्मों के अनुसार फलों को भोगता ही है ॥ ५ ॥

दर्शन्न्वत्र शृतपाँ अनिन्द्रान्बाहुक्षदः शरवे पत्यमानान् ।
घृषुं वा ये निनिदुः सखायमध्यू न्वेषु पवयो ववृत्युः ॥ ६ ॥

दर्शम् । नु । अत्र । शृतऽपान् । अनिन्द्रान् । बाहुऽक्षदः । शरवे । पत्यमानान् । घृषुम् । वा । ये । निनिदुः । सखायम् । अधि । ऊँ इति । नु । एषु । पवयः । ववृत्युः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अत्र) अस्मिन् बलप्रयोगप्रसंगे (शरवे पत्यमानान्) हिंसकशस्त्रक्षेपणहेतवे प्रयतमानान्–आक्रमणकारिणः (अनिन्द्रान्) इन्द्रं माममन्यमानान् नास्तिकान् (शृतपान्) अन्येषां पक्वानि परिपुष्टानि मांसरक्तादीनि ये पिबन्ति-भक्षयन्ति तान् "शृतं पाके" [अष्टा० ६ । १ । २७] (दर्शम्) पश्यामि (वा) अथ च (घृषुं सखायम्) तैर्नास्तिकैर्दुष्टैः सह संघर्षयितारं सखायमास्तिकं जनं चापि पश्यामि (ये निनिदुः) ये मां निन्दन्ति–न स्तुवन्ति-कृतघ्नतां कुर्वन्ति (एषु) एतेषु (उ नु) अवश्यं क्षिप्रम् (पवयः-ववृत्युः) मम वज्राः "*पविः-वज्रनाम*" [*निघ०* २ । २०] वर्त्तन्ते–प्रवर्त्तन्ते–पतन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अत्र) इस बलप्रयोग प्रसंग में (शरवे पत्यमानान्) हिंसक बाण फेंकने के हेतु प्रयत्न करते हुए–आक्रमणकारी (अनिन्द्रान्) मुझ इन्द्र परमात्मा के न मानने वाले–नास्तिक (शृतपान्) दूसरों के मांस रक्तादि पीने खाने वालों को (दर्शम्) मैं देखता हूँ–जानता हूँ। (वा) और (घृषु सखायम्) उन नास्तिक दुष्टों के साथ संघर्ष करने वाले सखा–आस्तिक जन को भी देखता हूँ–जानता हूँ। (ये निनिदुः) जो मेरी निन्दा करते हैं मेरी स्तुति नहीं करते हैं–कृतघ्नताका आचरण करते हैं (एषु) इनके ऊपर (उ नु) अवश्य शीघ्र (पवयः-ववृत्युः) मेरे वज्र गिरते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—नास्तिक आक्रमणकारी दूसरों का रक्त, मांस पीने खाने वाले जनों को परमात्मा देखता है–जानता है और उनका विरोध करने वाले आस्तिक जन को भी जानता है, वह सर्वज्ञ परमात्मा दुष्टों पर प्रहार करता है ॥ ६ ॥

अभूर्वौक्षीर्व्यु१ आयुरानड् दर्षन्नु पूर्वो अपरो नु दर्षत् ।
द्वे पवस्ते परि तं न भूतो यो अस्य पारे रजसो विवेष ॥ ७ ॥

अभूः । ॐ इति । औक्षीः । वि । ॐ इति । आयुः । आनट् । दर्षत् । नु । पूर्वः । अपरः । नु । दर्षत् । द्वे इति । पवस्ते इति । परि । तम् । न । भुतः । यः । अस्य । पारे । रजसः । विवेष ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अभूः-उ-औक्षीः) अनुत्पन्नपरमात्मन् ! त्वमेव संसार-बीजमव्यक्तं प्रकृत्याख्यं सिञ्चसि तथा (आयुः-आनट्) आयुष्मन्तं जीवनवन्तं जीवन-धारणस्वभावकमात्मानम्, 'अत्र मतुब्लोपश्छान्दसः' व्याप्नोषि, तत्र व्याप्तोऽसि, अतएव (दर्षत्-नु पूर्वः) त्वं पूर्वः प्रथमतः क्षिप्रं तत् संसारबीजमव्यक्तं दृणासि, छिन्नभिन्नं करोषि 'पुरुषव्यत्ययः' (अपरः-नु दर्षत्) अन्यस्तद्बीजं किमु तद्बीजं दृणाति–इति वितर्कः, नैवापरो दृणाति "नु वितर्के" [अव्ययार्थनिबन्धनम्] (यः-अस्य रजसः पारे विवेष) अस्य संसारस्य तद्बीजस्य वा पारेऽपि व्याप्नोषि 'पुरुषव्यत्ययः' (तं द्वे पवस्ते न परिभूतः) तं त्वां परमात्मानं ये द्वे प्रापणशीले जडचेतनात्मके जीवप्रकृती न परिभवतः । त्वमेव ते उभे परिभवसि त्वमेव संसारबीजं विभक्तं करोषि, त्वमेव जीवनवन्तं व्याप्नोषि तत्र व्याप्य कर्मफलं प्रयच्छसि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अभूः-उ-औक्षीः) हे स्वयम्भू परमात्मन् ! तू ही संसार के बीज भूत अव्यक्त प्रकृति को सींचता है तथा (आयुः-आनट्) आयु वाले–जीवन धारण के स्वभाव वाले आत्मा को व्याप्त है इसीलिये (दर्षत्-नु-पूर्वः) तू प्रथम से तुरन्त संसार-बीज अव्यक्त प्रकृति को छिन्न भिन्न–विभक्त करता है (अपरः-नु दर्षत्) अन्य उस बीज को क्या कोई छिन्न भिन्न कर सकता है अर्थात् नहीं (यः-अस्य रजसः पारे विवेष) जो इस संसार तथा संसार के बीज रूप प्रकृति के पार–बाहर भी व्याप्त हो रहा है (तं द्वे पवस्ते न परिभूतः) उस तुझ परमात्मा को वे दोनों प्रापणशील आश्रय पाने वाले जड़ प्रकृति और चेतन जीवात्मा स्ववश नहीं कर सकते तू ही उन दोनों को स्ववश करता है । तू ही संसार के बीज प्रकृति को विभक्त करता है और तू ही जीवात्मा को व्याप्त है तथा व्याप्त होकर कर्म फल को प्रदान करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा संसार के बीज रूप अव्यक्त प्रकृति को सींचता है । अपनी शक्ति से सींचकर वृक्ष बनाता है और जीवन धारण वाले आत्मा को भी व्याप्त होता है । जो परमात्मा संसार तथा प्रकृति के भी बाहर है । इन दोनों प्रकृति और जीवात्मा को स्ववश किये हुए है । इसीलिये वह प्रकृति को विभक्त कर संसार को बनाने में और जीवात्मा को कर्म फल देने में समर्थ है ॥ ७ ॥

गावो यवं प्रयुता अर्यो अक्षन् ता अपश्यं सहगोपाश्चरन्तीः ।
हवा इदर्यो अभितः समायन्कियदासु स्वपतिश्छन्दयाते ॥ ८ ॥

गावः । यवम् । प्रऽयुताः । अर्यः । अक्षन् । ताः । अपश्यम् । सहऽगोपाः । चरन्तीः । हवाः । इत् । अर्यः । अभितः । सम् । आयन् । कियत् । आसु । स्वऽपतिः । छन्दयाते ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रयुताः-गावः- यवम्-अक्षन्) प्रकृष्टभावेन मिश्रिता गावो धेनवो घासं खादन्ति (ताः-सहगोपाः-चरन्तीः-अर्यः-अपश्यम्) ता गोपालेन सह चरन्तीरहं स्वामी जगदीशः पश्यामि (ह्वाः-इत् अर्यः-अभितः-सम्-आयन्) ता ह्वानार्हा गावः-अयं स्वामिनं सर्वतः समागच्छन्ति (आसु कियत् स्वपतिः-छन्दयाते) आसु गोषु स्वपतिर्गोपतिः कियत् कतिविधं स्नेहकार्यं भावयति, इति तद्वदहमर्यः परमात्मा स्वस्तोतॄन् स्नेहेन गोपरूपेण सम्मेलनं भुञ्जानान् पश्यामि ते स्तोतारोऽपि मां स्वामिनमाश्रिता भवन्ति-इत्यपि खल्वहं रक्षणं ददामि ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रयुताः-गावः-यवम्-अक्षन्) उत्तम रुचि से युक्त हो गौएँ घास खाती हैं (ताः-सहगोपाः- चरन्तीः-अर्यः-अपश्यम्) गोपाल सहित चरती हुई गौओं को मैं स्वामी—जगदीश देखता हूँ—जानता हूँ (ह्वाः-इत्-अर्यः-अभितः-सम्-आयन्) वे पुकारने योग्य-पुकारी जाती हुई गौएँ गोपालक स्वामी के सब ओर से पास आ जाती हैं (आसु कियत् स्वपतिः-छन्दयाते) इन गौओं में गोपालक कितने ही स्नेह व्यवहारों को भावित करता है—प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार मैं सब का स्वामी परमात्मा स्नेह से समागम लाभ करने वाले अपने स्तोता जनों को देखता हूं। वे स्तुति करने वाले भी मुझ स्वामी के आश्रित होते हैं। मैं उन्हें रक्षण प्रदान करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—गौएँ जैसे चरती हुई अपने गोपाल स्वामी द्वारा पुकारी जाती हुई उसके पास पहुँचती हैं। वह उन्हें अनेक प्रकार के स्नेह भाव प्रदर्शित करता है। उसी प्रकार स्तुति करने वाले उपासक जन परमात्मा के प्रति स्नेह भाव को रखते हुए व उसके स्नेह के भागी बनते हैं ॥ ८ ॥

सं यद्वयं यवसादो जनानामहं यवाद उर्वज्रे अन्तः ।
अत्रा युक्तोऽवसातारमिच्छादथो अयुक्तं युनजद्ववन्वान् ॥ ९ ॥

सम् । यत् । वयम् । यवसऽअदः । जनानाम् । अहम् । यवऽअदः । उरुऽअज्रे । अन्तरिति । अत्र । युक्तः । अवऽसातारम् । इच्छात् । अथो इति । अयुक्तम् । युनजत् । ववन्वान् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जनानाम्) जन्यमानानां मध्ये (यत्-वयं यवादः) यतो वयमन्नभोक्तारो मनुष्या "यवं दुहन्ता अन्नं दुहन्तो [निरु० ६ । २६] (यवसादः) घासस्य भोक्तारो गवादयः पशवश्च तेषां सर्वेषां (उर्वज्रे-अन्तः) महत्प्रापणस्थाने-अन्तः-हृदये (अहम् सम्) अहं परमात्मा सम्यग् विराजे (अत्र युक्तः) अत्र हृदये युक्तः सन् (अवसातारम्-इच्छात्) सहयोगभाजिनमुपासक इच्छेत् (अथो) अथ च (ववन्वान्) सम्भजमानः सम्भजनहेतोः (अयुक्तं युनजत्) अयोगिनं योगमनपेक्षमाणं मनो योजयेत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(जनानाम्) उत्पन्न हुओं के मध्य में (यत्-वयं यवादः) जिससे कि हम अन्न खाने वाले मनुष्य (यवसादः) घास खाने वाले गौ आदि पशु हैं—उन सबके (उर्वज्रे-अन्तः) महान् प्राप्ति स्थान हृदय में (अहम्-सम्) मैं परमात्मा सम्यक् विराजमान हूं। (अत्र युक्तः) इस हृदय में युक्त हुआ हूं (अवसातारम्-इच्छात्) मुझ सहयोगी परमात्मा की उपासक इच्छा करे (अथो) और (ववन्वान्) सङ्ग को चाहता हुआ—चाहने के हेतु (अयुक्तं युनजत्) योग में न लगे अर्थात् अस्थिर मन को युक्त करे ॥ ९ ॥

भावार्थ—उत्पन्न हुए प्राणियों, अन्न खाने वाले मनुष्यों और घास खाने वाले पशुओं के हृदय में परमात्मा विराजमान है। उस सहयोगी परमात्मा को समागमार्थ चाहे और मनको उसके अन्दर जोड़े—लगावे ॥ ९ ॥

अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विपाच्च यच्चतुष्पात्संसृजानि ।
स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो अस्य वि भजानि वेदः ॥ १० ॥

अत्र । इत् । ऊँ इति । मे । मंससे । सत्यम् । उक्तम् । द्विऽपात् । च । यत् । चतुःऽपात् । सम्ऽसृजानि । स्त्रीभिः । यः । अत्र । वृषणम् । पृतन्यात् । अयुद्धः । अस्य । वि । भजानि । वेदः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अत्र-इत्-उ) अस्मिन् वर्त्तमाने जन्मन्येवावश्यम् (मे-उक्तं सत्यं मंससे) मम-उक्तं सत्यवचनं त्वं जानासि (यत् द्विपात्-च चतुष्पात्) यत् द्विपात् तथा चतुष्पात् प्राणी वर्त्तते (संसृजानि) सर्वमहं परमात्मा-उत्पादयामि (अत्र यो वृषणं पृतन्यात्) अस्मिन् संसारे यो मां बलवन्तं प्रति शत्रुतामाचरेत् सः (स्त्रीभिः) स्त्रीभिरिव बलहीनैः पुरुषैः समानोऽस्ति। (अयुद्धः-अस्य वेदः-वि भजानि) अहं युद्धं न कुर्वन्नप्यस्य धनबलादिकं विभक्तमर्थात् तस्मात् पृथक् करोमि ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अत्र-इत्-उ) इस जन्म में ही निश्चय (मे-उक्तं सत्यं मंससे) मेरे उक्त सत्य वचन को तू जानता है (यत् द्विपात्-च चतुष्पात्) दो पैर वाला और चार पैर वाला जो प्राणी है (संसृजानि) उस सबको मैं परमात्मा उत्पन्न करता हूँ। (अत्र यो वृषणं पृतन्यात्) इस संसार में मुझ बलवान् के प्रति जो शत्रुता करता है वह (स्त्रीभिः) स्त्रियों-बलहीन पुरुषों के समान है (अयुद्धः-अस्य वेदः-वि भजानि) मैं युद्ध न करते हुए भी इसके धन बलको उससे अलग कर देता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य को यह बात निश्चय जाननी चाहिये कि दो पैर वाले और चार पैर वाले सभी प्राणी मात्र को परमात्मा उत्पन्न करता है। जो उस के प्रति विरोध करता है वह उसे धन और बल से विहीन कर देता है ॥ १० ॥

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां विद्वाँ अभि मन्याते अन्धाम् ।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते य ईं वहाते य ईं वा वरेयात् ॥ ११ ॥

यस्य । अनक्षा । दुहिता । जातु । आस । कः । ताम् । विद्वान् । अभि । मन्याते । अन्धाम् । कतरः । मेनिम् । प्रति । तम् । मुचाते । यः । ईम् । वहति । यः । ईम् । वा । वरेऽयात् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य-अनक्षा दुहिता-जातु-आस) यस्याश्रये-अक्षिहीना-द्रष्टृशक्तिहीना-ज्ञानशून्या प्रकृतिर्दुहिता जीववर्गीय विविधभोगानां दोग्ध्री सा कदाचित् प्रलयकाले ह्यासीत् (ताम्-अन्धाम्-कः-विद्वान्-अभि मन्याते) तामन्धामिव प्रकृतिं को विद्वानभिजानाति-सर्वथा जानाति न कश्चनेत्यर्थः (कतरः-तं मेनिं प्रति मुचाते) तं वज्ररूपम् *"मेनिः-वज्रनाम"* [*निघ० २ । २०*] प्रति मुचाते-त्यजति-त्यजेत् (यः-ईं वहति) य एव वोढुं समर्थो भवति (यः-ईं वा वरेयात्) यश्च खलु स्वाधीने वृणुयात्-वर्त्तुं शक्नुयात् ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य-अनक्षा दुहिता) जिसके आश्रय नेत्र-हीन दर्शनशक्तिहीन-ज्ञान-शून्य जीवमात्र के लिये भांति-भांति के भोगो को दोहने वाली प्रकृति (जातु-आस) किसी समय अर्थात् प्रलय काल में वर्त्तमान थी (ताम्-अन्धां कः-विद्वान्-अभि मन्याते) उस अन्धी जैसी प्रकृति को कौन सर्वथा जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता । (कतरः-तं मेनिं प्रति मुचाते) कौन ही उस वज्र जैसी प्रकृति से मुक्त होवे (यः-ईं वहति) जो इसको वहन-सहन करने में समर्थ होता है (यः-ईं वा वरेयात्) जो इसे स्वाधीन रखे-रखने में समर्थ हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—ज्ञान-शून्य प्रकृति जीवमात्र के लिये विविध भोगों का दोहन करती है । जो प्रलय काल में अपने रूप में रहती है, उसे कोई विद्वान् स्वरूपतः ठीक-ठीक नहीं जान सकता और न उससे मुक्त हो सकता है । उसके बन्धन में प्रत्येक जीव रहता है, परन्तु जो उसको ठीक सहन करने में समर्थ होता है, वह ही उससे मुक्त हो सकता है ॥ ११ ॥

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥ १२ ॥

कियती । योषा । मर्यतः । वधूऽयोः । परिऽप्रीता । पन्यसा । वार्येण । भद्रा । वधूः । भवति । यत् । सुऽपेशाः । स्वयम् । सा । मित्रम् । वनुते । जने । चित् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कियती योषा) काचित् स्त्री भवति यत् (वधूयोः-मर्यतः) वध्वाः कांक्षिणो जनस्य (पन्यसा वार्येण परिप्रीता) गुणप्रशंसया वरणीयेन धनादिना

परिसन्तुष्टा स्यात् (भद्रा वधूः-भवति) कल्याणी वधूस्तु सा भवति (यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं जने चित्-वनुते) यतः सुरूपा स्वयं पतिं वृणुते जनसमुदाये हि ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(कियती योषा) कोई स्त्री विवाह योग्य होती है जो (वधूयोः-मर्यतः) वधू चाहने वाले वर की (पन्यसा वार्येण परिप्रीता) गुणप्रशंसा वरने योग्य धन आदि से सन्तुष्ट हो जाती है (भद्रा वधूः-भवति) कल्याण को प्राप्त होने वाली वह वधू होती है (यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं जने चित् वनुते) कि जो सुन्दररूप आभूषण युक्त जनसमुदाय में स्वयं वर को वरती है ॥ १२ ॥

भावार्थ—वह वधू भाग्यशालिनी है जो वधू को चाहने वाले वर की प्रशंसा-भाजन अन्य वस्तुओं द्वारा सन्तुष्ट रहती है और सुभूषित हुई जन समुदाय में वर को वरती है ॥ १२ ॥

पत्तो जंगार प्रत्यञ्चमत्ति शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम् ।
आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति न्यङ्ङुत्तानामन्वेति भूमिम् ॥ १३ ॥

पत्तः । जगार । प्रत्यञ्चम् । अत्ति । शीर्ष्णा । शिरः । प्रति । दधौ । वरूथम् । आसीनः । ऊर्ध्वाम् । उपसि । क्षिणाति । न्यङ् । उत्तानाम् । अनु । एति । भूमिम् ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पत्तः) पादमात्रतः *"वैश्वानरः प्रथमः पादस्तैजसो द्वितीयः पादः प्राज्ञः तृतीयपादः-नान्तःप्रज्ञं....एकात्म प्रत्ययसारं....अद्वैतं चतुर्थपादं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"* [*माण्डूक्योपनिषदि*] (जगार) उपासकैर्गृह्यते *"कर्मणि कर्तृप्रत्ययश्छान्दसः"* (प्रत्यञ्चम्-अत्ति) प्रत्यक्तं प्रकटीकृतं जगत् पुनर्विलीनं करोति *"अत्ता चराचरग्रहणात्"* [*वेदान्त*] (शीर्ष्णा शिरः) आत्मना *"शीर्ष्णा आत्मना"* [*जै० २ । ४६*] शिरोभूत-मव्यक्तं प्रकृत्यात्मकम् (वरूथं प्रतिदधौ) वरणीयं स्वव्याप्यं पुनर्धारयति (ऊर्ध्वाम्-आसीनः) ऊर्ध्वभूमिं मोक्षभूमिं व्याप्तः सन्नपि (उपसि) उपस्थाने *"उपसि उपस्थे-उपस्थाने"* धारयन् (क्षिणाति) जगद्रूपे परिणमति (उत्तानां भूमिं न्यङ्-अन्वेति) उच्चभूमिं-उच्चस्थितिं कारणरूपां नीचैरनुगमयति जगद्रूपे प्रेरयति ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पत्तः) पादमात्र अर्थात् वैश्वानर जागृत स्थान प्रथम पाद तैजस स्वप्न स्थान दूसरा पाद प्राज्ञ सुषुप्ति स्थान तीसरा पाद नेतिनेति एकात्मस्वरूप शिव अद्वैत चतुर्थ पाद, परमात्मा चतुर्थ पाद रूप से (जगार) उपासकों द्वारा अपने अन्दर प्राप्त किया जाता है वह परमात्मा (प्रत्यञ्चम्-अत्ति) प्रकट हुए जगत् को अपने अन्दर विलीन करता है (शीर्ष्णा शिरः) आत्मा से शिरोभूत अव्यक्त प्रकृति (वरूथं प्रतिदधौ) वरणीय अपने व्याप्त को फिर धारण करता है (ऊर्ध्वाम्-आसीनः) उत्कृष्ट मोक्ष को व्याप्त हुआ (उपसि) उपस्थान में धारण करता हुआ (क्षिणाति) जगद्रूप में परिणत करता है (उत्तानां भूमि न्यङ्-अन्वेति) ऊँची भूमि ऊँची स्थिति वाली सूक्ष्म कारण प्रकृति को नीचे जगद्रूप में प्रेरित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—उपासक जन परमात्मा को जागृत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय स्थान वाले स्वरूप से अनुभव करते हैं। वह परमात्मा उत्पन्न जगत् को विलीन कर प्रकृति रूप में कर देता है पुनः उस व्याप्त प्रकृति को अपने आश्रय जगद्रूप में परिणत कर देता है ॥ १३ ॥

बृहन्नच्छायो अपलाशो अर्वा तस्थौ माता विषितो अत्ति गर्भः ।
अन्यस्या वत्सं रिहती मिमाय कया भुवा नि दधे धेनुरूधः ॥ १४ ॥

बृहन् । अच्छायः । अपलाशः । अर्वा । तस्थौ । माता । विऽसितः । अत्ति । गर्भः । अन्यस्याः । वत्सम् । रिहती । मिमाय । कया । भुवा । नि । दधे । धेनुः । ऊधः ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहन्) महान् परमात्मा (अच्छायः) छायारहितः-केवलः (अपलाशः) पलाशनं फलाशनं तद्रहितः (अर्वा) सर्वत्र गतिशीलो व्याप्तः (माता) मातृभूतो निर्माता (विषितः) निर्बन्धनः (तस्थौ) तिष्ठति (गर्भः-अत्ति) सर्वं गृह्णाति अतएव सर्वमत्ति गृह्णाति (अन्यस्याः-वत्सं रिहती) अन्यस्या वत्सं चुम्बन्ती गौरिव (मिमाय) स्नेहेन शब्दयति (कया भुवा) कयाचिद् भावनया (धेनुः-ऊधः-निदधे) यथा धेनुर्गौः स्वकीयमूधो दुग्धधारमङ्गं निम्नं करोति वत्साय कृपयेति तद्वज्जीवं धारयति ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहन्) महान् परमात्मा (अच्छायः) छायारहित—केवल (अपलाशः) फलभोग से रहित (अर्वा) सर्वत्र प्राप्त (माता) मातृरूप—निर्माण करने वाला (विषितः) बन्धन रहित—असीम (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप में विराजमान है, तथा (गर्भः-अत्ति) सब को अपने अन्दर ग्रहण करने वाला होता हुआ प्रलय में अपने अन्दर सब को ले लेता है (अन्यस्याः वत्सं रिहती) दूसरे के बच्चे को चूमती हुई गौ के समान (मिमाय) स्नेह से शब्द करता है—वेद का प्रवचन करता है (कया भुवा) किसी आन्तरिक भावना से (धेनुः-ऊधः-निदधे) जैसे गौ अपने दूध भरे स्तन युक्त अङ्ग को बछड़े के लिये नीचे करती है ऐसे ही परमात्मा जीव को स्तनरूप स्वाश्रय में धारण करता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान् स्वसरूप में अनुपम केवल फलभोग से रहित सर्वत्र व्याप्त सब का निर्माता और अधिष्ठाता है। सब संसार को अपने अन्दर रखता है सबकी स्थिति का स्थापक है। जीवात्मा को अपने आश्रय में कर्मफल भोग कराता है ॥ १४ ॥

सप्त वीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्तात्समजग्मिरन् ते ।
नव पश्चातात्स्थिविमन्त आयन् दश प्राक्सानु वि तिरन्त्यश्नः ॥ १५ ॥

सप्त । वीरासः । अधरात् । उत् । आयन् । अष्ट । उत्तरात्तात् । सम् । अजग्मिरन् ।

ते । नव । पश्चातात् । स्थिविऽमन्तः । आयन् । दश । प्राक् । सानु । वि । तिरन्ति । अश्नः ॥ १५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सप्त वीरासः-अधरात्-उदायन्) विराड्रूपस्य परमात्मनः सप्त वीराः-गतिमन्तः पृथिव्यादयो लोकाः-अधरात् स्थूलावस्थानात्-उत्पन्नाः-उद्भूताः (उत्तरात्तात् समजग्मिरन् ते-अष्ट) सूक्ष्मरूपादष्ट वसवो वासयितारो देवा वायुप्रभृतयः सर्वत्र प्रवहमाणास्ते सञ्जाताः (पश्चातात्-स्थिविमन्तः-नव-आयन्) पश्चिमतो नव ग्रहाश्चन्द्रादयः स्थितिमन्तः-आधारमपेक्षमाणाः प्रकटीभावमागच्छन् (दश-अश्नः प्राक् सानु वितिरन्ति) दश व्याप्ताः प्राक्तः पूर्वाद्या दिशः सम्भजनीयं स्थानमात्रं विभावयन्ति ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(सप्त वीरासः-अधरात्-उदायन्) विराड् रूप परमात्मा के रचित गतिमान् पृथिव्यादि लोक स्थूल रूप में प्रकट हुए हैं (उत्तरात्तात् ते अष्ट समजग्मिरन्) सूक्ष्म रूप में वे आठ वसु—वसाने वाले देव वायु आदि सर्वत्र वहने वाले उत्पन्न हुए (पश्चातात्-नव स्थिविमन्तः-आयन्) पश्चात् नौ ग्रह चन्द्र आदि आधार को अपेक्षित करने वाले प्रकटीभाव को प्राप्त हुए (दश-अश्नः प्राक् सानु वितिरन्ति) दश व्याप्त पूर्व से पूर्वादि दिशायें स्थानमात्र को विकसित करती हैं—आश्रय देती हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने घूमने वाले पृथिवी आदि लोकों को वायु आदि सूक्ष्म वसवों को चन्द्र आदि आश्रय पाने वाले ग्रहों और दूसरों को आश्रय देने वाली दिशाओं को उत्पन्न कर धारा हुआ है ॥ १५ ॥

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय ।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति ॥ १६ ॥

दशानाम् । एकम् । कपिलम् । समानम् । तम् । हिन्वन्ति । क्रतवे । पार्याय । गर्भम् । माता । सुऽधितम् । वक्षणासु । अवेनन्तम् । तुषयन्ती । बिभर्ति ॥ १६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दशानाम्-एकं-कपिलं समानम्) दशानामिन्द्रियाणामेकं कमनीयम् *"कमेः पश्च" [उणा० १ । ५५]* समानभावेन वर्त्तमानमात्मानम् (तं पार्याय क्रतवे हिन्वन्ति) तं पारे भवाय मोक्षाय संसारे कर्मकरणाय च प्रेरयन्ति (वक्षणासु माता गर्भं सुधितम्-अवेनन्तम्) शरीरनदीषु नाडीषु *"वक्षणाः-नदीनाम" [निघ० १ । १३]* प्रकृतिर्माता गर्भं सुहितं सुधृतं वा गमनेऽकामयमानम् ((तुषयन्ती बिभर्ति) तोषयन्ती धारयति ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(दशानाम्-एकं कपिलं समानं तम्) दशों इन्द्रियों का एक कमनीय समान भाव से वर्त्तमान उस आत्मा को (पार्याय क्रतवे हिन्वन्ति) परे वर्त्तमान—मोक्ष के लिये

और संसार में कर्म करने के लिये वे इन्द्रियाँ प्रेरित करती हैं (वक्षणासु-माता गर्भं सुधितम्-अवेनन्तम्) नाड़ियों में प्रकृति माता गर्भ रूप में भली भान्ति प्राप्त हुए—शरीर से न निकलने की कामना करते हुए को (तुषयन्ती बिभर्ति) सन्तुष्ट करती हुई धारण करती है ।। १६ ।।

भावार्थ—इन्द्रियों का इष्टदेव आत्मा है, उसे वे अपवर्ग—मोक्ष, भोगार्थ कर्म करने के लिये प्रेरित करती हैं। शरीर की नाडियों और भिन्न—भिन्न अंगो में प्रकृति स्थान देती है शरीर को न छोड़ने की इच्छा रखने वाले उस आत्मा को प्रकृति सन्तोष देती हुई धारण करती है ।।१६।।

पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन् ।
द्वा धनुं बृहतीमप्स्व१न्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता ॥ १७ ॥

पीवानम् । मेषम् । अपचन्त । वीराः । निऽउप्ताः । अक्षाः । अनु । दीवे । आसन् । द्वा । धनुम् । बृहतीम् । अपऽसु । अन्तरिति । पवित्रऽवन्ता । चरतः । पुनन्ता ॥ १७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वीराः) दश प्राणाः *"प्राणा वै दश वीराः"* [*श० १२ । १ । ८ । २२*] (अक्षाः-अनु) इन्द्रियाणि-अनु *"अक्षाः इन्द्रियाणि"* [*मं० ४ । ५ । ६*] (दिवे न्युप्ताः-आसन्) रमणस्थाने शरीरे क्षिप्ताः-अन्तर्हिताः सन्ति (मेषं पीवानम्-अपचन्त) इन्द्रमात्मानम् *"इन्द्रस्य मेषस्य"* [*काठ० १२ । २१*] पुष्टं पूर्णशरीरवन्तं कुर्वन्ति (द्वा) द्वौ प्राणापानौ (बृहतीं धनुम्) महतीं तनुम् (अप्सु-अन्तः) देहजलेषु (पुनन्ता पवित्रवन्ता चरतः) पवित्रयन्तौ पवित्रभूतौ चरतः ॥ १७ ॥

भाषान्वयार्थ—(वीराः) दशप्राण (अक्षाः-अनु) इन्द्रियों के सहित (दिवं न्युप्ताः-आसन्) रमणस्थान शरीर में रखे गये हैं। (मेषं पीवानम्-अपचन्त) आत्मा को पूर्णाङ्गवाला करते हैं। (द्वा) दोनों प्राण और अपान (बृहतीं धनुम्) महान् देह को (अप्सु-अन्तः) देह जलों में (पुनन्ता पवित्रवन्ता चरतः) पवित्र करते हुए पवित्ररूप विचरते हैं ।। १७ ।।

भावार्थ—आत्मा जब शरीर में आता है तब प्रथम दशों प्राण प्राप्त होते हैं। उनके पीछे इन्द्रियों का विकास होता है और शरीर सर्वाङ्गों से पूर्ण हो जाता है। अन्दर के रसों को पवित्र करते हुए स्वयं पवित्र स्वरूप प्राण—अपान—श्वास—प्रश्वास चलते हैं ।। १७ ।।

वि क्रोशनासो विष्वञ्च आयन् पचाति नेमो नहि पक्षदर्धः ।
अयं मे देवः सविता तदाह द्र्वन्न इद्वनवत्सर्पिरन्नः ॥ १८ ॥

वि । क्रोशनासः । विष्वञ्चः । आयन् । पचाति । नेमः । नहि । पक्षत् । अर्धः । अयम् । मे । देवः । सविता । तत् । आह । द्रुऽअन्नः । इत् । वनवत् । सर्पिःऽअन्नः ॥ १८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वि क्रोशनासः-विष्वञ्चः-आयन्) विविधप्रकारेण परमात्मानमाह्वयन्तः–भिन्नभिन्नमानसगतिका जीवा संसारे–आगच्छन्ति तेषु (नेमः पचाति) कश्चन वर्गः परमात्मज्ञानं स्वान्तरे पचति–आत्मसात् करोति (अर्धः-नहि पक्षत्) अर्धः कश्चन तेषु जीवेषु परमात्मज्ञानं न पचति न पक्तुं समर्थो भवति (अयं देवः सविता) एष उत्पादको देवः परमात्मा (तत्-मे-आह) तज्ज्ञानं स्वज्ञानं य-मह्यमुपदिशति (इत्) य एव (द्रु वन्नः सर्पिरन्नः) यो वनस्पति-फलान्नभोजी *"वनस्पतयो वै द्रुः"* [तै० ३ । १ । ८] घृतदुग्धादिभोजी खलूपासकः शुद्धाहारः स तं परमात्मानं तज्ज्ञानं वा (वनवत्) वनति सम्भजते ॥ १८ ॥

भाषान्वयार्थ—(वि क्रोशनासः-विष्वञ्चः–आयन्) विविध प्रकार से परमात्मा का आह्वान करते हुए भिन्न भिन्न मानसिक गति वाले जीव संसार में आते हैं–जन्म पाते हैं उनमें (नेमः पचाति) कोई वर्ग परमात्मज्ञान को अपने अन्दर आत्मसात् करता है (अर्धः-नहि पक्षत्) कोई वर्ग परमात्म ज्ञान को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं होता (अयं देवः सविता) यह उत्पादक देव परमात्मा (तत्-मे-आह) उस ज्ञान को मेरे लिये कहता है (इत्) जो ही (द्रुवन्नः सर्पिरन्नः) जो वनस्पति फल अन्न का खाने वाला तथा घृत दूध आदि का भोक्ता उपासक शुद्धाहारी वह परमात्मा को और उसके ज्ञान को (वनवत्) सम्यक् सेवन करता है ॥१८॥

भावार्थ—भिन्न भिन्न प्रकार के मानसिक गतिवाले जन विविध प्रकार से परमात्मा को पुकारते हुए या उसकी प्रार्थना करते हुए संसार में जन्म पाते हैं। कुछ परमात्मा और उसके ज्ञान को अपने अन्दर धारण कर पाते हैं और कुछ नहीं। उत्पादक परमात्मा अपने ज्ञान का उपदेश करेगा ऐसी आशा रखता हुआ कोई आत्मा आता है। दूध घृत वनस्पति फल अन्न का भोक्ता सात्विक आहारी जन परमात्मा के ज्ञान को आत्मसात् करता है ॥ १८ ॥

अपश्यं ग्रामं वहमानमारादचक्रया स्वधया वर्त्तमानम् ।
सिषक्त्यर्यः प्र युगा जनानां सद्यः शिश्ना प्रमिनानो नवीयान् ॥ १९ ॥

अपश्यम् । ग्रामम् । वहमानम् । आरात् । अचक्रया । स्वधया । वर्त्तमानम् । सिसक्ति । अर्यः । प्र । युगा । जनानाम् । सद्यः । शिश्ना । प्रऽमिनानः । नवीयान् ॥ १९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अचक्रया स्वधया वर्त्तमानम्) चक्ररहितया खल्वेकदेशिगतिरहित या सर्वत्र गतिमत्या स्वधारणया विभुप्रवृत्त्या वर्त्तमानम् (ग्रामं वहमानम्-आरात्-अपश्यम्) जडजङ्गमग्रामं चराचरसमूहं संसारं वहन्तं परमात्मानमहमाराद् दूराद् यद्वा समीपात् *"आराद् दूरसमीपयोः"* [*अव्ययार्थनिबन्धनम्*] पश्यामि अन्तर्दृष्ट्या जानामि (नवीयान् सद्यः शिश्ना प्रमिनानः) प्रथमतः पूर्णशक्तिमान् सन् जायमानानां शिश्नानि गुप्तेन्द्रियाणि सद्यः प्रमिनानः प्रगमयन्-प्रकटयन् *"मिनाति गतिकर्मा"* [निघं० २ । ४]

(जनानां युगा-अर्यः प्रसिषक्ति) जायमानानां युगानि युग्मानि प्रकर्षेण समवयति संयुक्तानि करोति ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अचक्रया स्वधया वर्त्तमानम्) चक्ररहित एकदेशी गति रहित अर्थात् सर्वत्र गति वाली स्वधारणा व्यापक प्रवृत्ति से वर्त्तमान (ग्रामं वहमानम्-आरात्-अपश्यम्) जड़ जंगम समूह को–संसार को वहन करते हुए परमात्मा को दूर से भी या समीप से ही आन्तरिक दृष्टि से जानता हूँ (नवीयान् सद्यः शिश्ना प्रमिनानः) प्रथम से ही पूर्ण शक्तिमान् होता हुआ उत्पन्न होने वाले प्राणियों की गुप्त इन्द्रियों को तुरन्त प्राप्त कराता हुआ–प्रकट करता हुआ (जनानां युगा-अर्यः प्रसिषक्ति) जायमान उत्पन्न होने वाले प्राणियों के युगलों स्त्री पुरुषों को भली भाँति नियुक्त करता है–नियत करता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी विभुगति से जड़-जङ्गम-प्राणिसमूहरूप संसार को चलाता है और वह प्रथम से ही उत्पन्न होने वाले प्राणियों के गुप्त इन्द्रियों को प्रकट करता हुआ स्त्री पुरुष रूप से युगलों को नियत करता है। जिससे कि प्राणी-संसार चले–चलता रहे ॥ १६ ॥

एतौ मे गावौ प्रमरस्य युक्तौ मो षु प्र सेधीर्मुहुरिन्ममन्धि ।
आपश्चिदस्य वि नशन्त्यर्थं सूरश्च मर्क उपरो बभूवान् ॥२० ॥

एतौ । मे । गावौ । प्रऽमरस्य । युक्तौ । मो इति । सु । प्र । सेधीः । मुहुः । इत् । ममन्धि । आपः । चित् । अस्य । वि । नशन्ति । अर्थम् । सूरः । च । मर्कः । उपरः । बभूवान् ॥ २० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मे प्रमरस्य) मम मदीयस्य प्रकृष्टं मरणशीलस्य जीर्णधर्मणः शरीरस्य (एतौ गावौ युक्तौ) इमौ गतिमन्तौ शरीरे युक्तौ प्राणापानौ (मा-उ सु) नैव (मुहुः प्रसेधीः) हे परमात्मन् ! पुनः पुनर्देहात् पृथक् कुरु (ममन्धि) इत्थं मे प्रार्थनावचनं मन्यस्व (अस्य) मम प्रार्थयमानस्य (आपः-चित्) कामाः-खल्वपि *"आपो वै सर्वे कामाः"* [*श० १० । ५ । ४ । १५*] (अर्थं विनशन्ति) अर्थनीयं प्रार्थनीयं मोक्षं प्रति व्याप्नुवन्ति विशेषेण गच्छन्ति (मर्कः सूरः-च) शोधकः सूर्य इव मुख्य-प्राणश्च (उपरः-बभूवान्) मेघ इव *"उपराः-मेघनाम* [*निघ० १ । १०*] जीवनरससेचको भवतु ॥ २० ॥

भाषान्वयार्थ—(मे प्रमरस्य) मेरे मरणशील जीर्ण धर्म वाले शरीर के (एतौ गावौ युक्तौ) ये गतिशील शरीर में युक्त हुए प्राण अपानों को (मा-उ-सु) न ही (मुहुः प्रसेधीः) हे परमात्मन् ! बार बार देह से पृथक् कर (ममन्धि) तथा मेरे प्रार्थना-वचन को मान स्वीकार कर (अस्य) इस मुझ प्रार्थना करते हुए के (आपः-चित) कामनायें इच्छायें भी (अर्थं विनशन्ति) प्रार्थनीय मोक्ष के प्रति जा रही हैं (मर्कः सूरः-च) शोधक सूर्य की भाँति मुख्य प्राण भी (उपरः-बभूवान्) मेघ के समान जीवन रस का सींचने वाला हो ॥ २० ॥

भावार्थ—मरणधर्मशील प्राण अपान गति करते हैं। बारम्बार शरीर पृथक् होते रहते हैं। पुनः पुनः जन्म धारण करने के निमित्त बनते हैं। उपासक की आन्तरिक भावनायें पुनः पुनः शरीर धारण करने से बचकर मोक्ष को चाहती हैं॥ २०॥

अयं यो वज्रः पुरुधा विवृत्तोऽवः सूर्यस्य बृहतः पुरीषात्।
श्रव इदेना परो अन्यदस्ति तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति॥ २१॥

अयम्। यः। वज्रः। पुरुधा। विऽवृत्तः। अवः। सूर्यस्य। बृहतः। पुरीषात्। श्रवः। इत्। एना। परः। अन्यत्। अस्ति। तत्। अव्यथी। जरिमाणः। तरन्ति॥ २१॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-अयं वज्रः पुरुधा विवृत्तः) यः खल्वयं सर्वदुःखेभ्यो वर्जयिता "वज्रो वर्जयतीति सतः" [निरु० ३। ११] जीवनप्राणः बहुषु जीवेषु सर्वेषु जीवेषु विशेषेण प्रवृत्तोऽस्ति (सूर्यस्य बृहतः पुरीषात्) सूर्यसदृशस्य जगत्प्रकाशकस्य परमात्मनो महतः पालनधर्मात् (अवः) अवरमार्गात्–अस्मान्–प्राप्तः (इत्) अपि (एना परः-अन्यत्-श्रवः-अस्ति) एतस्मात् संसारात्–परमन्यद्–भिन्नं श्रवणीयं मोक्ष-जीवनमस्ति। (तत्) तन्मोक्षजीवनम् (अव्यथी जरिमाणः-तरन्ति) संसारेऽबाध्य-दोषरहिताः स्तोतारः जसुस्थाने सुः–व्यत्ययेन प्राप्नुवन्ति "जरति अर्चतिकर्मा" [निघ० ३। १४]॥ २१॥

भाषान्वयार्थ—(यः-अयं वज्रः पुरुधा विवृत्तः) जो यह दुःखों से छुड़ाने वाला जीवन-प्राण सब जीवों में विशेष रूप से रहता है। (सूर्यस्य बृहतः पुरीषात्) सूर्य सदृश जगत्प्रकाशक परमात्मा के महान् पालनधर्म से (अवः) अवर मार्ग से–संसार मार्ग से हमें प्राप्त हुआ (इत्) और (एना परः-अन्यत्-श्रवः-अस्ति) इस संसार मार्ग से परे अन्य श्रवणीय मोक्ष जीवन है (तत्) उस मोक्ष जीवन को (अव्यथी जरिमाणः-तरन्ति) संसार में अबाध्यमान–दोषरहित स्तुति करने वाले उपासक प्राप्त करते हैं॥ २१॥

भावार्थ—दुःखों से बचाने वाला जीवों के अन्दर जीवनप्राण होता है। सूर्य के समान जगत्प्रकाशक परमात्मा की कृपा से यह प्राप्त होता है। इससे ऊँचा मोक्ष जीवन है, जिसको दोष रहित स्तुति करने वाले उपासक प्राप्त किया करते हैं॥ २१॥

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥ २२॥

वृक्षेऽवृक्षे। निऽयता। मीमयत्। गौः। ततः। वयः। प्र। पतान्। पुरुषऽअदः। अथ। इदम्। विश्वम्। भुवनम्। भयाते। इन्द्राय। सुन्वत्। ऋषये। च। शिक्षत्॥ २२॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृक्षे वृक्षे) वृक्षविकारे धनुषि धनुषि (गौः) गोसम्बन्धिनी स्नायुमती ज्या (नियता) नियुक्ता सती (मीमयत्) शब्दं करोति (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः प्रपतान्) जनानामत्तारो बाणाः प्रपतन्ति "इति निरुक्तम्" इत्थं च वृक्षे वृक्षे व्रश्चनशीले *"वृक्षो व्रश्चनात्"* [*निरु० २ । ६*] नश्वरशरीरे शरीरमात्रे गौर्गमनशीलः सर्वान् प्रति प्रापणशीलो मृत्युः शब्दं करोति मारयामीति घोषयति तस्य बाणा रोगादयः-मनुष्यादीनामत्तारः प्रपतन्ति *"अदन्तीति वै गा आहुः-अश्नतीति मनुष्यान्"* [*मै० ३ । ६ । ६*] (अथ-इदं विश्वं भुवनं भयाते) अनन्तरमिदं समस्तं भूतजातं-जीवमात्रं बिभेति (इन्द्राय-ऋषये-सुन्वत्-च शिक्षत्) ऐश्वर्यवते सर्वद्रष्ट्रे परमात्मने खलूपासनारसं सम्पादयति दानमात्मदानमात्मसमर्पणं च करोति जनः ॥ २२ ॥

भाषान्वयार्थ—(वृक्षे वृक्षे) वृक्षविकार धनुष् धनुष् में-प्रत्येक धनुष् में (गौः) गो सम्बन्धी-स्नायुवाली ज्या-धनुष की डोरी (नियता) नियुक्त हुई (मीमयत्) शब्द करती है (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः प्रपतान्) मनुष्यों को खाने वाले हिंसित करने वाले बाण प्रबल रूप से गिरते हैं। यह एक प्रकार का अर्थ निरुक्त में दिये यास्काचार्य के अनुसार आधिभौतिक दृष्टि से है। आध्यात्मिक दृष्टि से- (वृक्षे वृक्षे) व्रश्चनशील छिन्नभिन्न होने वाले या नश्वर शरीरमात्र में (गौः) गमनशील सब को प्राप्त होने वाला मृत्यु (नियता) नियुक्त हुआ (मीमयत्) घोषित करता है मैं मारूंगा (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः-प्रपतान्) मनुष्यों को हिंसित करने वाले आघात रोग आदि बाणरूप प्रहार करते हैं (अथ-इदं विश्वं भुवनं भयाते) पुनः यह प्राणिमात्र भय करता है (इन्द्राय-ऋषये-सुन्वत्-च शिक्षत्) ऐश्वर्यवान् सर्वद्रष्टा परमात्मा के लिये उपासना रस को समर्पित करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणिशरीर नश्वर है उसके लिये मृत्यु नियत है। नाना प्रकार के आघातों और रोगों से मृत्यु का ग्रास बन जाता है। यह देख उपासक अमृत रूप परमात्मा की उपासना करता है ॥ २२ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन् ।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥ २३ ॥

देवानाम् । माने । प्रथमाः । अतिष्ठन् । कृन्तत्रात् । एषाम् । उपराः । उत् । आयन् । त्रयः । तपन्ति । पृथिवीम् । अनूपाः । द्वा । बृबूकम् । वहतः । पुरीषम् ॥ २३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—अथोत्पादनमुच्यते-(देवानां माने प्रथमाः-अतिष्ठन्) देवानां निर्माणे *"देवानां निर्माणे"* [*निरु० २ । २२*] प्रथमाः प्रमुखाः प्रतमाः-देवाः प्रसिद्धिं प्राप्ताः *"प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति"* [*निरु० २ । २२*] (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्षात्

"कृन्तत्रमन्तरिक्षम्" [*निरु० २ । २२*] (एषाम्-उपराः-उदायन्) मेघानां विकर्त्तनेन तत्रोपराः-उपरताः-आपः-उद्गता बहिरागताः । अत्र विषये (त्रयः-अनूपाः-पृथिवीं तपन्ति) त्रयः *"पर्जन्यो वायुरादित्यः"* इति च निरुक्तम् । वर्षणेन शीतेनोष्णेन *"शीतोष्ण-वर्षैरोषधीः पाचयन्ति"* [*निरु० २ । २२*] पृथिवीं पृथिवीस्थिताः-ओषधीः पाचयन्ति स्वेन स्वेन कर्मणाऽनुत्रपन्ति-आनुकूल्यं प्रयच्छन्ति (द्वा बृबूकं पुरीषं वहतः) द्वौ वाय्वादित्यौ बृबूकं सोममुदकं वहतः प्रापयतः *"बृबूकमुदकं पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा"* [*निरु० २ । २२*] सूर्य औष्ण्येन पृथिवीस्थजलाशयेभ्यो जलमाकृष्य वाष्पीकृत्य वायुश्च स्वाधारे वाष्पीभूतं जलं धारयित्वा ॥ २३ ॥

भाषान्वयार्थ—सृष्टयुत्पत्ति दर्शाते हैं–(देवानां माने प्रथमाः-अतिष्ठन्) देवों के निर्माण समय प्रमुख देव प्रसिद्धि को प्राप्त हुए (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्ष से (एषाम्-उपराः-उदायन्) इन मेघों के छेदन भेदन से उन में उपरत हुए जल बाहर आये-बरसे इस प्रकार (त्रयः-अनूपाः पृथिवीं तपन्ति) तीन अर्थात् मेघ वायु और सूर्य अनुकूल हुए 'बरसने, शीत देने और उष्णता बखेरने द्वारा पृथिवी अर्थात् पृथिवीस्थित ओषधियों को पकाते हैं (द्वा बृबूकं पुरीषं वहतः) तथा दो वायु और सूर्य जल को प्राप्त कराते हैं अर्थात् सूर्य अपनी किरणों से जलों को भापरूप में ऊपर खींचता है और वायु उन भाप रूप जलों को धारण करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि में देवों अर्थात् प्रमुख सूर्य आदि पदार्थों का निर्माण होता है। आकाश में से मेघ जल बरसाते हैं। पृथिवी के वनस्पति आदि पदार्थों को मेघ वायु और सूर्य उत्पन्न तथा पुष्ट करते हैं। सूर्य जलों को भाप रूप में ऊपर खींचता है और वायु उन्हें धारण करता है पुनः वृष्टि रूप में जल वर्षता है ॥ २३ ॥

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये ।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते ॥ २४ ॥

सा । ते । जीवातुः । उत । तस्य । विद्धि । मा । स्म । एतादृक् । अप । गूहः । सऽमर्ये । आविः । स्व१रिति स्वः । कृणुते । गूहते । बुसम् । सः । पादुः । अस्य । निःऽनिर्जः । न । मुच्यते ॥ २४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे प्राणधारिन् मनुष्य ! तव (सा जीवातुः) सा पूर्वोक्ता देवतात्रयी सूर्यवायुपर्जन्यरूपा जीवनधारिका शक्तिरस्ति (उत) अपि (तस्य विद्धि) यस्य परमात्मानः सा शक्तिस्तं परमात्मानं त्वं जानीहि (समर्ये) स्वजीवनसङ्गते स्वजीवन–संघर्षमार्गे वा (मा स्म) न कदापि (एतादृक्-अप गूहः) एतादृशीमपवारय दूरं कुरु (स्वः-आविः-कृणुते) स परमात्मा तवार्थं स्वः- जीवनसुखं प्रकाशीकरोति (बुसं गूहते) आकाशीयमुदकं गूढं मेघरूपं करोति *"बुसमुदकनाम"* [*निघ० १ । १२*] (अस्य निर्णिजः) अस्य शोधयितुः परमात्मनः (पादुः-न मुच्यते) व्यवहारो न हीयते ॥ २४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृक्षे वृक्षे) वृक्षविकारे धनुषि धनुषि (गौः) गोसम्बन्धिनी स्नायुमती ज्या (नियता) नियुक्ता सती (मीमयत्) शब्दं करोति (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः प्रपतान्) जनानामत्तारो बाणाः प्रपतन्ति "इति निरुक्तम्" इत्थं च वृक्षे वृक्षे व्रश्चनशीले *"वृक्षो व्रश्चनात्"* [*निरु० २ । ६*] नश्वरशरीरे शरीरमात्रे गौर्गमनशीलः सर्वान् प्रति प्रापणशीलो मृत्युः शब्दं करोति मारयामीति घोषयति तस्य बाणा रोगादयः-मनुष्यादीनामत्तारः प्रपतन्ति *"अदन्तीति वै गा आहुः-अश्नतीति मनुष्यान्"* [*मं० ३ । ६ । ६*] (अथ-इदं विश्वं भुवनं भयाते) अनन्तरमिदं समस्तं भूतजातं-जीवमात्रं बिभेति (इन्द्राय-ऋषये-सुन्वत्-च शिक्षत्) ऐश्वर्यवते सर्वद्रष्ट्रे परमात्मने खलूपासनारसं सम्पादयति दानमात्मदानमात्मसमर्पणं च करोति जनः ॥ २२ ॥

भाषान्वयार्थ—(वृक्षे वृक्षे) वृक्षविकार धनुष् धनुष् में-प्रत्येक धनुष् में (गौः) गो सम्बन्धी-स्नायुवाली ज्या-धनुष की डोरी (नियता) नियुक्त हुई (मीमयत्) शब्द करती है (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः प्रपतान्) मनुष्यों को खाने वाले हिंसित करने वाले बाण प्रबल रूप से गिरते हैं। यह एक प्रकार का अर्थ निरुक्त में दिये यास्काचार्य के अनुसार आधिभौतिक दृष्टि से है। आध्यात्मिक दृष्टि से-(वृक्षे वृक्षे) व्रश्चनशील छिन्नभिन्न होने वाले या नश्वर शरीरमात्र में (गौः) गमनशील सब को प्राप्त होने वाला मृत्यु (नियता) नियुक्त हुआ (मीमयत्) घोषित करता है मैं मारूंगा (ततः) पुनः (पुरुषादः-वयः-प्रपतान्) मनुष्यों को हिंसित करने वाले आघात रोग आदि बाणरूप प्रहार करते हैं (अथ-इदं विश्वं भुवनं भयाते) पुनः यह प्राणिमात्र भय करता है (इन्द्राय-ऋषये-सुन्वत्-च शिक्षत्) ऐश्वर्यवान् सर्वद्रष्टा परमात्मा के लिये उपासना रस को समर्पित करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणिशरीर नश्वर है उसके लिये मृत्यु नियत है। नाना प्रकार के आघातों और रोगों से मृत्यु का ग्रास बन जाता है। यह देख उपासक अमृत रूप परमात्मा की उपासना करता है ॥ २२ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन् ।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥ २३ ॥

देवानाम् । माने । प्रथमाः । अतिष्ठन् । कृन्तत्रात् । एषाम् । उपराः । उत् । आयन् । त्रयः । तपन्ति । पृथिवीम् । अनूपाः । द्वा । बृबूकम् । वहतः । पुरीषम् ॥ २३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—अथोत्पादनमुच्यते-(देवानां माने प्रथमाः-अतिष्ठन्) देवानां निर्माणे *"देवानां निर्माणे"* [*निरु० २ । २२*] प्रथमाः प्रमुखाः प्रतमाः-देवाः प्रसिद्धिं प्राप्ताः *"प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति"* [*निरु० २ । २२*] (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्षात्

"कृन्तत्रमन्तरिक्षम्" [निरु० २ । २२] (एषाम्-उपराः-उदायन्) मेघानां विकर्त्तनेन तत्रोपराः-उपरताः-आपः-उद्गता बहिरागताः । अत्र विषये (त्रयः-अनूपाः-पृथिवीं तपन्ति) त्रयः "पर्जन्यो वायुरादित्यः" इति च निरुक्तम् । वर्षणेन शीतेनोष्णेन "शीतोष्ण-वर्षैरोषधीः पाचयन्ति" [निरु० २ । २२] पृथिवीं पृथिवीस्थिताः-ओषधीः पाचयन्ति स्वेन स्वेन कर्मणाऽनुतपन्ति-आनुकूल्यं प्रयच्छन्ति (द्वा बृबूकं पुरीषं वहतः) द्वौ वाय्वादित्यौ बृबूकं सोममुदकं वहतः प्रापयतः "बृबूकमुदकं पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा" [निरु० २ । २२] सूर्य औष्ण्येन पृथिवीस्थजलाशयेभ्यो जलमाकृष्य वाष्पीकृत्य वायुश्च स्वाधारे वाष्पीभूतं जलं धारयित्वा ॥ २३ ॥

भाषान्वयार्थ—सृष्टयुत्पत्ति दर्शाते हैं-(देवानां माने प्रथमाः-अतिष्ठन्) देवों के निर्माण समय प्रमुख देव प्रसिद्धि को प्राप्त हुए (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्ष से (एषाम्-उपराः-उदायन्) इन मेघों के छेदन भेदन से उन में उपरत हुए जल बाहर आये-बरसे इस प्रकार (त्रयः-अनूपाः पृथिवीं तपन्ति) तीन अर्थात् मेघ वायु और सूर्य अनुकूल हुए 'बरसने, शीत देने और उष्णता बखेरने द्वारा पृथिवी अर्थात् पृथिवीस्थित ओषधियों को पकाते हैं (द्वा बृबूकं पुरीषं वहतः) तथा दो वायु और सूर्य जल को प्राप्त कराते हैं अर्थात् सूर्य अपनी किरणों से जलों को भापरूप में ऊपर खींचता है और वायु उन भाप रूप जलों को धारण करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि में देवों अर्थात् प्रमुख सूर्य आदि पदार्थों का निर्माण होता है। आकाश में से मेघ जल बरसाते हैं। पृथिवी के वनस्पति आदि पदार्थों को मेघ वायु और सूर्य उत्पन्न तथा पुष्ट करते हैं। सूर्य जलों को भाप रूप में ऊपर खींचता है और वायु उन्हें धारण करता है पुनः वृष्टि रूप में जल वर्षता है ॥ २३ ॥

सा ते॑ जीवातु॑रुत तस्य॑ विद्धि मा स्मैताद्दगप॑ गूहः सम॒र्ये ।
आविः स्वः॑ कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते ॥ २४ ॥

सा । ते । जीवातुः । उत । तस्य॑ । विद्धि । मा । स्म । एताद्दक् । अप । गूहः । सऽमर्ये । आविः । स्व१रिति स्वः । कृणुते । गूहते । बुसम् । सः । पादुः । अस्य । निःऽनिर्जः । न । मुच्यते ॥ २४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे प्राणधारिन् मनुष्य ! तव (सा जीवातुः) सा पूर्वोक्ता देवतात्रयी सूर्यवायुपर्जन्यरूपा जीवनधारिका शक्तिरस्ति (उत) अपि (तस्य विद्धि) यस्य परमात्मानः सा शक्तिस्तं परमात्मानं त्वं जानीहि (समर्ये) स्वजीवनसङ्गते स्वजीवन-संघर्षमार्गे वा (मा स्म) न कदापि (एताद्दक्-अप गूहः) एताद्दशीमपवारय दूरं कुरु (स्वः-आविः-कृणुते) स परमात्मा तवार्थं स्वः- जीवनसुखं प्रकाशीकरोति (बुसं गूहते) आकाशीयमुदकं गूढं मेघरूपं करोति "बुसमुदकनाम" [निघ० १ । १२] (अस्य निर्णिजः) अस्य शोधयितुः परमात्मनः (पादुः-न मुच्यते) व्यवहारो न हीयते ॥ २४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे प्राणधारी मनुष्य ! तेरे (सा जीवातुः) वह पूर्वोक्त देवतात्रयी–सूर्य, वायु, मेघरूपा जीवन धारण कराने वाली है (उत) अपितु (तस्य विद्धि) जिस परमात्मा की ऐसी वह शक्ति है उसको तू जान (समर्ये) स्वजीवनसंगम में या स्वजीवन–संघर्षमार्ग में (मा स्म) न कभी (एतादृक्-अप गूह) ऐसे ही मत गंवा (स्वः-आविः-कृणुते) वह परमात्मा तेरे लिये जीवन सुख को प्रकाशित करता है (बुसं गूहते) आकाशीय जलको मेघ रूप में बनाता है (अस्य निर्णिजः) इस शोधक–पवित्र परमात्मा का (पादुः-न मुच्यते) व्यवहार क्षीण नहीं होता है ॥ २४ ॥

भावार्थ— सूर्य वायु और मेघ प्राणधारी को जीवन देने वाले हैं । जिस परमात्मा ने ये रचे हैं उसे जानना चाहिये । जीवनयात्रा या जीवनसंग्राम में उसे भूलना न चाहिये वह जीवन के सुख को प्रकाशित करता है । उसका पालन आदि व्यवहार क्षीण नहीं होता है ॥ २४ ॥



अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वसुक्रः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, २, ७, ८, १२ निचृत्त्रिष्टुप् । ४, ५, १० विराट् त्रिष्टुप् ९, ११ पादनिचृद् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्ते इन्द्रशब्देन श्लैषिकत्वेनात्मानं राजानं च ग्राहयति शरीरराष्ट्रयोश्च सम्पोषणसमृद्धिकरणप्रकाराश्च वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में इन्द्र शब्द आत्मा और राजा का द्योतक है। शरीर पोषण राष्ट्र समृद्धि के प्रकार वर्णित हैं ।

विश्वो ह्य१॒॑न्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो नाजगाम ।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात् ॥ १ ॥

विश्वः । हि । अन्यः । अरिः । आऽजगाम । मम । इत् । अह । श्वशुरः । न । आ । जगाम । जक्षीयात् । धानाः । उत । सोमम् । पपीयात् । सुऽआशितः । पुनः । अस्तम् । जगायात् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वः-अन्यः-अरि-हि) सर्वोऽन्य ईश्वरः शरीरस्य स्वामिवर्गः प्राणवर्गः *"ईश्वरोऽप्यरिः"* [*निरु० ५ । ७*] *"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो*········ [*अथर्व० ११ । ४ । १*] यद्वा राष्ट्रस्य शासकवर्गः हा ! आश्चर्यम् *"हि विस्मये"* [*अव्ययार्थनिबन्धनम्*] (आजगाम) प्राप्तः (अह खेदः *"अहः खेदे"* [*अव्ययार्थनिबन्धनम्*] (मम-इत्) मम एव (श्वशुरः-न-आजगाम) श्वशुरः पत्युः पिता शु क्षिप्रं सद्यः-प्रापणशील आत्मा प्राणशक्त्याः-तन्वा नैव खल्वागतः" यद्वा राजा राजनीत्याः खलु न ह्यागतः प्राप्तः संस्थापितः, इति वसुक्रस्य वसु वासस्थानमात्मनः करोति यः स वसुक्रः, 'वसूपपदे कृधातोः कः प्रत्यय औणादिकः' शरीरे प्राणः, राष्ट्रे राष्ट्रमन्त्री तस्य पत्नी प्राणशक्तिस्तनूर्वा राष्ट्रे राष्ट्रनीतिः (धानाः-जक्षीयात्-उत सोमं पपीयात्) योऽत्र शरीरं राष्ट्रं वा-अन्नभोगान् भुञ्जीत सोमरसपानं च पिबेत् (सु-आशितः पुनः-अस्तं जगायात्) भोगान् सुभुक्तवान् सन् पुनः स्वामृतं गृहं मोक्षं स्वप्रतिष्ठापदं प्राप्नुयात् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वः-अन्यः-अरिः-हि) शरीर का सब अन्य स्वामीवर्ग—प्राणगण (आजगाम) प्राप्त हो गया—प्रकट हो गया (अह) खेद है कि (मम-इत्) मेरा ही (श्वशुरः-न-आजगाम) शु-शीघ्र अशुर—प्रापण शील आत्मा मुझ देह का नहीं आया—प्रकट हुआ या राजनीति का चालक राजा स्थापित नहीं हुआ यह वसुक्र आत्मा के वास—शरीर को करने वाला प्राण या राष्ट्र में राष्ट्रमन्त्री है (धानाः-जक्षीयात्-उत सोमं पपीयात्) शरीर में प्राण या राष्ट्रमन्त्री अन्न भोगों को भोगे सोमादि ओषधिरसों का पान करे (सु-आशितः पुनः- अस्तं जगायात्) भोगों को भली प्रकार भोगकर पुनः अपने अमृत घर—मोक्ष को या स्वप्रतिष्ठापद को प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जब शरीर बनना आरम्भ होता है तब प्राण प्रथम से ही अपना कार्य आरम्भ कर देता है। आत्मा उस समय स्वज्ञान शक्ति से कार्य आरम्भ नहीं करता है। जब वह कार्य आरम्भ करने लगता है तब जन्म पाकर संसार में अन्नादि को भोगता है और सोमादि ओषधियों का रस पान करता है इस प्रकार संसार के भोगों को भोगकर वह अमर धाम मोक्ष को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार राष्ट्र में राष्ट्रमन्त्री प्रथम राष्ट्र की व्यवस्था करता है। पुनः राष्ट्रपति शासन अधिकार सम्भालता है। वह राष्ट्र में भांति भांति के भोगों को भोगता है और सोमादि ओषधियों का रसपान करता है अपने ऊँचे प्रतिष्ठापद को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

स रौरुवद्वृषभस्तिग्मशृङ्गो वर्ष्मन्तस्थौ वरिमन्ना पृथिव्याः ।
विश्वेष्वेनं वृजनेषु पामि यो मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति ॥ २ ॥

सः । रोरुवत् । वृषभः । तिग्मऽशृङ्गः । वर्ष्मन् । तस्थौ । वरिमन् । आ । पृथिव्याः । विश्वेषु । एनम् । वृजनेषु । पामि । यः । मे । कुक्षी इति । सुतऽसोमः । पृणाति । ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-वृषभः-तिग्मशृङ्गः-रोरुवत्) स तीक्ष्णशक्तिकश्चेतनावान्—आत्मा यद्वा तीक्ष्णशासको राजा शरीरे चेतनत्ववर्षकः, राष्ट्रे सुखवर्षकः-भृशं घोषयति-यदहमागतः (पृथिव्याः-वरिमन् वर्ष्मन् आतस्थौ) शरीरस्य *"यच्छरीरं पुरुषस्य सा पृथिवी"* [ऐ० आ० २ । ३ । ३] यद्वा राष्ट्रभूमेः सुखवर्षकेऽतिश्रेष्ठे *"वरिमन् अतिशयेन श्रेष्ठः"* [ऋ० ६ । ६३ । ११ *दयानन्दः*] हृदयप्रदेशे राजासने वा तिष्ठति। इति परोक्षेणेन्द्र उक्तः। अथाध्यात्मभावेनोच्यते (यः-मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति) यः शरीरे प्राणो वसुक्रो मम कुक्षी-उभे पार्श्वे भोगापवर्गौ—उपासनारसो सम्पादितो येन स पूरयति यद्वा राष्ट्रे सभासेने-उभे पार्श्वे दत्तोपहारः पूरयति (विश्वेषु वृजनेषु-एनं पामि) सर्वेषु बलप्रसङ्गेषु *"वृजनं बलनाम"* [*निघ० २ । ९*] एतमहमात्मा राजा वा रक्षामि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-वृषभः-तिग्मशृङ्गः-रोरुवत्) वह तीक्ष्ण शक्तिवाला—चेतनावाला आत्मा या तीक्ष्ण शस्त्रवाला राजा शरीर में चेतनता का वर्षक, राष्ट्र में सुख का वर्षक भलीभांति घोषित करता है कि मैं आया—प्राप्त हुआ (पृथिव्याः-वरिमन् वर्ष्मन्-आतस्थौ) शरीर के अतिश्रेष्ठ जीवनरसवर्षक हृदयप्रदेश में विराजमान होता है या राष्ट्रभूमि के सुखवर्षक राज-आसन पर

विराजमान होता है। यह परोक्षदृष्टि से आत्मा या राजा का कथन है। अब अध्यात्म दृष्टि से कहा जाता है (यः-मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति) जो शरीर में वर्त्तमान उपासना रस को तय्यार करने वाला प्राण मेरे दो पार्श्वों भोग और अपवर्ग को पूर्ण करता है अथवा राष्ट्र में वर्त्तमान उपहार देने वाला राष्ट्रमन्त्री मेरे सभा सेना दो पार्श्वों को पूर्ण करता है (विश्वेषु वृजनेषु एनं पामि) सारे बलप्रसङ्गों में इसकी मैं आत्मा या राजा रक्षा करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—शरीर के अन्दर चेतनाशक्तिमान् आत्मा चेतनत्व की अङ्गों में वृष्टि करता हुआ अपने को घोषित करता है–सिद्ध करता है। शरीर के अन्दर सर्वश्रेष्ठ हृदय प्रदेश में विराजमान रहता है। जीवन प्राण उसके भोग और अपवर्ग में साधन बनता है ऐसे साधन रूप प्राण की वह रक्षा करता है तथा राष्ट्र में शस्त्रशक्तिमान् सुखवर्षक राजा राष्ट्रवासिप्रजाओं में सुख की वृष्टि करता हुआ अपने को प्रसिद्ध करता है। राष्ट्र भूमि के राजशासन पद पर विराजमान होता है। उसका राजमन्त्री सभाभाग और सेनाभाग को परिपुष्ट बनाता है। ऐसे राजमन्त्री की वह रक्षा करता है ॥ २ ॥

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान्पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ॥ ३ ॥

अद्रिणा । ते । मन्दिनः । इन्द्र । तूयान् । सुन्वन्ति । सोमान् । पिबसि । त्वम् । एषाम् । पचन्ति । ते । वृषभान् । अत्सि । तेषाम् । पृक्षेण । यत् । मघऽवन् । हूयमानः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे आत्मन् ! राजन् ! वा (ते) तुभ्यम् (अद्रिणा) श्लोककृता प्रशंसकेन वैद्येन पुरोहितेन वा प्रेरिता *"अद्रिरसि श्लोककृत्"* [*काठ० १ । ५*] (मन्दिनः) तव हर्षयितारः पारिवारिका जना राजकर्मचारिणो वा (तूयान् सोमान् सुन्वन्ति) जलमयान् रसमयान् *" तूयम् उदकनाम"* [*निघं० १ । १२*] सोमरसान् सम्पादयन्ति (तेषां पिबसि) तान् त्वं पिबेः *"लिङर्थे लेट्* [*अष्टा० ३ । ४ । ७*] अथ (ते) तुभ्यम् (वृषभान् पचन्ति) सुखरसवर्षकान् *"वृषभः-यो वर्षति सुखानि सः"* [*ऋ० १ । ३१ । ५ दयानन्दः*] *"वृषभः-वर्षिताऽपाम्"* [*निरु० ४ । ८*] सम्पादयन्ति (मघवन्) पृक्षेण हूयमानः) हे आत्मन् राजन् वा स्नेहसम्पर्केणाहूयमानो निमन्त्र्यमाणः (तेषाम्-अत्सि) तान् त्वं भुङ्क्ष्व–भुङ्क्षे ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे आत्मन् या राजन् ! (ते) तेरे लिये (अद्रिणा) प्रशंसक वैद्य या पुरोहित से प्रेरित (मन्दिनः) तेरे प्रसन्न करने वाले पारिवारिक जन या राजकर्मचारी (तूयान् सोमान् सुन्वन्ति) रसमय सोमों को तय्यार करते हैं (तेषां पिबसि) उनको तू पी और (ते) तेरे लिए (वृषभान् पचन्ति) सुख बरसाने वाले भोगों को तय्यार करते हैं (मघवन् पृक्षेण हूयमानः) हे आत्मन् ! या राजन् ! स्नेह सम्पर्क से निमन्त्रित किया जाता हुआ (तेषाम्-अत्सि) उन्हें तू भोग ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा जब शरीर में आता है तब उसे अनुमोदित्त करने वाले वैद्य और प्रसन्न करने वाले पारिवारिक जन अनेक रसों और भोग्य पदार्थों को उसके लिये तय्यार करते हैं और स्नेह से खिलाते पिलाते हैं जिससे कि शरीर पुष्ट होता चला जावे तथा जब राजा राजपद पर विराजमान होता है तब उसके प्रशंसक पुरोहित और प्रसन्न करने वाले राजकर्मचारी सोमादि ओषधियों के रस और भोगों को तय्यार करते हैं वह स्नेह से आदर पाया हुआ उनका सेवन करता है ॥ ३ ॥

इ॒दं सु मे॑ जरित॒रा चि॑किद्धि प्र॒तीपं॒ शापं॑ न॒द्यो॑ वहन्ति ।
लो॒पा॒शः सिं॒हं प्र॒त्यञ्च॑मत्साः क्रो॒ष्टा व॑रा॒हं निर॑तक्त कक्षा॒त् ॥ ४ ॥

इ॒दम् । सु । मे॒ । ज॒रि॒तः॒ । आ । चि॒कि॒द्धि॒ । प्र॒ति॒ऽई॒प॒म् । शाप॑म् । न॒द्यः॑ । व॒ह॒न्ति॒ । लो॒पा॒शः । सिं॒हम् । प्र॒त्यञ्च॑म् । अ॒त्सा॒रि॒ति॒ । क्रो॒ष्टा । व॒रा॒हम् । निः । अ॒त॒क्त॒ । कक्षा॒त् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जरितः) हे पापानां शत्रूणां वा जरयितः ! नाशयितः ! (मे इदं सु-आचिकिद्धि) मम-इदं वचनं सम्यक् त्वं जानीहि (नद्यः शापं प्रतीपं वहन्ति) नाड्यो नद्यो वा स्वकीयं मलिनं रसं मलं वा विपरीतं वहन्ति नीचैर्नयन्ति न शरीरं राष्ट्रं वा दूषयन्ति, इति वसुक्रस्य प्राणस्य राजमन्त्रिणो वा वचनम् (लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चम्-अत्साः) लोपं छेदनीयं कर्त्तनीयं तृणमश्नातीति लोपाशो घासाहारी "लुप्लृ छेदने" [तुदादि] लघुपशुर्मत्प्रेरणया प्राणशक्तिसम्पन्नो यद्वा मया राजमन्त्रिणा प्रेरितोऽन्नाहारी जनः सिंहं मांसभक्षकं यद्वा सिंहसदृशं भयङ्करं पुरुषमपि पश्चात् प्रक्षिपेत् (क्रोष्टा वराहं कक्षात् निरतक्त) केवलं बहुवक्ता शृगालोऽपि यद्वा शृगालसदृशो जनोऽपि शूकरं शूकरसमानं बलवन्तं पुरुषमपि स्थानाद् बहिर्निस्सारयेत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(जरितः) हे पापों के क्षीण करने वाले आत्मन् ! या शत्रुओं के क्षीण करने वाले राजन् ! (मे-इदं सु-आचिकिद्धि) मेरे इस वचन को तू भली भांति जान (नद्यः-शापं प्रतीपं वहन्ति) मेरे प्रभाव से नाड़ियां मलिन भाग को और नदियाँ दूषित पदार्थ को विपरीत-नीचे बहाती हैं या फेंकती हैं किन्तु शरीर को या राष्ट्र को दूषित नहीं करतीं ऐसा कथन प्राण या राज्यमन्त्री का है। (लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चम्-अत्साः) घास खाने वाला पशु मुझ राजमन्त्री की प्रेरणा से सिंह-सदृश बलवान् जन को पीछे धकेल देता है (क्रोष्टा वराहं कक्षात्-निरतक्त) केवल बोलने वाला गीदड़ भी बलवान् वन शूकर को या गीदड़ समान पुरुष भी शूकर समान बलवान् पुरुष को स्थान से बाहर निकाल दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्राण की शक्ति से शरीर की नाड़ियां दूषित रस को नीचे बहा देती हैं और प्राण की शक्ति से घास खाने वाला लघु पशु भी सिंह आदि जैसे पशु को पछाड़ देता है तथा राष्ट्र मन्त्री ऐसी व्यवस्था करे कि नदियाँ दूषित पदार्थों को नीचे बहा लेजावें और राष्ट्रमन्त्री शाक

अन्न आदि से पुष्ट होने की ऐसी व्यवस्था करे कि उनके खाने वाला सिंह आदि जैसे बलवान् विरोधी जन को पछाड़ दे ॥ ४ ॥

कुथा त एतदहमा चिकेतं गृत्संस्य पाकस्तवसो मनीषाम् ।
त्वं नो विद्वाँ ऋतुथा वि वोचो यमर्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः ॥५ ॥

कथा । ते । एतत् । अहम् । आ । चिकेतम् । गृत्संस्य । पाकः । तवसः । मनीषाम् । त्वम् । नः । विद्वान् । ऋतुऽथा । वि । वोचः । यम् । अर्धम् । ते । मघवन् । क्षेम्या । धूः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते गृत्सस्य तवसः-मनीषाम्) मेधाविनो बलवतस्तव-आत्मनः-राज्ञो वा मनीषां प्रज्ञां *"मनीषया....प्रज्ञया"* [निरु० २ । २५] (अहं पाकः कथा-एतत्-आचिकेतम्) अहं पक्तव्यस्त्वया पोष्यः प्राणो राज्यमन्त्री वा-एतत् कथं समन्ताद् विजानीयाम् (त्वं विद्वान् नः-ऋतुथा वोचः) त्वं हे आत्मन् ! राजन् ! वा मां समये समये कथय ज्ञापय-ज्ञापयसि (मघवन्) हे सर्वस्वामिन् ! (ते यम्-अर्धं क्षेम्या धूः) तवांशमात्मशक्तिं राजशक्तिं वा क्षेमे भवा क्षेमकरी धूर्धारणीयाऽस्ति सा धारणीया तामपि वोचः कथय ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते गृत्सस्य तवसः-मनीषाम्) तुझ मेधावी बलवान् आत्मा या राजमन्त्री की बुद्धि को (अहं पाकः कथा-एतत्-आचिकेतम्) मैं तेरे द्वारा पोषणीय प्राण या राज्यमन्त्री इस को कैसे जान सकूँ (त्वं विद्वान् नः-ऋतुथा वोचः) हे आत्मा या राजन् ! तू मुझे समय समय पर कह—सुझा (मघवन्) स्वामिन् ! (ते यम्-अर्धं क्षेम्या धूः) तेरे जो अंश-आत्मशक्ति या राजशक्ति धारणीया है उसे भी हमारे लिए जना—समझा ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा द्वारा प्राण पोषणीय है । समय समय पर अपनी ज्ञान चेतना से वह उस प्राण की रक्षा करता है अपनी चेतना शक्ति से चेताता है तथा राजा के द्वारा राजमन्त्री रक्षणीय है । वह समय समय पर उसे आदेश देता रहे और जो उसकी शासन शक्ति है उससे भी अवगत रहे ॥ ५ ॥

एवा हि मां तवसं वर्धयन्ति दिवश्चिन्मे बृहत उत्तरा धूः ।
पुरू सहस्रा नि शिशामि साकमशत्रुं हि मा जनिता जजान ॥ ६ ॥

एव । हि । माम् । तवसम् । वर्धयन्ति । दिवः । चित् । मे । बृहतः । उत्ऽतरा । धूः । पुरु । सहस्रा । नि । शिशामि । साकम् । अशत्रुम् । हि । मा । जनिता । जजान ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एव हि) एवं खलु (मां तवसम) मां बलवन्तम्–आत्मानं राजानं वा (वर्धयन्ति) समृद्धं कुर्वन्ति शरीराङ्गाणि राज्याङ्गानि वा (बृहतः-दिवः-चित्-मे-उत्तरा धूः) महतो द्युलोकादपि ममोत्कृष्टा धारणशक्तिरस्ति, यतोऽहं शरीरं राष्ट्रं वा धारयामि (पुरु सहस्रा साकं नि शिशामि) पुरूणि-बहूनि-सहस्राणि-असंख्यानि दोषाणां शत्रूणां वा सकृदेव तनूकरोमि–चूर्णयामि–विनाशयामि अत्र *"शो तनूकरणे"* [*दिवादि०*] ततः *"बहुलं छन्दसि"* [*अष्टा० २ । ४ । ७६*] इति श्यन्स्थाने श्लुः (जनिता माम्-अशत्रुं हि जजान) जनयिता परमात्मा मां आत्मानं राजानं वा शरीरे राष्ट्रे वा शत्रुरहितं प्रादुर्भावयति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(एव हि) इस प्रकार (मां तवसम्) मुझ बलवान् आत्मा व राजा को (वर्धयन्ति) शरीराङ्ग या राज्याङ्ग समृद्ध करते हैं (बृहतः-दिवः-चित्-मे-उत्तरा धूः) महान् द्युलोक से भी उत्कृष्ट मेरी धारणाशक्ति है जिससे मैं शरीर को या राष्ट्र को धारण करता हूं। (पुरु सहस्रा साकं नि शिशामि) बहुत सहस्र–असंख्य दोषों को या शत्रुओं को एक साथ क्षीण करता हूं विनष्ट करता हूँ (जनिता माम्-अशत्रुं हि जजान) उत्पादक परमात्मा शरीर में मुझ आत्मा को या राष्ट्र में मुझ राजा को शत्रु रहित प्रकट करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—शरीर में आत्मा बलवान् होता है। उसे शरीरांग समृद्ध करते हैं। उसकी शरीर को धारण करने की शक्ति द्युलोक से भी उत्कृष्ट होती है, सहस्रों दोषों को क्षीण कर देता है। परमात्मा इसे शत्रुरहित शरीर में प्रकट करता है तथा राष्ट्र में राजा बलवान् होता है उसे राज्य के अंग समृद्ध करते हैं उसकी राष्ट्र को धारण करने की शक्ति द्युलोक से भी उत्कृष्ट होती है। वह सहस्रों शत्रुओं को एक साथ नष्ट कर देता है। परमात्मा उसे शत्रुरहित बनाता है ॥ ६ ॥

एवा हि मां तवसं जज्ञुरुग्रं कर्मन्कर्मन्वृषणमिन्द्र देवाः ।
वधीं वृत्रं वज्रेण मन्दसानोऽप व्रजं महिना दाशुषे वम् ॥ ७ ॥

एव । हि । माम् । तवसम् । जज्ञुः । उग्रम् । कर्मन्ऽकर्मन् । वृषणम् । इन्द्र । देवाः । वधीम् । वृत्रम् । वज्रेण । मन्दसानः । अप । व्रजम् । महिना । दाशुषे । वम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र-एव हि) हे आत्मन् ! राजन् ! वा एवं हि यथा त्वां जनयिता परमात्मा प्रादुर्भावयति, तथा (देवाः) दिव्याः शक्तयो विद्वांसो वा (मां तवसम्-उग्रं जज्ञुः) मां बलवन्तमथोग्रं प्रतापिनं मन्यन्ते–सम्पादयन्ति (कर्मन् कर्मन् वृषणम्) प्रत्येककर्मणि शरीरे रक्तवहनजीवनप्रदानादिकर्मणि सुखवर्षकमिति, राष्ट्रे वा प्रत्येककर्मविभागे सुखवर्षकमिति (मन्दसानः-महिना वज्रेण वृत्रं वधीम) प्रसन्नः सन् महता–ओजसा *"वज्रो वा ओजः"* [*श० ८ । ४ । १ । २०*] आवरकं रोगं मलं वाऽहं

प्राणो नाशयामि शरीरात् यद्वाऽहं राज्यमन्त्री राष्ट्रादनायासः सन् महताऽस्त्रेणा-क्रमणकारिणं नाशयामि (दाशुषे व्रजम्-अपवम्) रसप्रदात्रेऽङ्गाय मार्गमपवृणोमि-अपवारयामि *"व्रजः-व्रजन्ति यस्मिन् [ऋ० ५ । ३३ । १० दयानन्दः]* राष्ट्राय शुल्कदत्तवते सुखमार्गमुद्घाटयामि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र-एव हि) हे आत्मन् ! या राजन् ! ऐसे ही जैसे तुझे उत्पादक परमात्मा जन्म देता है वैसे ही (देवाः) दिव्य शक्तियां या विद्वान् (मां तवसम्-उग्रं जज्ञुः) मुझ बलवान् प्रतापी को मानते हैं-सम्पन्न करते हैं (कर्मन् कर्मन् वृषणम्) प्रत्येक कर्म शरीर के अन्दर रक्तवहन जीवनप्रदान आदि कर्म में सुखवर्षक को, या राष्ट्र में प्रत्येक कर्मविभाग में सुखवर्षक को (मन्दसानः-महिना वज्रेण वृत्रं वधीम्) मैं प्राण विकसित होता हुआ महान् ओज से आवरक रोग या मल को शरीर से नष्ट करता हूं या मैं राज्यमन्त्री राष्ट्र से अनायास महान् अस्त्र से आक्रमणकारी को नष्ट करता हूं (दाशुषे व्रजम्-अपवम्) रस प्रदान करने वाले अङ्ग के लिए मार्ग खोलता हूं या राष्ट्र के लिये शुल्कोपहार देने वाले राष्ट्रवासी के लिये सुखमार्ग खोलता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—शरीर के अन्दर परमात्मा जैसे आत्मा को बसाता है ऐसे ही दिव्य शक्तियाँ रक्तवाहक जीवनप्रद सुखवर्षक प्राण को बसाती हैं। प्राण ओज के साथ विकसित होता हुआ आवरक रोग और मन को शरीर से बाहर निकालता है। इस प्रदान करने वाले अङ्ग के लिए मार्ग खोलता है तथा राष्ट्र में परमात्मा जैसे अपने आदेशों नियमों से राजा को बनाता है। ऐसे ही विद्वान् लोग राज्यमन्त्री को बनाते हैं। राष्ट्र के प्रत्येक कर्म विभाग में सुख को बरसाने वाला राज्यमन्त्री होता है वह बाहरी आक्रमणकारी को नष्ट करता है और शुल्कोपहार देने वाले का मार्ग खोलता है ॥ ७ ॥

देवास आयन्परशूँरबिभ्रन् वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन् ।
नि सुद्र्वं१ दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद् दहन्ति ॥ ८ ॥

देवासः । आयन् । परशून् । अबिभ्रन् । वना । वृश्चन्तः । अभि । विट्ऽभिः । आयन् । नि । सुद्र्वम् । दधतः । वक्षणासु । यत्र । कृपीटम् । अनु । तत् । दहन्ति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवासः-आयन्) शल्यचिकित्सकविद्वांसो जिगीषवो योद्धारो वा-आयन्ति (परशून्-अबिभ्रन्) छेदकशस्त्राणि धारयन्ति (वना वृश्चन्तः) वनानि काष्ठानि छेदयन्त इव, वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। (विड्भिः-अभि-आयन्) उपचारार्थं विविधान्नौषधिभिः सह ता गृहीत्वा-आगच्छन्ति *"अन्नं विट्" [तै० सं० ३ । ५ । ७ । २]* यद्वा प्रशस्तप्रजाभिः सेनाभिरभ्यायन्ति (वक्षणासु) नदीसदृशीषु नाडीषु यद्वा जलनदीषु *'वक्षणा नदीनाम' [निघं० १ । ३]* (सुद्र्वं निदधतः) सुद्रवणशीलं रसं शुद्धरक्तं यद्वा

शत्रुरक्तं निधारयन्तः (यत्र) यस्मिन्-अङ्गे प्रदेशे वा (कृपीटम्) जलम्-रक्तरहितं रक्तस्थाने जलम् *"कृपीटमुदकनाम"* [*निघं० १ । १२*] (तत्-अनुदहन्ति) तदङ्गं दग्धं कुर्वन्त्यौषधैः पुनर्नवाङ्गप्ररोहणाय यद्वा तत्र राष्ट्रप्रदेशे जलमनु छिन्नं क्षतं शत्रुशरीरं दहन्ति ॥ ८॥

भाषान्वयार्थ—(देवासः-आयन्) शल्यचिकित्सक विद्वान् या संग्रामविजय के इच्छुक योद्धा आते हैं (परशून्-अबिभ्रन्) छेदक शस्त्रों को धारण करते हैं (वना वृश्चन्तः) काष्ठों का छेदन करते हुओं की भाँति (विड्भिः-अभि-आयन्) उपचारार्थ अन्न ओषधियों के साथ—उन्हें लेकर आते हैं या प्रशस्तप्रजाओं—सेनाओं के साथ आक्रमण करते हैं (वक्षणासु) नाडियों या नदियों में (सुद्रवं निदधतः) सम्यक् द्रवणशील—बहने वाले रस शुद्ध रक्त को या शत्रुरक्त को ग्रहण करते हुए (यत्र) जिस अङ्ग में या प्रदेश में (कृपीटम्) जल रक्तरहित जल अर्थात् रक्त के स्थान पर जल को (तत्-अनु दहन्ति) उस अङ्ग को औषधों से दग्ध करते हैं फिर नया अङ्ग आने के लिए या उस राष्ट्र प्रदेश में शत्रुओं द्वारा नष्ट किए जल शोधते हैं क्षत विक्षत हुए शत्रुशरीर को जलाशय पर दग्ध करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्राणिशरीर के दूषित हो जाने पर शल्यचिकित्सक तथा ओषधिचिकित्सक नाडियों में बहते हुए रक्त के स्थान पर जल वाले अङ्ग को शस्त्र से छेद कर या औषधों से दग्ध कर स्वस्थ बनाते हैं तथा राष्ट्र बाह्य उपद्रव से ग्रस्त हो तो शस्त्रधारी योद्धाओं और विविध सेनाओं के द्वारा उपद्रवकारियों को नष्ट करके क्षत विक्षत किये हुए शत्रुओं के शरीरों को जलाशय के समीप भस्म करदें ॥ ८ ॥

शशः क्षुरं प्रत्यञ्चं जगाराद्रिं लोगेन व्यभेदमारात् ।
बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः ॥ ९ ॥

शशः । क्षुरम् । प्रत्यञ्चम् । जगार । अद्रिम् । लोगेन । वि । अभेदम् । आरात् । बृहन्तम् । चित् । ऋहते । रन्धयानि । वयत् । वत्सः । वृषभम् । शूशुवानः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शशः प्रत्यञ्चं क्षुरं जगार) हे आत्मन् ! राजन् ! वा मम प्राणस्य प्रभावेण यद्वा मम राज्यमन्त्रिणः प्रभावेण शशो लघुपशुरपि प्रत्यागच्छन्तं क्षुरं क्षुरवन्तं तीक्ष्णनखवन्तं सिंहमपि निगरति निगरणे शक्तो भवति यद्वा शशसदृशोऽल्पकायो जनोऽपि क्षुरवन्तं शस्त्रवन्तं परसैनिकं निगरणे शक्तो भवति (लोगेन-अद्रिम्-आरात्-वि-अभेदम्) अहं च प्राणो मांसलेनाङ्गेनापि पर्वतं भिन्नं कुर्यां समीपमागच्छन्तं यद्वाऽयं राज्यमन्त्री मुद्गरवता सैनिकेन सह पर्वतसमानं शस्त्रधारिणं परशत्रुं विदीर्णं कुर्यां समीपमागच्छन्तम् (ऋहते बृहन्तं चित्-रन्धयानि) ह्रस्वकायाय बृहन्तं महाकायं धर्षयितुमपि वशं नयामि *"ऋहत् ह्रस्वनाम"* *निघं० ३ । २*] (वत्सः शूशुवानः-वृषभं वयत्) अल्पवयस्को मम प्रभावेण प्रवृद्धः सन् *"श्वि गतिवृद्ध्योः"* [*भ्वादि०*] ततः यङन्तः प्रयोगः सम्प्रसारणं च वृषभकायं दूरं नयेत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(शशः प्रत्यञ्चं क्षुरं जगार) हे आत्मन् या राजन् ! मुझ प्राण के प्रभाव से या मुझ राज्यमन्त्री के प्रभाव से शश-छोटा प्राणी भी आक्रमण करते हुए तीक्ष्ण नखवाले सिंह को निगलने में–परास्त करने में समर्थ हो जाता है या शश जैसा अल्प शरीर वाला मनुष्य भी शस्त्रधारी पर-सैनिक को निगलने में–परास्त करने में समर्थ हो जाता है (लोगेन-अद्रिम्-आरात्-वि-अभेदम्) मैं प्राण मांसल केवल मांस वाले अंग से भी सम्मुख प्राप्त हुए पर्वत को भी तोड़ देता हूं या मैं राज्यमन्त्री मुद्गर–काष्ठ साधन से भी सैनिक के द्वारा पर्वत समान सम्मुख आये शस्त्रधारी शत्रु को विदीर्ण कर देता हूं (ऋहते बृहन्तं–चित् रन्धयानि) अल्पशरीर वाले के लिये महान् महाकाया वाले को भी वश में ला सकता हूं (वत्सः शूशुवानः-वृषभं वयत्) अल्प अवस्था वाले मेरे प्रभाव से प्रवृद्ध हुआ सांड सदृश काया वाले को दूर भगा दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राण के प्रबल होने पर शश जैसा छोटा प्राणी भी तीक्ष्ण पञ्जों वाले सिंह जैसे पशु को परास्त कर देता है। मांस वाले अंग पर्वत सदृश कठोर प्रदेश को छिन्नभिन्न कर देता है। लघु शरीर के लिए महा शरीर वाले को दबा देता हूं। प्राण के प्रभाव से छोटा बच्चा भी बड़े सींग वाले को भगा देता है तथा कुशल राज्यमन्त्री के प्रभाव से साधारण प्रजाजन साधारण साधन से शस्त्रधारी शत्रु को परास्त कर देता है। ऐसे ही साधारण साधन से पर्वत समान् बलवान् शत्रु को भी नष्ट भ्रष्ट कर देता है। हीन काया वाले प्रजाजन के लिए सांड सदृश सींग वाले को दूर भगा देता है ॥ ६ ॥

सुपर्ण इत्था नखमा सिषायावरुद्धः परिपदं न सिंहः ।
निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान् गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् ॥१० ॥

सुऽपर्णः । इत्था । नखम् । आ । सिसाय । अवऽरुद्धः । परिऽपदम् । न । सिंहः । निऽरुद्धः । चित् । महिषः । तर्ष्याऽवान् । गोधा । तस्मै । अयथम् । कर्षत् । एतत् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुपर्णः) शरीरे प्राणः *"प्राणो वै सुपर्णः"* [श० ब्रा० १ । ८] राष्ट्रे भासपक्षीव सुप्रगतिशीलो राज्यमन्त्री (इत्था नखम्-आसिषाय) सत्यं नह्यति बध्नाति येन तत् *"नहेर्हलोपश्च"* [उणादि ५ । २३] इति खः प्रत्ययः। बन्धन-बलम् समन्ताद् बध्नाति यद्वा राष्ट्रे नखसमानं शस्त्रं स्वशरीरे बध्नाति (अवरुद्धः सिंहः परिपदं न) यथा कस्मिंश्चिद् वनप्रदेशेऽवरुद्धः सिंहो निजरक्षास्थानं समन्ताद् बध्नाति (निरुद्धः-चित् तर्ष्यावान् महिषः) यथा तृषातुरो महिषः पशुः कस्मिंश्चित् काष्ठगोष्ठे निरुद्धो भवति तादृशो यो रोगः शत्रुर्वा भवेत् (तस्मै गोधा-अयथम्-एतत् कर्षत्) तस्मै-तमेतं गोधया गां प्रगतिं दधाति या तया प्रबलनाडीशक्त्यानायासं-बहिर्गमयेत्, यद्वा राज्यमन्त्री गां माध्यमिकां वाचं विद्युतं दधाति या तया रज्ज्वा तच्छिरान्निष्कर्ष-येत् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(सुपर्णः) शरीर में प्राण या राष्ट्र में बाज पक्षी की भांति सुप्रगतिशील राज्यमन्त्री (इत्था नखम्-आसिषाय) हां बन्धन बल को भलीभांति बांधता है या नखसमान

तीक्ष्ण शस्त्र को अपने शरीर में बांधता है (अवरुद्धः-सिंहः परि पदं न) जैसे किसी वनप्रदेश में घिरा हुआ सिंह निजरक्षा स्थान की भली भांति शरण लेता है (निरुद्धः-चित् तर्ष्यावान् महिषः) या जैसे पिपासु बलवान् भैंसा किसी काष्ठ बाड़े में रोका हुआ होता है ऐसा जो रोग या शत्रु हो (तस्मै गोधा-अयथम्-एतत् कर्षत्) उसके लिये—उसको गोधा अर्थात् गति को धारण करने वाली प्रबल नाड़ी शक्ति से अनायास प्राण बाहर कर दे या राज्यमन्त्री गोधा अर्थात् माध्यमिक वाणी—विद्युत् को धारण करती है जो डोरी उसके द्वारा शिविर से बाहर निकाल दे ॥ १० ॥

भावार्थ—शरीर में प्राण अपने प्रबल बन्धन को बांधता है-या फैलाता है अपने क्षेत्र में जैसे सिंह अपने रक्षा स्थान को सुरक्षित रखता है और बलवान् भैंसे सदृश रोगों को प्रबल नाड़ी शक्ति से उसे बाहर निकाल फेंकता है तथा राष्ट्र में सुप्रगतिशील राज्यमन्त्री तीक्ष्ण शस्त्रों को रक्षार्थ बाँधता है। अपने क्षेत्र में सिंह जैसे अपने रक्षा स्थान को पकड़ता है और भैंसे जैसे बलवान् शत्रु को विद्युत्तन्त्री द्वारा अपने क्षेत्र से बाहर निकाल फेंकता है ॥ १० ॥

तेभ्यो॑ गो॒धा अ॒यथं॑ कर्षदे॒तद्ये ब्र॒ह्मणः॑ प्रति॒पीय॒न्त्यन्नैः॑ ।
सि॒म उ॒क्ष्णो॑ऽवसृ॒ष्टाँ अ॑दन्ति स्व॒यं बला॑नि त॒न्वः॑ शृणा॒नाः ॥ ११ ॥

तेभ्यः॑ । गो॒धाः । अ॒यथ॑म् । क॒र्षत् । ए॒तत् । ये । ब्र॒ह्मणः॑ । प्र॒तिऽपीय॑न्ति । अन्नैः॑ । सि॒मः । उ॒क्ष्णः । अ॒व॒ऽसृ॒ष्टान् । अ॒द॒न्ति । स्व॒यम् । बला॑नि । त॒न्वः॑ । शृ॒णा॒नाः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये ब्रह्मणः-अन्नैः प्रतिपीयन्ति) ये रोगा उपद्रवकारिणो वा ब्रह्मणः-ब्रह्म द्वितीयार्थे षष्ठी व्यत्ययेन शरीरे प्राणम् "प्राणो वै ब्रह्म" [श० १४ । ६ । १० । २] ब्रह्मास्त्रवेत्तारं राष्ट्रे राज्यमन्त्रिणं वा अन्नदोषैरन्नं निमित्तीकृत्य वा हिंसन्ति "पीयति हिंसाकर्मा" [निघं० ४ । २५] तथा (तन्वः-बलानि स्वयं शृणानाः (शरीरस्य राष्ट्रकलेवरस्य वा बलानि स्वतः नाशयन्तः (सिमः-अवसृष्टान्-उक्ष्णः-अदन्ति) सर्वान् शरीरे सङ्गतान् रक्तसेचकान् पिण्डान्, राष्ट्रे सम्बद्धान्—आदेशविभागान् भक्षयन्ति (तेभ्यः) तान् "द्वितीयार्थे चतुर्थी व्यत्ययेन" (एतत्-गोधाः-अयथं कर्षत्) एषा प्रगतिधारिका नाड़ी विद्युत्तन्त्री वा-अनायासेन शरीराद्राष्ट्राद्वा बहिर्निष्कर्षयति निस्सारयति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये ब्रह्मणः-अन्नैः प्रतिपीयन्ति) जो शरीर में रोग या राष्ट्र में उपद्रवकारी, शरीर में प्राण को और राष्ट्र में ब्रह्मास्त्रवेत्ता राज्यमन्त्री को, अन्नदोषों से या अन्नको निमित्त बनाकर पीड़ित करते हैं, तथा (तन्वः-बलानि स्वयं शृणानाः) शरीर के या राष्ट्रकलेवर के बलों को स्वतः नष्ट करते हुए (सिमः-अवसृष्टान्-उक्ष्णः-अदन्ति) सब शरीर में सङ्गत रस रक्त बहाने वाले यकृतादि पिण्डों को राष्ट्र में सम्बद्ध आदेश विभागों को खाते हैं (तेभ्यः) उनको (एतत्-गोधाः-अयथं कर्षत्) शरीर में ये प्रगतिधारिका नाड़ी या राष्ट्र में विद्युत्तन्त्री अनायास शरीर से या राष्ट्र से बाहर निकाल देती है ॥ ११ ॥

भावार्थ—शरीर में अन्नदोषों से हुए रोग प्राण को हानि पहुंचाते हैं और शरीर के बलों

को नष्ट करते हुए रसरक्त-सेचक पिण्डों को भी गला देते हैं, तथा राष्ट्र में अन्न को निमित्त बना-कर उपद्रवकारी राज्यमन्त्री को पीड़ित करते हैं और राष्ट्र के बलों को उद्दण्ड होकर नष्ट करते हुए राष्ट्र के बढ़ाने वाले विभागों को ध्वस्त करते हैं, उनको बिजली की तन्त्री या अस्त्रशक्ति से राष्ट्र से बाहर निकाल देना चाहिये ॥ ११ ॥

एते शमीभिः सुशमी अभूवन् ये हिन्विरे तन्व१ः सोम उक्थैः ।
नृवद्वदन्नुप नो माहि वाजान् दिवि श्रवो दधिषे नाम वीरः ॥ १२ ॥

एते । शमीभिः । सुऽशमी । अभूवन् । ये । हिन्विरे । तन्वः । सोम । उक्थैः । नृवत्ऽवदन् । उप । नः । माहि । वाजान् । दिवि । श्रवः । दधिषे । नाम । वीरः ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये सोम-उक्थैः-तन्वः हिन्विरे) ये सोम्यसुखनिमित्त-मन्नैः *"अन्नमुक्थानि"* [कौ० ११ । ८] शरीराणि प्रजा वा वर्धयन्ति "हि गतौ वृद्धौ च" [स्वादि०] (एते शमीभिः सुशमी अभूवन्) एते हि कर्मभिः *"शमी कर्मनाम"* [निघं० ३ । १] सुकर्मिणो देहधारिणो राज्याधिकारिणो वा सुखभागिनो भवन्ति (नृवत्-वदन् नः-वाजान् उपमाहि) हे आत्मन् ! राजन् वा त्वं नेतृवत्-नेतेव शब्दयन्–घोषयन् वाऽस्मभ्यं भागानुपयोजयोपयुक्तान् कुरु (वीरः-दिवि श्रवः-नाम दधिषे) वीरः सन् दिव्यशरीरे दिव्यपदे वा यशो नाम धारय–धारयसि ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये सोमे-उक्थैः-तन्वः-हिन्विरे) जो सुन्दर सुखनिमित्त अन्नों द्वारा शरीरों या प्रजाओं को बढ़ाते हैं (एते शमीभिः सुशमी-अभूवन्) ये ही कर्मों के द्वारा शुभकर्मा देहधारी या राज्याधिकारी सुखभागी होते हैं (नृवत्-वदन् नः-वाजान्-उप-माहि) हे आत्मन् या राजन् ! तू नेता ही बोलता हुआ घोषित करता हुआ हम प्राण जैसे या राज्यमन्त्री जैसों के लिये भोगों को उपहृत कर–भेंट दे (वीरः-दिवि श्रवः-नाम दधिषे) वीर होता हुआ दिव्य शरीर में या दिव्य राजपद पर यशोरूप नाम धारण कर ॥ १२ ॥

भावार्थ—उत्तम सुख के निमित्त अन्नों द्वारा शरीर को बढ़ाना कर्मों द्वारा श्रेष्ठ देहधारी बनना आत्मशक्ति के द्वारा उत्तम अध्यात्म भोगों को सिद्ध करना यशस्वी प्रसिद्ध करना जीवन का लक्ष्य है तथा विविध अन्नों से राष्ट्र में सुखप्रसार करना श्रेष्ठ कर्मों के आचरणों से शरीरवान् बनना राजा के आदेश में रहकर सुख भोगना यशस्वी प्रसिद्ध करना राज्य की सफलता है ॥ १२ ॥



एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वसुक्रः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ५, ७ विराट् त्रिष्टुप् । २, ४, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ।
३, ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

अस्मिन् सूक्त इन्द्रशब्देन परमात्मा वर्ण्यते तद्द्वारा वेदज्ञान-प्रकाशः सृष्टिरचनं चोच्यते प्रसङ्गत उपासनाप्रकाराश्चापि वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में इन्द्र शब्द से परमात्मा कहा गया है और उसके द्वारा वेदज्ञान का प्रकाश एवं सृष्टिरचना तथा उपासनप्रकार भी कहे हैं ।

वने न वायो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता । नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ॥ १ ॥

वने । न । वायः । नि । अधायि । चाकन् । शुचिः । वाम् । स्तोमः । भुरणौ । अजीगरिति । यस्य । इत् । इन्द्रः । पुरुऽदिनेषु । होता । नृणाम् । नर्यः । नृऽतमः । क्षपाऽवान् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वने न नि-अधायि वायः) वृक्षाणां समूहे वने वृक्षाणां मध्ये निधृतो वेः पक्षिणः शिशुः (भुरणौ चाकन्) भरणकर्त्तारौ स्वमातापितरौ पश्यन् *"चाकन् चायन्"* [*निरु० ६ । २८*] *"चायृ-पूजानिशामनयोः"* [*भ्वादि०*] यद्वा कामयमानः *"चाकन् कामयमानो वा"* [निरु० ६ । २८] अथवा गच्छन् *"कनी दीप्तिगतिकान्तिषु"* [*भ्वादि०*] यद्वा शैशवसौन्दर्येण दीप्यमानः यथा भवति तथा (शुचिः स्तोमः-अजीगः) पवित्रकारकः स्तुतिसमूहो मन्त्रगणो वेदः खल्वग्निप्रभृतिषु परमर्षिषु प्रसिद्धः, भरणकर्त्तारावध्यापकाध्येतारौ ! (वाम्) युवयोरर्थे प्राप्तः (यस्य-इन्द्रः क्षपावान्) यस्य मन्त्रगणस्य वेदस्य प्रकाशयिता परमात्मा रात्रिमान् प्रलयवान् प्रलयस्वामी प्रलयेऽपि वर्त्तमानः प्रलयानन्तरम् *"क्षपा रात्रिनाम"* [*निघ० १ । ७*] (पुरुदिनेषु होता)

बहुदिनेषु बहूनि दिनानि यावदाप्रलयं दाता भवति (नृणां नृतमः-नर्यः) समस्तजीवन-नेतॄणामत्यन्त नेता नरेभ्यो मनुष्येभ्यो हितकरः कल्याणकर उपासनीयः ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वने न नि-अधायि वायः) वन में रहे पक्षीशिशु के समान (भुरणौ चाकन्) भरण करने वाले–पोषण करने वाले अपने मातापिताओं को देखता हुआ या चाहता हुआ अथवा उनकी ओर जाता हुआ या बचपन के सौन्दर्य से दीप्यमान जैसे होता है ऐसा (शुचिः स्तोमः-अजीगः) पवित्रकारक स्तुति-समूह–मन्त्रगण–वेद अग्नि आदि परमऋषियों के अन्दर प्रसिद्ध हुआ भरण करने वाले–पोषण करने वाले हे अध्यापक और अध्येता ! (वाम्) तुम्हारे लिये प्राप्त हुआ (यस्य-इन्द्रः क्षपावाम्) जिस मन्त्रगण–वेदका प्रकाशक परमात्मा प्रलयस्वामी प्रलय में भी वर्तमान–प्रलय के अनन्तर (पुरुदिनेषु होता) बहुत दिनों तक के निमित्त प्रलयपर्यन्त तक प्रदान करने वाला है वह (नृणां नृतमः-नर्यः) समस्त जीवन के नेताओं में अत्यन्त नेता मनुष्यों के लिये हितकर-कल्याणकारक उपासनीय है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रलय के अनन्तर अग्नि आदि ऋषियों के अन्दर हितैषी परमात्मा के द्वारा प्रसिद्ध हुआ वेद प्रलयपर्यन्त मनुष्यों के कल्याणार्थ अध्यापक और पढ़ाने वाले के द्वारा पोषणीय–रक्षणीय है। वह परमात्मा उपासनीय है ॥ १ ॥

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम् ।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान् ॥ २ ॥

प्र । ते । अस्याः । उषसः । प्र । अपरस्याः । नृतौ । स्याम । नृऽतमस्य । नृणाम् । अनु । त्रिऽशोकः । शतम् । आ । अवहत् । नॄन् । कुत्सेन । रथः । यः । असत् । ससऽवान् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नृणां नृतमस्य ते अस्याः-उषसः) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! नायकानामप्यत्यन्तनायकस्य तवास्याः खलूषसो वेदज्ञानदीप्तेः सम्प्रति प्राप्तायाः (नृतौ प्र स्याम) नयने नीत्यां प्रगतिशीलाः स्याम (अपरस्या प्र०) आगामिनि दिने श्वोऽपि वेदज्ञानदीप्तेर्नयने मार्गे प्रगतिशीला भवेम (त्रिशोकः) त्रिसृषु स्तुतिप्रार्थनोपासनासु यद्वा तिसृषु विद्यासु वर्त्तमानो ज्ञानप्रकाशो यस्य तथाभूतो महाविद्वान् *"शोचति ज्वलति-कर्मा"* [*निघ० १ । १६*] (शतं नॄन्-अनु-आवहत्) बहून् नायकान् जनान् तव ज्ञानं वेदमवाप्य त्वमनु वहति पश्चाच्चालयति शिष्यान् सम्पादयति (यः कुत्सेन ससवान्) यो हि तव कुत्सः स्तुतिकर्त्ता *"कुत्सः कर्त्ता स्तुतीनाम्"* [*निरु० ३ । १२*] ज्ञानस्य सम्भाजकः *"ससवान् सम्भाजकः"* [*ऋ० ३ । २२ । १ दयानन्दः*] (रथः-असत्) सर्वेषां रमणाश्रयो भवति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(नृणां नृतमस्य ते अस्याः-उषसः) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! नायकों के भी अत्यन्त तुझ नायक की इस ज्ञानदीप्ति की (नृतौ प्र स्याम) नीति में हम प्रगतिशील हों (अपरस्याः प्र०) आगामी दिन कल भी उस ज्ञान दीप्ति की नीति में हम प्रगतिशील हों (त्रिशोकः) तीनों—स्तुति प्रार्थना उपासनाओं में या ज्ञानकर्मउपासना रूप त्रयीविद्या में वर्त्तमान ज्ञानप्रकाश जिसका है वह ऐसा महाविद्वान् (शतं नून्-अनु-आवहत्) बहुतेरे नायक जनों को तेरे ज्ञान वेद को प्राप्त करके अपने को उसके अनुकूल चलाता है पुनः दूसरे शिष्यों को भी चलाता है (यः-कुत्सेन ससवान्) जो तेरा स्तुति करने वाला ज्ञान का सम्भाजक—पूर्णज्ञानी है (रथः-असत) वह सबका रमण आश्रय होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—महान् नेता परमात्मा की ज्ञानज्योति वेद सदा मार्गदर्शक है। उसमें वर्णित स्तुति, प्रार्थना, उपासना या ज्ञान, कर्म, उपासना में दीप्त हुआ—प्रकाशमान हुआ परमात्मा का उपासक ज्ञान का धारण करने वाला सबको ज्ञान देने वाला आश्रय करने के योग्य है ॥ २ ॥

कस्ते मदं इन्द्र रन्त्यो भूद्दुरो गिरो अभ्युग्रो वि धाव ।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

कः । ते । मदः । इन्द्र । रन्त्यः । भूत् । दुरः । गिरः । अभि । उग्रः । वि । धाव । कत् । वाहः । अर्वाक् । उप । मा । मनीषा । आ । त्वा । शक्याम् । उपऽमम् । राधः । अन्नैः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (ते) तुभ्यम् (कः-मदः-रन्त्यः-भूत्) कः स्तुतिसमूहः स्तुतिमन्त्रभागो रमणयोग्यो भवति योऽपि स्यात् (दुरः-अभि धाव) तं द्वारमभिलक्ष्य प्राप्तो भव "दुरः" बहुवचन व्यत्ययेन (गिरः-वि० "धाव") अस्माकं प्रार्थनावाचः प्रति विशिष्टतया प्राप्तो भव ताः स्वीकुरु (मनीषा कद्-वाहः-अर्वाक्-मा-उप) स्तुत्या *"मनीषा मनीषया स्तुत्या"* [*निरु० २ । २५*] कदाऽस्माकं वहनीयः प्रापणीयस्त्वं मामभिमुखमुप गमिष्यसि (अन्नैः) सोमैरुपासनारसैः *"अन्नं वै सोमः"* [*श० ३ । ६ । १ । ८*] (उपमं त्वा राधः) समीपं वर्त्तमानं त्वां राधनीयं परमात्मानम् (आ शक्याम्) प्राप्तुं शक्नुयाम्-इत्याशासे ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (कः-मदः-रन्त्यः-भूत) कौनसा स्तुतिसमूह—मन्त्रभाग रमण करने योग्य है, जो भी हो (दुरः-अभि धाव) उसे द्वार बनाकर प्राप्त हो (गिरः-वि०) हमारे प्रार्थना वचनों के प्रति विशिष्ट रूप से प्राप्त हो उन्हें स्वीकार कर (मनीषा कद्-वाहः-अर्वाक्-मा-उप) स्तुति के द्वारा कब हमारे वहनीय-प्रापणीय तू मुझे—मेरी ओर प्राप्त होगा (अन्नैः) उपासना-रसों द्वारा (उपमं त्वा राधः) समीप वर्त्तमान तुझ आराधनीय परमात्मा को (आ शक्याम्) प्राप्त कर सकूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उपासक को परमात्मा की ऐसे मन्त्रों द्वारा स्तुतियां करनी चाहिये जिससे कि

वह परमात्मा उन्हें स्वीकार करें, और अपने अन्दर किये उपासना भावों से वह प्राप्त हो-सके ॥ ३ ॥

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

कत् । ऊँ इति । द्युम्नम् । इन्द्र । त्वाऽवतः । नॄन् । कया । धिया । करसे । कत् । नः । आ । अगन् । मित्रः । न । सत्यः । उरुऽगाय । भृत्यै । अन्ने । समस्य । यत् । असन् । मनीषाः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र कत्-उ द्युम्नम्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! कदा हि खल्वस्मासु तद्यशो भविष्यति 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा [निरु० ५ । ५] येन (त्वावतः-नॄन् कया धिया करसे) त्वत्सदृशान् मुक्तान्-अस्मान् जनान् कया च स्तुत्या करिष्यसि (कत्-नः-आ-अगन्) कदाऽस्मान् प्राप्तो भविष्यसि (उरुगाय) हे बहुस्तुतियोग्य वा बहुकीर्तनीय परमात्मन् ! (सत्यः-मित्रः-न) स्थिरसखेव (भृत्यै) भरणाय पोषणाय (समस्य) सर्वस्य (अन्ने) अन्नप्रदाननिमित्तम् (मनीषाः-यत्-असन्) स्तुतयो याः सन्ति यतः सफला भवेयुः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र कत्-उ द्युम्नम्) हे ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! कब ही हमारे अन्दर वह यश होगा (त्वावतः नॄन् कया धिया करसे) तेरे जैसे मुक्त हम उपासक जनों को किस स्तुति से करेगा (कत् नः-आ-अगन्) कब मैं प्राप्त होऊँगा (उरुगाय) हे बहुत स्तुति करने योग्य या बहुत कीर्त्तन करने योग्य परमात्मन् ! (सत्यः-मित्रः-न) स्थिर मित्र के समान (भृत्यै) पोषण के लिये (समस्य) सब के (अन्ने) अन्न प्रदान करने के निमित्त—भोगप्रदान करने के निमित्त (मनीषाः-यत्-असन्) स्तुतियाँ जिससे सफल होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासक जनों का मित्र है उसकी विशेष स्तुति करनी चाहिये । जिससे संसार में रहते हुए ऊँचा यशस्वी बने और मुक्ति में उसके संग का आनन्द लाभ ले सके ॥ ४ ॥

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥

प्र । ईरय । सूरः । अर्थम् । न । पारम् । ये । अस्य । कामम् । जनिधाःऽइव । ग्मन् । गिरः । च । ये । ते । तुविऽजात । पूर्वीः । नरः । इन्द्र । प्रतिऽशिक्षन्ति । अन्नैः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तुविजात-इन्द्र) बहुगुणप्रसिद्ध-ऐश्वर्यवन् परमात्मन्

(सूरः-न-अर्थं पारं प्रेरय) सूर्यो यथा रश्मिं प्रेरयति तथा त्वमर्थमर्थवन्तमर्थिनं मुमुक्षुं पारं मोक्षं प्रति प्रेरय (ये) ये मुमुक्षवः (अस्य कामं जनिधाः-इव ग्मन्) अस्य मोक्षस्य कामं धारयन्तो भार्यां धारयन्तो गृहस्था इव गृहस्थाश्रमं प्राप्नुवन्ति तद्वदुपासकाः सन्ति (च) अथ च (गिरः पूर्वीः) स्तुतीः श्रेष्ठाः (ते) तुभ्यम् (ये नरः) ये मुमुक्षवो जनाः (अन्नैः प्रतिशिक्षन्ति) उपासनारसान् "द्वितीयार्थे तृतीया व्यत्ययेन" प्रयच्छन्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(तुविजात-इन्द्र) हे बहुत गुणों से प्रसिद्ध ऐश्वर्यवन् परमात्मन् (सूरः-न-अर्थं पारं प्रेरय) सूर्य जैसे रश्मि को प्रेरित करता है वैसे मुझ प्रार्थी मुमुक्षु को मोक्ष के प्रति प्रेरित कर (ये) जो मुमुक्षुजन (अस्य कामं जनिधाः-इव ग्मन्) इस मोक्ष के काम को भार्या के धारण करने वाले गृहस्थ जैसे गृहस्थाश्रम को प्राप्त होते हैं वैसे उपासक जन मोक्ष को प्राप्त होते हैं (च) और (गिरः-पूर्वीः) श्रेष्ठ स्तुतियां (ते) तेरे लिये (ये नरः) जो मुमुक्षुजन (अन्नैः प्रतिशिक्षन्ति) उपासनारस को प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति करने वाले तथा उपासना रसों को भेंट देने वाले उपासक जन अपने अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त होते हैं जैसे गृहस्थजन गृहस्थाश्रम के सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥

मात्रे इति । नु । ते । सुमिते इति सुऽमिते । इन्द्र । पूर्वी इति । द्यौः । मज्मना । पृथिवी । काव्येन । वराय । ते । घृतऽवन्तः । सुतासः । स्वाद्मन् । भवन्तु । पीतये । मधूनि ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (ते) तव (मज्मना काव्येन) बलवता कलाप्रकारेण रचिते (पूर्वी) पूर्व्यौ पूरयित्र्यौ श्रेष्ठे वा (द्यौः पृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च (मात्रे नु सुमिते) मातृसदृश्यौ सुमानयुक्ते (ते) तयोर्मध्ये (घृतवन्तः सुतासः) रसवन्तः सोमादयो वनस्पतयः (वराय) श्रेष्ठजनाय-उपासकाय (स्वाद्मन् पीतये) सुस्वादुभोजननिमित्तं तथा च पानाय (मधूनि) मधुराणि चोभयभोजनपाननिमित्तानि फलानि (भवन्तु) सन्तु ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (ते) तेरे (मज्मना काव्येन) बलिष्ठ कला प्रकार से रचे हुए (पूर्वी) पूरण करने वाली या श्रेष्ठ (द्यौः पृथिवी) द्युलोक और पृथ्वी-लोक (मात्रे नु सुमिते) माता के समान उत्तम माप से युक्त (ते) उन दोनों के मध्य में (घृतवन्तः सुतासः) रस वाली सोमादि वनस्पतियाँ (वराय) श्रेष्ठजन–उपासक के लिये (स्वाद्मन् पीतये) सुस्वादु भोजन के निमित्त तथा कुछ पीने के लिए (मधूनि) मीठे दोनों प्रकार के खाने पीने के निमित्त फल (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने महान् बल और रचनाकौशल से द्युलोक और पृथ्वी लोक को रचा तथा रसीले अन्नों फलों से पूर्ण वनस्पतियों को भी उत्पन्न किया है। उपासक जन उनका संयम से मधुर स्वाद लेते हैं। वह स्तुति करने योग्य है ॥ ६ ॥

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

आ । मध्वः । अस्मै । असिचन् । अमत्रम् । इन्द्राय । पूर्णम् । सः । हि । सत्यऽराधाः । सः । वावृधे । वरिमन् । आ । पृथिव्याः । अभि । क्रत्वा । नर्यः । पौंस्यैः । च ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्मै-इन्द्राय) एतस्मै-ऐश्वर्यवते परमात्मने (पूर्णम्-अमत्रम्) समग्रमन्तःकरणं विज्ञानपात्रम् (मध्वः-आ-असिचन्) मधुरोपासनारसेन स्तोतारः सिञ्चन्ति (सः-हि सत्यराधाः) स परमात्मा स्थिरानन्दधनवान्-अस्ति । (सः-नर्यः पृथिव्याः-वरिमन्) स मुमुक्षुभ्यो हितः परमात्मा शरीरस्य श्रेष्ठप्रदेशे हृदये *"यच्छरीरं पुरुषस्य सा पृथिवी"* [*ऐ० आ० २ । ३ । ३*] *"वरिमन्-अतिशयेन श्रेष्ठे"* [*ऋ० ६ । ६३ । ११ दयानन्दः*] (क्रत्वा पौंस्यैः-च-अभि वावृधे) प्रज्ञानेन योगाभ्यासरूप-पुरुषार्थैश्चाभिवृद्धिमाप्नोति साक्षाद्-भवति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्मै-इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् परमात्मा के लिये (पूर्णम्-अमत्रम्) समस्त अन्तःकरण विज्ञानपात्र को (मध्वः-आ-असिचन्) मधुर उपासना रस से उपासक सींचते हैं (स हि सत्यराधाः) वह परमात्मा ही स्थिर रूप से आनन्द घन वाला है। (सः-नर्यः पृथिव्याः-वरिमन्) वह मुमुक्षुओं के लिए हितकर परमात्मा शरीर के श्रेष्ठ प्रदेश हृदय में (क्रत्वा पौंस्यैः-च-अभि वावृधे) प्रज्ञान से और योगाभ्यास रूप पुरुषार्थों के द्वारा अभिवृद्ध होता है साक्षात् होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपने अन्तःकरण को उपासना द्वारा भरपूर करना चाहिये। परमात्मा ही स्थायी सुख का आधार है। वह शरीर के श्रेष्ठ प्रदेश हृदय में ज्ञान और योगाभ्यासों के द्वारा साक्षात् होता है ॥ ७ ॥

व्यानळिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥ ८ ॥

वि । आनट् । इन्द्रः । पृतनाः । सुऽओजाः । आ । अस्मै । यतन्ते । सख्याय । पूर्वीः । आ । स्म । रथम् । न । पृतनासु । तिष्ठ । यम् । भद्रया । सुऽमत्या । चोदयासे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्वोजाः-इन्द्रः) शोभनतेजस्वी तथैश्वर्यवान् परमात्मा (पृतनाः-व्यानट्) मनुष्यान् *"पृतनाः-मनुष्याः"* [*निघं० २ । ३*] व्याप्नोतितदन्तःकरणेषु (पूर्वीः-अस्य सख्याय-आयतन्ते) श्रेष्ठप्रजाः-उपासकजना अस्मै-अस्य खल्विन्द्रस्य परमात्मनः-व्यत्ययेन षष्ठीस्थाने चतुर्थी, सखिभावाय सहयोगाय समन्ताद् यतन्ते कांक्षन्ति अथ प्रत्यक्षदृष्टयोच्यते (पृतनासु रथं न स्म-आतिष्ठ) मनुष्येषु स्वकीयरमणयोग्यमानन्दं सम्प्रति "नकारः सम्प्रत्यर्थे" आस्थापय 'इत्यन्तर्गतणिजर्थः' (यं भद्रया सुमत्या चोदयासे) यं रमणयोग्यमानन्दं भजनीयया स्तुत्या-भजनीयां स्तुतिं लक्ष्यीकृत्य मनुष्येषु प्रेरयसि ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(स्वोजाः-इन्द्रः) सुन्दर तेजवाला ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पृतनाः-व्यानट्) मनुष्यों को–मनुष्यों के अन्तःकरणों में व्याप्त है (पूर्वीः-अस्य सख्याय-आयतन्ते) श्रेष्ठ प्रजायें–उपासक जन इस परमात्मा के मित्रभाव के लिये भली भाँति चाहना करते हैं (पृतनासु रथं न स्म-आतिष्ठ) मनुष्यों में स्वकीयरमण योग्य आनन्द को तत्काल भली–भाँति स्थापित कर (यं भद्रया सुमत्या चोदयासे) जिस रमणयोग्य आनन्द को भजनीयस्तुति द्वारा–भजनीय स्तुति को लक्ष्य करके मनुष्यों के अन्दर तू प्रेरित करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ओजस्वी तथा ऐश्वर्यवान् परमात्मा मनुष्यों के अन्तःकरणों में व्याप्त रहता है उपासक जन मित्रभाव के लिए उसे अपनाना चाहते हैं उनके अन्दर परमात्मा अपने आनन्द रस को स्तुतिओं द्वारा प्रेरित किया करता है ॥ ८ ॥



त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कवष ऐलूषः ।

देवता—आपः, अपान्नपाद्वा ।

छन्दः—१, ३, ९, ११, १२, १५, निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ६, ८, १४ विराट् त्रिष्टुप् । ५, ७, १०, १३ त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

अत्र सूक्ते राजप्रजाधर्मा उपदिश्यन्ते ।

इस सूक्त में राज़ा और प्रजा के धर्मों का उपदेश किया गया है ।

प्र दे॒व॒त्रा ब्रह्म॑णे गा॒तुरे॑त्व॒पो अच्छा॒ मन॑सो॒ न प्रयु॑क्ति ।
म॒हीं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य धा॒सिं पृ॑थु॒ज्रय॑से रीरधा सुवृ॒क्तिम् ॥ १ ॥

प्र । दे॒व॒ऽत्रा । ब्रह्म॑णे । गा॒तुः । ए॒तु॒ । अ॒पः । अच्छ॑ । मन॑सः । न । प्रऽयु॑क्ति ।
म॒हीम् । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । धा॒सिम् । पृ॒थु॒ऽज्रय॑से । री॒र॒ध॒ । सु॒ऽवृ॒क्तिम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ब्रह्मणे) प्रजापतये प्रजापतित्वाय प्रजापतिपदप्राप्तये प्रजापालकराजपदाय *"प्रजापतिर्वै ब्रह्मा"* [काठ०-१४ । ७] सोमः सोम्यो नवराजः (गातुः) प्रगतिशीलः (अपां नपात्) प्रजा न पातयिता-प्रजारक्षकः (देवत्रा-अपः-अच्छ प्र-एतु) देवभाववतीः *"देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्"* [अष्टा० ५ । ४ । ५६] इति द्वितीयायाः त्राप्रत्ययः मनुष्यप्रजाः *"मनुष्या वा आपश्चन्द्राः"* [श० ७ । ३ । १ । २०] *"आपः आप्ताः प्रजाः"* [यजु० ६ । २७ दयानन्दः] आभिमुख्येन साक्षात् प्रगच्छतु (मनसः-न प्रयुक्ति) यथा मनसः प्रयोजनं स्वाभीष्टं प्रगच्छति (मित्रस्य वरुणस्य महीं धासिं सुवृक्तिम्) संसारे कर्मकरणाय प्रेरकस्य मोक्षे वरयितुः परमात्मनस्तद्विहितां महतीं धारणीयां भुक्तिं राज्यभुक्तिं तथा सुगमतया वर्जनयोग्या दुःखप्रवृत्तिर्यया तां मुक्तिं च *"सुवृक्तिं सुष्ठु वर्जयन्ति दुःखानि यया ताम्"* [ऋ० ७ । ३६ । २ दयानन्दः] (पृथुज्रयसे रीरध) विस्तृतो ज्ञानवेगो यस्य तस्मै नवराजाय राजपदप्रतिष्ठिताय *"पृथुज्रयाः पृथुजवः"* [निरु० ५ । १०] हे पुरोहित ! राधय घोषय-उपदिश च ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(ब्रह्मणे) प्रजापति के लिये प्रजापालक पदप्राप्ति के लिये–राजपदप्राप्ति के लिये नवीन राजा (गातुः) प्रगतिशील (अपां नपात्) प्रजाओं को न गिराने वाला -प्रजाओं का रक्षक (देवत्रा-अपः-अच्छ प्र-एतु) देवभाववाली मनुष्य प्रजाओं को साक्षात् प्राप्त

हो (मनसः-न प्रयुक्ति) जैसे मन का प्रयोजन–अभीष्ट प्राप्त होता है सामने आता है (मित्रस्य वरुणस्य महीं धासिं सुवृक्तिम्) संसार में कर्म करने के लिये तथा मोक्ष में वरने वाले परमात्मा की विधान की हुई महती धारण करने योग्य राजभुक्ति–भोग सामग्री तथा सुगमता से त्यागने योग्य दुःख प्रवृत्ति जिससे हो अर्थात् मुक्ति को (पृथुज्रयसे रीरध) विस्तृत ज्ञान वेगवाले नवीन राजा के लिये हे पुरोहित ! तू घोषित कर समझा बतला ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा राजपद पर विराजमान होकर प्रजाओं के रक्षण हेतु उनसे सम्पर्क बनाये रखे और पुरोहित को चाहिये कि वह राजा को ऐश्वर्यभोग के साथ साथ मुक्तिप्राप्ति के साधनों का भी उपदेश देता रहे ॥ १ ॥

अध्वर्यवो हविष्मन्तो हि भूताऽच्छाप इतोशतीरुशन्तः ।
अव याश्चष्टे अरुणः सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ताः ॥ २ ॥

अध्वर्यवः । हविष्मन्तः । हि । भूत । अच्छ । अपः । इत । उशतीः । उशन्तः । अव । याः । चष्टे । अरुणः । सुऽपर्णः । तम् । आ । अस्यध्वम् । ऊर्मिम् । अद्य । सुऽहस्ताः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध्वर्यवः) हे राजसूययज्ञस्याध्वर्युप्रभृतय ऋत्विजः ! यूयम (हविष्मन्तः-हि भूत) हव्यवन्तोऽवश्यं भवत (उशतः-उशतीः-अपः-अच्छ-इत) निजराजसूयं कामयमानस्य राज्ञो यूयं चापि तद्राजसूयं कामयमानाः प्रजा आभिमुख्येन प्राप्नुत इति सम्बोध्य पुरोहितः सूचयेत् (अरुणः सुपर्णः-याः-अवचष्टे) आरोचनः-राजपदे समन्तात् प्रकाशमानः सुष्ठुपालनकर्त्ता नवराजपदस्थो राजा याः प्रजा अवपश्यति-सम्यग् जानाति (तम्-ऊर्मिम्-अद्य सुहस्ताः-आ-अस्यध्वम्) तं जलानामूर्मिमिवो-परिस्थितं यद्वाऽऽच्छादनं समन्ताद् रक्षणकर्त्तारम् *"ऊर्मिरूर्णोतेः"* [*निरु० ५ । २३*] अद्य राजसूयेऽवसरे शोभनोपहारवस्तुयुक्ताः सन्तः समन्ताद् गृह्णीत स्वीकुरुत ग्राहयत स्वीकारयत च *"अस गतिदीप्त्यादानेषु"* [*भ्वादि०*] विकरणव्यत्ययश्छान्दसः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध्वर्यवः) हे राजसूय यज्ञ के अध्वर्यु आदि ऋत्विजो ! तुम (हविष्मन्तः-हि भूत) हवि वाले होओ–हवि देने को अवश्य उद्यत होओ (उशतः-उशतीः-अपः-अच्छ-इत) निजराजसूय यज्ञ को चाहने वाले राजा के राजसूययज्ञ को चाहने वाली तुम प्रजाओ ! साक्षात् यज्ञ में प्राप्त होओ ऐसी घोषणा पुरोहित करे (अरुणः सुपर्णः-याः-अवचष्टे) राजपद पर प्रकाशमान उत्तम पालनकर्त्ता नवीन राजा जिन प्रजाओं को अपनी जानता है (तम्-ऊर्मिम् -अद्य सुहस्ताः आ-अस्यध्वम्) उस जलों की उच्च तरंग के समान ऊपर स्थित या आच्छादन करने वाले–रक्षण कर्त्ता इस राजसूय अवसर पर शोभन उपहार देने वाली प्रजाएँ उपहार ग्रहण करावें ॥ २ ॥

भावार्थ—नवराजा के राजसूय यज्ञ में ऋत्विग्जन आमन्त्रित हुए राजसूययज्ञ का आरम्भ करें और प्रजाजन भी उस राजसूययज्ञ में राजा को राजपद पर विराजमान हुए को देखें । वह

राजा उन प्रजाओं का उत्तम पालन करने का लक्ष्य बनाकर उन्हें अपनावे। प्रजायें भी उसे विविध उपहार प्रदान करें॥ २॥

अध्वर्यवोऽप इता समुद्रमपां नपातं हविषा यजध्वम्।
स वो ददद्रूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत॥ ३॥

अध्वर्यवः। अपः। इत। समुद्रम्। अपाम्। नपातम्। हविषा। यजध्वम्। सः। वः। ददत्। ऊर्मिम्। अद्य। सुऽपूतम्। तस्मै। सोमम्। मधुऽमन्तम्। सुनोत॥ ३॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध्वर्यवः) हे राजसूययज्ञस्यर्त्विजः! यूयम् (अपः-इत) प्रजाजनान् प्राप्नुत तथा (अपां नपातं समुद्रं हविषा यजध्वम्) प्रजाजनानां न पातयितारं पूर्णरक्षकं समुद्रसमानमाधारं गम्भीरं च राजानमुपहारेणाशीर्दानेन समागमे योजयत (सः) स राजा (वः) युष्मभ्यम् (अद्य-ऊर्मिम् ददत्) अस्मिन् राजसूयावसरे प्रजाभ्यः प्राप्तं सारं दातव्यं भागं ददातु-दास्यतीत्यर्थः, तस्मात् (तस्मै सुपूतं मधुमन्तं सोमं सुनोत) नवराजपदे स्थिताय राज्ञे शुद्धं मधुररसोपेतं सोमरसं राजसूये निःसारयत यद्वा राज्यैश्वर्यं राज्यविधानेन संसाधयत॥ ३॥

भाषान्वयार्थ—(अध्वर्यवः) हे राजसूय यज्ञ के ऋत्विजो! तुम (अपः-इत) प्रजाजनों को प्राप्त होओ तथा (अपां नपातं समुद्रं हविषा यजध्वम्) प्रजाजनों के न गिराने वाले अर्थात् पूर्ण रक्षक समुद्र समान गम्भीर राजा को उपहार और आशीर्वाद देने द्वारा समागम में प्रेरित करो (सः) वह राजा (वः) तुम्हारे लिये (अद्य-ऊर्मिम्-ददत) इस राजसूय अवसर पर प्रजाओं से प्राप्त उपहार में से दातव्यभाग देवे—देगा, अतः (तस्मै सुपूतं मधुमन्तं सोमं सुनोत) उसके लिये शुद्ध मधुर रस युक्त सोम को राजसूय में निकालो या राज्यैश्वर्य को विधान द्वारा सिद्ध करो॥ ३॥

भावार्थ—राजसूययज्ञ में ऋत्विक् लोग प्रजाजनों का राजा के साथ उपहार द्वारा परिचय समागम करावें। प्रजाओं द्वारा प्राप्त उपहार में से राजा ऋत्विजों को भी प्रदान कर उनका सत्कार करे॥ ३॥

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥ ४॥

यः। अनिध्मः। दीदयत्। अप्ऽसु। अन्तः। यम्। विप्रासः। ईळते। अध्वरेषु। अपाम्। नपात्। मधुऽमतीः। अपः। दाः। याभिः। इन्द्रः। ववृधे। वीर्याय॥ ४॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-अप्सु-अन्तः) यो राजपदस्थो राजा प्रजासु-मध्ये

(अनिध्मः-दीदयत्) अहोरात्रमनपेक्षमाणो निरन्तरमित्यर्थः *"अहोरात्राणीध्मः"* [काठ० ६ । ६] प्रकाशते (यं विप्रासः-अध्वरेषु-ईळते) यं खल्वृत्विजो राजसूययज्ञावसरेषु प्रशंसन्ति (अपां नपात्) प्रजाजनानां न पातयिता तेषां रक्षकः सः (मधुमतीः-अपः-दाः) मधुमतीभ्योऽद्भ्यः, चतुर्थ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययेन मधुरस्वभाववतीभ्यः प्रजाभ्यः सुखं देहि-ददासि (याभिः-इन्द्रः-वीर्याय वावृधे) याभिः प्रजाभिः सह पराक्रमकरणाय राजा भृशं वर्धते ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः-अप्सु-अन्तः) राजपदस्थ जो राजा प्रजाओं के मध्य में (अनिध्मः-दीदयत्) रात दिन की अपेक्षा न करके अर्थात् निरन्तर अपने गुण प्रभावों से प्रकाशमान रहता है (यं विप्रासः-अध्वरेषु-ईळते) जिसको ऋत्विज् राजसूययज्ञ के अवसरों में प्रशंसित करते हैं प्रसिद्ध करते हैं (अपां नपात्) वह तू प्रजाओं का रक्षक राजन् ! (मधुमतीः-अपः-दाः) मधुर स्वभाववाली अनुशासन में रहने वाली प्रजाओं के लिये सुख देता रह (याभिः-इन्द्रः-वीर्याय वावृधे) जिन प्रजाओं के द्वारा पराक्रम-प्राप्ति के लिये बढ़ा करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वदेशीयजनों में जो जन अपने गुणप्रभावों से प्रसिद्ध होता है। पुरोहितादि ऋत्विज् लोग राजसूय यज्ञ द्वारा राजपद पर उसे बिठाते हैं। प्रजाजनों द्वारा राजा बल पराक्रम को प्राप्त होता है उसे सदा प्रजा को सुखी रखना चाहिये ॥ ४ ॥

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः ।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात् ॥ ५ ॥

याभिः । सोमः । मोदते । हर्षते । च । कल्याणीभिः । युवतिऽभिः । न । मर्यः । ताः । अध्वर्यो इति । अपः । अच्छ । परा । इहि । यत् । आऽसिञ्चाः । ओषधीभिः । पुनीतात् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(याभिः सोमः-मोदते हर्षते च) याभिः प्रजाभिः सह सोमो राजा सङ्गच्छते *"मुद संसर्गे"* [चुरादि०] णिज्विधेरनित्यत्वात् तदभावः तथा हर्षमाप्नोति च (मर्यः-न युवतिभिः कल्याणीभिः) यथा मनुष्यो मिश्रणस्वभाववतीभिः कल्याणसाधिकाभिः पारिवारिकस्त्रीभिः सह सहयोगं हर्षं च प्राप्नोति (अध्वर्यो:-ताः-अपः-अच्छ परेहि) हे राजसूययज्ञस्य याजक ऋत्विक् त्वं ताः प्रजाः-अभिमुखीकृत्याभिलक्ष्य प्राप्तो भव (ओषधीभिः-आसिञ्चाः पुनीतात्) राजसूययज्ञेऽभिषिक्ते राज्ञि प्रजा अपि खल्ववशिष्टाभिरद्भिः *"आपो वा ओषधयः"* [मै० २ । ५] समन्तात् सिञ्च प्रजात्वेन प्रजाप्रतिनिधिभूतान्-अधिकारिणो जनान्-एवं पवित्रीकुरु सत्यसङ्कल्पमयान् कुरु-अधिकारिपदे स्थापनाय प्रतिज्ञां कारयित्वा ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(याभिः-सोमः-मोदते हर्षते च) जिन प्रजाओं के साथ नवीन राजा संसर्ग करता है-मेल करता है और प्रसन्नता को प्राप्त होता है (मर्यः-न युवतिभिः कल्याणीभिः) जैसे मनुष्य मिलने के स्वभाववाली तथा कल्याण साधने वाली पारिवारिक स्त्रियों के साथ मेल

और हर्ष को प्राप्त करता है (अध्वर्यो-ताः-अपः-अच्छ परेहि) हे राजसूययज्ञ के याजक ! तू उन प्रजाओं को अभिमुख कर–लक्ष्यकर उन्हें प्राप्त हो (ओषधीभिः-आसिश्वाः पुनीतात्) राजसूययज्ञ में राजा के अभिषिक्त हो जाने पर प्रजाओं को भी अवशिष्ट जल से अभिषिक्त कर अर्थात् प्रजा के प्रतिनिधि अधिकारिजनों को पवित्र कर और सत्यसङ्कल्प बनाकर अधिकारिपद के लिये प्रतिज्ञा करा ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि प्रजाओं के साथ समागम और हर्ष आनन्द को प्राप्त करे। ऋत्विक् जैसे राजा का राज्याभिषेक करे वैसे प्रजा के प्रतिनिधि प्रमुखजनों को अधिकारिपद पर नियुक्त करने के लिये अभिषिक्त एवं प्रतिज्ञाबद्ध करे ॥ ५ ॥

एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः ॥ ६ ॥

एव । इत् । यूने । युवतयः । नमन्त । यत् । ईम् । उशन् । उशतीः । एति । अच्छ । सम् । जानते । मनसा । सम् । चिकित्रे । अध्वर्यवः । धिषणा । आपः । च । देवीः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यूने युवतयः-नमन्त) मिश्रयित्रे जनाय मिश्रयित्र्यो नार्यो नम्रीभवन्ति (एव-इत्) एवं हि (यत्-ईम्) यदा खलु (उशन्-उशतीः-अच्छ-एति) प्रजाः कामयमानो राजा तथा राजानं कामयमानाः प्रजाः प्रति खल्वभ्येति–अभिप्राप्नोति (अध्वर्यवः) राजसूययज्ञस्य नेतार ऋत्विजः *"अध्वर्युरध्वरस्य नेता"* [*निरु० १ । ८*] (मनसा सञ्जानते सञ्चिकित्रे) मनोभावेन राज्याभिषेकार्थं राजसूये कार्ये संयुज्यन्ते सहमता भवन्ति तथा सम्यक् पश्यन्ति साधु मन्यन्ते (धिषणा-आपः-देवीः च) प्रतिज्ञारूपया वाचा च *"धिषणा वाङ्नाम"* [*निघं० १ । ११*] *"सुपां सुलुक्"* [*अष्टा० ७ । १ । ३९*] इति टाविभक्तेर्लुक् दिव्याः प्रजाश्च सञ्जानते सहमता भवन्ति तथा च सम्यक् कल्याणं पश्यन्ति-अनुभवन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यूने युवतयः-नमन्त) मिश्रण स्वभाव वाले जन के लिये मिश्रण स्वभाववाली पारिवारिक स्त्रियां नम्र स्वभाव से वर्त्तने वाली हो जाती हैं (एव-इत्) ऐसे ही (यत्-ईम्) जब भी (उशन्-उशतीः-अच्छ-एति) प्रजा को चाहने वाला राजा राजा को चाहने वाली प्रजाओं को प्राप्त होता है (अध्वर्यवः) हे राजसूययज्ञ के नेता ऋत्विजो ! (मनसा सञ्जानते सञ्चिकित्रे) मनोभाव से राज्याभिषेकार्थ राजसूययज्ञ के द्वारा राजा से संयुक्त होते हैं सहमत होते हैं तथा सम्यक् देखते हैं–अच्छा मानते हैं (धिषणा-आपः-देवीः-च) प्रतिज्ञारूप वाणी के द्वारा दिव्य प्रजाएँ भी सहमत होती हैं और सम्यक् देखती हैं–अच्छा मानती हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा प्रजाजन परस्पर वैर भाव से रहित एक दूसरे से मिश्रण स्वभाव रखने वाले होने चाहियें और राष्ट्र के अन्य नेताजन भी मनोभाव से प्रजा के साथ सहमत होते हुए वर्त्तें तथा प्रजाजन भी उत्तम गुणों से युक्त हुए सहमति से वर्त्तें ॥ ६ ॥

यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत् ।
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः ॥ ७ ॥

यः । वः । वृताभ्यः । अकृणोत् । ऊँ इति । लोकम् । यः । वः । मह्याः । अभिऽशस्तेः । अमुञ्चत् । तस्मै । इन्द्राय । मधुऽमन्तम् । ऊर्मिम् । देवऽमादनम् । प्र । हिणोतन । आपः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) इन्द्रः–राजा (वः-वृताभ्यः-लोकम्-अकृणोत्-उ) युष्मभ्यं वृताभ्यः प्रजात्वेन स्वीकृताभ्यः खलु सुखलोकं सुखप्रदस्थानं करोति (यः) यश्च राजा (वः) युष्मान् (मह्याः-अभिशस्तेः-अमुञ्चत्) महत्याः परेण शत्रुणा प्रयुक्ताया हिंसायाः–मुञ्चति–वारयति (तस्मै-इन्द्राय) तस्मै राज्ञे (आपः-मधुमन्तं देवमादनम्-ऊर्मिम् प्रहिणोतन) हे प्रजाः–प्रजाजनाः–यूयं मधुरम्–इन्द्रियप्रसादकर-मुन्नतमुपहारं प्रेरयत–उपहरत ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो राजा (वः-वृताभ्यः-लोकम्-अकृणोत्-उ) तुम वरण की हुई–प्रजाभाव से स्वीकार की हुई प्रजाओं के लिये सुखप्रदस्थान सम्पन्न करता है (यः) और जो (वः) तुम्हें (मह्याः-अभिशस्तेः-अमुञ्चत्) शत्रु द्वारा प्रेरित महती हिंसा से छुड़ाता है–बचाता है (तस्मै-इन्द्राय) उस राजा के लिए (आपः-मधुमन्तं देवमादनम्-ऊर्मिं प्रहिणोतन) हे प्रजाओ–प्रजाजनो ! तुम इन्द्रियप्रसादक मधु उन्नत अर्थात् उत्तम उपहार को समर्पित करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा जैसे प्रजाओं को कृपा और रक्षा से स्वीकार करता है–अपनाता है तथा विरोधी के प्रहारों से बचाता है वैसे ही प्रजा को भी राजा के लिये भाँति भाँति की उत्तम वस्तुएँ भेंट देनी चाहिये ॥ ७ ॥

प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः ।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वापो रेवतीः शृणुता हवं मे ॥ ८ ॥

प्र । अस्मै । हिनोत । मधुऽमन्तम् । ऊर्मिम् । गर्भः । यः । वः । सिन्धवः । मध्वः । उत्सः । घृतऽपृष्ठम् । ईड्यम् । अध्वरेषु । आपः । रेवतीः । शृणुत । हवम् । मे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धवः) हे राष्ट्रस्य बन्धयितृयस्तस्याधारभूताः प्रजाः *"तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः"* [जै० उ० १ । ६ । २ । ६] (वः) युष्माकम् (यः-उत्सः-गर्भः) गर्भ इव ग्राह्यो राजग्राह्यो भागो मर्यादात उत्कृष्टोऽस्ति (मधुमन्तम्-ऊर्मिम्-अस्मै प्र हिनोत) तं मधुरमुल्लासरूपमस्मै राज्ञे प्रेरयत-प्रयच्छत (घृतपृष्ठम्-ईड्यम्) घृतं तेजः पश्चाद्यस्य तथा च-अध्येषणीयं प्रदेयमेव तं प्रयच्छतेति सम्बन्धः (अध्वरेषु

रेवतीः-आपः-मे हवं शृणुत) हे धनधान्यवत्यः प्रजाः ! राजसूययज्ञप्रसङ्गेषु मम पुरोहितस्य वचनं शृणुत—मन्यध्वम् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धवः) हे राष्ट्र को बांधने वाली—थामने वाली आधारभूत प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा-तुम्हारे द्वारा दिया हुआ (यः-गर्भः-उत्सः) जो राजा द्वारा ग्राह्य भाग उत्कृष्ट है (मधुमन्तम्-ऊर्मिम्-अस्मै-प्रहिनोत) उस मधुर उल्लासरूप-प्रसन्नताकारक को इस राजा के लिये देओ (घृतपृष्ठम्-ईड्यम्) जो कि तेजस्वी प्रेरणा देने वाला है उसे देओ (अध्वरेषु रेवतीः-आपः-मे हवं शृणुत) हे धनधान्य वाली प्रजाओ ! राजसूययज्ञप्रसङ्गों में मुझ पुरोहित के वचन को सुनो—स्वीकार करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रजायें राष्ट्र का आधार हैं उनकी ओर से मर्यादा से दिया हुआ राजा के लिये उपहार भाग ग्रहण करने योग्य है। राष्ट्र कार्य में उत्साह व प्रेरणा का देने वाला है। अवश्य देना चाहिये ॥ ८ ॥

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम् ॥ ९ ॥

तम्। सिन्धवः। मत्सरम्। इन्द्रऽपानम्। ऊर्मिम्। प्र। हेत। यः। उभे इति। इयर्ति। मदऽच्युतम्। औशानम्। नभःऽजाम्। परि। त्रिऽतन्तुम्। विऽचरन्तम्। उत्सम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धवः) हे राष्ट्रस्य बन्धयित्र्यः (तं मत्सरम्-इन्द्रपानम्-ऊर्मिं प्रहेत) तं हर्षकरं राजपेयं राजग्राह्यं प्रवृद्धं रक्षणसाधनं राज्ञे प्रेरयत-प्रयच्छत (यः-उभे-इयर्ति) यो राज्ञे युष्माभिर्दातव्यो भाग उभे सुखे इहलोकपरलोकविषयके सुखे प्रेरयति प्रयच्छति (मदच्युतम्-औशानं नभोजाम्) राष्ट्रे हर्षप्रचारकं कामनापूरकमाकाशे प्रसिद्धिप्रसारकम् (त्रितन्तुम्-उत्सं परिविचरन्तम्) त्रयस्तन्तवः पितामह-पितृपुत्राः, तेषां यशो लोके येन भवति तथाभूतम्-उत्कृष्टकरं निजयोगक्षेमत उपरिगतं देयं दातव्यमेव ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धवः) हे राष्ट्र को थामने वाली आधारभूत प्रजाओ ! (तं मत्सरम्-इन्द्रपानम्-ऊर्मिं प्रहेत) उस हर्षाने वाले राजा के ग्रहण करने योग्य बढ़े—चढ़े रक्षासाधन भाग को राजा के लिये दो (यः-उभे-इयर्ति) जो राजा के लिये तुम्हारे द्वारा देने योग्य भाग है वह दोनों प्रकार के ऐहिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त कराता है (मदच्युतम्-औशानं नभोजाम्) राष्ट्र में हर्ष—प्रचारक कामनाओं का पूरक और आकाश में प्रसिद्धि फैलाने वाला (त्रितन्तुम्-उत्सं परिविचरन्तम्) पितामह, पिता और पुत्र के यश को देने वाले उत्कर्षकारक अपने योगक्षेम से ऊपर—अधिक देने योग्य ही है ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रजाओं द्वारा राजा के लिये अपने योगक्षेम से बचे हुए दातव्यभाग को देना

ही चाहिये। वह राजा के लिए साधिकार प्राप्त करने योग्य है। राजा और प्रजा के लिये राष्ट्र में सुख का सञ्चार करने वाला उभयलोक-सिद्धि के लिए दातव्य है ॥ ९ ॥

आवर्वृततीरध नु द्विधारा गोषुयुधो न नियवं चरन्तीः।
ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः ॥ १० ॥

आऽवर्वृततीः। अध। नु। द्विऽधाराः। गोषुऽयुधः। न। निऽयवम्। चरन्तीः। ऋषे। जनित्रीः। भुवनस्य। पत्नीः। अपः। वन्दस्व। सऽवृधः। सऽयोनीः ॥१०॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋषे) हे पुरोहित विद्वन् ! (अध नु) पुनरेवम् (भुवनस्य जनित्रीः पत्नीः) राजसूययज्ञस्य *"यज्ञो वै भुवनम्"* [*तै० ३।३।७।५*] जनयित्रीः सम्पादयित्रीः पालयित्रीः (सवृधः सयोनीः-अपः) राज्ञा सह राष्ट्रवृद्धिकर्मणि प्रवृत्ताः समानगृहाः समानदेशवासिनीश्च प्रजाः (वन्दस्व) प्रशंस, यतः (न) सम्प्रति, ताः (द्विधाराः-नु-आवर्वृततीः) द्विवाचः-राज्ञे कल्याणवाक् प्रार्थना निजहितार्था च प्रार्थना वाग्यासां ताः *"धारा वाङ्नाम"* [*निघं० १।११*] राजसूययज्ञे समन्ताद् भृशं प्रवर्त्तमानाः (गोषुयुधः) राष्ट्रभूभागेषु प्रापणशीलाः *"युध्यते गतिकर्मा"* [*निघ० २।१४*] (नियवं चरन्तीः) नियतं यथायोग्यमन्नं भोगं सेवमानाः शान्तश्च प्रशंसेति सम्बन्धः ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋषे) हे विद्वान् पुरोहित ! (अध नु) और फिर (भुवनस्य जनित्रीः पत्नीः) राजसूय यज्ञ के सम्पादन करने वाली तथा रक्षण करने वाली (सवृधः सयोनीः-अपः) राजा के साथ राष्ट्रवृद्धिकर्म में प्रवृत्त हुई समान देश वाली प्रजाओं को (वन्दस्व) प्रशंसित कर-सम्मानित कर, क्योंकि (न) अब (द्विधाराः-नु-आवर्वृततीः) दो वाणी वाली अर्थात् राजा के लिये कल्याण वाली निजहितार्थ प्रार्थना वाणी वाली तथा राजसूययज्ञ में भलीभांति प्रवर्त्तमान (गोषुयुधः) राष्ट्र-भूभागों में प्राप्त होने वाली–बसने वाली (नियवं चरन्ती) नियत रूप से यथा योग्य अन्नों को सेवन करती हुई प्रजाओं को प्रशंसित कर–सम्मानित कर ॥ १० ॥

भावार्थ—राजसूय यज्ञ में राजा के सत्कार के साथ साथ पुरोहित जन उस देश के वासी तथा राष्ट्र को समृद्ध करने वाली और नियमित रूप से सन्तोष के साथ अन्नादि भोग करने वाली प्रजाओं का भी स्वागत करे ॥ १० ॥

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः ॥ ११ ॥

हिनोत। नः। अध्वरम्। देवऽयज्या। हिनोत। ब्रह्म। सनये। धनानाम्। ऋतस्य। योगे। वि। स्यध्वम्। ऊधः। श्रुष्टीऽवरीः। भूतन। अस्मभ्यम्। आपः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवयज्या) हे ऋत्विजः ! यूयं देवयज्यायै-इष्टदेवस्य परमात्मनो सङ्गत्यै *"देवयज्या देवयज्यायै"* [*निरु० ६ । २२*] (नः-अध्वरं हिनोत) अस्माकं राजसूययज्ञं प्रहिणोत प्रगमयताऽभ्युदयाय निःश्रेयसाय च *'हि गतौ वृद्धौ च'* [*स्वादि०*] (धनानां सनये) धनस्य मोक्षैश्वर्यस्य निःश्रेयसस्य सम्भजनाय *"धनस्य सननाय"* [*निरु० ६ । २६*] (ब्रह्म हिनोत) स्तवनं प्रवर्धयत (ऋतस्य योगे) उक्तयज्ञस्य प्रयोगे (आपः) हे प्रजाः-प्रजाजनाः (ऊधः-विष्यध्वम्) गोरूध इव राष्ट्रोधः स्रावयत (अस्मभ्यं श्रुष्टीवरीः-भूतन) सुखवत्यो भवत *"श्रुष्टीवरीः सुखवत्यः"* [*निरु० ६ । २२*] ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवयज्या) हे ऋत्विग् जनो ! तुम लोग इष्ट देव परमात्मा की सङ्गति के लिए (नः अध्वरं हिनोत) हमारे राजसूययज्ञ को अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रगति दो, भलीभांति रचाओ तथा, (धनानां सनये) मोक्षैश्वर्य की सम्प्राप्ति के लिये (ब्रह्म हिनोत) स्तुतिवचन को प्रवृद्ध करो–उच्चरित करो (ऋतस्य योगे) उक्त यज्ञ के प्रयोग में (आपः) हे प्रजाजनो ! (ऊधः-विष्यध्वम्) राष्ट्र के सुखसम्पत्तिप्रद कोष को खोलो या उद्घाटित करो (अस्मभ्यं श्रुष्टीवरीः-भूतन) हमारे लिये सुख देने वाली होओ ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजसूययज्ञ को पुरोहितजन आस्तिक भावों तथा परमात्मा के विशेष स्तुति-वचनों द्वारा प्रारम्भ करें और बढ़ावें। प्रजाजनों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करें जिससे कि राजा प्रजा दोनों राष्ट्र सम्पत्ति से सुख प्राप्त करें–सुखलाभ लें ॥ ११ ॥

आपो॑ रेव॒तीः॒ क्षय॑था॒ हि वस्वः॒ क्रतुं॑ च भ॒द्रं बि॑भृ॒थामृतं॑ च ।
रा॒यश्च॒ स्थ स्व॑प॒त्यस्य॒ पत्नीः॒ सर॑स्वती॒ तद्गृ॑ण॒ते वयो॑ धात् ॥ १२ ॥

आपः॑ । रे॒व॒तीः॒ । क्षय॑थ । हि । वस्वः॑ । क्रतु॑म् । च॒ । भ॒द्रम् । बि॒भृ॒थ । अ॒मृत॑म् । च॒ । रा॒यः । च॒ । स्थ । सु॒ऽअ॒प॒त्यस्य॑ । पत्नीः॑ । सर॑स्वती । तत् । गृ॒ण॒ते । वयः॑ । धा॒त् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रेवतीः-आपः-वस्वः,क्षयथ हि) हे श्रीमत्यः प्रजा यूयं राष्ट्रधनस्य स्वामित्वं कुरुथ हि *"क्षयति :ऐश्वर्यकर्मा"* [*निघं० २ । २१*] (भद्रं क्रतुं च-अमृतं च बिभृथ) भजनीयमनुकूलं प्रज्ञानं सङ्कल्पं *"क्रतुः प्रज्ञानाम"* [*निघं० ३ । ९*] मृतत्वरहितं मोक्षसुखमिव सुखञ्च धारयथ (रायः स्वपत्यस्य च पत्नीः स्थ) भोगधनस्य सुसन्तानस्य वीरसन्तानस्य पालयित्र्यः स्थ (सरस्वती तत्-वयः-गृणते धात्) युष्माकं परिषत् खलु ज्ञानवती सती युष्माक प्रशासनं प्रवक्त्रे मह्य राज्ञे प्राणं धारयति *"प्राणो वै वयः* [*ऐ० १ । २८*] ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(रेवतीः-आपः-वस्वः क्षयथ हि) हे ऐश्वर्यवाली प्रजाओ ! तुम राष्ट्रिय धन का स्वामित्व करती हो (भद्रं क्रतुं च-अमृतं च बिभृथ) भजनीय अर्थात् अनुकूल सङ्कल्प

और अमृत अर्थात् मोक्ष सुख के समान सुख को धारण करती हो (रायः स्वपत्यस्य च पत्नीः स्थ) भोगधन और उत्तम सन्तान—वीर सन्तान की पालने वाली—धारण करने वाली हो (सरस्वती तत्-वयः-गृणते धात) तुम्हारी ज्ञानवती सभा मुझ शासनघोषणा करने वाले राजा के लिए प्राण को धारण कराती है ॥ १२ ॥

भावार्थ—किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रशासक प्रजाओं द्वारा निर्वाचित किया हुआ होना चाहिए। प्रजायें ही वास्तव में राष्ट्र की स्वामिनी हैं। वे उत्तम सन्तान की धनी हैं उनकी सभा राजा के शासन की विशेष विचारक शक्ति है ॥ १२ ॥

प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि ।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः ॥ १३ ॥

प्रति । यत् । आपः । अदृश्रम् । आऽयतीः । घृतम् । पयांसि । बिभ्रतीः । मधूनि । अध्वर्युऽभिः । मनसा । सम्ऽविदानाः । इन्द्राय । सोमम् । सुऽसुतम् । भरन्तीः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः) हे प्रजाः ! (यत्) यदा (घृतं पयांसि मधूनि बिभ्रतीः-आयतीः) राजसूययज्ञाय घृतं दुग्धमयानि वस्तूनि मधुराणि धारयन्तीरागच्छन्तीर्युष्मान् प्रति (अध्वर्युभिः-मनसा संविदानाः) राजसूययज्ञस्य नेतृभिर्विद्वद्भिः सभासद्भिः सह स्वमनसा खल्वैकमत्यं गता तदनुकूलीभूताः सतीः (इन्द्राय सुषुतं सोमं भरन्तीः) राज्ञे सुसम्पादितं सुसंस्कृतमुपहारं भरन्तीर्युष्मान् (प्रति-अदृश्रम्) अहं पुरोहितः पश्यामि तदा युष्मान् प्रशंसामीति शेषः ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः) हे प्रजा ! (यत) जिस समय (घृतं पयांसि मधूनि बिभ्रतीः-आयतीः) राजसूययज्ञ के लिये घी दूध की बनी हुई और मधुर वस्तुएँ धारण करती हुई और आती हुई तथा (अध्वर्युभिः-मनसा संविदानाः) राजसूययज्ञ के नेता विद्वानों के साथ मन से एक भाव को प्राप्त होती हुई (इन्द्राय सुषुतं सोमं भरन्तीः) राजा के लिये सुसंस्कृत उपहार को धारण करती हुई तुम को (प्रति-अदृश्रम्) मैं पुरोहित प्रत्यक्ष देखता हूँ—प्रशंसा करता हूँ ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजसूययज्ञ में प्रजाएँ भी ऋत्विजों की अनुमति में रहती हैं। घृत और मधुर आदि वस्तुएँ होमने को लावें तथा राजा के लिये अनुकूल उपहार भी भेंट करें ॥ १३ ॥

एमा अग्मन्रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः ।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः ॥ १४ ॥

आ । इमाः । अग्मन् । रेवतीः । जीवऽधन्याः । अध्वर्यवः । सादयत । सखायः । नि । बर्हिषि । धत्तन । सोम्यासः । अपाम् । नप्त्रा । सम्ऽविदानासः । एनाः ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इमाः-रेवतीः-जीवधन्याः-आ-अग्मन्) एताः श्रीमत्यः खलु जीवेषु धन्याः प्राणिषु पोषणधनाय हिताः *"जीवधन्या जीवेषु धन्या धनाय हिताः"* [*ऋ० १। ८०। ४ दयानन्दः*] प्रजाः खलु राजसूययज्ञमागच्छन्ति (अध्वर्यवः सखायः सादयत) हे राजसूययज्ञस्य नेतारो विद्वांसः ! यूयं ता उपवेशयत (बर्हिषि निधत्तन) राष्ट्रलोके नियोजयत *"अयं लोको बर्हिः"* [*श० १। ४। १। १४*] (सोम्यासः) राज्यैश्वर्यसम्पादिनोऽध्वर्यवः (अपां नप्त्रा संविदानासः-एनाः) यत एताः प्रजाः प्रजानां न पातयित्रा राज्ञा सहैकमत्यं गता यद्वा तेन सह मन्त्रणां कुर्वाणा वर्त्तन्ते तस्मात्ता उपवेशयत ॥ १४ ॥

भाषान्वायार्थ—(इमाः-रेवतीः-जीवधन्याः-आ-अग्मन्) ये ऐश्वर्यवाली प्राणियों में पोषण रूप धन की प्रेरणा करने वाली प्रजायें राजसूय यज्ञ में आती हैं (अध्वर्यवः सखायः सादयत) हे राजसूययज्ञ के नेता विद्वानो ! उन्हें तुम सद्भाव से बैठाओ (बर्हिषि निधत्तन) तथा राष्ट्र के योग्य अधिकार में नियुक्त करो (सोम्यासः) हे सोम सम्पादन करने वाले ऋत्विक् लोगो ! (अपां नप्त्रा संविदानासः-एनाः) प्रजाओं के पालन करने वाले राजा द्वारा एक मत हुई प्रजाओं को मन्त्रणा में भाग दो ॥ १४ ॥

भावार्थ—प्रजायें राष्ट्र में राष्ट्रिय जीवन को बल देने वाली होती हैं। उनसे यथायोग्य सहयोग लेना और अवसर अवसर पर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

आग्मन्नाप॑ उश॒तीर्ब॒र्हिरेदं न्य॑ध्व॒रे अ॑सद॒न्देव॒यन्तीः॑ ।
अध्व॑र्यवः सुनु॒तेन्द्रा॑य॒ सोम॒मभू॑दु वः सु॒शका॑ देव॒यज्या॑ ॥ १५ ॥

आ । अ॒ग्म॒न् । आपः॑ । उ॒श॒तीः । ब॒र्हिः । आ । इ॒दम् । नि । अ॒ध्व॒रे । अ॒स॒द॒न् । दे॒व॒ऽयन्तीः॑ । अध्व॑र्यवः । सु॒नु॒त । इन्द्रा॑य । सोम॑म् । अभू॑त् । ऊँ इति॑ । व॒ः । सु॒ऽशका॑ । दे॒व॒ऽयज्या॑ ॥ १५

संस्कृतान्वयार्थः—(अध्वरे) राजसूययज्ञे (उशतीः-देवयन्तीः-आपः) सुखं कामयमानास्तथा सुखदातारं राजानं स्वोपरि शासनकर्त्तारमिच्छन्त्यः प्रजाः (आ-अग्मन्) आगच्छन्–आगच्छन्ति, अथ (इदं बर्हिः-नि-असदन्) इमं यज्ञमण्डपमुपाविशन्-उपविशन्ति (अध्वर्यवः) हे राजसूययज्ञस्य नेतारः ! यूयम् (इन्द्राय) राज्ञे (सोमं सुनुत) सोम्यं राजैश्वर्यपदं सम्पन्नं कुरुत (वः-देवयज्या सुशका-अभूत्) युष्माकं सुखदातृ राज्ञ इष्टिः प्रजासहयोगेन सुगमतया कर्तुं शक्या सम्भवति ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध्वरे) राजसूययज्ञ में (उशतीः-देवयन्तीः-आपः) सुख की कामना करती हुई तथा सुखदाता राजा को अपने ऊपर शासनकर्त्ता चाहने वाली प्रजायें (आ-अग्मन्) आती हैं और (इदं बर्हिः-नि-असदन्) इस यज्ञमण्डप को प्राप्त होती हैं (अध्वर्यवः) हे राजसूययज्ञ के नेता विद्वानो ! तुम (इन्द्राय) राजा के लिये (सोमं सुनुत) राजैश्वर्यपद को सम्पन्न करो (वः-देवयज्या सुशका-अभूत्) तुम्हारे सुखदाता राजा का यज्ञ प्रजा के सहयोग से सुगमतापूर्वक कर सकना सम्भव है ॥ १५ ॥

भावार्थ—प्रजायें अपने ऊपर सुखदाता शासनकर्त्ता राजा को चाहती हैं। राजसूययज्ञ में विराजें और ऋत्विज् लोग राजसूययज्ञ को चलाते हुए प्रजा के सहयोग से राजा के राजैश्वर्यपद को सम्पन्न करें ॥ १५ ॥



एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कवष ऐलूषः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ५, ७, ११ त्रिष्टुप् । ३-१० विराट् त्रिष्टुप् । ६ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ९ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

अस्मिन्सूक्ते योगिनां संगत्या ज्ञानग्रहणं परमात्मध्यानेनानन्दप्राप्तिः सृष्टेः प्रसारणं परमात्मकार्यं प्रदर्श्यते ।

इस सूक्त में योगियों की संगति से ज्ञान परमात्मा के ध्यान से आनन्द की प्राप्ति सृष्टि का प्रसार परमात्मा का कार्य दिखाया गया है ।

आ नो॑ दे॒वाना॒मुप॑ वेतु॒ शंसो॒ विश्वे॑भिस्तु॒रैरव॑से॒ यज॑त्रः ।
तेभि॑र्व॒यं सु॑ष॒खायो॑ भवेम॒ तर॑न्तो॒ विश्वा॑ दु॒रिता॒ स्या॑म ॥ १ ॥

आ । नः॒ । दे॒वाना॑म् । उप॑ । वे॒तु॒ । शंस॑ः । विश्वे॑भिः । तु॒रैः । अव॑से । यज॑त्रः । तेभि॑ः । व॒यम् । सु॒ऽस॒खाय॑ः । भ॒वे॒म॒ । तर॑न्तः । विश्वा॑ । दुः॒ऽइ॒ता । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानां नः शंसः-यजत्रः) कामयमानानामस्माकं शंसनीयः स्तोतव्यः सङ्गमनीयश्च परमात्मा (उप-आ वेतु) उपागच्छतु साक्षाद् भवतु (विश्वेभिः-तुरैः-अवसे) समस्तैर्यमैर्यतिभिर्योगिभिः सह *"तुर इति यमनाम तरतेः"* *[निरुक्त १२ । १४]* संसारसागरं पारयितुं यतमानैः रक्षणाय योगिनामुपदेशं श्रुत्वा वयं परमात्मनः साक्षात्कारे प्रवृत्ता भवेमेति यावत् (तेभिः-सुसखायः-वयं भवेम) तैर्योगिभिर्वयं समानधर्माणः-समानपरमात्मसाक्षात्कारवन्तो भवेम (विश्वा दुरिता तरन्तः स्याम) समस्तानि पापानि पारयन्तो भवेम ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानां नः शंसः-यजत्रः) कामना करते हुए हम लोगों का प्रशंसनीय—स्तुतियोग्य सङ्गमनीय परमात्मा (उप-आ वेतु) समीप प्राप्त हो—साक्षात् हो (विश्वेभिः तुरैः-अवसे) सब या प्रवेश पाए हुए यतियोगियों संसारसागर को पार करने में यत्न करने वालों के

द्वारा रक्षा के लिए अर्थात् उनके उपदेश सुनकर हम परमात्मसाक्षात्कार में प्रवृत्त रहें (तेभिः सुसखायः-वयं भवेम) उन यतियोगियों के साथ समानधर्मी हम होवें । (विश्वा दुरिता तरन्तः स्याम) समस्त पापों को पार किये हुए हम होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा के साक्षात् समागम की कामना करनी चाहिए, यतियोगियों के सत्सङ्ग उपदेशों के अनुसार साधना कर निष्पाप हो संसारसागर को पार करें ॥ १ ॥

परि॑ चि॒न्मर्तो॒ द्रवि॑णं ममन्यादृ॒तस्य॑ प॒था नम॒सा वि॑वासेत् ।

उ॒त स्वेन॒ क्रतु॒ना सं व॑देत॒ श्रेयां॑सं॒ दक्षं॒ मन॑सा जगृभ्यात् ॥ २ ॥

परि॑ । चि॒त् । मर्तः॑ । द्रवि॑णम् । म॒म॒न्या॒त् । ऋ॒तस्य॑ । प॒था । नम॑सा । आ । वि॒वा॒से॒त् । उ॒त । स्वेन॑ । क्रतु॑ना । सम् । व॒दे॒त॒ । श्रेयां॑सम् । दक्ष॑म् । मन॑सा । ज॒गृ॒भ्या॒त् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मर्तः-द्रविणं परि चित्-ममन्यात्) मनुष्यो ज्ञानधनं सर्वतोऽपि कामयेत (ऋतस्य पथा मनसा विवासेत्) अमृतस्य-मोक्षस्य *"ऋतममृतमित्याह"* *[जं० २ । १६]* मार्गेण स्वान्तःकरणेन श्रद्धया सेवेत (उत स्वेन क्रतुना संवदेत) अपि स्वकीयेन प्रज्ञानेन *"क्रतुः प्रज्ञानाम"* *[निघं० ३ । ६]* विचारयेत् (श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्) श्रेष्ठमात्मबलं मनसा-मनोभावेन गृह्णीयात् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(मर्तः-द्रविणं परिचित्-ममन्यात्) मनुष्य ज्ञानधन को सब ओर से कामना करे (ऋतस्य पथा मनसा विवासेत्) अमृत अर्थात् मोक्ष के मार्ग से अपने अन्तःकरण अर्थात् श्रद्धा से उसे सेवन करे (उत स्वेन क्रतुना संवदेत) और अपने प्रज्ञान से–चिन्तन से विचार करे (श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्) श्रेष्ठ बल अर्थात् आत्मबल को मनोभाव से पकड़े ॥ २ ॥

भावार्थ—ज्ञानधन जहाँ से भी मिले ले लेना चाहिये और उसका सबसे अधिक सदुपयोग मोक्षमार्ग में लगाना है । वह मानव का श्रेष्ठ बल है ॥ २ ॥

अधा॑यि धी॒तिरस॑सृग्र॒मंशा॑स्ती॒र्थे न द॒स्ममुप॒ यन्त्यू॒माः ।

अ॒भ्या॑नश्म सुवि॒तस्य॑ शू॒षं नवे॑दसो अ॒मृता॑नामभूम ॥ ३ ॥

अधा॑यि । धी॒तिः । अस॑सृग्रम् । अंशाः॑ । ती॒र्थे । न । द॒स्मम् । उप॑ । यान्त॒ । ऊ॒माः॑ । अ॒भि । आ॒न॒श्म॒ । सु॒वि॒तस्य॑ । शू॒षम् । नवे॑दसः । अ॒मृता॑नाम् । अ॒भू॒म ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(धीतिः-अधायि); योगप्रज्ञा *"ऋतस्य धीतिः-ऋतस्य प्रज्ञा"* *[निरु० १० । ४०]* धारिता सम्पादिता भवति (न-अंशाः-ऊमाः) सम्प्रति तदा ध्यानप्रवाहाः-रक्षणकर्त्तारो भवन्तः (तीर्थे) संसारसागरस्य तारकनिमित्तम् "तीर्थेन हि

तरन्ति तद्यथा समुद्रतीर्थेन प्रतरेयुः [गो० १ । ५ । २] (असस्रूग्रं दस्मम्-उपयन्ति) अनुपममपूर्वमध्यात्मजन्म दर्शनीयमुपगमयन्ति "अत्रान्तर्गतो णिजर्थः", (सुवितस्य शूषम्-अभ्यानश्म) सुगतस्य शोभनरूपस्य परमात्मनः सुखं प्राप्नुमः "शूषं सुखनाम" [निघ० ३ । ६] (नवेदसः-अमृतानाम्-अभूम) वयं नवेदसः-अवश्यं वेत्तारो वयं ज्ञानिनः "नभ्राण्नपान्नवेद......" [अष्टा० ६ । ३ । ७३] इति निपातनं न-अवेद मुक्तानां मध्ये भवेम ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(धीतिः-अधायि) योगप्रज्ञा–योगबुद्धि धारण की जाती है (न-अंशाः-ऊमाः) तो तब ही ध्यान के प्रवाह उपासक के रक्षा करने वाले हो जाते हैं, जो कि (तीर्थे) संसार सागर से तराने के निमित्त (असस्रूग्रं दस्मम्-उपयन्ति) अपूर्व अध्यात्म जन्म दर्शनीय को प्राप्त कराते हैं (सुवितस्य शूषम्-अभ्यानश्म) शोभनरूप परमात्मा के सुख को हम प्राप्त होवें (नवेदसः-अमृतानाम् अभूम) हम अवश्य ज्ञानवान् हुए मुक्तों में हो जावें मुक्त हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—योग बुद्धि प्राप्त हो जाने पर ध्यान के प्रवाह योगी को संसार सागर से तारने वाले बन जाते हैं, और उसका अपूर्व अध्यात्म जन्म होकर वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है ॥ ३ ॥

नित्यश्चाकन्यात्स्वपतिर्दमूना यस्मा उ देवः सविता जजान ।
भगो वा गोभिरर्यमेमनज्यात्सो अस्मै चारुश्छदयदुत स्यात् ॥ ४ ॥

नित्यः । चाकन्यात् । स्वऽपतिः । दमूनाः । यस्मै । ऊँ इति । देवः । सविता । जजान । भगः । वा । गोभिः । अर्यमा । ईम् । अनज्यात् । सः । अस्मै । चारुः । छदयत् । उत । स्यात् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नित्यः-स्वपतिः-दमूनाः) शाश्वतिकः सदा वर्त्तमानः सुखस्य स्वामी दानमनाः "दमूना दानमनाः" [निरु० ४ । ५] (यस्मै-उ सविता देवः-जजान) यस्मै–उपासकाय स्वकर्मफलं दातुमुत्पादकः परमात्मदेवः-तत्कर्मफलमुत्पादयति (अर्यमा) स फलस्य दाता (चाकन्यात्) कामयेत् (ईम्-अनज्यात्) व्यक्तं करोति (सः-अस्मै) सोऽस्यै जनाय (चारुः-छदयत्) शोभनभूतो रक्षति (उत) अपि (गोभिः-वा भगः स्यात्) स्तुतिभिश्च भगप्रदो भवेत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(नित्यः-स्वपतिः-दमूनाः) सदा वर्त्तमान सुख धन का स्वामी अपने सुख धन को देने का इच्छुक (सविता देवः-यस्मै-उ जजान) उत्पादक परमात्मा देव जिस उपासक के लिये कर्म के प्रतीकार में उस सुख फल को उत्पन्न करता है–प्रसिद्ध करता है । (अर्यमा-चाकन्यात्) वह दाता परमात्मा उसे देना चाहता है, अतः (ईम्-अनज्यात्) उसे व्यक्त करता है–पकाता है (सः-अस्मै) वह इसके लिये (चारुः-छदयत्) कल्याणकारी होता हुआ सुरक्षित रखता है (उत) और (गोभिः-वा भगः स्यात्) स्तुतियों द्वारा सुख ऐश्वर्य का देने वाला होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा कर्मफलों का दाता है स्तुतियों के द्वारा वह उपासक को उसके कमनीय सुखों को देने वाला है ॥ ४ ॥

इयं सा भूया उषसामिव क्षा यद्ध क्षुमन्तः शवसा समायन् ।
अस्य स्तुतिं जरितुर्भिक्षमाणा आ नः शग्मास उप यन्तु वाजाः ॥ ५ ॥

इयम् । सा । भूयाः । उषसाम्ऽइव । क्षाः । यत् । ह । क्षुऽमन्तः । शवसा । सम्ऽआयन् । अस्य । स्तुतिम् । जरितुः । भिक्षमाणाः । आ । नः । शग्मासः । उप । यन्तु । वाजाः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इयं सा क्षाः-उषसाम्-इव) इयं सा पृथिवी प्रतिदिनं प्राप्ताया उषसः प्रकाशमानायाः समाना विकसिता भवति (यत्-ह) यदा खलु (क्षुमन्तः शवसा समायन्) अन्नवन्तः शब्दवन्तश्च मेघाः "क्षु-अन्ननाम" [*निघ० २ । ७*] "क्षु शब्दे" [*अदादि०*] क्विपि तुगभावश्छान्दसः' बलेन पूर्णवर्षणेन समागच्छन्ति, तदेवं (अस्य जरितुः स्तुतिं भिक्षमाणाः) अस्य स्तुतिकर्त्तुः स्तुतिं परमात्मोपदेशं याचमानाः (नः शग्मासः-वाजः-उप-आ-यन्तु) अस्माकं कल्याणकराः-ज्ञानवन्तो जनाः-उपागच्छन्ति लडर्थे लोट् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(इयं सा क्षाः-उषसाम्-इव) यह वह पृथिवी हमारे समक्ष प्रतिदिन प्रकाशमान उषा के समान फैली रहती है (यत्-ह) जब कि (क्षुमन्तः शवसा समायन्) अन्न देने वाले और शब्द करने वाले मेघ वर्षणबल से पृथिवी पर आते हैं। उसी समय (अस्य जरितुः स्तुतिं भिक्षमाणाः) इस स्तुति करने वाले के स्तुति-परमात्म उपदेश को चाहने वाले (नः शग्मासः-वाजाः-उप-आ-यन्तु) कल्याणकारी ज्ञानवान् जन हमारे पास आते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा की रचित पृथिवी हमें सदा आधार देने वाली उषा के समान सहायक है। मेघ अन्न उत्पत्ति के निमित्त बरसते हैं, और परमात्मा के उपदेश वाले हमें उसकी कृपा से प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

अस्येदेषा सुमतिः पप्रथानाभवत्पूर्व्या भूमना गौः ।
अस्य सनीळा असुरस्य योनौ समान आ भरणे बिभ्रमाणाः ॥ ६ ॥

अस्य । इत् । एषा । सुऽमतिः । पप्रथाना । अभवत् । पूर्व्या । भूमना । गौः । अस्य । सऽनीळाः । असुरस्य । योनौ । समाने । आ । भरणे । बिभ्रमाणाः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य-इत्-एषा सुमतिः पूर्व्या गौः पप्रथाना भूमना-अभवत्) अस्य परमात्मन एव हि खल्वेषा सुमतिः सुस्तुतियोग्या शाश्वतिकी वाक् विस्तारमाप्नुवाना बहुरूपा भवति (अस्य-असुरस्य) एतस्य सर्वेभ्यः प्राणप्रदस्य (समाने

योनौ) समाने खल्वाश्रये (भरणे) धारणीये स्वरूपे (बिभ्रमाणाः) स्वात्मानं धरन्तः (सनीळाः-आ) समानस्थाना आतिष्ठेम ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य-इत्) इस परमात्मा की (एषा पूर्व्या सुमतिः-गौः) यह अच्छी स्तुतियोग्य शाश्वतिक-सदा से चली आई वाणी (पप्रथाना भूमना-अभवत्) विस्तार को प्राप्त होती हुई बहुतरूप वाली है (अस्य-असुरस्य) इस सबको प्राण देने वाले परमात्मा के (समाने योनौ) समान आश्रय (भरणे) धारणीय स्वरूप में (बिभ्रमाणाः) अपने को समर्पित करते हुए (सनीळाः-आ) समानस्थानी होकर रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राणस्वरूप परमात्मा की स्तुति शाश्वतिक वेदवाणी द्वारा विस्तृत होती है। तदनुसार स्तुति करने वाले मोक्ष में समान आश्रय को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥ ७ ॥

किम् । स्वित् । वनम् । कः । ऊँ इति । सः । वृक्षः । आस । यतः । द्यावापृथिवी इति । निःऽततक्षुः । संतस्थाने इति सम्ऽतस्थाने । अजरे इति । इतऊती इतीतःऽऊती । अहानि । पूर्वीः । उषसः । जरन्त । ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(किं स्वित्-वनम्) किं खलु वनमरण्यम् (कः-उ सः-वृक्षः-आस) तत्रत्यः को हि स वृक्षः-अस्ति (यतः-द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः) यतो हि द्युलोकं पृथिवीलोकं च निष्पादितवान् परमात्मा बहुवचनमादरार्थम् ये च द्यावापृथिव्यौ (सन्तस्थाने) सम्यक् स्थिरे (अजरे) जरारहिते सामान्येन नाशरहिते (इतः-ऊती) इतो लोकात्-प्राणिलोकात् सुरक्षिते स्तः (अहानि पूर्वीः–उषसः-जरन्त) ययोर्मध्ये वर्त्तमानानि दिनानि पूर्वतः प्रवृत्ताः-उषसो जीर्णतां गच्छन्ति, इति विश्वकर्मणः परमात्मनः कर्मशिल्पं विवेच्यते ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(किं स्वित्-वनम्) वह वन कौनसा है (कः-उ सः-वृक्षः-आस) और कौन वह वृक्ष है (यतः-द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः) जिससे कि द्युलोक और पृथिवी लोक को रचा है। (सन्तस्थाने) जो कि सम्यक् संस्थित (अजरे) जरा रहित (इत-ऊती) इस प्राणी लोक से सुरक्षित हैं (अहानि पूर्वीः-उषसः-जरन्त) जिनके मध्य में वर्त्तमान दिन–अहोरात्र और पूर्व से चली आईं उषाएँ परम्परा से प्राप्त प्रातः वेलाएँ जीर्ण हो जाती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने व्यापक तथा प्रकाशक स्वरूप से सृष्टि के प्रमुख द्युमण्डल और पृथिवीमण्डल को रचा है और इनके बीच में दिन रातों तथा प्रभात वेलाओं को प्रकट किया जो अन्य प्राणी आदि वस्तुओं की जीर्णता के साथ जीर्णता को प्राप्त होती रहती हैं ॥ ७ ॥

नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति ।
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितो वहन्ति ॥ ८ ॥

न । एतावत् । एना । परः । अन्यत् । अस्ति । उक्षा । सः । द्यावापृथिवी इति । बिभर्ति । त्वचम् । पवित्रम् । कृणुत । स्वधाऽवान् । यत् । ईम् । सूर्यम् । न । हरितः । वहन्ति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-उक्षा द्यावापृथिवी बिभर्त्ति) स शक्तिसेचकः परमात्मा द्युलोकं पृथिवीलोकं च द्यावापृथिवीमयं जगद् धारयति पालयति (एना-एतावत् परः-अन्यत्-न-अस्ति) अस्मात्-एतावतः सत्तावतो भिन्नो नान्योऽस्ति सामर्थ्यवानिति शेषः, (त्वचं पवित्रं-कृणुते) यः खलु जगतस्त्वचमावरणं ज्योतिष्मन्तं रक्षणाय करोति (स्वधावान्-यत्-ईम्) स्वधारणशक्तिमान् यतो हि (हरितः-न सूर्यं वहन्ति) यथा हरणशीला रश्मयः हरितो हरणा *"हरितः-हरणानादित्यरश्मीन्"* [निरु० ४ । १३] सूर्यं वहन्ति प्रापयन्ति द्योतयन्ति तद्वत् परमात्मानं जगत्पदार्था द्योतयन्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-उक्षा द्यावापृथिवी बिभर्ति) वह शक्ति का सींचने वाला-भरने वाला परमात्मा द्युलोक और पृथिवी लोक को अर्थात् यह द्यावापृथिवीमय जगत् को धारण करता है-पालता है (एना-एतावत् परः-अन्यत्-न-अस्ति) इस इतने सत्ताधारी से भिन्न अन्य सामर्थ्यवान् नहीं है (त्वचं पवित्रं कृणुते) जो जगत् के आवरण को ज्योतिष्मान् करता है (स्वधावान्-यत-ईम्) स्वधारणशक्ति वाला जिससे है (हरितः-न सूर्यं वहन्ति) जैसे हरणशील-रसों को हरण करने वाली किरणें सूर्य को वहन करती हैं-द्योतित करती हैं । उसी भांति जगत्-पदार्थ परमात्मा को द्योतित करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा द्यावापृथिवीमय जगत् को शक्ति देता है । उससे कोई बड़ा शक्तिमान् नहीं है । जैसे सूर्यकिरणें सूर्य के आश्रित हो सूर्य को दर्शाती हैं ऐसे ही जगत्पदार्थ परमात्मा के आश्रित हो उसे दर्शाते है ॥ ८ ॥

स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीं मिहं न वातो वि ह वाति भूम ।
मित्रो यत्र वरुणो अज्यमानोऽग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ९ ॥

स्तेगः । न । क्षाम् । अति । एति । पृथ्वीम् । मिहम् । न । वातः । वि । ह । वाति । भूम । मित्रः । यत्र । वरुणः । अज्यमानः । अग्निः । वने । न । वि । असृष्ट । शोकम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्तेगः-न पृथ्वीम्-अत्येति) रश्मिसंघाती सूर्यः-इव *"स्त्यै ष्ट्यै संघाते"* [भ्वादि०] परमात्मा प्रथितां सृष्टिमतिक्राम्यति तदन्तरे सर्वा सृष्टिः (वातः-न मिहं ह भूम वि वाति) तीव्रवायुर्यथा मेहसमर्थं मेघं खलु बहुत्र विविधं प्रेरयति तद्वत् परमात्मा सृष्टिं विविधं प्रक्षिपति (यत्र) यस्मिन्-यस्याश्रये (मित्रः) विद्युतः प्रक्षेपणवेगः

(वरुणः) विद्युत आकर्षणवेगश्च वर्त्तते तथा (अज्यमानः-अग्निः) व्यज्यमानो व्यक्तीभवन्-अग्निः (वने-न शोकं व्यसृष्ट) वृक्षसमूहे स्वज्वलनं विसृज्य प्रकाशयति तद्वत् परमात्मा सर्वं जगत् स्वप्रकाशेन प्रकाशयति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(स्तेगः-न पृथ्वीम्-अत्येति) किरणसमूहवान् सूर्य के समान परमात्मा फैली हुई सृष्टि के पार तक चला जाता है। सारी सृष्टि इसके अन्दर रहती है। (वातः-न मिहं ह भूम वि वाति) वेगवान् वायु जैसे बरसने वाले मेघ को बहुत स्थानों पर विविध रूप से फेंक देता है वर्षा देता है वैसे ही परमात्मा विविध सृष्टि को फैला देता है (यत्र) जिसके आश्रय पर (मित्रः) विद्युत् का प्रक्षेपण वेग तथा (वरुणः) विद्युत् का आकर्षण वेग और (अज्यमानः-अग्निः) व्यक्त हुआ–प्रज्वलित होता हुआ अग्नि (वने न शोकं व्यसृष्ट) समूह में जैसे अपने ज्वलन–तेज को छोड़ कर प्रकाशित करता है, इसी भाँति परमात्मा अपने तेज से जगत् को प्रकाशित करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त फैली हुई सृष्टि के अन्दर और बाहर भी है। सारे पृथिवी आदि पिण्डों को दूर–दूर तक बिखेरे हुए है। सब उस परमात्मा के आश्रय पर विद्युत्, अग्नि आदि पदार्थ हैं। अपने प्रकाश से वह संसार को प्रकाशित कर रहा है ॥ ९ ॥

स्तरीर्यत्सूत सद्यो अज्यमाना व्यथिरव्यथीः कृणुत स्वगोपा ।
पुत्रो यत्पूर्वः पित्रोर्जनिष्ट शम्यां गौर्जगार यद्ध पृच्छान् ॥ १० ॥

स्तरीः । यत् । सूत । सद्यः । अज्यमाना । व्यथिः । अव्यथीः । कृणुत । स्वऽगोपा । पुत्रः । यत् । पूर्वः । पित्रोः । जनिष्ट । शम्याम् । गौः । जगार । यत् । ह । पृच्छान् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत् सद्यः-अज्यमाना सूत स्तरीः) यदा तत्कालं कालमनु वृषभेण सिच्यमाना सती गौर्वत्सं प्रसूतेऽथ निवृत्तप्रसवा सा (व्यथिः स्वगोपा-अव्यथीः कृणुत) व्यथमाना सती स्वगोप्त्रा रक्षकेणात्मानं व्यथारहितां करोति वचनव्यत्ययोऽत्र छान्दसः (यत् पित्रोः पूर्वः पुत्रः- अजनिष्ट) यतो द्यावापृथिव्योः पूर्वः श्रेष्ठः पुत्रो जीवो जातः सन् (शम्यां गौः-जगार यत्-ह-पृच्छान्) अध्ययनकर्मणि गतिशीलो जागृतवान् तदा परमात्मानमर्चति *"पृच्छतिरर्चतिकर्मेति [निघं० ३ । १४]* तदा स संसारजन्म-पीडातो मुच्यते ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ— (यत् सद्यः-अज्यमाना सूत स्तरीः) जैसे समय पर वृषभ द्वारा गर्भित हुई गौ बच्चे को उत्पन्न करते ही प्रसव से निवृत्त होती हुई (व्यथिः) पीड़ित होती है। (स्वगोपा-अव्यथीः कृणुत) गोपाल के द्वारा अपने को पीडारहित करती है ऐसे ही (यत् पित्रोः पूर्वः पुत्रः-अजनिष्ट) द्युलोक और पृथिवीलोक का पुत्ररूप प्रथम से या श्रेष्ठ जीव उत्पन्न होता है वह (शम्यां गौः-जगार यत् ह पृच्छान्) अध्ययन कर्म में गतिशील हुआ जाग जाता है और परमात्मा की अर्चना करता है संसार की पीड़ा से छूट जाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—संसार में मनुष्य या जीव शरीर धारण करते हैं। सांसारिक या औत्पत्तिक पीड़ा प्रत्येक को होनी अनिवार्य है। परन्तु जब वेदाध्ययन कर परमात्मा की अर्चना करता है तो सब पीड़ाओं से छूट जाता है ॥ १० ॥

उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी ।
प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतमत्र नकिरस्मा अपीपेत् ॥ ११ ॥

उत । कण्वम् । नृऽसदः । पुत्रम् । आहुः । उत । श्यावः । धनम् । आ । अदत्त । वाजी । प्र । कृष्णाय । रुशत् । अपिन्वत । ऊधः । ऋतम् । अत्र । नकिः । अस्मै । अपीपेत् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कण्वम्-उत नृषदः पुत्रम्-आहुः) उपासकं मेधाविनं "कण्वः-मेधाविनाम" [निघं० ३ । १५] प्राणस्वरूपस्य परमात्मनः पुत्रं कथयन्ति "प्राणो वै नृषत्" [श० ६ । ७ । ३ । १२] (उत) अपि (श्यावः-वाजी धनम्-आ-अदत्त) गतिशीलो ज्ञानी बलवान्–उपासकः परमात्मन आनन्दधनं प्राप्नोति (कृष्णाय रुशत्-ऊधः प्र-अपिन्वत) यः परमात्मगुणं कर्षयति तस्मै परमात्मा प्रकाशरूपो निजानन्दरसं पूर्णं स्वरूपं सिञ्चति (उत) अपि (अत्र-ऋतं नकिः-अस्मै-अपीपेत्) अत्र संसारे ज्ञानममृतं वा कश्चनापि न खल्वस्मै-उपासकाय परमात्मनो भिन्नः प्रवर्धयेत् ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(कण्वम्-उत नृषदः पुत्रम्-आहुः) मेधावी उपासक को प्राणस्वरूप परत्मामा का पुत्र कहते हैं (उत) और (श्यावः-वाजी धनम्-आ-अदत्त) गतिशील ज्ञानी बलवान् उपासक परमात्मा के आनन्दघन को प्राप्त करते हैं (कृष्णाय रुशत्-ऊधः प्र अपिन्वत) परमात्मगुणों को अपने अन्दर आकर्षित करने वाले उपासक के लिये निज आनन्द रस को सींचता है (उत) और (अत्र ऋतं नकिः-अस्मै-अपीपेत्) इस संसार में ज्ञान या अमृत को इस उपासक के लिये परमात्मा से भिन्न कोई भी नहीं बढ़ाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—ज्ञानी उपासक परमात्मा के पुत्र समान होता है। संसार में जैसे पिता अपनी अमूल्य सम्पत्ति पुत्र को दे देता है ऐसे ही परमात्मा भी अपने ज्ञान अमृत आनन्द को ज्ञानी उपासक के लिये दे देता है ॥ ११ ॥



द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कवष ऐलूषः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, २ विराड् जगती । ३ निचृज्जगती । ४ पादनिचृज्जगती । ५ आर्ची भुरिग्जगती । ६ त्रिष्टुप् । ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ८, ९ निचृत् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१-५ निषादः । ६ -९ धैवतः ॥

अस्मिन् खल्वादर्शगृहस्थस्य वर्णनं तत्र च परमात्मन आदेशमनुसरन् जरावस्थाञ्च सुखेन वाहयति ।

इस सूक्त में आदर्श गृहस्थ का वर्णन है और परमात्मा के आदेशानुसार चलते हुए जरावस्था को सुख से व्यतीत करता है ।

प्र सु ग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिर्वराँ अभि षु प्रसीदतः ।
अस्माकमिन्द्र उभयं जुजोषति यत्सोम्यस्यान्धसो बुबोधति ॥ १ ॥

प्र । सु । ग्मन्ता । धियसानस्य । सक्षणि । वरेभिः । वरान् । अभि । सु । प्रऽसीदतः । अस्माकम् । इन्द्रः । उभयम् । जुजोषति । यत् । सोम्यस्य । अन्धसः । बुबोधति ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अस्माकम्-उभयं जुजोषति) अस्माकं खलूभयं श्रेष्ठं कर्म तथा ज्ञानं च प्रीणाति (सोम्यस्य अन्धसः-यत्-बुबोधति) उपासनानिष्पन्नस्य-आध्यानीयस्वरूपस्य यत् फलं बोधयति प्रापयति "जुजोषति बुबोधति" इत्युभयत्र श्लुश्छान्दसः, तस्य (धियसानस्य) ध्यायमानस्य "ध्यै धातोः सिपि सम्प्रसारणं छान्दसम्" (वरेभिः-वरान् अभि प्रसीदतः) श्रेष्ठैः सुखैः श्रेष्ठान् जनान् प्रसादय, अन्तर्गतणिजर्थः (सक्षणि) सङ्गमे (प्र ग्मन्ता) गार्हस्थ्यप्रगतिं कुर्वन्तौ स्त्रीपुरुषौ (प्र सु०) प्रकृष्टं सु प्रसीदतः सुप्रसन्नौ भवतः ॥१॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अस्माकम्-उभयं जुजोषति) हमारे दोनों श्रेष्ठ कर्म और ज्ञान को पसन्द करता है (सोम्यस्य-अन्धसः-यत् बुबोधति) उपासना से

निष्पन्न अच्छे ध्याये हुए स्वरूप के फल को प्राप्त कराता है (धियसानस्य) ध्यान में आये हुए (वरेभिः-वरान् अभि प्रसीदतः) उत्तम सुखों से उत्तम महानुभावों को प्रसन्न करे (सक्षणि) उनके संग में (प्र ग्मन्ता) गृहस्थ जीवन को प्रगति देते हुए स्त्री पुरुष ! (प्र सु०) प्रकृष्ट रूप से सुप्रसन्न होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा हमारे श्रेष्ठ कर्म और श्रेष्ठ ज्ञान को पसन्द करता है। उपासना द्वारा ध्यान करने योग्य अपने स्वरूप को प्राप्त कराता है उसकी संगति में। गृहस्थजन गृहस्थ को उन्नत करते हुए प्रसन्न रहते हैं ॥ १ ॥

वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत ।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः ॥ २ ॥

वि । इन्द्र । यासि । दिव्यानि । रोचना । वि । पार्थिवानि । रजसा । पुरुऽस्तुत । ये । त्वा । वहन्ति । मुहुः । अध्वरान् । उप । ते । सु । वन्वन्तु । वग्वनान् । अराधसः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरुष्टुत-इन्द्र) हे बहुस्तोतव्य परमात्मन् ! (दिव्यानि रोचना वि यासि) त्वं दिवि भवानि प्रकाशमयानि नक्षत्राणि व्याप्नोषि (पार्थिवानि रजसा वि०) पृथिव्यां भवानि रजांसि रजनात्मकानि वस्तूनि च व्याप्नोषि 'रजसा' *"सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया०........"*[अष्टा० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशः । (ये मुहुः-अध्वरान् त्वा वहन्ति) ये आत्मयाजिनस्त्वां लक्षयित्वा-अध्यात्मयज्ञान्-अनुतिष्ठन्ति (ते) ते जनाः (अराधसः) धनरहिताः अपि (वग्वनान्) स्तुतिवाण्या सेवनीयान् सुखविशेषान् (सु-उप वन्वन्तु) सुगमतया सम्भजन्ताम्–इति देवयानमार्गस्य-वर्णनम् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरुष्टुत-इन्द्र) हे बहुत स्तुति योग्य परमात्मन् ! (दिव्यानि रोचना वि यासि) तू आकाश में प्रकाशमान नक्षत्रों में व्याप्त हो रहा है। (पार्थिवानि रजसा वि) पृथ्वीसम्बन्धी रञ्जनात्मक–मनोरञ्जन करने वाली वस्तुओं में व्याप रहा है (ये मुहुः- अध्वरान् त्वा वहन्ति) जो आत्मयाजी तुझे लक्ष्य करके अध्यात्मयज्ञों का सेवन करते हैं (ते) वे जन (अराधसः) धन रहित होते हुए भी (वग्वनान्) स्तुतिवाणी के द्वारा सेवनीय विशेष सुखों को (सु-उप वन्वन्तु) सुगमता से सेवन करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा आकाश ग्रह नक्षत्रों और पृथिवी के मनो भावन पदार्थों में यहाँ पर व्याप्त हो रहा है। उपासक जन उसकी स्तुति द्वारा विशेष सुख प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति ।
जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः ॥ ३ ॥

तत् । इत् । मे । छन्त्सत् । वपुषः । वपुःऽतरम । पुत्रः । यत् । जानम । पित्रोः । अधिऽइयति । जाया । पतिम् । वहति । । वग्नुना । सुऽमत् । पुंसः । इत् । भद्रः । वहतुः । परिऽष्कृतः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पित्रोः पुत्रः-यत्-जानम्-अधि-इयति) मातापित्रोः पुत्रो यदा जन्माधिगच्छति धारयति (तत्-इत्-मे वपुषः-वपुष्टरं छन्त्सत्) तदेव मम गृहस्थस्य सुन्दरस्य सुन्दरतरं सुखं परमात्मा कामयेत (वग्नुना जाया पतिं वहति) अतएव स्तुतिवाण्या भार्या पतिं प्राप्नोति (सुमत् पुंसः-इत्) पुरुषस्य सुहर्षकरं सुखं भवति (भद्रः-वहतुः परिष्कृतः) भजनीयः प्रापणीयो गृहस्थाश्रमस्य सुपरिणामः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पित्रोः पुत्रः यत्-जानम्-अधि-इयति) माता पिता का पुत्र जब जन्म धारण करता है, (तत्-इत्-मे-वपुषः-वपुष्टरं छन्त्सत्) उसी समय मुझ सुन्दर गृहस्थ का सुन्दर सुख परमात्मा मेरे लिये चाहे—प्राप्त कराये (वग्नुना जाया पतिं वहति) अतः उसकी स्तुतिवाणी से—उसकी कृपा से पत्नी मुझ पति को प्राप्त होती है (सुमत् पुंसः-इत्) उत्तम हर्षप्रद सुख पुरुष का भी प्राप्त होता है (भद्रः-वहतुः परिष्कृतः) गृहस्थ आश्रम का यह भजनीय—प्रापणीय उत्तम परिणाम है ॥३॥

भावार्थ—पति पत्नी का सम्बन्ध होना गृहस्थ आश्रम कहलाता है। और वह सन्तान की उत्पत्ति के लिये है। वह उसका सच्चा सुख है। सुयोग्य पत्नी और सुयोग्य पति ईश्वर की कृपा से प्राप्त होते हैं। यही गृहस्थ का सुन्दर फल है ॥ ३ ॥

तदित्सधस्थमभि चारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः ।
माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः ॥ ४ ॥

तत् । इत् । सधऽस्थम् । अभि । चारु । दीधय । गावः । यत् । शासन् । वहतुम् । न । धेनवः । माता । यत् । मन्तुः । यूथस्य । पूर्व्या । अभि । वाणस्य । सप्तऽधातुः । इत् । जनः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तत्-इत्-चारु सधस्थम्-अभि दीधय) तदेव सुन्दरं समानस्थानं परिवारवासयोग्यं गृहमभिधारयाभिसम्पादय "धीङ् आधारे" [दिवादि०] 'परस्मैपदाभ्यासदीर्घत्वं शप् च सर्वं छान्दसम्' (यत्) यत्र (गावः-धेनवः-वहतुं न शासन्) दुग्धदात्र्यो गावो सर्वं निर्वाहसाधनमिव वर्त्तेरन् (यत्) यत्र च (मन्तुः-यूथस्य पूर्व्या माता) मानकर्त्तुः सन्तानसमूहस्य श्रेष्ठगुणैः पूर्णा माता स्यात् (जनः) जन्यमानः पुत्रः (वाणस्य) इन्द्रियसंस्थानस्य देहस्य (सप्तधातुः) रसरक्तादि-सप्तधातुभिः पूर्णः पुष्टः सकलाङ्गः (इत्) एव (अभि०) अभिष्यात्—अवश्यं भवेत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(तत-इत-चारु सधस्थम्-अभिदीधय) उसे ही सुन्दर समानस्थान परिवारवासयोग्य घर को आधार बना—सम्पन्न कर (यत) जहाँ (गावः-धेनवः-वहतुं न शासत)

दूध देने वाली गौवें सब निर्वाहसाधन के समान बनी रहें (यत्) और जहाँ (मन्तुः- यूथस्य पूर्व्या माता) मान करने वाले सन्तानवर्ग की श्रेष्ठ गुणों से पूर्ण माता हो (जनः) और उत्पन्न हुआ पुत्र (वाणस्य) इन्द्रिय-संस्थान अर्थात् देह का (सप्तधातुः) रस रक्तादि सात धातुओं से युक्त पुष्टाङ्ग बनाओ (इत्) ऐसा ही (अभि०) होना चाहिये ॥ ४ ॥

भावार्थ—गृहस्थ के घर में गौवें दूध देने वाली हों और सन्तानों की माता श्रेष्ठ गुणों से युक्त तथा पुत्र सर्वाङ्गपूर्ण होवें ऐसा घर आदर्श है ॥ ४ ॥

प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदमेको रुद्रेभिर्याति तुर्वणिः ।
जरा वा येष्वमृतेषु दावने परि व ऊमेभ्यः सिञ्चता मधु ॥ ५ ॥

प्र । वः । अच्छ । रिरिचे । देवऽयुः । पदम् । एकः । रुद्रेभिः । याति । तुर्वणिः । जरा । वा । येषु । अमृतेषु । दावने । परि । वः । ऊमेभ्यः । सिञ्चत । मधु ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एकः-देवयुः) देवानां नेता प्रापयिता वा परमात्मा केवल (वः) युष्मभ्यम् (पदम्-अच्छ प्र रिरिचे) प्रापणीयं सुफलं मोक्षं सम्यक्-नियतं करोति (रुद्रेभिः-तुर्वणिः-याति) यश्च दुष्टानां रोदयितृभिर्बलैः शीघ्रकारी शीघ्रमायाति (येषु-अमृतेषु जरा दावने परि) अथ च येषु मुमुक्षुषु परमात्मनः स्तुतिर्दानाय परितः सर्वतो वर्त्तते (वः-ऊमेभ्यः-मधु सिञ्चत) यूयं तेभ्यो रक्षकेभ्यो मधुरं भोज्यं पेयं च समर्पयत ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(एकः-देवयुः) विद्वानों का नेता केवल परमात्मा है (वः) हे विद्वानो ! तुम्हारे लिये (पदम्-अच्छ प्र रिरिचे) प्रापणीय सुफल–मोक्ष को सम्यक् नियत करता है (रुद्रेभिः-तुर्वणिः-याति) और जो दुष्टों को रुलाने वाले बलों के साथ शीघ्रकारी प्राप्त होता है (येषु-अमृतेषु जरा दावने परि) और जिन मुमुक्षुओं में परमात्मा की स्तुति सर्वभाव से देने के लिये वर्त्तमान रहती है (वः-ऊमेभ्यः-मधु सिञ्चत) तुम लोग उन रक्षकों मुमुक्षुओं के लिये मधुर खाने पीने योग्य वस्तु समर्पित करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मुमुक्षु विद्वानों का इष्ट देव नेता परमात्मा ही है । वह उनके लिये मोक्ष पद प्रदान करता है । मुमुक्षुजनों के लिये मधुर खान पान की वस्तुएँ समर्पित करना पुण्य कार्य है । दुष्टों को रुलाने वाले उसके बल हैं ॥ ५ ॥

निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ॥ ६ ॥

निऽधीयमानम् । अपऽगूळ्हम् । अप्ऽसु । प्र । मे । देवानाम् । व्रतऽपाः । उवाच । इन्द्रः । विद्वान् । अनु । हि । त्वा । चचक्ष । तेन । अहम् । अग्ने । अनुऽशिष्टः । आ । अगाम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (देवानां व्रतपाः) विद्याकामानां व्रतपालक आचार्यः (अप्सु-अपगूळ्हं निधीयमानम्-त्वा-मे-प्र-उवाच) सर्वत्र व्याप्तेषु प्रकृतिपरमाणुषु तथा मदीयशरीरस्थप्राणेषु खल्वन्तर्हितं तथा स्वतः स्थीयमानं मह्यं प्रावोचत्-यतः (विद्वान् इन्द्रः-हि) विद्वान् ज्ञानदीप्तिमान् आचार्यो हि (अनुचचक्ष) त्वामनुदृष्टवान्-अनुभूतवान् (तेन-अनुशिष्टः-अहम्-आ-अगाम्) तेन विदुषा प्रखरेणाचार्येण लब्धशिक्षोऽहं त्वां द्रष्टुं साक्षात्कर्तुं ध्यानस्थानमागतोऽस्मि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (देवानां व्रतपाः) विद्याकी कामना करने वालों का व्रतपालक आचार्य (अप्सु-अपगूळ्हं निधीयमानम्-त्वा-मे-प्र-उवाच) सब ओर व्याप्त परमाणुओं में तथा प्राणों में अन्तर्हित स्वयं विराजमान तुझे मेरे लिये उपदेश देता है । क्योंकि (विद्वान्-इन्द्रः-हि) ज्ञान दीप्तिमान् ही आचार्य (अनु चचक्ष) अनुदृष्ट किया–अनुभव किया (तेन-अनुशिष्टः-अहम्-आ-अगाम्) उस प्रखर विद्वान् आचार्य के द्वारा शिक्षा पाया हुआ मैं तुझे साक्षात् करने को–ध्यान को प्राप्त हुआ हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्या की कामना करने वाले का आचार्य संसार के परमाणु परमाणु में और प्राणों में व्याप्त है । उपासक उसको अपने अन्दर साक्षात् करते हैं ॥ ६ ॥

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः ।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ॥ ७ ॥

अक्षेत्रऽवित् । क्षेत्रऽविदम् । हि । अप्राट् । सः । प्र । एति । क्षेत्रऽविदा । अनुऽशिष्टः । एतत् । वै । भद्रम् । अनुऽशासनस्य । उत । स्रुतिम् । विन्दति । अञ्जसीनाम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अक्षेत्रवित्-क्षेत्रविदं हि-अप्राट्) यः खलु किमपि क्षेत्रं ज्ञानक्षेत्रं न जानाति स खल्वन्यं तत्क्षेत्रस्य ज्ञानक्षेत्रस्य वेत्तारं पृच्छति हि (सः-क्षेत्रविदा-अनुशिष्टः प्रैति) स तत्क्षेत्रवेत्ता लब्धशिक्षः सन् तत् क्षेत्रं ज्ञानक्षेत्रं प्राप्नोति (एतत्-वै भद्रम्) एतत् खलु भद्रं कल्याणकर भजनीयं वा वस्तु (उत) अपि च (अञ्जसीनां स्रुतिं विन्दति) प्रसिद्धानां पद्धतीनाम् "*अञ्जसी प्रसिद्धा*" [*ऋक्० १ । १०४ । ४ दयानन्दः*] स्रुतिं सरणिं जनः परम्परया प्राप्नोति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अक्षेत्रवित्-क्षेत्रविदं हि-अप्राट्) जो किसी ज्ञानक्षेत्र को नहीं जानता है

वह उस ज्ञान क्षेत्र के वेत्ता को पूछता है (सः-क्षेत्रविदा-अनुशिष्टः प्रैति) वह उस ज्ञानक्षेत्र के वेत्ता से शिक्षा पाया हुआ उस ज्ञानक्षेत्र को प्राप्त होता है (एतत्-वै-भद्रम्) यह कल्याणकारी या सेवनीय वस्तु है (उत) और (अञ्जसीनां स्रुतिं विन्दति) प्रसिद्ध पद्धतियों की सरणि–रीति को मनुष्यपरम्परा से प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—किसी विद्या विशेष को न जानने वाला उसके जानने वाले के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करे यह कल्याणकारी व्यवहार है और परम्परा से चली आई पद्धतियो में रीति है ॥ ७ ॥

अद्येदु प्राणीदममन्निमाहापीवृतो अधयन्मातुरूधः ।
एमेनमाप जरिमा युवानमहेळन्वसुः सुमना बभूव ॥ ८ ॥

अद्य । इत् । ऊँ इति । प्र । आनीत् । अममन् । इमा । अहा । अपिऽवृतः । अधयत् । मातुः । ऊधः । आ । ईम् । एनम् । आप । जरिमा । युवानम् । अहेळन् । वसुः । सुऽमनाः । बभूव ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य-इत्-ऊ) सम्प्रत्येव हि खलु (प्राणीत्) गृहिण्या गर्भे प्राप्त आत्मा प्राणिति (इमा-अहा-अपिवृतः-अममन्) इमानि गर्भवासभवानि दिनानि गर्भान्तर्हितः सन् स्वात्मानं मन्यते, अथ बहिरागत्य (मातुः-ऊधः-अधयत्) स्वमातुः स्तनं पिबति (एनं युवानम्-ईम्-जरिमा-आ-आप) एतं युवानं सन्तं पुनर्जरावस्था प्राप्नोति तथापि यावज्जीवति (अहेळन् वसुः सुमनाः बभूव) तां जरावस्थामनाद्रियमाणोऽपि "हेडृ अनादरे" [भ्वादि०] शरीरं वसिता वासशीलः प्रसन्नमना भवति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्य-इत्-उ) अभी जो (प्राणीत्) स्त्री के गर्भ में आया हुआ आत्मा प्राण लेता है (इमा-अहा-अपिवृतः-अमीमन्) इन गर्भवास के दिनों में गर्भ के अन्दर रहता हुआ अपने को मानता है–अनुभव करता है फिर बाहर आकर (मातुः-ऊधः-अधयत) अपनी माता के स्तन को पीता है (एनं युवानम्-ईम्-जरिमा-आ-आप) इस युवा होते हुए को फिर जरावस्था प्राप्त होती है तो भी जब तक जीता है (अहेळन् वसुः सुमनाः बभूव) उस जरावस्था का अनादर न करता हुआ शरीर में वसा रहता हुआ प्रसन्न मन वाला होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—आत्मा जैसे ही गर्भ में रहता है प्राण लेना–श्वास लेना आरम्भ कर देता है। गर्भ में रहता हुआ अपने को अनुभव करता है। गर्भ से बाहर आकर माता के स्तन को पीता है, पुनः युवा बनता है, फिर जरावस्था को प्राप्त हुआ भी उसका अनादर न करता हुआ भी शरीर में प्रसन्न रहता है ॥ ८ ॥

एतानि भद्रा कलश क्रियाम कुरुश्रवण ददतो मघानि ।
दान इद्वो मघवानः सो अस्त्वयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि ॥ ९ ॥

एतानि । भद्रा । कलश । क्रियाम । कुरुऽश्रवण । ददतः । मघानि । दानः । इत् । वः । मघऽवानः । सः । अस्तु । अयम् । च । सोमः । हृदि । यम् । बिभर्मि ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कलश कुरुश्रवण) हे ज्ञानकलापूर्ण कुरव आज्ञाकारिणः श्रवणयोग्याः शिष्या यस्य तादृश ! आचार्य ! (ददतः) तव ज्ञानं प्रयच्छतः प्रतीकाराय (एतानि मघानि) इमानि विविधानि धनवस्त्रादीनि वयमुपहरामः (मघवानः) हे विविधधनवस्त्राणि विद्यन्ते दानाय येषां तं यूय धनवन्तः शिष्याः (वः सः-दानः-इत्-अस्तु) युष्माकं स दातव्यपदार्थः स्वीकृतोऽस्तु (अयं सोमः-च) एष सोम्यज्ञानप्रवाहः शिक्षणविषयश्च युष्मासु तिष्ठतु (यं हृदि बिभर्मि) यं सोम्यं ज्ञानविषयं स्वहृदये खल्वहं धारयामि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(कलश कुरुश्रवण) ज्ञान कलाओं से पूर्ण तथा आज्ञाकारी श्रवणयोग्य शिष्यों वाले हे आचार्य ! (ददतः) तुझ ज्ञान देते हुए के प्रतीकारार्थ (एतानि मघानि) ये विविध धन वस्त्रादि हम लोग भेंट देते हैं (मघवानः) हे विविध धनवस्त्र आदि दान देने वाले शिष्यो ! (वः-सः-दानः-इत्-अस्तु) तुम्हारा वह दातव्य पदार्थ स्वीकार करने योग्य है (अयं सोमः-च) और यह सोम्य ज्ञानप्रवाह शिक्षण विषय भी तुम्हारे अन्दर स्थिर हो (यं हृदि बिभर्मि) जिस ज्ञानविषय को अपने हृदय में मैं धारण कर रहा हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—समस्त ज्ञान कलाओं से पूर्ण और आज्ञाकारी सुनने वाले शिष्य जिसके हों वह आचार्य कहलाता है । उसके लिये भांति-भांति के धन वस्त्र आदि भेंट करने चाहियें । वह आचार्य भी अपने ज्ञान का दान उनके हृदयों में भली भांति बिठा दे ॥ ६ ॥



त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कवष ऐलूषः ।

देवता—१ विश्वेदेवाः । २, ३ इन्द्रः । ४, ५ कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः । ६-९ उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्रः ।

छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २ निचृद् बृहती । ३ भुरिग् बृहती । ४-७, ९ गायत्री । ८ पादनिचृद् गायत्री ।

स्वरः—१ धैवतः । २, ३ मध्यमः । ४-९ षड्जः ।

विषयः—अत्र सूक्ते गर्भदुःखस्य संसारे मरणत्रासस्यापवारणाय परमात्मनः स्तुतिप्रार्थनोपासना ज्ञानपूर्विका अनुष्ठेया इति वर्णनम् ।

इस सूक्त में गर्भदुःख और संसार में मरणत्रास के निवारणार्थ परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिये इस विषय का वर्णन है ।

प्र मां युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण ।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन् दुःशासुरागादिति घोष आसीत् ॥ १ ॥

प्र । मा । युयुज्रे । प्रऽयुजः । जनानाम् । वहामि । स्म । पूषणम् । अन्तरेण । विश्वे । देवासः । अध । माम् । अरक्षन् । दुःऽशासुः । आ । अगात् । इति । घोषः । आसीत् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जनानां प्रयुजः) ज्ञानं प्रदाय मनुष्याणां प्रेरयितारो विद्वांसो गुरवः (मा प्रयुयुज्रे) मां ज्ञानदानेन प्रेरितवन्तः प्रेरयन्ति वा, अत एव (अन्तरेण पूषणं वहामि स्म) अन्तःस्थेन-अन्तःकरणेनाहं पोषयितारं परमात्मानं धारयामि-अनुभवामि (अध) अनन्तरं तस्मादेव (विश्वे देवासः-माम् अरक्षन्) प्राणाः *"प्राणा वै विश्वेदेवाः"* *[तै० ५ । २ । २ । १]* मां रक्षन्ति (दुःशासुः-आ-अगात्-इति घोषः-आसीत्) दुःखेन यः शसति हिनस्ति स मृत्युः कठिनरोगो वा *"शसु हिंसायाम्"* *[भ्वादि०]* ततः-उण् बाहुलकात् स मारको मृत्युः-आगमिष्यति-इति जनघोषोऽस्ति हि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(जनानां प्रयुजः) ज्ञान द्वारा मनुष्यों को प्रेरित करने वाले विद्वान् (मा प्रयुयुज्रे) मुझे ज्ञान देकर प्रेरित करें या करते हैं ततः (अन्तरेण पूषणं वहामि स्म) अन्तःकरण–मन से पोषण करने वाले परमात्मा को में धारण करता हूं–मैं अनुभव करता हूं (अध) पुनः (विश्वे देवासः-माम्-अरक्षन्) मेरे प्राण भी मेरी रक्षा करते हैं (दुःशासुः-आ-अगात्-इति घोषः-आसीत्) दुःख से पीड़ित करने वाला मृत्यु या कठिन रोग मुझे आ दबाता है ऐसा प्रत्येक मनुष्य का घोष चिल्लाना पुकारना होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् गुरुजन ज्ञान देकर मनुष्यों को सत्कर्म में प्रेरित करते हैं तथा परमात्मा की ओर प्रवृत्त करते हैं। जिससे कि वे परमात्मा को आन्तरिक भाव से अनुभव करते हैं। संसार में वे अधिक काल तक जीवन धारण करते हैं अन्यथा मृत्यु या कठिन रोग के भारी दुःख को भोगते हैं ॥ १ ॥

सं मा॑ तपन्त्य॒भित॑: स॒पत्नी॑रिव॒ पर्श॑वः ।
नि बा॑धते॒ अम॑तिर्न॒ग्नता॒ जसु॒र्वेर्न वे॑वीयते म॒तिः ॥ २ ॥

सम् । मा॒ । त॒प॒न्ति॒ । अ॒भित॑: । स॒पत्नी॑:ऽइव । पर्श॑वः । नि । बा॒ध॒ते॒ । अम॑तिः । न॒ग्नता॑ । जसु॑: । वेः । न । वे॒वी॒य॒ते॒ । म॒तिः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मा पर्शवः सपत्नीः-इव-अभितः सं तपन्ति) मृत्योरनन्तरं पुनर्जन्मनि मां मातृगर्भाशये मातृदेहपर्शवः-अन्यपत्न्य इवोभयतः सम्पीडयन्ति (अमतिः-नग्नता निबाधते) तदाऽज्ञताऽबोधावस्था निर्लज्जता वस्त्रविहीनतेव साधनहीनता–अकर्मण्यता अन्तर्दुःखयति (जसुः-वेः-न मतिः-वेवीयते) पुनः संसारे जीवन्तं युवानं चोपक्षयकर्त्ता जराप्रवाहोऽपि पीडयति ततस्तु यथा पक्षिणो मतिर्बुद्धिरुपक्षयितुर्व्याधाद् 'जसुः' षष्ठी स्थाने प्रथमा भृशं विचलिता भवति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(मा पर्शवः सपत्नीः-इव-अभितः-संतपन्ति) मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म में गर्भाशय में मातृदेह की पसलियां मुझे सपत्नियों की भांति इधर उधर से पीड़ित करती हैं (अमतिः-नग्नता निबाधते) और तब मतिरहितता–अज्ञता तथा निर्लज्जता वस्त्र-विहीनता की भांति साधनहीनता दुःख देती है (जसुः-वेः-न मतिः-वेवीयते) पुनः संसार में जीते हुए युवक को क्षीण करने वाला जराप्रवाह भी पीड़ित करता है जैसे पक्षी की मति नाश करने वाले शिकारी के भय से विचलित हो जाती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जीवात्मा जब माता के गर्भ में जाता है तो तंग स्थान में पीड़ा अनुभव करता है तथा अज्ञता और कर्म करने में असमर्थता भी उसे पीड़ित करती है मृत्यु का भय भी छाया हुआ रहता है ॥ २ ॥

मूषो॒ न शि॒श्ना व्य॑दन्ति मा॒ध्य॑: स्तो॒तारं॑ ते शतक्रतो ।
स॒कृत्सु नो॑ मघवन्निन्द्र मृळया॒धा॑ पि॒तेव॑ नो भव ॥ ३ ॥

मूषः । न । शिश्ना । वि । अदन्ति । मा । आऽध्यः । स्तोतारम् । ते । शतक्रतो इति शतक्रतो । सकृत् । सु । नः । मघऽवन् । इन्द्र । मळय । अध । पिताऽइव । नः । भव ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शतक्रतो-इन्द्र) हे बहुप्रज्ञानवन् परमेश्वर ! (मा-आध्यः) मां मानसवासनाः कामनाः *"आध्यः कामाः"* [निरु० ४ । ७] (व्यदन्ति) विविधं खादन्ति (मूषः-न शिश्ना) यथा मूषिकाः खल्वन्नरसादिषु क्लिन्नानि सूत्राणि स्वाङ्गानि पुच्छादीनि वा *"स्नातानि सूत्राणि स्वाङ्गाभिधानं वा"* [निरु० ४ । ७] विविधं खादन्ति तद्वत् (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! (सकृत्-नः सुमृळय) एकवारं तु अस्मान् सम्यक् सुखय मोक्षप्रदानेन (नः-पिता-इव भव) त्वमस्माकं पिता-इव पितृसमानो भव ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(शतक्रतो-इन्द्र) हे बहुत प्रज्ञानवन् परमेश्वर ! (मा-आध्यः) मुझे मानसिक वासनायें (वि-अदन्ति) विविध रूप से खा रही हैं-सता रही हैं (मूषः-न शिश्ना) जैसे चूहे अन्नादि रस से लिप्त सूत्रों को या अपने पुच्छादि अंगों को खाते हैं (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (सकृत् नः सुमृळय) एक बार तो हमें मोक्ष प्रदान कर सुखीकर (नः पिता-इव भव) तू हमारे पिता के समान हो—है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक वासनायें मनुष्य के आन्तरिक जीवन को खाती रहती हैं। उनसे बचने का उपाय केवल परमात्मा की शरण है या उसकी उपासना है। मानव के सांसारिक कल्याण और मोक्ष पाने का भी परम साधन है ॥ ३ ॥

कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम् ।
मंहिष्ठं वाघतामृषिः ॥ ४ ॥

कुरुऽश्रवणम् । आऽवृणि । राजानम् । त्रासदस्यवम् । मंहिष्ठम् । वाघताम् । ऋषिः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋषिः) अध्यात्मदृष्ट्या दर्शनशील उपासकोऽहम् (कुरुश्रवणम्) अध्यात्मर्त्विजां तत्कृतप्रार्थनायाः श्रवणकर्त्तारम् (त्रासदस्यवम्) भयोपक्षयितृणां प्रमुखम् (वाघतां मंहिष्ठम्) अध्यात्मर्त्विजाम् अतिशयेन ज्ञानसुखदातारम् (राजानम्) स्वामिनं परमात्मानम् (आवृणि) याचे प्रार्थये ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋषिः) अध्यात्म दृष्टि से दर्शनशील मैं उपासक (कुरुश्रवणम्) अध्यात्म ऋत्विजों के द्वारा की हुई प्रार्थना के सुनने वाले—(त्रासदस्यवम्) भयनाशक—(वाघतां मंहिष्ठम्) अध्यात्म ऋत्विजों के अत्यन्त सुख दाता—(राजानम्) स्वामी परमात्मा को (आवृणि) प्रार्थना में लाता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—अध्यात्मदर्शी विद्वानों द्वारा उपदेश पाया हुआ उपासक सुखदाता परमात्मा की प्रार्थना नित्य किया करे ॥ ४ ॥

यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया ।

स्तवै सहस्रदक्षिणे ॥ ५ ॥

यस्य । मा । हरितः । रथे । तिस्रः । वहन्ति । साधुऽया । स्तवै । सहस्रऽदक्षिणे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य) यस्य परमात्मनः (सहस्रदक्षिणे) बहुफललाभकरेऽध्यात्मपदे (रथे) रमणीयमोक्षे (मा तिस्रः-हरितः साधुया वहन्ति) मां तिस्रः स्तुतिप्रार्थनोपासनाः–हरणशीलाऽऽहरणाः साधु प्रापयन्ति 'साधुया' "सुपां सुलुक्०" याच् प्रत्ययः (स्तवै) तं प्रशंसामि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य) जिस परमात्मा के (सहस्रदक्षिणे रथे) बहुत लाभ वाले रमणीय मोक्ष पद में (मा तिस्रः-हरितः) मुझे तीन स्तुति प्रार्थनोपासनायें सुख पहुँचाने वाली (साधुया वहन्ति) सुगमता से पहुँचाती हैं (स्तवै) उस परमात्मा की मैं प्रशंसा करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना द्वारा मनुष्य मोक्ष का भागी बनता है ॥ ५ ॥

यस्य प्रस्वादसो गिर उपमश्रवसः पितुः ।

क्षेत्रं न रण्वमूचुषे ॥ ६ ॥

यस्य । प्रऽस्वादसः । गिरः । उपमऽश्रवसः । पितुः । क्षेत्रम् । न । रण्वम् । ऊचुषे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य-उपमश्रवसः पितुः) यस्य खलूपरि मानवतः श्रवः श्रवणं वेदश्रवणं यस्मात् तस्य सर्वोत्कृष्टज्ञानवतः सर्वपालकस्य परमात्मनः (गिरः प्रस्वादसः) वाचो मन्त्रवाचः प्रकृष्टानन्ददायिन्यः सन्ति तस्य परमात्मनः शरणम् (ऊचुषे रण्वं क्षेत्रं न) परमात्मनः स्तुतिमुक्तवते–उपासकाय रमणीयं सर्वसुखप्रदान्नवत्क्षेत्रमिवास्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य-उपमश्रवसः पितुः) जिस सर्वोच्च ज्ञान वाले पिता परमात्मा की (गिरः प्रस्वादसः) मन्त्रवाणियाँ प्रकृष्ट आनन्द देनेवाली हैं उस परमात्मा की (ऊचुषे रण्वं क्षेत्रं न) स्तुति करने वाले उपासक के लिये रमणीय सर्व-सुखप्रद अन्नक्षेत्र की भाँति उसकी शरण है ॥ ६ ॥

भावार्थ—उच्च ज्ञान श्रवण कराने वाला परमात्मा पिता के समान है उसकी मन्त्रवाणियाँ बहुत आनन्दरस प्रदान करती हैं । स्तुति करने वाले के लिये रमणीय शरण प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

अधि पुत्रोपमश्रवो नपान्मित्रातिथेरिहि ।
पितुष्टे अस्मि वन्दिता ॥ ७ ॥

अधि । पुत्र । उपमऽश्रवः । नपात् । मित्रऽअतिथेः । इहि । पितुः । ते । अस्मि । वन्दिता ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मित्रातिथेः-नपात्) स्नेहिनोऽतिथेस्तव शरणं प्राप्तस्योपासकस्य हे न पातयितः ! अपितूत्कर्षयितः ! (उपमश्रवः) उपरिश्रवणीय वेदज्ञानवन् ! परमात्मन् ! (ते पितुः-वन्दिता पुत्र-अस्मि-अधि) अहं पितृभूतस्य तव स्तोता पुत्रोऽस्मि पुत्र इति सोर्लुक् "सुपां सुलुक्" [अष्टा० ७ । १ । ३९] तस्मान्मयि (इहि) विराजस्व ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(मित्रातिथेः-नपात्) स्नेही अतिथि अर्थात् तुझसे स्नेह करने वाले उपासक के हे न गिराने वाले किन्तु उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले (उपमश्रवः) हे उच्चश्रवणीय ज्ञानवाले परमात्मन् ! (ते पितुः-वन्दिता पुत्र-अस्मि-अधि) तुझ पिता के समान का स्तुतिकर्त्ता में पुत्र हूँ अतः मेरे अन्दर (इहि) विराजमान होवो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा अनुरागी उपासक का उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला और वेदज्ञान-श्रवण का कराने वाला है। पुत्र की भाँति उसका मान करना चाहिये ॥७॥

यदीशीयामृतानामुत वा मर्त्यानाम् ।
जीवेदिन्मघवा मम ॥ ८ ॥

यत् । ईशीय । अमृतानाम् । उत । वा । मर्त्यानाम् । जीवेत् । इत् । मघऽवा । मम ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अमृतानाम्-उत वा मर्त्यानां यत्-ईशीय) हे परमात्मन् । मोक्षसुखानां तथा चापि संसारसुखानामहं यदपि स्वामित्वं कुर्याम, अभ्युदयनिःश्रेयससुखानां स्वामी भवेयं तर्हि (मम मघवा जीवेत्-इत्) ममात्मा जीवतीति मन्येऽहम् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अमृतानाम्-उत वा मर्त्यानां यत्-ईशीय) हे परमात्मन् ! मोक्ष सुखों तथा सांसारिक सुखों का भी मैं स्वामी हो जाऊँ तो (मम मघवा जीवेत्-इत्) मेरा आत्मा—जीवात्मा जीता है ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मानव का संसार में जीना सफल तभी समझा जाता है जब कि वह सांसारिक सुख लाभ लेने के साथ अमृत—मोक्ष सुख का भी अपने को पात्र या अधिकारी बनावे ॥ ८ ॥

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति ।
तथा युजा वि वावृते ॥ ९ ॥

न । देवानाम् । अति । व्रतम् । शतऽआत्मा । चन । जीवति । तथा । युजा । वि । ववृते ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानां व्रतम्-अति न शतात्मा चन जीवति) विदुषां दिव्यपदार्थानां कर्मनियमं वाऽतिक्रम्य नहि शतसंवत्सरः शतसंवत्सरायुष्कः *"संवत्सर आत्मा"* [तै० सं० ७ । ५ । २५ । १] कश्चन जीवति (तथा युजा विवावृते) तथैव योक्त्र्येन परमात्मना च वियुज्यते वियुक्तो भवति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानां व्रतम्-अति न शतात्मा चन जीवति) विद्वानों के उपदिष्ट आचरण को तथा दिव्य पदार्थों के नियम को लाँघकर–तोड़कर सौ वर्ष आयु वाला कोई भी जी नहीं सकता (तथा युजा विवावृते) वैसे ही समागमयोग्य परमात्मा से वियुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वानों द्वारा उपदिष्ट आचरण तथा अग्नि सूर्य आदि पदार्थों के नियमों को तोड़कर सौ वर्ष की आयु को कोई प्राप्त नहीं कर सकता और परमात्मा के समागम से भी उसे अलग होना पड़ता है ॥ ९ ॥



चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कवष ऐलूषोऽक्षो वा मौजवान् ।

देवताः—१, ७, ९, १२, १३ अक्षप्रशंसा । २-६, ८, १०, ११, १४ अक्षकितवनिन्दा ।

छन्दः—१, २, ८, १२, १३ त्रिष्टुप् । ३, ६, ११, १४ निचृत् त्रिष्टुप् । ४, ५, ९, १०, विराट् त्रिष्टुप् । ७ जगती ।

स्वरः—१-६, ८-१४ धैवतः । ७ निषादः ॥

अत्र सूक्ते द्यूतक्रीडाया दुष्परिणामप्रदर्शनपूर्विका निन्दा कृषिप्रशंसा च प्रदर्श्यते ।

इस सूक्त में द्यूत-जुआ खेलने के दुष्परिणाम दिखलाते हुए कृषि की प्रशंसा दिखलाई है ।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥ १ ॥

प्रावेपाः । मा । बृहतः । मादयन्ति । प्रवातेऽजाः । इरिणे । वर्वृतानाः । सोमस्यऽइव । मौजवतस्य । भक्षः । विऽभीदकः । जागृविः । मह्यम् । अच्छान् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहतः प्रावेपाः) महतो विभीतकस्य फलानि—अक्षाः प्रवेपिणः प्रकम्पनशीलाः "प्रवेपिणो महतो विभीदकस्य फलानि" [निरु० ९ । ६] (प्रवातेजाः) निम्नस्थाने पर्वतस्योपत्यके जाताः "प्रवातेजाः प्रवणे जाः" [निरु० ९ । ६] (इरिणे वर्वृतानाः) निर्जले निरोषधिके प्रदेशे जङ्गले वर्त्तमानाः [निरु० ९ । ६] (मा मादयन्ति) मां हर्षयन्ति (मौजवतस्य सोमस्य-इव भक्षः) मूजवति मुञ्जवति पर्वते जातस्य "मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्" [निरु० ९ । ६] सोमस्यौषधिविशेषस्य भक्षो भक्षणं यथा तथा विभीदकस्तत्फलभक्षो भक्षणं स्वादु देवने द्यूतक्रीडने भवति (मह्यं जागृविः-अच्छान्) मह्यं जागृतिप्रदः सन् मामचच्छदत् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहतः प्रावेपाः) महान् विभीदक वृक्ष के फल—अक्ष कम्पनशील या कम्पाने वाले हैं (प्रवातेजाः) निम्न स्थान पर्वत की उपत्यका में उत्पन्न हुए (इरिणे वर्वृतानाः) जलरहित ओषधिरहित वनप्रदेश में होने वाले (मा मादयन्ति) मुझे हर्षित करते हैं (मौजवतस्य सोमस्य इव भक्षः) मूंजवाले पर्वत पर उत्पन्न हुए सोम ओषधि विशेष के भक्षण

की भाँति विभीदक वृक्ष के फल का भक्षण स्वाद वाला द्यूत क्रीडन स्थान में होता है (मह्यं-जागृविः-अच्छान्) मुझे जागृति देने वाला होता हुआ मेरे ऊपर छाया हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—अक्ष जुआ खेलने के पाशे जुआरी को जुआ खेलने में सोम पान जैसा हर्ष अनुभव कराते हैं और जागृति देते हैं ऐसा वह समझा करता है ॥ १ ॥

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥ २ ॥

न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा । शिवा । सखिऽभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् । अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एषा) इयं मे पत्नी (मा) माम् (न मिमेथ) न हिनस्ति-पीडयति (न जिहीळे) नह्यनाद्रियते "हेडृ अनादरे" [भ्वादि०] (सखिभ्यः-उत मह्यम्) सहयोगिभ्योऽपि च मह्यम् (शिवा-आसीत्) कल्याणकरी खल्वस्ति (अक्षस्य-एकपरस्य हेतोः) द्यूतस्यैकमात्रदोषप्रधानस्य हेतोरेव (अहम्-अनुव्रतां जायाम्-अप-अरोधम्) अहमनुकूलमाचरन्तीं पत्नीं नारक्षम् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(एषा) यह मेरी पत्नी (मा) मुझे (न मिमेथ) पीडा नहीं पहुँचाती—दुःख नहीं देती है (न जिहीळे) न अनादर करती है, तथा (सखिभ्यः-उत मह्यम्) मेरे सहयोगियों के लिये और मेरे लिये (शिवा-आसीत्) कल्याणी है—सुख देने वाली है, परन्तु खेद है ! (अक्षस्य-एकपरस्य हेतोः) एक मात्र जुए के दोष के कारण (अहम्-अनुव्रतां जायाम्-अप-अरोधम्) में अनुकूल आचरण करती हुई पत्नी को न रख सका—नहीं रख सकता वह मुझ से अलग हो जाती है या में स्वयं उसको नहीं रख सकता ॥ २ ॥

भावार्थ—द्यूतदोष के कारण मनुष्य सुख देने वाली आदर करने वाली अनुकूल पत्नी को भी अपने से अलग कर बैठता है ॥ २ ॥

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥ ३ ॥

द्वेष्टि । श्वश्रूः । अप । जाया । रुणद्धि । न । नाथितः । विन्दते । मर्डितारम् । अश्वस्यऽइव । जरतः । वस्न्यस्य । न । अहम् । विन्दामि । कितवस्य । भोगम् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(श्वश्रूः-द्वेष्टि) कितवस्य श्वश्रूस्तं द्वेष्टि नाद्रियते (जाया-अपरुणद्धि) जाया तं कितवं न वाञ्छति ततोऽपगता भवति (नाथितः-मर्डितारं न विन्दते) तद्दोषेण पीडितः सन् सुखयितारं न प्राप्नोति न लभते न कश्चित् साहाय्यं ददाति (वस्न्यस्य-अश्वस्य जरतः-इव) मूल्यार्हस्य बहुमूल्यस्य जरागतस्याश्वस्येव स्थितो ऽहं यथा जरागतो बहुमूल्यवान् भोगपदार्थमुचितं न लभते तद्वत् स्थितोऽहं कुतश्चिदपि (भोगं न विन्दामि) भोगं न लभे यतः (कितवस्य) कः कितवस्य भोगं दद्यात् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(श्वश्रूः द्वेष्टि) कितव–जुआ खेलने वाले की सास द्वेष करती है—आदर नहीं करती है (जाया-अप रुणद्धि) पत्नी उसे नहीं चाहती—अलग हो जाती है (नाथितः-मर्डितारं न विन्दते) जुए के दोष से पीड़ित हुआ सुख देने वाले को प्राप्त नहीं करता है—कोई उसकी सहायता नहीं करता है (वस्न्यस्य-अश्वस्य-जरतः-इव) मूल्यवान्-बहुमूल्य जराजीर्ण उचित-भोगरहित घोड़े के समान (भोगं न विन्दामि) भोग प्राप्त नहीं करता हूँ (कितवस्य) कौन जुआ खेलने वाले के लिये भोग पदार्थ दे ॥३॥

भावार्थ—जुआ खेलने वाले के प्रति उसकी सास घृणा करती है। पत्नी उसे नहीं चाहती है। कोई सुख देने वाला उसे नहीं मिलता। उचित भोगों से वञ्चित रहता है ॥३॥

अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥ ४ ॥

अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत । वेदने । वाजी । अक्षः । पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य वाजी-अक्षः-वेदने-अगृधत्) यस्य कितवस्य बलवान् द्यूतपाशः द्यूतधननिमित्तमभिकांक्षति यद् धनमागच्छेत् कुतश्चिदपि चौर्यकर्मणापि वा (अस्य जायाम्-अन्ये परिमृशन्ति) अस्य तादृशस्य कितवस्य द्यूतव्यसनिनः पत्नीमन्ये जनाः कितवाः परितः स्पृशन्ति वस्त्राभूषणादिग्रहणाय दूषयन्ति (पिता माता भ्रातरः-न जानीमः-एनम्-आहुः) पित्र्यादय पारिवारिकजना एनं न जानीमहे–इति ते कथयन्ति (एतं बद्धं नयत) हे कितवाः राज्यकर्मचारिणो वा, एतं बद्धं कृत्वा नयत ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य वाजी-अक्षः-वेदने-अगृधत्) जिस कितव–जुआ खेलने वाले का द्यूत-पाश-जुए का पाशा धन को चाहता है कि धन आये, कहीं से चोरी का भी आये (अस्य जायाम्-अन्ये परिमृशन्ति) इस जुआरी की पत्नी को अन्य जुआरी जन सब ओर से वस्त्र आभूषणादि पकड़ते हुए दूषित करते हैं (पिता माता भ्रातरः) पिता माता भाई लोग (न जानीमः-एनम्-आहुः) इसे हम नहीं जानते ऐसा कहते हैं (एतं बद्धं नयत) हे जुआरियो या राजकर्मचारियो! इसे बांधकर ले जाओ ॥४॥

भावार्थ—जुए का व्यसन जब किसी को लग जाता है तो वह कहीं से भी धन मिले चाहे चोरी से मिले उसे जुए पर लगा देता है। धन खोकर अपनी पत्नी की दुर्दशा कराता है माता पिता भाई उसका साथ नहीं देते। इस प्रकार दुखी होकर अपने जीवन को समाप्त कर देता है ॥४॥

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ ५ ॥

यत्। आऽदीध्ये। न। दविषाणि। एभिः। परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिभ्यः। निऽउप्ताः। च। बभ्रवः। वाचम्। अक्रत। एमि। इत्। एषाम्। निःऽकृतम्। जारिणीऽइव ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-आदीध्ये-एभिः-न दविषाणि) यदा संकल्पयामि-एभिरक्षैर्न क्रीडिष्यामि (परायद्भ्यः सखिभ्यः अवहीये) परागच्छद्भ्यः स्वयं बलादागच्छद्भ्यः कितवेभ्योऽवस्थितो भवामि स्तब्धो भवामि (बभ्रवः-न्युप्ताः-च वाचम्-अक्रत) बभ्रुवर्णा अक्षाः क्षिप्ताश्च शब्दं कुर्वन्ति तदा (एषां निष्कृतं जारिणी-इव-एमि) एषामक्षाणां सम्पादितं स्थानं व्यभिचारिणीव गच्छामि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-आदीध्ये-एभिः-न दविषाणि) जब मैं सङ्कल्प करता हूँ इन पाशों से नहीं खेलूँगा (परायद्भ्यः सखिभ्यः-अवहीये) मुझ पर प्रभाव डालने वाले आते हुए जुआरी साथियों से मैं दब जाता हूँ (बभ्रवः-न्युप्ताः-च वाचम्-अक्रत) चमकते हुए जुए के पाशे फेंके हुए जब शब्द करते हैं (एषां निष्कृतं जारिणी-इव-एमि) इन पाशों के सजे हुए स्थान की ओर व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति चला जाता हूँ ॥५॥

भावार्थ—जुए का व्यसन जब किसी को पड़ जाता है उससे बचना कठिन हो जाता है बचने की भावना या सङ्कल्प होते हुए भी पुराने साथियों को ओर जुए के स्थान को देखकर जुए की ओर फिर चल पड़ता है। यह व्यसन बहुत बुरा है और इससे बचना चाहिये ॥५॥

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥ ६ ॥

सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः। जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः। अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्। प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि। ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कितवः-तन्वा शूशुजानः पृच्छमानः सभाम्-एति) द्यूतक्रीडीजनः शरीरेण दीप्यमानः कितवकर्मणि प्रसिद्धः पृच्छमानः प्रष्टुं यतमानः कितवः

सभां गच्छति (जेष्यामि) अहं जयं करिष्यामि (प्रतिदीव्ने-अक्षासः-अस्य कृतानि-आ दधतः कामं वितरन्ति) द्यूते प्रतिपक्षिणे–प्रतिपक्षिणं लक्षयित्वा–अक्षाः-अस्य कितवस्य द्यूतकर्माणि समन्ताद् धारयतः कितवस्य कामं जयं प्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(कितवः-तन्वा शूशुजानः पृच्छमानः सभाम्-एति) जुआ खेलने वाला शरीर से आवेश में आता हुआ द्यूत क्रीडा में प्रसिद्ध हुआ पूछने हेतु जुआरी की मण्डली में जाता है (जेष्यामि) प्रकट करता है कि मैं जीतूंगा (प्रतिदीव्ने-अक्षासः-अस्य कृतानि-आदधतः कामं वितरन्ति) जुए में प्रतिपक्ष को लक्ष्य करके पाशे इसके कर्मों को भलीभाँति धारण करते हुए के यथेच्छ जय को प्रदान करते हैं ॥६॥

भावार्थ—जुआरी शरीर में आवेश खाया हुआ बोलता हुआ जुआरियों की मण्डली में जय की इच्छा से जाता है प्रतिपक्षी को लक्ष्य करके कि ये पाशे मुझे जय दिलायेंगे ऐसी उसकी भावना है ॥६॥

अक्षास इदंङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः ।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥ ७ ॥

अक्षासः । इत् । अङ्कुशिनः । निऽतोदिनः । निऽकृत्वानः । तपनाः । तापयिष्णवः । कुमारऽदेष्णाः । जयतः । पुनःऽहनः । मध्वा । सम्ऽपृक्ताः । कितवस्य । बर्हणा ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अक्षासः-इत्) अक्षाः खलु हि (अङ्कुशिनः-नितोदिनः) अङ्कुशवन्तः–अङ्कुशधारिण इव नितोदकाः-व्यथाकारिणः (निकृत्वानः) वंशच्छेदकाः (तपनाः-तापयिष्णवः) सन्तापकास्तापशीलाः (कुमारदेष्णाः) कुत्सितमृत्युर्देयं येषां तथाभूता अतिकष्टमृत्युहेतुकाः *"देष्णं दातुं योग्यम्" [ऋ० २ । ६ । ४ दयानन्दः]* (जयतः कितवस्य पुनर्हणः) जयं कुर्वतः कितवस्य पुनर्घातकाः (मध्वा बर्हणा सम्पृक्ताः) परिवृद्धेन मधुना संयुक्ता विषवत् सन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अक्षासः-इत्) पाशे अवश्य (अंकुशिनः-नितोदिनः) अंकुशधारी पीड़ा देने वालों के समान (निकृत्वानः) वंशच्छेदक (तपनाः-तापयिष्णवः) सन्तापक ताप स्वभाव वाले (कुमारदेष्णाः) बुरी तरह मृत्यु देने वाले (जयतः कितवस्य पुनर्हणः) जीतते हुए जुआरी के पुनः पुनः घातक (मध्वा बर्हणा सम्पृक्ताः) मधु से युक्त विष के समान हैं ॥७॥

भावार्थ—जुए के पाशे जीतते हुए के लिये भी पीड़ा देने वाले, बुरी तरह मृत्यु कराने वाले मिठाई से लिप्त विषान्न के समान हैं, इनसे सदा बचना ही चाहिए ॥७॥

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥ ८ ॥

त्रिऽपञ्चाशः । क्रीळति । व्रातः । एषाम् । देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा । उग्रस्य । चित् । मन्यवे । न । नमन्ते । राजा । चित् । एभ्यः । नमः । इत् । कृणोति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एषां व्रातः) एतेषामक्षाणां समूहः (सत्यधर्मा सविता-देवः-इव) स्थिरनियमवान् सूर्यो देव इव प्रभावकारी (त्रिपञ्चाशः क्रीडति) त्रयश्च पञ्च च त्रिपञ्च-अष्टसंख्याकदिशस्तासु दीर्घश्छन्दसि *"अन्येषामपि दृश्यते"* [*अष्टा० ६ । ३ । १२५*] विहरति, (उग्रस्य मन्यवे चित्-न नमन्ते) एतेऽक्षाः क्रूरस्य क्रोधाय तत्क्रोधाग्रे न नम्रीभवन्ति (राजा चित्-एभ्यः-नमः-इत् कृणोति) राजाऽपि खल्वेभ्योऽक्षेभ्यो नमस्कारं करोति-एषां वशीभवति तथाभूता दुष्प्रभावकारिण एते, न तैः सह क्रीडनीयं कदाचित् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(एषां व्रातः) इन पाशों का समूह (सत्यधर्मा सविता देवः-इव) स्थिर निमम वाले सूर्य देव के समान प्रभावकारी (त्रिपञ्चाशः क्रीडति) तीन और पांच अर्थात् आठों दिशाओं में खेलता है–विहार करता है (उग्रस्य मन्यवे चित्-न नमन्ते) ये पाशे क्रूर के क्रोध के लिये–क्रोध के आगे नहीं झुकते हैं (राजा चित्-एभ्यः-नमः-इत् कृणोति) राजा भी इनके लिये नमस्कार करता है–इनके वश हो जाता है ये ऐसे दुष्प्रभावकारी हैं, इनसे न खेलना चाहिए ॥८॥

नीचा वर्त्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ ९ ॥

नीचा । वर्त्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति । अहस्तासः । हस्तवन्तम् । सहन्ते । दिव्याः । अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः । शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नीचा वर्त्तन्ते-उपरि स्फुरन्ति) एतेऽक्षा द्यूत-साधनपदार्थाः कदाचित् खलु नीचा नीचैर्गताः स्वाधीना वर्त्तन्ते कदाचित् खलूपरि प्रगच्छन्ति कितवस्य पराजयकरा भवन्ति (अहस्तासः-हस्तवन्तं सहन्ते) हस्तरहिताः सन्तो हस्ताच्च्युता वा हस्तवन्तं हस्तेन क्षेप्तारं कितवं द्यूतकारिणं जनमभिभवन्ति । (दिव्याः-अङ्गाराः) अलौकिका अङ्गाराः (इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तः) ओषधिरहिते तृणकाष्ठादिरहिते प्रदेशे *"इरिणं निर्ऋणमृ-ऋणातेरपार्णं भवति अपरता अस्मादोषधय इति वा"* [निरु० ६ । ६] निक्षिप्ताः शीताः सन्तोऽपि (हृदयं निर्दहन्ति) कितवस्य द्यूतकारिणो हृदयमन्तःकरणं निर्दग्धं कुर्वन्ति, इति द्यूतस्य दुष्फलम् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(नीचा वर्त्तन्ते-उपरि स्फुरन्ति) ये जुए के पाशे कभी नीचे गये हुए अर्थात् स्वाधीन होते हैं कभी ऊपर अर्थात् जुआरी को हराने वाले होते हैं (अहस्तासः-हस्तवन्तं सहन्ते) हाथों से रहित हुए या हाथ से छूटे हुए हाथ वाले–हाथ से फेंकने वाले जुआरी मनुष्य को

अभिभूत करते हैं—उसे दबाते हैं (दिव्याः-अङ्गाराः) अलौकिक अङ्गारे बने हुए (इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तः) तृणकाष्ठ आदि रहित प्रदेश में गिरे हुए ठण्डे होते भी (हृदयं निर्दहन्ति) जुआरी के अन्तःकरण को दग्ध करते हैं—जलाते हैं। यह जुए का दुष्फल है ॥९॥

भावार्थ—जुए के पाशे चाहे हराते हुए हों चाहे जिताते हुए हों वे ठण्डे अङ्गारे से बनकर जुआरी के हृदय को जलाते रहते हैं—अशान्त किये रहते हैं इसलिये जुआ खेलना बुरा है ॥९॥

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥ १० ॥

जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना । माता । पुत्रस्य । चरतः । क्व । स्वित् । ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । । इच्छमानः । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कितवस्य हीना जाया तप्यते) द्यूतकारिणो जनस्य धना-भूषणैः क्षीणा सती पत्नी सन्तापयुक्ता भवति (माता क्वस्वित्-चरतः पुत्रस्य) क्वापि विचरतः पुत्रस्य माताऽपि पीडिता भवति (ऋणावा बिभ्यत्) ऋणवान् सन् बिभेति-ऋणदातृतः (धनम्-इच्छमानः) धनमाकांक्षन् (अन्येषाम्-अस्तं नक्तम् उप-एति) अन्येषां गृहं रात्रौ गच्छति चौर्यकरणाय, इति द्यूतकारिणो दुर्दशा भवति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(कितवस्य हीना जाया तप्यते) जुआरी की पत्नी धन आभूषण से क्षीण हुई सन्तप्त रहती है (क्व स्वित्-चरतः पुत्रस्य माता) कहीं कहीं-इधर उधर भटकते हुए जुआरी पुत्र की माता भी सन्तप्त रहती है (ऋणावा बिभ्यत्) ऋणी होकर ऋण देने वाले से डरता रहता है (धनम्-इच्छमानः) धन को चाहता हुआ (अन्येषाम्-अस्तं नक्तम्-उप-एति) दूसरों के घर रात्रि में चोरी करने चला जाता है यह जुआरी की दुर्दशा होती है।

भावार्थ—जुआरी के घर में पत्नी भी दुःखी रहती है और माता भी दुःखी रहती है। स्वयं भी वह ऋण देने वाले से भय खाये रहता है। दुखी होकर दूसरे के घरों में चोरी करने लगता है। यह दुर्दशा जुआ खेलने से होती है ॥१०॥

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम् ।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११॥

स्त्रियम् । दृष्ट्वाय । कितवम् । तताप । अन्येषाम् । जायाम् । सुऽकृतम् । च । योनिम् । पूर्वाह्णे । अश्वान् । युयुजे । हि । बभ्रून् । सः । अग्नेः । अन्ते । वृषलः । पपाद ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कितवम्) कितवो द्यूतव्यसनी जनः "विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः" (स्त्रियं दृष्ट्वाय) स्वकीयपत्नीं दुःखितां दृष्ट्वा (अन्येषां जायां सुकृतं योनिं च) अन्येषां जनानां पत्नीं सुखयुक्तां सुशोभितगृहं च *"योनिः गृहनाम [निघं० ३ । ४]* दृष्ट्वेति सम्बन्धः (ततापः) तप्यते पीडितो भवति (पूर्वाह्णे-बभ्रून्-अश्वान् युयुजे) प्रातरेव पोषकान् इन्द्रियप्राणान् *"इन्द्रियाणि हयानाहुः" [कठो १ । ३ । ४]* युनक्ति (सः-वृषलः-अग्नेः-अन्ते पपाद) स धर्मस्य लोपयिता शोकार्तः सन्-अग्रणायकस्य परमात्मनः समीपे–शरणे गतो भवति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(कितवम्) जुआरी मनुष्य (स्त्रियं दृष्ट्वाय) अपनी दुःखित स्त्री को देखकर (अन्येषां जायां सुकृतं योनिं च) अन्य जनों की सुखयुक्त पत्नी को और सुशोभित घर को देखकर (ततापः) पीड़ित होता है (पूर्वाह्णे बभ्रून्-अश्वान् युयुजे) प्रातः ही पोषक इन्द्रियप्राणों से युक्त होता है सावधान होता है तो (सः वृषलः-अग्नेः-अन्ते पपाद) वह धर्म का लोप करने वाला जुआरी शोकार्त हुआ परमात्मा की शरण में जाता है।

भावार्थ—जुआरी जुए के परिणाम से अपनी पत्नी को दुःखी देखता हुआ और दरिद्रता का अनुभव करता हुआ तथा अन्यों की पत्नी और घरों को सुखी सम्पन्न पाता हुआ पश्चात्ताप करता है तो रात्रि के पश्चात् प्रातः सावधान हुआ अपने उत्थानार्थ परमात्मा का स्मरण करता है ॥११॥

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२ ॥

यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव । तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) हे कितवा द्यूतकारिणः ! युष्माकं मध्ये (महतः-गणस्य व्रातस्य यः सेनानीः प्रथमः-राजा बभूव) महतः कितवगणस्य योऽग्रणीः कितवसमूहस्य प्रमुखो राजमानः पुरुषोऽस्ति मे वचनं शृणोतु (तस्मै धना न रुणध्मि) तस्मै युष्माकं गणाय व्राताय वा धनानि न स्थापयामि न क्रीडामि, इति संकल्पो जातः (दश प्राचीः-अहम्-ऋतं वदामि) अहं प्राच्याद्या दश दिशोऽभिलक्ष्य सत्यं घोषयामि यद्वा सम्मुखस्थिताः-दर्शकप्रजा अभिलक्ष्य सत्यं घोषयामि ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) हे जुआरियो ! तुम्हारे मध्य में (महतः-गणस्य व्रातस्य यः सेनानीः) महान् जुआरी समूह का जो अग्रणी (प्रथमः-राजा बभूव) प्रमुख प्रसिद्ध पुरुष है मेरे वचन को सुने (तस्मै धना न रुणध्मि) उस गण के लिये धन नहीं देता हूँ—नहीं खेलूँगा यह सङ्कल्प हो गया (दश प्राचीः-अहम्-ऋतं वदामि) दश पूर्वादि दिशाओं को लक्ष्यकर सत्य घोषित करता हूँ अथवा दर्शक प्रजाओं को लक्ष्य कर सत्य घोषित करता हूँ ॥१२॥

भावार्थ—जब जुआ खेलने से पूर्ण ग्लानि हो जावे तो जुआरियों के प्रमुख नेता को स्पष्ट कहदे कि मैं अब जुए में धन नहीं लगाऊँगा तथा खुले स्थान में सब दिशाओं की ओर देखते हुए और सब प्रजाओं के सामने अपने दृढ़ संकल्प की घोषणा करदे कि अब जुआ नहीं खेलूँगा। इस प्रकार इस दुर्व्यसन से बचने का महान् उपाय है ॥१२॥

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३ ॥

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः । तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कितव) हे द्यूतव्यसनिन् ! (अक्षैः-मा दीव्यः) अक्षैर्द्यूतपाशैर्न क्रीड (कृषिम्-इत्-कृषस्व) कृषिं कर्षयान्नमुत्पादय (वित्ते रमस्व) कृषिधने कृषिनिष्पन्न-भोगे त्वमानन्दं कुरु (बहु मन्यमानः) स्वात्मानं धन्यं मन्यमानः यतः (तत्र गावः) तत्कार्ये गावः सुरक्षिताः (तत्र जाया) तत्र खलु पत्नी सुरक्षिता प्रसन्नाऽनुकूला च (अयम्-अर्यः सविता तत्-मे वि चष्टे) एष उत्पादको जगदीशः परमात्मा मह्यमुपासकाय तद् विशिष्टतया कथयति यल्लोकानुपदिश ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(कितव) हे द्यूतव्यसनी ! (अक्षैः-मा दीव्यः) जुए के पाशों से मत खेल (कृषिम्-इत्-कृषस्व) कृषि को जोत-खेती कर-अन्न को उपजा (वित्ते रमस्व) खेती से प्राप्त अन्न धन भोग में आनन्द ले (बहु मन्यमानः) अपने को धन्य मानता हुआ प्रसन्न रह क्योंकि (तत्र गावः) उस कार्य में गौएँ सुरक्षित हैं—और रहेंगी (तत्र जाया) उसमें पत्नी सुरक्षित प्रसन्न व अनुकूल रहेगी (अयम्-अर्यः सविता तत्-मे विचष्टे) यह उत्पादक जगदीश परमात्मा मुझ उपासक के लिये कहता है कि लोगों को ऐसा उपदेश दो।

भावार्थ—जुए जैसे विषम व्यवहार एवं पाप की कमाई से बचकर स्वश्रम से उपार्जित कृषि से प्राप्त अन्न और भोग श्रेष्ठ हैं। इससे पारिवारिक व्यवस्था और पशुओं का लाभ भी मिलता है परमात्मा भी अनुकूल सुखदायक बनता है ॥१३॥

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ ॥

मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु । नि । वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः । अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मित्रं कृणुध्वं खलु) हे कितवाः ! यूयं खलु मां मित्रं कुरुत द्यूतकार्यतोऽहं विरक्त इति लक्ष्यीकृत्य मां प्रति द्वेषं न कुरुतापि मयि मैत्रीं भावयत ममोपरि कृपां विधत्त (नः-मृळत) अस्मान् सुखयत (नः-घोरेण धृष्णु मा चरत) अस्मान् भयङ्करेण "धृष्णुना" तृतीयाविभक्तेर्लुक् धर्षणबलेन न वर्त्तध्वम् (वः-मन्युः-नु विशताम्) युष्माकं क्रोधो युष्माकमन्तरे हि निविष्टस्तिष्ठतु (अन्यः-अरातिः-बभ्रूणां प्रसितौ नु अस्तु) अन्योऽदाता वञ्चकश्चौरो बभ्रुवर्णानामक्षाणां द्यूतसाधनानां बन्धने जाले *"प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा"* *[निरु० ६ । १२]* बद्धो भवतु ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(मित्रं कृणुध्वं खलु) हे पुराने साथी जुआरियो ! तुम लोग मुझे मित्र बनाओ–द्यूतकार्य से मैं विरक्त हो गया ऐसा जानकर मुझसे द्वेष न करो और मेरे ऊपर कृपा बनाये रखो (नः-मृळत) हमें सुखी करो (नः-घोरेण धृष्णु मा चरत) हमारे प्रति भयङ्कर दबाव से न वर्त्तो (वः-मन्युः-नु विशताम्) तुम्हारा क्रोध तुम्हारे अन्दर ही विलीन रहे (अन्यः-अरातिः-बभ्रूणां प्रसितौ नु-अस्तु) अन्य कोई वञ्चक–चौर चमकते हुए पाशों के बन्धन में बद्ध होवे ॥१४॥

भावार्थ—जुआ खेलने वाला जुए खेलने के दोषदर्शन से विरक्त हो जाता है तो उसके पुराने साथी द्वेष करने लगते हैं। वह उन्हें समझावे कि वे मित्रभाव करने लगें और कोई भी जुए के बन्धन में न फँसे ॥ १४ ॥



पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—धानाको लुषः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ६, ९, ११, विराड् जगती । २ भुरिग् जगती । ३, ७, १०, १२ पादनिचृज्जगती । ४, ८ आर्ची स्वराड् जगती । ५ आर्ची भुरिग् जगती । १३ निचृत् त्रिष्टुप् । १४ विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१-१२ निषादः । १३, १४ धैवतः ।

विषय—अस्मिन् सूक्ते सूर्योषोद्युलोकपृथिवीलोकपदार्थेभ्य उपयोगग्रहणं, विदुषां योगिनां सङ्गत्या योगशिक्षणं, पारिवारिकजनानां पारस्परिकवर्तनं च वर्ण्यते ।

इस सूक्त में सूर्य उषा द्युलोक पृथिवीलोकों से उपयोग लेना, योगी विद्वानों से योगशिक्षा और पारिवारिक जनों का परस्पर वर्तना दिखलाया है ।

अबुंध्रमु त्य इन्द्रंवन्तो अग्नयो ज्योतिर्भरन्त उषसो व्युंष्टिषु ।
मही द्यावांपृथिवी चैततामपोऽद्या देवानामव आ वृंणीमहे ॥ १ ॥

अबुंध्रम् । ऊँ इतिं । त्ये । इन्द्रंऽवन्तः । अग्नयः । ज्योतिः । भरन्तः । उषसः । विऽउंष्टिषु । मही इतिं । द्यावांपृथिवी इतिं । चेतताम् । अपः । अद्य । देवानाम् । अवः । आ । वृणीमहे ॥ १ ।

संस्कृतान्वयार्थः—(उषसः- व्युष्टिषु) उषोवेलायास्तमोव्युदसनावसरेषु (त्ये इन्द्रवन्तः-अग्नयः) ते सूर्यवन्तः सूर्याश्रिताः किरणाः परमात्मवन्तः परमात्मोपासका विद्वांसो वा (ज्योतिः-भरन्तः) प्रकाशं धारयन्तो ज्ञानज्योतिर्धारयन्तो वा (अबुध्रम्) प्रादुर्भवन्ति प्रबुद्धा भवन्ति वा (मही द्यावापृथिवी अपः-चेतताम्) महत्यौ द्यावापृथिव्यौ महत्त्वपूर्णौ द्युलोकपृथिवीलोकौ स्त्रीपुरुषौ वा स्वकीयं कर्म प्रारभेते (देवानाम्-अवः-अद्य-आ वृणीमहे) तेषां रश्मिरूपदेवानां विदुषामुपासकानां वा रक्षणं वयं याचामहे निजजीवने धारयितुम् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(उषसः-व्युष्टिषु) उषोवेला-प्रातर्वेला के अन्धकार दूर होने वाले अवसरों में (त्ये-इन्द्रवन्तः-अग्नयः) वे सूर्य वाले-सूर्य के आश्रित रहने वाले किरण या परमात्मा वाले-परमात्मा के आश्रित रहने वाले उपासक विद्वान् जन (ज्योतिः-भरन्तः) प्रकाश धारण करने वाले या ज्ञानज्योति धारण करने वाले (अबुध्रम्) प्रादुर्भूत होते हैं या प्रबुद्ध हो जाते हैं (मही द्यावापृथिवी-अपः-चेतताम्) महत्त्वपूर्ण द्युलोक पृथिवीलोक या स्त्री पुरुष अपना कर्म प्रारम्भ कर देते हैं (देवानाम्-अवः-अद्य-आवृणीमहे) उन किरणों या उपासक विद्वानों के रक्षण को हम मांगते हैं-चाहते हैं निज जीवन में धारण करने को ।। १ ।।

भावार्थ—प्रातःकाल होते ही अन्धकार को हटाने वाली सूर्य की किरणें द्युलोक पृथिवीलोक को प्रकाशित कर देती हैं। उन पर कार्य प्रारम्भ हो जाने के लिये जीवनरक्षा के निमित्त उनको सेवन करना चाहिए तथा प्रातः होते ही अज्ञानान्धकार मिटाने वाले परमात्मा के उपासक विद्वान् जाग जाते हैं स्त्री पुरुषों को कार्य-व्यवहार चलाने को ज्ञानप्रकाश देते हैं उनके रक्षण में जीवन को उन्नत करना चाहिए ।। १ ।।

दिवस्पृ॑थि॒व्योरव॒ आ वृ॑णीमहे मा॒तॄन्त्सिन्धू॒न्पर्व॑ताञ्छर्य॒णाव॑तः ।
अ॒ना॒गास्त्वं॒ सूर्य॑मु॒षास॑मीमहे भ॒द्रं सोमः॑ सुवा॒नो अ॒द्या कृ॑णोतु नः ॥ २॥

दि॒वःपृ॒थि॒व्योः॑ । अवः॑ । आ । वृ॒णी॒म॒हे॒ । मा॒तॄन् । सिन्धू॑न् । पर्व॑तान् । श॒र्य॒णाऽव॑तः । अ॒ना॒गाःऽत्वम् । सूर्य॑म् । उ॒षस॑म् । ई॒म॒हे॒ । भ॒द्रम् । सोमः॑ । सु॒वा॒नः । अ॒द्य । कृ॒णो॒तु । नः॒ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवः-पृथिव्योः) द्यावापृथिव्योः 'दिवः षष्ठ्याः-अलुक् छान्दसः' द्युलोकस्य पृथिवीलोकस्य च तथा ज्ञानदातुरन्नदातुश्च (अवः-आ वृणीमहे) रक्षणं वाञ्छामः (सिन्धून् मातॄन्-शर्यणावतः-पर्वतान्) ओषधिवनस्पतीनां निर्मातॄन् स्यन्दमानान् जलाशयान्, अन्तरिक्षस्थान् मेघांश्च *'शर्यणावति-शर्यणोऽन्तरिक्षदेशस्तस्यादूरभवे-अत्र 'मध्वादिभ्यश्च' (अष्टा० ४ । २ । ८६) इति मतुप् [ऋ० ५ । ८४ । १४ दयानन्दः]* 'आवृणीमहे' वाञ्छामः (सूर्यम्-उषसम्-अनागास्त्वम्-ईमहे) सूर्यं सुप्रभातं च निर्दोषं वाञ्छामः (सुवानः सोमः) सुनिष्पन्नः प्रकाशमानश्चन्द्रमाश्च (नः-भद्रम्-अद्य कृणोतु) अस्मभ्यं सम्प्रति कल्याणं करोतु; यद्वा (मातॄन् सिन्धून् शर्यणावतः पर्वतान् सूर्यम्-उषसम्-अनागास्त्वम्-ईमहे सुवानः-सोमः-नः-भद्रम्-अद्य कृणोतु) जननिर्मातॄन् स्रवगतिशीलानुपदेष्टॄन् प्रणवधनुषि स्थितानध्यात्मपर्ववतो योगिनो वाञ्छामो विद्यासूर्यं विद्वांसं तत्सदृशीं ज्ञानप्रवर्तयित्रीं विदुषीं च वाञ्छामः पुनश्चाज्ञानदोषराहित्यं च वाञ्छामः, तथा नवस्नातकोऽपि खल्वस्मभ्यं कल्याणं साधयतु ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवः-पृथिव्योः) द्युलोक पृथिवीलोक के तथा ज्ञानदाता अन्नदाता के (अवः-आवृणीमहे) रक्षण को हम चाहते हैं (सिन्धून्-मातॄन् शर्यणावतः पर्वतान्) ओषधि वनस्पतियों के निर्माणकर्ता स्यन्दमान-बहते हुए जलाशयों, अन्तरिक्ष वाले मेघों को तथा मनुष्यों

के निर्माणकर्ता सर्वत्र भ्रमणशील उपदेष्टाओं प्रणव धनुष पर स्थित अध्यात्म पर्व वाले योगियों को हम चाहते हैं (सूर्यम्-उषासम् अनागास्त्वम्-ईमहे) सूर्य और सुप्रभात वेला के निर्दोष प्रकाश को चाहते तथा विद्यासूर्य विद्वान् को उस जैसी ज्ञानप्रसारिका विदुषी को अज्ञानरहितता को भी चाहते हैं (सुवानः सोमः-नः-भद्रम्-अद्य कृणोतु) सुनिष्पन्न चन्द्रमा तथा नवस्नातक भी हमारे लिये अब कल्याण सिद्ध करे ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवीस्थ जलाशय और आकाश के मेघ हमारे रक्षा करने वाले हैं वे ओषधियाँ उत्पन्न करते हैं सूर्य उषा–सुन्दर प्रभातवेला और चन्द्रमा उत्तम कल्याणप्रद प्रकाश देने वाले हैं तथा माता पिता अन्नज्ञानदाता रक्षक हो सर्वत्र जाने वाले उपदेशक ज्ञानधर्म का उपदेश; विद्यासूर्य विद्वान् और विदुषी तथा नवस्नातक भी कल्याणकारी ज्ञान दें ॥ २ ॥

द्यावा॑ नो अ॒द्य पृ॑थि॒वी अना॑गसो म॒ही त्रा॑येतां सु॒विता॑य मा॒तरा॑ ।
उ॒षा उ॒च्छन्त्यप॑ बाधताम॒घं स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं स॑मि॒धानमी॑महे ॥ ३ ॥

द्यावा॑ । नः॒ । अ॒द्य । पृ॒थि॒वी इति॑ । अना॑गसः । म॒ही इति॑ । त्रा॒ये॒ता॒म् । सु॒वि॒ताय॑ । मा॒तरा॑ । उ॒षाः । उ॒च्छन्ती॑ । अप॑ । बा॒ध॒ता॒म् । अ॒घम् । स्व॒स्ति । अ॒ग्निम् । स॒म्ऽइ॒धान॑म् । ई॒म॒हे॒ ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मही) महत्यौ (द्यावापृथिवी मातरा) द्यावापृथिव्यौ द्यौः पृथिवी चोभे यद्वा ज्ञानप्रकाशिका विद्वत्सभा तथाऽन्नादिव्यवस्थाकारिणी समिति-निर्माणकर्त्र्यौ (अनागसः-नः) दोषरहितानस्मान् (अद्य सुविताय त्रायेताम्) अस्मिन् जीवनकाले जन्मनि वा सुगतसुखाय रक्षताम् (उच्छन्ती-उषाः) प्रादुर्भवन्ती खलूषा ज्योतिर्मयप्रभातवेला तथा प्राप्यमाणा नववधूः (अघं बाधताम्) अन्धकारम-ज्ञानान्धकारं नाशयेत् । (समिधानम्-अग्निं स्वस्ति-ईमहे) अग्निहोत्रे सम्यग् दीप्यमानं गृह्याग्निं च, तथा–अग्निहोत्रं कुर्वाणं यजमानं च कल्याणं वाञ्छामः *"यजमानोऽग्निः"* [*श० ६ । ३ । २ । २१*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(मही) महत्त्वपूर्ण (द्यावापृथिवी मातरा) द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों अथवा ज्ञानप्रकाशिका विद्वत्सभा और अन्नादि व्यवस्था करने वाली समिति प्रजानिर्माण करने वाली (अनागसः-नः) हम दोषरहितों की (अद्य सुविताय त्रायेताम्) इस मानव जीवन में सुख के लिये रक्षा करें (उच्छन्ती-उषाः) प्रकट होती हुई ज्योतिर्मय प्रभातवेला तथा प्राप्त होती हुई नई वधू (अघं बाधताम्) अघ-अन्धकार अज्ञान को नष्ट करते हैं (समिधानम्-अग्नि स्वस्ति-ईमहे) अग्निहोत्र में सम्यक् दीप्त हुई अग्नि को तथा अग्निहोत्र करते हुए यजमान को सुखी रूप में चाहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—द्युलोक पृथिवीलोक परमात्मा ने निर्दोष मनुष्यों के लिये कल्याणकारी बनाये । प्रातः वेला भी अज्ञान आदि दोषों को दूर करने वाली बनाई है । अग्नि भी मनुष्य का

कल्याण साधने वाली रची है तथा ज्ञान प्रकाश करने वाली विद्वत्सभा और अन्नादि की व्यवस्था करने वाली समिति समाज या राष्ट्र में निर्दोष मनुष्यों की रक्षा करती है। उत्तम सुख प्राप्त कराती है। घर में नई वधू भी दुख को हटाती है। प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वाले का कल्याण होता है ॥ ३ ॥

इयं न उस्रा प्रथमा सुदेव्यं रेवत्सनिभ्यो रेवती व्युच्छतु ।
आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ४ ॥

इयम् । नः । उस्रा । प्रथमा । सुऽदेव्यम् । रेवत् । सनिऽभ्यः । रेवती । वि । उच्छतु । आरे । मन्युम् । दुःऽविदत्रस्य । धीमहि । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इयं प्रथमा-उस्रा रेवती व्युच्छतु) एषा प्रतमा प्रकृष्टा विस्तृता उत्स्राविणी विकासयित्री पुष्टिमती पुष्टिप्रदा यद्वा वेतस्वती मनुष्यवती सन्तान-शक्तिमती वधूः प्रकाशिता भवतु गृहे विशिष्टतया प्रभवतु (सनिभ्यः-रेवत्-सुदेव्यम्) सम्भाजकेभ्योऽस्मभ्यं पुष्टिमत् सुदेवयोग्यं ज्ञानं सन्तानं च प्रयच्छ (दुर्विदत्रस्य मन्युम्-आरे धीमहि) दुर्विदत्रस्य परमात्मनो मननीयं स्वरूपं समीपं धारयेम (समिधानम्-अग्निं स्वस्ति-ईमहे) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इयं प्रथमा-उस्रा रेवती व्युच्छतु) यह प्रकृष्ट विस्तृत विकास करने वाली पुष्टिमती–पुष्टिप्रदा या रेतस्वती–मनुष्य सन्तान शक्तिवाली वधू घर में विशेष रूप से प्रभावशाली हो (सनिभ्यः-रेवत्-सुदेव्यम्) सेवन करने वाले हम भागीदारों के लिये पुष्टि वाले ज्ञान और सन्तान को प्रदान करे (दुर्विदत्रस्य मन्युम्-आरे धीमहि) कठिनता से जानने योग्य परमात्मा के माननीय स्वरूप को समीप रूप में धारण करें (समिधानम्-अग्नि स्वस्ति-ईमहे) आगे अर्थ पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—घर में विकसित होती हुई उषा या प्राप्त होती हुई नव वधू घर एवं परिवार का विकास करती हुई आती है। घर में रहने वाले पारिवारिक जनों के लिए प्रकाश और सन्तान को प्रदान करती है। उस द्वारा सन्ध्या आदि धर्माचरण से गृहस्थ परमात्मा की ओर चलता है ॥ ४ ॥

प्र याः सिस्रते सूर्यस्य रश्मिभिर्ज्योतिर्भरन्तीरुषसो व्युष्टिषु ।
भद्रा नो अद्य श्रवसे व्युच्छत स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ५ ॥

प्र । याः । सिस्रते । सूर्यस्य । रश्मिऽभिः । ज्योतिः । भरन्तीः । उषसः । विऽउष्टिषु । भद्राः । नः । अद्य । श्रवसे । वि । उच्छत । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(व्युष्टिषु) तमसो निवृत्तिवेलासु प्रभातवेलासु (याः-उषसः) याः खलूष्णाभासो नववध्वः प्रजा वा (सूर्यस्य ज्योतिः-रश्मिभिः-भरन्तीः) सूर्यस्य किरणैः, विद्यासूर्यविदुषो ज्ञानमयप्रवचनधाराभिः, ज्योतिर्धारयन्त्यः, ज्ञानज्योतिर्धारयन्त्यः (प्रसिस्रते) पृथिव्यां प्रसरन्ति, गृहाश्रमे गृहस्थेषु प्रसरन्ति प्रगच्छन्ति प्रवर्त्तन्ते प्रपूर्वकात् सृधातोः *"बहुलं छन्दसि"* [अष्टा० २ । ४ । ७६] व्यत्ययेनात्मनेपदं च *"सिस्रते सरन्ति प्राप्नुवन्ति"* [ऋ० ४ । २२ । ६ *दयानन्दः*] (अद्य नः श्रवसे भद्रा व्युच्छत) अद्य प्रतिदिनं अस्मिन् अवसरे वा अन्नाय-अन्नोत्पत्तये *"श्रवः अन्ननाम"* [*निघं० २ । ७*] यशसे *"श्रवः श्रवणीयं यशः* [*निरु० ११ । १६*] भजनीया सेवनीया-उदिता भवन्तु, उन्नता भवन्तु अग्रे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ— (व्युष्टिषु) अन्धकार हटाने वाली प्रभातवेलाओं में (याः-उषसः) जो उष्ण आभायें या नई वधू प्रजायें (सूर्यस्य ज्योतिः-रश्मिभिः-भरन्तीः) सूर्य की किरणों से या विद्यासूर्य विद्वान् की ज्ञानधाराओं से ज्योति को धारण करती हुई (प्रसिस्रते) पृथिवी पर या गृहाश्रम में फैलती हैं (अद्य नः श्रवसे भद्रा व्युच्छत) प्रतिदिन या इस अवसर पर अन्नोत्पत्ति के लिये और यश के लिये कल्याण रूप सेवनीय उदय होवें या उन्नत होवें । आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रातःकाल सूर्य की किरणें ज्योति को लेकर आती हैं और पृथिवी पर फैलती हैं । वह अन्धकार को नष्ट करने के साथ अन्न की उत्पत्ति में कल्याणकारी सिद्ध होती हैं । तथा प्रथम प्रथम घर में विद्वान् पति की नई विदुषी वधू आती है तो शोभा लक्ष्मी का प्रसार करती है । गृहस्थ के लिये यश देती हुई कल्याणकारी बनती है ॥ ५ ॥

अनमीवा उषस आ चरन्तु न उदग्नयो जिहतां ज्योतिषा बृहत् ।
आयुक्षातामश्विना तूतुजिं रथं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ६ ॥

अनमीवाः । उषसः । आ । चरन्तु । नः । उत् । अग्नयः । जिहताम् । ज्योतिषा । बृहत् । अयुक्षाताम् । अश्विना । तूतुजिम् । रथम् । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उषसः-अनमीवाः-नः-आचरन्तु) अमीवा रोगो न भवति याभिः सेविताभिः, ता रोगनिवारिका रोगसंस्पर्शाद् रक्षिका प्रभातभासोऽस्मान् समन्तात् प्राप्नुवन्तु कमनीया नववध्वः-रोगनिवारिका रोगसम्पर्काद् रक्षिका अस्मान् आचरन्तु सेवन्ताम् (अग्नयः-बृहत्-ज्योतिषा-उज्जिहताम्) अग्नयो विविधा महता तेजसा खलूद्गच्छन्तु कार्यं साधयन्तु विद्वांसश्च महतो ज्ञानतेजसा-उद्भवन्तु (अश्विना) पुनरहोरात्रौ *"अश्विनावहोरात्रावित्येके"* [*निरु० १२ । १*] (तूतुजिं रथम्-आयुक्षाताम्) बलवन्तं निरन्तरं रममाणं संसारं समन्ताद् युक्तौ भवेताम्, गृहाश्रमे भार्यापती समन्ताद् रमणीयगृहस्थाश्रमयुक्तौ भवेताम् । *"तूतुजि बलवन्तम्"* [ऋ० ६ । २० । ८ *दयानन्दः*] अग्रे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(उषसः-अनमीवाः-नः-आचरन्तु) अमीवा–रोग जिनके सेवन से नहीं होता है वे ऐसे रोगनिवारक रोगसंस्पर्श से बचाने वाली प्रभात वेलायें हमें भली भाँति प्राप्त हों, तथा कमनीय नववधुएं रोगनिवारिकाएँ रोगसम्पर्क से बचाने वाली होती हुईं हमें सेवन करें (अग्नयः बृहत्-ज्योतिषा-उज्जिहताम्) अग्नियां–विविध अग्निहोत्र महान् तेज से उज्ज्वलित हों कार्य को सिद्ध करें, तथा विद्वान् जन महान् ज्ञान तेज से ऊपर उठें (अश्विनौ) फिर दिनरात (तूतुजि रथम्-आयुक्षाताम्) बलवान् निरन्तर रमणीय संसार को युक्त होवें तथा पति पत्नी रमणीय गृहस्थाश्रम को युक्त होवें । आगे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रभातवेलायें रोगनिवारक हुआ करती हैं। उनसे लाभ उठाना चाहिये। अग्निहोत्र भी सुखदायक होते हैं और संसार में प्रवर्त्तमान दिनरात को भी सुखदायक बनाना चाहिये तथा घर में वधुएँ रोगों का निवारण करने वाली हों और पुरुष भी विद्वान् होते हुए ज्ञान से ऊपर उठें। स्त्री पुरुष गृहस्थ का सच्चा सुख लें ॥ ६ ॥

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि ।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ७ ॥

श्रेष्ठम् । नः । अद्य । सवितः । वरेण्यम् । भागम् । आ । सुव । सः । हि । रत्नऽधाः । असि । रायः । जनित्रीम् । धिषणाम् । उप । ब्रुवे । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सवितः) हे प्रेरयितः परमात्मन् ! त्वम् (अद्य) अस्मिन् जन्मनि (नः) अस्मभ्यम् (श्रेष्ठं वरेण्यं भागम्-आसुव) प्रशस्यतमं वर्तुमर्हमनिवार्यं वरणीयमध्यात्मलाभरूपं भागं प्रापय (सः-हि रत्नधाः-असि) स त्वं हि रमणीयानां धनानां सुखानां वाऽतिशयेन धारको दाता च भवसि (रायः-जनित्रीं धिषणाम्) रमणीयस्य धनस्य प्रादुर्भावयित्रीं वाचम् (उपब्रुवे) उपस्तौमि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सवितः) हे प्रेरक परमात्मन् ! तू (अद्य) इस जन्म में (नः) हमारे लिये (श्रेष्ठं वरेण्यं भागम्-आसुव) श्रेष्ठ वरने योग्य अध्यात्म सुखलाभ मोक्ष को प्राप्त करा (सः-हि रत्नधाः-असि) वह तू ही रमणीय धनों या सुखों का अत्यन्त धारक और देने वाला है। (रायः जनित्रीं धिषणाम्) रमणीय धन भोग की सम्पन्न कराने वाली वाणी को (उप ब्रुवे) उपासना रूप में प्रस्तुत करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना करने से वह सर्वश्रेष्ठ मोक्ष सुख और सांसारिक सच्चे सुख को ही प्रदान करता है ॥ ७ ॥

पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्याऽअमन्महि ।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ८ ॥

पिपर्तु । मा । तत् । ऋतस्य । प्रऽवाचनम् । देवानाम् । यत् । मनुष्याः । अमन्महि । विश्वाः । इत् । उस्राः । स्पट् । उत । एति । सूर्यः । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानाम्-यत्-ऋतस्य प्रवाचनम्) सृष्ट्यादौ खल्वग्निप्रभृतीनां परमर्षीणां यत् प्रवाचनमृतं वेदज्ञानं यस्य तैर्ऋषिभिः प्रवचनं कारयति परमात्मा 'ऋतस्ये'ति षष्ठी व्यत्ययेन (मनुष्याः-अमन्महि) वयं मनुष्या याचामहे *"मन्महे याच्ञाकर्मा" [निघ० ३ । १९]* (तत्-मा पिपर्तु) तदस्मान् रक्षतु यतः (सूर्यः) स विद्यासूर्यः परमात्मा (विश्वाः-उस्राः-इत्-स्पट्-उदेति) सर्वान् विद्यारश्मीन् हि स्पृशन् जानन् हि "स्पश स्पर्शने" तेषु साक्षाद् भवति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानां यत्-ऋतस्य प्रवाचनम्) सृष्टि के आदि में अग्नि आदि परम-ऋषियों का जो प्रवचन करने योग्य वेदज्ञान जिसका है उन ऋषियों द्वारा उस का प्रवचन परमात्मा कराता है (मनुष्याः-अमन्महि) हम मनुष्य चाहते हैं (तत्-मा पिपर्तु) वह मेरी रक्षा करे (सूर्यः) वह विद्यासूर्य परमात्मा (विश्वाः-उस्राः-इत् स्पट्-उदेति) सारी विद्या-धाराओं को ही जानता हुआ उन ऋषियों के अन्दर साक्षात् होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—समस्तविद्याप्रकाशक परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि परम ऋषियों को उनके अन्दर साक्षात् वेदज्ञान का उपदेश मनुष्यों के कल्याणार्थ देता है ॥ ८ ॥

अद्वेषो अद्य बर्हिषः स्तरीमणि ग्राव्णां योगे मन्मनः साधं ईमहे ।
आदित्यानां शर्मणि स्था भुरण्यसि स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे ॥ ९॥

अद्वेषः । अद्य । बर्हिषः । स्तरीमणि । ग्राव्णाम् । योगे । मन्मनः । साधे । ईमहे । आदित्यानाम् । शर्मणि । स्थाः । भुरण्यसि । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य) अस्मिन् जन्मनि (अद्वेषः-बर्हिषः स्तरीमणि) यस्मिन् द्वेषो न भवति तथाभूतेऽध्यात्मज्ञानस्य *"बर्हि विज्ञानम्" [ऋ० १ । ८३ । ६ दयानन्दः]* आच्छादके स्तरे वातावरणे (ग्राव्णां योगे) विदुषां सम्बन्धे *"विद्वांसो हि ग्रावाणः" [श० ३ । ९ । ३-१४]* (मन्मनः साधे-ईमहे) मननीयस्य मनोरथस्य साधनाय त्वा परमात्मानं याचामहे-प्रार्थयामहे (आदित्यानां शर्मणि स्थः-भुरण्यसि) हे परमात्मन् त्वम्-अखण्डब्रह्मचर्यज्ञानवतां विदुषां कल्याणे स्थितः सन् तान् पालयसि, अग्रे पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्य) इस जन्म में (अद्वेषः-बर्हिषः स्तरीमणि) द्वेष अर्थात् ग्लानि से रहित अध्यात्मज्ञान के रक्षक वातावरण में (ग्राव्णां योगे) विद्वानों का सम्बन्ध-संयोग होने

पर (मन्मनः साधे-ईमहे) मननीय मनोरथ साधने के लिये तुझ परमात्मा को प्रार्थित करते हैं—चाहते हैं (आदित्यानां शर्मणि स्थः-भुरण्यसि) हे परमात्मन् ! तू अखण्ड ब्रह्मचर्य वालों के कल्याण में स्थित होता हुआ उन्हें पालता है उनकी रक्षा करता है । आगे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—मानव के वर्त्तमान युग में अध्यात्म ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिये । वेद–विद्वानों के संयोग में और ब्रह्मचर्यादि व्रत द्वारा परमात्मा के उपासना रूप शरण में मनोरथों की सिद्धि होती है ॥ ६ ॥

आ नो॑ ब॒र्हिः स॑ध॒मादे॑ बृ॒हद्दि॒वि दे॒वाँ ई॑ळे सा॒दया॑ स॒प्त होतॄ॑न् ।
इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णं सा॒तये॒ भगं॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं स॑मि॒धा॒नमी॑महे ॥ १० ॥

आ । नः॒ । ब॒र्हिः । स॒ध॒ऽमादे॑ । बृ॒हत् । दि॒वि । दे॒वान् । ई॒ळे॒ । सा॒दय॑ । स॒प्त । होतॄ॑न् । इन्द्र॑म् । मि॒त्रम् । वरु॑णम् । सा॒तये॑ । भग॑म् । स्व॒स्ति । अ॒ग्निम् । स॒म्ऽइ॒धा॒नम् । ई॒म॒हे॒ ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ईळे) हे परमात्मन् ! अहं त्वां स्तौमि, अतस्त्वम् (नः) अस्माकम् (सधमादे बृहत्-दिवि बर्हिः) सहहर्षप्राप्तिस्थाने बृहति ज्ञानप्रकाशकेऽध्यात्मयज्ञे (देवान् सप्त होतॄन् आसादय) अध्यात्मयज्ञस्य सप्तहोतॄन् मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारान् चक्षुःश्रोत्रवाचश्च समन्तात् साधय (सातये) अध्यात्मानन्दलाभाय त्वाम् (इन्द्रं मित्रं वरुणं भगम्) ऐश्वर्यवन्तं प्रेरयितारं वरयितारं भजनीयं परमात्मानं खल्वहमीळे स्तौमि (स्वस्त्य०) पूर्ववत् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ईळे) हे परमात्मन् ! मैं तेरी स्तुति करता हूं अतः तू (नः) हमारे (सधमादे बृहत्-दिवि बर्हिः) हर्षप्राप्ति के सह स्थान–महान् ज्ञानप्रकाशवाले अध्यात्मयज्ञ में (देवान् सप्त होतॄन्-आसादय) अध्यात्म यज्ञ के सात ऋत्विक् दिव्य गुण वाले मन बुद्धि चित्त अहङ्कार नेत्र कान वाणी को सिद्ध कर–शक्तिसम्पन्न कर (सातये) आनन्दलाभ के लिये (इन्द्रं मित्रं वरुणं भगम्) तुझ ऐश्वर्यवान् प्रेरक वरने वाले भजनीय परमात्मा की मैं स्तुति करता हूं (स्वस्त्य०) आगे पूर्ववत् ॥ १० ॥

भावार्थ—मन बुद्धि चित्त अहङ्कार नेत्र कान और वाणी के द्वारा परमात्मा का ध्यान उपासना आदि कर्म करके मनुष्य ऐश्वर्यवान् प्रेरक वरने वाले भजनीय परमात्मा को अनुकूल बनाकर ऊँचा अध्यात्म सुख प्राप्त करता है ॥ १० ॥

त आ॑दि॒त्या आ ग॑ता स॒र्वता॑तये वृ॒धे नो॑ य॒ज्ञम॑वता सजोषसः ।
बृह॒स्पतिं॑ पू॒षण॑म॒श्विना॒ भगं॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं स॑मि॒धा॒नमी॑महे ॥ ११ ॥

ते । आदित्याः । आ । गत । सर्वतातये । वृधे । नः । यज्ञम् । अवत । सऽजोषसः । बृहस्पतिम् । पूषणम् । अश्विना । भगम् । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते-आदित्याः) स अखण्ड एकरसः परमात्मा "बहुवचनमादरार्थम्" (सर्वतातये) सर्वकर्मततयो यस्मिन् सर्वाणि—अध्यात्मकर्माणि ततानि भवन्ति तथाविधाभ्यासरूपाय योगयज्ञाय (आगत) आगच्छ प्राप्तो भव (नः-वृधे) अस्माकं जीवनवृद्ध्यै (सजोषसः-यज्ञम्-अवत) समानप्रीतिमान् यावतीं प्रीतिमहं करोमि तावतीं प्रीतिं त्वमपि कुरु एतमध्यात्मयज्ञं रक्ष (बृहस्पतिं पूषणम् अश्विना भगम्) बृहत्या वेदवाचः स्वामिनं स्तोतॄणां पोषकं तथा ज्योतिमयमानन्दरसमयं च भजनीयं त्वामीळे, स्तौमि, अग्रे पूर्ववत् ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते-आदित्याः) वह अखण्ड एक रस परमात्मा (सर्वतातये) सब अध्यात्मकर्म फैले हुए हैं जिसमें ऐसे योगरूप अध्यात्म यज्ञ के लिये (आगत) आ—प्राप्त हो (नः-वृधे) हमारी जीवनवृद्धि के निमित्त (सजोषसः-यज्ञम्-अवत) समान प्रीति वाला—जितनी मैं प्रीति करता हूँ उतनी ही तू भी करने वाला होता है इसलिये इस अध्यात्म यज्ञ की रक्षा कर करता है (बृहस्पतिं पूषणम्-अश्विना भगम्) तुझ वेदवाणी के स्वामी स्तुतिकर्त्ताओं के पोषक ज्योतिःस्वरूप और आनन्दरसरूप भजनीय की स्तुति करता हूँ। आगे पूर्व के समान अर्थ है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य जब श्रद्धा से योगाभ्यास रूप अध्यात्म यज्ञ का सेवन करता है तो परमात्मा उस उपासक के अनुकूल उसकी जीवनवृद्धि—जीवनविकास के लिये पूर्ण सहायक बनता है ॥ ११ ॥

तन्नो देवा यच्छत सुप्रवाचनं छर्दिरादित्याः सुभरं नृपाय्यम् ।
पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ १२ ॥

तत् । नः । देवाः । यच्छत । सुऽप्रवाचनम् । छर्दिः । आदित्याः । सुऽभरम् । नृऽपाय्यम् । पश्वे । तोकाय । तनयाय । जीवसे । स्वस्ति । अग्निम् । सम्ऽइधानम् । ईमहे ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः-- (आदित्याः-देवाः) आदौ भवा हे विद्वांसः ! (तत्) ईश्वरोक्तम् (सुप्रवाचनम्) प्रवचनीयं वेदज्ञानम् (नः) अस्मभ्यम् (यच्छत) प्रयच्छत—दत्त (छर्दिः सुभरं नृपाय्यम्) यत्प्रकाशमानं "छृदी सन्दीपने" [चुरादि०] सम्यग्धारणयोग्यं नृणां रक्षकमस्ति (पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे) तज्ज्ञानं कल्याणकरं पशवे ज्ञानवते पुत्राय स्वजीवनाय च भवति, अग्रे पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(आदित्याः-देवाः) हे आदि में होने वाले विद्वानो ! (तत्) उस ईश्वरोक्त (सुप्रवाचनम्) प्रवचनयोग्य वेदज्ञान को (नः) हमारे लिये (यच्छत) देवो-प्रदान करो (छर्दिः सुभरं नृपाय्यम्) वह प्रकाशमान सम्यक् धारण करने योग्य मनुष्यों का रक्षक (पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे) ज्ञान वाले पुत्र पौत्र के लिये और स्वजीवन के लिये कल्याणकारी होता है आगे पूर्ववत् ।। १२ ।।

भावार्थ—आदि सृष्टि के विद्वान् ईश्वरोक्त वेद ज्ञानका उपदेश जो मनुष्यों के लिये कल्याण-कर है उसका उपदेश दिया करते हैं। उसका अध्ययन प्रत्येक परिवार को करना हितकर है ।।१२।।

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भव॒न्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः ।
विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒सा ग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ अ॒स्मे ॥ १३ ॥

विश्वे॑ । अ॒द्य । म॒रुतः॑ । विश्वे॑ । ऊ॒ती । विश्वे॑ । भ॒व॒न्तु॒ । अ॒ग्नयः॑ । सम्ऽइ॑द्धाः । विश्वे॑ । नः॒ । दे॒वाः । अव॑सा । आ । ग॒म॒न्तु॒ । विश्व॑म् । अ॒स्तु॒ । द्रवि॑णम् । वाजः॑ । अ॒स्मे इति॑ ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य) अस्मिन् जीवने जन्मनि वा (विश्वे मरुतः) सर्वे प्राणाः *"मरुतः प्राणादयः"* [*ऋ० १ । ५२ । ६ दयानन्दः*] (विश्वे) सर्वे शरीरावयवाः (विश्वे समिद्धाः-अग्नयः) सर्वे सम्यक् प्रकाशमानसूर्यादयः पदार्थाः (ऊती भवन्तु) ऊत्यै रक्षणाय भवन्तु (विश्वे देवाः-नः-अवसा-आ गमन्तु) सर्वे विद्वांसश्चास्माकं रक्षण-हेतुनाऽऽगच्छन्तु-प्राप्ता भवन्तु (विश्वं द्रविणं वाजः-अस्मे-अस्तु) सर्वं विद्यादिधनं बलं चास्मभ्यमुपयुक्तं भवतु ।। १३ ।।

भाषान्वयार्थ—(अद्य) इस जीवन में या जन्म में (विश्वे मरुतः) सारे प्राण (विश्वे) सारे शरीराङ्ग (विश्वे समिद्धाः-अग्नयः) सब सम्यक् प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ (ऊती भवन्तु) रक्षा के लिये हों (विश्वे देवाः-नः-अवसा-आ गमन्तु) सब विद्वान् हमारे रक्षण के हेतु आवें-प्राप्त होवें (विश्वं द्रविणं वाजः-अस्मे-अस्तु) सब विद्यादिधन और बल हमारे लिये उपयुक्त हो ।। १३ ।।

भावार्थ—परमात्मा ने प्राण और शरीर के अन्य अङ्ग तथा सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थ जीवनरक्षा के लिये प्रदान किये हैं विद्वान् जन भी हमारी रक्षा करते हैं। विद्यादि धन और बल हमारे उपयोग के लिये हैं ।। १३ ।।

यं दे॑वा॒सोऽव॑थ॒ वाज॑साता॒ यं त्राय॑ध्वे॒ यं पि॑पृ॒थात्यंहः॑ ।
यो वो॑ गोपी॒थे न भ॒यस्य॒ वेद॒ ते स्या॑म दे॒ववी॑तये तु॒रासः॑ ॥ १४ ॥

यम् । दे॒वा॒सः॒ । अव॑थ । वाज॑ऽसातौ । यम् । त्राय॑ध्वे । यम् । पि॒पृ॒थ । अति॑ । अंहः॑ । यः । वः॒ । गो॒ऽपी॒थे । न । भ॒यस्य॑ । वेद॑ । ते । स्या॒म॒ । दे॒वऽवी॑तये । तु॒रासः॑ ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवासः-यं वाजसातौ-अवथ) हे विद्वांसः ! यं जनं खल्वमृतान्नभोगप्राप्तौ मुक्तिप्राप्तौ रक्षथ सम्पादयत *"अमृतोऽन्नं वै वाजः"* [जै० १ । १९३] (यं त्रायध्वे) यमधिकारिणं भयात् त्रायध्वे पृथक् कुरुथ (यम्-अंहः-अति पिपृथ) यं पापमतिक्राम्य पालयत (यः-वः-गोपीथे भयस्य न वेद) यः खलु युष्माकं वाक्पाने वेदाध्ययने वेदाध्ययनाय किमपि भयं न वेत्ति, तथाभूतानां विदुषां संरक्षणे (देववीतये) दिव्यानां भोगानां वीतिः प्राप्तिर्यस्यां तस्यै मुक्त्यै *"देववीतये दिव्यानां····भोगानां प्राप्तिः"* *[यजु० ५ । ६ दयानन्दः]* (ते तुरासः स्याम) ते वयं संसारसागरं तरन्तः-तीर्णाः *"तुरः-तरतेर्वा"* [*निरु० १२ । १४*] भवेम ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवासः-यं वाजसातौ-अवथ) हे विद्वानो ! जिस मनुष्य को अमृतान्न भोग की प्राप्ति-मुक्तिप्राप्ति के निमित्त सुरक्षितरखते हो—सम्पन्न करते हो (यं त्रायध्वे) जिस अधिकारी को भय से बचाते हो पृथक् करते हो (यम्-अंहः-अति पिपृथ) जिसको पाप से पार करके सुरक्षित रखते हो (यः-वः-गोपीथे भयस्य न वेद) जो तुम्हारे प्रवचनपान—वेदाध्ययन में अर्थात् वेदाध्ययन के लिये कुछ भी भय नहीं जानता है—अनुभव करता है उन ऐसे आप लोगों के संरक्षण में (देववीतये) दिव्य भोगों की प्राप्ति वाली मुक्ति के लिये (ते तुरासः स्याम) वे हम संसार सागर को तैरने वाले हों ॥ १४ ॥

भावार्थ—विद्वानों के संरक्षण में दोषों से बचकर ज्ञान का सेवन कर संसार सागर को पार करते हुए दिव्य सुखवाली मुक्तिप्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥



षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—धानाको लुशः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, २, ४, ६-८, ११ निचृज्जगती । ३ विराड् जगती । ५, ९, १० जगती । १२ पादनिचृज्जगती । १३ त्रिष्टुप् । १४ स्वराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१-१२ निषादः । १३, १४ धैवतः ।

अत्र सूक्ते समस्तदिव्यपदार्थाः कल्याणनिमित्ताः परमात्मना रचिताः शरीरे च विविधाः प्राणादयोऽप्यवयवा जीवनहितसाधका रचिताः सन्तीति प्रोक्तम् ।

इस सूक्त में परमात्मा ने समस्त दिव्य पदार्थ तथा प्राण, आदि शरीर के उपयोगी भाग रचे हैं । उनसे लाभ लेना चाहिए यह कहा है ।

उषासानक्ता बृहती सुपेशसा द्यावाक्षामा वरुणो मित्रो अर्यमा ।
इन्द्रं हुवे मरुतः पर्वताँ अप आदित्यान्द्यावापृथिवी अपः स्वः ॥ १ ॥

उषासानक्ता । बृहती इति । सुऽपेशसा । द्यावाक्षामा । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । इन्द्रम् । हुवे । मरुतः । पर्वतान् । अपः । आदित्यान् । द्यावापृथिवी इति । अपः स्वरिति स्वः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहती उषासानक्ता) महत्त्वपूर्णे अहोरात्रे "अहोरात्र वा उषासानक्तौ [ऐ. २ । ४] उषासानक्ता रात्रिदिने [यजु० २७ । १७ दयानन्दः] जीवने ऽभ्युदयनिःश्रेयसौ (सुपेशसा द्यावाक्षामा सुरूपौ सुनिरूपणीयौ द्युलोकभूलोकौ "इमे वै द्यावापृथिवी द्यावाक्षामा" [श. ६ । ७ । २ । ३] जीवनस्य सुनिरूपणीये ज्ञानकर्मणी (मित्रः-वरुणः-अर्यमा) अग्निः-मेघः सूर्यः-जीवने श्वासप्रश्वासौ मुख्य-प्राणश्च (हुवे) इत्येतान् आमन्त्रये-धारयामि (इन्द्रं मरुतः पर्वतान्) विद्युतं विविध-वायून् पर्वतान् तथा जीवनेऽन्तरात्मानं नाडीगतप्राणान् पर्ववतोऽवयवान् (अपः-आदि-

त्यान् द्यावापृथिवी) जलम् किरणान् प्रकाशभूभागौ जीवने रसं रसादातॄन्–आशयान् रक्ताशयान् तेजोधारणबले (अपः स्वः) अन्तरिक्षम् *"आपोऽन्तरिक्षनाम"* [*निघं. १ । ३*] प्रकाशलोकं च जीवने शरीरान्तर्गतमवकाशं स्वीरयितारं मस्तिष्कं च हुवे–सम्यग्धारयामि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहती उषासानक्ता) महत्त्वपूर्ण दिन रात या जीवन में अभ्युदय निःश्रेयस (सुपेशसा द्यावाक्षामा) उत्तम प्रकार निरूपण करने योग्य द्युलोक पृथिवीलोक जीवन में ज्ञान कर्म (मित्रः-वरुणः-अर्यमा) अग्नि, मेघ, सूर्य या जीवन में श्वास प्रश्वास मुख्य प्राण (हुवे) इनको आमन्त्रित करता हूँ या धारण करता हूँ (इन्द्रं मरुतः पर्वतान्) विद्युत् विविध वायुओं, पर्वतों को जीवन में अन्तरात्मा नाडीगत प्राणों को जो पर्ववाले–जोड़ों वाले अङ्गों को (अपः-आदित्यान् द्यावापृथिवी) जल किरणों प्रकाश भूभाग जीवन में रस लेने वाले रक्ताशयों तेज और धारणबल को (अपः-स्वः) अन्तरिक्ष प्रकाश लोक को या जीवन में शरीरान्तर्गत अवकाश और सम्यक् प्रेरणा करने वाले मस्तिष्क को धारण करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—महत्त्वपूर्ण दिन-रात, अग्नि, मेघ, सूर्य, विद्युत्, वायु, पर्वत, जल किरणें प्रकाश, भूतल, अन्तरिक्ष, प्रकाश लोक, परमात्मा ने मनुष्यों के लाभार्थ रचे हैं । इनसे लाभ उठाना चाहिये, तथा अभ्युदय निःश्रेयस श्वास प्रश्वास मुख्य प्राण, अन्तरात्मा नाडीगत प्राण जोड़ों वाले अंग रस लेने वाले रक्ताशय तेज और धारण बल अवकाश–रोम छिद्रादि और मस्तिष्क जीवन में धारण करने योग्य उपयोगी पदार्थ हैं ॥ १ ॥

द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसो रिषः ।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ २ ॥

द्यौः । च । नः । पृथिवी । च । प्रऽचेतसा । ऋतवरी । इत्यृतऽवरी । रक्षताम् । अंहसः । रिषः । मा । दुःऽविदत्रा । निःऽऋतिः । नः । ईशत । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रचेतसा-ऋतावरी द्यौः-च पृथिवी च) प्रकृष्टं चेतयितारौ तथा सत्यज्ञाननिमित्तभूतौ–सत्याचरणज्ञापयितारौ सूर्यपृथिवीलोकौ तथा मातापितरौ *"द्यौर्मे पिता····माता पृथिवी महीयम्"* [*ऋ० १ । १६४ । ३३*] उभौ (अंहसः-रिषः-रक्षताम्) पापाद् हिंसकात् रक्षताम् (दुर्विदत्रा निर्ऋतिः-नः-मा ईशत) दुर्विज्ञाना कृच्छ्रापत्ति-रस्मान् मा स्वामित्वे नयेत् (तत्) तस्मात् (देवानाम्-अवः-अद्य वृणीमहे) उक्तानां सर्वेषां दिव्यपदार्थानां दिव्यगुणवतां शरीरसम्बन्धिनां पदार्थानां जनानां च रक्षण-मस्मिन् जन्मनि याचामहे वाञ्छामः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रचेतसा-ऋतावरी द्यौः-च पृथिवी च) भली प्रकार चेताने वाले तथा सत्यज्ञान के निमित्तभूत सत्याचरण के जनाने वाले सूर्यलोक पृथिवीलोक तथा माता पिता

(अंहसः-रिषः-रक्षताम्) पापसे हिंसा से रक्षा करें (दुर्विदत्रा निर्ऋतिः-नः-मा-ईशत) बुरी अनुभूति कराने वाली कठिन आपत्ति हमें अपने स्वामित्व में न ले अर्थात् हमारे ऊपर अधिकार न करे (तत्) तिससे (देवानाम्-अवः-अद्य वृणीमहे) सब दिव्य पदार्थों तथा दिव्य गुणों का रक्षण इस जन्म में हम चाहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—संसार में सूर्य और पृथिवी चेतना और जल देने वाले अन्धकार और पीड़ा से बचाने वाले हैं। इनसे उचित लाभ लेने से घोरापत्ति या अकाल मृत्यु से बच सकते हैं। तथा माता पिता सत्याचरण और ज्ञान का उपदेश देकर चेताने वाले पाप से बचाने वाले और घोर विपत्ति में काम आने वाले हैं। इनका हमें रक्षण प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः ।
स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ३ ॥

विश्वस्मात् । नः । अदितिः । पातु । अंहसः । माता । मित्रस्य । वरुणस्य । रेवतः । स्वःऽवत् । ज्योतिः । अवृकम् । नशीमहि । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रेवतः-मित्रस्य वरुणस्य-अदितिः-माता) पुष्टिमतः सूर्यस्य चन्द्रमसो यद्वा शरीरे प्राणस्यापानस्य निर्मात्री खल्वखण्डनीया ब्रह्मशक्तिः (विश्वस्मात्-अंहसः-नः पातु) सर्वस्मात्—हिंसकात्-पापादस्मान् रक्षतु (स्वर्वत्-अवृकं ज्योतिः-नशीमहि) सुखमयं ज्ञानयुक्तमच्छिन्नं ज्योतिर्वयं प्राप्नुयाम *"नशत् व्याप्तिकर्मा"* [*निघं. २ । १८*] (देवानां तत्-अवः-अद्य वृणीमहे) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(रेवतः-मित्रस्य वरुणस्य-अदितिः-माता) पुष्टिमान्—पुष्टिप्रद सूर्य चन्द्रमा की या शरीर में प्राण और अपान की निर्माण करने वाली अखण्ड ब्रह्मशक्ति (विश्वस्मात्-अंहसः-नः पातु) सभी हिंसक पाप से हमारी रक्षा करे (स्वर्वत्-अवृकं ज्योतिः-नशीमहि) सुखमय ज्ञानयुक्त अच्छिन्न—अनश्वर ज्योति को हम प्राप्त करें (देवानां तत्-अवः- अद्य वृणीमहे) अर्थ पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुष्टि देने वाले सूर्य—चन्द्रमा और प्राण—अपान को निर्माण करने वाली परमात्मशक्ति की शरण लेकर हम दोषों पापों से बचे रहें तो सुखमय अनश्वर ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं और भौतिक देवों और विद्वानों का रक्षण भी पा सकते हैं ॥ ३ ॥

ग्रावा वदन्नप रक्षांसि सेधतु दुष्ष्वप्न्यं निर्ऋतिं विश्वमत्रिणम् ।
आदित्यं शर्म मरुतामशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ४ ॥

ग्रावा । वदन् । अप । रक्षांसि । सेधतु । दुःऽस्वप्न्यम् । निःऽऋतिम् । विश्वम् । अत्रिणम् । आदित्यम् । शर्म । मरुताम् । अशीमहि । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ग्रावा वदन्) विद्वान् "विद्वांसो हि ग्रावाणः [श. ३ । ६ । ३ । १४] उपदिशन् सन् (रक्षांसि) येभ्यो रक्षन्ति तानि बाधकानि भूतानि (दुःस्वप्न्यम्) शयनकाले प्राप्तानि खल्वालस्यादीनि (निर्ऋतिम्) मृत्युभीतिम् (विश्वम्-अत्रिणम्) सकलमन्तःस्थलस्य भक्षकं शोकादिकम् (अपसेधतु) दूरी करोतु (मरुताम्-आदित्यं शर्म-अशीमहि) जीवन्मुक्तानाम् "मरुतो हि देवविशः" [कौ० ७ । ८] खल्वखण्डनीयं शरणं सुखं वा प्राप्नुयाम (तद्देवा०) अग्रे पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ग्रावा वदन्) विद्वान् उपदेश करता हुआ (रक्षांसि) जिनसे रक्षा करनी चाहिये ऐसी बाधक वस्तुओं (दुःस्वप्न्यम्) सोते हुए होने वाले आलस्यादि (निर्ऋतिम्) मृत्यु की भयभीतता (विश्वम्-अत्रिणम्) सारे अन्तःकरण के भक्षक शोकादि को (अपसेधतु) दूर करे-दूर करता है (मरुताम्-आदित्यं शर्म-अशीमहि) जीवन्मुक्तों के अखण्डनीय सुख या शरण को प्राप्त हों आगे पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् उपदेशक अपने उपदेश द्वारा लोगों के बाधक वस्तु, शयनकाल में प्राप्त आलस्य आदि और जाग्रत् में मृत्यु भय और शोक को दूर करता है–हटाता है। इस प्रकार उन ऊँचे जीवन्मुक्तों की सुखशरण लेनी चाहिये ॥ ४ ॥

एन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वतामिळा बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु ।
सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ५ ॥

आ । इन्द्रः । बर्हिः । सीदतु । पिन्वताम् । इळा । बृहस्पतिः । सामऽभिः । ऋक्वः । अर्चतु । सुऽप्रकेतम् । । जीवसे । मन्म । धीमहि । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जीवसे) जीवनहेतवे (इन्द्रः-बर्हिः-आसीदतु) ऐश्वर्यवान् परमात्मा हृदयाकाशे समन्तात् सीदति "लडर्थे लोट्" (इळा पिन्वताम्) अन्नरसात्मिका सामग्री शरीरं सिञ्चतु (ऋक्वः-बृहस्पतिः-सामभिः-अर्चतु) स्तुतिमान् स्तुतिकर्त्ताऽऽत्मा "बृहस्पतिर्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः" [अथर्व० १६ । ३ । ५] शान्तवाग्भिः स्तुतिभिः "यद्वै शिवं शान्तं वाचस्तत्साम" [जै० ३ । ५३] परमात्मानमर्चतु (सुप्रकेतं मन्म धीमहि) शोभनप्रज्ञानं मननं च वयं धारयेम (तद्देवा०) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(जीवसे) जीवन के लिये (इन्द्रः-बर्हिः-आसीदतु) ऐश्वर्यवान् परमात्मा हृदयाकाश में विराजमान हो–साक्षात् हो (इळा पिन्वताम्) अन्नरसरूप भोग-सामग्री शरीर को

सींचे–परिपुष्ट करे (ऋक्वः-बृहस्पतिः-सामभिः-अर्चतु) स्तुति करने वाला आत्मा शान्त स्तुतियों से परमात्मा की स्तुति करे (सुप्रकेतं मन्म धीमहि) अच्छे प्रज्ञान–उत्तम निर्णय और मनन-विचार को हम धारण करें (तद्देवा०) आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—जीवनवृद्धि के लिये परमात्मा हृदय में साक्षात् हो। अन्न रसादि सामग्री हमारे शरीर को पुष्ट करे। आत्मा उत्तम स्तुतियों से परमात्मा की अर्चना करे। बुद्धि उत्तम निर्णय और मन अच्छा मनन करे तो जीवन सफल है ॥ ५ ॥

दिविस्पृशं यज्ञमस्माकमश्विना जीराध्वरं कृणुतं सुम्नमिष्टये।
प्राचीनरश्मिमाहुतं घृतेन तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ६ ॥

दिविऽस्पृशम्। यज्ञम्। अस्माकम्। अश्विना। जीरऽअध्वरम्। कृणुतम्। सुम्नम्। इष्टये। प्राचीनऽरश्मिम्। आऽहुतम्। घृतेन। तत्। देवानाम्। अवः। अद्य। वृणीमहे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे अध्यापकोपदेशकौ *"अश्विना अध्यापकोपदेशकौ" [ऋ० ५। ७८। ३ दयानन्दः]* यद्वा–अहोरात्रौ *"अश्विनौ-अहोरात्रावित्येके" [निरु० १२। १]* युवाम् (जीराध्वरम्) प्रगतिमार्गवन्तम् विद्यामयमार्गवन्तम् *"जीरं विद्यावन्तम्" [ऋ० १। ४। ११ दयानन्दः]* (दिविस्पृशम्) येन दिवि द्योतनस्वरूपे परमात्मनि सुखं स्पृशन्तम् *"दिविस्पृशः यो दिवि परमात्मनि सुखं स्पृशति [ऋ० ५। १३ : २ दयानन्दः]* तथाभूतम् (अस्माक यज्ञं सुम्नम्-इष्टये कृणुतम्) अस्माकं खल्वध्यात्मयज्ञं साधुं *"सुम्ने मा धत्तामिति····साधौ मा धत्तामित्येवैतदाह" [श. १। ८। ३। २७]* अभीष्टसिद्धये कुरुतम् (घृतेन-आहुतं प्राचीनरश्मिम्) ज्ञानमयेन तेजसा *"तेजो वै घृतम्" [मै० १। ६। ८]* समन्तात् सम्पादितं परमात्माभिमुखप्रवृत्तिमन्तं कुरुतामिति शषः (तद्देवा०) अग्रे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अध्यापक और उपदेशक जनो। दिनरात (जीराध्वरम्) प्रगति मार्ग वाले विद्यामय मार्ग वाले– (दिविस्पृशम्) प्रकाशमय परमात्मा में सुखस्पर्श कराने वाले– (अस्माकं यज्ञं सुम्नम्-इष्टये कृणुतम्) हमारे अध्यात्म यज्ञ को अच्छा बनाओ (घृतेन-आहुतं प्राचीनरश्मिम्) ज्ञानमय तेज से सम्पन्न को परमात्मा की ओर प्रवृत्त करो (तद्देवा०) आगे अर्थ पूर्ववत् है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक तथा दिन और रात प्रगति मार्ग वाले या विद्यामय मार्ग वाले परमात्मा सम्बन्धी सुख पहुंचाने वाले अध्यात्म यज्ञ को कल्याण के लिये सम्पन्न करें। जिससे परमात्मा का साक्षात्कार हो सके ॥ ६ ॥

उप ह्वये सुहवं मारुतं गणं पावकमृष्वं सख्याय शंभुवम्।
रायस्पोषं सौश्रवसाय धीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ७ ॥

उप॑ । ह्वये॒ । सु॒ऽहवं॑म् । मारु॑तम् । ग॒णम् । पा॒व॒कम् । ऋ॒ष्वम् । स॒ख्याय॑ । श॒म्ऽभुवं॑म् । रा॒यः । पोषं॑म् । सौ॒श्र॒व॒साय॑ । धी॒म॒हि॒ । तत् । दे॒वाना॑म् । अवः॑ । अ॒द्य । वृ॒णी॒म॒हे॒ ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुहवं पावकम्) शोभनह्वातव्यं पवित्रकारकम् (शम्भुवम्) शम्भावयितारं (ऋष्वम्) महान्तम् "ऋष्व महन्नाम" [निघं० ३ । ३] (मारुतं गणम्) जीवनमुक्तानां वृन्दम् *"मरुतो देवविशः"* [*श० २ । ५ । १ । १२*] (सख्याय-उपह्वये) सखित्वाय-उपमन्त्रये (रायस्पोषम्) ज्ञानधनस्य पोषकम् (सौश्रवसाय) शोभनश्रवणस्य श्रावयितारम् "द्वितीयार्थे चतुर्थी व्यत्ययेन" (धीमहि) ध्यायेम (तद्देवाना०) अग्रे पूर्ववत् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सुहवं पावकम्) सुन्दर आह्वान करने योग्य पवित्रकारक (शम्भुवम्) कल्याणकारक (ऋष्वम्) महान् (मारुतं गणम्) जीवन्मुक्त विद्वानों के मण्डल को (सख्याय-उपह्वये) मित्रता के लिये अपने समीप आमन्त्रित करता हूँ (रायस्पोषम्) ज्ञान धन के पोषक (सौश्रवसाय) उत्तम श्रवण कराने वाले का (धीमहि) मन में चिन्तन करें—संकल्प करें आगे पूर्व के समान ॥ ७ ॥

भावार्थ—ऊँचे विद्वान्, जीवन्मुक्त, पवित्रकारक, कल्याणसाधक, ज्ञानघन के वर्द्धक तथा उपदेश देने वाले महानुभावों की मित्रता करनी चाहिये और उनसे उपदेश का लाभ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

अ॒पां पेरुं॑ जी॒वध॑न्यं भरामहे देवा॒व्यं॑ सु॒हवं॑मध्वर॒श्रियं॑म् ।
सु॒र॒श्मिं सोम॑मिन्द्रि॒यं य॑मीमहि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे ॥ ८ ॥

अ॒पाम् । पेरु॑म् । जी॒वऽध॑न्यम् । भ॒रा॒म॒हे॒ । दे॒व॒ऽअ॒व्य॑म् । सु॒ऽहवम् । अ॒ध्व॒र॒ऽश्रिय॑म् । सु॒ऽर॒श्मिम् । सोम॑म् । इ॒न्द्रि॒यम् । य॒मी॒म॒हि॒ । तत् । दे॒वाना॑म् । अवः॑ । अ॒द्य । वृ॒णी॒म॒हे॒ ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अपां पेरुम्) आप्तजनानां पालकम् *"मनुष्या वा आपश्चन्द्राः"* [*श० ७ । ३ । १ । २७*] (जीवधन्यम्) जीवा मनुष्या धन्याः सफललक्ष्या यस्मिन् तं तथाभूतम् (देवाव्यम्) मुमुक्षुभिः प्राप्यम् (सुहवम्) सुष्ठु प्राप्तव्यम् (अध्वरश्रियम्) अध्यात्मयज्ञस्य श्रीभूतम् (भरामहे) धारयेम-उपास्महे (सुरश्मिं सोमम्-इन्द्रियं यमीमहि) तं सुन्दरज्ञानानन्दरश्मिमन्तं शान्तपरमात्मानम्-"इन्द्रिये सप्तम्यर्थे प्रथमा व्यत्ययेन" मनसि *"इन्द्रियं मनः प्रभृतीन्द्रियमात्रम्"* [*यजु० २१ । ४४ दयानन्दः*] नियतं कुर्मः (तद्देवा०) अग्रे पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अपां पेरुम्) आप्तजनों के पालक (जीवधन्यम्) जीव—मनुष्य धन्य—सफल लक्ष्य वाले जिसके आधार पर हो जाते हैं उस (देवाव्यम्) मुमुक्षुओं के द्वारा प्राप्त करते

योग्य (सुहवम्) उत्तम स्तुत्य (अध्वरश्रियम्) अध्यात्म यज्ञ के श्रीभूत परमात्मा को (भरामहे) हम धारण करें–हम उसकी उपासना करें तथा (सुरश्मिं सोमम्-इन्द्रियं यमीमहि) उस सुन्दर ज्ञान-आनन्द रूप रश्मि वाले शान्तस्वरूप परमात्मा को अपने मन में नियत करें–बिठायें आगे पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा आप्त जनों का पालक, जीवन का लक्ष्य पूरक, मुमुक्षुओं द्वारा प्राप्त करने योग्य, अध्यात्म यज्ञ का श्रीभूत और ज्ञानान्द का प्रसारक है। ऐसा मन में निश्चय करके उसकी उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिर्वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः ।
ब्रह्मद्विषो विष्वगेनो भरेरत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ९ ॥

सनेम । तत् । सुऽसनिता । सनित्वऽभिः । वयम् । जीवाः । जीवऽपुत्राः । अनागसः । ब्रह्मऽद्विषः । विष्वक् । एनः । भरेरत । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वयं जीवपुत्राः-जीवाः-अनागसः) वयं जीवत्पुत्राः स्वयं जीवन्तो गृहस्थाः पापरहिताः सन्तः (सनित्वभिः सुसनिता तत् सनेम) परमात्मज्ञान सम्भाजकैः-दत्तेन सुसम्भक्तेन परमात्मज्ञानेन तत् परमात्मज्ञानं सम्भजेम (ब्रह्मद्विषः-एनः-विष्वक् भरेरत) ब्रह्मणः परमात्मनो द्वेष्टारो नास्तिका जना पापं विकीर्णमपि फलरूपेण तत्फलमिति यावत् स्वात्मनि भरन्तु भुञ्जीरन् अग्रे पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(वयं जीवपुत्राः-जीवाः-अनागसः) हम जीते हुवों के पुत्र स्वयं जीते हुए गृहस्थ लोग पाप से रहित (सनित्वभिः सुसनिता तत् सनेम) परमात्मज्ञान के सेवन करने वालों के द्वारा दिये हुए सम्यक् सेवन किये हुए परमात्म ज्ञान से अपने को संसेवित करने वाले बनें (ब्रह्मद्विषः-एनः-विष्वक् भरेरत) परमात्मा से द्वेष करने वाले नास्तिक जन उभरे हुए पाप को फलरूप में अपने अन्दर भरें–भोगें आगे पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—पापरहित हुए जीते हुए माता पिताओं के पुत्र जीते रहते हैं। परमात्म ज्ञान को प्राप्त हुए विद्वानों द्वारा दिये गये परमात्मज्ञान के भागी होना चाहिये। परमात्मा से द्वेष करने वाले नास्तिक जन पाप का फल भोगते हैं ॥ ९ ॥

ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्ददातन ।
जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ १० ॥

ये । स्थ । मनोः । यज्ञियाः । ते । शृणोतन । यत् । वः । देवाः । ईमहे । तत् ।

दुदातन । जैत्रम् । क्रतुम् । रयिमत् । वीरऽवत् । यशः । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये देवा:-मनो:-यज्ञिया: स्थ) ये यूयं विद्वांसो मुमुक्षवो जीवन्मुक्ता वा, आयुष: *"आयुर्वै मनु:"* [कौ० २६ : १७] यज्ञकर्त्तारो यज्ञकुशला: स्थ (ते शृणोतन) ते यूयं शृणुत (व:-यत् तत्-ददातन) तद्यद्युष्माकमायुष्यं ज्ञानं तदस्मभ्यं दत्त (जैत्रं क्रतुं रयिमत्-वीरवत्-यश:) जयकारिणं प्रज्ञानं पुष्टिमत् प्राणवत् *"प्राणा वै दश वीरा:"* [श० ६ । ४ । २ । १०] यशश्च दत्त (तद्देवाना०) अग्रे पूर्ववत् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ये देवा:-मनो:-यज्ञिया: स्थ) जो मुमुक्षु या जीवन्मुक्त आयु के यजनशील तुम हो (ते शृणोतन) वे तुम सुनो (व:-यत् तत्-ददातन) वह जो तुम्हारा आयु सम्बन्धी ज्ञान है उसे हमारे लिये दो (जैत्रं क्रतुं रयिवत्-वीरवत्-यश:) जय कराने वाला प्रज्ञान पुष्टि वाला और प्राणवाला यश भी देओ (तद्देवा०) पूर्ववत् ॥ १० ॥

भावार्थ—मुमुक्षु या जीवन्मुक्त विद्वान् अपने आयु के ज्ञान को अन्य जनों के लिये प्रदान करें तथा पाप अज्ञान पर विजय पाने वाले पुष्टिप्रद, प्राणप्रद और यशोवर्द्धक ऊँचे ज्ञान का भी उपदेश दें ॥ १० ॥

महद्द्य मंहुतामा वृणीमहेऽवो देवानां बृहुतामंनुर्वणाम् ।
यथा वसुं वीरजातं नशामहै तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ११ ॥

मह्त् । अद्य । मुहुताम् । आ । वृणीमहे । अवः । देवानाम् । बृहुताम् । अनुर्वणाम् । यथा । वसुं । वीरऽजातम् । नशामहै । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य) अस्मिन्काले (महतां बृहताम्-अनर्वणां देवानाम्) महत्त्ववतां ज्येष्ठानां तथाऽनर्वणां प्रशस्तानामपितु स्वज्ञानेऽन्यस्मिन्ननाश्रितानां महज्ज्ञानिनाम् *"अनर्वाऽप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्"* [*निरु० ६ । २३*] विदुषाम् (महत् अव:-आवृणीमहे) उत्कृष्टं श्रवणं ज्ञानं *"अव रक्षण···श्रवण···वृद्धिषु"* [*भ्वादि०*] समन्तात् स्वीकुर्मो धारयाम: (यथा) यतो हि (वीरजातं वसु नशामहै) वीरेषु प्राणेषु-इन्द्रियेषु जातं वासयितृ बलं प्राप्नुयाम अग्रे पूर्ववत् ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्य) आज—इस समय (महतां बृहताम्-अनर्वणां देवानाम्) महत्त्ववाले ज्येष्ठ तथा प्रशस्त अपने ज्ञान में दूसरे पर निर्भर न रहने वाले विज्ञानी महानुभावों के (महत्-अव:-आवृणीमहे) उत्कृष्ट श्रवण ज्ञान को भलीभांति अपने अन्दर धारण करते हैं (यथा) जिससे कि (वीरजातं वसु नशामहै) प्राण आदि इन्द्रियों में बसाने वाले बल को प्राप्त करें (तद्देवा०) आगे पूर्ववत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—गुणी श्रेष्ठ महा विद्वानों द्वारा ज्ञान का श्रवण कर प्राण आदि के बल को सुसम्पन्न करें ॥ ११ ॥

महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ १२ ॥

महः । अग्नेः । सम्ऽइधानस्य । शर्मणि । अनागाः । मित्रे । वरुणे । स्वस्तये । श्रेष्ठे । स्याम । सवितुः । सवीमनि । तत् । देवानाम् । अवः । अद्य । वृणीमहे ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(महः-समिधानस्य-अग्नेः) महतः प्रकाशमानस्य सर्वनेतुः परमात्मनः (शर्मणि) शरणे (अनागाः) "अनागसः" व्यत्ययेन बहुवचने-एकवचनम् पापरहिताः सन्तः (स्याम) भवेम, तथा (श्रेष्ठे मित्रे वरुणे सवितुः सवीमनि) तस्य श्रेष्ठस्य प्रेरकस्य वरणकर्त्तुः "विभक्तिव्यत्ययः" शासकस्य परमात्मनः प्रसवे प्रशासने वयं भवेम वर्त्तेमहि (तद्देवाना०) अग्रे पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(महः-समिधानस्य-अग्नेः) महान् प्रकाशमान सर्वनेता परमात्मा के (शर्मणि) सुखशरण में (अनागाः) पापरहित (स्याम) होवें तथा (श्रेष्ठे मित्रे वरुणे सवितुः सवीमनि) उस श्रेष्ठ प्रेरक अपनाने वाले शासक परमात्मा के प्रशासन में हम रहें (तद्देवाना०) आगे पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—महान् प्रकाशमान सर्वनेता परमात्मा की सुखशरण निष्पाप जन ही प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें ही परमात्मा उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देता है–अपनाता है जो उसके शासन में रहते हैं ॥ १२ ॥

ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः।
ते सौभगं वीरवद् गोमदप्नो दधातन द्रविणं चित्रमस्मे ॥ १३ ॥

ये । सवितुः । सत्यऽसवस्य । विश्वे । मित्रस्य । व्रते । वरुणस्य । देवाः । ते । सौभगम् । वीरऽवत् । गोऽमत् । अप्नः । दधातन । द्रविणम् । चित्रम् । अस्मे इति ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये विश्वे देवाः) ये सर्वविषयेषु प्रविष्टा विद्वांसः (सवितुः सत्यसवस्य मित्रस्य वरुणस्य व्रते) उत्पादकस्य यथावच्छासकस्य प्रेरकस्य वरयितुः परमात्मनो नियमे सदाचरणे वर्त्तन्ते (ते-अस्मे) ते यूयमस्मभ्यम् (वीरवत्-गोमत् सौभगम्) प्राणयुक्तं प्रशस्तेन्द्रिययुक्तं सौभाग्यम् तथा (चित्रं द्रविणम्-अप्नः-दधातन) अद्भुतं चायनीयं ज्ञानधनं कर्म–कर्त्तव्यबलं च धारयत ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये विश्वे देवाः) जो सारे विषयों में प्रवेश पाने वाले विद्वान् हैं, (सवितुः सत्यसवस्य मित्रस्य वरुणस्य व्रते) उत्पादक, यथावत् शासक, प्रेरक, वरने वाले परमात्मा के नियम सदाचरण में वर्त्तते हैं–रहते हैं (ते-अस्मे) वे तुम हमारे लिये (वीरवत्-गोमत् सौभगम्) प्राण-युक्त प्रशस्त इन्द्रिय सहित सौभाग्य को, (चित्रं द्रविणम्-अप्नः-दधातन) अद्भुत दर्शनीय ज्ञानधन कर्त्तव्यबल को धारण कराओ ॥ १३ ॥

भावार्थ— उत्पन्नकर्त्ता, सच्चे शासक, प्रेरक और वरने वाले परमात्मा के नियम में रहने वाले सर्व विषयों में प्रवेश किये हुए विद्वान् जन जीवन बल संयम शक्ति तथा सौभाग्य ज्ञानबल और कर्त्तव्य बल मनुष्यों के अन्दर धारण करावें ॥ १३ ॥

सविता पश्चातात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात् ।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥ १४ ॥

सविता । पश्चातात् । सविता । पुरस्तात् । सविता । उत्तरात्तात् । सविता । अधरात्तात् । सविता । नः । सुवतु । सर्वऽतातिम् । सविता । नः । रासताम् । दीर्घम् । आयुः ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सविता पश्चातात्) सर्वोत्पादकः प्रेरकः परमात्माऽस्माकं पश्चादपि रक्षकः (सविता पुरस्तात्) सर्वोत्पादकः प्रेरकः परमात्माऽस्माकं पूर्वदिक्तश्च रक्षकः (सविताः-उत्तरात्तात्) सर्वोत्पादकः प्रेरकः परमात्माऽस्माकमुत्तरदिशश्च रक्षकः (सविता-अधरात्तात्) सर्वोत्पादकः परमात्माऽधो दिशश्च रक्षकः (सविता नः सर्वतातिं सुवतु) उत्पादकः प्रेरकः परमात्माऽस्मभ्यं सर्वकल्याणकरं वस्तूत्पादयतु प्रेरयतु–ददातु (सविता नः-दीर्घम्-आयुः-रासताम्) सर्वोत्पादकः प्रेरकः परमात्माऽस्मभ्यं दीर्घं जीवनं ददातु ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सविता पश्चातात्) सर्वोत्पादक प्रेरक परमात्मा हमारा पश्चिम से रक्षा करने वाला (सविता पुरस्तात्) सर्वोत्पादक प्रेरक परमात्मा हमारा पूर्व से रक्षा करने वाला (सविता-उत्तरात्तात्) सर्वोत्पादक प्रेरक परमात्मा हमारा उत्तर से रक्षा करने वाला (सविता-अधरात्तात्) सर्वोत्पादक परमात्मा हमारी अधो दिशा से–नीचे की दिशा से हमारी रक्षा करने वाला (सविता नः सर्वतातिं सुवतु) सर्वोत्पादक प्रेरक परमात्मा हमारी समस्त कल्याणकारी वस्तु को उत्पन्न करे–प्रेरित करे–देवे (सविता नः-दीर्घम्-आयुः-रासताम्) सर्वोत्पादक प्रेरक परमात्मा हमारे लिये दीर्घ जीवन देवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—उत्पादक प्रेरक परमात्मा के आदेश के अनुसार रहने पर वह सर्व दिशाओं से रक्षा करता है और कल्याणकारी वस्तु एवं दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ १४ ॥



सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—सौर्योऽभितपाः ।

देवता—सूर्यः ।

छन्दः—१-५ पादनिचृज्जगती । ६-९ विराट् जगती । १० निचृत् त्रिष्टुप् । ११-१२ जगती ।

स्वरः—१-९, ११-१२ निषादः । १० धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्ते सूर्यशब्देन परमात्मा-आदित्यश्च गृह्येते । परमात्मनः प्रार्थनया ज्ञानोपदेशेन निजजीवनचर्या सूर्यस्य प्रकाशेन दिनचर्या च खलु सम्पादनीया भवति ॥

इस सूक्त में सूर्य शब्द से परमात्मा और सूर्य का ग्रहण है। उनके प्रार्थना और सेवन से अपनी जीवनचर्या और दिनचर्या को उत्तम बनाना चाहिए ॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं संपर्यत ।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ १ ॥

नमः । मित्रस्य । वरुणस्य । चक्षसे । महः । देवाय । तत् । ऋतम् । सपर्यत । दूरेऽदृशे । देवऽजाताय । केतवे । दिवः । पुत्राय । सूर्याय । शंसत ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे नमः) प्रेरकस्य दिनरूपस्य *"अहर्वै मित्रः"* [*ऐ० ४ । १०*] संसारस्य तथा स्वस्मिन् वरयितृ रात्रिरूपस्य *"रात्रिर्वरुणः"* [*ऐ० ४ । १०*] प्रलयस्य प्रख्यापकाय-परमात्मने नमोऽस्तु-अध्यात्मयज्ञोऽस्तु *"यज्ञो वै नमः"* [*श० २ । ४ । २ । २४*] (महः-देवाय तत्-ऋतं सपर्यत) महते परमात्मदेवाय तत् सत्य-सङ्कल्पं सत्यवचनं सत्यकर्म च सपर्यत निष्कामा भूत्वा कर्म कुरुत (दूरेदृशे) दूरेऽपि दृक्शक्तिर्यस्य तथाभूताय सर्वज्ञाय परमात्मने (देवजाताय) देवा जाता यस्मात् तस्मै (केतवे) प्रेरकाय (दिवः-पुत्राय) मोक्षधाम्नो दोषेभ्यः पवित्रकारकाय *"पुवो ह्रस्वश्च"* [*उणा० ४ । १६५*] *इति पूञ् धातोः क्तः-प्रत्ययः । पुत्रः-यः पुनाति सः* [*ऋ० १ । १८१ । ४ दयानन्दः*] (सूर्याय) ज्ञानप्रकाशकाय (शंसत) स्तुतिं कुरुत ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(मित्रस्य) प्रेरक दिन तथा संसार के (वरुणस्य) अपनी ओर वरने वाली रात्री तथा प्रलय के (चक्षसे) प्रख्यापक–प्रसिद्ध करने वाले परमात्मा के लिये (नमः) अध्यात्म यज्ञ हो–हुआ करता है (महः–देवाय) महान् देव परमात्मा के लिये (तत्–ऋतं सपर्यत) उस सत्य सङ्कल्प–सत्यवचन सत्यकर्म को समर्पित करो, निष्काम होकर समर्पण करो (दूरेदृशे) दूर तक भी दृष्टि शक्ति जिसकी है ऐसे सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ परमात्मा एवं (देवजाताय) अग्नि आदि देव जिससे उत्पन्न हुए ऐसे–(केतवे) चेताने वाले– (दिवः पुत्राय) मोक्षधाम को दोषों से पवित्र करने वाले–(सूर्याय) ज्ञान प्रकाशक परमात्मा के लिये (शंसत) स्तुति करो ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा दिन-रात संसार तथा प्रलय का क्रमशः प्रकट करने वाला है उसकी प्राप्ति के लिये सत्यसङ्कल्प सत्यभाषण तथा सत्यकर्म का आचरण करना चाहिये, वह दूरदर्शी, सर्वद्रष्टा, समस्त अग्नि आदि देवों का उत्पादक, वेद ज्ञान द्वारा सचेत करने वाला मोक्ष को सब सांसारिक दोषों से पृथक रखने वाला है उसकी सदा स्तुति करनी चाहिये ॥ १ ॥

सा मा॑ स॒त्योक्ति॒ः परि॑ पातु वि॒श्वतो॒ द्यावा॑ च॒ यत्र॑ त॒तन॒न्नहा॑नि च ।
विश्व॑म॒न्यन्नि विं॑शते॒ यदेज॑ति वि॒श्वाहापो॑ वि॒श्वाहोदे॑ति॒ सूर्य॑ः ॥ २ ॥

सा । मा॒ । स॒त्यऽउ॑क्तिः । परि॑ । पातु । वि॒श्वत॑ः । द्यावा॑ । च॒ । यत्र॑ । त॒तन॑न् । अहा॑नि । च॒ । विश्व॑म् । अ॒न्यत् । नि । वि॒श॒ते । यत् । एज॑ति । वि॒श्वाहा॑ । आप॑ः । वि॒श्वाहा॑ । उत् । ए॒ति॒ । सूर्य॑ः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सा सत्योक्तिः-मा विश्वतः परिपातु) सा सत्यवाक्–वेदवाक् श्रुतिरीश्वरवाणी मां सर्वतः खलु परिरक्षति सम्यक् सेवनेन 'अत्र लडर्थे लोट्' (यत्र) यदाश्रये (द्यावा च) द्यावौ "द्यावा……द्यावौ" [निरु० २ । २१] द्यावा पृथिव्यौ–द्युलोकपृथिवीलोकौ च (अहानि च) दिनानि च चकाराद् रात्रयश्च (ततनन्) प्रसरन्ति (विश्वम्-अन्यत्-निविशते) सर्वमन्यत्-यत् खलु स्थिरत्वं प्राप्तं जडं वस्तु (यत्-एजति) यच्च चेष्टते-चेतनं वस्तु (आपः-विश्वाहा) आपः सर्वदा प्रवहन्ति (सूर्यः-विश्वाहा-उदेति) सूर्यश्च नित्यमुदेति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सा सत्योक्तिः) वह सत्यवाक्–वेदवाणी–ईश्वरीय वाणी (मा विश्वतः परिपातु) मुझे सब ओर से सुरक्षित रखे (यत्र) जिसके आश्रय में (द्यावा च) दोनों द्यावा पृथिवी–द्युलोक व पृथिवी लोक (अहानि च) और दिन और रात्रियां (ततनन्) प्रसार पाती हैं (विश्वम्–अन्यत्–निविशते) सब अन्य जड़ वस्तु निविष्ट–रखी हुई है (यत्–एजति) जो चेतन वस्तु चेष्टा कर रही है (आपः–विश्वाहा) जल धारायें बह रही हैं (सूर्यः–विश्वाहा–उदेति) सूर्य नित्य उदय होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा की सत्य वाणी–श्रुति–वेदवाणी मनुष्यों की सब प्रकार से रक्षा करती है, उसी सत्यवाणी के अनुसार आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त लोक–लोकान्तर और

अहर्गण तथा रात्रिगण प्रसारित हो रहे हैं—क्रमशः चालू हैं सब जड़ और चेतन पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में स्थित चेष्टा करते हैं तथा तदनुसार जलधारायें बहती हैं, सूर्य उदय होता है ऐसे उस परमात्मा का ध्यान और उसकी वेदवाणी का ज्ञान करना चाहिये ॥ २ ॥

न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरैः रथर्यसि ।
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥ ३ ॥

न । ते । अदेवः । प्रऽदिवः । नि । वासते । यत् । एतशेभिः । पतरैः । रथर्यसि । प्राचीनम् । अन्यत् । अनु । वर्तते रजः । उत् । अन्येन । ज्योतिषा । यासि । सूर्य ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे परमात्मन् ! सूर्य ! वा त्वम् (यत्-एतशेभिः पतरैः-रथर्यसि) यदा-अश्वैरिव शक्तितरङ्गैः पतनशीलैः किरणैर्वा प्राप्नोषि गच्छसि वा '*रथर्यति गतिकर्मा*" [*निघ० २ । १४*] तदा (प्रदिवः-अदेवः-निवासते) पूर्ववर्ती "*प्रदिव पुराणनाम*" [*निघ० ३ । २७*] त्वाममन्यमानो नास्तिकः प्रकाशरहितोऽन्धकारो वा "*अदेवः प्रकाशरहितः*" [*ऋ० ६ । १७ । ७ दयानन्दः*] (प्राचीनम्-अन्यत्-रजः-अनुवर्तते) पश्चाद्भवमन्यत् खलु लोकं स्थानमनुवर्तते न तु तव सम्मुखम् । यतः (अन्येन ज्योतिषा यासि) तद्भिन्नेन विरलेन ज्ञानप्रकाशेन ज्योतिषा वा प्राप्तो भवसि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे परमात्मन् ! (यत्) जब (पतरैः-एतशेभिः) प्रगतिशील शक्ति तरङ्गों से या किरणों के द्वारा (रथर्यसि) तू प्राप्त होता है या गति करता है (प्रदिवः-अदेवः) पूर्ववर्ती तुझे न मानने वाला नास्तिक या प्रकाश रहित अन्धकार (न-निवासते) तेरे सम्मुख नहीं रहता है, नहीं ठहरता है । (प्राचीनम्-अन्यत्-रजः) तुझसे पीछे उत्पन्न किये हुए लोक या स्थान के प्रति (अनु-वर्तते) वर्तता है--प्राप्त होता है, जिससे कि (अन्येन ज्योतिषा-यासि) तू विशिष्ट ज्ञानप्रकाश से या ज्योति से प्राप्त होता है जाना जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा को न मानने वाला नास्तिक पुरुष उसके सामने नहीं ठहर सकता वह शक्तितरङ्गों से सब को अपने अधिकार में किये हुए है । वह नास्तिक अन्य दुःख स्थानों को ही प्राप्त होता है तथा सूर्य के सम्मुख अन्धकार नहीं ठहर सकता उसकी प्रखर ज्योतियों से ताड़ित हुआ किसी स्थान में चला जाता है । उस ज्ञानप्रकाशक परमात्मा और सूर्य की शरण लेना चाहिए ॥ ३ ॥

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना ।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव ॥ ४ ॥

येन । सूर्य । ज्योतिषा । बाधसे । तमः । जगत् । च । विश्वम् । उत्ऽइयर्षि । भानुना । तेन । अस्मत् । विश्वाम् । अनिराम् । अनाहुतिम् । अप । अमीवाम् । अप । दुःऽस्वप्न्यम् । सुव ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! सूर्य ! वा (येन ज्योतिषा) येन ज्ञानप्रकाशेन यद्वा येन रश्मिप्रकाशेन (तमः-बाधसे) अज्ञानं यद्वान्धकारमपगमयसि (भानुना) प्रभावेण भासनेन वा (विश्वं जगत्-उत्-इयर्षि) सर्वं जगत्प्रेरयसि गतिमयं करोषि (तेन) तेन प्रभावेण भासनेन वा (अस्मत्) अस्मत्तः (विश्वाम्-अनिराम्) सर्वामन्नाभावरूपां दरिद्रताम् (अनाहुतिम्) आहुतिप्रदानाभावरूपां घृतदुग्धरहिततां तन्निमित्तभूत्तां गवादिपशुरहितताम् (अमीवाम्) रोगप्रवृत्तिम (दुःस्वप्न्यम्) निद्रादोषात् प्राप्तां दुर्भावनाम् (अपसुव) दूरीकुरु ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ— (सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! या सूर्य ! (येन ज्योतिषा) जिस ज्ञानप्रकाश से या रश्मिप्रकाश से (तमः-बाधसे) अज्ञान को या अन्धकार को हटाता है (भानुना) प्रभाव से या प्रकाश से (विश्वं जगत्) सारे जगत् को (उत्-इयर्षि) उभारता है—गतिमयं करता है (तेन) उससे (अस्मत्) हमसे (विश्वाम्-अनिराम्) सब अन्नरहितता—दरिद्रता को तथा (अनाहुतिम्) आहुति प्रदान के अभाव रूप घृत दूध आदि की रहितता को—उसके निमित्त भूत गो आदि पशुओं की रहितता को (अमीवाम्) रोगप्रवृत्ति को (दुःस्वप्न्यम्) निद्रादोष से प्राप्त दुर्भावना को (अपसुव) दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने ज्ञानप्रकाश से अज्ञानान्धकार को हटाता है और समस्त जगत् को उद्भूत करता है–प्रसिद्ध करता है तथा दुर्भिक्षता और बुरे स्वप्नों को हटाता है तथा सूर्य अपनी रश्मि द्वारा अन्धकार को भगाता है जगत् को चमकाता है । अन्नादि भोग्य पदार्थों के अभाव और निद्रा दोष को दूर करता है ॥ ४ ॥

विश्वस्य हि प्रेषितो रक्षसि व्रतमहेळयन्नुच्चरसि स्वधा अनु ।
यदद्य त्वा सूर्योपब्रवामहै तं नो देवा अनु मंसीरत क्रतुम् ॥ ५ ॥

विश्वस्य । हि । प्रऽइषितः । रक्षसि । व्रतम् । अहेळयन् । उत्ऽचरसि । स्वधाः । अनु । यत् । अद्य । त्वा । सूर्य । उपऽब्रवामहै । तम् । नः । देवाः । अनु । मंसीरत । क्रतुम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! (प्रेषितः) प्रार्थनया प्रेरितस्त्वम् (विश्वस्य हि व्रतं रक्षसि) सर्वस्य जनस्य निष्पक्षं व्रतं सङ्कल्पितमभीष्टं रक्षसि तद्दानायेति (स्वधाः-अनु-अहेळयन्-उत्-चरसि) स्वधारणाः-स्वरूपशक्तीरनुसृत्य-अक्रुध्यन्-प्रियं कुर्वन्नुन्नयसि (यत्-अद्य त्वा-उप ब्रवामहै) यदास्मिन् जीवने प्रत्यह त्वां

प्रार्थयामहे-याचामहे (नः क्रतुम्-अनु देवाः-मंसीरत) अस्माकं तं सङ्कल्पं देवा विद्वांसो ऽनुमोदन्ते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! (प्रेषितः) तू प्रार्थना द्वारा प्रेरित हुआ (विश्वस्य हि व्रतं रक्षसि) सब प्रत्येक मनुष्य के निष्पक्ष सङ्कल्प—अभीष्ट को रखता है देने के लिये (स्वधाः-अनु) स्वधारणाओं—स्वरूप शक्तियों के अनुसार (अहेळयन्—उच्चरसि) न क्रोध करते हुए, प्रिय बनाते हुए को उन्नत करता है (यत्—अद्य त्वा—उप ब्रवामहै) जब इस जीवन में प्रतिदिन तुझे चाहते हैं (नः क्रतुम्-अनु देवाः-मंसीरत) हमारे उस सङ्कल्प का विद्वान् जन अनुमोदन करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रार्थना द्वारा प्रेरित हुआ परमात्मा शुभ कर्मकर्त्ता मनुष्य के शुभ सङ्कल्प को पूरा करता है। ऐसे मनुष्य के शुभ सङ्कल्प का विद्वान् जन अनुमोदन किया करते हैं।

तं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी तन्न॒ आप॒ इन्द्रः॑ शृण्वन्तु म॒रुतो॒ हवं॒ वचः॑ ।
मा शूने॑ भूम॒ सूर्य॑स्य सं॒दृशि॑ भ॒द्रं जीव॑न्तो जर॒णाम॑शीमहि ॥ ६ ॥

तम् । नः॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । तत् । नः॒ । आपः॑ । इन्द्रः॑ । शृ॒ण्व॒न्तु॒ । म॒रुतः॑ । हव॑म् । वचः॑ । मा । शूने॑ । भू॒म॒ । सूर्य॑स्य । स॒म्ऽदृशि॑ । भ॒द्रम् । जीव॑न्तः । ज॒र॒णाम् । अ॒शी॒म॒हि॒ ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नः-तं हवम्) अस्माकं तमभिप्रायम् (द्यावापृथिवी) मातापितरौ *"द्यौर्मे पिता ... माता पृथिवी महीयम्"* [ऋ० १-१६४-३३] यद्वा मातापितृभूतः परमात्मा (नः-तत्-वचः) अस्माकं तद्वचनं प्रार्थनावचनम् (आपः) आप्तजनाः *"मनुष्या वा आपश्चन्द्राः"* [श० ७ । ३ । १ । २०] सर्वत्राप्तो व्यापकः परमात्मा *'ता आपः स प्रजापतिः"* [यजु० ३२ । १] (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा परमात्मा वा (मरुतः) ऋत्विजः *'मरुतः-ऋत्विक्नाम"* [निघ० ३ । १८] यद्वा जीवनप्रदः परमात्मा (शृण्वन्तु) स्वीकुर्वन्तु स्वीकरोतु वा (शूने मा भूम) शैथिल्ये—अलसत्वे न भवेम—तिष्ठेम (सूर्यस्य संदृशि) सर्वप्रकाशकस्य परमात्मनो ज्ञानदर्शने वेदोपदेशे (जीवन्तः-भद्रं जरणाम्-अशीमहि) जीवनं धारयन्तः कल्याणं जरणाम्—जरां देवायुष्यं *"जरा वै देवहितमायुः"* [मै० १ । ७ । ५] वयं प्राप्नुयाम ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(नः-तं हवम्) हमारे उस अभिप्राय को (द्यावापृथिवी) माता पिता या माता पिता के सदृश परमात्मा (नः-तत्-वचः) हमारे उस वचन—प्रार्थनावचन को (आपः) आप्तजन या सर्वत्र व्यापक परमात्मा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा या परमात्मा (मरुतः) ऋत्विक् लोग या जीवनप्रद परमात्मा (शृण्वन्तु) स्वीकार करें या स्वीकार कर (शूने मा भूम) शैथिल्य—आलस्य में न होवें—न रहें (सूर्यस्य संदृशि) सर्वप्रकाशक परमात्मा के ज्ञानदर्शन—वेदोपदेश में (जीवन्तः-भद्रं जरणाम्—अशीमहि) जीवन धारण करते हुए कल्याण और जरावस्था—देवों की आयु को हम प्राप्त करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा के वेदज्ञान के अनुसार उसकी प्रार्थना करते हुए, कभी आलस्य में न रहकर जीवन बिताते हुए, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर सकते हैं।

तथा,

माता पिता के आदेश में रहकर और विद्वानों से श्रवण करते हुए अपना जीवन ऊंचा व पूर्णायु वाला बना सकते हैं ॥ ६ ॥

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः ।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ७ ॥

विश्वाहा । त्वा । सुऽमनसः । सुऽचक्षसः । प्रजाऽवन्तः । अनमीवाः । अनागसः । उत्ऽयन्तम् । त्वा । मित्रऽमहः । दिवेऽदिवे । ज्योक् । जीवाः । प्रति । पश्येम । सूर्य ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! (त्वा) त्वाम् (विश्वाहा) सर्वदा (सुमनसः) पवित्रान्तःकरणाः प्रसन्नमनसो वा (सुचक्षसः) पवित्रदृष्टिमन्तः शोभनदृष्टिमन्तः प्रशस्तनेत्रशक्तिका वा (प्रजावन्तः) प्रशस्तसन्ततिमन्तः (अनमीवाः) अरोगाः (अनागसः) निष्पापाः सन्तः (जीवाः) वयं जीवाः (मित्रमहः) स्नेहिभिः—स्नेहकर्तृभिरुपासकैः प्रशंसनीय स्तोतव्य परमात्मन् ! यद्वा प्राणानां वर्धयितः ! *"प्राणो वै मित्रः"* *[श० ६ । ५ । १ । ५]* (त्वा) त्वाम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (प्रतिपश्येम) साक्षात्कुर्याम, प्रत्यक्षं पश्येम वा ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! (त्वा) तुझे (विश्वाहा) सर्वदा (सुमनसः) पवित्र अन्तःकरण वाले या प्रसन्न मन वाले (सुचक्षसः) पवित्र दृष्टि वाले—शोभन दृष्टि वाले या प्रशस्त नेत्रशक्ति वाले (प्रजावन्तः) प्रशस्त सन्तान वाले (अनमीवाः) रोगरहित (अनागसः) निष्पाप (जीवाः) हम जीव (मित्रमहः) मित्रों स्नेही उपासकों द्वारा प्रशंसनीय, स्तुतियोग्य परमात्मन् ! या प्राणों को बढ़ाने वाले ! (त्वा) तुझको (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (प्रतिपश्येम) प्रत्यक्ष साक्षात् करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा का साक्षात्कार पवित्र मन वाले तथा प्रतिदिन उसकी स्तुति करने वाले किया करते हैं और वे लोग निरोग एवं उत्तम सन्तति वाले बन जाते हैं ॥ ७ ॥

महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषेचक्षुषे मयः ।
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ८ ॥

महि । ज्योतिः । बिभ्रतम् । त्वा । विऽचक्षण । भास्वन्तम् । चक्षुषेऽचक्षुषे । मयः । आऽरोहन्तम् । बृहतः । पाजसः । परि । वयम् । जीवाः । प्रति । पश्येम । सूर्य ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! सूर्य ! वा (त्वा) त्वाम् (महि ज्योतिः-बिभ्रतम्) महज्ज्योतिर्धारयन्तम् (भास्वन्तम्) प्रकाशवन्तम् (चक्षुषे चक्षुषे मयः) प्रतिनेत्राय–प्रतिनेत्रवते जनाय यद्वा प्रतिनेत्रवते प्राणिमात्रस्य सुखरूपं सुखप्रदं त्वाम् (बृहतः पाजसः-परि-आरोहन्तम्) महतो विस्तृतस्य पालनीयस्य संसारस्य *"पाजः पालनात्" [निरु० ६ । १२]* परि-अधितिष्ठन्तम् (वयं जीवाः) वयं जीवन्तः (प्रति पश्येम) साक्षात्कुर्याम प्रत्यक्षं पश्येम वा ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! या सूर्य ! (त्वा) तुझ (महि ज्योतिः-बिभ्रतम्) महान् ज्योति धारण करते हुए को (भास्वन्तम्) प्रकाश वाले (चक्षुषे चक्षुषे मयः) प्रतिनेत्र वाले जन के लिए या प्रति नेत्रवाले प्राणिमात्र के लिए, सुखरूप–सुखप्रद को (बृहतः पाजसः-परि-आरोहन्तम्) महान् विस्तृत पालनीय संसार के ऊपर अधिष्ठित हुए को (वयं जीवाः) हम जीते हुए (प्रति पश्येम) साक्षात् करें—प्रत्यक्ष देखें ॥ ८ ॥

भावार्थ—महान् ज्योति को धारण किये परमात्मा या सूर्य का आश्रय लेने से प्रत्येक नेत्रवान् प्राणी को दर्शनशक्ति और जीवनशक्ति मिलती है ॥ ८ ॥

यस्य॑ ते॒ विश्वा॒ भुव॑नानि के॒तुना॒ प्र चेर॑ते॒ नि च॑ वि॒शन्ते॑ अ॒क्तुभिः॑ ।
अ॒ना॒गा॒स्त्वेन॑ हरिकेश सू॒र्याऽह्नाह्ना नो॒ वस्य॑सावस्य॒सोदि॑हि ॥ ९ ॥

यस्य॑ । ते॒ । विश्वा॑ । भुव॑नानि । के॒तुना॑ । प्र । च॒ । ईर॑ते । नि । च॒ । वि॒शन्ते॑ । अ॒क्तुऽभिः॑ । अ॒ना॒गाः॒त्वेन॑ । ह॒रि॒ऽके॒श॒ । सू॒र्य॒ । अह्ना॑ऽअह्ना । नः॒ । वस्य॑साऽवस्यसा । उत् । इ॒हि॒ ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! सूर्य ! वा (यस्य ते) यस्य तव (केतुना) प्रज्ञापनेन ज्ञानप्रेरकेण प्रकाशप्रेरकेण वा (विश्वा भुवनानि) सर्वाणि भूतानि प्राणवन्ति वस्तूनि (प्र-ईरते च) गतिं कुर्वन्ति व्यवहरन्ति (अक्तुभिः-निविशन्ते च) तथा रात्रिभिः सह शेरते विश्राम्यन्ति (हरिकेश) हे हरणशील ज्ञानरश्मिमन् परमात्मन् ! अन्धकारहरणशील तेजोरश्मिमन् सूर्य ! (अनागास्त्वेन) अपापत्वेन, अनगतिकत्वेन सर्वत्रातिप्रवर्तनेन (अह्ना-अह्ना) सर्वदिनैः (नः) अस्मान् प्रति (वस्यसा-वस्यसा) अत्यन्तश्रेयस्साधकेन धर्मेण (उदिहि) साक्षाद् भव, उदयं गच्छ वा ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! या सूर्य ! (यस्य ते) जिस तेरे (केतुना) प्रज्ञान–ज्ञानप्रेरक या प्रकाशप्रेरक स्वरूप से (विश्वा भुवनानि) समस्त भूत–प्राणी (प्र-ईरते च) गति करते हैं–व्यवहार करते हैं (अक्तुभिः-निविशन्ते च) तथा रात्रियों में सोते–विश्राम करते हैं (हरिकेश) हे अज्ञानहरणशील, ज्ञानरश्मिवाले परमात्मा ! या अन्धकार-हरणशील तेज रश्मिवाले सूर्य ! (अनागास्त्वेन) अपाप भाव से या सर्वत्रगतिप्रवर्तन से (अह्ना-अह्ना) प्रत्येक दिन (नः) हमारे प्रति (वस्यसा वस्यसा) अत्यन्त श्रेयस्साधक धर्म से (उदिहि) साक्षात् हो या उदय को प्राप्त हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा के द्वारा दिये ज्ञान से मनुष्य अपना व्यवहार करते हैं पुनः रात्रि में विश्राम पाते हैं। उसके द्वारा दिये ज्ञान से निष्पाप होकर उसका साक्षात् करते हैं एवं सूर्य के प्रकाश से सारे प्राणी दिन का व्यवहार करके रात्रि में विश्राम करते हैं ॥ ९ ॥

शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना शं भानुना शं हिमा शं घृणेन ।
यथा शमध्वञ्छमसद् दुरोणे तत्सूर्य द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ १० ॥

शम् । नः । भव । चक्षसा । शम् । नः । अह्ना । शम् । भानुना । शम् । हिमा । शम् । घृणेन । यथा । शम । अध्वन् । शम् । असत् । दुरोणे । तत् । सूर्य । द्रविणम् । धेहि । चित्रम् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! सूर्य ! वा (चक्षसा नः-शं भव) ज्ञानप्रकाशेन तेजसा वा अस्मभ्यं कल्याणरूपो भव (अह्ना नः-शं भव) अज्ञाननाशकेन धर्मेण, अन्धकारनाशकेन दिनेन सहास्मभ्यं कल्याणनिमित्तो भव (भानुना शम्) सर्वज्ञत्वधर्मेण प्रकाशधर्मेण वा कल्याणरूपो भव (हिमा शम्) अशान्तिनाशकेन शान्तिधर्मेण शीतकालगतेन स्वरूपेण कल्याणकरो भव (घृणेन शम्) सन्दीपनधर्मेण दुष्टानां तापकधर्मेण ग्रीष्मकालभवेन तेजसा कल्याणकरो भव (यथा-अध्वन् शम्-असत्) यथा हि मार्गे कल्याणं भवेत् तथा त्वं भव (तत्-दुरोणे) तत् कल्याणं गृहे भवेत् (चित्रं द्रविणं धेहि) चायनीयं दर्शनीयं साक्षाद्दर्शनविषयं धनमस्मासु धारय ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(सूर्य) हे जगत्प्रकाशक परमात्मन् ! या सूर्य ! (चक्षसा नः-शं भव) अपने ज्ञानप्रकाश या तेज से हमारे लिए कल्याणरूप हो (अह्ना नः-शं भव) अज्ञाननाशक धर्म से या अन्धकारनाशक दिन से हमारे लिए कल्याणनिमित्त हो (भानुना शम्) अपने सर्वज्ञत्वधर्म से या प्रकाशधर्म से कल्याणकारी हो (हिमा शम्) अशान्तिनाशक शान्तिदायक धर्म से या शीतकाल में होने वाले स्वरूप से कल्याणकारी हो (घृणेन शम्) सन्दीपनधर्म से-दुष्टों को तपाने वाले धर्म से ग्रीष्मकाल में होने वाले तेज से कल्याणकारी हो (यथा-अध्वन् शम्-असत्) जैसे भी मार्ग में कल्याण होवे ऐसे तू हो जा (तत्-दुरोणे) वह कल्याण घर में हो (चित्रं द्रविणं धेहि) दर्शनीय-साक्षात् दर्शनरूप धन हमारे में धारण करा ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने ज्ञानप्रकाश से सब दिनों और सब ऋतुओं में हमारे लिए कल्याणकारी और अपना साक्षात् दर्शनरूप आनन्दघन प्राप्त कराता है, एवं सूर्य भी अपने अन्धकारनाशक प्रकाश द्वारा सब दिनों और सब ऋतुओं में कल्याणकारी हो ॥ १० ॥

अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे ।
अदत्पिबदूर्जयमानमाशितं तदस्मे शं योररपो दधातन ॥ ११ ॥

अस्माकम् । देवाः । उभयाय । जन्मने । शर्म । यच्छत । द्विऽपदे । चतुःऽपदे । अदत् । पिबत् । ऊर्जयमानम् । आशितम् । तत् । अस्मे इति । शम् । योः । अरपः । दधातन ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) जीवन्मुक्ता विद्वांसो वा (अस्माकम्-उभयाय जन्मने द्विपदे चतुष्पदे शर्म यच्छत) अस्मत्सम्बन्धिने खलूभयाय द्विप्रकाराय जन्मधारकाय द्विपदे मनुष्याय चतुष्पदे पशवे सुखं प्रयच्छत (तत्-अदत् पिबत्-ऊर्जयमानम्-आशितम्) तत् प्रत्येकं वृन्दं भक्षयत् पिबच्च तथा समन्ताद् भोगं प्राप्नुवत्–बलवद् भवतु (अस्मे-अरपः-शंयोः-दधातन) अस्मभ्यं पापरहितं सुखं धारयत ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे जीवन्मुक्तो ! या विद्वान् लोगो ! (अस्माकम्-उभयाय जन्मने) हमारे से सम्बन्ध रखने वाले दोनों प्रकार के जन्मधारण करने वाले (द्विपदे चतुष्पदे शर्म यच्छत) दो पैरों वाले–मनुष्य और चार पैरों वाले–पशुओं के लिए सुख प्रदान करो (तत् अदत् पिबत्-ऊर्जयमानम्-आशितम्) वह प्रत्येक गण खाता और पीता हुआ तथा भली-प्रकार से भोग प्राप्त करता हुआ बलवान् हो (अस्मे-अरपः-शंयोः-दधातन) हमारे लिए पापरहित सुख को धारण करो–प्रदान करो ॥ ११ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त, परमात्मा की उपासना करने वाले अपने सत्योपदेश के द्वारा हमें और हमारे पशुओं के लिए हित साधते हैं और निर्दोष सुख को प्राप्त कराते हैं । एवं सूर्य की किरणें और उनके जानने वाले विद्वान् भी हमें और हमारे पशुओं को उत्तम जीवन प्रदान करते हैं ॥ ११ ॥

यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती देवहेळनम् ।
अरावा यो नो अभि दुच्छुनायते तस्मिन्तदेनो वसवो नि धेतन ॥ १२ ॥

यत् । वः । देवाः । चकृम । जिह्वया । गुरु । मनसः । वा । प्रऽयुती । देवऽहेळनम् । अरावा । यः । नः । अभि । दुच्छुनऽयते । तस्मिन् । तत् । एनः । वसवः । नि । धेतन ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे उपासकाः ! विद्वांसो वा (वः) युष्मान् प्रति (यत्-जिह्वया मनसा वा प्रयुती गुरु देवहेळनं चकृम) यद् वाचा *"जिह्वा वाङ्नाम"* [*निघ० १ । ११*] मनसा.यद्वा प्रयुत्या प्रयोगेण कर्मणा वा युष्माकं देवानां यत् बृहत् क्रोधनं पापं कुर्मः, 'तद् यूयं शोधयत' (यः-अरावा नः अभिदुच्छुनायते) यः कश्चित्–अदानशीलोऽपितु हरणशीलः शत्रुरस्मान् दुष्टश्वेवाचरति द्वेष्टि (तस्मिन् तत्-एनः-वसवः-निधेतन) तस्मिन् द्वेषिणि तत्पापकर्मफलं हे वासयितारः प्रापयत ॥ १२ ॥

भाषान्वयाथ—(देवाः) हे उपासको या विद्वानो ! (वः) तुम्हारे प्रति (यत् जिह्वया मनसा वा) जो वाणी से या मन से (प्रयुती गुरु देवहेळनं चकृम) प्रयोग से–आचरण से तुम

विद्वानों के प्रति जो भारी क्रोध या पाप हम करते हैं उसे तुम लोग शोध दो (यः-अरावा नः-अभिदुच्छुनायते) जो कोई अदानशील अपितु हरणशील शत्रु हमारे प्रति दुष्ट कुत्ते की भांति आचरण करता है-द्वेष करता है। (तस्मिन् तत्-एनः-वसव.-निधेतन) उस द्वेष करने वाले में उस पापकर्म के फल को हे बसाने वाले विद्वानो ! प्राप्त कराओ ॥ १२ ।

भावार्थ—विद्वानों के प्रति कभी भी मन, वाणी और आचरण से पाप नहीं करना चाहिए और न क्रोध। अपितु जो अपने प्रति द्वेष या ईर्ष्या करने वाला शत्रु है उसके ऐसे आचरण को उपदेश द्वारा दूर करने की प्रार्थना करनी चाहिए ॥ १२ ॥



अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—मुष्कवान् इन्द्रः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ५ निचृज्जगती । २ पादनिचृज्जगती । ३, ४ विराड् जगती ।

स्वरः—निषादः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते इन्द्रशब्देन राजा विशेष्यते, तद्द्वारा संग्रामकरणस्य प्रजारक्षणस्य गुणधर्मसाधनानि वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में इन्द्र शब्द से राजा और उसके द्वारा संग्राम करने और प्रजारक्षण के गुण धर्म साधनों का वर्णन है ।

अस्मिन्न इन्द्र पृत्सुतौ यशस्वति शिमीवति क्रन्दसि प्राव सातये ।
यत्र गोषाता धृषितेषु खादिषु विष्वक्पतन्ति दिद्यवो नृषाह्ये ॥ १ ॥

अस्मिन् । नः । इन्द्र । पृत्सुतौ । यशस्वति । शिमीऽवति । क्रन्दसि । प्र । अव । सातये । यत्र । गोऽसाता । धृषितेषु । खादिषु । विष्वक् । पतन्ति । दिद्यवः । नृऽसह्ये ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् राजन् ! (अस्मिन् पृत्सुतौ) अस्मिन् सम्पर्कप्रापके संघर्षे *"पृची धातोः क्विपि वर्णव्यत्ययेन तकारः । सु धातोः संज्ञायां क्तिच् प्रत्ययः" [दयानन्दः, ऋ० १ । ११० । ७ ।]* (यशस्वति शिमीवति) यशस्विनि यशोनिमित्तकं कर्म पुरुषार्थो बहुकरणीयो भवति यस्मिन् तथाभूते संग्रामे (सातये नः-प्र-अव) विजयलाभायास्मान् प्रजाजनान् रक्ष (यत्र गोषाता) यस्मिन् राष्ट्रभूमिप्राप्तये राष्ट्रभूमिरक्षणनिमित्ते (नृषाह्ये) नृभिः षोढव्ये (धृषितेषु खादिषु) दृढेषु परस्परं भक्षणकर्त्तृषु-नाशकेषु योद्धृषु (दिद्यवः पतन्ति) तीक्ष्णा इषवः *"इषवो वै दिद्यवः" [श० ५ । ४ । २ । २ ।]* पतन्ति चलन्ति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् राजन् ! (अस्मिन् पृत्सुतौ) इस संघर्ष में (यशस्वति शिमीवति) यशवाले तथा बहुत पुरुषार्थ वाले संग्राम में (सातये नः-प्र-अव) विजय-लाभ के लिए हमारी रक्षा कर (यत्र गोषाता) जिसमें राष्ट्रभूमि की प्राप्ति और रक्षा के निमित्त (नृषाह्ये) मनुष्यों द्वारा सहन करने योग्य (धृषितेषु खादिषु) कठोर तथा परस्पर भक्षण करने वाले–नाश करने वाले योद्धाओं में (दिद्यवः पतन्ति) तीक्ष्ण धारवाले बाण गिरते हैं–चलते हैं ।। १ ।।

भावार्थ—राजा अपने मनुष्यों व प्रजाओं की रक्षा के लिए संग्राम में नाशकारी शत्रु-सैनिकों के ऊपर तीक्ष्ण शस्त्रों का प्रयोग करे ।। १ ।।

स नः क्षुमन्तं सदने व्यूर्णुहि गोअर्णसं रयिमिन्द्र श्रवाय्यम् ।
स्याम ते जयतः शक्र मेदिनो यथा वयमुश्मसि तद्वसो कृधि ।। २ ।।

सः । नः । क्षुऽमन्तम् । सदने । वि । ऊर्णुहि । गोऽअर्णसम् । रयिम् । इन्द्र । श्रवाय्यम् । स्याम । ते । जयतः । शक्र । मेदिनः । यथा । वयम् । उश्मसि । तत् । वसो इति । कृधि ।। २ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(सः) स त्वम् (इन्द्र) राजन्! (नः) अस्माकम् (सदने) गृहे गृहवद्राष्ट्रे वा (क्षुमन्तम्) अन्नवन्तम् *"क्षु-अन्ननाम" [निघं० २ । २]* (गो-अर्णसम्) गौर्भूमिरर्णसश्च कृषिकरणाय जलं च प्राचुर्येण यस्मिन् तथाभूतम् *"अर्त्तेः-उदके नुट् च' असुन्" [उणादि ४ । १९७] "गो-अर्णसः-गोः पृथिव्या जलं च" "विभाषा गोरिति प्रकृतिभावः [ऋ० १ । ११२ । १८ दयानन्दः]* (श्रवाय्यं रयिं व्यूर्णु हि) प्रशंसनीयं पुष्टराज्यरूपं धनम् *"रयिं चक्रवर्तिराज्यसिद्धं धनम्" [ऋ० १ । ३४ । १२ दयानन्दः]* विशिष्टमाच्छादय-सुरक्षितं कुरु (शक्र) हे शक्त ! सर्वं कर्त्तुं सामर्थ्यवन् ! राजन् ! (जयतः-ते) संग्रामे जयं कुर्वतः-तव (मेदिनः स्याम) स्नेहिनो वयं भवेम (वसो यथा वयम्-उश्मसि तत् कृधि) हे वासयितः ! राजन् ! यथा–यत्खलु वयं वाञ्छामः, तत् तथा त्वमस्माकं कामं सम्पादय ।। २ ।।

भाषान्वयार्थ—(सः) वह तू (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (सदने) घर में या घर समान राष्ट्र में (क्षुमन्तम्) अन्नवाले (गो-अर्णसम्) भूमि, जल, कृषि करने के लिए पर्याप्त जिसमें हों ऐसे (श्रवाय्यं रयिं व्युर्णु हि) प्रशंसनीय पुष्टराज्यरूप धन को सुरक्षित कर (शक्र) हे सब कुछ करने में सामर्थ्य वाले राजन् ! (जयतः-ते) संग्राम में जय करते हुए तेरे (मेदिनः स्याम) हम स्नेही हों (वसो यथा वयम्-उश्मसि तत् कृधि) हे बसाने वाले राजन् ! जैसे हम कामना करें वैसे तू हमारी कामना को पूरा कर ।। २ ।।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में खेती करने के लिए पर्याप्त भूमि और जल का प्रबन्ध रखे । राष्ट्र की समृद्धि के लिए पूर्ण समर्थ रहे । आपात्त युद्ध में विजय करता हुआ अपनी स्नेही प्रजाओं की कामना को पूरा करता रहे ।। २ ।।

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति ।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे ॥ ३ ॥

यः । नः । दासः । आर्यः । वा । पुरुऽस्तुत । अदेवः । इन्द्र । युधये । चिकेतति । अस्माभिः । ते । सुऽसहाः । सन्तु । शत्रवः । त्वया । वयम् । तान् । वनुयाम । समऽगमे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरुष्टुत-इन्द्र) हे बहुप्रशंसनीय राजन् ! (यः) यो हि (दासः) यज्ञादिकर्मविहीनो यद्वा (आर्यः-अदेवः) सदाचरणसम्पन्नः परन्तु न देवो यस्य तथाभूतो नास्तिकः (नः-युधये चिकेतति) अस्मान् प्रति युद्धाय युद्धकरणाय सङ्कल्पयति (अस्माभिः-ते शत्रवः सुसहाः सन्तु) अस्माभिः सैनिकैः सह ते शत्रवः सुगमतया सोढुं शक्याः पराजेतुं शक्याः सन्तु-सन्ति, तथा (त्वया वयं सङ्गमे तान् वनुयाम) त्वया सह च सङ्ग्रामे *"सङ्गमे संग्राम नाम"* [*निघ० २ । १७*] तान् शत्रून् वयं हिंस्म-हन्तुं समर्था भवेम *"वनुयाम वनुष्यतः"* [*ऋ० ८ । ४० । ७*] *"वनुष्यति हन्तिकर्मा"* [*निरु० ५ । २*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरुष्टुत-इन्द्र) हे बहुत प्रशंसनीय राजन् ! (यः) जो (दासः) यज्ञादि कर्म विहीन (आर्यः-अदेवः) सदाचरणसम्पन्न परन्तु नास्तिक (नः-युधये चिकेतति) हमारे प्रति युद्ध करने के लिए संकल्प करता है—सोचता है (अस्माभिः-ते शत्रवः सुसहाः सन्तु) हम सैनिकों के द्वारा वे शत्रुजन सुगमतया सहन करने योग्य अर्थात् पराजित करने योग्य हों (त्वया वयं सङ्गमे तान् वनुयाम) तेरे साथ उन्हें हम संग्राम में हिंसित करने में समर्थ हों ३ ॥

भावार्थ—प्रजा को चाहिए कि अपने राजा का सदा साथ दें। राष्ट्र में जो धर्मकर्मविहीन और सदाचारसम्पन्न परन्तु नास्तिक, विरुद्ध चिन्तन करने वाले जनों को दण्ड देने में समर्थ हों ॥ ३ ॥

यो दभ्रेभिर्हव्यो यश्च भूरिभिर्यो अभीके वरिवोविन्नृषाह्ये ।
तं विखादे सस्निमद्य श्रुतं नरमर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे ॥ ४ ॥

यः । दभ्रेभिः । हव्यः । यः । च । भूरिऽभिः । यः । अभीके । वरिवःऽवित् । नृऽसह्ये । तम् । विऽखादे । सस्निम् । अद्य । श्रुतम् । नरम् । अर्वाञ्चम् । इन्द्रम् । अवसे । करामहे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अभीके) सङ्ग्रामे *"अभीके सङ्ग्रामनाम"* [*निघ० २ । १७*] (यः) ऐश्वर्यवान् राजा (दभ्रेभिः) अल्पैः सैनिक-जनैः (यः-च भूरिभिः)

अपि च यो बहुभिः सैनिकजनैश्च (हव्यः) होतव्यः (यः-वरिवः-वित्) सांग्रामिक-साधनवेत्ता (नृषह्यः) नॄन् षोढुमभिभवितुमर्हः (तं सस्निं श्रुतं नरम्-इन्द्रम्) तं निर्दोषं नैर्बल्यरहितं शौर्ये प्रसिद्धं नेतारं राजानम् (विखादे) विविधरूपेण खाद्यन्ते नश्यन्ते जनाः यस्मिन् भयङ्करे संग्रामे (अद्य) प्रवर्तमाने काले (अवसे) रक्षायै (अर्वाञ्चं करामहे) अग्रनायकं सम्पादयामः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अभीके) संग्राम में (यः) जो ऐश्वर्यवान् राजा (दभ्रेभिः) थोड़े सैनिकों द्वारा (यः-च भूरिभिः) और जो बहुत सैनिकजनों से (हव्यः) आह्वान करने योग्य-आश्रयणीय है (यः वरिवः-वित्) जो संग्राम सम्बन्धी साधनों को जानने वाला (नृषह्यः) नरों को स्ववश करने वाला है (तं सस्निं श्रुतं नरम्-इन्द्रम्) उस निर्दोष निर्बलतारहित शौर्य में प्रसिद्ध नेता राजा को (विखादे) विविध रूप से खाये जाते—नष्ट होते हैं योद्धाजन जिसमें ऐसे संग्राम में (अद्य) वर्तमान संग्राम काल में (अवसे) रक्षा के लिए (अर्वाञ्चं करामहे) अग्रनायक रूप में वरण करें—बनावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजाजनों को ऐसा राजा बनाना चाहिए जो संग्राम के सब साधनों और विजय के प्रकारों को जानता हो। जो बहुत क्या थोड़े से सैनिकों द्वारा भी विजय करने में समर्थ हो ॥ ४ ॥

स्वृवृजं हि त्वामहमिन्द्र शुश्रवानानुदं वृषभ रध्रचोदनम् ।
प्र मुञ्चस्व परि कुत्सादिहा गहि किमु त्वावान्मुष्कयोर्बद्ध आसते ॥ ५ ॥

स्वऽवृजम् । हि । त्वाम् । अहम् । इन्द्र । शुश्रव । अननुऽदम् । वृषभ । रध्रऽचोदनम् । प्र । मुञ्चस्व । परि । कुत्सात् । इह । आ । गहि । किम् । ऊँ इति । त्वाऽवान् । मुष्कयोः । बद्धः । आसते ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृषभ-इन्द्र) हे शत्रूणामुपरि बलं वर्षयिता राजन् ! (त्वां स्ववृजम्) त्वां खलु स्वतो बन्धनछेत्तारम (अननु-दम्) कमपि बलदं नापेक्षकं स्वयं पूर्णबलवन्तम् (रध्रचोदम्) अपितु स्वाश्रितस्य प्रेरकम (अहं शुश्रव हि) अहं शृणोमि हि (कुत्सात् परि प्रमुञ्चस्व) निन्दितात् कर्मणः सर्वतः स्वात्मानं प्रमोचय सदा पृथक् रक्ष (आगहि) संग्रामे प्राप्तो भव (त्वावान्) त्वत्सदृशः (मुष्कयोः-बद्धः किम्-उ-आसते) अण्डकोशयोर्विषयभोगप्रसङ्गयोर्बद्धः कथमपि-आसीत् *"लिङर्थे लेट्"* *[अष्टा० ३ । ४ । ७]* नैतत् सम्भवति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(वृषभ-इन्द्र) हे शत्रुओं के ऊपर बलों को बरसाने वाले राजन् ! (त्वां स्ववृजम्) तुझ स्वयं बन्धनछेत्ता—(अननु-दम्) किसी भी बल देने वाले की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं पूर्ण बलवाले—(रध्रचोदनम्) तथा अपने आश्रित के प्रेरक को (अहं शुश्रव

हि) मैं सुनता हूँ (कुत्सात् परि प्रमुञ्चस्व) निन्दित कर्म से सब ओर से अपने को पृथक् कर (आगहि) संग्राम को प्राप्त हो (त्वावान्) तेरे जैसा उच्चपद पर विराजा हुआ–प्राप्त हुआ (मुष्कयोः-बद्धः किम्-उ-आसते) अण्डकोशों–विषयभोग-प्रसङ्गों में बंधा कैसे रहे ? यह सम्भव नहीं है–यह शोभनीय नहीं है ।। ५ ।।

भावार्थ—राजा सैन्य, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बलों से सम्पन्न हुआ तथा पापकर्म और विषयों से रहित और संयमी होकर समस्त भीतरी और बाहरी संग्रामों पर विजय पाता है ।। ५ ।।



एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—काक्षीवती घोषा ।
देवताः—अश्विनौ ।
छन्दः—१,६,७,११,१३ निचृज्जगती । २ ८,९,१२, जगती । १४ निचृत् त्रिष्टुप् ।
स्वर— १-१३ निषादः । १४ धैवतः ।
विषयः—सूक्तेऽत्र 'अश्विनौ' शब्देन अध्यापकोपदेशकौ, ओषधिशल्यचिकित्सकौ, स्त्रीपुरुषौ, आग्नेयसोम्यपदार्थौ गृह्यन्ते । राष्ट्रे शिक्षाप्रचारः, रोगस्य निवारणम्, विवाहनिर्णयः, याननिर्माणञ्चोपदिश्यते ।

यहाँ 'अश्विनौ' शब्द से अध्यापकोपदेशक, ओषधिशल्यचिकित्सक, स्त्रीपुरुष, आग्नेय सोम्य पदार्थ गृहीत हैं । राष्ट्र में शिक्षाप्रचार, रोगनिवारण, कुमार-कुमारियों का विवाह निर्णय, और याननिर्माण का वर्णन है ।

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता ।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे ॥ १ ॥

यः । वाम् । परिऽज्मा । सुऽवृत् । अश्विना । रथः । दोषाम् । उषसः । हव्यः । हविष्मता । शश्वत्ऽतमासः । तम । ऊँ इति । वाम् । इदम । वयम् । पितुः । न । नाम । सुऽहवम । हवामहे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे अश्विनौ ! अध्यापकोपदेशकौ ! *"अश्विना-अश्विनौ-अध्यापकोपदेशकौ"* [*ऋ० ५ । ७८ । ३ दयानन्दः*] ज्योतिष्प्रधानरसप्रधानावाग्नेय-सोम्यपदार्थौ ! *"अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः"* [*निरु० १२ । १*] (वाम्) युवयोः (यः) यः खलु (परिज्मा सुवृत्-रथः) सर्वत्र गन्ता ज्मायां पृथिव्यां परिप्रापणशीलः *"ज्मा पृथिवीनाम"* [*निघ० १ । १*] सु-सुखं वर्तयिता स्वतः स्वभावतः वरयिताऽऽच्छादकः, रथः-गतिप्रवाहः *"रथो रंहतेर्गतिकर्मणः"* [*निरु० ९ । ११*] यानविशेषो वा (दोषाम्-उषसः) रात्रिं दिनं च *"उषाः-दिनम्"* [*ऋ० १ । ६२ । ८ । दयानन्दः*] (हविष्मता हव्यः) ग्रहीतव्यानि वस्तूनि विद्यन्ते यस्य पार्श्वे तेन श्रोतृगणेन ग्रहीतव्यः

स्वीकार्योऽस्ति (वयं शश्वत्तमासः) वयमतिशयेन पूर्वतः श्रवणाय ज्ञानाय वर्तमानाः (तम्-उ-वां सुहवम्) तमेव गतिप्रवाहं यानविशेषं वा युवयोः (इदं नाम) एतत् प्रवचनं प्रापणं वा (पितुः-न ह्वामहे) पालकस्य राज्ञ इव गृह्णीमः ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अध्यापक और उपदेशको ! या ज्योतिष्प्रधान और रसप्रधान-आग्नेय सोम्य पदार्थ ! (वाम्) तुम दोनों का (यः) जो (परिज्मा सुवृत्-रथः) सर्वत्र जाने वाला पृथिवी पर प्राप्त होने वाला, सुख वर्तने वाला, स्वभाव से आच्छादक गतिप्रवाह या यानविशेष (दोषाम्-उषसः) रात्रि और दिन में (हविष्मता हव्यः) ग्रहण करने योग्य वस्तुयें जिसमें हैं उस ऐसे श्रोतागण द्वारा ग्रहण करने योग्य है (वयं शश्वत्तमासः) हम अत्यन्त पूर्व से श्रवण करने के लिए वर्तमान हैं (तम्-उ-वां सुहवम्) तुम्हारे उस ही गतिप्रवाह या यानविशेष को (इदं नाम) इस प्रवचन या प्राप्त होने को (पितुः-न ह्वामहे) पालक राजा के रक्षण को ग्रहण करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा के द्वारा पृथिवी भर पर-स्थान स्थान पर अध्यापक और उपदेशक नियुक्त करने चाहिएं जिनका ज्ञानप्रवाह सब लोगों को श्रवण करने के लिए मिले और अपना जीवन सुखी बना सकें एवं आग्नेय तथा सोम्य पदार्थों से रथ-यानविशेष निर्माण कराकर प्रजामात्र को यात्रा का अवसर देकर सुखी बनाना चाहिए ॥ १ ॥

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत्पुरंधीरीरयतं तदुश्मसि ।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् ॥२॥

चोदयतम् । सूनृताः । पिन्वतम् । धियः । उत् । पुरम्ऽधीः । ईरयतम् । तत् । उश्मसि । यशसम् । भागम् । कृणुतम् । नः । अश्विना । सोमम् । न । चारुम् । मघवत्ऽसु । नः । कृतम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे अध्यापकोपदेशकौ ! युवां विद्युतः शुष्कार्द्रधारे वा (सूनृताः-चोदयतम्) स्वाः वाणीः *"सूनृता वाङ्नाम"* [*निघ० १ । ११*] उषसं ज्योतिषं वा *"सूनृता उषोनाम"* [*निघ० १ । ८*] प्रेरयतम् (धियः-पिन्वतम्) बुद्धीः-वर्धयतं कर्माणि वा प्रवर्धयतम् *"धीः कर्मनाम"* [*निघ० २ । १*] (पुरन्धीः-उदीरयतम्) बहुप्रज्ञानवतीः-बुद्धीः *"याः पुरूणि विज्ञानानि दधाति ताः प्रज्ञाः"* [*ऋ० ४ । २२ । १० दयानन्दः*] बहुविधकर्मप्रवृत्तीः-उद्वर्धयतम् (तत्-उश्मसि) तदेतत्त्रयं वयं वाञ्छामः (नः-यशसं भागं कुरुतम्) अस्माकं यशोरूपं सदाचारमयमधिकारं कार्यं सम्पादयतम् (मघवत्सु सोमं न चारुं नः-कृतम्) अस्मासु अध्यात्मयज्ञवत्सु-ऐश्वर्यवत्सु वा सुन्दरं चन्द्रमिव 'पुष्कलमैश्वर्यं कुरुतम् विभक्तिव्यत्ययः' ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अध्यापक-उपदेशको ! या विद्युत् की शुष्क और आर्द्र धाराओ ! (सूनृताः-चोदयतम्) अपनी वाणियों को या उषाज्योतियों को प्रेरित करो (धियः

पिन्वतम्) बुद्धियों या कर्मों को बढ़ाओ (पुरन्धीः-उदीरयतम्) बहुत प्रज्ञानवाली बुद्धियों को खूब बढ़ाओ (तत्-उश्मसि) इन तीनों को हम चाहते हैं (नः-यशसं भागं कुरुतम्) हमारे यशोरूप सदाचारमय अधिकार का सम्पादन करो (मघवत्सु सोमं न चारु नः-कृतम्) अध्यात्म-यज्ञवालों या ऐश्वर्य वालों में सुन्दर चन्द्रमा की भांति पुष्कल ऐश्वर्य प्रदान करो ॥ २ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक हमारे अन्दर अपने उपदेश से बुद्धियों का विकास करते हैं। श्रेष्ठकर्म में प्रवृत्त करते हैं। हमें अपने मानवीय जीवनभाग सदाचार की प्रेरणा देते हैं और सुन्दर ऐश्वर्य को प्रदान करते हैं। और विद्युत् की दो धारायें हमारे बुद्धिविकास का कारण बनती हैं। विशेष क्रिया द्वारा ऐश्वर्य भी प्राप्त कराती हैं ॥ २ ॥

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित् ।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ॥ ३ ॥

अमाऽजुरः । चित् । भवथः । युवम् । भगः । अनाशोः । चित् । अवितारा । अपमस्य । चित् । अन्धस्य । चित् । नासत्या । कृशस्य । चित् । युवाम् । इत् । आहुः । भिषजा । रुतस्य । चित् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नासत्या) हे असत्यज्ञानाचरणरहितौ सद्वैद्यौ ! *"अश्विनौ सद्वैद्यौ"* [*संस्कारविधिः*] अविनश्वराग्नेयसोम्यौ पदार्थौ *"नासत्याभ्यां नित्याभ्यामग्निजलाभ्याम्"* [ऋ० १ । २० । ३ *दयानन्दः*] (युवम्) युवाम् (अमाजुरः-भगं चित्) गृहे वर्तमानस्य गृहस्थस्य भगस्य भजनीयस्य शरीरस्य 'विभक्तिव्यत्ययः' तथा (अनाशोः-अपमस्य चित्-अवितारा भवथः) अभोक्तुर्भोजनकरणेऽशक्तस्य रक्तादिधातुक्षीणस्यापि रक्षितारौ भवथः (अन्धस्य चित्-कृशस्य चित्-रुतस्य चित्-युवां भिषजा-आहुः) दृष्टिहीनस्यापि दुर्बलस्यापि रुग्णस्यापि *"रुतस्य रुग्णस्य-अत्र पृषोदरादित्वात्-जलोपः [यजु० १६ । ४९ दयानन्दः]"* युवां वैद्यौ-वैद्यसमौ कथयन्ति विद्वांसः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(नासत्या) हे असत्यज्ञान और असत्य आचरण से रहित सद्वैद्यो ! या आग्नेय सोम्य पदार्थो ! (युवम्) तुम दोनों (अमाजुरः-भगं चित्) गृह में वर्तमान-गृहस्थजन के भजनीय शरीर की तथा (अनाशोः-अपमस्य चित्-अवितारा भवथः) भोजन करने में अशक्त और रक्तादिधातुक्षीण मनुष्य के रक्षक हो (अन्धस्य चित्-कृशस्य चित्-रुतस्य चित्) दृष्टिहीन के, दुर्बल के और रोगी के भी (युवां भिषजा-आहुः) तुम दोनों को विद्वान् लोग वैद्य कहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—राष्ट्र के अन्दर ऐसे कुशल ओषधिचिकित्सक और शल्यचिकित्सक वैद्य होने चाहिएँ जो गृहस्थ में वर्तमान दम्पति के शरीर को स्वस्थ रख सकें तथा भोजन करने में असमर्थ, रक्तादि धातुक्षीण निर्बल मनुष्य, नेत्रहीन, कृश और रोगी मनुष्य की रक्षा और चिकित्सा कर सकें। एवं आग्नेय सोम्य पदार्थ सूर्य की दो किरणें या विद्युत् की दो तरंगों द्वारा भी उनकी रक्षा की जा सके ऐसे साधनों का आविष्कार करें ॥ ३ ॥

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या ॥ ४ ॥

युवम् । च्यवानम् । सनयम् । यथा । रथम् । पुनः । युवानम् । चरथाय । तक्षथुः । निः । तौग्र्यम् । ऊहथुः । अत्ऽभ्यः । परि । विश्वा । इत् । ता । वाम् । सवनेषु । प्रऽवाच्या ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवम्) युवामश्विनौ-ओषधिशल्यचिकित्सकौ ! आग्नेय-सोम्यपदार्थौ वा (च्यवानं सनयं रथं यथा) स्वशरीरतश्च्युतियुक्तं जीर्णशरीरकं कमप्यात्मानं स्वरूपतो लुप्तमिन्द्रं मेघानां च्यावयितारं विद्युद्देवं पुराणं रथं यानविशेषम् *"सनयं पुराणम्"* [*निरु० ४ । १६*] यथा (:चरथाय पुनः-युवानं तक्षथुः) जीवानां चलनाय पुनः कर्मसम्बद्धं कुरुथः *"तक्षति करोतिकर्मा"* [*निरु० ४ । १९*] (तौग्र्यम्-अद्भ्यःपरि निः-ऊहथुः) तुग्रस्य बलवतो राज्ञः पुत्रं राजन्यं राजानम् *"बलवतो राज्ञः पुत्रं राजन्यम्"* [ऋ० १ । ११८ । ६ *दयानन्दः*] देशान्तरादावावश्यकपदार्थानामादातारं वैश्यवंशजम् *"तुग्र बलापदाननिकेतनेषु"* [*भ्वादिः*] जलेभ्यो नदीसमुद्रेभ्यः पृथक्पारमुपरि वा-उत्तारयथः, जलोदरादिरोगादुद्धारयथः (तां ता विश्वा सवनेषु प्रवाच्या) युवयोरोषधिशल्यचिकित्सकयोराग्नेयसोम्ययोः पदार्थयोस्तानि विश्वानि कृत्यानि सत्सङ्गस्थानेषु प्रोक्तव्यानि प्रसिद्धीकरणीयानि सन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(युवम्) तुम दोनों ओषधिचिकित्सक तथा शल्यचिकित्सक वैद्यो ! या आग्नेय सोम्यपदार्थो ! (च्यवानं सनयं रथं यथा) अपने शरीर से क्षीणता को प्राप्त हुए—जीर्ण शरीर वाले को या स्वरूप से लुप्त मेघों को गिराने वाले विद्युत् को पुराने रथ के समान (चरथाय पुनः-युवानं तक्षथुः) जीवों के चलने के लिए पुनः कर्म से युक्त करो (तौग्र्यम्-अद्भ्यः-परि नि-ऊहथुः) बलवान् राजा के पुत्र, देशान्तर में जाने वाले आवश्यक पदार्थों के लाने वाले वैश्य-वंशज को, जलों अर्थात् नदी समुद्रों से पृथक् पार करो—उतारो, तथा जलोदरादि रोगों से मुक्त करो (तां ता विश्वा सवनेषु प्रवाच्या) तुम ओषधिचिकित्सक और शल्य-चिकित्सक के या आग्नेय सोम्य पदार्थों के वे सब कृत्य सत्सङ्गस्थानों में प्रसिद्ध करने योग्य हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राष्ट्र के अन्दर ओषधिचिकित्सक और शल्यचिकित्सक वैद्य होने चाहिएं, जो जीर्ण शरीर वाले या विकलित अङ्ग वाले को फिर से युवा जैसा बना सकें । एवं आग्नेय सोम्य पदार्थों द्वारा जलयान आदि यानविशेष चलाकर या बनवाकर यात्रा के लिए सुविधाओं को जुटावें विशेषतया व्यापारियों के उपयोगार्थ ॥ ४ ॥

पुराणा वां वीर्या३ प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा ।
ता वां नु नव्याववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत् ॥ ५ ॥

पुराणा । वाम् । वीर्या । प्र । ब्रव । जने । अथो इति । ह । आसथुः । भिषजा । मयःऽभुवा । ता । वाम् । नु । नव्यौ । अवसे । करामहे । अयम् । नासत्या । श्रत् । अरिः । यथा । दधत् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नासत्या भिषजा) हे नासत्यौ सत्यज्ञानवन्तौ–ओषधि-शल्यचिकित्सकौ तद्वज्ज्योतिष्प्रधानरसप्रधानाग्नेयसोम्यपदार्थौ रोगनिवारकौ ! (वाम्) युवयोः (पुराणा वीर्या जने प्रब्रव) पुरातनानि कृत्यानि जनसमुदाये प्रब्रवीमि (अथ-उ) अथ च (मयोभुवा-ह-आसथुः) कल्याणस्य भावयितारौ ह्यवश्यं भवथः (ता वां नव्यौ नु-अवसे करामहे) तौ युवां स्वरक्षायै स्तुत्यौ कुर्मः (अयम्-अरिः-श्रत्-दधत्) अयं प्रापक उपयोगकर्त्ता जनः श्रद्धां कुर्यात् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(नासत्या भिषजा) हे सत्यज्ञान वाले ओषधिचिकित्सक और शल्य-चिकित्सक ! तथा आग्नेय सोम्य पदार्थो ! रोगनिवारक ! (वाम्) तुम दोनों के (पुराणा वीर्या जने प्रब्रव) पुरातन कृत्यों को जनसमुदाय में घोषित करते हैं (अथ-उ) और (मयोभुवा ह-आसथुः) कल्याण के भावित करने वाले अवश्य होओ (ता वां नव्या नु-अवसे करामहे) तुम दोनों की रक्षार्थ प्रशंसा करते हैं (अयम्-अरिः-श्रत्-दधत्) यह तुम्हें प्राप्त करने वाला उपयोग करने वाला जन तुम्हारे प्रति श्रद्धा करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ओषधिचिकित्सक और शल्यचिकित्सक तथा आग्नेय सोम्य पदार्थ रोगी को अच्छा करने में समर्थ हों । वे इस कार्य में प्रशंसा के योग्य होते हैं ॥ ५ ॥

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम् ॥ ६ ॥

इयम् । वाम् । अह्वे । शृणुतम् । मे । अश्विना । पुत्रायऽइव । पितरा । मह्यम् । शिक्षतम् । अनापिः । अज्ञाः । असजात्या । अमतिः । पुरा । तस्याः । अभिऽशस्तेः । अव । स्पृतम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे अध्यापकोपदेशकौ ! (वाम्) युवाम् (इयम्-अह्वे) एषाऽहं शिक्षणोपदेशौ कामयमाना कुमारी खल्वाह्वयामि (मे शृणुतम्) मम प्रार्थनां शृणुतं स्वीकुरुतम् (पुत्राय-इव पितरा मह्यं शिक्षतम्) सन्तानाय पितरौ मातापितराविव मह्यं प्रार्थनानुरूपं प्रार्थनीयं ज्ञानं वस्तु वा दत्तम् (अनापिः-अज्ञाः-अमतिः असजात्या) अहं खल्वस्मि-अनाप्तगृहस्था [विषयज्ञानरहिता पुनः-अमतिरात्ममयी मतिर्यस्या स्वाभिमानवती सलज्जा *"अमतिरमामतिरात्ममयी"* [*निरु० ६ । १२*] (तस्याः पुरा अभिशस्तेः-अवस्पृतम्) तस्याः खलु मम-अभिशंसनात् अनिष्टापत्तेर्मृत्योः पूर्वमेव शरणे गृहीतं रक्षतम् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अध्यापक और उपदेशक ! (वाम्) तुम दोनों को (इयम्-अह्वे) यह मैं शिक्षण उपदेश को चाहती हुई कुमारी–ब्रह्मचारिणी आमन्त्रित करती हूं (मे श्रृणुतम्) मेरी प्रार्थना को सुनो–स्वीकार करो (पुत्राय-इव पितरा मह्यं शिक्षतम्) सन्तान के लिए माता–पिता के समान मेरे लिए प्रार्थनीय ज्ञान को या वस्तु को दो (अनापिः-अज्ञाः-अमतिः- असजात्या) मैं गृहस्थ आश्रम को न प्राप्त हुई विषयज्ञानरहित, आत्मवाली–आत्मज्ञान वाली स्वाभिमानिनी, लज्जायुक्त (तस्याः-पुरा-अभिशस्तेः-अवस्पृतम्) उस मेरी मृत्यु से पहले अपनी शरण में मुझे ग्रहण करो–सुरक्षित करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशकों से कुमारी कन्यायें भी शिक्षा ग्रहण करें। विशेषतः अमर जीवन बनाने वाली–जीवन्मुक्त होने वाली कन्यायें अध्यात्म ज्ञान का उपदेश लें ॥ ६ ॥

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् ।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरंधये ॥ ७ ॥

युवम् । रथेन । विऽमदाय । शुन्ध्युवम् । नि । ऊहथुः । पुरुऽमित्रस्य । योषणाम् । युवम् । हवम् । वध्रिऽमत्याः । अगच्छतम् । युवम् । सुऽसुतिम् । चक्रथुः । पुरम्ऽधये ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवम्) हे अश्विनौ ! अध्यापकोपदेशकौ ! युवाम् (पुरुमित्रस्य विमदाय) बहूनां मित्रभूतस्य ब्रह्मचारिणो विशिष्टहर्षसम्पादनाय (शुन्ध्युवं योषणां नि-ऊहथुः) पवित्रां गृहस्थसम्पर्करहितां कुमारीं ब्रह्मचारिणीं नियुक्तां कुरुतम् (युवम) युवाम् (वध्रिमत्याः हवम्–अगच्छतम्) संयमनीमत्याः पूर्णसंयतायाः प्रार्थना-वचनमभिप्रायं वा प्राप्नुतम् (युवं पुरन्धये सुषुतिं चक्रथुः) युवां पुरं गृहं धारयित्र्यां सुखसन्तानसम्पत्तिं कुरुथः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(युवम्) हे अध्यापक–उपदेशको ! (पुरुमित्रस्य विमदाय) बहुतों के मित्र ब्रह्मचारी के विशिष्ट हर्ष के सम्पादन के लिए (शुन्ध्युवं योषणां नि-ऊहथुः) पवित्र–गृहस्थ-सम्पर्क रहित ब्रह्मचारिणी को नियुक्त करो (युवम्) तुम दोनों (वध्रिमत्याः-हवम्-अगच्छतम्) संयमनी–संयम में रखने वाली मेखला युक्त–पूर्णसंयत के प्रार्थनावचन को प्राप्त होओ (युव पुरंधये सुषुतिं चक्रथुः) तुम दोनों घर को धारण करने वाली सुख सन्तान सम्पत्ति हमारे लिए सम्पादित करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक या अध्यापिका और उपदेशिका अपने शिष्य और शिष्याओं को पूर्ण ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाकर दोनों का यथायोग्य विवाह सम्बन्ध नियुक्त –स्थापित करें। उन्हें उत्तम सन्तान सुखसम्पत्ति से युक्त करें ॥ ७ ॥

युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः ।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः ॥ ८ ॥

युवम् । विप्रस्य । जरणाम । उपऽईयुषः । पुनरिति । कलेः । अकृणुतम् । युवत् । वयः । युवम् । वन्दनम् । ऋश्यऽदात् । उत् । ऊपथुः । युवम् । सद्यः । विश्पलाम् । एतवे । कृथः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवं कलेः-विप्रस्य) युवां ज्ञानस्य कलयितुः सङ्कल्पयितु-र्विप्रस्य मेधाविनः *"विप्रः–मेधाविनाम"* [*निघ० ३ । १५*] (जरणाम्-उपेयुषः) जरां प्राप्तस्य जीर्णस्य (पुनः-युवत् वयः-अकृणुतम्) पुनर्युवत्वत्तज्जीवनं कुरुथः (युवम्) युवाम् (वन्दनम्-ऋश्यदात्) वन्दयितारमुपासकं जनं पीडाप्रदाद् रोगात् (उत्-ऊपथुः) उद्वपथ उद्धरथः (युवं विश्पलां सद्यः-एतवे कृथः) प्रजाभ्यः पलायमानां सभां यद्वा प्रजापालिकां युवां सद्यः प्रचरितुं कुरुथः *"विशां पालिकां विद्याम्"* [*ऋ० १ । ११७ । ११ दयानन्दः*] ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(युवं कलेः-विप्रस्य) तुम दोनों अध्यापक और उपदेशक ज्ञान के संकलन करने वाले मेधावी (जरणाम्-उपेयुषः) जरा अवस्था को प्राप्त हुए जीर्ण मनुष्य का (पुनः-युवत् -वयः-अकृणुतम्) पुनः युवावस्था वाला जीवन करो (युवम्) तुम दोनों (वन्दनम्-ऋश्यदात्) उपासक जन का पीडाप्रद रोग से (उत्-ऊपथुः) उद्धार करो (युवं विश्पलां सद्यः-एतवे कृथः) प्रजा से विपरीत हुई सभा या प्रजापालिका को शीघ्र ही उनके योग्य कार्य करने वाली बनाओ ॥ ८ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक ज्ञानोपार्जित करने वाले जराप्राप्त मेधावी को अपने अमृतमय उपदेश से पुनः युवकसदृश बना देते हैं। उपासक जन को तो अनेक मानसिक पीड़ाप्रद रोगों से ऊपर उठा देते हैं। तथा प्रजा से विपरीत हुई प्रजापालिका या राजसभा को भी अनुकूल कर देते हैं ॥ ८ ॥

युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना ।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये ॥ ९ ॥

युवम् । ह । रेभम् । वृषणा । गुहा । हितम् । उत् । ऐरयतम् । ममृऽवांसम् । अश्विना । युवम् । ऋबीसम् । उत । तप्तम् । अत्रये । ओमन्ऽवन्तम् । चक्रथुः । सप्तऽवध्रये ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवम्-अश्विना) युवां हि अश्विनौ ! (वृषणा) सुखवर्षकौ ! (ह रेभं गुहा हितं ममृवांसम्-उदैरयतम्) हृद्गुहायां बुद्धौ वा स्थितं स्तोतारं जीवं ममृवांसं मरणासन्नमुन्नयथः स्वस्थं कुरुथः (युवम्) युवाम् (ऋबीसम्-उत तप्तम्) अन्धकारपूर्णं देहम् *"ऋबीसमपगतभासम्"* [*निरु० ६ । ३६*] अपितु तापकरम् (सप्तवध्रये) *"पञ्चचक्षुरादीनीन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च सप्त हतानि यस्य तस्मै"* [*यजु० ५ । ७८ दयानन्दः*]

"सप्तवध्रिम् हतसप्तेन्द्रियम्" [*ऋ० ५ । ७८ । ५ दयानन्दः*] (अत्रये) अत्त्रे-भोक्त्रे-आत्मने (ओमन्वतं चक्रथुः) शान्तं रक्षणवन्तं कुरुथः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(युवम्-अश्विना) हे अध्यापक उपदेशको ! तुम दोनों (वृषणा) सुखवर्षको ! (ह रेभं गुहा हितं ममृवांसम्-उदैरयतम्) हृदयगुहा में या बुद्धि में स्थित मरणासन्न स्तोता जीव को स्वस्थ करते हो (युवम्) तुम दोनों (ऋबीसम्-उत तप्तम्) अन्धकारपूर्ण तापकारी देह को (सप्तवध्रये) पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि ये सात संयत हो गई जिसकी, ऐसे (अत्रये) भोक्ता जीवात्मा के लिए (ओमन्वन्तं चक्रथुः) रक्षावाले शान्त पद को बनाते हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक सुख के बरसाने वाले होते हैं। वे हृदय में विराजमान मरणासन्न स्तोता जीव को अमर बना देते हैं। और शरीर के संताप को दूर करते हैं। इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हुए को सुरक्षित और अमृत भोग का भागी बना देते हैं ॥ ६ ॥

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम् ।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम् ॥ १० ॥

युवम् । श्वेतम् । पेदवे । अश्विना । अश्वम् । नवभिः । वाजैः । नवती । च । वाजिनम् । चर्कृत्यम् । ददथुः । द्रवयत्ऽसखम् । भगम् । न । नृऽभ्यः । हव्यम् । मयःऽभुवम् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवम्-अश्विना) युवाम्, अश्विनौ ! (पेदवे) सुखस्य प्रापयित्रे-आत्मने (नवभिः-वाजैः-नवती च) मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारसम्बन्धिभिश्चतुर्भिः पञ्चज्ञानेन्द्रियसम्बन्धिभिः, नवती–नवतीभिः "सुपां सुलुक्" [*अष्टा० ७ । १ । ३९*] इति विभक्तेर्लुक्, बलरूपाभिः प्रवृत्तिभिर्युक्तं (श्वेतं वाजिनम्) शुद्धं बलवन्तं नूतनं भोगवन्तं देहम् (चर्कृत्यम्) पुनः पुनः चरणीयं प्रापणस्वभावम् (द्रावयत्सखम्) रसरक्तं स्रावयन्त्यो नाड्यः सखिभूता यस्य तथाभूतम् (ददथुः) दत्थः–जीवयथः (नृभ्यः-मयोभुवं हव्यं भगम्-न) नेतृभ्यो जीवनमुक्तेभ्यो मोक्षमिव कल्याणं भावुकमैश्वर्यं दत्थः, "नरो वै देवविशः" [*जै० १ । ८९*] ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(युवम्-अश्विना) हे अध्यापक उपदेशको ! तुम दोनों (पेदवे) सुख प्राप्त करने वाले आत्मा के लिए (नवभिः-वाजैः-नवती च) नौ अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सम्बन्धी और पञ्चज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी, बलों और प्रवृत्तियों से युक्त (श्वेतं वाजिनम्) शुद्ध भोगवाले देह को (चर्कृत्यम्) पुनः पुनः भोगप्राप्त करने वाले को (द्रावयत्सखम्) रस रक्त रिसाती हुई नाड़ियां सखिभूत जिसकी हैं उस ऐसे को (ददथुः) जीवन देते हो (नृभ्यः-मयोभुवं हव्यं भगम्-न) नेताजनों जीवन्मुक्तों के लिए मोक्ष जैसे कल्याण को भावित करने वाले हो–ऐश्वर्य को देते हो ॥ १० ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक सुख के इच्छुक अधिकारी को उसके अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों सम्बन्धी प्रवृत्तियों से युक्त देह को पुनः पुनः सुखभोग का साधन बनाते हैं ।। १० ।।

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम् ।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह ।। ११ ।।

न । तम् । राजानौ । अदिते । कुतः । चन । न । अंहः । अश्नोति । दुःऽइतम् । नकिः । भयम् । यम् । अश्विना । सुऽहवा । रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी । पुरःऽरथम् । कृणुथः । पत्न्या । सह ।। ११ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(राजानौ-अश्विना) हे सर्वत्र राजमानौ ! अध्यापकोपदेशकौ ! (अदिते) अखण्डनीयौ (सुहवा) शुभाय कल्याणाय ह्वातव्यौ (रुद्रवर्तनी) रुद्रवर्तनिर्ययोः-रुद्रं क्रूरं कष्टं वर्त्तयता निवर्त्तयतो यौ तौ युवाम् (न) नहि (तं कुतः-चन न अंहः-अश्नोति) तं जनं कुतोऽपि विघ्नो वा पापं वा नैव प्राप्नोति (नकिः-दुरितं भयम्) नैव दुःखदं भयं प्राप्नोति (यं पत्न्या सह) यं खलु पत्न्या सह (पुरोरथं कृणुथः) पुरोगन्तृगृहस्थरथवन्तं कुरुथः ।। ११ ।।

भाषान्वयार्थ—(राजानौ-अश्विना) हे सर्वत्र राजमान अध्यापक-उपदेशको ! (अदिते) अखण्डनीय (सुहवा) शोभन कल्याणार्थं आमन्त्रण करने योग्य (रुद्रवर्तनी) क्रूर कष्ट को निवृत्त करने वाले तुम दोनों (न) नहीं (तं कुतः-चन-न-अंहः-अश्नोति) उसको कहीं से भी पाप प्राप्त नहीं होता है (नकिः-दुरितं भयम्) न ही दुःखद भय प्राप्त होता है (यं पत्न्या सह) जिसको पत्नी सहित (पुरोरथं कृणुथः) बहुत जाने वाले गृहस्थ रथवाला बनाते हो ।। ११ ।।

भावार्थ—उत्तम अध्यापक और उपदेशक अपने ज्ञान में अखण्डित सर्वत्र बुलाने योग्य—आमन्त्रण करने योग्य कष्ट को निवृत्त करने वाले जिसे ज्ञान देते हैं उसे कोई पाप और भय प्राप्त नहीं होता, और पत्नी के साथ ऊंचे गृहस्थ रथ पर आरूढ होता है ।। ११ ।।

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः ।। १२ ।।

आ । तेन । यातम् । मनसः । जवीयसा । रथम् । यम् । वाम् । ऋभवः । चक्रुः । अश्विना । यस्य । योगे । दुहिता । जायते । दिवः । उभे इति । अहनी इति । सुदिने इति सुऽदिने । विवस्वतः ।। १२ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे अश्विनौ ! अग्निसोम्यपदार्थौ तद्धर्मवन्तौ सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ वा *"अश्विनौ सुशिक्षितो स्त्रीपुरुषो"* [*यजु० ३८ । ९ दयानन्दः*] युवाम् (ते मनसः-जवीयसा-आयातम्) तेन मनसोऽपि वेगवता शीघ्रगामिना रथेन गति-

प्रवाहेण यानविशेषेण वा-अत्र पृथिवीमस्माकं गृहं वाऽऽगच्छतम् (यं रथम्-ऋभवः-वां चक्रुः) यं रथं गतिप्रवाहं यानविशेषं गृहस्थं वा, वैद्युततरङ्गाः "ऋभवः-उरु भान्ति" [निरु० ११ । १५] शिल्पिनो वैज्ञानिकाः *"येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समाशत"* [ऋ० ३ । ६० । २] *"ऋभू रथस्येवाङ्गानि सन्दधत् परुषा परुः* [अथर्व० ४ । १२ । ७] मेधाविनः *"ऋभुः-मेधाविनाम* [निघ० ३ । १५] कुर्वन्ति-आचरन्ति (यस्य योगे) यस्य योजने सति (दिवः-दुहिता जायते) द्युलोकस्य प्रकाशवतः-आकाशस्य दुहिता-उषाः, तदिव वा कमनीया नववधूः प्रादुर्भवति-गृहमागच्छति (विवस्वतः-उभे-अहनी सुदिने) आदित्यस्य *"विवस्वतः-आदित्यस्य"* [निरु० १२ । ११] विशेषेण वासकर्त्तुः स्थविरस्य गृहस्थस्य वा (उभे) द्वे-अहोरात्रौ शोभनजीवनकालसम्पादकौ पुत्रपुत्र्यौ प्राप्येते ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे आग्नेय-सोम्य पदार्थो ! तथा उन जैसे गुणवाले सुशिक्षित स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (तेन मनसः-जवीयसा-आयातम्) मन के तुल्य वेगवाले रथ से-गतिप्रवाह से या यानविशेष से यहाँ पृथिवी पर या हमारे घर में आओ-आते हो (यं रथम्-ऋभवः-वां चक्रुः) जिस रथ गतिप्रवाह या यानविशेष को अथवा गृहस्थ को, वैद्युत अणु तरङ्गें या वैज्ञानिक शिल्पी जन करते हैं (यस्य योगे) जिसके जोड़ने पर (दिवः-दुहिता जायते) द्युलोक-प्रकाशवाले आकाश की दुहिता सदृश उषा या उस जैसी कमनीय नववधू घर को प्राप्त होती है (विवस्वतः -उभे-अहनी सुदिने) सूर्य के या विशेष वास कराने वाले स्थविर गृहस्थ के (उभे) दोनों दिनरात या शोभनजीवनकालसम्पादक पुत्र और पुत्री प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—सुशिक्षित स्त्री पुरुष बड़े वेगवाले रथ यान से इधर उधर जाकर यात्रा करें। नववधू गृहस्थ में आकर उत्तम पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करे। आग्नेय सोम्य पदार्थों के द्वारा शिल्पी वैज्ञानिक लोग यात्रार्थ यानिर्माण करें ॥ १२ ॥

ता वर्तिर्यातं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना ।
वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामुमुञ्चतम् ॥ १३ ॥

ता । वर्तिः । यातम् । जयुषा । वि । पर्वतम । अपिन्वतम् । शयवे । धेनुम् । अश्विना । वृकस्य । चित् । वर्तिकाम् । अन्तः । आस्यात् । युवम् । शचीभिः । ग्रसिताम् । अमुञ्चतम् ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) अश्विनौ-अश्ववन्तौ राष्ट्रवन्तौ राष्ट्रस्य प्रधान-पुरुषौ ! *"अश्वस्य व्याप्तुमर्हस्य राज्यस्य"* [ऋ० १ । १२१ । २ दयानन्दः] (ता जयुषा वर्तिः-पर्वतं वियातम्) तौ युवाम् वर्तिः-मार्गं पर्ववन्तं *'अत्र 'पर्वमरुद्भ्यां तप्" इति वार्तिकेन तप् प्रत्ययो मत्वर्थे'* [यजु० ३३ । ५० दयानन्दः] कठिनं जयशीलेन रथेन गतिप्रवाहेण प्राप्नुतम् (शयवे धेनुम्-अपिन्वतम्) शयनशीलाय राज्ञे वाचं प्रचारयतम् *"धेनुः-वाङ्नाम"* [निघ०

१ । ११] (युवम्) युवाम् (वृकस्य चित्-आस्यात्-वर्तिकाम्) लोकवृत्तिछेत्तुः शासकस्य शत्रोर्वा *"यो वृश्चति छिनत्ति तस्य"* [ऋ० १० । ११७ । १६ दयानन्दः] मुखात्-प्रमुखबन्धनात् संग्रामे प्रवर्तमानां *'वर्तिकां संग्रामे प्रवर्तमानाम्"* [ऋ० १ । ११७ । १६ दयानन्दः] चटकापक्षिणीमिवाल्पसेनां वा *"वर्तिकां चटकापक्षिणीमिव"* [१ । ११६ । १४] (अन्तः--अस्ताम्) अधीनीकृताम् (शचीभिः-अमुञ्चतम्) प्रज्ञायुक्ताभिः क्रियाभिः खलु मोचयतम् ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अश्ववालो–राष्ट्रवालो–राष्ट्र के प्रधान पुरुषो ! (ता जयुषा वर्तिः-पर्वतं वि यातम्) तुम दोनों पर्ववाले कठिन मार्ग को जयशील गतिप्रवाह से प्राप्त करो (शयवे-धेनुम्-अपिन्वतम्) शयनशील राजा के लिए वाणी को प्रचारित करो (युवम्) तुम (वृकस्य चित्-आस्यात्-वर्तिकाम्) छेदनकर्ता शासक या शत्रु के प्रमुख बन्धन से लोकवृत्ति को संग्राम में प्रवर्तमान चटका पक्षिणी की भांति थोड़ी सेना को (अन्तः-अस्ताम्) अधीन की हुई (शचीभिः- अमुञ्चतम्) बुद्धियुक्त क्रियाओं से छुड़ाते हो ॥ १३ ॥

भावार्थ – राष्ट्र के प्रधान पुरुष राजा और मन्त्री को चाहिए कि उनकी प्रजा की वृत्ति या सेना अज्ञानवश शासन बन्धन में आ जाये अथवा शत्रु के बन्धन में आ जाये तो उसे छोड़ने तथा छुड़वाने का प्रयत्न करें ॥ १३ ॥

एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम् ।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः ॥ १४ ॥

एतम् । वाम् । स्तोमम् । अश्विना । अकर्म । अतक्षाम । भृगवः । न । रथम् । नि । अमृक्षाम । योषणाम् । न । मर्ये । नित्यम् । न । सूनुम् । तनयम् । दधानाः । ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) अश्विनौ–हे अश्ववन्तौ राष्ट्रवन्तौ राष्ट्रस्य प्रधान-पुरुषौ ! *"अश्वस्य व्याप्तुमर्हस्य राज्यस्य"* [ऋ० १ । १२१ । २ दयानन्दः] (वाम्) युवाभ्याम् (एतं स्तोमम् अकर्म-अतक्षाम) इमं प्रशंसनीयमादेशमाचरामस्तदनुरूपं स्वात्मानं साधयामः (भृगवः-न रथम्) यथा भृगवो भर्जनवन्तस्तेजस्विनः स्वकीय-रमणस्थानं यानविशेषं वा साधयन्ति तथा (नि-अमृक्षाम मर्ये न योषणाम्) वरनिमित्तं वराय यथा कुमारीं वस्त्रभूषणादिभिः संस्कुर्वन्ति तथा संस्कृतं परिशुद्धं स्तोमं जीवनं प्रसिद्धं कुर्मः (सूनु तनयं नित्यं न दधानाः) पुत्रं पौत्रं नित्यं धारयन्त इव तमपि धारयामः ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे अश्ववाले–राष्ट्रवाले–राष्ट्र के प्रधान पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों के लिए (एतं स्तोमम्-अकर्म-अतक्षाम) इस प्रशंसनीय आदेश का हम आचरण करते हैं तथा उसके अनुसार अपने को साधते हैं (भृगवः-न रथम्) जैसे भर्जनशील–ज्ञान से दीप्तिमान्

तेजस्वीजन अपने रमणस्थान यान को साधते हैं (नि-अमृक्षाम मर्ये न योषणाम्) वर के निमित्त –वर के लिए जैसे वधू को वस्त्र भूषण आदि से संस्कृत करते हैं ऐसे ही संस्कृत अर्थात् परिशुद्ध जीवन को हम प्रसिद्ध करते हैं (सूनुं तनय नित्यं न दधानाः) जैसे पुत्र पौत्र को नित्य धारण करते हुए हम यत्न करते हैं एवं जीवन को साधते हैं ।। १४ ।।

भावार्थ—अश्ववाले–राष्ट्रवाले राष्ट्रशासक प्रधान पुरुष राजा व मन्त्री के लिए प्रशंसनीय उपहार देना और उनके आदेश का पालन करना चाहिए। तेजस्वी विद्वान् विमान आदि यान बनावें और वस्त्र–भूषण आदि से सुभूषित करके कन्याओं के विवाह की व्यवस्था करें। उत्तम पुत्र पौत्र गृहस्थ में प्राप्त करें ।। १४ ।।



चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—काक्षीवती घोषा ।

देवता—अश्विनौ ।

छन्दः—१, ५, १२, १४ विराड् जगती । २, ३, ७, १०, १३ जगती । ४, ९, ११ निचृज्जगती । ६, ८ पादनिचृज्जगती ।

स्वरः—निषादः ।

विषयः—अत्र सूक्ते 'अश्विनौ' शब्देन वृद्धस्त्रीपुरुषौ गृह्येते । राज्यसभया सह सम्पर्कं स्थापयित्वा राष्ट्रे सद्व्यवहार-प्रचारणं नवगृहस्थेषु यथार्थगार्हस्थ्यधर्मशिक्षणञ्च मुख्यो विषयः ।

इस सूक्त में 'अश्विनौ' शब्द से वृद्धस्त्रीपुरुष गृहीत हैं । उनका राज्यसभा से सम्पर्क करके राष्ट्र में सद्व्यवहार का प्रचार करना तथा नवगृहस्थों में यथार्थ गृहस्थ धर्म का शिक्षण करना मुख्य विषय है ।

रथं यान्तं कुह को ह वां नरा प्रति द्युमन्तं सुविताय भूषति ।
प्रातर्यावाणं विभ्वं विशेविशे वस्तोर्वस्तोर्वहमानं धिया शमि ॥ १ ॥

रथम् । यान्तम् । कुह । कः । ह । वाम् । नरा । प्रति । द्युऽमन्तम् । सुविताय । भूषति । प्रातःऽयावानम् । विऽभ्वम् । विशेऽविशे । वस्तोःऽवस्तोः । वहमानम् । धिया । शमि ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नरा) हे गृहस्थानां नेतारावश्विनौ सुशिक्षितौ स्थविरौ गृहस्थाश्रमिणौ स्त्रीपुरुषौ ! (वाम्) युवयोः (द्युमन्तं यान्तं रथम्) दीप्तिमन्तं भूषितं गच्छन्तं रथम् (कुह) कुत्र देशे (प्रातर्यावाणं विभ्वं वहमानम्) गृहस्थस्य प्रथमावसरे प्रापणशीलं विभूतिमन्तं रथम् (विशे विशे वस्तोः-वस्तोः) मनुष्यमात्रस्य निमित्तं प्रतिदिनम् (धिया शमि) बुद्ध्या कर्मवन्तम् (कः-ह) कः खलु (सुविताय प्रति भूषति) सुखविशेषाय प्रशंसति कश्चिद् विरल एव ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(नरा) हे गृहस्थों में नेता सुशिक्षित स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों (द्युमन्तं यान्तं रथम्) दीप्तिमान् और सुभूषित जाते हुए रथ को (कुह) किस देश में (प्रातर्यावाणं विभ्वं वहमानम्) गृहस्थ के प्रथम अवसर पर प्राप्त होने वाले प्रापणशील विभूतिमान् रथ को (विशे विशे वस्तोः-वस्तोः) मनुष्यमात्र के निमित्त प्रतिदिन (धिया शमि) बुद्धि से क्रिया वाले (कः-ह) कौन-कोई ही प्रजाजन (सुविताय प्रतिभूषति) सुखविशेष के लिए प्रशंसित करता है अर्थात् सब कोई प्रशंसा करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सुशिक्षित स्त्रीपुरुष विशेष सुख के लिए अपने गृहस्थ रथ को, जो प्रथम अवस्था में प्राप्त होता है; उसे प्रजामात्र के लिए उत्तमरूप से चलाकर दूसरों के लिए आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए ॥ १ ॥

कुह॑ स्विद्दो॒षा कुह॒ वस्तो॑र॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं कर॑तः॒ कुहो॑षतुः ।
को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वरं॒ मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते॒ स॒धस्थ॒ आ ॥ २ ॥

कुह॑ । स्वि॒त् । दो॒षा । कुह॑ । वस्तोः॑ । अ॒श्विना॑ । कुह॑ । आ॒भि॒ऽपि॒त्वम् । कर॑तः॒ । कुह॑ । ऊ॒ष॒तुः॒ । कः । वा॒म् । श॒यु॒ऽत्रा । वि॒धवा॑ऽइव । दे॒वर॑म् । मर्य॑म् । न । योषा॑ । कृ॒णु॒ते॒ । स॒धऽस्थे॑ । आ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवाम् (कुह दोषा) कस्मिन् स्थाने रात्रौ (कुह वस्तोः) कस्मिन् स्थाने दिने (कुह-अभिपित्वं करतः) कुत्राभिप्राप्तिं भोजनादिकस्य कुरुथः "पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः" (कुह-ऊषतुः) कुह वासं कुरुथः (वां शयुत्रा कः) युवयोः शयनाश्रमः कः (विधवा-इव देवरम्) यथा देवरं द्वितीयवरं नियोगेन प्राप्तं विधवा कृणुते (मर्यं न योषा सधस्थे कृणुते) यथा वरं प्रति वधूः सहस्थानं करोति तथा गृहस्थस्त्रीपुरुषौ युवां वर्तयथ सहस्थानं च कुरुथः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे विवाहित स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (कुह दोषा) किस स्थान में रात्रि को (कुह वस्तोः) और कहाँ दिन में (कुह-अभिपित्वं करतः) कहाँ भोजनादि की अभिप्राप्ति करते हो (कुह-ऊषतुः) कहाँ वास करते हो (वां शयुत्रा कः) तुम दोनों का शयनाश्रम कौनसा है (विधवा-इव देवरम्) जैसे विधवा और देवर का नियोग हो जाने पर व्यवहार होता है (मर्यं न योषा सधस्थं कृणुते) जैसे वर के प्रति वधू सहस्थान बनाती है, ऐसे विवाहित स्त्री पुरुषो ! तुम्हारा व्यवहार हो ॥ २ ॥

भावार्थ—गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को सदा प्रेम के साथ रहना चाहिए । जैसे विवाहकाल में वरवधू स्नेह करते थे, वह स्नेह बना रहे । कदाचित् मृत्यु आदि कारणवश दोनों का वियोग हो जाये तो सन्तान की इच्छा होने पर नियोग से सन्तानलाभ कर सकते हैं ॥ २ ॥

प्रा॒तर्ज॑रेथे जर॒णेव॒ काप॑या॒ वस्तो॑र्वस्तोर्यज॒ता ग॑च्छथो गृ॒हम् ।
कस्य॑ ध्व॒स्रा भ॑वथः॒ कस्य॑ वा नरा राजपु॒त्रेव॒ सव॒नाव॑ गच्छथः ॥ ३ ॥

प्रातः । जरेथे इति । जरणाऽइव । कापया । वस्तोःऽवस्तोः । यजता । गच्छथः । गृहम् । कस्य । ध्वस्रा । भवथः । कस्य । वा । नरा । राजपुत्राऽइव । सवना । अव । गच्छथः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नरा) हे गृहस्थानां नेतारौ स्थविरपुरुषौ युवाम् (प्रातः-जरेथे) गृहस्थाश्रमस्य प्रथमावसरे स्तुतिं प्रशंसां प्राप्नुथः (जरणा-इव कापया) युवां जरया-इव कम्पमानौ 'बाहुलकात् न लोपपूर्वकात् कपि धातोः स्वार्थिकणिजन्तात् कर्त्तरि-'अण्' प्रत्यय औणादिकः' (यजता वस्तोः-वस्तोः-गृहं गच्छथः) यजनीयौ प्रतिदिनं नवविवाहितस्य गृहं गच्छथः (कस्य ध्वस्रा भवथः) कस्यापि दोषस्य ध्वंसकौ नाशकौ भवथः (राजपुत्रा-इव कस्य सवना-अवगच्छथः) राजकुमाराविव कस्यापि नवगृहस्थस्य सन्तानप्रसवोत्सवान् प्राप्नुथः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(नरा) हे गृहस्थों के नेता वृद्ध स्त्री पुरुषो ! (प्रातः-जरेथे) गृहस्थाश्रम के प्रथमावसर पर स्तुति प्रशंसा को प्राप्त करते हो (जरणा-इव कापया) तुम जरा से काँपते हुए जैसे (यजता वस्तोः-वस्तोः-गृहं गच्छथः) यजनीय—सत्करणीय प्रतिदिन नवविवाहित के घर पर जाते हो (कस्य ध्वस्रा भवथः) किसी के भी दोष के ध्वंसक—नाशक होते हो (राजपुत्रा-इव कस्य सवना-अवगच्छथः) राजकुमारों की भांति किसी के भी नवगृहस्थ के उत्सवों में पहुँचते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्थविर गृहस्थ स्त्री पुरुष प्रशंसा के योग्य होते हैं । वे प्रतिदिन सम्मानित हुए, गृहस्थ के घर में राजकुमारों की भांति सम्मान पाये हुए, उनके दोषों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न उत्सवों में सम्मिलित हों ॥ ३ ॥

युवं मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे ।
युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथः शुभस्पती ॥ ४ ॥

युवाम् । मृगाऽइव । वारणा । मृगण्यवः । दोषा । वस्तोः । हविषा । नि । ह्वयामहे । युवम् । होत्राम् । ऋतुऽथा । जुह्वते । नरा । इषम् । जनाय । वहथः । शुभः । पती इति ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवाम्) हे अश्विनौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषौ (मृगा-इव वारणा) गृहस्थेषु गन्तारौ दुःखनिवारकौ—एव, *"इवोऽपि दृश्यते पादपूरणः"* [*निरु० १ । ११*] (मृगण्यवः) युवामन्वेषका वयं नवगृहस्थाः *'मृग अन्वेषणे"* [*चुरादिः*] (दोषा वस्तोः) नक्तं दिवा (हविषा निह्वयामहे) उत्तमग्रहणयोग्येन वस्तुना निमन्त्रयामहे-सत्कुर्मः (युवम्) युवाम् (नरा) नेतारौ (शुभस्पती) कल्याण-स्वामिनौ-कल्याणप्रदौ (जनाय) जनमात्राय (इषं वहथः) इष्टं सुखमन्नादिकं वा प्रापयथः (होत्राम्-ऋतुथा जुह्वते) सर्वे गृहस्था युवाभ्यां समये समये प्रशंसां ददति प्रशंसां कुर्वन्ति ॥ ४ ॥

—भाषान्वयार्थ—(युवाम्) हे स्थविर-वृद्ध स्त्री पुरुषो ! तुम (मृगा-इव वारणा) गृहस्थ में जाने वाले उनके दुःखों के निवारक (मृगण्यवः) तुम दोनों की खोज करने वाले हम नवगृहस्थ (दोषा वस्तोः) दिन-रात (हविषा निह्वयामहे) उत्तम ग्रहण करने योग्य वस्तु के द्वारा तुम्हारा सत्कार करते हैं (युवां नरा) तुम नेता (शुभस्पती) कल्याणस्वामी—कल्याणप्रद (जनाय) जनमात्र के लिए (इषं वहथः) इष्ट सुख अन्न आदि को प्राप्त कराते हो (होत्राम्-ऋतुथा जुह्वते) सारे गृहस्थ तुम दोनों के लिए समय-समय पर सत्कार, उपहार देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृद्ध गृहस्थ जन नवगृहस्थों के घरों में पहुँचें। उन्हें गृहस्थ संचालन के अपने अनुभवों से अवगत करायें। नवगृहस्थ भी वृद्ध स्त्री पुरुषों को समय-समय पर आमन्त्रित करें, उनका उपहार एवं सत्कार से स्वागत करें ॥ ४ ॥

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा ।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते ॥ ५ ॥

युवाम् । ह । घोषा । परि । अश्विना । यती । राज्ञः । ऊचे । दुहिता । पृच्छे । वाम । नरा । भूतम् । मे । अह्ने । उत । भूतम् । अक्तवे । अश्वऽवते । रथिने । शक्तम् । अर्वते ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नरा-अश्विना युवाम्) नेतारौ-गृहस्थानां नेतारौ स्त्रीपुरुषौ ! युवाम् (ह) खलु (राज्ञः-दुहिता घोषा परियती-ऊचे वां पृच्छे) शासकस्य घोषयित्री परिचरन्ती सभा वक्ति तथा युवां पृच्छति प्रार्थयते च अत्रोभयत्र पुरुषव्यत्ययः, उत्तम-पुरुषो लिटि (मे-अह्ने-उत-अक्तवे भूतम्) मह्यं दिनायापि रात्र्यै च राज्यकार्यं कर्त्तुं खलूद्यतौ भवथः (अश्वावते रथिने-अर्वते शक्तं भूतम्) अश्वयुक्ताय रथाय तथा रथ-युक्तायाश्वाय च युवां समर्थौ भवथः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(नरा-अश्विना युवाम्) हे गृहस्थों के नेता स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (ह) अवश्य (राज्ञः-दुहिता घोषा परियती) शासक की घोषणा करने वाली, सब ओर विचरती हुई (ऊचे वां पृच्छे) सभा कहती है तथा तुम्हें पूछती है—प्रार्थना करती है कि (मे-अह्ने-उत-अक्तवे भूतम्) मेरे लिए दिन में तथा रात्रि में राज्यकार्य करने को उद्यत होओ—होते हो (अश्वावते रथिने-अर्वते शक्तं भूतम्) अश्वयुक्त रथ के लिए और रथयुक्त घोड़े के लिए तुम दोनों समर्थ होओ—होते हो, उनके साधने और चलाने में ॥ ५ ॥

भावार्थ—राज्य के वृद्ध तथा माननीय स्त्री पुरुषों का सम्पर्क राज्यसभा से होना चाहिये। वह राज्य की घोषणा राज्य के वृद्ध—मान्य स्त्री पुरुषों में सद्भाव से करती रहे और उसे शिरोधार्य करके यातायात के लिए रथों और घोड़ों की समृद्धि करते रहें ॥ ५ ॥

युवं कवी ष्ठः पर्यश्विना रथं विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः ।
युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा ॥ ६ ॥

युवम् । कवी इति । स्थः । परि । अश्विना । रथम । विशः । न । कुत्सः । जरितुः । नशायथः । युवोः । ह । मक्षा । परि । अश्विना । मधु । आसा । भरत । निःऽकृतम् । न । योषणा ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना युवम्) हे शिक्षितौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषौ ! युवाम् (कवी स्थः) क्रान्तदर्शिनौ ज्ञानिनौ स्थः (विशः-न रथम्) प्रजाः-यथा रमणीयं सुखप्रदं राजानं धारयन्ति (कुत्सः-जरितुः-नशायथः) यः स्तुतिकर्त्ता *"कुत्सः कर्त्ता स्तोमानाम्"* [*निरु० ३ । १२*] तस्य स्तुतिकर्त्तुरभिप्रायं प्राप्नुथः *"नशत्-व्याप्तिकर्मा"* [*निघ० २ । १८*] (युवोः-ह मक्षा) युवां मधुमक्षिका यथा 'विभक्तिव्यत्ययेन प्रथमास्थाने षष्ठी' (आसा) आस्येन मुखेन (मधु परि भरत) मधु परितो गृह्णाति तद्वत् (योषणा न निष्कृतम्) अथवा गृहिणी सुसंस्कृतं गृहं परितो रक्षति तथा भवतम् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना युवम्) हे शिक्षित स्त्रीपुरुषो ! तुम (कवी स्थः) ज्ञानी हो (विशः-न रथम्) प्रजायें जिस प्रकार रमणीक सुखप्रद राजा को धारण करती हैं—उसकी आज्ञा में चलती हैं (कुत्सः-जरितुः-नशायथः) जो स्तुतिकर्त्ता है उस स्तुतिकर्त्ता के अभिप्राय या अभीष्ट को तुम पूरा करते हो (युवोः-ह मक्षा) तुम दोनों मधुमक्षिका जैसे (आसा) मुख से (मधु परि भरत) मधु को चारों ओर से लेती है वैसे ही (योषणा न निष्कृतम्) अथवा गृहिणी जैसे घर को सब ओर से सुसज्जित रखती है वैसे तुम भी रखो ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष शिक्षित होकर सुखद राजा के शासन में रहते हुए और परमात्मा की स्तुति करते हुए गृहस्थ जीवन का सुख संचित करें। सद्गृहिणी रहने के स्थान को सुसंस्कृत रखे ॥ ६ ॥

युवं ह भुज्युं युवमश्विना वशं युवं शिञ्जारमुशनामुपारथुः ।
युवो ररावा परि सख्यमासते युवोरहमवसा सुम्नमा चके ॥ ७ ॥

युवम् । ह । भुज्युम् । युवम् । अश्विना । वशम् । युवम् । शिञ्जारम् । उशनाम् । उप । आरथुः । युवोः । ररावा । परि । सख्यम् । आसते । युवोः । अहम् । अवसा । सुम्नम् । आ । चके ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना युवम्) हे शिक्षित स्त्रीपुरुषौ ! युवाम् (ह) अवश्यम् (भुज्युम्) भोगप्रदं पालकं राजानम् (युवं वशम्) युवां वशे वर्तमानं भृत्यं पालनीयं शूद्रम् (युवं शिञ्जारम्) युवां शान्तवक्तारं ब्राह्मणम् *"शिञ्जे शब्दं करोति"* [*निरु० ९ । १८*] (उशनाम्) धनधान्यं कामयमानं वैश्यम् *"उशना कामयमाना"* [*ऋ० १ । १५१ । १० दयानन्दः*] (उपारथुः) उपगच्छथः-प्राप्नुथः (ररावा युवयोः सख्यं परि-आसते) दानकर्त्ता युवयोः पितृत्वमाश्रयति (अहं युवयोः-अवसा सुम्नम्-आ चके) अहं गृहस्थो युवयोः रक्षणकारकेण प्रवचनेन सुखं वाञ्छामि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना युवम्) हे शिक्षित स्त्रीपुरुषो ! तुम (ह भुज्युम्) अवश्य भोगप्रद पालक राजा को (युवं वशम्) तुम दोनों निजवश में वर्तमान नौकर को (युवं शिञ्जारम्) तुम दोनों शान्तवक्ता ब्राह्मण को (उशनाम्) धनधान्य की कामना करने वाले वैश्य को (उपारथुः) प्राप्त करते हो (ररावा युवयोः सख्यं परि-आसते) दान करने वाला तुम दोनों की मित्रता को प्राप्त होता है या आश्रय करता है (अहं युवयोः-अवसा सुम्नम्-आचके) मैं गृहस्थ तुम दोनों के रक्षण करने वाले प्रवचन से सुख को चाहता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—शिक्षित स्त्रीपुरुषों को यथासाधन चारों वर्णों को सहयोग देना और उनके सहयोग से सुख की कामना करनी चाहिए ॥ ७ ॥

युवं ह कृशं युवमश्विना शयुं युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः ।
युवं सनिभ्यः स्तनयन्तमश्विनाप व्रजमूर्णुथः सप्तास्यम् ॥ ८ ॥

युवम् । ह । कृशम् । युवम् । अश्विना । शयुम् । युवम् । विधन्तम् । विधवाम् । उरुष्यथः । युवम् । सनिभ्यः । स्तनयन्तम् । अश्विना । अप । व्रजम् । ऊर्णुथः । सप्तऽआस्यम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे शिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ ! (युवम्) युवाम् (ह) खलु (कृशम्) क्षीणम् (शयुम) असावधानम् (युवम्) युवाम् (विधन्तम्) श्रान्तम्-सहयोगिनीविहीनम् (विधवाम्) पतिविहीनाम् (उरुष्यथः) रक्षथः "उरुष्यती रक्षाकर्मा" *[निरु० ५ । २३]* (युवम्) युवाम् (सनिभ्यः स्तनयन्तं सप्तास्यं व्रजम्-अप-ऊर्णुथः) ज्ञानसम्भक्तृभ्यः श्रोतृभ्यः सप्तास्यं सप्तछन्दांसि मन्त्राः- आस्ये मुखे यस्य तं शब्दायमानमुपदेष्टारं व्रजनशीलमतिथि नावरोधयथः, गमनाय समर्थयथः ॥ ८ ॥

भाषान्वायार्थ —(अश्विना) हे शिक्षित स्त्री पुरुषो ! (युवम्) तुम दोनों (ह) अवश्य (कृशम्) क्षीण को (शयुम्) असावधान को (युवम्) तुम (विधन्तम्) विधुर—पत्नी-रहित को (विधवाम्) पतिहीन स्त्री को (उरुष्यथः) रक्षित करते हो (युवम्) तुम दोनों (सनिभ्यः) ज्ञान का सेवन करने वाले श्रोताओं के लिए (सप्तास्यं स्तनयन्तम्) सप्तछन्दों—मन्त्रों से युक्त मुख वाले उपदेष्टा—(व्रजम्) व्रजनशील अतिथि को (अप-ऊर्णुथः) न रोको—जाने दो ॥ ८ ॥

भावार्थ— सुशिक्षित स्त्रीपुरुषों को चाहिए कि वे क्षीण, असावधान, विधुर और विधवाओं की रक्षा करें तथा वेदवक्ता अतिथियों के लिए यत्र तत्र जाने की सुविधा दें ॥ ८ ।

जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारुहन्वीरुधो दंसना अनु ।
आस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवोऽस्मा अह्ने भवति तत्पतित्वनम् ॥ ९ ॥

जनिष्ट । योषा । पतयत् । कनीनकः । वि । च । अरुहन् । वीरुधः । दंसनाः । अनु । आ । अस्मै । रीयन्ते । निवनाऽइव । सिन्धवः । अस्मै । अह्ने । भवति । तत् । पतिऽत्वनम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(योषा जनिष्ट) यदा समागमयोग्या ब्रह्मचारिणी जायते, तदा (कनीनकः-पतयत्) कन्याकामो वरोऽपि कन्यां प्राप्नोति तत्स्वामित्वं करोति वा (च) तथा (वीरुधः-अरुहन्) यथा-ओषधयो विरोहन्ति वर्धन्ते तथा (दंसनाः-अनु) कर्माणि-अनुसृत्य "दंसनाः कर्माणि" [ऋ० ५ । ८७ । ८] (अस्मै) अस्मै वराय (सिन्धवः-निवना-इव रीयन्ते) सुखसम्पत्तयः सिन्धवो नद्यो यथा निम्नं स्थानं प्रति प्राप्नुवन्ति (अस्मै-अह्वे तत् पतित्वनं भवति) अस्मै-अहन्तव्याय तद् गार्हस्थ्यं पतित्वं भवति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(योषा जनिष्ट) जब समागमयोग्य ब्रह्मचारिणी हो जाती है, तव (कनीनकः-पतयत्) कन्या की कामना करने वाला वर भी प्राप्त हो जाता है उसका स्वामित्व करता है (च) तथा (वीरुधः- अरुहन्) जैसे औषधियां उगती और वढ़ती हैं वैसे (दंसनाः-अनु) कर्मों के अनुसार (अस्मै) इस वर के लिए (सिन्धवः-निवना-इव रीयन्ते) सुख सम्पत्तियां ऐसे प्राप्त होती हैं जैसे नदियां निम्न स्थान को प्राप्त होती हैं (अस्मै-अह्वे तत् पतित्वनं भवति) इस अहन्तव्य वर के लिए गृहस्थ सम्बन्धी स्वामित्व प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ— कन्या और कुमार ब्रह्मचर्य के पालन से जव एक दूसरे की कामना करने और समागम के योग्य हों तो उनका विवाह होना चाहिए, बिना कामना और योग्यता के नहीं। तभी पवित्र आचरण आदि द्वारा गृहस्थ में सुख सम्पत्तियां, नदियां जैसे निम्न स्थान में प्राप्त होती हैं वैसे प्राप्त होती हैं ॥ ९ ॥

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ १० ॥

जीवम् । रुदन्ति । वि । मयन्ते । अध्वरे । दीर्घाम् । अनु । प्रऽसितिम् । दीधियुः । नरः । वामम् । पितृभ्यः । ये । इदम् । सम्ऽएरिरे । मयः । पतिऽभ्यः । जनयः । परिऽस्वजे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जीवं रुदन्ति) पुत्रं तत्प्राप्त्यर्थं गृहस्था रुदन्ति-आर्द्रभावेन ब्रुवन्ति (अध्वरे विमयन्ते) विवाहप्रकरणके विवाहयज्ञे विशिष्टं प्रतिज्ञारूपं शब्दं कुर्वन्ति (दीर्घां प्रसितिम्-अनु नरः-दीधियुः) दीर्घकालिकां स्नेहबन्धनीमनुसृत्य नरा मनुष्याः प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति व्यवहरन्ति (पितृभ्यः-वामम्) स्वपितृभ्यो वननीयम् (ये-इदं मयः समेरिरे) ये खल्विदं सुखं सम्पादयन्ति, अतः (जनयः पतिभ्यः परिष्वजे) जायाः स्वपतिभ्यः परिष्वङ्गं कुर्वन्ति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(जीवं रुदन्ति) पुत्र की प्राप्ति के लिए गृहस्थजन आर्द्रभाव से प्रार्थना करते हैं (अध्वरे विमयन्ते) विवाहयज्ञ में परस्पर विशिष्ट प्रतिज्ञारूप वचन वोलते हैं (दीर्घां प्रसितिम्-अनु नरः-दीधियुः) दीर्घकाल वाली स्नेहबन्धनी को मनुष्य प्रकाशित करते हैं—प्रदर्शित करते हैं-व्यवहार में लाते हैं (पितृभ्यः-वामम्) अपने पिता आदि बड़े लोगों के लिए श्रेष्ठ वस्तु

को समर्पित करते हैं (ये-इदं मयः समेरिरे) जो इस गार्हस्थ्यसुख को सम्पादित करते हैं (जनयः पतिभ्यः परिष्वजे) पत्नियां पतियों के लिए परिष्वङ्ग अर्थात् समागम करती हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम को स्वीकार करते हैं उन्हें आजीवन परस्पर स्नेह बन्धन की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और उसे निभाना चाहिए। सन्तानप्राप्ति की आकांक्षा गृहस्थी जनों को रखनी चाहिए ॥ १० ॥

न तस्य॑ विद्म तदु॒ षु प्र वो॑चत युवा॑ ह॒ यद्यु॒वत्याः॑ क्षेति॒ योनि॑षु ।
प्रि॒योस्त्रि॑यस्य वृष॒भस्य॑ रे॒तिनो॑ गृ॒हं ग॑मेमाश्वि॒ना तदु॑श्मसि ॥ ११ ॥

न । तस्य॑ । वि॒द्म । तत् । ऊँ इति॑ । सु । प्र । वो॒च॒त । युवा॑ । ह॒ । यत् । यु॒वत्याः॑ क्षेति॑ । योनि॑षु । प्रि॒यऽउ॑स्रियस्य । वृ॒ष॒भस्य॑ । रे॒तिनः॑ । गृ॒हम् । ग॒मे॒म । अ॒श्वि॒ना । तत् । उ॒श्म॒सि ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे शिक्षितौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषौ ! (तस्य तत्-उ सु न विद्म) वयं नवगृहस्थाः तस्य गृहस्थाश्रमस्य तदेव सुफलं न जानीमः (प्रवोचत) इदमुपदिशत, 'बहुवचनमादरार्थम्' (युवा ह यत्-युवत्याः-योनिषु क्षेति) यत्-युवा युवत्या गृहेषु गृहसम्बन्धिनीषु निवसति (प्रियोस्त्रियस्य) प्रिया-उस्त्रिया-उत्साहिनी युवतिर्वधूर्यस्य तस्य वरस्य (रेतिनः) रेतस्विनो वीर्यवतः (वृषभस्य) वीर्यं सेक्तुं समर्थस्य (गृहं गमेम) गृहं-गच्छावः, अत्र तयोः स्वीकारोक्तिः स्त्रीपुरुषयोः "अस्मदो द्वयोश्च" [अष्टा० १।२।५९] द्विवचने बहुवचनम् (उश्मसि) वयं कामयामहे ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे शिक्षित वृद्ध स्त्रीपुरुषो (तस्य तत्-उ सु न विद्म) हम नवगृहस्थ गृहस्थाश्रम के उस सुफल को नहीं जानते हैं (प्रवोचत) तुम हमें उसका उपदेश दो (युवा ह यत्-युवत्याः-योनिषु क्षेति) जो युवा पति युवति पत्नी के साथ घरों में निवास करता है (प्रियोस्त्रियस्य) प्रिया—प्यारी उत्साही पत्नी वाले (रेतिनः) रेतस्वी—वीर्य वाले (वृषभस्य) वीर्य सेचक वर के (गृहं गमेम) घर को प्राप्त हों—जावें (उश्मसि) हम ये कामना करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वृद्ध स्त्री पुरुषों को नवविवाहित, गृहस्थ धर्म के संचालन में समर्थ के घर में गृहस्थ आश्रम को सुचारु रूप में चलाने के लिए तथा उनके यहाँ सुसन्तान हो यह कामना रखते हुए जाना चाहिए ॥ ११ ॥

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अयंसत ।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्याँ॑ अशीमहि ॥१२॥

आ । वाम् । अगन् । सुऽमतिः । वाजिनीवसू इति वाजिनीऽवसू । नि । अश्विना । हृत्ऽसु । कामाः । अयंसत । अभूतम् । गोपा । मिथुना । शुभः । पती इति । प्रियाः । अर्यम्णः । दुर्यान् । अशीमहि ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाजिनीवसू) हे विज्ञानक्रियाया वासयितारौ *"यो विज्ञानक्रियां वासयतस्तौ"* [*ऋ० ५ । ७८ । ३ दयानन्दः*] (गोपा) रक्षकौ (मिथुना) परस्परं सङ्गन्तारौ ! (अश्विना) सुशिक्षितौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषौ ! (शुभस्पती-अभूतम्) सुखस्य स्वामिनौ स्थः (वाम्) युवयोः (सुमतिः-आगन्) शुभमतिः सुशिक्षा समन्तात् प्राप्नोति (हृत्सुकामाः-अयंसत) तथा-अस्माकं हृदयेषु कामा नियम्यन्ताम्) उच्छृंखला न भवन्तु (प्रियाः) वयं प्रिया वध्वः (अर्यम्णः) स्वामिनः पत्युः (दुर्यान्-अशीमहि) गृहान् *"दुर्या गृहनाम"* [*निघ० ३ । ४*] वाञ्छामः ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाजिनीवसू) हे विज्ञानक्रिया को प्रसारित करने वाले (गोपा) रक्षक (मिथुना) परस्पर सङ्गत–सहयोगी (अश्विना) सुशिक्षित वृद्ध स्त्रीपुरुषो ! (शुभस्पती-अभूतम्) तुम दोनों सुख के स्वामी हो (वाम्) तुम दोनों की (सुमतिः-आगन्) सुशिक्षा भलीभांति हमें प्राप्त हो (हृत्सुकामाः-अयंसत) उससे हमारे हृदयों में कामनायें नियन्त्रित रहें–उच्छृंखल न हों (प्रियाः) हम प्यारी वधुएँ (अर्यम्णः) स्वामी-पति के (दुर्यान्-अशीमहि) घरों को चाहती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—गृहपत्नियों के अन्दर पुरातन सुशिक्षित स्त्री पुरुषों के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। वे उनसे गृहविज्ञान की शिक्षा प्राप्त करें जिससे कि अपनी गार्हस्थ्य कामनायें नियन्त्रित रहें ॥ १२ ॥

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे ।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥१३॥

ता । मन्दसाना । मनुषः । दुरोणे । आ । धत्तम् । रयिम् । सहऽवीरम् । वचस्यवे । कृतम् । तीर्थम् । सुऽप्रपानम् । शुभः । पती इति । स्थाणुम् । पथेऽस्थाम् । अप । दुःऽमतिम् । हतम् ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ता मन्दसाना शुभस्पती) हे तौ मोदयमानौ *"मदि स्तुतिमोद····"* [*भ्वादिः*] 'ततः-असानच् प्रत्ययः-औणादिकः' कल्याणस्य पती कल्याणप्रदौ (मनुषः-दुरोणे) मनुष्यस्य गृहे *"दुरोण गृहनाम"* [*निघ० ३ । ४*] (वचस्यवे) आत्मनो वचः-उपदेशवचनमिच्छवे *"वचस्युवम्-आत्मनो वचनमिच्छन्तम्"* [*ऋ० २ । १६ । ७ दयानन्दः*] (सहवीरं रयिम्-आधत्तम्) पुत्रसहितं धनपोषं सम्पादयतम् *"रयिं देहि पोषं*

देहि" [काठ० १ । ७] (सुप्रपाणं तीर्थं कृतम्) सुन्दरसुखप्रपेव पापतारकं गृहस्थाश्रमं कुरुतम् (पथेष्ठां दुर्मतिं स्थाणुम्-अपहतम्) गृहस्थमार्गे प्राप्तां दुर्वासनां जडतां च दूरीकुरुतम् ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ - (ता मन्दसाना शुभस्पती) हे वे तुम हर्ष देने वाले, कल्याण के स्वामी—कल्याणप्रद ! (मनुषः-दुरोणे) मनुष्य के घर में (वचस्यवे) अपने लिए उपदेश के इच्छुक जन के लिए (सहवीरं रयिम्-आधत्तम्) पुत्रसहित धन पोष सम्पादन करो (सुप्रपाणं तीर्थं कृतम्) तथा सुन्दर सुख का पान कराने वाले पापतारक गृहस्थाश्रम को बनाओ (पथेष्ठां दुर्मतिं स्थाणुम्-अपहतम्) गृहाश्रम के मार्ग में प्राप्त दुर्वासना और जडता को दूर करो ॥ १३ ॥

भावार्थ—सुशिक्षित वृद्ध स्त्रीपुरुष नवगृहस्थों को सुख पहुंचाने वाले उनके घर में उपदेश के इच्छुक जन के लिए सन्तति धन की प्राप्ति जिस प्रकार हो सके और गृहस्थाश्रम पापरहित सुख पहुंचाने वाला बन सके ऐसे उपाय करें। और गृहस्थ के मार्ग में आने वाली दुर्वासना और जड़ता को नष्ट करने का यत्न करें ॥ १३ ॥

क्व॑ स्वि॒द॒द्य क॑त॒मास्व॒श्विना॑ वि॒क्षु द॒स्रा मा॑दयेते शुभस्पती॑ ।
क ई॒ं नि ये॑मे कत॒मस्य॑ जग्मतु॒र्विप्र॑स्य वा॒ यज॑मानस्य वा गृ॒हम् ॥१४॥

क्व । स्वि॒त् । अ॒द्य । क॒त॒मासु॑ । अ॒श्विना॑ । वि॒क्षु । द॒स्रा । मा॒द॒ये॒ते॒ इति॑ । शु॒भः । पती॒ इति॑ । कः । ई॒म् । नि । ये॒मे॒ । क॒त॒मस्य॑ । ज॒ग्म॒तुः॒ । विप्र॑स्य । वा । यज॑मानस्य । वा । गृ॒हम् ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः —(दस्रा शुभस्पती-अश्विना) हे दर्शनीयौ "दस् दर्शने" [चुरादिः] औणादिको रक् प्रत्ययः, कल्याणस्वामिनौ कल्याणप्रदौ सुशिक्षितौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषौ ! युवाम् (अद्य क्वस्वित्) अद्य कुत्र हि स्थः (कतमासु विक्षु मादयेते) कतमासु मनुष्यप्रजासु हर्षमाप्नुथः (कः-ईम्-नियेमे) कः खलु गृहस्थ एवं स्वस्थानेऽवरोधयति यद्वा नियमेन रक्षति (कतमस्य विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहं जग्मतुः) कतमस्य विदुषो मेधाविनो वा यजमानस्य सत्कर्तुं गृहं गच्छथः–जग्मतुः मध्यमस्य स्थाने प्रथमा व्यत्ययेन एतौ–अश्विनौ स्थविरौ स्त्रीपुरुषाविति विचारणा स्वगृहे निमन्त्रणायाकांक्षा कार्या ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(दस्रा शुभस्पती-अश्विना) हे दर्शनीय कल्याणप्रद सुशिक्षित स्त्रीपुरुषो ! (अद्य क्वस्वित्) इस समय कहाँ रहते हो (कतमासु विक्षु मादयेते) आप किन मनुष्य प्रजाओं में हर्ष प्राप्त करते हो (कः-ईम् नियेमे) कौन गृहस्थ अपने स्थान पर रोकता है या नियम से रखता है। (कतमस्य विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहं जग्मतुः) किसी विद्वान् मेधावी के या यजमान के सत्कारार्थ घर को जाते हो, इस प्रकार सभी स्त्रीपुरुषों को अपने घर निमन्त्रित करने की आकांक्षा करनी चाहिए ॥ १४ ॥

भावार्थ—कल्याण का उपदेश देने वाले सुशिक्षित वृद्ध स्त्रीपुरुषों के पास जाकर पूछना चाहिए कि आप किस घर में उपदेश देते हो, कहाँ तुम सत्कार और हर्ष को प्राप्त करते हो, कौन गृहस्थ आदर से अपने घर रखता है ? इस प्रकार उनसे पूछकर वैसे ही शिष्टाचारपूर्वक बर्ताव कर अपने घर बुलाकर लाभ उठायें ॥ १४ ॥



एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—घौषेयः सुहस्त्यः ।

देवता—अश्विनौ ।

छन्दः—१ पादनिचृज्जगती । २ निचृज्जगती । ३ विराड् जगती ।

स्वरः—निषादः ।

विषयः— अस्मिन् सूक्ते 'अश्विनौ' शब्देन प्राणापानौ गृह्येते । प्रातरेव तयोः प्राणायामविधिना चालनं स्वास्थ्यकरं तथा मनस एकाग्रत्वञ्च भवतीति प्रदर्शितम् ।

इस सूक्त में 'अश्विनौ' शब्द से प्राण-अपान गृहीत हैं । उनका प्रातः प्राणायाम रूप से चलाना स्वास्थ्यवर्धक तथा मन को एकाग्र करने वाला है, यह वर्णन किया है ।

समानमु त्यं पुरुहूतमुक्थ्यं१ रथं त्रिचक्रं सवना गनिग्मतम् ।
परिज्मानं विदथ्यं सुवृक्तिभिर्वयं व्युष्टा उषसो हवामहे ॥ १ ॥

समानम् । ऊँ इति । त्यम् । पुरुऽहूतम् । उक्थ्यम् । रथम् । त्रिऽचक्रम् । सवना । गनिग्मतम् । परिऽज्मानम् । विदथ्यम् । सुवृक्तिऽभिः । वयम् । विऽउष्टौ । उषसः । हवामहे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वयम्-उषसः-व्युष्टौ) वयं भासमानायां प्रकाशवेलायां प्रातः (समानं त्यम्-उ) समानधर्माणं तमेव (पुरुहूतम्) अतीव ह्वातव्यं ग्राह्यम् (उक्थ्यम् (प्रशंसनीयम् (त्रिचक्रम्) त्रीणि चक्राणि-स्तुतिप्रार्थनोपासनारूपाणि चक्रवदावर्तनीयानि तृप्तिकराणि वा यस्य तम् "चक तृप्तियोगे" [भ्वादिः] (परिज्मानम्) परितो ज्मा पृथिवी प्रथिता भूमिर्यस्य तथाभूतम् (विदथ्यम्) वेदनीयमनु-भवनीयम् (रथम्) रमणीयं मोक्षम् (सुवृक्तिभिः) सुप्रवृत्तिभिर्निर्दोष-क्रियाभिः (सवना-गनिग्मतम्) अवसरे प्रापणीयम् (हवामहे) निमन्त्रयामहे-धारयेम ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वयम्-उषसः-व्युष्टौ) हम प्रकाशमान वेला में प्रातःकाल (समानं त्यम्-उ) समान धर्म वाले उस ही (पुरुहूतम्) अतीव ह्वातव्य-ग्रहण करने योग्य (उक्थ्यम्)

प्रशंसनीय (त्रिचक्रम्) तीन चक्र–स्तुति प्रार्थना उपासना, चक्रवत् वर्तमान तथा तृप्तिकर जिसके हैं ऐसे (परिज्मानम्) सर्वतः प्रथितभूमि जिसकी है ऐसे (विदथ्यम्) अनुभव करने योग्य (रथम्) रमणीय मोक्ष को (सुवृक्तिभिः) सुप्रवृत्तियों–निर्दोष क्रियाओं से (सवना गनिग्मतम्) अवसर पर प्राप्त करने योग्य को (हवामहे) निमन्त्रित करें–धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातःकाल उषा वेला में स्तुति प्रार्थना उपासना तृप्तिसाधन अङ्गों वाले अनुभव करने योग्य मोक्ष को निर्दोष भावनाओं–क्रियाओं से जीवन में धारण करना चाहिए ॥ १ ॥

प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः प्रातर्यावाणं मधुवाहनं रथम् ।
विशो येन गच्छथो यज्वरीर्नरा कीरेश्चिद्यज्ञं होतृमन्तमश्विना ॥ २ ॥

प्रातःऽयुजम । नासत्या । अधि । तिष्ठथः । प्रातःऽयावानम् । मधुऽवाहनम् । रथम् । विशः । येन । गच्छथः । यज्वरीः । नरा । कीरेः । चित् । यज्ञम् । होतृऽमन्तम् । अश्विना ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नासत्या) हे नासायां भवौ ! (नरा) शरीरस्य नेतारौ ! (अश्विना) आशुगन्तारौ प्राणापानौ ! *"अश्विनौ द्व्यक्षरेण प्राणापानौ"* [*तै० १। ११। १*] *"अश्विनौ प्राणापानौ"* [*यजु० २१। ६० दयानन्दः*] (प्रातर्यावाणम्) प्रातर्वच्छुभगतिमन्तम् (मधुवाहनम्) माधुर्यप्रापिकरम् (रथम्) रमणीयं मोक्षम् (अधितिष्ठथः) अधितिष्ठापयथः 'अन्तर्गतो णिजर्थः' (येन यज्वरीः-विशः-गच्छथः) यमनु–यं मोक्षमभिलक्ष्य युवामध्यात्मयाजिनीः प्रजाः-मनुष्यप्रजाः प्राप्नुथः (कीरेः-होतृमन्तं यज्ञं चित्) स्तोतुः *"कीरिः स्तोतृनाम"* [*निघ० ३। १६*] आत्मवन्तम् *"आत्मा वै होता"* [*कौ० ४। ६*] अध्यात्मयज्ञं चित् प्राप्नुथः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(नासत्या) हे नासिका में होने वाले (नरा) शरीर के नेता (अश्विना) शीघ्रगामी प्राण–अपानो ! (प्रातर्यावाणम्) प्रातःकाल के समान शुभगतिवाले (मधुवाहनम्) माधुर्य प्राप्त कराने वाले (रथम्) रमणीय मोक्ष को (अधितिष्ठथः) स्वानुकूल कराते हो (येन यज्वरीः-विशः-गच्छथः) जिसे लक्ष्य करके अध्यात्मयाजी मनुष्यप्रजाओं को तुम प्राप्त होते हो (कीरेः-होतृमन्तं यज्ञं चित्) स्तुतिकर्त्ता आत्मावाले अध्यात्मयज्ञ को प्राप्त होते हो ॥ २ ॥

भावार्थ—नासिका के प्राण और अपान–श्वास और प्रश्वास, प्राणायाम के ढंग से प्रातः चलाने से मधुरता प्राप्त कराने वाले मोक्ष की ओर ले जाते हैं। अध्यात्मयज्ञ करने वाली प्रजाओं को यथार्थ रूप से प्राप्त होते हैं–कार्य करते हैं। स्तुतिकर्ता आत्मा के अध्यात्मयज्ञ को भली भांति चलाते हैं ॥ २ ॥

अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यमग्निधं वा धृतदक्षं दमूनसम् ।
विप्रस्य वा यत्सवनानि गच्छथोऽत आ यातं मधुपेयमश्विना ॥ ३ ॥

अ॒ध्व॒र्युम् । वा॒ । मधु॑ऽपाणिम् । सु॒ऽह॒स्त्य॑म् । अ॒ग्नि॒धम् । वा॒ । धृ॒तऽद॑क्षम् । दमू॑नसम् । विप्र॑स्य । वा॒ । यत् । सव॑नानि । गच्छ॑थः । अतः॑ । आ । या॒त॒म् । म॒धु॒ऽपेय॑म् । अ॒श्वि॒ना॒ ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) हे प्राणापानौ ! (मधुपाणिम्-अध्वर्युं वा) मधुरस्तुतिकर्त्तृं मनस् तद्वन्तमात्मानम्) "मनो वा अध्वर्युः" [श० १ । ५ । १ । २१] (सुहस्त्यम्) सुहस्तक्रियायुक्तं दानादिकार्यशीलम् (अग्निधम्) ज्ञानप्रकाशकपरमात्मनः धारकम् (धृतदक्षम्) धृतं बलं येन तमात्मबलवन्तम् (दमूनसम्) दान्तमनसम् *"दमूना दान्तमनाः"* [४ । ५] यद्वोपासकम् (विप्रस्य सवनानि वा गच्छथः) मेधाविनः-मेधया कार्यविधातुर्ज्ञानकार्याणि वा प्राप्नुथः (अतः) अतएव (मधुपेयम्-आयातम्) आनन्दः पेयो यस्मिन् तं मोक्षं समन्ताद् गमयतम् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे प्राणापान ! (मधुपाणिम्-अध्वर्युं वा) मधुर स्तुतिकर्ता मन को (सुहस्त्यम्) अच्छी हस्तक्रिया वाले–दानादिशील–(अग्निधम्) ज्ञानप्रकाशक परमात्मा को धारण करने वाले–(धृतदक्षम्) बलयुक्त–(दमूनसम्) दान्तमन वाले को अथवा उपासक को (विप्रस्य सवनानि वा गच्छथः) या मेधावी के ज्ञानकार्य को प्राप्त होओ (अतः) अत एव (मधुपेयम्-आयातम्) मधु-आनन्द पेय है जिसमें ऐसे मोक्ष की ओर ले चलो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मन से परमात्मा का मनन, हाथों से यथाशक्ति दान, संयत मन होकर करता है उस ऐसे मेधावी पुरुष के प्राण अपान जीवन के सच्चे सुख और मोक्ष को प्राप्त करने के निमित्त बनते हैं ॥ ३ ॥



द्वाचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्ण आङ्गिरसः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ३, ७-९, ११ त्रिष्टुप् । २, ५ निचृत् त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ६, १० विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन प्रधानतया राजा वर्ण्यते । राष्ट्रे प्रजाजनानां संरक्षणं विरोधिशत्रूणां नाशनं परासनं तथा प्रजाभिर्विविधव्यापारकरणं चोपदिश्यते ।

इस सूक्त में मुख्यतया 'इन्द्र' शब्द से राजा वर्णित है । उसके द्वारा प्रजाओं की रक्षा, शत्रुओं का नाश, राष्ट्र से पृथक् करना, प्रजा द्वारा विविध व्यापार करना आदि का उपदेश है ॥

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥ १ ॥

अस्ताऽइव । सु । प्रऽतरम् । लायम् । अस्यन् । भूषन्ऽइव । प्र । भर । स्तोमम् । अस्मै । वाचा । विप्राः । तरत । वाचम् । अर्यः । नि । रमय । जरितरिति । सोमे । इन्द्रम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जरितः) हे स्तुतिकर्त्तः ! उपासक ! त्वम् (अस्ता-इव) बाणप्रक्षेप्ता यथा (लायं सु-अस्यन्) श्लेषयोग्यं बाणम् *"लीङ् श्लेषणे"* [*दिवा०*] 'ततो घञ् कर्मणि' सुष्ठु प्रक्षिपन् वर्तसे तथा (प्रतरम्) प्रकृष्टतरं बाणमात्मानं परमात्मनि क्षिपन् वर्तस्व '*प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्*" [मुण्ड० २ । २ । ४] (अस्मै स्तोमं भूषन् इव प्रभर) अस्मै इन्द्राय परमात्मने स्तुतिसमूहं समर्प्य यथा कमपि प्रसादयितुं भूषयति तद्वत् भूषयन् (विप्राः) हे विद्वांसः ! यूयम् (अर्यः-वाचम्) अरेः शत्रोः 'छान्दसं रूपम्' *"अर्यः शत्रवः"* [ऋ० ३ । ३४ । १८

दयानन्दः] वाचं वज्रं वा "वज्र एव वाक्" [ऐ० २ । २१] (वाचा तरत) स्वकीयेनोपदेशरूपेण वाचा वज्रेण वा शमयत (सोमे-इन्द्रं निरमय) स्वोपासनारसे परमात्मानं निरमय साक्षात् कुरु ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(जरितः) हे स्तुतिकर्ता ! उपासक ! तू (अस्ता-इव) बाण फेंकने वाले के समान (लायं सु अस्यन्) बाण को भली प्रकार फेंकता हुआ स्थिर रहता है तथा (प्रतरम्) उत्तम बाण स्वात्मा को परमात्मा में फेंकता हुआ वर्तमान रह—बना रह (अस्मै स्तोमं भूषन्-इव प्रभर) इस परमात्मा के लिए स्तुति समूह समर्पित कर, जैसे किसी को प्रसन्न करने के लिए उसे भूषित करते हैं–सजाते हैं (विप्राः) हे विद्वान् लोगो ! तुम (अर्यः–वाचम्) शत्रु के वज्र अथवा वाणी को (वाचा तरत) अपने वज्र अथवा उपदेशरूप वाणी से शमन करो (सोमे-इन्द्रं निरमय) अपने उपासना रस में परमात्मा का साक्षात्कार कर ॥ १ ॥

भावार्थ—स्तुति करने वाले उपासक अपने आत्मा को बाण बनाकर बाण फेंकने वाले की भांति परमात्मा में समर्पित करें, तथा विरोधी जन के वाक्प्रहार को अपने उपदेश भरे वचन से शान्त करे ॥ १ ॥

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम् ॥ २ ॥

दोहेन । गाम् । उप । शिक्ष । सखायम । प्र । बोधय । जरितः । जारम् । इन्द्रम् । कोशम् । न । पूर्णम् । वसुना । निऽऋष्टम् । आ । च्यवय । मघऽदेयाय । शूरम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जरितः) हे स्तोतः ! त्वम् (जारम्) स्तोतव्यम् "जरतिअर्चतिकर्मा" [निघ० ३ । १४] (सखायम्-इन्द्रम्) सखिभूतं परमात्मानम् (दोहेन गाम्-उपशिक्ष) दोहेन दुग्धनिमित्तेन दुग्धं निमित्तीकृत्य यथा गामुपशिक्षति किमपि भोज्यं वस्तु दत्त्वा तृप्यति तथा (प्रबोधय) स्तुत्वा स्वाभिमुखं कुरु (शूरं मघदेयाय) प्रापणशीलम् "शूरः शवतेर्गतिकर्मणः" [निरु० ३ । १३] अध्यात्मधनदानाय (कोशं न पूर्णं वसुना) जलेन पूर्णं मेघमिव "कोशो मेघनाम" [निघ० १ । १०] वासकेनाध्यात्मधनेन पूर्णं परमात्मानम् (न्यृष्टम्-आ च्यावय) स्वनिकटीभूतं समन्तात् प्रापय ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(जरितः) हे स्तोता ! तू (जारम्) स्तुति करने योग्य (सखायम्-इन्द्रम्) मित्ररूप परमात्मा को (दोहेन गाम्-उपशिक्ष) दूध को निमित्त बनाकर जैसे गौ को भोज्य वस्तु प्रदान करते हैं ऐसे (प्रबोधय) स्तुति करके अपनी ओर आकर्षित कर (शूरं मघदेयाय) प्राप्त होने के स्वभाव वाले परमात्मा को अध्यात्मधन देने के लिए (कोशं न पूर्णं वसुना) जल से पूर्ण मेघ की भांति अध्यात्मधन से पूर्ण परमात्मा को (न्यृष्टम्-आ च्यावय) स्वनिकट प्राप्त करो ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा आनन्दघन से पूर्ण है और मित्र के समान है, स्तुत्य है। उसकी स्तुति करने से वह अपने आध्यात्मिक आनन्दघन से उपासक को तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

किम् । अङ्ग । त्वा । मघऽवन् । भोजम् । आहुः । शिशीहि । मा । शिशयम् । त्वा । शृणोमि । अप्नस्वती । मम । धीः । अस्तु । शक्र । वसुऽविदम् । भगम् । इन्द्र । आ । भर । नः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अङ्ग मघवन् शक्र-इन्द्र) हे अध्यात्मधनवन् सर्वपालने समर्थ परमात्मन् ! (किं त्वा भोजम्-आहुः) अहो ! त्वां भोजयितारं भोगदातारं विप्राः कथयन्ति (मा शिशीहि) मां प्रति-मह्यं तदध्यात्मधनं भोगं वा देहि *"शिशीहि-शिशीति-दानकर्मा"* [*निरु. ५ । २३*] (त्वा शिशयं शृणोमि) अहमपि त्वां दातारं शृणोमि (मम धीः-अप्नस्वती-अस्तु) मम बुद्धिः कर्मवती कर्मपरायणा भवतु *"अप्नः कर्मनाम"* [*निघ० २ । १*] (नः) अस्मभ्यम् (वसुविदं भगम्-आभर) समस्तधनानां प्रापयितारमध्यात्मैश्वर्यमाभरितं कुरु-देहि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अङ्ग मघवन् शक्र-इन्द्र) हे अध्यात्मधन वाले सबको पालने में समर्थ परमात्मन् ! (किं त्वा भोजम्-आहुः) अहो ! तुझे मेधावीजन भोगदाता कहते हैं (मा शिशीहि) मेरे प्रति–मेरे लिए अपना अध्यात्मधन–भोग दे (त्वा शिशयं शृणोमि) मैं तुझे देने वाला सुनता हूं (मम धीः-अप्नस्वती अस्तु) मेरी बुद्धि कर्मवाली–क्रियाशील हो (नः) हमारे लिए (वसुविदं भगम्-आ भर) समस्त धनों को प्राप्त कराने वाले अध्यात्म ऐश्वर्य को आभरित कर–मेरे अन्दर भर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सबका पालन करने में समर्थ है, वह अपनी कृपा से सबको यथायोग्य भोग देता है। विशेषतः उपासक को आध्यात्मिक ऐश्वर्य भी प्रदान करता है। उसकी उपासना करनी चाहिए ॥ ३ ॥

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥

त्वाम् । जनाः । ममऽसत्येषु । इन्द्र । सम्ऽतस्थानाः । वि । ह्वयन्ते । सम्ऽईके । अत्र । युजम् । कृणुते । यः । हविष्मान् । न । असुन्वता । सख्यम् । वष्टि । शूरः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वाम्) त्वां खलु

(सन्तस्थानाः-जनाः) साम्मुख्ये स्थिता विरोधिनो जनाः (ममसत्येषु) मम सत्यं येषु कर्त्तव्यं स्यादिति प्रसङ्गेषु, अपि वा (समीके) सम्यक् प्राप्ते संग्रामे *"समीके संग्रामनाम"* *[निघ० २ । १७]* (विह्वयन्ते) विशिष्टतयाऽऽह्वयन्ति (अत्र) अस्मिन् तत्र (शूरः) सः प्रापणशीलः परमात्मा (युजं कृणुते) सहयोगिनं सखायं करोति (यः-हविष्मान्) आत्मसमर्पणं कृतवान् स्तुतिं कृत्वा (असुन्वता सख्यं न वष्टि) उपासनारसमसम्पादयता सह स मित्रत्वं नेच्छति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! (त्वाम्) तुझे (सन्तस्थानाः-जनाः) स्पर्धा में स्थित विरोधी जन (ममसत्येषु) मेरा सत्य कर्त्तव्य है जिन प्रसङ्गों में, उनमें, तथा (समीके) संग्राम में (विह्वयन्ते) विशेषरूप से आह्वान करते हैं (अत्र) इसमें—वहाँ (शूरः) वह प्राप्त होने वाला परमात्मा (युजं कृणुते) मुझे सहयोगी सखा बनाता है (यः-हविष्मान्) आत्मसमर्पण कर चुका या करता है ऐसे स्तुति करने वाले को परमात्मा मित्र बनाता है, और (असुन्वता सख्यं न वष्टि) जो उपासना रस का सम्पादन नहीं करता उसके साथ परमात्मा मित्रता नहीं चाहता ॥ ४ ॥

भावार्थ—मानव के सामने आने वाले विरोधी जन संघर्ष लेने के लिए आह्वान करें। संग्राम में भले ही धकेलना चाहें परन्तु उपासक—परमात्मा की स्तुति करने वाले को घबराने की आवश्यकता नहीं। उसकी सहायता परमात्मा करता है ॥ ४ ॥

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रूँन्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम् ॥ ५ ॥

धनम् । न । स्पन्द्रम् । बहुलम् । यः । अस्मै । तीव्रान् । सोमान् । आऽसुनोति । प्रयस्वान् । तस्मै । शत्रून् । सुऽतुकान् । प्रातः । अह्नः । नि । सुऽअष्ट्रान् । युवति । हन्ति । वृत्रम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः प्रयस्वान्) यो योगाभ्यासादिप्रयत्नवान् (अस्मै) परमात्मने (स्पन्द्रं बहुलं धनं न) स्पन्दनशीलं धैर्येण सुखदं बहुधनमिव (तीव्रान् सोमान्-आसुनोति) तीव्रसंवेगेन कृतान् सम्पादितानुपासनारसान् समन्तात् सम्पादयति (तस्मै) उपासकाय (सुतुकान् स्वष्ट्रान् शत्रून्) बहुहिंसकान् सुव्याप्तान् शातयितॄन् कामादीन् (अह्नः प्रातः) दिनस्य पूर्वभागे (नियुवति) निवारयति (वृत्रं हन्ति) आवरकमज्ञानं नाशयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः प्रयस्वान्) जो योगाभ्यास आदि प्रयत्न करने वाला है, वह (अस्मै) इस परमात्मा के लिए (स्पन्द्रं बहुलं धनं न) स्पन्दनशील अर्थात् धैर्य से सुख देने वाले धन की भांति (तीव्रान् सोमान्-आसुनोति) तीव्र संवेग से किये हुए उपासनारसों को सम्पादित करता है (तस्मै) उस उपासक के लिए (सुतुकान् स्वष्ट्रान् शत्रून्) बहुहिंसक

सुव्याप्त कामादि शत्रुओं को (अह्नः प्रातः) दिन के प्रथम अवसर पर (नि युवति) निवारित करता है–हटाता है (वृत्रं हन्ति) आवरक अज्ञान को नष्ट करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—योगाभ्यास करने वाले कामादि शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ होते हैं तथा बुद्धि के आवरक अज्ञान को हटाकर ज्ञानप्रकाश को उन्नत करके परमात्मा के आनन्द को भी प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे ।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥ ६ ॥

यस्मिन् । वयम् । दधिम । शंसम् । इन्द्रे । यः । शिश्राय । मघऽवा । कामम् । अस्मे इति । आरात् । चित् । सन् । भयताम् । अस्य । शत्रुः । नि । अस्मै । द्युम्ना । जन्या । नमन्ताम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—इन्द्रशब्देन राजा कथ्यते (वयं यस्मिन्-इन्द्रे शंसं दधिम) वयं खलु यस्मिन् राजनि–यद्राजनिमित्तं प्रशंसनं धारयामः (यः-मघवा-अस्मे कामं शिश्राय) यो हि धनवान् राजाऽस्मासु कमनीयं वस्तु श्रयति ददातीत्यर्थः, तथा (अस्य शत्रुः) अस्य विरोधी (आरात्-चित् सन्) दूरादपि सन् (भयताम्) बिभेति (अस्मै) अस्मै राज्ञे (जन्या द्युम्ना निनमन्ताम्) जायन्ते तद्देशे यानि तानि-अन्नानि भोग्यानि वस्तूनि *"द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा"* [निरु० ५ । ५] समर्पितानि भवन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(वयं यस्मिन्-इन्द्रे) हम जिस राजा में–जिस राजा के निमित्त (शंसं दधिम) प्रशंसा धारण करते हैं (यः-मघवा) जो धनवान् राजा (अस्मे कामं शिश्राय) हमारे में–हमारे निमित्त कमनीय वस्तु को देता है, तथा (यस्य शत्रुः) जिसका विरोधी (आरात्-चित् सन् भयताम्) दूर से ही भय करता है (अस्मै) इस राजा के लिए (जन्या द्युम्ना निनमन्ताम्) उस देश में उत्पन्न होने वाली अन्न आदि भोगवस्तुएँ समर्पित हो जाती हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह राजा प्रशंसा के योग्य है जो अपनी प्रजा के लिए आवश्यक निर्वाह की वस्तुओं का प्रबन्ध करता है तथा विरोधी शत्रु आदि जिससे दूर से ही भय खाते हैं वह राष्ट्र की भोगसम्पत्ति का अधिकारी है ॥ ६ ॥

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥

आरात् । शत्रुम् । अप । बाधस्व । दूरम् । उग्रः । यः । शम्बः । पुरुऽहूत । तेन । अस्मे इति । धेहि । यवऽमत् । गोऽमत् । इन्द्र । कृधि । धियम् । जरित्रे । वाजऽरत्नाम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरुहूत-इन्द्र) हे बहुप्रकारेण ह्वातव्य राजन् ! (यः) यस्ते (उग्रः शम्बः) तीक्ष्णो वज्रः *"शम्ब इति वज्रनाम, शमयतेर्वा शातयतेर्वा"* [निरु० ५ । २४] (तेन शत्रुम्-आरात्-अपबाधस्व) तेन वज्रेण समीपात्-आक्रमणसन्निकटात्-पीडय दूरमपगमय (अस्मे) अस्मभ्यम् (यवमत्) अन्नयुक्तं भोजनम् (गोमत्) दुग्धयुक्तं भोज्यं वस्तु (कृधि) सम्पादय तथा (जरित्रे) पुरोहिताय (वाजरत्नां धियम्) अमृतान्नरत्नयुक्तां कर्मप्रवृत्तिं कुरु *"धीः कर्मनाम"* [निघ० २ । १] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरुहूत-इन्द्र) हे बहु प्रकार से आमन्त्रण करने योग्य राजन् ! (यः) जो तेरा (उग्रः शम्बः) तीक्ष्ण वज्र है (तेन शत्रुम्) उससे शत्रुको (आरात्-अपबाधस्व) समीप से आक्रमण की सन्निकटता से पीड़ित कर या दूर भगा (अस्मे) हमारे लिए (यवमत्) अन्न वाला भोजन (गोमत्) दुग्ध वाला भोजन (कृधि) कर-दे (जरित्रे) पुरोहित के लिए (वाजरत्नां धियम्) अमृतान्नरत्न से युक्त कर्मप्रवृत्ति को कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिए अपने तीक्ष्ण शस्त्र से शत्रु को पीड़ित करे या दूर करे और प्रजाजनों के लिए दुग्ध आदि मिश्रित भोजन मिलता रहे ऐसी व्यवस्था करे ॥ ७ ॥

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् ।
नाह दामानं मघवा नि यंसन्नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

प्र । यम् । अन्तः । वृषऽसवासः । अग्मन् । तीव्राः । सोमाः । बहुलऽअन्तासः । इन्द्रम् । न । अह । दामानम् । मघऽवा । नि । यंसत् । नि । सुन्वते । वहति । भूरि । वामम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृषसवासः) वृषवद्भिर्बलवद्भिः श्रेष्ठैः सवाः-निष्पादनीयाः (बहुलान्तासः) बहुलं विविधं सुखमन्ते येषां ते तथाभूताः (तीव्राः सोमाः) प्रकृष्टराज्यैश्वर्यपदार्थाः (यम्-इन्द्रम् अन्तः प्र-अग्मन्) यस्य राज्ञोऽन्तः राष्ट्रान्तरे राष्ट्रमध्ये प्राप्ता भवन्ति (मघवा) तादृशो धनवान् राजा (दामानम्) उपहारदातारम् (न-अह नियंसत्) नैव नियन्त्रयति न खलु बध्नाति कार्यतोऽवरोधयति, अपितु (सुन्वते भूरिवामं निवहति) राष्ट्रैश्वर्यसम्पादयित्रे बहुविधं वननीयं पदं समर्पयति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(वृषसवासः) वृषभ के समान बलवानों श्रेष्ठों द्वारा निष्पादनीय (बहुलान्तासः) बहुत विविध सुख अन्त में जिनके हो ऐसे (तीव्राः सोमाः) प्रकृष्ट राज्यैश्वर्य पदार्थ (यम्-इन्द्रम्-अन्तः प्र-अग्मन्) जिस राजा के राष्ट्र में प्राप्त होते हैं (मघवा) उस ऐसे धनवान् राजा (दामानम्) उपहार दाता को (न-अह नि यंसत्) नियन्त्रित नहीं करता है-नहीं रोकता है, अपितु (सुन्वते भूरिवामं निवहति) राष्ट्रैश्वर्य को सम्पादित करने वाले के लिए बहुत प्रकार के वननीय पद को समर्पित करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राष्ट्र में विविध ऐश्वर्यों को अपने विविध कला व्यापार से बढ़ाने वाले जो

श्रेष्ठ महानुभाव हैं उन पर राजा किसी प्रकार के प्रतिवन्ध न लगाये अपितु उनको राष्ट्र के ऊंचे पद व सहायता दे ॥ ८ ॥

उत प्रहामतिदीव्या जयाति कृतं यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले ।
यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान् ॥ ९ ॥

उत । प्रऽहाम । अतिऽदीव्य । जयाति । कृतम् । यत् । श्वऽघ्नी । विऽचिनोति । काले । यः । देवऽकामः । न । धना । रुणद्धि । सम् । इत् । तम । राया । सृजति । स्वधाऽवान् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उत) अपि च (अतिदीव्य प्रहां जयाति) अतिजेतुमिच्छां कृत्वा *"दिवु क्रीडा विजिगीषा ..."* [*दिवा०*] प्रबलहन्तारं शत्रुं जयति (यत् कृतं श्वघ्नी विचिनोति काले) यथा कृतं प्रहारकृतं प्रहृतं शुनो हन्ता वृकः *"श्वघ्नी शुनो हन्ति"* [*ऋ० २ । १२ । ४ दयानन्दः*] काले स्वाधीनीकरोति तथा स्वाधीनीकरोति, परन्तु (यः-देवकामः) यस्तु देवं मोदं शान्तभावं कामयते तस्य (धना न रुणद्धि) धनानि नावरोधयति न गृह्णाति, अपि तु (स्वधावान् तम्-इत् राया सं सृजति) धनान्नवान् राजा तं तु धनेन संयोजयति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(उत) तथा (अतिदीव्य प्रहां जयाति) जीतने की इच्छा करके प्रबल घातक शत्रु को जीतता है (यत् कृतं श्वघ्नी विचिनोति काले) जैसे प्रहार किये हुए को भेड़िया समय पर स्वाधीन करता है वैसे ही शत्रु को विजेता स्वाधीन करता है, परन्तु (यः-देवकामः) जो तो देव अर्थात् मोद या शान्त भाव को चाहता है उसके (धना न रुणद्धि) धनों को नहीं रोकता है–नहीं ग्रहण करता है, अपितु (स्वधावान् तम्-इत् राया सं सृजति) धनान्न वाला राजा उसको तो धन से संयुक्त करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिए कि जो विनाशकारी विरोधी शत्रु हो उसे विविध साधनों से स्वाधीन करे और जो शान्तिप्रिय हो उसे धनादि की सहायता दे ॥ ९ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वाम् । वयम् । राजऽभिः । प्रथमा । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरुहूत) हे बहुह्वातव्य राजन्! (गोभिः-दुरेवाम्-अमतिम्) वेदवाग्भिर्दुःखप्रापिकामज्ञानबुद्धिम् (यवेन विश्वां क्षुधम्) अन्नेन सर्वां क्षुधम् (तरेम)

पारयेम (राजभिः प्रथमा धनानि) भवादृशैः शासकैः प्रमुखानि धनानि (अस्माकेन वृजनेन जयेम) तथा स्वकीयेनास्मदीयेन बलेन जयेम–जयं प्राप्नुयाम ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत आह्वान करने योग्य राजन् (गोभिः-दुरेवाम्-अमतिम्) वेदवाणियों से दुःख प्राप्त कराने वाली अज्ञान बुद्धि को (यवेन विश्वां क्षुधम्) अन्न से समस्त भूख को (तरेम) पार करें–निवृत्त करें (राजभिः प्रथमा धनानि) आप जैसे राजाओं से प्रमुख धनों को प्राप्त करें (अस्माकेन वृजनेन जयेम) तथा हम अपने बल से विजय प्राप्त करें ॥ १० ॥

भावार्थ—राष्ट्र की प्रजायें शासकों की सहायता से धनसम्पत्ति का उपार्जन करें। अपने बल से अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करें। विविध भोजनों से क्षुधा की निवृत्ति करें एवं नाना-विद्याओं के अध्ययन से अज्ञानबुद्धि को दूर करें ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् । अधरात् । अघऽयोः । इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) वेदवाण्याः स्वामी परमात्मा (अघायोः) पापकामिनोऽनिष्टेच्छुकात् (पश्चात्-उत-उत्तरस्मात्-अधरात्-नः परिपातु) पश्चिमतोऽप्युत्तरतो दक्षिणतश्चास्मान् रक्षतु (इन्द्रः) स ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पुरस्तात्-उत मध्यतः) पूर्वदिक्तो मध्यतश्च रक्षतु (सखा नः सखिभ्यः-वरिवः कृणोतु) स एव सखिभूतः परमात्माऽस्मभ्यं सखिभूतेभ्यो धनप्रदानं करोतु *"वरिवः-धननाम"* [निघ० २ । १०] ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी परमात्मा (अघायोः) हमारे प्रति पाप–अनिष्ट को चाहने वाले से (नः पश्चात्-उत-उत्तरस्मात्) हमें पश्चिम की ओर से, उत्तर की ओर से (अधरात् परिपातु) और नीचे की ओर से बचावे (इन्द्रः) वही ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पुरस्तात्-उत मध्यतः) पूर्वदिशा की ओर से और मध्यदिशा की ओर से भी रक्षा करे (सखा नः सखिभ्यः-वरिवः कृणोतु) मित्ररूप परमात्मा हम मित्रों के लिए धन प्रदान करे ॥ ११ ॥

भावार्थ—किसी भी दिशा में वर्तमान अनिष्टकारी से परमात्मा रक्षा करता है, जब कि हम सखा समान गुण आचरण को कर लेते हैं ॥ ११ ॥



त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्ण आङ्गिरसः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ९ निचृज्जगती । २ आर्ची स्वराड् जगती । ३, ६ जगती । ४, ५, ७, ८ विराड् जगती । १० विराट् त्रिष्टुप् । ११ त्रिष्टुप् ।

स्वरः—१-९ निषादः । १०, ११ धैवतः।

विषयः—सूक्तेऽस्मिन् 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा गृह्यते । स स्वोपासकानां स्तुतिभिः प्रीयमाणः सर्वविधबाधां दूरीकरोति बहूनि सुखानि तेभ्यः प्रयच्छति तदनन्तरं साक्षाद् भवतीति प्रदर्श्यते ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमात्मा लक्षित है। वह अपने उपासकों की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उनकी बाधाओं को दूर करता है, सुखों को देता है, उनके अन्दर साक्षात् होता है यह वर्णित है ॥

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ १ ॥

अच्छ । मे । इन्द्रम् । मतयः । स्वःऽविदः । सध्रीचीः । विश्वाः । उशतीः । अनूषत । परि । स्वजन्ते । जनयः । यथा । पतिम् । मर्यम् । न । शुन्ध्युम् । मघऽवानम् । ऊतये ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् (मे) मम (स्वर्विदः सध्रीचीः-विश्वाः-मतयः) सुखं मोक्षं प्रापयित्र्यः "स्वर्वित् सुखप्रापिकाः" [ऋ० १ । ९६ । ४ दयानन्दः] परस्परं सहयोगिन्यः सङ्गताः सर्वाः खलु वाचः "वाग्वै मतिः [श० ८ । १ । २ । ७] (उशतीः-अच्छ-अनूषत) त्वां कामयमानाः सम्यक् स्तुवन्ति "अनूषत-अस्तोषत" [निरु० ४ । १९] "णु स्तुतौ" [अदादि०] ताभिः (यथा जनयः-मर्यं पतिं न) भार्या यथा

मनुष्यं पतिमिव-एवम् (शुन्ध्युं मघवानं परिष्वजन्ते-ऊतये) पवित्रकर्तारमध्यात्मधन-वन्तं त्वामात्मतृप्तये स्तोतारः परिष्वजन्ते-आलिङ्गन्ति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (मे) मेरी (स्वर्विदः सध्रीचीः-विश्वाः-मतयः) मोक्ष प्राप्त कराने वाली परस्पर सहयोगी सङ्गत हुई सब वाणियां (उशतीः-अच्छ-अनूषत) तुझे चाहती हुईं स्तुति करती हैं उनके द्वारा (यथा जनयः-मर्यं पतिं न) जैसे भार्यायें—पत्नियां अपने पुरुष पति को एवं (शुन्ध्युं मघवानम्-उतये परिष्वजन्ते) पवित्रकर्त्ता तुझ अध्यात्म धन वाले को आत्मतृप्ति के लिए स्तोताजन आलिङ्गित करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य की वाणियां जो परमात्मा की स्तुति करने वाली हैं, परमात्मा का समागम कराने—मोक्ष प्राप्त कराने की परम साधन हैं ॥ १ ॥

न घा॑ त्वद्रिगप॑ वेति मे॒ मन॒स्त्वे इत्कामं॑ पुरुहूत शिश्रय ।
राजे॑व दस्म॒ नि ष॒दोऽधि॑ ब॒र्हिष्य॒स्मिन्त्सु सोमे॑ऽव॒पान॑मस्तु ते ॥ २ ॥

न । घ॒ । त्व॒द्रिक् । अप॑ । वे॒ति॒ । मे॒ । मन॑ः । त्वे इति॑ । इत । काम॑म् । पु॒रु॒ऽहू॒त॒ । शि॒श्र॒य॒ । राजा॑ऽइव । द॒स्म॒ । नि । स॒दः॒ । अधि॑ । ब॒र्हिषि॑ अ॒स्मिन् । सु । सोमे॑ । अ॒व॒ऽपान॑म् । अ॒स्तु॒ । ते॒ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुरुहूत) हे बहुप्रकारेण ह्वातव्य राजन् ! (मे मनः-त्वद्रिक्-न घ-अपवेति) मम मनः खलु त्वयि सम्पृक्तम् *"रिच सम्पर्चने"* [*चुरादि०*] 'ततः क्विप्' न हि पृथग्भवति (त्वे-इत् कामं शिश्रय) त्वयि हि सर्वमभिलाषं स्थापयामि (दस्म) हे दर्शनीय परमात्मन् ! (राजा-इव बर्हिषि निषदः) राजा यथा तथाभूतस्त्वं हृदयावकाशे-हृदयासने निषीद (अस्मिन् सोमे सु-अवपानम्-अस्तु) अस्मिन्-उपासनारसे तव शोभनं तुच्छपानं भवतु ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से बुलाने योग्य राजन् ! (मे मनः-त्वद्रिक्-न घ-अपवेति) मेरा मन तेरे में लगकर अलग नहीं होता है (त्वे-इत कामं शिश्रय) तेरे अन्दर ही कामना को आश्रय देता हूँ (दस्म) हे दर्शनीय परमात्मन् ! (राजा-इव बर्हिषि निषदः) राजा की भांति तू मेरे हृदयावकाश—हृदयासन पर विराजमान हो (अस्मिन् सोमे सु-अवपानम्-अस्तु) इस उपासना रस में तेरा सुन्दर तुच्छपान हो ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा में मन को ऐसा लगाना चाहिए कि उसी के अन्दर सब इच्छायें पूरी हो सकें । मन ठीक ठीक परमात्मा में लग जाने पर इधर उधर भटकना छोड़ देता है । उपासक परमात्मा को अपने हृदय में तब साक्षात् कर लेता है ॥ २ ॥

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

विषुऽवृत् । इन्द्रः । अमतेः । उत । क्षुधः । सः । इत् । रायः । मघऽवा । वस्वः । ईशते । तस्य । इत् । इमे । प्रवणे । सप्त । सिन्धवः । वयः । वर्धन्ति । वृषभस्य । शुष्मिणः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-इन्द्रः) स परमात्मा (विषुवृत्) विषमान् खल्वसरलान् वृणोति-आच्छादयति निवारयति वा सः *"विषुरूपे विषमरूपे"* [निरु० १२ । २८] (अमतेः-उत क्षुधः) अज्ञानस्यापि चाशनायाश्च निवारकः (मघवा-इत्-रायः-वस्वः-ईशते) स ऐश्वर्यवान् परमात्मा हि बाह्यधनस्य तथा वासयितुरात्मबलस्याध्यात्मैश्वर्यस्य चेष्टे स्वामित्वं करोति (वृषभस्य शुष्मिणः-तस्य-इत् प्रवणे) तस्यैव सुखवर्षयितुर्बलवतः परमात्मनो निम्ने शासने (इमे सप्त सिन्धवः) एते सर्पणशीलाः प्राणा नद्यो वा '*प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः*" [श० ८ । ५ । २ । ४] (वयः-वर्धन्ति) जीवनमन्नं वा वर्धयन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-इन्द्रः) वह परमात्मा (विषुवृत्) विषम अर्थात् कुटिलों को दबाता है या हटा देता है वह (अमतेः-उत क्षुधः) अज्ञान और भोगेच्छा को निवृत्त करता है (मघवा-इत्-रायः-वस्वः-ईशते) वह ऐश्वर्यवान् परमात्मा बाह्यधन का और बसानेवाले आन्तरिक धन—आत्मबल का स्वामी है (तस्य वृषभस्य शुष्मिणः-इत्-प्रवणे) उस सुखवर्षक बलवान् परमात्मा के शासन में (इमे सप्त सिन्धवः) ये सर्पणशील प्राण या नदियां (वयः-वर्धन्ति) जीवन और अन्न को बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा कुटिलों पर कृपा नहीं करता । उनको किसी न किसी ढंग से दण्ड देता है । अज्ञान और बहुत भोगेच्छा को भी निवृत्त करता है । समस्त बाहरी और आन्तरिकधन का स्वामी है उसी के शासन में नदियां प्रवाहित होती हुई अन्न को बढाती हैं और शरीर में प्राण प्रगति करते हुए जीवन को बढाते हैं ॥ ३ ॥

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥ ४ ॥

वयः । न । वृक्षम् । सुऽपलाशम् । आ । असदन् । सोमासः । इन्द्रम् । मन्दिनः । चमूऽसदः । प्र । एषाम् । अनीकम् । शवसा । दविद्युतत् । विदत् । स्वः । मनवे । ज्योतिः । आर्यम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वयः-न सुपलाशं वृक्षम्-आसदन्) पक्षिणो यथा शोभनपर्णयुक्तं वृक्षमासीदन्ति, तद्वत् (चमूषदः सोमासः-मन्दिनः-इन्द्रम्) चमन्ति खल्वध्यात्मरसं यस्मिन् समाधौ तत्र स्थिताः शान्ताः स्तोतारः *"मदि स्तुतिमोद…"* [*भ्वादि०*] उपासकाः परमात्मानमासीदन्ति (एषाम्-अनीकं शवसा प्रदविद्युतत्) एषां मुखमात्मबलेन तेजसा प्रकाशयति (मनवे-आर्यं स्वः-ज्योतिः-विदत्) मननशीलाय श्रेष्ठं सुखप्रदं ज्ञानज्योतिः प्राप्नोति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वयः-न सुपलाशं वृक्षम्-आसदन्) पक्षी जैसे सुन्दर–हरे भरे पत्तों वाले वृक्ष पर बैठते हैं उसी भांति (चमूषदः सोमासः-मन्दिनः-इन्द्रम्) अध्यात्मरस का आस्वादन कराने वाली समाधि में स्थित शान्त, स्तुति करने वाले उपासक परमात्मा को आश्रित करते हैं (एषाम्-अनीकं शवसा प्रदविद्युतत्) इनका मुख आत्मबल अर्थात् आत्मतेज से प्रकाशित हो जाता है (मनवे-आर्यं स्वः-ज्योतिः-विदत्) मननशील के लिए श्रेष्ठ और सुखद ज्योति प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे पक्षी हरे भरे सुन्दरपत्तों वाले वृक्ष पर बैठ कर आनन्द लेते हैं ऐसे स्तुति करने वाले उपासक समाधिस्थ, शान्त हो परमात्मा के आश्रय में आनन्द लेते हैं। उनका मुख आत्मतेज से दीप्त हो जाता है–प्रभावशाली बन जाता है और उन्हें श्रेष्ठ सुखद ज्ञानज्योति प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः ॥ ५ ॥

कृतम् । न । श्वऽघ्नी । वि । चिनोति । देवने । सम्ऽवर्गम् । यत् । मघऽवा । सूर्यम् । जयत् । न । तत् । ते । अन्यः । अनु । वीर्यम् । शकत् । न । पुराणः । मघऽवन् । न । उत । नूतनः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(श्वघ्नी कृतं न विचिनोति) श्वहन्ता वृकः कृतं प्रहृतं यथा स्वाधीनं करोति (यत्-मघवा देवने संवर्गं सूर्यं जयत्) यत्–यथा तथा "ऐश्वर्यवान् परमात्मा प्रकाशस्य वर्जयितारं प्रसारयितारं प्रकाशकरणे सूर्यमभिभवति–स्वाधीनी करोति *"जि-अभिभवे"* [*भ्वादि०*] (तत्-ते-अन्यः-अनुवीर्यं शकत्) यथा तव वीर्यमनुकर्त्तुं शक्नोति (मघवन्) हे परमात्मन् ! (न पुराणः-न-उत नूतनः) स एषः सूर्यो न पूर्वकालीनो नावरकालीनः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(श्वघ्नी कृतं न विचिनोति) भेड़िया अपने प्रहार किये हुए–मारे हुए प्राणी को जैसे स्वाधीन करता है (यत् मघवा देवने संवर्गं सूर्यं जयत्) वैसे ही ऐश्वर्यवान् परमात्मा प्रकाश करने के लिए प्रकाश को छोड़ने वाले–बिखेरने वाले सूर्य को स्वाधीन करता है (तत्-ते-अन्यः अनुवीर्यं शकत्) तदनन्तर ही वह तुझसे भिन्न सूर्य तेरे अनुकूल वीर्य तेज करने में

समर्थ होता है (मघवन्) हे परमात्मन् ! (न पुराणः-न-उत नूतनः) वह सूर्य न तेरे जैसा पूर्ववर्त्ती है और न अन्य वस्तुओं जैसा नवीन है—पश्चाद्वर्त्ती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— परमात्मा के अधीन बड़े बड़े शक्तिशाली सूर्य जैसे पिण्ड हैं जो सूर्य ब्रह्माण्ड में प्रकाश फेंकता है वह परमात्मा के अधीन होकर ही फेंकता है। सूर्य शाश्वतिक नहीं है, न अन्य जड़ वस्तुओं जैसा अर्वाचीन है, क्योंकि उसके प्रकाश से ही वनस्पति आदि जीवन धारण करती हैं ॥ ५ ॥

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।

यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

विशम्ऽविशम् । मघऽवा । परि । अशायत । जनानाम् । धेनाः । अवऽचाकशत् । वृषा । यस्य । अह । शक्रः । सवनेषु । रण्यति । सः । तीव्रैः । सोमैः । सहते । पृतन्यतः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (विशं विशं पर्यशायत) मनुष्यादिप्राणिमात्रं परिप्राप्नोति (वृषा जनानां धेनाः-अवचाकशत्) कामानां वर्षयिता मनुष्याणां स्तुतिवाचः *"धेना वाङ्नाम"* [*निघ०* १ । ११] पश्यति जानाति (यस्य-अह सवनेषु) यस्य स्तोतुर्हि स्तुतिप्रसङ्गेषु (तीव्रैः सोमैः शक्रः-रण्यति) प्रवृद्धैरुपासनाप्रकारैः शक्तिमान् परमात्मा रमते (पृतन्यतः-सहते) तस्य स्तोतुः संग्रामं कुर्वतः कामादीन् शत्रून् सहते-अभिभवति-नाशयति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (विशं विशं पर्यशायत) मनुष्यादि प्राणिमात्र को प्राप्त है (वृषा जनानां धेनाः-अवचाकशत्) कामनाओं का बरसाने वाला मनुष्यों के स्तुतिवचनों को जानता है (यस्य-अह सवनेषु) जिस स्तोता के स्तुतिप्रसङ्गों में (तीव्रैः सोमैः शक्रः-रण्यति) जिसके प्रवृद्ध उपासनाप्रकारों में शक्तिमान् परमात्मा रमण करता है—प्रसन्न होता है (पृतन्यतः-सहते) उस स्तोता के शत्रुओं को—कामादि शत्रुओं को दबाता है—नष्ट करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा प्रत्येक मनुष्यादि प्राणी का अन्तःसाक्षी है, वह स्तुतिकर्ता मनुष्य की स्तुतिवाणी को जानता है। वह समस्त स्तुतिप्रसङ्गों में रमण करता है। स्तुति करने वाले के कामादि शत्रुओं को नष्ट करता है ॥ ६ ॥

आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् ।

वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

आपः । न । सिन्धुम् । अभि । यत् । सम्ऽअक्षरन् । सोमासः । इन्द्रम् । कुल्याःऽइव । ह्रदम् । वर्धन्ति । विप्राः । महः । अस्य । सदने । यवम् । न । वृष्टिः । दिव्येन । दानुना ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः-न सिन्धुं यत्) जलप्रवाहा नद्यः समुद्रं प्रति यथा (कुल्याः-इव ह्रदम्) नदीकुले भवाः कृत्रिमा अल्पनद्यः *"अल्पनद्यः-निर्मिता जलगमनमार्गाः"* [*ऋ० ५ । ८३ । ८ दयानन्दः*] यथा महान्तं जलाशयम् (समभ्यक्षरन्) अभिलक्ष्य संवहन्ति, तद्वत् (सोमासः-इन्द्रम्) उपासकानामुपासनाप्रवाहाः परमात्मानमभिलक्ष्य संवहन्ति सम्प्राप्ता भवन्ति, नान्यथा भवन्ति (सदने-अस्य महः) सदने हृदये 'अस्य'-इमम् 'विभक्तिव्यत्ययेन' महान्तं परमात्मानमभिलक्ष्य (विप्राः-वर्धन्ति) उपासक-विद्वांसो वर्धयन्ति-प्रवृद्धं कुर्वन्ति (वृष्टिः-दिव्येन दानुना यवं न) यद्वा यथा वर्षणशीलो मेघः *"वृषु सेचने"* [*भ्वादिः*] 'ततः क्तिच् कर्त्तरि तथा कृत्वाऽन्तोदात्तः' आकाशभवेन जलप्रदानेनान्नं वर्धयन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः-न सिन्धुं यत्) जल प्रवाह नदियां जैसे समुद्र के प्रति (कुल्याः-इव ह्रदम्) या जैसे नहरें बड़े जलाशय या बड़ी नदियों के प्रति (समभ्यक्षरन्) अभिलक्षित होकर बहती हैं, ऐसे ही (सोमासः-इन्द्रम्) उपासकों के उपासनारसप्रवाह परमात्मा के प्रति बहते हैं (सदने-अस्य महः) हृदय में इस महान् परमात्मा को (विप्राः-वर्धन्ति) उपासक बढ़ाते हैं—साक्षात् करते हैं (वृष्टिः-दिव्येन दानुना यवं न) या जैसे वर्षणशील मेघ जल प्रदान से खेती के अन्न को बढ़ाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—नदियां जैसे समुद्र को और नहरें जैसे बड़े जलाशय अथवा नदी को प्राप्त होती हैं ऐसे ही उपासकों के उपासनाप्रवाह परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और वे उपासना प्रवाह उपासकों के अन्दर परमात्मा को प्रवृद्ध करते हैं जैसे मेघजल से खेती के अन्न प्रवृद्ध होते हैं ॥ ७ ॥

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः ।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

वृषा । न । क्रुद्धः । पतयत् । रजःऽसु । आ । यः । अर्यऽपत्नीः । अकृणोत् । इमाः । अपः । सः । सुन्वते । मघऽवा । जीरऽदानवे । अविन्दत् । ज्योतिः । मनवे । हविष्मते ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(क्रुद्धः-वृषा न रजःसु पतयत्) बलेन संवृद्धो वृषभो यथा धूलिषु मृत्कणेषु पतति, तद्वत् (यः-इमाः-अपः-अर्यपत्नीः-आकृणोत्) य आप्तान् मनुष्यान् प्रापण-शीलानुपासकान् *"मनुष्या वा आपश्चन्द्राः"* [*श० ७ । ३ । १ । २०*] अर्यस्य स्वस्य पालयितव्याः प्रजाः स्वीकरोति तस्मात्तद्विरोधिकामादिशत्रुषु पतति ताडयति,

अत एव (सः-मघवा) स ऐश्वर्यवान् परमात्मा (हविष्मते) आत्मवते *"आत्मा वै हविः"* *[काठ० ८ । ५]* (मनवे) मननकर्त्रे (सुन्वते) उपासनारसं निष्पादयते (जीरदानवे) जीवनदात्रे (ज्योतिः अविन्दत्) स्वज्योतिः स्वरूपं प्रापयति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(क्रुद्धः-वृषा न रजःसु पतयत्) बल से बढ़ा हुआ वृषभ जैसे धूलिकणों में गिरता है–बल से धूलि को कुरेदता है, उसी भांति (यः-इमाः-अपः-अर्यपत्नीः-आकृणोत्) जो इन प्रापणशील उपासक आप्तजनों को, अपनी पालन करने योग्य प्रजाओं को स्वीकार करता है–अपनाता है, उनके विरोधी कामादि शत्रुओं पर प्रहार करता है (सः-मघवा) वह ऐश्वर्यवान् परमात्मा (हविष्मते) आत्मवान् (मनवे) मननशील (सुन्वते) उपासनारस निष्पादन करने वाले (जीरदानवे) जीवनदाता के लिए (ज्योतिः-अविन्दत्) स्वज्योति–अपने स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने उपासकों को अपनाता है उनके अन्दर से उनके कामादि शत्रुओं को ऐसे उखाड़ फेंकता है जैसे बलवान् वृषभ पृथिवीस्तर से धूलिकणों को उखाड़ फेंकता है। उसका स्वभाव है आत्मसमर्पी उपासनारस सम्पादन करने वाले, अन्यों को जीवन देने वाले के लिए अपनी ज्योति–अपने स्वरूप को प्राप्त कराता है ॥ ८ ॥

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् ।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

उत् । जायताम् । परशुः । ज्योतिषा । सह । भूयाः । ऋतस्य । सुऽदुघा । पुराणऽवत् । वि । रोचताम् । अरुषः । भानुना । शुचिः । स्वः । न । शुक्रम् । शुशुचीत । सत्ऽपतिः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋतस्य) अमृतरूपस्य परमात्मनः *"ऋतममृतमित्याह"* [*जै० २ । १६०]* (परशुः) उपासकस्य परान् शत्रून् शृणाति हिनस्ति येन सः *"आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च-उः" [उणादि० १ । ३३]* (ज्योतिषा सह) स्वतेजसा सहास्ति (सुदुघा पुराणवत्) सुदोहनरूपा सुखदोग्ध्री पूर्ववत्–शाश्वतिकी (भूयाः) भूयात् "पुरुषव्यत्ययः" (अरुषः-भानुना रोचताम्) समन्तात् प्रकाशमानः स परमात्मा स्वेन प्रकाशेनास्मासु प्रकाशताम् (सत्पतिः-स्वः-न शुचिः-शुक्रं शुशुचीत) स सतां पालकः सूर्य इव शुभ्रं तेजो भृशं प्रकाशयेत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋतस्य) अमृतरूप परमात्मा का (परशुः) उपासक के शत्रुओं को हिंसित करने वाला गुण (ज्योतिषा सह) अपने तेज के साथ है (सुदुघा पुराणवत्) सुदोहन–सुखदोहन वाली कृपा पूर्ववत् (भूयाः) होवे (अरुषः-भानुना रोचताम्) सब ओर से प्रकाशमान परमात्मा अपने प्रकाश से हमारे अन्दर प्रकाशित हो (सत्पतिः-स्वः-न शुचिः-शुक्रं शुशुचीत) वह सत्पुरुषों का पालक सूर्य के समान अपने शुभ्र तेज को बहुत प्रकाशित करे ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने उपासकों के कामादि शत्रुओं को अपने तेज से नष्ट करता है। दूध देने वाली गौ की भांति उसकी कृपा अमृतपान कराती है। और वह हमारे अन्दर अपने तेजस्वरूप का दर्शन भी कराता है॥ ९॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १०॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११॥

एतौ द्वौ मन्त्रौ प्रागेव द्वाचत्वारिंशे सूक्ते व्याख्यातौ॥

इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या पहिले ही बयालीसवें सूक्त में की जा चुकी है।



चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्ण आङ्गिरसः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, १० विराट् त्रिष्टुप् । ३, ११ त्रिष्टुप् । ४ विराड् जगती । ५-७, ९, पादनिचृज्जगती । ८ निचृज्जगती ॥

स्वरः—१-३, १०, ११ धैवतः । ४-९ निषादः ।

विषय—अत्र सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन परमेश्वरो राजा च गृह्येते । परमेश्वरः स्वोपासकानां कामादीन् नाशयति, मोक्षे गृह्णाति संसारे च रक्षति सुखं प्रयच्छति । एवं राजा स्वप्रजानां बाधकान् नाशयति ताभ्यः स्वराष्ट्रे सुखं प्रयच्छति रक्षति च ताः । इति प्राधान्येन वर्णनमस्ति ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमेश्वर और राजा वर्णित हैं । परमात्मा अपने उपासकों के कामादि शत्रुओं को नष्ट करता है, मोक्ष में ग्रहण करता है, संसार में रक्षा करता है, सुख देता है तथा राजा प्रजाओं की बाधाओं को नष्ट करता है सुख देता है, रक्षा करता है इत्यादि का प्रमुख-तया वर्णन है ।

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥ १ ॥

आ । यातु । इन्द्रः । स्वऽपतिः । मदाय । यः । धर्मणा । तूतुजानः । तुविष्मान् ।
प्रऽत्वक्षाणः । अति । विश्वा । सहांसि । अपारेण । महता । वृष्ण्येन ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा राजा वा (स्वपतिः) स्वभूतस्य जगतो यद्वा स्वभूतस्य राष्ट्रस्य स्वामी (मदाय-आयातु) उपासकानामानन्दप्रदानाय साक्षाद्भवतु, प्रजाजनानामानन्ददानाय राजपदे प्राप्नोतु (यः-धर्मणा)

यः खलु धारकगुणेन न्यायगुणेन वा (तूतुजानः) उपासकानाददानः, प्रजाजनानाददानः-स्वीकुर्वन् "तुज् हिंसाबलादाननिकेतनेषु" [चुरादि०] "ततः कानच् प्रत्ययश्छान्दसः" (तुविष्मान्) प्रशस्तवृद्धिशक्तिमान् "तु गतिवृद्धिहिंसासु" [अदादि०] "ततो बाहुलकादौणादिक इसि प्रत्ययः, स च कित्" [ऋ० १ । ५५ । १ दयानन्दः] 'प्रशंसार्थे मतुप्', तथा (विश्वा सहांसि) सर्वाणि-उपासकानां कामादिशत्रुबलानि "सहः-बलनाम" :[निघ० २ । ९] (अपारेण महता वृष्ण्येन) केनापि न पारयितुं योग्येन महता नाशनबलेन (प्रत्वक्षाणः) नाशयन् साक्षाद् भवतु, राजपदं प्राप्नोतु वा ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा वा राजा (स्वपतिः) अपने आधीन जगत् का या अपने आधीन राष्ट्र का स्वामी (मदाय-आयातु) उपासकों को आनन्द प्रदान करने के लिए साक्षात् होवे, प्रजाजनों को आनन्द प्रदान करने के लिए राजासन को प्राप्त करे (यः-धर्मणा) धारकगुण से या न्याय गुण से (तूतुजानः) उपासकों को या प्रजाजनों को स्वीकार करता हुआ (तुविष्मान्) प्रशस्त वर्धक शक्तिवाला, तथा (विश्वा सहांसि) उपासकों के कामादि सब शत्रुबलों को या प्रजा के सब शत्रुबलों को (अपारेण महता वृष्ण्येन) किसी से भी पार न पा सकने वाले नाशन बल से (प्रत्वक्षाणः) नाश करता हुआ साक्षात् हो या राजपद पर प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने उपासकों को स्वीकार करता है और आनन्द देने के लिए उन्हें प्राप्त होता है तथा उनके कामादि शत्रुओं को नष्ट करता है। एवं राजा प्रजाजनों को अपनावे उन्हें सुखी बनावे और उनके शत्रुओं तथा दुःखों को सदा दूर किया करे ॥ १ ॥

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

सुऽस्थामा । रथः । सुऽयमा । हरी इति । ते । मिम्यक्ष । वज्रः । नृऽपते । गभस्तौ । शीभम् । राजन् । सुऽपथा । आ । याहि । अर्वाङ् । वर्धाम । ते । पपुषः । वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नृपते राजन्) हे मुमुक्षुजनानां पालक ! "नरो ह वै देवविशः" [जै० १ । ८९] प्रजाजनानां पालक ! "प्रजा वै नरः" [ऐ० २ । २४] नयनशक्तीनां पालक विद्युत्पदार्थ ! संसारे राजमान ! राष्ट्रे राजमान ! गतिमत्सु कलायन्त्रेषु राजमान ! (ते) तव (रथः) रमणयोग्यो मोक्षः, गमनशीलं यानम्, गतिपञ्जरो वा (सुष्ठामा) सुखस्थानः, सुरक्षास्थितिमान्, सुव्यवस्थितो वा (हरी सुयमा) दुःखापहरणसुखाहरणकर्त्तारौ, दयाप्रसादौ, सेनासभाविभागौ, नयनानयनधर्मौ शुष्कार्द्रधारामयौ वा सुनियमेन प्रवर्तमानौ (गभस्तौ वज्रः-मिम्यक्ष) बाहौ संसारवहनबले, भुजे, नियन्त्रणे, ओजः "वज्रो वा ओजः [श० ८ । ४ । १ । २०] शस्त्रं वा, वर्जनबलं वा प्राप्तं भवेत्

(सुपथा शीभम्-अर्वाङ्-आयाहि) सुमार्गेण, ध्यानेन, गतिमार्गेण तन्त्रीमार्गेण वा शीघ्र अस्मदभिमुखम्, अत्रत्यं गृहं प्राप्तो भव (पपुषः-ते वृष्ण्यानि वर्धाम) उपासनारस-पानकर्त्तुः, सोम्यानन्दरसपानकर्त्तुः द्रवपदार्थपानकर्त्तुस्तव बलानि स्वस्मिन् वर्धयामः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(नृपते राजन्) हे मुमुक्षुजनों के पालक ! सर्वत्र राजमान परमात्मन् ! या प्रजाजनों के पालक राजन् ! तथा गतिशक्तियों के पालक धारक विद्युत् पदार्थ ! कलायन्त्र में प्रकाशमान ! (ते) तेरा (रथः) रमणयोग्य मोक्ष या गमनशील यान अथवा गतिपिञ्जर (सुष्ठामा) सुखस्थान, सुरक्षितस्थितिमान्, सुव्यवस्थित (हरी सुयमा) दुःखापहरण और सुखाहरणकर्ता, दया और प्रसाद, सेनाविभाग और सभाविभाग, तथा शुष्क और आर्द्र धारायें, सुनियम से प्रवर्तमान (गभस्तौ वज्रः-मिम्यक्ष) बाहु में—संसारवहनबल में, या भुजा में तथा नियन्त्रण में ओज या शस्त्र अथवा वर्जनबल प्राप्त हो (सुपथा-शीभम्-अर्वाङ्-आयाहि) सुमार्ग से—ध्यान से, गतिमार्ग से, तारमार्ग के द्वारा शीघ्र हमारी ओर इस घर में प्राप्त हो (पपुषः-ते वृष्ण्यानि वर्धाम) उपासनारसपानकर्त्ता के, सोम्यानन्दरसपानकर्त्ता के, द्रवपदार्थपानकर्त्ता के तेरे बलों को अपने में बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मुमुक्षुओं का पालक परमात्मा अपनी कृपा और प्रसाद से उपासकों के अन्दर अध्यात्ममार्ग द्वारा प्राप्त होता है। एवं प्रजा का पालक राजा अपने सेनाविभाग और सभाविभाग के द्वारा प्रजाओं का हित चाहता हुआ यानादि द्वारा उनमें प्राप्त होता है। इसी प्रकार गतिशक्तियों का रक्षक अपनी दो धाराओं के द्वारा किसी कलायन्त्र में उपयुक्त और प्रयुक्त होता है ॥ २ ॥

एन्द्र॑वाहो॑ नृप॑तिं॒ वज्र॑बाहुमु॒ग्रमु॒ग्रास॑स्तवि॒षास॑ एनम् ।
प्रत्व॑क्षसं वृ॒ष॒भं स॒त्यशु॑ष्म॒मेम॑स्म॒त्रा स॑ध॒मादो॑ वहन्तु ॥ ३ ॥

आ । इ॒न्द्र॒ऽवाहः॑ । नृ॒ऽपति॑म् । वज्र॑ऽबाहुम् । उ॒ग्रम् । उ॒ग्रासः॑ । त॒वि॒षासः॑ । ए॒न॒म् । प्रऽत्व॑क्षसम् । वृ॒ष॒भम् । स॒त्यऽशु॑ष्मम् । आ । ई॒म् । अ॒स्म॒ऽत्रा । स॒ध॒ऽमादः॑ । व॒ह॒न्तु ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्मत्रा-इन्द्रवाहः) अस्मासु—ऐश्वर्यवन्तं परमात्मानं वहन्ति प्रापयन्ति ये ते (उग्रासः) तपस्विनः, तेजस्विनो वा (तविषासः) आत्मबल-वन्तः, शस्त्रास्त्रबलवन्तो वा (सधमादः) सहैव हर्षमनुभवन्तः, उपासकाः, राजकर्मसहा-यकाः, प्रमुखसभासदो वा (एनं नृपतिम्) एतं मुमुक्षूणां पालकम्, प्रजाजनानां पालकम् (वज्रबाहुम्) ओज एव संसारवहनशक्तिर्यस्य शस्त्रं वा तं तेजस्विनं प्रतापिनं वा (उग्रम्) उद्‌गूर्णं प्रवृद्धं वा (प्रत्वक्षसम्) विरोधिनो बलहीनकर्त्तारम् (वृषभम्) सुखवर्षकम् (सत्यशुष्मम्) अविनश्वरात्मबलवन्तं परमात्मानं राजानं वा (ईम्-आवहन्तु) अवश्यं समन्तात् प्रापयन्ति, नेतरे ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्मत्रा-इन्द्रवाहः) हमारे में ऐश्वर्यवान् परमात्मा को प्राप्त कराने

वाले (उग्रासः) तपस्वी, तेजस्वी (तविषासः) आत्मबलवाले या शस्त्रास्त्रबलवाले (सधमादः) साथ ही हर्ष अनुभव करने वाले उपासक या राजसहायक, प्रमुखसभासद् (एन नृपतिम्) इस मुमुक्षुओं के पालक, प्रजाजनों के पालक (वज्रबाहुम्) ओज ही जिसकी संसार-वहन शक्ति है उस ओजस्वी परमात्मा को या प्रतापी राजा को (उग्रम्) उद्गूर्ण-उत्तम गुण वाले या बढ़े-चढ़े राजा को (प्रत्वक्षसम्) विरोधी को बलहीन करने वाले-(वृषणम्) सुख-वर्षक-(सत्यशुष्मम्) अविनश्वर आत्मबल वाले परमात्मा या राजा को (ईम्-आवहन्तु) अवश्य भलीभांति प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तम गुण वाले परमात्मा को तपस्वी उपासक प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं। ऐसे ही प्रतापी राजा को तेजस्वी सहायक कर्मचारी अपने अनुकूल बनाते हैं ॥ ३ ॥

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जः स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४ ॥

एव । पतिम् । द्रोणऽसाचम् । सऽचेतसम् । ऊर्जः । स्कम्भम् । धरुणे । आ । वृषऽयसे । ओजः । कृष्व । सम् । गृभाय । त्वे इति । अपि । असः । यथा । केऽनिपानाम् । इनः । वृधे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एव) अत एव यतस्त्वम् (धरुणे-आवृषायसे) संसारस्य राष्ट्रस्य वा धारणनिमित्तं बलं प्रसारयसि, तस्मात् त्वाम् (द्रोणसाचम्) द्रवन्ति कर्मकरणाय प्राणिनः प्रजाजनाश्च यस्मिन् तस्य संसारस्य राष्ट्रस्य वा साचयितारं गमयितारं चालयितारम् *"सचति गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] (सचेतसम्) सर्वज्ञं सदा सावधानं वा (ऊर्जः स्कम्भम्) बलस्य बलवतश्चाधारभूतम् (पतिम्) पालकं त्वां परमात्मानं राजानं वा वयमुपास्महे सेवामहे वेति शेषः (संगृभाय) त्वमस्मान् स्वस्मिन् स्वाधारे वा सम्यक् गृहाण (ओजः कृष्व) अस्मासु-अध्यात्मबलं साहसं वा सम्पादय (त्वे-अपि) वयं त्वयि-आश्रिताः स्मः (यथा केनिपानां वृधे-इनः-असः) यतो हि त्वमस्माकं मेधाविनां स्तोतॄणां प्रशंसकानां वा *"केनिपः-मेधाविनाम"* [*निघ० ३ । १५*] वृद्ध्ये-ईश्वरः-स्वामी *"इन ईश्वरनाम"* [*निघ० २ । २३*] असि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(एव) अत एव जिससे कि तू (धरुणे-आवृषायसे) संसार या राष्ट्र के धारण करने के निमित्त बल का प्रसार करता है, उसी कारण तुझ-(द्रोणसाचम्) कर्म करने के लिए गति करते हैं जिसमें प्राणी या प्रजायें उस संसार या राष्ट्र के संचालन करने वाले—(सचेतसम्) सर्वज्ञ या सावधान-(ऊर्जः-स्कम्भम्) बल या बलवानों के आधारभूत-(पतिम्) पालक परमात्मा या राजा की हम उपासना करते हैं या सेवा करते हैं (संगृभाय) तू हमें अपने में या अपने सहारे में स्वीकार कर (ओजः कृष्व) हमारे में अध्यात्मबल या साहस को सम्पादित कर (त्वे-अपि) हम तुझ में-तेरे आश्रित हैं (यथा केनिपानां वृधे-इनः-असः) जिससे तू मेधावी स्तुतिकरने वालों या प्रशंसकों का स्वामी है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा संसार का संचालक तथा सर्वज्ञ, वलों का आधार और हमारा रक्षक है, स्वामी है । हमें उसकी उपासना करनी चाहिये । एवं राजा–राष्ट्र के संचालक को प्रत्येक गतिविधि में सावधान, सैन्य आदि वलों का रखने वाला और प्रजापालक होना चाहिए ॥ ४ ॥

गमन्नुस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः ।

त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥

गमन् । अस्मे इति । वसूनि । आ । हि । शंसिषम् । सुऽआशिषम् । भरम् । आ । याहि । सोमिनः । त्वम् । ईशिषे । सः । अस्मिन् । आ । सत्सि । बर्हिषि । अनाधृष्या । तव । पात्राणि । धर्मणा ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्मे वसूनि हि-आगमन्) अस्मभ्यं वासयोग्यानि धनान्यवश्यमागच्छन्तु–प्राप्नुवन्तु (सु-आशिषं शंसिषम्) शोभनं प्रार्थनावचनं प्रशंसामि (सोमिनः-भरम्-आयाहि) उपासनारस–समर्पिणः, उपहारसमर्पिणो वा अध्यात्मभावं भरन्ति यस्मिन्, तस्मिन् हृदये प्राप्नुहि, यद्वा-ऐश्वर्यभरे राष्ट्रपदे प्राप्नुहि (सः-अस्मिन्-बर्हिषि-आसत्सि) स त्वमस्मिन् हृदयावकाशे–हृदयासने राजपदे वा विराजस्व (तव पात्राणि-अनाधृष्या) तव वयं श्रद्धावन्तः पात्रभूताः स्तोतारः प्रशंसकाः प्रजाजना वा त्वयि स्थिताः केनापि पीडयितुं विचालयितुं न शक्याः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्मे वसूनि हि-आगमन्) हमारे लिए वासयोग्य धन अवश्य प्राप्त हों, अतः (सु आशिषं शंसिषम्) शोभन प्रार्थनावचनों से प्रशंसा करता हूँ (सोमिनः-भरम्-आयाहि) उपासना–रससमर्पी अथवा उपहार समर्पण करने वाले जिसमें अध्यात्मभाव को भरते हैं, उस हृदय में प्राप्त हो अथवा ऐश्वर्य–धनसम्पत्ति से भरपूर राष्ट्रपद पर प्राप्त हो (सः-अस्मिन् बर्हिषि-आसत्सि) वह तू इस हृदयावकाश-हृदयासन में या राजपद पर विराजमान हो (तव पात्राणि-अनाधृष्या) हम तेरे श्रद्धावान्, पात्रभूत, स्तोता, प्रशंसक या प्रजाजन तेरे सहारे में स्थित हुए, किसी से भी पीड़ित या विचलित नहीं किये जा सकते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना करने वालों के समीप आवश्यक वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं और परमात्मा भी उनके हृदय में साक्षात् हो जाता है । कोई बाधक कामादि दोष परमात्मा से उन्हें विचलित नहीं कर सकता है एवं प्रजाजन जब राजा के शासन के अनुकूल चलते हैं तो सुख-साधन वस्तुएं उन्हें सुगमतया प्राप्त हो जाती हैं । उनके मध्य में राजा राजपद पर विराजमान होकर उनकी पूरी रक्षा करता है । राजा के रक्षण से उन्हें कोई हटा नहीं सकता ॥ ५ ॥

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।

न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥ ६ ॥

पृथक् । प्र । आयन् । प्रथमाः । देवऽहूतयः । अकृण्वत । श्रवस्यानि । दुस्तरा । न । ये । शेकुः । यज्ञियाम् । नावम् । आऽरुहम् । ईर्मा । एव । ते । नि । अविशन्त । केपयः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रथमाः) श्रेष्ठजनाः (देवहूतयः) दिव्यगुणान् देवधर्मान् मुमुक्षुगुणानाह्वयन्ति निजान्तःकरणे समवेतानि कुर्वन्ति ये ते स्तोतारः (श्रवस्यानि दुष्टरा-अकृण्वत) श्रवणीयानि श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्काराख्यानि–अन्यैरप्रथमैर-श्रेष्ठैर्दुरनुकरणीयानि 'क्षुरस्य धारेव दुरत्ययानि' कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति, ते (पृथक् प्रायन्) संसारनद्याः पृथक् प्रथितं पारं मोक्षधाम प्राप्नुवन्ति । येऽप्रथमा अश्रेष्ठाः (केपयः) कुत्सितस्य शोधनीयकर्मणः कर्त्तारः "*केपयः कपूया भवन्ति, कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितम्*" [*निरु० ५ । २४*] (ये यज्ञियां नावम्-आरुहं न शेकुः) ये खलु–अध्यात्मयज्ञसम्बन्धिनीं नावमुपासनामारोढुं न शक्नुवन्ति (ते-ईर्मा-एव न्यवशिन्त) ते–इहैव लोके निविशन्ते, यद्वा "*ऋणे हैव, ऋणे हैव*" [*निघ० ५ । २४*] पितृणनिवारणव्यवहारे पुत्रोत्पत्तिकरणे गृहस्थे निविशन्ते, न मोक्षभाजो भवन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रथमाः) श्रेष्ठ (देवहूतयः) दिव्यगुणों, मुमुक्षुगुणों को अपने अन्तःकरण में ले आने वाले–बिठा लेने वाले स्तुतिकर्ताजन (श्रवस्यानि दुष्टरा-अकृण्वत) श्रवणीय अर्थात् श्रवण-मनन निदिध्यासन–साक्षात्कार–नामक जो अन्य अश्रेष्ठ लोगों द्वारा आचरण में लाने के लिए दुस्तर हैं, छुरी की धारा के समान हैं, उन्हें वे श्रेष्ठजन सेवक करते हैं (पृथक् प्रायन्) संसारनदी से पृथक्–प्रथित पार अर्थात् मोक्षधाम को प्राप्त करते हैं। और जो अप्रथम-अश्रेष्ठ (केपयः) कुत्सित, शोधने योग्य कर्म के करने वाले हैं (ये यज्ञियां नावम्-आरुहं न शेकुः) जो अध्यात्मयज्ञसम्बन्धी नौका–उपासनारूप नौका पर आरोहण नहीं कर सकते (ते-ईर्मा-एव न्यविशन्त) वे इसी लोक में निविष्ट रहते हैं या पितृ ऋण के चुकाने में अर्थात् पुत्र पौत्र आदि उत्पन्न करने कराने में लगे रहते हैं, वे मोक्षभागी नहीं बनते ॥ ६ ॥

भावार्थ—अध्यात्मगुणों को धारण करने वाले मुमुक्षु जन ऊंचे उठते हुए संसार नदी को पार करके मोक्षधाम को प्राप्त होते हैं। निकृष्ट जन उन दिव्यगुणों को धारण करने में असमर्थ होकर इसी संसार में जन्मजन्मान्तर धारण करते रहते हैं, पुत्रादि के मोह में पड़े रहते हैं ॥ ६ ॥

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

एव । एव । अपाक् । अपरे । सन्तु । दुःऽध्यः अश्वाः । येषाम् । दुःऽयुजः । आऽयुयुज्रे । इत्था । ये । प्राक् । उपरे । सन्ति । दावने । पुरूणि । यत्र । वयुनानि । भोजना ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एव-एव) एवमेव (अपरे दूढ्यः-अपाक् सन्तु) अन्ये दुर्धियो दुर्बुद्धयः *"दूढ्यो दुर्धियः पापधियः"* [*निरु० ५ । २३*] पापसङ्कल्पा जना नीचैर्गता भवन्ति (येषाम्-अश्वाः-दुर्युजः-आयुयुज्रे) येषां हि खल्विन्द्रियरूपा अश्वा विषयेषु व्यापिनः *"इन्द्रियाणि हयानाहुः"* [*कठो० १-३-४*] दुःखेन योक्तुं शक्या असंयता आयुज्यन्ते तथा सन्ति (उपरे ये प्राक् इत्था सन्ति) ये उपरः-उपरा.-उपरता 'विभक्तिव्यत्ययः, उपपूर्वक रमधातोः डः प्रत्ययः' परमात्मानं सम्मुखं लक्ष्यीकृत्य सत्यमननभाषणकर्माचरणवन्तः *"इत्था सत्यनाम"* [*निघ० ३ । १०*] सन्ति (यत्र दावने पुरूणि वयुनानि भोजना) यत्रानन्ददातरि खल्वानन्दाश्रये मोक्षे बहुविधानि अनन्तानि वा प्रज्ञानानि–अनुभववेद्यानि वा भोक्तव्यानि सुखानि भोगवस्तूनि वा विद्यन्ते तत्र गच्छन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(एव-एव) इसी प्रकार (अपरे-दूढ्यः अपाक् सन्तु) अन्य दुर्बुद्धि, पापसङ्कल्पी जन नीचगति को पाते हैं (येषाम्-अश्वाः-दुर्युजः-आयुयुज्रे) जिनके इन्द्रियरूपी अश्व विषयव्यापी हैं, कठिनाई से उपयोग में लेनें योग्य हैं—असंयत हैं, तथा (उपरे ये प्राक्-इत्था सन्ति) जो उपरत हैं, परमात्मा को लक्ष्य कर सत्यमानी, सत्यभाषी, सत्यकारी हैं, वे (यत्र दावने पुरूणि वयुनानि भोजना) जहाँ पर, आनन्दाश्रय मोक्ष में बहुत प्रकार के या अनन्त प्रज्ञान, अनुभवयोग्य सुख हैं वहाँ जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विषयलोलुप असंयमी जन दुर्बुद्धि, नीचगति को प्राप्त होते हैं परन्तु विषयों से उपरत वैराग्यवान् उपासनाशील अनन्त आनन्द से पूर्ण मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

गिरीँरज्राँ रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥८॥

गिरीन् । अज्रान् । रेजमानान् । अधारयत् । द्यौः । क्रन्दत् । अन्तरिक्षाणि । कोपयत् । समीचीने इति सम्ऽईचीने । धिषणे इति । वि । स्कभायति । वृष्णः । पीत्वा । मदे । उक्थानि । शंसति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अज्रान्-रेजमानान्-गिरीन्-अधारयत्) स इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा गतिशीलान् कम्पयमानान् मेघान् पृथिव्यां धारयति पातयतीत्यर्थः (द्यौः-क्रन्दत्-अन्तरिक्षाणि कोपयत्) विद्युदिव कम्पयन्-गर्जन्नन्तरिक्षस्थानि लोकलोकान्तराणि कोपयति चेतयति गतिं कर्त्तुम् (समीचीने धिषणे विष्कभायति) सम्मुखीभूते द्यावापृथिव्यौ *"धिषणे द्यावापृथिवीनाम"* [*निघ० ३ । १०*] विशिष्टतया स्कम्भयति स्तम्भयति (वृष्णः पीत्वा मदे-उक्थानि शंसति) उपासकानामुपासनाप्रवाहान् पीत्वाऽऽदाय स्वकीयमदे-आनन्ददानाय वेदवचनानि प्रवक्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अज्रान्-रेजमानान् गिरीन्-अधारयत्) वह इन्द्र परमेश्वर गतिशील कम्पमान मेघों को पृथिवी पर गिराता है (द्यौः-क्रन्दत्-अन्तरिक्षाणि कोपयत्) विद्युत् की

भांति गर्जता हुआ अन्तरिक्षस्थ लोकलोकान्तरों को कुपित करता है गति करने के लिए (समीचीने निषणे विष्कभायति) सम्मुख हुए द्यावापृथिवी को विशेषरूप से स्तम्भित करता है—थामता है (वृष्णः पीत्वा मदे-उक्थानि शंसति) उपासनाप्रवाहों को पीकर—लेकर—स्वीकार करके आनन्द देने के लिए वेदवचनों का प्रवचन करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा मेघों को बरसाता है, लोकलोकान्तरों को चलाता है, उपासकों के उपासनारसों को स्वीकार कर वेदमन्त्रों का प्रवचन करता है ॥ ८ ॥

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः ।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन्बोध्याभगः ॥ ९ ॥

इमम् । बिभर्मि । सुऽकृतम् । ते । अङ्कुशम् । येन । आऽरुजासि । मघऽवन् । शफऽआरुजः । अस्मिन् । सु । ते । सवने । अस्तु । ओक्यम् । सुते । इष्टौ । मघऽवन् । बोधि । आऽभगः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते-इमं सुकृतम्-अङ्कुशं बिभर्मि) हे इन्द्र परमात्मन् ! तव खल्विमं सुसंस्कृतं सुबद्धं सुरचितं सुसिद्धं वा ज्ञानाङ्कुशं वेदशासनमहं धारयामि—आचरामि—सेवे (येन शफारुजः-आरुजासि) येन ज्ञानाङ्कुशेन खुरैरन्यान् रुजन्ति पीडयन्ति, तीक्ष्णखुरवन्तः पशव इव प्रहारका जनास्तान् त्वं पीडयसि (अस्मिन् सुते सवने) अस्मिन् निष्पादितेऽध्यात्मरसस्थाने हृदये (ते सु-ओक्यम्-अस्तु) तव शोभनं स्थानम्—ओको गृहमेवौक्यमस्तु (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! (इष्टौ-आभगः-बोधि) अध्यात्मेष्टौ समन्ताद् भजनीयस्त्वमस्माकं स्तुतिप्रार्थनां बोधयसि—पूरय ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते-इमं सुकृतम्-अङ्कुशं बिभर्मि) हे परमात्मन् ! तेरे इस सुसंस्कृत, सुबद्ध, सुरचित, सुसिद्ध, ज्ञानाङ्कुश वेदशासन को मैं धारण करता हूं—आचरण में लाता हूँ (येन शफारुजः-रुजासि) जिस ज्ञानाङ्कुश से, अपने खुरों से पीड़ा देने वाले—तीक्ष्ण खुरों वाले पशुओं की भांति प्रहारक जनों को तू पीड़ित करता है (अस्मिन् सुते सवने) इस निष्पादित अध्यात्मरसस्थान हृदय में (ते सु-ओक्यम्-अस्तु) तेरा शोभन स्थान घर है (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (इष्टौ-आभगः-बोधि) अध्यात्मयज्ञ में भलीभांति तू हमारा भजनीय हुआ स्तुति प्रार्थना को जान—पूरा कर । ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने समस्त मनुष्यों को ठीक मार्ग में चलने के लिए वेदज्ञान का उपदेश दिया है । उससे विपरीत चलने वालों को वह दण्ड देता है किन्तु जो उसके अनुसार आचरण करते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उनके हृदयसदन में उन्हें वह साक्षात् होता है । उनकी स्तुति प्रार्थना को पूरा करता है ॥ ९ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

इदमृग्द्वयं द्वाचत्वारिंशे सूक्ते प्रागेव व्याख्यातम् ॥

इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या बयालीसवें सूक्त में पहिले ही की जा चुकी है ।



पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वत्सप्रिर्भालन्दनः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१-५, ७ निचृत् त्रिष्टुप् । ६ त्रिष्टुप् । ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ९-१२ विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते 'अग्नि' शब्देन सूर्यविद्युदग्नयो गृह्यन्ते, तेषामुत्पत्तिस्थानानि तदुपयोगश्च प्रतिपाद्यते । अन्तिमे मन्त्रषट्के परमात्मा गृह्यते, स च मानवानां कल्याण-साधको यथा यथा भवतीति तदुपदिश्यते ।

इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से सूर्य, विद्युत्, अग्नि, तीनों गृहीत हैं, उनकी उत्पत्ति, विज्ञान और उपयोग बतलाया है । अन्तिम छः मन्त्रों में परमात्मा लिया है, वह जैसे जैसे मनुष्यों का कल्याणसाधक है वह कहा गया है ॥

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥ १ ॥

दिवः । परि । प्रथमम् । जज्ञे । अग्निः । अस्मत् । द्वितीयम् । परि । जातऽवेदाः । तृतीयम् । अप्ऽसु । नृऽमनाः । अजस्रम् । इन्धानः । एनम् । जरते । सुऽआधीः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः प्रथमं दिवः-परि जज्ञे) अग्नि-नामकः पदार्थः प्रथमं तु दिवि-द्युलोके *"पञ्चम्याः परावध्यर्थे"* [अष्टा० ८ । ३ । ५१] जातः-जायते सूर्य-रूपेण (जातवेदाः-द्वितीयम्-अस्मत् परि) स एव जातानि वस्तूनि वेद्यन्ते ज्ञायन्ते प्रत्यक्षी-क्रियन्ते खलूपयोगे नीयन्ते येन सोऽस्मासु-अस्माकं निमित्तं पृथिव्यां पार्थिवोऽग्निर्द्वितीयं जज्ञे जायते (तृतीयम्-अप्सु) तृतीयं जायतेऽन्तरिक्षे *"आपः-अन्तरिक्षनाम"* [निघ० १ । ३]

विद्युदाख्यः (नृमणाः) एषः त्रिविधोऽग्निर्येन नृषु मनो मननबलं भवति सोऽस्ति, तम् (एनम्-अजस्रम्-इन्धानः स्वाधीः-जरते) एवं निरन्तरं दीपयमानः प्रज्वलयन् कार्ये खलूपयोजयन् सम्यग्ध्यानी जन परमात्मानं स्तौति येनोत्पादितोऽग्निरेष जरां जरापर्यन्तजीवनावस्थां प्राप्नोतीति श्लैषिकोऽर्थः "जरते-अर्चतिकर्मा" [निघ० ३ । १४] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः-प्रथमं दिवः-परि जज्ञे) भौतिक अग्नि पदार्थ प्रथम द्युलोक में प्रकट हुआ सूर्य रूप में (जातवेदाः-द्वितीयम्-अस्मत् परि) दूसरा जातवेद नाम से पार्थिव अग्नि हमारी ओर अर्थात् पृथिवी पर प्रकट हुआ (तृतीयम्-अप्सु) तृतीय अग्नि विद्युत् अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ (नृमणाः) वह यह तीन प्रकार का अग्नि मनुष्यों में मनन करने का बल देने वाला है—मननशक्तिप्रद है (एनम्-अजस्रम्-इन्धानः स्वाधीः-जरते) इसको निरन्तर प्रज्वलित करता हुआ; होम आदि कार्य में प्रयुक्त करता हुआ, सम्यग्ध्यानी जन परमात्मा की स्तुति करता है जिसने इस अग्नि को उत्पन्न किया तथा जरावस्था तक इसे काम में लेता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्रथम द्युलोक में सूर्य अग्नि को उत्पन्न किया, दूसरे पृथिवी पर अग्नि को उत्पन्न किया, तीसरे अन्तरिक्ष में विद्युदग्नि को उत्पन्न किया। इस प्रकार मनुष्य को इन अग्नियों को देखकर परमात्मा का मनन करते हुए, जरा पर्यन्त इनसे लाभ लेते हुए परमात्मा की स्तुति करनी चाहिए ॥ १ ॥

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥ २ ॥

विद्म । ते । अग्ने । त्रेधा । त्रयाणि । विद्म । ते । धाम । विऽभृता । पुरुऽत्रा । विद्म । ते । नाम । परमम् । गुहा । यत् । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आऽजगन्थ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (ते त्रेधा त्रयाणि विद्म) तव त्रिविधानि त्रीणि स्वरूपाणि सम्यगुपयोगतो जानीयाम (ते पुरुत्रा विभृता धाम विद्म) तव बहुत्र विधृतानि धामानि स्थानानि खनिजानि वस्तूनि जानीयाम (ते परमं नाम यत्-गुहा विद्म) तव परममभीष्टतमं नाम प्रशंसनीयं स्वरूपं यद् विज्ञानक्रियायां तज्जानीयाम *"गुहा बुद्धौ विज्ञाने"* [ऋ० १ । ६७ । ४ *दयानन्दः*] (तम्-उत्सं यतः-आजगन्थ विद्म) तमुत्स्यन्दयितारमाशयं जानीयाम यत आगच्छसि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (ते त्रेधा त्रयाणि विद्म) तेरे तीन प्रकार के तीन स्वरूपों को हम जानें (ते पुरुत्रा विभृता धाम विद्म) तेरे बहुत प्रकार से फैले हुए स्थानों को, खनिज वस्तुओं को जानें—जानते हैं (ते परमं नाम यत्-गुहा विद्म) तेरे अत्यन्त अभीष्ट प्रशंसनीय स्वरूप को जो विज्ञान क्रिया में है उसे हम जानें (तम्-उत्सं यतः-आजगन्थ विद्म) उस स्रोत को भी हम जानें जहाँ से तू उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे अन्य अन्य विज्ञानों में कुशलता प्राप्त करता है वैसे उसे अग्नि-

विज्ञान में भी कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। अर्थात् अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप और उसके भिन्न-भिन्न उत्पत्तिस्थान तथा खनिज पदार्थ जिनसे अग्नि उत्पन्न होती है, उन्हें भी जानना चाहिए ॥२॥

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्व१न्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अंग्न ऊधंन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ ३ ॥

समुद्रे । त्वा । नृऽमनाः । अप्ऽसु । अन्तः । नृऽचक्षाः । ईधे । दिवः । अग्ने । ऊधन् । तृतीये । त्वा । रजसि । तस्थिऽवांसम् । अपाम् । उपऽस्थे । महिषाः । अवर्धन् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वा) त्वाम् (नृमणाः-नृचक्षाः) नृषु मननबलं प्रेरकः प्रजापतिः परमात्मा *"प्रजापतिर्वै नृमणाः"* [*श० ६।७।४।३*] स एव नृणां द्रष्टा तेषां कर्मव्यवहारस्य ज्ञाता परमात्मा *"प्रजापतिर्वै नृचक्षाः"* [*श० ६।७।४।५*] (दिवः-ऊधन्) द्युलोकस्य ज्योतिर्मण्डले सूर्यरूपेण, तथा (समुद्रे-अप्सु-अन्तः-ईधे) अन्तरिक्षे मेघरूपेषु जलेषु विद्युद्रूपेण दीपयति (तृतीये रजसि तस्थिवांसम्) तृतीये पृथिवीलोके स्थितं वर्तमानौषधिषु काष्ठेषु वर्तमानम् तथा (अपाम्-उपस्थे) जलप्रवाहाणां मध्ये वर्तमानम् (महिषाः-अवर्धन्) ऋत्विजो विद्वांसो *"ऋत्विजो वै महिषाः"* [*श० १२।१।८।२*] वर्धयन्ति प्रकटीकरणेन ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वा) तुझे (नृमणाः-नृचक्षाः) मनुष्यों में मननबल का प्रेरक तथा मनुष्यों के कर्म का द्रष्टा परमात्मा (दिवः-ऊधन्) द्युलोक के ज्योतिमण्डल में सूर्य रूप से, तथा (समुद्रे-अप्सु-अन्तः-ईधे) अन्तरिक्ष में मेघों के अन्दर विद्युत् रूप में दीप्त करता है (तृतीये रजसि तस्थिवांसम्) तीसरे पृथिवी लोक में स्थित ओषधियों में काष्ठों में वर्तमान, तथा (अपाम्-उपस्थे) जलप्रवाहों के मध्य में वर्तमान (महिषाः-अवर्धन्) ऋत्विज् विद्वान् प्रकट करते हैं—बढाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा आग्नेय तत्त्व को द्युमण्डल में सूर्यरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से, पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में उत्पन्न करता है पुनः ऋत्विक् लोग या विद्वान् उसे अपने विविध कार्यों में प्रकट करके उपयोग में लाते हैं ॥ ३ ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ४ ॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्ऽइव । द्यौः । क्षाम । रेरिहत् । वीरुधः । समऽअञ्जन् । सद्यः । जज्ञानः । वि । हि । ईम् । इद्धः । अख्यत् । आ । रोदसी इति । भानुना । भाति । अन्तरिति ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(द्यौः) द्युलोकं प्रति दीप्तो विद्युदग्निः (स्तनयन् इव यथा) शब्दयन् प्रकाशते, तथा (अग्निः) एषः पार्थिवोऽग्निः (क्षाम) पृथिवीं प्रति *"क्षाम क्षामा पृथिवीनाम"* [*निघ० १ । १*] (अक्रन्दत्) क्रन्दति ज्वलन् सन् शब्दं करोति (वीरुधः-समञ्जन् रेरिहत्) ओषधीः काष्ठानि संसक्तः सन् प्रज्वलयन् पुनः पुनः लेढि भस्मीकरणाय (सद्यः-जज्ञानः) प्रकटीभूतस्तत्काले तदैव (हि-ईम्-इद्धः) एवं खलु दीप्तः प्रज्वलितः (अख्यन्) प्रत्यक्षं भवति (रोदसी-अन्तः-भानुना विभाति) द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये *"रोदसी द्यावापृथिवीनाम"* [*निघ० ३ । ३०*] द्युलोकपृथिवीलोकयोर्मध्ये विशिष्टं प्रकाशते ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(द्यौः) द्युलोक में दीप्त विद्युदग्नि (स्तनयन्-इव यथा) शब्द करता हुआ चमकता है, तथा (अग्निः) यह पार्थिव अग्नि (क्षाम) पृथिवी के प्रति (अक्रन्दत्) जलता हुआ शब्द करता है (वीरुधः-समञ्जन् रेरिहत्) ओषधियों को काष्ठों को संसक्त हुआ-जलता हुआ भस्मी करने के लिए बार बार चाटता है—स्पर्श करता है (सद्यः-जज्ञानः) तुरन्त प्रकट हुआ (हि-ईम्-इद्धः) इस प्रकार प्रज्वलित हुआ (अख्यत्) प्रत्यक्ष होता है (रोदसी -अन्तः-भानुना विभाति) द्युलोक पृथिवी लोक के मध्य में दीप्ति से विशिष्ट रूप में प्रकाशित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—द्युलोक में सूर्यरूप से अग्नि प्रकाशमान होता है, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से और पृथिवी पर काष्ठ इंधन द्वारा पार्थिव अग्नि रूप में प्रकाशित होता है इस प्रकार अग्नितत्त्व द्यावापृथिवीमय जगत् में प्रसिद्ध हुआ अन्य पदार्थों का प्रकाशक है ॥ ४ ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि भात्यग्र उषसामिधानः ॥ ५ ॥

श्रीणाम् । उत्ऽआरः । धरुणः । रयीणाम् । मनीषाणाम् । प्रऽअर्पणः । सोमऽगोपाः । वसुः । सूनुः । सहसः । अप्ऽसु । राजा । वि । भाति । अग्रे । उषसाम् । इधानः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(श्रीणाम्-उदारः) एष सूयरूपोऽग्निः प्राणानाम् *"प्राणाः श्रियः"* [*श० ६ । १ । १ । ४*] उत्प्रेरक उन्नायकः (रयीणां धरुणः) पुष्टीनां धारको धारयिता (मनीषाणां प्रार्पणः) बुद्धीनां प्रेरयिता (सोमगोपाः) सवनीयानामुत्पद्यमानानां गोपायिता रक्षकः (वसुः) वासयिता (सहसः सूनुः) बलस्य-उत्प्रेरकः (अप्सु राजा) अन्तरिक्षे आकाशे पिण्डानां राजेव (उषसाम्-अग्रे-इधानः-विभाति) उषसां प्रभाते भवानां ज्योतीरेखानामग्रे-अनन्तरं विशिष्टं दीप्यते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(श्रीणाम्-उदारः) यह सूर्यरूप अग्नि प्राणों का उत्तेजक है—उन्नत करने वाला है (रयीणां धरुणः) पुष्टियों का धारक है (मनीषाणां प्रार्पणः) बुद्धियों का प्रेरक है (सोमगोपाः) उत्पन्न होते हुए पदार्थों का रक्षक है (वसुः) बसाने वाला-विस्तृत करने वाला

है (सहसः सूनुः) बल का उद्बोधक है (अप्सु राजा) अन्तरिक्ष में वर्तमान पिण्डों का राजा की भांति है (उषसाम्-अग्रे-इधानः-विभाति) प्रभात में ज्योतिरेखाओं के आगे अर्थात् पश्चात् विशिष्ट रूप से दीप्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य संसार में प्राणशक्ति का प्रेरक है, नाना प्रकार की पुष्टियों को देने वाला है। बुद्धियों का प्रेरक, उत्पन्न होने वाले पदार्थों को बढ़ाने वाला, बलवर्धक, आकाश के पिण्डों को प्रकाश देने वाला, और उषावेलाओं के पश्चात् प्रकाशित होने वाला या उदय होने वाला उपयोगी पिण्ड है ॥ ५ ॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ ६ ॥

विश्वस्य । केतुः । भुवनस्य । गर्भः । आ । रोदसी इति । अपृणात् । जायमानः । वीळुम् । चित् । अद्रिम् । अभिनत् । पराऽयन् । जनाः । यत् । अग्निम् । अयजन्त । पञ्च ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वस्य केतुः) संसारस्य प्रद्योतयिता प्रेरयिता चालयिता (भुवनस्य गर्भः) भूतजातस्य प्राणिमात्रस्य ग्रहणकर्त्ता स्वीकर्त्ता (जायमानः-रोदसी-अपृणात्) उदयन् द्यावापृथिव्यौ स्वप्रकाशेन पूरयति (परायन् वीळु चित्-अद्रिम्-अभिनत्) बलवन्तमपि मेघम् *"अद्रिर्मेघनाम"* [*निघ० १ । १०*] पराक्रमं कुर्वन् भिनत्ति (यत् पञ्च जनाः-अग्निम्-अयजन्त) ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रनिषादाः यदाऽग्निहोत्रेऽग्निं यजन्ति-अग्निहोत्रं कुर्वन्ति तदा । *"पञ्चजना……चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः [निरु० ३ । ८]* ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वस्य केतुः) संसार का प्रकाशक, प्रेरक, संचालक (भुवनस्य गर्भः) प्राणिमात्र का ग्रहण करने वाला—स्वीकार करने वाला (जायमानः-रोदसी-अपृणात्) उदय होता हुआ द्युलोक और पृथिवी लोक को अपने प्रकाश से भर देता है (परायन् वीळुं चित्-अद्रिम् -अभिनत्) बलवान् मेघ को भी पराक्रम से तोड़ देता है—छिन्न-भिन्न कर देता है (यत्-पञ्च जनाः-अग्निम्-अयजन्त) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद नामक पांचों जन जब अग्नि-होत्र में अग्नि का यजन करते हैं, उस समय ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य संसार में प्रगति देने वाला है, आकाश और पृथिवी के मध्य में अपने प्रकाश को भर देता है। मनुष्य मात्र सामूहिक रूप से जब यजन करते हैं, और यज्ञ से मेघ बनते हैं उन मेघों को पृथिवी पर बरसा देने वाला सूर्य है। वह मेघों को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी पर बरसा देता है जो प्राणियों के पोषण का निमित्त बनता है ॥ ६ ॥

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि ।
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ ७ ॥

उशिक् । पावकः । अरतिः । सुऽमेधाः । मर्तेषु । अग्निः । अमृतः । नि । धायि । इयर्ति । धूमम् । अरुषम् । भरिभ्रत् । उत् । शुक्रेण । शोचिषा । द्याम् । इनक्षन् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उशिक्) जीवानां कल्याणं कामयमानः (पावकः) पवित्रीकर्त्ता (अरतिः) सर्वत्र व्याप्तो भोगरहितो वा (सुमेधाः) शोभनप्रज्ञः सर्वज्ञः (मर्तेषु-अमृतः-अग्निः-निधायि) मरणधर्मकेषु प्राणिषु खल्वमृतो मरणधर्मरहितोऽग्नि-ज्ञानस्वरूपः परमात्मा निधीयते निहितोऽन्तर्हितोऽस्ति (अरुषं धूमम्-इयर्ति) आरोच-मानं प्रकाशं धूनयितारमज्ञाननिवारकं प्रेरयति (शुक्रेण शोचिषा द्याम्-इनक्षन् भरिभ्रत्) शुभ्रेण प्रकाशेन मोक्षधाम *"पादो-ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"* [ऋ० १० । ९० । ३] *"इनक्षन्-व्याप्नुवन्"* [*यजु० १२ । २४ दयानन्दः*] व्याप्नुवन्, बिभर्ति धारयति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(उशिक्) जीवों के लिए कल्याण कामना करने वाला (पावकः) तथा पवित्रकर्त्ता (अरतिः) सर्वत्र व्यापक या भोगरति से रहित (सुमेधाः) शोभनबुद्धि वाला—सर्वज्ञ (मर्तेषु-अमृतः-अग्निः-निधायि) मरणधर्मी प्राणियों में अमृत—मरणधर्मरहित ज्ञानस्वरूप परमात्मा निहित है (अरुषं धूमम्-इयर्ति) अज्ञाननिवारक प्रकाश को प्रेरित करता है (शुक्रेण शोचिषा द्याम्-इनक्षन्-भरिभ्रत्) शुभ्र प्रकाश से मोक्षधाम को व्याप्त होता हुआ धारण करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा प्राणियों की कल्याण कामना करता हुआ सबके अन्दर व्यापक होकर जीवन प्रकाश प्रदान करता है और विशिष्ट मनुष्यों को मोक्ष की ओर भी प्रेरित करता है ॥ ७ ॥

दृशानो रुक्म उर्विया व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौर्जनयत् सुरेताः ॥ ८ ॥

दृशानः । रुक्मः । उर्विया । वि । अद्यौत् । दुःऽमर्षम् । आयुः । श्रिये । रुचानः । अग्निः । अमृतः । अभवत् । वयःऽभिः । यत् । एनम् । द्यौः । जनयत् । सुऽरेताः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अमृतः-अग्निः-अभवत्) एषोऽमरो मरणधर्मरहितः परमात्माग्निः सर्वत्र विराजते (दृशानः) द्रष्टा (रुक्मः) रोचमानः (उर्विया व्यद्यौत्) महत्या दीप्त्या विशिष्टतया प्रकाशते (दुर्मर्षम्-आयुः श्रिये रुचानः) आश्रयति यस्तस्मै-आश्रयप्राप्तये खलूपासकाय *"श्रिञ् धातोः क्विप्"* [*उणा० २ । ५७*] अबाध्यमायुः प्रकाशयन् प्रकटयन् (सुरेताः-द्यौः-वयोभिः-यत्-एनं जनयत्) सोऽग्निः परमात्मा सम्य-गुत्पादकशक्तिमान् पितेव तेजोवीर्यवान् प्राणैः *"प्राणो वै वयः"* [ऐ० १ । २८] यतः-एनमुपासकं जनयति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अमृतः-अग्निः-अभवत्) यह अमर-मरणधर्मरहित परमात्मा सर्वत्र स्वामीरूप में विराजता है (दृशानः) द्रष्टा (रुक्मः) रोचमान (उर्विया व्यद्यौत्) महती दीप्ति से विशिष्टरूप से प्रकाशित है–प्रकाश करता है (दुर्मर्षम्-आयुः श्रिये रुचानः) आश्रय लेने वाले उपासक के लिए अबाध्य ज्ञान को प्रकाशित करता हुआ–प्रकट करता हुआ (सुरेताः-द्यौः-वयोभिः -यत्-एनं जनयत्) सम्यक् उत्पादक शक्ति वाले पिता की भांति तेजो वीर्यवान् प्राणों के द्वारा इस उपासक को सम्पन्न करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वत्र एकरस विराजमान है। अबाध्य ज्ञान को विशेषरूप से अपने आश्रयी उपासक के लिए देता है और उत्तम प्राणों से समृद्ध करता है ॥ ८ ॥

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ ९ ॥

यः । ते । अद्य । कृणवत् । भद्रऽशोचे । अपूपम् । देव । घृतऽवन्तम् । अग्ने । प्र । तम् । नय । प्रऽतरम् । वस्यः । अच्छ । अभि । सुम्नम् । देवऽभक्तम् । यविष्ठ ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भद्रशोचे यविष्ठ देव-अग्ने) हे कल्याणदीप्तिक ! अतिसङ्गतिशील ! ज्ञानप्रकाशक परमात्मदेव ! (ते) तुभ्यम् (अद्य) अस्मिन् वर्तमाने काले जन्मनि वा (यः) यः खलूपासकः (घृतवन्तम्-अपूपं कृणवत्) संयमेन तेजस्विनं खल्विन्द्रियगणम् "इन्द्रियमपूपः" [ऐ० २ । २४] करोति (तं प्रतरं वस्यः-अभि-अच्छ-सुम्नं देवभक्तं प्र नय) तमुपासकं जनमतिप्रकृष्टं श्रेष्ठं वसुतरं वासयितृतरं प्रशंसनीय-धनैश्वर्यरूपं सुम्नं सुखविशेषं देवैर्भजनीयमभिमोक्षं प्रति "सुम्नं सुखनाम" [निघ० ३ । ६] प्रेरय–प्रगमय ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(भद्रशोचे यविष्ठ देव-अग्ने) हे कल्याणदीप्तिवाले ! अत्यन्तसङ्गमनीय ! परमात्मदेव ! (ते) तेरे लिए (अद्य) इस वर्तमान काल में या जीवन में (यः) जो उपासक (घृतवन्तम्-अपूपं कृणवत्) संयम द्वारा इन्द्रियगण को तेजस्वी बनाता है (तं प्रतरं वस्यः-अभि -अच्छ सुम्नं देवभक्तं प्रनय) उस उपासक जन को प्रकृष्टतर, श्रेष्ठ, अत्यन्त बसने वाला, प्रशंसनीय, धनैश्वर्यरूप, मुमुक्षुओं के द्वारा भजनीय सुख विशेष–मोक्ष के प्रति प्रेरित कर–लेजा ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा का ज्ञानप्रकाश कल्याणकारी है, वह समागम के योग्य है। जो उपासक संयम द्वारा अपनी इन्द्रियों को तेजस्वी बना लेता है उसे परमात्मा सांसारिक सुख भोगों से उत्कृष्ट सुख विशेषरूप मोक्ष को प्राप्त कराता है ॥ ९ ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ १० ॥

आ । तम् । भज । सौश्रवसेषु । अग्ने । उक्थेऽउक्थे । आ । भज । शस्यमाने । प्रियः । सूर्ये । प्रियः । अग्ना । भवाति । उत् । जातेन । भिनदत् । उत् । जनिऽत्वैः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! त्वम् (तं सौश्रवसेषु-आ भज) तं खल्विमं संयमिनं शोभने श्रवसि श्रवणे वेदश्रवणे भवानि सौश्रवसानि श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारास्तेषु-आभज-अभिलष स्वीकुरु *"भज अभिलष"* *[ऋ० १ । १२५ । १५ दयानन्दः]* (शस्यमाने-उक्थे-उक्थे-आ भज) प्रस्तूयमाने समर्प्यमाणे प्रत्येकवचने तमभिलष स्वीकुरु (सूर्ये प्रियः-अग्ना प्रियः-भवाति) स च सूर्यरूपे सूर्य इव प्रकाशके त्वयि प्रियो भवेत् *"लिङर्थे लेट्"* *[अष्टा० ३ । ४ । ७]* अग्ना-अग्नौ 'आकारादेशश्छान्दसः' अग्रणेतरि त्वयि प्रियो भवेत् (जातेन-उद्भिनदत्-जनित्वेन-उत्) जातेन पापकर्मणा-उद्भिन्नः सम्पर्करहितो जनिष्यमाणेन पापकर्मणा सम्पर्करहितो भवेत् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू (तं सौश्रवसेषु-आ भज) उस इस संयमी को शोभन श्रवण–वेद श्रवण में होने वाले श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार में इनके सेवन करने पर स्वीकार कर–चाहना कर (शस्यमाने-उक्थे-उक्थे-आभज) प्रस्तूयमान अर्थात् स्तुत किये जाते हुए–समर्पित किये जाते हुए प्रत्येक वचन में स्वीकार कर (सूर्ये प्रियः -अग्ना प्रियः-भवाति) वह सूर्यरूप सर्वप्रकाशक तुझ में–तेरी दृष्टि में प्यारा होवे, तुझ अग्रनेता में तेरी दृष्टि में प्रिय होवे (जातेन-उद्भिनदत्-जनित्वेन-उत्) हुए पापकर्म से सम्पर्करहित हो तथा होने वाले पापकर्म से भी सम्पर्करहित हो ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा का जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार करता है तथा उसकी स्तुति करने में लगा रहता है वह सर्वप्रकाशक, अग्रनेता, परमात्मा का प्रिय हो जाता है। वह किसी भी काल में पापकर्म नहीं करता है, पापकर्म के दुःख को नहीं भोगता है ॥ १० ॥

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून्विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ ११ ॥

त्वाम् । अग्ने । यजमानाः । अनु । द्यून् । विश्वा । वसु । दधिरे । वार्याणि । त्वया । सह । द्रविणम् । इच्छमानाः । व्रजम् । गोऽमन्तम् । उशिजः । वि । वव्रुः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन्! (यजमानाः) अध्यात्मयज्ञस्य यजमानाः-आत्मयाजिनः (त्वाम्-अनु) त्वामनुलक्ष्य (द्यून्) दिनानि प्रतिदिनम् (विश्वा वार्याणि वसु दधिरे) सर्वाणि वरणीयानि वसूनि धनानि धारयन्ति प्राप्नुवन्ति (त्वया सह द्रविणम्-इच्छमानाः) तव साहाय्येन धनमिच्छन्तः (उशिजः)

मेधाविनः *"उशिजः-मेधाविनाम"* *[निघ० ३ । १५]* (गोमन्तं व्रजं विवव्रुः) वाग्वन्तं ज्ञानमार्गं विवृतं कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (यजमानाः) अध्यात्मयज्ञ के यजमान–आत्मयाजी (त्वाम्-अनु) तेरे अनुकूल हो (द्यून्) सब दिन (विश्वा वार्याणि वसु दधिरे) सारे वरणीय धनों को धारण करते हैं–प्राप्त करते हैं (त्वया सह द्रविणम्-इच्छमानाः) तेरे साहाय्य से धन को चाहते हुए (उशिजः) मेधावी जन (गोमन्तं व्रजं विवव्रुः) वाणी वाले ज्ञान मार्ग को विवृत करते हैं—खोलते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमात्मा के आदेशानुकूल जीवन के सब दिनों में वरणीय धनों को मनुष्य प्राप्त करते हैं और वे अपने लिए ज्ञानमार्ग का विस्तार करते हैं ॥ ११ ॥

अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ १२ ॥

अस्तावि । अग्निः । नराम् । सुऽशेवः । वैश्वानरः । ऋषिऽभिः । सोमऽगोपाः । अद्वेषे इति । द्यावापृथिवी इति । हुवेम । देवाः । धत्त । रयिम् । अस्मे इति । सुऽवीरम् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नरां सुशेवः) नराणां यः सुसुखसाधकः (वैश्वानरः) विश्वनायकोऽग्निः परमात्मा (सोमगोपाः) सोम्यगुणवतामुपासकानां गोपायिता रक्षकः (ऋषिभिः-अस्तावि) ज्ञानिभिः स्तूयते (अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवे) द्यौश्च पृथिवी चोभयरूपः परमात्मा ज्ञानप्रकाशदाता धारकश्चाद्वेष्टा च तमहं हुवे–निमन्त्रये स्तौमि 'हुवे स्तुयाम्" *[यजु० ३३ । ४६ दयानन्दः]* (देवाः-अस्मे सुवीरं रयिं धत्त) अथैवं स एव परमात्मदेवः 'बहुवचनमादरार्थम्' अस्मभ्यं शोभनवीरा वयं यस्माद् भवेम तथाभूतमध्यात्मपुषं धनं धारय ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(नरां सुशेवः) मनुष्यों के अच्छे सुखों का साधक (वैश्वानरः) विश्व का नायक–नेता अग्निरूप परमात्मा (सोमगोपाः) सोम्यगुण वाले उपासकों का रक्षक है, वह (ऋषिभिः-अस्तावि) ज्ञानियों के द्वारा स्तुत किया जाता है (अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवे) द्यौरूप पृथिवीरूप दोनों धर्मों से युक्त परमात्मा ज्ञानप्रकाशदाता और धारणकर्ता द्वेषरहित है उसे मैं स्तुति में लाता हूँ (देवाः-अस्मे सुवीरं रयिं धत्त) और वह परमात्मदेव हमारे लिए, हम जिससे शोभन वीर वाले बन जायें ऐसे अध्यात्म पोषक धन को धारण कराये ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा मनुष्यों का सुखदाता, उपासकों का रक्षक है। वह ज्ञानप्रकाशदाता तथा धारणकर्त्ता भी है सदा उसकी स्तुति करते हुए अध्यात्मधन की याचना करनी चाहिए ॥१२॥



षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वत्सप्रिः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, २ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ४, ८, १० त्रिष्टुप् । ६ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् । ७ त्रिष्टुप् । ९ निचृत् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विषयः—अत्र सूक्ते 'अग्नि' शब्देन परमात्मा गृह्यते स च जड-जङ्गमानामाधारः, मनुष्याणां कर्मप्रेरकः, सृष्टेर्विज्ञानदाता, स्तुतिप्रार्थना-वचनानामङ्गीकर्त्तेत्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से परमात्मा गृहीत है वह जड़जङ्गमका आधार, मनुष्यों का कर्मप्रेरक, सृष्टिविषयक विज्ञानदाता, स्तुतिप्रार्थनावचनों का अङ्गीकार करने वाला इत्यादि विषय वर्णित हैं ॥

प्र होता॑ जा॒तो म॒हान्न॑भो॒विन्नृ॒षद्वा॑ सीद॒द॒पामु॒पस्थे॑ ।
द॒धिर्यो धायि॒ स ते॒ वयां॑सि य॒न्ता वसू॑नि विध॒ते त॑नू॒पाः ॥ १ ॥

प्र । होता॑ । जा॒तः । म॒हान् । न॒भः॒ऽवित् । नृ॒ऽसद्वा॑ । सी॒द॒त् । अ॒पाम् । उ॒पऽस्थे॑ । द॒धिः । यः । धायि॑ । सः । ते॒ । वयां॑सि । य॒न्ता । वसू॑नि । वि॒ध॒ते । त॒नू॒ऽपाः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-महान्) यः खलु महान् सर्वतः स्वरूपतो महान् (जातः) प्रसिद्धः (होता) सर्वेषामादाता स्वस्मिन् ग्रहीता (नभोवित्) न भान्ति यानि तानि वस्तुजातानि वेत्ति सः सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्य ज्ञाता (नृषद्वा) नृषु मुमुक्षुषूपासकेषु *"नरो ह वै देवविशः"* [जै० १ । ८९] सीदति साक्षाद् भवति 'सद धातोः क्वनिप्' (अपाम्-उपस्थे) सर्वेषां प्राणानाम् *"आपो वै प्राणाः"* [श० ४ । ८ । २ । २] उपस्थाने हृदये वर्तमानोऽस्ति (दधिः-धायि) सर्वं जगद्दधाति धारयति स सर्वधारकः, धीयते-

आश्रियते (सः) स खलु परमात्मा (तनूपाः) आत्मनां रक्षकः "आत्मा वै तनूः" [६ । ७ । २ । ६] (विधते ते) उपासनां कुर्वते तुभ्यम् (वयांसि वसूनि यन्ता) प्राणान् "प्राणो वै वयः" [ऐ० १ । २८] जीवनसाधनान् भोक्तव्यधनानि च नियतीकर्त्ता ऽस्ति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः-महान्) जो सबसे महान् (जातः) प्रसिद्ध (होता) सबको अपने अन्दर धारण करने वाला (नभोवित्) जो वस्तु नहीं भी प्रतीत होती हैं ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं का भी ज्ञाता (नृषद्वा) मुमुक्षुओं के हृदय में साक्षात् होने वाला (अपाम्-उपस्थे) प्राणों के आश्रयरूप हृदय में वर्तमान है (दधिः-धायि) सब जगत् को धारण करने वाला आश्रित किया जाता है (सः) वह परमात्मा (तनूपाः) आत्माओं का रक्षक (विधते ते) तुझ उपासना करते हुए के लिए (वयांसि वसूनि यन्ता) प्राणों को, जीवन के साधन भोक्तव्य धनों को नियत करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब जड़ जङ्गम का आधार है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म का भी ज्ञाता, प्राणियों को रक्षा के साधन देने वाला, जीवनशक्ति तथा जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं का देने वाला, सबका आश्रयणीय और उपास्य है ॥ १ ॥

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन् ।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन् ॥ २ ॥

इमम् । विधन्तः । अपाम् । सधऽस्थे । पशुम् । न । नष्टम् । पदैः । अनु । ग्मन् । गुहा । चतन्तम् । उशिजः । नमःऽभिः । इच्छन्तः । धीराः । भृगवः । अविन्दन् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उशिजः-भृगवः-धीराः) परमात्मानं कामयमानाः "उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः" [निरु० ६ । १०] तेजस्विनः, "भृगुर्भृज्यमानो न देहे" [निरु० ३ । १७] "ध्यानिनः-ध्यानवन्तः" [ऋ० १ । ६२ । १२ दयानन्दः] (इमं विधन्तः) एतं परमात्मानं परिचरन्तः-उपासमानाः "विधन्तः परिचरन्तः" [ऋ० २ । ४ । २ दयानन्दः] (अपां सधस्थे) प्राणानां सहस्थाने हृदये (इच्छन्तः पशुं न नष्टं पदैः-अनुग्मन्) अपहृतं पलायितं गुप्तं पशुं यथा तत्पदचिह्नैः पदचिह्नानि-अनुगच्छन्ति अन्विष्यन्ति तद्वत् परमात्मानमिच्छन्तस्तमन्वेषयन्ति प्राप्नुवन्ति (गुहा चतन्तम्) हृद्गुहायां व्याप्तं वर्तमानम् "चतन्तम् गच्छन्तं व्याप्तम्" [ऋ० १ । ६५ । १ दयानन्दः] (नमोभिः-अविन्दन्) स्तुतिभिः-अध्यात्मयज्ञैर्वा "सप्तनामा सप्तैनमृषयः स्तुवन्ति" [निरु० ४ । २७] "यज्ञो वै नमः" [श० २ । ४ । २ । २४] लभन्ते प्राप्नुवन्ति साक्षात्कुर्वन्ति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(उशिजः-भृगवः-धीराः) परमात्मा को चाहते हुए तेजस्वी ध्यानीजन (इमं विधन्तः) इस परमात्मा को उपासना में लाते हुए (अपां सधस्थे) प्राणों के सहस्थान हृदय में (इच्छन्तः-नष्टं पशुं न पदैः-अनुग्मन्) नष्ट—खोये हुए पशु को जैसे पदचिह्नों से खोजते

हुए पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उसी भांति परमात्मा को चाहते हुए प्राप्त करते हैं (गुहा चतन्तम्) हृदयगुहा में प्राप्त को (नमोभिः-अविन्दन्) स्तुतियों—अध्यात्मयज्ञों के द्वारा साक्षात् करते हैं ।। २ ।।

भावार्थ—उपासक जन परमात्मा की खोज स्तुतियों और अध्यात्मयज्ञों के द्वारा करते हैं पुनः उसे हृदय में साक्षात् प्राप्त कर लेते हैं ।। २ ।।

इमं त्रितो भूर्यविन्दद्दिच्छन् वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य ।। ३ ।।

इमम् । त्रितः । भूरि । अविन्दत् । इच्छन् । वैभूऽवसः । मूर्धनि । अघ्न्यायाः ।
सः । शेऽवृधः । जातः । आ । हर्म्येषु । नाभिः । युवा । भवति । रोचनस्य ।। ३ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(त्रितः) मेधया दुःखादत्यन्ततीर्णः, *"त्रितः-तीर्णतमो मेधया"* [*निरु० ४ । ६*] तिसृभिः स्तुतिप्रार्थनोपासनाभिः सम्पन्नः, यद्वा स्तुतिप्रार्थनोपासनासु वर्तमान आत्मा (वैभुवसः) विभुः सन् वसति सर्वत्रेति विभुवसः परमात्मा तस्य यः पुत्र उपासको वा-आत्मा (इमम्) एनं परमात्मानम् (इच्छन्) द्रष्टुं प्राप्तुं कामयमानः (अघ्न्यायाः-मूर्धन् भूरि-अविन्दन्) अहन्तव्याया वेदवाचो मूर्धभूते 'ओ३म्' इति प्रणवे-अतिशयेन बहुभावेन वा विन्दति प्राप्नोति (सः-शेवृधः-जातः) स परमात्मा सुखस्य वर्धको जातः (हर्म्येषु नाभिः) गृहेषु सुखगृहेषु सुखलोकेषु केन्द्रभूतोऽस्ति (रोचनस्य युवा-आभवति) ज्ञानप्रकाशस्वरूपस्य मिश्रयिता सङ्गतिकर्त्ता—अधिकारी समन्ताद् भवति ।। ३ ।।

भाषान्वयार्थ—(त्रितः) मेधा द्वारा दुःख से अत्यन्त पार हुआ अथवा तीनों स्तुति-प्रार्थना-उपासनाओं से सम्पन्न या स्तुति-प्रार्थना-उपासना में वर्तमान आत्मा (वैभुवसः) विभु होता हुआ जो सबमें बसता है उस परमात्मा का पुत्र या उपासक आत्मा (इमम्) इस परमात्मा को (इच्छन्) देखने—प्राप्त करने को चाहता हुआ (अघ्न्यायाः-मूर्धनि भूरि-अविन्दत्) अहन्तव्य वेदवाणी के मूर्धाभूत प्रणव—'ओ३म्' में अतिशय से प्राप्त करता है (सः-शेवृधः-जातः) वह परमात्मा सुखवर्धक प्रसिद्ध होता है (हर्म्येषु नाभिः) सुखपूर्ण घरों में—सुखस्थानों में केन्द्ररूप है (रोचनस्य युवा-आभवति) ज्ञानप्रकाशकस्वरूप का सङ्गतिकर्त्ता अधिकारी बन जाता है ।। ३ ।।

भावार्थ—जो मनुष्य मेधावी और स्तुति प्रार्थना उपासना से सम्पन्न होता है वह सर्वत्र व्यापक वैभवशाली परमात्मा के प्रिय पुत्र के समान उपासक होता है। वह वाणी के मूर्धा स्वरूप 'ओ३म्' नाम के जप से सुखस्वरूप परमात्मा का साक्षात् करता है जो सब सुखों में ऊंचा श्रेष्ठ सुख है ।। ३ ।।

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम् ।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ।। ४ ।।

मन्द्रम् । होतारम् । उशिजः । नमःऽभिः । प्राञ्चम् । यज्ञम् । नेतारम् । अध्वराणाम् । विशाम् । अकृण्वन् । अरतिम् । पावकम् । हव्यऽवाहम् । दधतः । मानुषेषु ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मानुषेषु दधतः-उशिजः) मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये ये दधानाः स्वान्तरे धारणहेतवे कामयमानाः स्तोतारः (मन्द्रं होतारम्) हर्षयितारमादातारं स्वीकर्तारम् (यज्ञम) यजनीयं सङ्गमनीयम् (अध्वराणां नेतारम्) अध्यात्ममार्गे रममाणानां नेतारम् (विशाम्-अरतिम्) समस्तमनुष्यादिप्रजानां स्वामिनम् (पावकम्) पवित्रकारकम (हव्यवाहम्) स्तुतिप्रार्थनोपहारस्य स्वीकर्तारं परमात्मानम् (प्राञ्चम्-अकृण्वन्) साक्षात् कुर्वन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(मानुषेषु दधतः-उशिजः) मनुष्यों के मध्य में जो अपने अन्दर धारण करने के हेतु कामना रखने वाले (मन्द्रं होतारम्) हर्षित करने वाले तथा स्वीकार करने वाले (यज्ञम्) सङ्गमनीय (अध्वराणां नेतारम्) अध्यात्ममार्ग में रमण करने वालों के नेता (विशाम्-अरतिम्) मनुष्यादि प्रजाओं के स्वामी (पावकम्) पवित्र कारक (हव्यवाहम्) स्तुतिप्रार्थनोपहार के स्वीकार करने वाले परमात्मा को (प्राञ्चम्-अकृण्वन्) साक्षात् करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों में जो परमात्मा को अपने अन्दर धारण करने के अत्यन्त इच्छुक होते हैं और पवित्र आचरण वाले तथा श्रद्धा से उपासना करते हैं वे ही प्राणिमात्र के स्वामी हर्षित करने वाले परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं ॥ ४ ॥

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ॥ ५ ॥

प्र । भूः । जयन्तम् । महाम् । विपःऽधाम् । मूराः । अमूरम् । पुराम् । दर्माणम् । नयन्तः । गर्भम् । वनाम् । धियम् । धुः । हिरिऽश्मश्रुम् । न । अर्वाणम् । धनऽअर्चम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जयन्तम्) जडजेतनात्मकं सर्वं स्वाधीने कुर्वन्तम् (महाम्) महान्तम् (विपोधाम्) मेधाविनः स्तोतुर्धारकम् *"विपः-मेधाविनाम"* [निघ० ३ । १५] (पुरां दर्माणम्) मनसां मनोवासनानाम् *"मन एव पुरः"* [श० १० । ३ । ५ । ७] विदारकम् (गर्भम्) स्तोतव्यम् *"गर्भः स्तोतव्यः"* [ऋ० १ । ७० । २ दयानन्दः] (अमूरम्) अमूढं सर्वज्ञम् *"अमूरः-अमूढः"* [निरु० ६ । ८] (नयन्तः) स्वान्तरे प्रापयन्तः (मूढाः) अल्पज्ञाः (प्र भूः) प्रभवेयुः *"भूः-भव"* [ऋ० १ । ३३ । ३ दयानन्दः] *"लोडर्थे लुङ् न माङ्योगे-इत्यडभावः, दयानन्दः"* वचनव्यत्ययः (वनाम्) वननीयम् *"अमि पूर्वरूपाभावश्छन्दसि वावचनात्, सायणः"* (हिरिश्मश्रुम्) हिरण्यश्मश्रुमिव तेजस्विनम् *"हिरिश्मश्रुः हिरण्यमिव श्मश्रूणि यस्य सः"* [ऋ० ५ । ५ । ७ दयानन्दः] (अर्वाणं न)

अश्वमिव व्याप्तगतिमन्तम् (धनर्चम्) धना प्रीणनीयाऽर्चा यस्मै तं परमात्मानम् (धियं धुः) प्रज्ञां धारयन्तु जनाः *"धुः-दधति"* [*ऋ० ५ । ५८ । ७ दयानन्दः*] ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(जयन्तम्) जड़ चेतन को स्वाधीन करते हुए–(महाम्) महान्–(विपोधाम्) मेधावी स्तुतिकर्त्ताओं के धारण करने वाले–(पुरां दर्माणम्) मानसिक वासनाओं के नष्ट करने वाले–(अमूरम्) सदा सावधान–सर्वज्ञ (गर्भम्) स्तुति करने योग्य परमात्मा को (नयन्तः) अपने अन्दर प्राप्त करते हुए (मूढाः) अल्पज्ञ मनुष्य भी (प्र भूः) समर्थ हो जाते हैं–कुशल हो जाते हैं (वनाम्) वननीय–(हिरिश्मश्रुम्) हिरण्यश्मश्रु जैसे तेजस्वी–(अर्वाणं न) व्याप्तगतिमान् घोड़े की भांति (धनर्चम्) प्रसन्न करने वाली अर्चा–स्तुति जिसके लिए की जाये ऐसे परमात्मा के प्रति (धियं धुः) बुद्धि–आस्तिकता को मनुष्य धारण करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त जड़ चेतन को अपने अधिकार में रखे हुए है। वह अपने उपासकों की वासनाओं को नष्ट करता है। अल्पज्ञानी मनुष्य उसकी उपासना से कुशल बन जाते हैं। उस तेजस्वी परमात्मा की यथार्थ अर्चना और उसके प्रति आस्तिक बुद्धि मनुष्यों को रखनी चाहिए ॥ ५ ॥

नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीददन्तः ।
अतः संगृभ्या विशां दमूना विधर्मणायन्त्रैरीयते नॄन् ॥ ६ ॥

नि । पस्त्यासु । त्रितः । स्तभुऽयन् । परिऽवीतः । योनौ । सीदत् । अन्तरिति । अतः । सम्ऽगृभ्य । विशाम् । दमूनाः । विऽधर्मणा । अयन्त्रैः । ईयते । नॄन् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पस्त्यासु) विक्षु मनुष्यादिप्रजासु *"विशो वै पस्त्याः"* [*श० ५ । ३ । ५ । १९*] (त्रितः) सुखत्रयस्य विस्तारकः परमात्मा, *"यस्त्रीणि शरीरात्ममनस्सम्बन्धीनि सुखानि तनोति सः"* [*ऋ० २ । ३४ । १४ दयानन्दः*] (परिवीतः) परिप्राप्तः (स्तभुयन्) ता विशः प्रजाः स्थिरीकुर्वन् (योनौ–अन्तः-निसीदत्) हृदयेऽन्तर्निषीदति (अतः) अत एव (विशां सङ्गृभ्य दमूनाः) मनुष्यप्रजानां कर्माणि सङ्गृह्य तत्कर्मफलाय दानमनाः सन् (विधर्मणा) स्वकीयन्यायकर्मणा *"विधर्मधर्मस्य विधृत्यै"* [*ताण्ड्य० १५ । ५ । ३१*] (नॄन्-अयन्त्रैः-ईहते) मुमुक्षून् *"नरो ह वै देवविशः"* [*जै० १ । ८९*] कैश्चिद् गमनसाधनैर्विना प्राप्नोति साक्षाद् भवति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(पस्त्यासु) मनुष्य प्रजाओं के अन्दर (त्रितः) शरीर–आत्मा–मन सम्बन्धी तीनों सुखों का विस्तार करने वाला परमात्मा (परिवीतः) परिप्राप्त–व्याप्त (स्तभुयन्) उन मनुष्यादि प्रजाओं को स्थिर करता हुआ–नियत करता हुआ (योनौ-अन्तः-नि-सीदत्) हृदयों के अन्दर विराजमान है (अतः) इससे (विशां सङ्गृभ्य दमूनाः) मनुष्य प्रजाओं के कर्मों को लेकर उनके कर्मफल देने के मनवाला होकर (विधर्मणा) अपने न्यायकर्म से (नॄन्-अयन्त्रैः-ईयते) मुमुक्षुओं को किन्हीं गमनसाधनों के बिना प्राप्त होता है–साक्षात् होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— मनुष्यों के शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक सुखों का विस्तार करने वाला परमात्मा है। वह उनके कर्मानुसार फल देता है। मुमुक्षु उपासकों के हृदय में स्वतः साक्षात् होता है उसे किसी यानादि साधन की आवश्यकता नहीं है ॥ ६ ॥

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥ ७ ॥

अस्य। अजरासः। दमाम्। अरित्राः। अर्चत्ऽधूमासः। अग्नयः। पावकाः। श्वितीचयः। श्वात्रासः। भुरण्यवः। वनऽसदः। वायवः। न। सोमाः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य) एतस्योपासकस्य (दमाम्) दमनकर्तृभ्यो बाधकेभ्यः *"दमाम्-यो दामयति तम्"* [*ऋ० ६। ३। ७ दयानन्दः*] (अरित्राः) तेभ्य एव अरिभ्यस्त्राता *"अरित्राः-ये अरिभ्यस्त्रायन्ते ते"* [*यजु० ३३। १। दयानन्दः*] 'अत्र सर्वत्र बहुवचनमादरार्थम्' (अजरासः) अजरः-जरारहितः (अर्चद्धूमासः) ज्वलत्तेजाः-अर्चनीयतेजोयुक्तो वा (पावकाः) पवित्रकारकः (श्वितीचयः) श्वेतवर्णसंस्त्यानः शुभ्रः *"श्वितीचयः ये श्वितिं श्वेतवर्णं चिन्वन्ति ते"* [*यजु० ३३। १ दयानन्दः*] (श्वात्रासः) शीघ्रकारी (भुरण्यवः) पालनकर्त्ता (वनर्षदः) ये वने वनयितरि सम्भाजयितरि स्तोतरि सीदन्ति ते-स्तोतरि प्रापणशीलः *"वनर्षदः-ये वने सीदन्ति ते"* [*ऋ० २। ३१। १ 'वा छन्दसीति रुडागमः' दयानन्दः*] (वायवः-न सोमाः) वायव इव शान्तप्रवाहाः-वायुरिव शान्तप्रवाहवान् (अग्नयः) ज्ञानप्रकाशकः परमात्माऽस्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य) इस उपासक के (दमाम्) दमनकर्त्ता बाधकों से (अरित्राः) रक्षा करने वाला (अजरासः) जरारहित (अर्चद्धूमासः) अर्चनीय तेज वाला (पावकः) पवित्रकारक (श्वितीचयः) शुभ्रस्वरूप (श्वात्रासः) शीघ्रकारी (भुरण्यवः) पालनकर्त्ता (वनर्षदः) सम्भक्ति-स्तुति करने वाले में प्राप्तिशील-प्राप्त होने वाला (वायवः-न सोमाः) वायु के समान प्राप्त होने वाला शान्तस्वरूप (अग्नयः) ज्ञानप्रकाशक परमात्मा है ॥ ७ ।

भावार्थ—उपासक के बाधकों को नष्ट करने वाला उनसे रक्षा करने वाला परमात्मा अजर, अर्चनीय तेज वाला, पवित्रकर्त्ता, शुभ्रस्वरूप वाला, शीघ्रकारी, पालनकर्त्ता, उपासक के हृदय में प्राप्त होने वाला, शान्त गतिमान् और ज्ञानप्रकाशक है ॥ ७ ॥

प्र जिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः।
तमायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम् ॥ ८ ॥

प्र। जिह्वया। भरते। वेपः। अग्निः। प्र। वयुनानि। चेतसा। पृथिव्याः। तम्। आयवः। शुचयन्तम्। पावकम्। मन्द्रम्। होतारम्। दधिरे। यजिष्ठम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः) ज्ञानप्रकाशकः परमात्मा (जिह्वया) वेदवाचा स्तुतिवाचा वा *"जिह्वा वाङ्नाम"* [*निघ० १ । ११*] (वेपः प्रभरते) कर्म *"वेपः कर्मनाम"* [*निघ० २ । १*] मनुष्येषु प्रकृष्टं धारयति (पृथिव्याः-वयुनानि चेतसा प्र) प्रथितायाः सृष्टेश्चेतयित्रा वेदज्ञानेन प्रज्ञानानि मनुष्येषु प्रकृष्टं धारयति (तं शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं यजिष्ठम्) तं ज्ञानेन प्रकाशमानं पवित्रकारकं स्तुत्यं स्वीकर्तारं बहुसङ्गमनीयम् (आयवः-दधिरे) मनुष्याः *"आयवः-मनुष्यनाम"* [*निघ० २ । ३*] धारयन्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः) ज्ञानप्रकाशक परमात्मा (जिह्वया) वेदवाणी द्वारा वा स्तुति द्वारा (वेपः प्रभरते) मनुष्यों में कर्म—कर्मशक्ति को प्रकृष्टरूप से भरता है—धरता है (पृथिव्याः -वयुनानि चेतसा प्र) प्रथित—विस्तृत सृष्टि के प्रज्ञानों को वेदज्ञान से मनुष्यों में प्रकृष्ट रूप से धारण करता है (तं शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होता रं यजिष्ठम्) उस ज्ञान से प्रकाशमान, पवित्र-कारक, स्तुति करने योग्य, स्वीकर्त्ता, बहुसङ्गमनीय परमात्मा को (आयवः-दधिरे) मनुष्य लोग धारण करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा वेदद्वारा मनुष्यों को कर्मविधान का उपदेश देता है तथा वेद के द्वारा ही विस्तृत सृष्टि के ज्ञानकर्मों को भी जनाता है। वह परमात्मा सबके द्वारा स्तुति करने और धारण करने योग्य है ॥ ८ ॥

द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः ।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् ॥ ९ ॥

द्यावा । यम् । अग्निम् । पृथिवी इति । जनिष्टाम् । आपः । त्वष्टा । भृगवः । यम् । सहःऽभिः । ईळेन्यम् । प्रथमम् । मातरिश्वा । देवाः । ततक्षुः । मनवे । यजत्रम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(द्यावा पृथिवी) द्यावापृथिव्यौ द्यौर्द्युलोकः पृथिवीलोकश्चोभौ (यम्-अग्निं सहोभिः-जनिष्टाम्) यमग्रणायकं जगत्प्रकाशकं परमात्मानं बलैः प्रादुर्भावयतः-प्रदर्शयतः (आपः-च) जलप्रवाहाश्च स्ववेगैः (भृगवः) भर्जनशीलाः-रश्मयः (यम्) यं परमात्मानं स्वतेजःप्रभावैः प्रदर्शयन्ति (मातरिश्वा देवाः-मनवे प्रथमम्-ईळेन्यं यजत्रं ततक्षुः) वायुः-दिविभवाः पदार्थाः—मननशीलायास्तिकजनाय प्रमुखं श्रेष्ठं स्तुत्यमध्यात्मयज्ञे यजनीयं परमात्मानं तक्षन्ति स्पष्टं दर्शयन्ति, स उपास्य इति शेषः ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ–(द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों (यम्—अग्निं सहोभिः -जनिष्टाम्) जिस अग्रणायक जगत्प्रकाशक परमात्मा को अपने गुण बलों से प्रसिद्ध—प्रदर्शित करते हैं (आपः-च) और जलप्रवाह भी जिसे प्रसिद्ध करते हैं—प्रदर्शित करते हैं (भृगवः) भर्जनशील रश्मियां—किरणें (यम्) जिस परमात्मा को अपने तेजप्रभावों से प्रदर्शित करती हैं (मातरिश्वा

देवाः) वायु और द्युलोक-आकाश के पदार्थ (मनवे प्रथमम्-ईळेन्यं यजत्रं ततक्षुः) मननशील आस्तिकजन के लिए प्रमुख श्रेष्ठ स्तुति करने योग्य अध्यात्मयज्ञ में यजनीय परमात्मा को स्पष्ट दर्शाते हैं—उपास्य रूप में सिद्ध करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, जलप्रवाह, किरणें और वायु तथा आकाश के पदार्थ परमात्मा को अपना नायक और कर्त्ता के रूप में मननशील मनुष्य के लिए दर्शाते हैं—सिद्ध करते हैं। उस परमात्मा की उपासना करनी चाहिए ॥ ९ ॥

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम् ।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्रदेवयन् यशसः सं हि पूर्वीः ॥ १० ॥

यम् । त्वा । देवाः । दधिरे । हव्यऽवाहम् । पुरुऽस्पृहः । मानुषासः । यजत्रम् ।
सः । यामन् । अग्ने । स्तुवते । वयः । धाः । प्र । देवऽयन् । यशसः । सम् । हि ।
पूर्वीः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः— (अग्ने) हे अग्रणायक ! ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (यं त्वा हव्यवाहं यजत्रम्) यं त्वां प्रार्थनावचनस्य स्वीकर्त्तारं यजनीयं सङ्गमनीयं देवम् (पुरुस्पृहः-मानुषासः-दधिरे) बहुवाञ्छन्तो जनाः-धारयन्ति (सः स्तुवते यामन् वयः-धाः) स त्वं स्तुतिकर्त्रे मोक्षमार्गे जीवनमायुर्बलं धारय (देवयन् यशसः पूर्वीः-हि सम्) त्वां देवं कामयमानो जनो यशांसि प्राप्नोति पुरातनीः श्रेष्ठा वा सम्पत्तीः सम्यगाप्नोति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक, ज्ञानप्रकाशक, परमात्मन् ! (यं त्वा हव्यवाहं यजत्रम्) जिस तुझ प्रार्थनावचन के स्वीकार कर्त्ता सङ्गमनीय देव को (पुरुस्पृहः-मानुषासः-दधिरे) बहुत चाहने वाले मनुष्य धारण करते हैं (सः स्तुवते यामन् वयः-धाः) वह तू स्तुतिकर्त्ता के लिए मोक्षमार्ग में जीवन, आयु, बल को धारण करा (देवयन् यशसः पूर्वीः-हि सम्०) तुझ देव को चाहने वाला मनुष्य भांति-भांति के यशों को प्राप्त करता है और पुरातन या श्रेष्ठ सम्पत्तियों को भी प्राप्त करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा प्रार्थनावचनों को स्वीकार करता है, वह सङ्गमनीय है, उसे चाहने वाले मनुष्य धारण करते हैं—उपासना में लाते हैं। उपासक जन उसकी कृपा से नानाप्रकार के यशों को और आध्यामित्क सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥



सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—सप्तगुः ।

देवता—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

छन्दः—१, ४, ७, त्रिष्टुप् । २ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ३ भुरिक् त्रिष्टुप् । ५, ६, ८, निचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—सूक्तेऽत्र 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा कथ्यते स च जगतो मोक्षस्य स्वामी सन् यथायोग्यं भोगप्रदाता योगसाधकेभ्यो मोक्षस्य दाता चेत्येवमादयो विषया वर्तन्ते ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमात्मा कहा गया है और वह जगत् और मोक्ष का स्वामी होता हुआ यथायोग्य भोग का दाता, योग साधकों के लिए मोक्षदाता, आदि विषय वर्णित हैं ॥

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ १ ॥

जगृभ्म । ते । दक्षिणम् । इन्द्र । हस्तम् । वसुऽयवः । वसुऽपते । वसूनाम् । विद्म । हि । त्वा । गोऽपतिम् । शूर । गोनाम् । अस्मभ्यम् । चित्रम् । वृषणम । रयिम् । दाः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वसूनां वसुपते शूर-इन्द्र) हे धनानां धनस्वामिन् सर्वत्रगतिमन् व्यापक परमात्मन् ! *"शूरः शवतेर्गतिकर्मणः"* [*निरु० ३ । १३*] (वसूयवः) वयं धनकामाः (ते दक्षिणं हस्तं जगृभ्म) तव दश्यते दीयते येन तं दानसाधनन् *"दक्षिणः....... दशतेर्वा स्याद्दानकर्मणः"* [*निरु० १ । ७*] हस्तमिवालम्बनमाश्रयं गृह्णीमः (त्वा गोनां गोपतिं विद्म हि) गवां सुखस्य गमयितॄणां पदार्थानां तथाभूतानाञ्च स्वामिनं त्वां जानीम मन्यामहे, अतः (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) अस्मदर्थं चायनीयं दर्शनीयं स्वरूपभूतं सुखवर्षकं धनमात्मपोषं देहि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वसूनां वसुपते शूर इन्द्र) हे धनों के धनस्वामिन् सर्वत्रगतिमान् व्यापक परमात्मन् ! (वसूयवः) हम धन की कामना करने वाले (ते दक्षिणं हस्तं जगृभ्म) तेरे देने

वाले हस्तरूप साधन को पकड़ते हैं–हाथ के समान आश्रय को ग्रहण करते हैं (त्वा गोनां गोपतिं विद्म हि) तुझ सुख प्राप्त कराने वाले पदार्थों के स्वामी को हम जानते हैं–मानते हैं–उपासना में लाते हैं (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) हमारे लिए दर्शनीय अपने स्वरूप को और सुखवर्षक आत्मपोषक धन को दे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त धनों और सुखों को देने वाले पदार्थों का स्वामी है, उसकी हम उपासना करें तो वह हमें निश्चित धन और सुख से सम्पन्न कर सकता है ॥ १ ॥

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम् ।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ २ ॥

सुऽआयुधम् । सुऽअवसम् । सुऽनीथम् । चतुःऽसमुद्रम् । धरुणम् । रयीणाम् । चर्कृत्यम् । शंस्यम् । भूरिऽवारम् । अस्मभ्यम् । चित्रम । वृषणम् । रयिम् । दाः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सु-आयुधम्) शोभनायुधारयितारम् (सु-अवसम्) सम्यग्रक्षणकर्तारम् (सुनीथम्) सुसञ्चालकं शोभननेतारम् (चतुः समुद्रम्) चत्वारः कामाः कमनीयपदार्था धर्मार्थकाममोक्षा यस्मात् सिद्ध्यन्ति तथाभूतम् *"कामं समुद्रमाविश"* [तै० आ० ३ । १० । २] (रयीणां धरुणम्) पोषणकराणां धनानां धारकम् (चर्कृत्यम्) पुनः पुनः सत्करणीयमुपासनीयम् *"चर्कृत्यः-यो जगदीश्वरः सर्वमनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्यः"* [*ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, दयानन्दः*] (शस्यम्) प्रशंसनीयम् (भूरिवारम्) भूरयो वाराः-वरणीया यस्मात् तं बहुवरणीयानां दातारं विद्म जानीम इति (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) पूर्ववत् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सु-आयुधम्) शोभन आयु के धारण कराने वाले–(सु-अवसम्) सम्यक् रक्षा करने वाले–(सुनीथम्) सुसंचालक–अच्छे नेता–(चतुः-समुद्रम्) चार अर्थात् धर्मार्थकाममोक्ष जिससे सिद्ध होते हैं उस ऐसे–(रयीणां धरुणम्) पोषण कारक धनों के धारण करने वाले–(चर्कृत्यम्) पुनः पुनः सत्करणीय–उपासनीय–(शस्यम्) प्रशंसनीय–(भूरिवारम्) बहुत वरणीय पदार्थों के दाता परमात्मा को जानते हैं–मानते हैं (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) पूर्ववत् ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा उत्तम आयु का देने वाला, उत्तम रक्षक, धर्मार्थकाममोक्ष का साधक, विविध धनों का धारण करने वाला, बहुत वरणीय पदार्थों के दाता सत्करणीय परमात्मा को जानना और मानना चाहिए वह हमें निश्चित धन और सुख से सम्पन्न कर सकता है ॥ २ ॥

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ३ ॥

सुऽब्रह्माणम् । देवऽवन्तम् । बृहन्तम् । उरुम् । गभीरम । पृथुऽबुध्नम् । इन्द्र । श्रुतऽऋषिम् । उग्रम । अभिमातिऽसहम् । अस्मभ्यम् । चित्रम । वृषणम । रयिम् । दाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुब्रह्माणम्) शोभनवेदज्ञानस्वामिनम् (देवयन्तम्) मुमुक्षून् कामयमानम् (बृहन्तम्) सर्वतो महान्तम् (उरुम्) विस्तीर्णमनन्तम् (गभीरम्) अपारम् (पृथुबुध्नम्) सर्वस्य जगतः प्रथितमूलरूपम् (श्रुतऋषिम्) श्रुतः श्रोतव्य ऋषिभिस्तथाभूतो यस्तम् (उग्रम्) उद्गूर्णं सर्वत उपरि वर्तमानम् (अभिमातिषहम्) अभिमानिनां परिभावकं त्वामिन्द्रं परमात्मानं विद्म जानीम इति (इन्द्र) स त्वमिन्द्र ! (अस्मभ्यम्....) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(सुब्रह्माणम्) शोभन वेदज्ञान के स्वामी–(देवयन्तम्) मुमुक्षुओं के चाहने वाले–(बृहन्तम्) सर्वतो महान्–(उरुम्) अनन्त–(गभीरम्) अपार–(पृथुबुध्नम्) सब जगत् के प्रथितमूल (श्रुतऋषिम्) ऋषियों द्वारा श्रवण करने योग्य–(उग्रम्) सब के ऊपर विराजमान–(अभिमातिषहम्) अभिमानी जनों के दबाने वाले परमात्मा को जानते हैं–मानते हैं (इन्द्र) वह तू इन्द्र ! (अस्मभ्यम्...) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा उत्तम वेदज्ञान का स्वामी है। सबसे महान्, अनन्त, जगत् का आदि कारण, ऋषियों द्वारा श्रवण करने योग्य, सर्वोपरि विराजमान, अभिमानियों का मानमर्दक है, उस परमात्मा को जानना चाहिए, वह हमें निश्चित रूप से धन और सुख से सम्पन्न कर सकता है ॥ ३ ॥

सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम् ।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ४ ॥

सनत्ऽवाजम् । विप्रऽवीरम् । तरुत्रम् । धनऽस्पृतम् । शूशुऽवांसम् । सुऽदक्षम् । दस्युऽहनम् । पूःऽभिदम् । इन्द्र । सत्यम् । अस्मभ्यम् । चित्रम । वृषणम । रयिम् । दाः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सनद्वाजम्) वाजममृतान्नं सनति सम्भजतीति सनद्वाजम्–अमृतान्नसम्भाजयितारम्, यथा भरद्वाजम्–"*प्रजा वै वाजास्ता एष बिभर्ति तस्माद् भरद्वाजः*" [ऐ० आ० २ । २ । २] (विप्रवीरम्) विप्रा उपासका मेधाविनो वीरा वीर्यं धारयमाणा यस्य तम् (तरुत्रम्) भवसागरात् तारकम् (धनस्पृतम् धनं) स्पारयति प्रापयति यस्तम् 'अन्तर्गतो णिजर्थः' (शूशुवांसम्) वर्धयितारम्, व्याप्नुवन्तम्, "*शूशुवांसं व्याप्नुवन्तम्*" [*ऋ० ६ । १८ । २ दयानन्दः*] (सुदक्षम्) श्रेष्ठबलवन्तम् (दस्युहनम्) दुष्टनाशकम् (पूर्भिदम्) पापपुरां मनोवृत्तीनां भेत्तारम् (सत्यम्) सत्यमविनाशिनम्, इन्द्र ! त्वां विद्म जानीम (अस्मभ्यम्....) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सनद्वाजम्) अमृतान्न के सम्भाजक-(विप्रवीरम्) मेधावी उपासकों वाले-(तरुतारम्) संसारसागर तराने वाले-(धनस्पृतम्) धनप्राप्त कराने वाले-(शूशुवांसम्) बढाने वाले या व्यापने वाले-(सुदक्षम्) श्रेष्ठ बलवाले-(दस्युहनम्) दुष्टनाशक (पूर्भिदम्) पापपुरों-मन की वासना के नाशक-(सत्यम्) अविनाशी तुझ परमात्मा को हम जानते हैं-मानते हैं (अस्मभ्यम्) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा अमृतान्न भोग का दाता, मेधावी लोगों द्वारा उपासनीय, संसारसागर से तराने वाला, धन को प्राप्त कराने वाला, वर्धक, व्यापक, प्रशस्त बल वाला, दुष्टनाशक, मानसिक वासनाओं को दूर करने वाला एवं अविनाशी है। वह सबके द्वारा जानने, मानने और उपासना करने योग्य है ॥ ४ ॥

अश्वा॑वन्तं र॒थिनं॑ वी॒रव॑न्तं सह॒स्रिणं॑ श॒तिनं॒ वाज॑मिन्द्र ।
भ॒द्रव्रा॑तं॒ विप्र॑वीरं स्व॒र्षाम॒स्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दाः ॥ ५ ॥

अश्व॑ऽवन्तम् । र॒थिन॑म् । वी॒रऽव॑न्तम् । स॒हु॒स्रिण॑म् । श॒तिन॑म् । वाज॑म् । इ॒न्द्र॒ । भ॒द्रऽव्रा॑तम् । विप्र॑ऽवीरम् । स्वः॒ऽसाम् । अ॒स्मभ्य॑म् । चि॒त्रम् । वृष॑णम् । र॒यिम् । दाः॒ ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्वान्वतम्) अश्ववद्व्याप्तधर्माणम् (रथिनम्) मुमुक्षूणां रमणस्थानं मोक्षस्तद्वन्तम् (वीरवन्तम्) अध्यात्मवीराणां स्वामिनम् (सहस्रिणं शतिनं वाजम्) सहस्रगुणितं तथासंख्यगुणितवाजममृतान्नरूपम् (भद्रव्रातम्) भद्राणि कल्याणकराणि वस्तुवृन्दानि यस्य तथाभूतम् (विप्रवीरम्) विप्रा मेधाविन उपासका वीराः पुत्राः *"पुत्रो वै वीरः"* [श० ३ । ३ । १ । १२] यस्य तथाभूतम् (स्वर्षाम्) सुखसम्भाजकं सुखदातारं विद्म जानीमः (अस्मभ्यम्·····) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्वावन्तम्) अश्व के समान व्याप्ति वाले-(रथिनम्) मुमुक्षुओं के रमणयोग्य मोक्ष वाले-(वीरवन्तम्) अध्यात्मवीरों के स्वामी-(सहस्रिणं शतिनं वाजम्) सहस्रगुणित तथा असंख्यगुणित, अमृतान्नरूप-(भद्रव्रातम्) कल्याणकारी वस्तुओं के स्वामी-(विप्रवीरम्) मेधावी उपासक वाले-(स्वर्षाम्) सुखसम्पादक-सुखदाता परमात्मा को हम जानते हैं-मानते हैं (अस्मभ्यम्...) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—व्याप्तिमान्-सब में व्याप्त, मुमुक्षुओं के मोक्ष का स्वामी, अध्यात्मवीरों का स्वामी, सहस्रों और असंख्य अमृतान्न भोगों का स्वामी, कल्याणकारी वस्तु समूहों का स्वामी, मेधावी उपासकों का स्वामी परमात्मा मनुष्यों का सुखसम्भाजक जानने-मानने योग्य है वह धन और सुखों से हमें अवश्य सम्पन्न करता है ॥ ५ ॥

प्र स॒प्तगु॑मृ॒तधी॑तिं सुमे॒धां बृह॒स्पतिं॑ म॒तिरच्छा॑ जिगाति ।
य आ॑ङ्गिर॒सो नम॑सोपस॒द्यो॑ऽस्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दाः ॥ ६ ॥

प्र । सप्तऽगुम् । ऋतऽधीतिम् । सुऽमेधाम् । बृहस्पतिम् । मतिः । अच्छ । जिगाति । यः । आङ्गिरसः । नमसा । उपऽसद्यः । अस्मभ्यम् । चित्रम् । वृषणम् । रयिम् । दाः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सप्तगुम्) सप्तगावो गानकर्त्र्यो गायत्रीप्रभृतयो वाचो यस्य तथाभूतम् (ऋतधीतिम्) सत्यकर्माणम् *"धीतिभिः कर्मभिः"* [*निरु० २ । २४*] (सुमेधाम्) शोभनप्रज्ञम् (बृहस्पतिम) बृहतामाकाशादीनां पतिं स्वामिनम् (यः-आङ्गिरसः-मतिः) यः खलु प्राणानामभ्यासी मेधावीजनः *"मतयः-मेधाविनाम"* [*निघ० ३ । १५*] (नमसा–उपसद्यः-अच्छ प्रजिगाति) स्तुत्या प्राप्तुं योग्योऽभिमुखं प्राप्नोति (अस्मभ्यम्....) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सप्तगुम्) सात छन्दोमय गान करने वाली वेदवाणियों के स्वामी –(ऋतधीतिम्) सत्यकर्म वाले–(सुमेधाम्) शोभन प्रज्ञा वाले–(बृहस्पतिम्) महान् आकाशादि पदार्थों के स्वामी परमात्मा को (यः-आङ्गिरसः-मतिः) जो प्राणायाम का अभ्यासी मेधावी जन है वह (नमसा-उपसद्यः-अच्छ-प्र जिगाति) स्तुति से समीप पहुंचने वाला, भलीभांति प्राप्त करता है (अस्मभ्यम्...) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राणायाम आदि योगाभ्यास करने वाला जन वेदवाणी के स्वामी, सर्वज्ञ, सत्यकर्म वाले महान् विश्व के स्वामी परमात्मा को स्तुति से प्राप्त करता है । जो परमात्मा हमें निश्चित धनों और सुखों को प्राप्त कराता है ॥ ६ ॥

वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ७ ॥

वनीवानः । मम । दूतासः । इन्द्रम् । स्तोमाः । चरन्ति । सुऽमतीः । इयानाः । हृदिऽस्पृशः । मनसा । वच्यमानाः । अस्मभ्यम् । चित्रम् । वृषणम् । रयिम् । दाः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मम) मम स्तोतुः (स्तोमाः) पूर्वोक्ताः स्तुतिसमूहाः (वनीवानाः) सम्भजनवन्तः-अनुरागवन्तः (दूतासः) दूतवदभिप्रायं प्रकटयन्तः (सुमतीः-इयानाः) अनुकूलमतीः प्रियकारिणीर्मतीर्याचमानाः (हृदिस्पृशः-मनसा वच्यमानाः) हृदये संलग्ना मनसाऽन्तःकरणेनोच्यमानाः (इन्द्रं चरन्ति) परमात्मानं प्राप्नुवन्ति (अस्मभ्यम्........) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(मम) मुझ स्तोता के (स्तोमाः) पूर्वोक्त स्तुतिसमूह (वनीवानाः) अनुराग वाले (दूतासः) दूत की भांति अभिप्राय प्रकट करने वाले (सुमतीः-इयानाः) प्रियकारिणी मतियों को चाहते हुए (हृदिस्पृशः-मनसा वच्यमानाः) हृदय में लगती हुई–अन्तःकरण

से उच्चरित होती हुई सी (इन्द्रं चरन्ति) परमात्मा को प्राप्त होती हैं (अस्मभ्यम्⋯⋯) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—उपासक की स्तुतियां अनुरागपूर्ण कल्याण चाहती हुई, हृदय में लगती हुई, अन्तःकरण से निकली हुई परमात्मा के लिए होनी चाहिएं। वह परमात्मा हमारे लिए धनों और सुखों को प्राप्त कराता है ॥ ७ ॥

यत्त्वा यामि दुद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् ।
अभि तद्द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ८ ॥

यत् । त्वा । यामि । दुद्धि । तत् । नः । इन्द्र । बृहन्तम् । क्षयम् । असमम् । जनानाम् । अभि । तत् । द्यावापृथिवी इति । गृणीताम् । अस्मभ्यम् । चित्रम् । वृषणम् । रयिम् । दाः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वा) त्वाम् (यत्-यामि) यत् खलु याचामि याचेऽहम् *"यामि याच्ञाकर्मा" [निघ० ३ । १९]* (तत्-नः-दद्धि) तदस्मभ्यं देहि *"दद दाने"* [भ्वादिः] 'लोटि व्यत्ययेन परस्मैपदं बहुलं छन्दसि शपो लुक् च', तत्किमित्युच्यते (जनानाम्-असमं क्षयम्) उपासकजनानामन्येभ्यो विशिष्टममरस्थानं मोक्षमित्यर्थः (तत्-द्यावापृथिवी-अभिगृणीताम्) तत् खलु मातापितरौ मातापितृभूतौ स्त्रीपुरुषौ, अध्यापिकाध्यापकौ *"द्यौर्मे पिता⋯माता पृथिवी महीयम्" [ऋ० १ । १६४ । ३३]* अभ्युपदिशतः (अस्मभ्यम्⋯) पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वा) तुझे-तुझ से (यत्-यामि) जो मांगता हूँ या चाहता हूँ (तत्-नः-दद्धि) उसे हमारे लिए प्रदान कर (जनानाम्-असमं क्षयम्) उपासक जनों का अन्यों की अपेक्षा जो विशिष्ट अमर स्थान मोक्ष है उसे दे (तत्-द्यावापृथिवी-अभिगृणीताम्) उसे माता पिता रूप स्त्री पुरुष अध्यापिका अध्यापक, उसका उपदेश करते हैं (अस्मभ्यम्⋯⋯) पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—उपासकों का अभीष्ट अमरधाम मोक्ष है। उसे प्राप्त करने के लिए परमात्मा से याचना करनी चाहिए। माता-पिता, अध्यापिका-अध्यापक, स्त्री-पुरुष, अपने पुत्रों और शिष्यों को उसकी प्राप्ति करने के यत्न का उपदेश दें ॥ ८ ॥



अष्टाचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

देवता—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

छन्दः—१, ३, पादनिचृज्जगती । २, ८, जगती । ४, निचृज्जगती । ५, विराड् जगती । ६, ९, आर्ची स्वराड् जगती । ७, विराट् त्रिष्टुप् । १०, ११, त्रिष्टुप् ॥

विषयः— अत्र 'इन्द्र' शब्देन परमेश्वर गृह्यते । स च योगिभ्य उपासकेभ्य आस्तिकेभ्यो मोक्षं प्रयच्छति तैः मित्रतामाचरति वेदवाचं च प्रयच्छति रक्षति च दुष्टकर्मभ्यः । नास्तिकान् दण्डयतीत्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमेश्वर ग्रहण किया है। वह परमात्मा योगियों, उपासकों, आस्तिकों को मोक्ष प्रदान करता है, उनके साथ मित्रता करता है, वेदज्ञान देता है दुष्कर्मों से बचाता है और नास्तिकों को दण्ड देता है यह वर्णित है ॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥ १ ॥

अहम् । भुवम् । वसुनः । पूर्व्यः । पतिः । अहम् । धनानि । सम् । जयामि । शश्वतः । माम् । हवन्ते । पितरम् । न । जन्तवः । अहम् । दाशुषे । वि । भजामि । भोजनम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (वसुनः) नितान्तं वसन्ति मुक्तात्मानो यस्मिन् तस्य मोक्षधाम्नो धनभूतस्य (पूर्व्यः) सनातनः (पतिः) स्वामी खल्वस्मि (अहम्) अहमेव परमात्मा (धनानि) लौकिकानि धनानि (शश्वतः) बहोर्गणस्य जीवगणस्य *"शश्वत्-बहुनाम"* [*निघ० ३ । १*] तृप्तये (संजयामि) संरक्षामि स्वाधीने संस्थापयामि, [अतः (जन्तवः) जीवाः-मनुष्याः *"मनुष्या वै जन्तवः"* [*श० ७ । ३ । १ । ३२*] (मां पितरं न हवन्ते) मां पितरमिव-आह्वयन्ति (अहम्) अहं हि (दाशुषे)

दत्तवतेऽन्येभ्यो दानकर्त्रे यद्वा स्वात्मसमर्पणं कृतवते (भोजनम्) लोकसुखकरं भोगं मोक्षानन्दम् च (विभजामि) यथायोग्यं विभज्य प्रयच्छामि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (वसुनः) मुक्तों के नितान्त वासस्थान मोक्ष का (पूर्व्यः) पुरातन (पतिः) स्वामी हूँ (अहम्) मैं ही (धनानि) लौकिक धनों को (शश्वतः) बहुतेरे जीवगणों को उनकी तृप्ति के लिए (संजयामि) संरक्षित रखता हूँ—स्वाधीन रखता हूँ (जन्तवः) मनुष्यादि प्राणी (मां पितरं न हवन्ते) मुझे पिता के समान आमन्त्रित करते हैं—पुकारते हैं (अहम्) मैं ही (दाशुषे) अन्यों को देने वाले के लिए अथवा आत्मसमर्पण करने वाले के लिए (भोजनम्) लोकसुखकर भोग तथा मोक्षानन्द को (विभजामि) यथायोग्य विभक्त करके देता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा मुक्तात्माओं के मोक्षरूप वास का पुरातन स्वामी है प्राणिगणों के लिए विविध धनों और जीवननिर्वाहक भोगों को यथायोग्य देता है ॥ १ ॥

अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि ।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने ॥२॥

अहम् । इन्द्रः । रोधः । वक्षः । अथर्वणः । त्रिताय । गाः । अजनयम । अहेः । अधि । अहम् । दस्युऽभ्यः । परि । नृम्णम् । आ । ददे । गोत्रा । शिक्षन् । दधीचे । मातरिश्वने ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्-इन्द्रः) अहमैश्वर्यवान् परमात्मा (अथर्वणः) अविचलितस्य योगिनः *"अथर्वा··· थर्वति गतिकर्मा तत्प्रतिषेधः"* [*निरु० ११ । १९*] *"अहिंसकस्य विदुषः"* [*यजु० ११ । ३३ दयानन्दः*] (वक्षः-रोधः) भासः-ज्ञानप्रकाशकस्य, *"वक्षो भासः"* [*निरु० ४ । १६*] रोधयिता-अज्ञानान्निवारयिताऽस्मि (त्रिताय-अहेः-गाः-अधि-अजनयम्) स्तुतिप्रार्थनोपासनास्तनोति यः स त्रितस्तस्मै-आध्यात्मिक जनाय, अहेः पापहन्त्रे जनाय "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" [अष्टा० २ । ३ । ६२] 'इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठीः' *"अहिः-नि-ह्र्सितोपसर्गः-आहन्ता"* [*निरु० २ । १७*] ज्ञानवाचः "गौ-वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] जनयामि-प्रादुर्भावयामि (अहम्) अहं परमात्मा (दस्युभ्यः-नृम्णं परि-आ ददे) अन्येषां क्षयकारकेभ्यस्तत्सकाशाद्धनं पूर्णतो गृह्णामि (मातरिश्वने दधीचे गोत्रा शिक्षन्) मातरि मातुर्गर्भे गच्छते गमनशीलाय ध्यानिने जीवाय सामान्यवाचः प्रयच्छामि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्-इन्द्रः) मैं ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अथर्वणः) अचल योगी का—अहिंसक विद्वान् का (वक्षः-रोधः) ज्ञानप्रकाशक का अज्ञाननिवारक हूँ (त्रिताय-अहेः-गाः-अधि-अजनयम्) स्तुति—प्रार्थना—उपासना तीनों का विस्तार करने वाले आध्यात्मिक और पापनाशक जन के लिए मैं वेदवाणियों को उत्पन्न करता हूँ (अहम्) मैं परमात्मा (दस्युभ्यः- नृम्णं परि-

आ ददे) अन्यों के पीड़क जन के धन को स्वाधीन करता हूँ—लेता हूँ (मातरिश्वने दधीचे गोत्रा-शिक्षत्) माता के गर्भ में जाने वाले अर्थात् ध्यानी जीवात्मा के लिए सामान्य वाणियों को देता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा योगी—स्तुति प्रार्थना उपासना करने वाले पापरहित आत्मा के लिए वेदज्ञान का उपदेश देता है और साधारण जनों के लिए सामान्य वाणी देता है। अज्ञानी दुष्ट मनुष्य की सम्पत्ति, शक्ति को नष्ट कर देता है ॥ २ ॥

मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम् ।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च ॥ ३ ॥

मह्यम् । त्वष्टा । वज्रम् । अतक्षत् । आयसम् । मयि । देवासः । अवृजन् । अपि । क्रतुम् । मम । अनीकम् । सूर्यस्यऽइव । दुस्तरम् । माम् । आर्यन्ति । कृतेन । कर्त्वेन । च ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मह्यम्) मदर्थं मां द्योतयितुम् (त्वष्टा-आयसं वज्रम्-अतक्षत्) सूर्यः *"त्वष्टारं छेदनकर्तारं सूर्यम्"* [*यजु० २२ । ९ दयानन्दः*] तेजोमयं ज्योतिर्मयम् *"आयसं तेजोमयम्"* [*ऋ० १ । ८० । ११२ दयानन्दः*] वज्रमोजो बलं करोति *"तक्षति करोतिकर्मा"* [*निरु० ४ । १९*] (मयि) मदर्थं (देवासः-क्रतुम्-अपि-अवृजन्) मुमुक्षवः कर्माध्यात्मकमंध्यानं समर्पयन्ति (मम-अनीकं सूर्यस्य-इव दुष्टरम्) मम बलं तेजोबलं सूर्यस्य यथा तीक्ष्णतरं भवति तद्वत् (कृतेन कर्त्वेन च माम्-आर्यन्ति) कृतेनाथ कर्त्तव्येन करिष्यमाणेन च मां प्राप्नुवन्ति फलाय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(मह्यम्) मुझे प्रदर्शित करने को (त्वष्टा-आयसं वज्रम्-अतक्षत्) सूर्य अपने ज्योतिरूप ओज को प्रकट करता है (मयि) मेरे लिए (देवासः-क्रतुम्-अपि-अवृजन्) मुमुक्षुजन कर्म—अध्यात्मकर्म—ध्यान समर्पित करते हैं (मम-अनीकं सूर्यस्य-इव दुष्टरम्) मेरा बल—तेजोबल सूर्य जैसा अतितीक्ष्ण है (कृतेन कर्त्वेन च माम्-आर्यन्ति) पिछले किये कर्म और आगे किये जाने वाले कर्म के द्वारा मुझे प्राप्त होते हैं, फल पाने के लिये ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य अपने तापप्रकाश के देने वाले परमात्मा को प्रदर्शित करता है। मुमुक्षुजन स्तुति—प्रार्थना—उपासना ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं तथा कर्म करने वाले मनुष्य फल पाने के लिए भी परमात्मा के अधीन हैं ॥ ३ ॥

अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम् ।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ॥४॥

अहम् । एतम् । गव्यर्यम् । अश्व्यम् । पशुम् । पुरीषिणम् । सायकेन । हिरण्ययम् । पुरु । सहस्रा । नि । शिशामि । दाशुषे । यत् । मा । सोमासः । उक्थिनः । अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (एतं गव्ययम्-अश्व्यं पुरीषिणं पशुम्) एतं गोषु-इन्द्रियेषु साधुं तथाश्वे व्यापनशीले मनसि साधुं कुशलं पुरीषवन्तं प्राणवन्तम् *"स एष प्राण एव यत्पुरीषम्"* [श० ८ । ७ । ३ । ६] द्रष्टारमात्मानम् (सायकेन) पापस्यान्तकारकेण *"स्यन्ति क्षयन्ति येन"* [ऋ० १ । ८४ । ११ *दयानन्दः*] (हिरण्ययम्) हिरण्ययेन ज्ञानमयेन तेजसा 'विभक्तिव्यत्ययः' (पुरुसहस्रा) अतीव सहस्रगुणितधनलाभान् (निशिशामि) नितरां निरन्तरं वा ददामि *"शिशीति दानकर्मा"* [*निरु० ५ । २३*] (दाशुषे) आत्मसमर्पणं कृतवते (यत्) यतः (मा) माम् (उक्थिनः सोमासः-अमन्दिषुः) तस्य स्तुतिवाग्वतः-उपासनारसा मोदयन्ति हर्षयन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (एतं गव्ययम्-अश्व्यं पुरीषिणं पशुम्) इन्द्रियों में साधु, व्यापनशील मन में साधु-कुशल प्राणवान् द्रष्टा आत्मा को (सायकेन) पाप का अन्त करने वाले (हिरण्ययम्) ज्ञानमय तेज से (पुरुसहस्रा) अतीव सहस्रगुणित धनलाभों को (निशिशामि) निरन्तर देता हूँ (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले के लिए (यत्) जो (मा) मेरे प्रति (उक्थिनः सोमासः-अमन्दिषुः) स्तुतिवाणी वाले के–स्तोता के उपासनारस हर्षित करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इन्द्रियसंयमी मनोनिरोधक सावधान आत्मा के प्रति परमात्मा पापनाशक अपने तेज से सहस्रगुणित धनलाभ देता है तथा स्तुति करने वाले उपासक के उपासनारसों से हर्षित होकर भी वह उन्हें धनलाभ देता है ॥ ४ ॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ ५ ॥

अहम् । इन्द्रः । न । परा । जिग्ये । इत । धनम् । न । मृत्यवे । अव । तस्थे । कदा । चन । सोमम् । इत् । मा । सुन्वन्तः । याचत । वसु । न । मे । पूरवः । सख्ये । रिषाथन ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्-इन्द्रः-न-इत्-धनं पराजिग्ये) अहमैश्वर्यवान् परमात्मा नैवाध्यात्मधनं पराभावयामि न तस्माद्रिक्तो भवामि (मृत्यवे न कदाचन-अवतस्थे) मृत्यवेऽपि कदाचिन्नावस्थितो भवामि नहि मृत्युर्मा मारयति, अतः (सोमम्-इत् सुन्वन्तः) उपासनारसमुत्पादयन्तः (पूरवः-मा वसु याचत) हे मनुष्याः ! "पूरवः-

मनुष्यनाम" [निघ० २ । ३] मां धनं प्रार्थयध्वम् (मे सख्ये न रिषाथन) मम सखित्वे यूयं न हिंसिता भवथ ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्-इन्द्रः-न-इत्-धनं पराजिग्ये) मैं ऐश्वर्यवान् परमात्मा कभी अध्यात्म धन को नहीं हराता हूँ–उससे रिक्त नहीं होता हूँ (मृत्यवे न कदाचन–अवतस्थे) मृत्यु के लिये भी कभी अवस्थित नहीं होता–मुझे मृत्यु कभी मार नहीं सकता, अतः (सोमम्-इत् सुन्वन्तः) उपासनारस का निष्पादन करते हुए–(पूरवः-मा वसु याचत) हे मनुष्यो ! मुझ से धन के लिए प्रार्थना करो (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मित्रता में तुम हिंसित नहीं होते हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् परमात्मा के यहां अध्यात्मधन की कमी नहीं होती, क्योंकि वह अमर है अतः उसका अध्यात्म ऐश्वर्य भी अमर है । उपासना रस समर्पित करने वाले उस धन की याचना किया करें और उसकी मित्रता के लिये यत्न करें तो कभी पीड़ित न होवें ॥ ५ ॥

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ॥ ६ ॥

अहम् । एतान् । शाश्वसतः । द्वाऽद्वा । इन्द्रम् । ये । वज्रम् । युधये । अकृण्वत । आऽह्वयमानान् । अव । हन्मना । अहनम् । दृळ्हा । वदन् । अनमस्युः । नमस्विनः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एतान्-शाश्वसतः) इमान् पुनः पुनर्भृशं वा प्राणतः प्राणं गृह्णतः (ये-इन्द्रं द्वा द्वा वज्रं युधये-अकृण्वत) ये मामिन्द्रं प्रति द्वौ द्वौ मिलित्वा यच्छुष्कार्द्रभावको वज्रो भवति तं युद्धाय कुर्वन्ति सम्पादयन्ति क्षिपन्ति (आह्वयमानान्) तानह्वयतो विरोधिनः (नमस्विनः) वज्रवतः *"नम वज्रनाम" [निघ० २ । २०]* (अनमस्युः) वज्रमनिच्छुरपि (दृढा वदन्) दृढानि वचनानि वदन् घोषयन् (हन्मना-अहम्-अव-अहनम्) हननबलेनाहं हन्मि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(एतान्-शाश्वसतः) इन बार-बार या भली भांति प्राण लेते हुओं को (ये-इन्द्रं द्वा द्वा वज्रं युधये अकृण्वत) जो मुझ ऐश्वर्यवान् के प्रति शुष्क–आर्द्र दो–दो धाराओं वाले वज्र को युद्ध के लिए सम्पन्न करते हैं–फेंकते हैं–(आह्वयमानान्) उन आह्वान करने वाले विरोधियों–(नमस्विनः) वज्रवालों को (अनमस्युः) वज्र को अपेक्षित न करते हुए भी (दृढा वदन्) दृढ़ वचनों को घोषित करता हुआ (हन्मना-अहम्-अव-अहनम्) मैं हनन बल रखने वाला नष्ट करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—वज्रधारी नास्तिक प्राणीजनों को वज्र की अपेक्षा न रखता भी हननशक्ति से सम्पन्न परमात्मा नष्ट कर देता है ॥ ६ ॥

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥७॥

अभि । इदम् । एकम् । एकः । अस्मि । निष्षाट् । अभि । द्वा । किम् । ऊँ इति । त्रयः । करन्ति । खले । न । पर्षान् । प्रति । हन्मि । भूरि । किम् । मा । निन्दन्ति । शत्रवः । अनिन्द्राः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एकः-निष्षाट्-इदम्-अस्मि) यद्यपि खलु निष्षहमानः परमात्माऽहमेकोऽस्मि, "इदं वाक्यालङ्कारे," तथापि (एकम्-अभि) एकं वर्गं निन्दकं नास्तिकमभिभवामि-स्वाधीनीकृत्य दण्डयामि (द्वा-अभि) द्वौ वर्गौ दण्डयामि यद्वा (त्रयः किम्-उ करन्ति) यद्वा त्रयो नास्तिकवर्गा अपि किं हि कुर्वन्ति-करिष्यन्ति, तानपि खल्वभिभवामि-दण्डयामि (खले न पर्षान् भूरि प्रति हन्ति) संग्रामे *"खले संग्रामनाम"* [*निघ०* २ । १७] तस्य पूरकान् संग्रामकारिण इव निन्दकाय नास्तिकान् यद्वा खले शस्यसञ्चयस्थाने गाह्यमाने पूलकानिव भूरि-अतिशयेन बहून् वा प्रतिहन्ति विदारयामि (अनिन्द्राः शत्रवः किं मा निन्दन्ति) ये खल्विन्द्रं न विदुः, इन्द्रमैश्वर्यवन्तं न जानन्ति मन्यन्ते नास्तिकाः शत्रवः-विरोधिनः किम्-कथं मां ते निन्दन्ति, दण्डभागिनो भविष्यन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(एकः-निष्षाट्-इदम्-अस्मि) यद्यपि मैं अभिभूत करने वाला परमात्मा अकेला हूँ, तथापि (एकम्-अभि) एक निन्दक या नास्तिक वर्ग को भी अभिभूत करता हूँ—अपने अधीन करके दण्ड देता हूँ (द्वा-अभि) दो वर्गों को भी दण्ड दे देता हूं यद्वा (त्रयः किम्-उ करन्ति) अथवा तीन नास्तिक वर्ग भी क्या कर सकते हैं-क्या करेंगें ? उनको भी मैं अभिभूत करता हूँ दण्ड देता हूँ (खले न पर्षान् भूरि प्रतिहन्मि) जैसे संग्राम में उसके भर देने वाले योद्धाओं को हनन किया जाता है, ऐसे नास्तिकों-निन्दकों का हनन करता हूँ अथवा खलिहान में जैसे गाहे जाते हुए पूलों का विदारण किया जाता है, ऐसे विदारण करता हूं (अनिन्द्राः शत्रवः किं मा निन्दन्ति) वे जो मुझ इन्द्र को—ऐश्वर्य वाले परमात्मा को जो नहीं जानते और मानते, ऐसे नास्तिक—शत्रु-विरोधी मेरी क्यों निन्दा करते हैं अतः वे दण्डभागी होंगे ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा एक है, परन्तु वह अकेला भी अनेक या बहुतेरे निन्दकों नास्तिकों—पापियों के वर्गों को दण्ड दे सकता है, जैसे संग्रामस्थल में सैनिक हताहत कर दिये जाते हैं या जैसे खलिहान में अन्नपूलों को चूर—चूर कर दिया जाता है, ऐसे ही परमात्मा उन वर्गों को चूर-चूर कर देता है । वे निन्दक या नास्तिक परमात्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं ॥ ७ ॥

अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम् ।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि ॥ ८ ॥

अहम् । गुङ्गुऽभ्यः । अतिथिऽग्वम् । इष्करम् । इषम् । न । वृत्रऽतुरम् । विक्षु । धारयम् । यत् । पर्णयऽघ्ने । उत । वा । करञ्जऽहे । प्र । अहम् । महे । वृत्रऽहत्ये । अशुश्रवि ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (विक्षु गुङ्गुभ्यः) मनुष्यप्रजासु मदर्थं ये गुङ्गवः-अव्यक्तं शब्दयन्ति गायन्ति मनसि जपन्ति तेभ्यस्तेषां हिताय "गुङ्गाः-अव्यक्तोच्चारणाः" [ऋ० २ । ३२ । ८ दयानन्दः] "गौङ्गवं साम ऊर्ध्वमिव च तिर्यगिव च गीयते सामगैः" [जै० ३ । १८५] (अतिथिग्वम्) अतिथिना ज्ञानिनोपासकेन गन्तव्यं प्रापणीयम् (इष्करम्-इषं न धारयम्) इष्टकरमन्नमिव मोक्षसुखम् (वृत्रतुरम्) पापाज्ञाननाशकेन मोक्षसुखं धारयामि (यत् पर्णयघ्ने-उत वा करञ्जहे) यतःपिपर्ति पालयति यः स पर्णो ऽहं परमात्मा, तं मां याति प्राप्नोति मदुपासकस्तं यो हन्ति तस्मै, अपि च करं शरणं मदीयं जहाति त्यजति तस्मै नास्तिकाय (महे वृत्रहत्ये-अहं प्र-अशुश्रवि) तद्वधे महते पापनाशनकार्येऽहं प्रकर्षेण श्रुतः-प्रसिद्धोऽस्मि ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (विक्षु गुङ्गुभ्यः) मनुष्यप्रजाओं में मेरे लिए जो अव्यक्त शब्द गाते हैं–मानसिक जप करते हैं उनके हित के लिए (अतिथिग्वम्) अतिथि द्वारा-ज्ञानोपासक द्वारा प्रापणीय–(इष्करम्-इषं न धारयम्) इष्ट करने वाले अन्नादि की भांति मोक्षसुख–(वृत्रतुरम्) पापाज्ञाननाशक को धारण करता हूँ (यत् पर्णयघ्ने-उत वा करञ्जहे) यतः मुझ पालने वाले परमात्मा को प्राप्त होने वाले आस्तिक उपासक जन को जो हनन करता है उसके लिए तथा मेरी शरण को जो त्यागता है उस नास्तिक के लिए (महे वृत्रहत्ये-अहं प्र-अशुश्रवि) उसके वध के निमित्त–महान् पापनाशन कार्य के निमित्त, मैं प्रकृष्ट रूप से प्रसिद्ध हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के लिए उपांशु–अव्यक्त या मानसिक जप करता है वह उनके अज्ञान को नष्ट करता है तथा जो ज्ञानी जन परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं वह उन्हें मोक्ष प्रदान करता है। परमात्मा की शरण लेने वाले के प्रति जो पापचिन्तन करता है उसको वह दण्ड देता है ॥ ८ ॥

प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्गवामेषे सख्या कृणुत द्विता ।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम् ॥ ९ ॥

प्र । मे । नमी । साप्यः । इषे । भुजे । भूत् । गवाम् । एषे । सख्या । कृणुत । द्विता । दिद्युम् । यत् । अस्य । समऽइथेषु । मंहयम् । आत् । इत् । एनम् । शंस्यम् । उक्थ्यम् । करम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मे नमी साप्यः-इषे भुजे प्रभूत्) मम नमते स्तौतीति

नमी *"सप्तनामा सप्तैनमृषयः स्तुवन्ति"* [*निरु० ४ । २७*] कर्मान्तकारी जीवन्मुक्तः *"साप्यम्-कर्मान्तकारिणम्"* [*ऋ० ६ । २० । ६ दयानन्दः*] मदीये ज्ञाने मोक्षसुखभोगे प्रभवति (गवाम्-एषे द्विता सख्या कृणुत) वाचां स्तुतीनामेषणे-प्रेषणे सति द्वितानि-द्विविधानि सख्यानि ऐहिकानि संसारे प्रवृत्तानि मोक्षभवानि च कुरुत सम्पादयत (अस्य) स्तोतुर्जीवन्मुक्तस्य (समिथेषु) संग्रामेषु *"समिथे सङ्ग्रामनाम"* [*निघ० २ । १७*] कामक्रोधादिविषयकेषु (यत्-दिद्युं मंहयम्) यत्खलु ज्ञानप्रकाशकमहं ददामि (आत्-इत्-एनं शंस्यम्-उक्थ्यं करम्) अनन्तरं हि-एतं प्रशंसनीयं सर्वत्र जनैर्वचनीयं स्तुत्यं करोमि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(मे नमी साप्यः-इषे भुजे प्रभूत्) मेरा स्तुति करने वाला जीवन्मुक्त, मेरा ज्ञान होने पर मोक्षसुखभोग में समर्थ होता है (गवाम्-एषे द्विता सख्या कृणुत) स्तुतियों के समर्पण करने पर दो प्रकार की मित्रताएं अर्थात् संसार में प्रवृत्त मोक्ष में होने वाली को मेरे साथ सम्पादित करो (अस्य) इस जीवन्मुक्त स्तुति करने वाले के (समिथेषु) काम क्रोध आदि के संघर्षस्थलों में (यत्-दिद्युं मंहयम्) जब भी ज्ञान प्रकाश मैं देता हूँ (आत्-इत्-एनं शंस्यम्-उक्थ्यं करम्) अनन्तर ही इस प्रशंसनीय-सर्वत्र मनुष्यों द्वारा स्तुत्य करता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति करने वाला मोक्षसुख प्राप्त करने में समर्थ या अधिकारी बन जाता है तथा निरन्तर स्तुतियों के द्वारा परमात्मा की मित्रता को प्राप्त करता है जिससे मोक्ष-सुख के साथ सांसारिक सच्चा सुख भी प्राप्त करता है और कामक्रोध आदि भीतरी शत्रु भी उसके नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा द्वारा ज्ञानप्रकाश प्राप्त कर मनुष्यों में प्रसिद्धि प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति ।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः ॥ १० ॥

प्र । नेमस्मिन् । ददृशे । सोमः । अन्तः । गोपाः । नेमम् । आविः । अस्था । कृणोति । सः । तिग्मऽशृङ्गम । वृषभम् । युयुत्सुन् । द्रुहः । तस्थौ । बहुले । बद्धः । अन्तरिति ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नेमस्मिन् सोमः-ददृशे-अन्तः-गोपाः) अर्धे स्तोतृगणे खल्वास्तिके गणे शान्तस्वरूपः परमात्मा रक्षकोन्तर्दृश्यते साक्षाद् भवति (नेमम्-अस्था-आविः-कृणोति) अर्धं गणं नास्तिकं गणं स्वक्षेपणबलेन ताडनेनात्मानं प्रकटयति यदस्मि दण्डदाता कर्मफलदाता (स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन्) स तीक्ष्णशृङ्गं वृषभमिव बलवन्तं तेन सह युद्धमिच्छन्निव (द्रुहः-तस्थौ) द्रोहकर्त्तॄन् विरोधिनो नास्तिकान् सम्मुखं तिष्ठति (बहुले-अन्तः-बद्धः) बहुले नास्तिके गणेऽवरुद्धः सन् तदन्तरात्मान-माविष्करोति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(नेमस्मिन् सोमः-ददृशे-अन्तः-गोपाः) आधे अर्थात् स्तोतृगण-आस्तिकगण के अन्दर शान्तस्वरूप परमात्मा रक्षक रूप में साक्षात् होता है (नेमम्-अस्था-आविः-

कृणोति) आधे गण को अर्थात् नास्तिकगण को अपने क्षेपणबल से ताड़न से अपने को प्रकट करता है कि कर्मफलदाता कोई है (स तिग्मश्रृङ्गं वृषभं युयुत्सन्) वह तीक्ष्णश्रृङ्ग वाले वृषभ जैसे के साथ युद्ध करता हुआ सा (द्रुहः-तस्थौ) द्रोह करते विरोधियों नास्तिकों के सम्मुख आता है (वहुले-अन्तः-बद्धः) बहुत सारे नास्तिकगण के अन्दर अवरुद्ध होकर बैठकर अपने को प्रकट करता है ॥ १० ॥

भावार्थ— परमात्मा मनुष्यों के एक वर्ग अर्थात् आस्तिक जनों में स्तुति करने वालों के अन्दर कल्याणकारी रूप में साक्षात् होता है, दूसरे वर्ग नास्तिक वर्ग के सामने दण्ड देने को दण्डदाता रूप में सामने आता है ॥ १० ॥

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ॥ ११ ॥

आदित्यानाम् । वसूनाम् । रुद्रियाणाम् । देवः । देवानाम् । न । मिनामि । धाम । ते । मा । भद्राय । शवसे । ततक्षुः । अपराऽजितम् । अस्तृतम् । अषाळ्हम् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवानां धाम) सूर्यसदृशतेजस्कानामष्टाचत्वारिंशवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्याणां भूमिवद्वासस्वभावानां चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्याणां वा, अग्निवद् गतिकर्मवतां चतुश्चत्वारिंशवर्षपर्यन्तचरितब्रह्मचर्याणां ब्रह्मचारिणां वा तदध्यापकानां विदुषां च धाम प्रतिष्ठापदम् (देवः-न मिनामि) अहं तत्तद्गुणानां दाता परमात्मा न हिनस्मि (ते) आदित्यादयः (भद्राय शवसे) कल्याणाय स्वात्मबलाय च (अपराजितम्-अस्तृतम्-अषाढं मा ततक्षुः) पराजयरहितं हिंसावर्जितमषोढव्यं मां परमात्मानं स्वाभ्यन्तरे साक्षात्कुर्वन्तु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवानां धाम) सूर्य के समान तेजस्वी अड़तालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन करने वालों के, भूमिसमान बसाने के स्वभाव वाले चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतवालों के, अग्नि के समान गतिकर्मवाले चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन करने वालों के, उनके अध्यापक विद्वानों के पद या स्थान को (देवः-न मिनामि) मैं उन उनके गुणों का दाता हिंसित नहीं करता हूँ (ते) वे आदित्य आदि ब्रह्मचारी (भद्राय शवसे) कल्याण के लिए और अपने आत्मबल के लिए (अपराजितम्-अस्तृतम्-अषाढं मा ततक्षुः) पराजयरहित हिंसावर्जित न सहने योग्य मुझ परमात्मा को अपने अन्दर साक्षात् करें ॥ ११ ॥

भावार्थ—अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचारियों, चवालीस वर्ष के ब्रह्मचारियों और चौबीस वर्ष के ब्रह्मचारियों के पद को वह परमात्मा क्षीण नहीं करता अपितु वे अपने कल्याण और स्वात्मबल के लिए उसे अपने अन्दर साक्षात् करते हैं। वह उन्हें कल्याण और आत्मबल देने वाला है ॥ ११ ॥



एकोनपंचाशत्तमं सूक्तम्

ऋषिः—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

देवता—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

छन्दः—१, आर्ची भुरिग् जगती । ३, ९, विराड् जगती । ४, जगती । ५, ६, ८, निचृज्जगती । ७, आर्ची स्वराड् जगती । १०, पादनिचृज्जगती । २, विराट् त्रिष्टुप् । ११, आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अस्मिन् सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा गृह्यते । तस्योपासनेनोपासकानां कामवासनादयो दोषाः दूरीभवन्ति ते मोक्षं च प्राप्नुवन्तीत्येवमादयो विषया वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमात्मा गृहीत है । उसकी उपासना से व्यसन कामवासनादि दोष दूर हो जाते हैं और उपासक मोक्ष को प्राप्त करते हैं इत्यादि विषय वर्णित हैं ।

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे ॥ १ ॥

अहम् । दाम् । गृणते । पूर्व्यम् । वसु । अहम् । ब्रह्म । कृणवम् । मह्यम् । वर्धनम् । अहम् । भुवम् । यजमानस्य । चोदिता । अयज्वनः । साक्षि । विश्वस्मिन् । भरे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं गृणते पूर्व्यं वसु दाम्) अहं परमात्मा स्तुतिकर्त्रे शाश्वतिकं मोक्षं वसु-वासधनं ददामि (अहं ब्रह्म मह्यं वर्धनं कृणवम्) अहं खलु वेदज्ञानं यद् हि मह्यं मदर्थं वर्धनकारणं गुणप्रज्ञापनं मदीयं यद् गुणजातं वर्णयति तत् करोमि (अहं यजमानस्य चोदिता) अहमेव परमात्मा यजमानस्य—अध्यात्मयाजिनः प्रेरयिताऽस्मि (अयज्वनः-भरे विश्वस्मिन् साक्षि) अध्यात्मयजनं न कुर्वतो नास्तिकान् भरणीये संसारेऽभिभवामि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं गृणते पूर्व्यं वसु दाम्) मैं परमात्मा स्तुतिकर्त्ता के लिए शाश्वतिक मोक्ष–बसाने वाले धन को देता हूँ (अहं ब्रह्म मह्यं वर्धनं कृणवम्) मैं वेदज्ञान जो मेरे लिए वृद्धि का कारण मेरे गुण जनाने वाला है उसे मैं प्रकाशित करता हूँ (अहं यजमानस्य चोदिता) मैं परमात्मा अध्यात्मयाजी यजमान का प्रेरक हूँ (अयज्वनः-भरे विश्वस्मिन् साक्षि) अध्यात्मयज्ञ न करने वाले नास्तिक जनों को पोषणीय संसार में अभिभूत करता हूँ–दण्डित करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति करने वाला शाश्वतिक सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है। परमात्मा के गुणों का वर्णन करने वाले वेद का परमात्मा प्रकाश करता है, तदनुसार अध्यात्मयाजी को वह प्रेरणा देता है नास्तिक जनों को संसार में दण्ड देता है ॥ १ ॥

मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः ।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्ण्वा ददे ॥ २ ॥

माम् । धुः । इन्द्रम् । नाम । देवता । दिवः । च । ग्मः । च । अपाम् । च । जन्तवः । अहम् । हरी इति । वृषणा । विऽव्रता । रघू इति । अहम् । वज्रम् । शवसे । धृष्णु । आ । ददे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवः-ग्मः-अपां च जन्तवः) द्युलोकस्य पृथिव्याः-अन्तरिक्षलोकस्य ज्ञातारो जन्तवः-मनुष्याः *"मनुष्या वै जन्तवः"* [श० ७ । ३ । १ । ३२] (मां देवताम्-इन्द्रं नाम धुः) मां परमात्मानं देवतां नाम धारयन्ति (अहं वृषणा हरी विव्रता रघू) अहं परमात्मा सुखवर्षकौ दयाप्रसादौ विविधकर्मसम्पादकौ शीघ्रगामिनौ धारयामि (अहम्) अहं परमात्मा (शवसे धृष्णु वज्रम्-आददे) जगच्चालनबलाय धर्षकं वज्रमोज आत्मबलमाददे–गृह्णामि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवः-ग्मः-अपां च जन्तवः) द्युलोक के पृथिवीलोक के अन्तरिक्ष लोक के जानने वाले मनुष्य (मां देवताम्-इन्द्रं नाम धुः) मुझ परमात्मा देवता को धारण करते हैं (अहं वृषणा हरी विव्रता रघू) मैं परमात्मा सुखवर्षक विविध–कर्मसम्पादक शीघ्रप्रभाववाले दुःखहारक और सुखाहारक अपने दया और प्रसाद को प्रेरित करता हूँ (अहम्) मैं परमात्मा (शवसे धृष्णु वज्रम्-आददे) जगत् संचालन बल के लिए धर्षक ओज को–आत्मबल को ग्रहण कर रहा हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—द्युलोक अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक को जानने वाले मनुष्य अर्थात् इन तीनों को जानकर इनके रचयिता परमात्मा को अपने अन्दर धारण करते हैं। परमात्मा इन्हें अपने दुःख नष्ट करने वाले व सुख प्राप्त कराने वाले दयाप्रसाद को प्रदान करता है जो कि अपने बल से जगत् का संचालन करता है ॥ २ ॥

अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः ।
अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ॥ ३ ॥

अहम् । अत्कम् । कवये । शिश्नथम् । हथैः । अहम् । कुत्सम् । आवम् । आभिः । ऊतिऽभिः । अहम् । शुष्णस्य । श्नथिता । वधः । यमम् । न । यः । ररे । आर्यम् । नाम । दस्यवे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं कवये-अत्कं शिश्नथम्) अहं परमात्मा मेधाविने स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे खलु तदत्तु शीलं व्यसनं शिथिलं करोमि नाशयामि *"अत्कः-अत्तुमर्हः"* [*ऋ० २ । ३५ । १४ दयानन्दः*] *"शिश्नथत् शिथिलीकरोति"* [*ऋ० ४ । ३० । १० दयानन्दः*] *"श्नथति वधकर्मा* [*निघ० २ । १९*] (अहम्) अहं परमात्मा (आभिः-ऊतिभिः) एताभिरेव रक्षणप्रवृत्तिभिः (कुत्सं हथैः-आवम्) स्तुतिकर्त्तारं घातकेभ्यो दुष्कर्मभ्यः 'हथैः हथेभ्यः, 'विभक्तिव्यत्ययेन,' अत्र हन् धातोः-क्थन् [उणादि० २ । २], ये घ्नन्ति ते हथास्तेभ्यो हथेभ्यः' रक्षामि (अहम्) अहं परमात्मा (शुष्णस्य श्नथिता) शोषकस्य शोकस्य नाशकोऽस्मि (दस्यवे वधः-यमम्) दुष्टजनाय वधस्-वधकं शस्त्रं प्रहारं प्रयच्छामि (यः-आर्यं नाम न ररे) यो खलु-आर्याय 'विभक्तिव्यत्ययेन' मह्यं परमात्मने स्तुति वचनं न ददाति *"नाम स्तुतिसाधनं शब्दमात्रम्"* [*ऋ० ४ । १ । १६ दयानन्दः*] *"दा दाने"* [*अदादिः*] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं कवये-अत्कं शिश्नथम्) मैं परमात्मा मेधावी स्तुति करने वाले के लिए, अन्तः स्थल को खा जाने वाले व्यसन को शिथिल करता हूँ-नष्ट करता हूँ (अहम्) मैं परमात्मा (आभिः-ऊतिभिः) इन रक्षणप्रवृत्तियों द्वारा (कुत्सं हथैः-आवम्) स्तुतिकर्त्ता को घातक दुष्कर्मों से बचाता हूँ (अहम्) मैं परमात्मा (शुष्णस्य श्नथिता) शोषक शोक का नाशक हूँ, (दस्यवे वधः यमम्) दुष्टजन के लिए वधक-प्रहारक शस्त्र को देता हूँ (यः-आर्यं नाम न ररे) जो आर्य-मुझ श्रेष्ठ परमात्मा के लिए स्तुतिवचन नहीं देता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा स्तुति करने वाले के व्यसन को शिथिल करता है-नष्ट करता है और अपनी रक्षणशक्तियों द्वारा दुष्कर्मों से बचाता है, शोक को नष्ट करता है। दुष्ट को दण्डप्रहार करता है जो कि उसकी स्तुति नहीं करता है ॥ ३ ॥

अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम् ।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद्भरे तुजये न प्रियाधृषे ॥ ४ ॥

अहम् । पिताऽइव । वेतसून् । अभिष्टये । तुग्रम् । कुत्साय । स्मत्ऽइभम् । च । रन्धयम् । अहम् । भुवम् । यजमानस्य । राजनि । प्र । यत् । भरे । तुजये । न । प्रिया । आऽधृषे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (अभिष्टये पिता इव वेतसून्) पितृसदृशः-अभीच्छति मां कांक्षति यस्तस्मै उपासकाय, 'वेतससून्' सकारलोपश्छान्दसः,

वेतसस्य दण्डान्-इव खलूद्दण्डान् नास्तिकान् भयप्रदान् तथा (कुत्साय तुग्रं स्मदिभम्) स्तुतिकर्त्रे हिंसकं भयङ्करं हस्तिनम्-इव क्रूरं पीडकं जनम् "स्मि धातोर्डतिः प्रत्यय औणादिकः, *"भीस्म्योर्हेतुभये"* *[अष्टा० १ । २ । ६६]* स्मि धातुर्भयप्रदर्शने' (रन्धयम्) रन्धयामि नाशयामि (अहं यजमानस्य राजनि भुवम्) अहं परमात्माऽध्यात्मयाजिनः राजनि स्वामिपदे शासकरूपे स्थितो भवामि (तुजये-आधृषे) हिंसकाय-अन्यानाधर्षयितुं पीडयितुशीलाय (प्रिया न प्रभरे) सुखवस्तूनि न ददामि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (अभिष्टये पिता-इव वेतसून्) पिता के समान जो मुझे चाहता है उस उपासक के लिए, वेंत के दण्डे के समान उद्दण्ड नास्तिक, भय देने वालों को तथा (कुत्साय तुग्रं स्मदिभम्) स्तुति करने वाले के लिए हिंसक भयङ्कर हाथी के समान क्रूर पीड़क जन को (रन्धयम्) नष्ट करता हूँ (अहं यजमानस्य राजनि भुवम्) मैं परमात्मा अध्यात्मयाजी के स्वामिपद पर शासकरूप में-रक्षक रूप में स्थित होता हूँ (तुजये-आधृषे) दूसरों को पीड़ित करने के स्वभाव वाले के लिए (प्रिया न प्रभरे) सुखवस्तु नहीं देता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परत्मामा को पिता समान मानकर उसकी उपासना करता है उसके प्रतिकूल उद्दण्ड जनों को तथा हाथी के समान उन्मत्त क्रूर जन को परमात्मा दण्ड देता है। वह उपासक का रक्षक है। परमात्मा हिंसक स्वभाव वाले व्यक्ति को उसकी प्रिय वस्तु नहीं देता है ॥ ४ ॥

अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक् ।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम् ॥ ५ ॥

अहम् । रन्धयम् । मृगयम् । श्रुतर्वणे । यत् । मा । आजहीत । वयुना । चन । आनुषक् । अहम् । वेशम् । नम्रम् । आयवे । अकरम् । अहम् । सव्याय । पट्ऽगृभिम् । अरन्धयम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(श्रुतर्वणे) श्रुतं मद्विषयकं शिक्षणं वनति सम्भजति-आचरति स श्रुतर्वा-आस्तिकः, तस्मै 'रुट् छान्दसः' (मृगयम्) मृगं याति स मृगयो व्याधस्तमिव वर्तमानं कामदोषम् (अहं रन्धयम्) अहं परमात्मा नाशयामि (यत्-मा-अजिहीत) यतो मां सः प्राप्नुयात् *"ओहाङ् गतौ"* [जुहो०] (वयुना चन-आनुषक्) प्रज्ञानेन 'आकारादेशश्छान्दसः' आनुषक्तो भवेत् (अहम्) परमात्मा (आयवे वेशं नम्रम्-अकरम्) मत्समीपमागन्तुकामाय तदन्तरे प्रवेशशीलो वासनादोषस्तं शिथिलं करोमि (सव्याय पड्गृभिम्-अरन्धयम्) अध्यात्मैश्वर्ययोग्याय यो बाधकः पदग्रहीता संसाररागो मोहो वा तं नाशयामि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(श्रुतर्वणे) मेरे सम्बन्ध में श्रवण, शिक्षण को सेवन करने वाले के लिए (मृगयम्) मृग के प्रति जाने वाले व्याध की भांति कामदोष को (अहं रन्धयम्) मैं परमात्मा

नष्ट करता हूँ (यत्-मा-अजिहीत) यतः वह मुझे प्राप्त होता है (वयुना चन-आनुषक्) प्रज्ञान से अनुषक्त होवे— युक्त होवे-भरपूर होवे (अहम्) मैं परमात्मा (आयवे वेशं नम्रम्-अकरम्) उस मेरे समीप आने वाले के लिए उसके अन्दर प्रविष्ट वासनादोष को मैं शिथिल करता हूँ (सव्याय पड्गृभिम्-अरन्धयम्) अध्यात्मैश्वर्य के जो योग्य है उसके लिए बाधक जो आत्मस्वरूप को पकड़ता है ऐसे संसार के राग या मोह को नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा का श्रवण करने वाले का कामदोष नष्ट हो जाता है और जो उसे प्राप्त करता है वह प्रज्ञान से युक्त हो जाता है तथा परमात्मा की ओर चलने वाले के अन्दर का वासनादोष शिथिल हो जाता है। अध्यात्मैश्वर्य को चाहने वाले का राग और मोह भी नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम् ।
यद्वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग्दूरे पारे रजसो रोचनाकरम् ॥ ६ ॥

अहम् । सः । यः । नवऽवास्त्वम् । बृहत्ऽरथम् । सम् । वृत्राऽइव । दासम् । वृत्रऽहा । अरुजम् । यत् । वर्धयन्तम् । प्रथयन्तम् । आनुषक् । दूरे । पारे । रजसः । रोचना । अकरम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं सः) अहं परमात्मा सोऽस्मि (वृत्रहा) पापनाशकः *"पाप्मा वै वृत्रः"* [श० ११ । १ । ५ । ७] (वृत्रा-इव दासम्-अरुजम्) वृत्राणि यथा पापानि यथा नाशयामि तथा दासमुपक्षयकर्त्तारं कामं नाशयामि, कथम्भूतं दासं नाशयामि—उच्यते—(यः-नववास्त्वं बृहद्रथं सम्) मयि नववास्तव्यं ब्रह्मचारिणं महद्रमणकारिणं संन्यासिनं योगिनं संविशति संविश्य क्षयं करोति (यत्) यतः (वर्धयन्तं प्रथयन्तम्-आनुषक्) शरीरे वर्धयन्तं ब्रह्मचारिणं मज्ज्ञाने प्रथमानमनुषक्तोऽनुलिप्तोऽस्ति तम् (रजसः-रोचना दूरे पारे-अकरम्) लोकात्-लोकनीय शरीरात् दूरे तथा प्रकाशमानात्—ज्ञानप्रकाशमयान्मनसः पारे करोमि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं सः) मैं वह परमात्मा हूँ जो (वृत्रहा) पाप का नाशक (वृत्रा-इव दासम्-अरुजम्) पापों को जैसे नष्ट करता हूँ वैसे उपक्षय करने वाले कामभाव को नष्ट करता हूँ, उस ऐसे को (यः-नववास्त्वं बृहद्रथं सम्) जो मेरे अन्दर नव आयु वाले वसने योग्य ब्रह्मचारी के तथा महद्रमणकारी संन्यासी के योगी के अन्दर प्रवेश करके क्षीण करता है (यत्) जो वर्धयन्तं प्रथयन्तम्-आनुषक्) शरीर में बढ़ते हुए ब्रह्मचारी को ज्ञान में विस्तार पाते हुए संन्यासी को लिप्त हो जाता है उसको (रजसः-रोचना दूरे पारे-अकरम्) रञ्जनात्मक लोक अर्थात् शरीर से दूर तथा प्रकाशमान—ज्ञानप्रकाशमय मनःसे पार करता हूँ—पृथक् करता हूँ-हटाता हूँ ॥६॥

भावार्थ—जो ब्रह्मचारी परमात्मा की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य सेवन करता है और जो संन्यासी परमात्मा में रमण करता है उनके अन्दर प्रविष्ट कामभाव को परमात्मा ऐसे हटाता है

कि ब्रह्मचारी के शरीर की वृद्धि होती चली जाये और संन्यासी के मन में ज्ञान की वृद्धि होती चली जाये ॥ ६ ॥

अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा ।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥ ७ ॥

अहम् । सूर्यस्य । परि । यामि । आशुऽभिः । प्र । एतशेभिः । वहमानः । ओजसा । यत । मा । सावः । मनुषः । आह । निःऽनिजे । ऋधक् । कृषे । दासम् । कृत्व्यम् । हथैः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-सावः-मनुषः-निर्णिजे मा-आह) यदा खलूपासनारस-सम्पादकः उपासको मनुष्यः स्वरूपसम्पादनाय *"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"* [छा० ८.३.४] *"निर्णिक्—रूप नाम"* [निघ० ३ । ७] मां वदति—प्रार्थयते वा (सूर्यस्य-आशुभिः-एतशेभिः) सूर्यस्य शीघ्रगामिभिः किरणरूपैरश्वैरिव, यथा सूर्यः स्वकिरणैः सर्वत्र गतिमान् भवति तथा (अहम्-ओजसा वहमानः-परियामि) अहं परमात्मा स्वौजोबलेन सर्वं जगद्वहमानः सन् सर्वत्र प्राप्नोमि, अतः (कृत्व्यं दासं हथैः-ऋधक्-कृषे) कर्तनीयं छेदनीयं क्षयकर्त्तारं खलूपासकस्य स्वरूपनाशकमज्ञानं पापं वा स्वकीय हननसाधनैः-ज्ञानप्रकाशैः पृथक् करोमि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-सावः-मनुषः-निर्णिजे मा-आह) जब उपासनारस का सम्पादन करने वाला-उपासक मनुष्य स्वरूप के सम्पादन के लिए मुझे कहता—प्रार्थना करता है (सूर्यस्य-आशुभिः-एतशेभिः) सूर्य की शीघ्रगामी किरणरूप अश्वों के द्वारा, जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा सर्वत्र गतिमान् होता है वैसे (अहम्-ओजसा वहमानः परियामि) मैं परमात्मा अपने ओजोबल से सब जगत् को वहन करता हुआ सर्वत्र प्राप्त होता हूँ, अतः (कृत्व्यं दासं हथैः-ऋधक्-कृषे) छेदनीय, क्षयकर्त्ता—उपासक के स्वरूप का नाशकर्त्ता अज्ञान या पाप को अपने हननसाधनों—ज्ञान—प्रकाशों से मैं पृथक् करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—उपासना करने वाला आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए परमात्मा की उपासना करता है तो वह जगत् का वहनकर्त्ता—संचालक परमात्मा अपने बल से सर्वत्र प्राप्त होता हुआ उपासक के नष्ट करने वाले अज्ञान या पाप को अपने प्रकाशों से नष्ट करता है ॥ ७ ॥

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम् ।
अहं न्य१न्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ॥ ८ ॥

अहम् । सप्तऽहा । नहुषः । नहुःऽतरः । प्र । अश्रवयम् । शवसा । तुर्वशम् । यदुम् । अहम् । नि । अन्यम् । सहसा । सहः । करम् । नव । व्राधतः । नवतिम् । च । वक्षयम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (सप्तहा) उपासकस्य सप्तदोषान् कामक्रोधलोभमोहमदभयशोकानां हन्ता (नहुषः-नहुष्टरः) नह् बन्धनं तस्य-उषः-दग्धा, जीवन्मुक्तस्यापि मुक्ततरो नित्यमुक्तः "णह बन्धने" [दिवा०] (शवसा) आत्मबलेन (यदुं तुर्वशम्) यतमानम् *"यदुं यतमानं यती प्रयत्ने बाहुलकादौणादिक उः प्रत्ययस्तकारस्य दकारः"* [*ऋ० १ । ५४ । ६ दयानन्दः*] निकटे वर्तमानमुपासमानम् *'तुर्वशः-अन्तिकनाम"* [*निघ० २ । १६*] (प्र-अश्रवयम्) निजोपदेशं वेदज्ञानं श्रावयामि (अहम्) अहं परमात्मा (अन्यं सहसा सहः-नि करम्) अन्यं च कञ्चिज्जनं स्तोतारं बलेन-स्वबलेन सहस्वन्तं बलवन्तम् 'मतुब्लोपश्छान्दसः' नितान्तं करोमि (व्राधतः-नव नवतिं च वक्षयम्) महतो महात्मनो जनस्य *"व्राधत महन्नाम"* [*निघ० ३ । ३*] नवसंख्याकां गतिप्रवृत्तिम्-पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराणां च गतिप्रवृत्तिम् *"नवते गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] नाशयामि *"वक्ष रोषे"* [*भ्वादिः*] ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (सप्तहा) उपासक के सात दोषों अर्थात् काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-भय-शोकों का नाशक (नहुषः-नहुष्टरः) नह्-बन्धन का उषः-दग्ध करने वाले जीवन्मुक्त का भी मुक्ततर-नित्यमुक्त (शवसा) आत्मबल से (यदुं तुर्वशम्) प्रयतमान को निकट में वर्तमान उपासक को (प्र-अश्रवयम्) निज उपदेश वेदज्ञान को सुनाता हूँ (अहम्) मैं परमात्मा (अन्यं सहसा सहः-नि करम्) अन्य किसी स्तोता को अपने बल से बलवान् करता हूँ (व्राधतः-नव नवतिं च वक्षयम्) महान् आत्मा के नव संख्यावाली गतिप्रवृत्ति अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां और चार-मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार की गतिप्रवृत्ति को नष्ट करता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा नित्यमुक्त है वह जीवन्मुक्त उपासक के काम-क्रोध-मद-मोह-राग-भय-शोकों को नष्ट कर देता है और उसे आत्मबल प्रदान करता है तथा अपना मङ्गलमय उपदेश भी देता है अपितु उसके चारों अन्तःकरण, पांचों ज्ञानेन्द्रियों की सांसारिक गतिप्रवृत्तियों को भी हटा देता है ॥ ८ ॥

अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये ॥ ९ ॥

अहम् । सप्त । स्रवतः । धारयम् । वृषा । द्रवित्न्वः । पृथिव्याम् । सीराः । अधि । अहम् । अर्णांसि । वि । तिरामि । सुऽक्रतुः । युधा । विदम् । मनवे । गातुम् । इष्टये ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं वृषा) अहं सुखवर्षकः परमात्मा (सप्त स्रवतः-द्रवित्न्वः सीराः पृथिव्याम्-अधि धारयम्) सप्तान् स्रवणशीलान् प्राणान् तथा द्रवन्ती-रक्तं वहन्ती-र्नाडीः *"सीराः-नाड़ीः"* ऋ० *१ । १७४ । ९ दयानन्दः*] शरीरे *"यच्छरीरं पुरुषस्य सा पृथिवी"* [*ऐ० आ० ४ । ३ । ३*] अधिधारयामि (अहं सुक्रतुः) अहं सुकुशलः कर्त्ता परमात्मा (मनवे)

मनुष्याय (अर्णांसि वितिरामि-इष्टये) विविधान् विषयरसान् प्रयच्छामि, इन्द्रियाणामाकांक्षायै (युधा विदम्) स्वकीय विभुगत्या *"युध्यति गतिकर्मा"* [*निघ० २ । १४*] वेदयामि प्रापयामि 'अन्तर्गतो णिजर्थः' ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं वृषा) मैं सुखवर्षक परमात्मा (सप्त स्रवतः-द्रवित्त्वः सीराः) सात स्रवणशील प्राणों को तथा रक्त को वहन करती नाड़ियों को (पृथिव्याम्-अधि धारयम्) शरीर में अधिष्ठित करता हूं (अहं सुक्रतुः) मैं सुकुशल कर्त्ता परमात्मा (मनवे) मनुष्य के लिए (अर्णांसि वितिरामि-इष्टये) विविध विषयरसों को कामनापूर्ति के लिए देता हूँ (युधा विदम्) अपनी विभुगति से प्राप्त कराता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा शरीर के अन्दर प्राणों का सञ्चार करता है, रस रक्त को नाड़ियों में बहाता है, इन्द्रियों की कामना के लिये विषयरसों को भी प्रदान करता है। ऐसे उस परमात्मा की उपासना करनी चाहिए ॥ ९ ॥

अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत् ।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम् ॥१०॥

अहम् । तत् । आसु । धारयम् । यत् । आसु । न । देवः । चन । त्वष्टा । अधारयत् । रुशत् । स्पार्हम् । गवाम् । ऊधःऽसु । वक्षणासु । आ । मधोः । मधु । श्वात्र्यम् । सोमम् । आऽशिरम् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहम्) अहं परमात्मा (आसु तत्-धारयम्) एतासु गोषु नाडीषु वा तद् दुग्धं रसं वा धारयामि (यत्-रुशत्-आसु देवः-चन त्वष्टा न-अधारयत्) यत् खलूज्ज्वलमेतासु गोषु नाडीषु वा दुग्धं रसं वा कश्चन देवः शिल्पी वा धारयितुं न शक्नोति (गवाम्-ऊधः सु वक्षणासु स्पार्हम्) गवां दुग्धाधारस्थानेषु रसवहनसमर्थासु नाडीषु वा (आ मधोः-मधु श्वात्र्यं सोमम्-आशिरम्) यावन्मधुरान्मधुरं यद्रुचिरं शिवकरं कल्याणकरम् *"शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्राः शिवा स्थ"* [*श० ३ । ६ । ४ । १६*] तत्र साधु यच्छान्दसः' सोमम्—आशिरमिति सोमं सोमस्य 'विभक्ति व्यत्ययः' आश्रयीभूतं सोमे मिश्रणीयं दुग्धं सोमौषधे उत्पादकं नदीजलं चाहं धारयामि ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अहम्) मैं परमात्मा (आसु तत्-धारयम्) इन गौओं में या नाड़ियों में वह दूध वा रस धारण कराता हूँ (यत्-रुशत्-आसु देवः-चन त्वष्टा न-अधारयत्) जो उज्ज्वलरूप इन गौओं में या नाड़ियों में दुग्ध या रस कोई विद्वान् या शिल्पी नहीं धारण करा सकता (गवाम्-ऊधःसु वक्षणासु स्पार्हम्) गौओं के दुग्धाधार—लेवा स्थानों में या रसवहन करने में समर्थ नाड़ियों में (आ मधोः-मधु श्वात्र्यं सोमम्-आशिरम्) जब तक मधुर से मधुर जो रुचिकर कल्याणकर है, सोम का आश्रयीभूत-सोम में मिलाने योग्य दूध को, सोमौषधि को उत्पन्न करने वाले जल को मैं धारण करता हूँ ॥ १० ॥

भावार्थ—गौओं में दूध और नाड़ियों में रस मनुष्य के निर्वाह के वास्ते परमात्मा ही उत्पन्न करता है- धारण करता है। ये कार्य किसी देव अग्नि आदि का काम नहीं न किसी शिल्पी का ॥ १० ॥

एवा देवाँ इन्द्रो विव्ये नॄन् प्र च्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः ।
विश्वेत्ता ते हरिवः शचीवोऽभि तुरासः स्वयशो गृणन्ति ॥ ११ ॥

एव । देवान् । इन्द्रः । विव्ये । नॄन् । प्र । च्यौत्नेन । मघऽवा । सत्यऽराधाः । विश्वा । इत् । ता । ते । हरिऽवः । शचीऽवः । अभि । तुरासः । स्वऽयशः । गृणन्ति ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एव मघवा सत्यराधाः-इन्द्रः) एवङ्गुणविशिष्टः सृष्टियज्ञवान् स्थिरधनवान् मोक्षरूपस्थिरधनवान् मोक्षस्य दाता खलु परमात्मा (नॄन् देवान्) मुमुक्षून् *"नरो ह वै देवविशः"* [*जै० १ । ८६*] विदुः (च्यौत्नेन) शरीरबन्धनच्यावनेन स्वबलेन *"च्यौत्न बलनाम"* [*नि० २ । ६*] (प्र विव्ये) प्रकर्षेण संवृणोति-आत्मीयान् करोति *"विव्ये संवृणोति"* [*ऋ० १ । १७६ । ६ दयानन्दः*] *व्येञ् संवरणे"* [*भ्वादिः*] "आत्मनेपदि लिटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्' प्रत्यक्षदृष्टयोच्यते (हरिवः शचीवः स्वयशः) दुःखहर्तारौ दयाप्रसादौ यस्य तद्वन् दयाप्रसादवन् ! कर्मवन् ! अनपेक्षितान्याधार ! स्वापेक्षित यशं यस्य तद्वन् ! स्वाधारयशोवन् ! परमात्मन् ! (ते ता विश्वा तुरासः-अभि गृणन्ति) तव तानि सर्वाणि कर्माणि संयमिनः संसारसागरं तरन्तः *"तुर इति यमनाम तरतेः"* [*निरु० १२ । १६*] अभिष्टुवन्ति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(एव मघवा सत्यराधाः-इन्द्रः) इस प्रकार गुणयुक्त सृष्टियज्ञ का कर्त्ता नित्यधनवान् मोक्षरूपस्थिर धनवान् मोक्ष का दाता परमात्मा (नॄन् देवान्) मुमुक्षु विद्वानों को (च्यौत्नेन) शरीरबन्धन को च्युत करने वाले बल से (प्र विव्ये) प्रकृष्टरूप से अपनाता है (हरिवः शचीवः स्वयशः) हे दुःखहरण करने वाले, दया और प्रसाद जिसके हैं ऐसे हे कर्मवाले तथा स्वाधार यश वाले परमात्मन् ! (ते ता विश्वा तुरासः-अभि गृणन्ति) तेरे उन सब कार्यों को संयमी संसारसागर को तरने वाले निरन्तर तेरी स्तुति करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमात्मा स्वाधार यश वाला है, मोक्षरूप धन का स्वामी है, मुमुक्षु उपासकों को अपनाता है, उन्हें मोक्ष प्रदान करता है। उसके दयाप्रसाद मानव के लिए भारी हितकर हैं। संयमीजन संसार सागर से तरने के लिए उसकी स्तुति करते हैं ॥ ११ ॥



पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

देवता—वैकुण्ठ इन्द्रः ।

छन्दः—१, निचृज्जगती । २, आर्ची स्वराड् जगती । ६, ७, पादनिचृज्जगती । ३, पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ४, विराट् त्रिष्टुप् । ५, त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा वर्ण्यते, स चोपासकानां विशिष्टहितकरः, ज्ञानदाता, रक्षको मोक्षप्रदाता सर्वयोजनासु स्तुत्यः सर्वै रित्येवमादयो विषया वर्ण्यन्ते ॥

इस सूक्त में इन्द्र शब्द से परमात्मा गृहीत है वह उपासकों का विशेष हितकर, ज्ञानदाता, रक्षक, मोक्षदाता सब योजनाओं में स्तुतियोग्य है, इत्यादि विषय वर्णित है ॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानाया॒न्धसोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥ १ ॥

प्र । वः॒ । म॒हे । मन्द॑मानाय । अन्ध॑सः । अर्च॑ । वि॒श्वान॑राय । वि॒श्व॒ऽभुवे॑ । इन्द्र॑स्य । यस्य॑ । सुऽम॑खम् । सहः॑ । महि॑ । श्रवः॑ । नृ॒म्णम् । च॒ । रोद॑सी इति॑ । स॒प॒र्यतः॑ ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) हे उपासका यूयम् ! 'विभक्तिव्यत्ययः' (अन्धसः-मन्दमानाय) अन्धसा 'विभक्ति व्यत्ययः' आध्यानीयेन समन्तध्यानेन–उपासनेन हृष्यते मोदमानाय (विश्वानराय) विश्वस्य नेत्रे (विश्वाभुवे) विश्वस्मिन् भवित्रे व्यापकाय (महे-इन्द्रस्य) महते–इन्द्राय 'विभक्ति व्यत्ययः' ऐश्वर्यवते परमात्मने (प्र-अर्च) प्रकृष्टं स्तुवीध्वम् (यस्य) यस्य परमात्मनः (सुमखं सहः-महिश्रवः-नृम्णं च) सुमहत् "सुमखं सुमहत्" *[निरु० ११ । ६]* बलं महच्च श्रवणीयं यशः-नृम्नतं चाध्यात्मसुखम् (रोदसी सपर्यतः) द्यावापृथिवी–तत्रस्थौ ज्ञानकर्मशीलौ नरनार्यौ प्रशंसतः–मन्येताम् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) हे उपासको तुम (अन्धसः-मन्दमानाय) आध्यान-समन्त रूप से ध्यान करने से प्रसन्न होने वाले—(विश्वानराय) विश्व के नेता—(विश्वाभुवे) विश्व के अन्दर व्यापक—(महे-इन्द्रस्य) महान् ऐश्वर्यवान् परमात्मा के लिए (प्र-अर्च) प्रकृष्ट रूप से अर्चना—स्तुति करो (यस्य) जिस परमात्मा का (सुमखं सहः-महिश्रवः-नृम्णं च) सुमहान् बल और महान् श्रवणीय यश मनुष्यों में प्राप्त अध्यात्मसुख है, तथा (रोदसी सपर्यतः) द्यावापृथिवी—वहां रहने वाले ज्ञानकर्मशील नरनारी प्रशंसा करते हैं मानते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा विश्व का नायक और विश्व में व्यापक है। उसका महान् बल और महान् यश मुमुक्षु उपासकों के प्रति झुका हुआ है तथा ज्ञानशील और कर्मशील नरनारी उसकी प्रशंसा करते हैं मानते हैं। वह स्तुति करने योग्य है ॥ १ ॥

सो चिन्नु सख्या नर्य इनः स्तुतश्चर्कृत्य इन्द्रो मावते नरे।
विश्वासु धूर्षु वाजकृत्येषु सत्पते वृत्रे वाप्स्वभि शूर मन्दसे ॥ २ ॥

सः। चित्। नु। सख्या। नर्यः। इनः। स्तुतः। चर्कृत्यः। इन्द्रः। माऽवते। नरे। विश्वासु। धूःऽसु। वाजऽकृत्येषु। सत्ऽपते। वृत्रे। वा। अप्ऽसु। अभि। शूर। मन्दसे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-इन्द्रः-चित्-नु सख्या नर्यः-इनः) सः- 'उत्वं विसर्गस्य छान्दसः' अवश्यं परमात्मा सखित्वेन-उपासनया नराणां मुमुक्षूणां हितकरः स्वामी (स्तुतः-चर्कृत्यः) स्तोतव्यः पुनः पुनर्भृशं वा सत्करणीयः (मावते नरे) मादृशाय मुमुक्षवेऽस्ति (विश्वासु धूः सु) सर्वासु धारणासु धारणीयासु वृत्तिषु वा (वाजकृत्येषु) बलकार्येषु (सत्पते शूर) सतां पालक ! परमात्मन् ! शूर ज्ञानवन् ! (वृत्रे वा अप्सु-अभिमन्दसे) पापिजनेषु—आप्तजनेषु च—अभिस्तुतिं प्राप्नोषि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-इन्द्रः-चित्-नु सख्या नर्यः-इनः) वह परमात्मा उपासना द्वारा मुमुक्षुओं का हितकर स्वामी होता है (स्तुतः-चर्कृत्यः) स्तोतव्य है और पुनः पुनः या भली प्रकार सत्करणीय है (मावते नरे) मेरे सदृश मुमुक्षु के लिए है (विश्वासु धूः सु) सारी धारणीय वृत्तियों में—योजनाओं में (वाजकृत्येषु) बलकार्यों में (सत्पते शूर) हे सज्जनों के पालक ! ज्ञानवन् ! परमात्मन् ! (वृत्रे वा-अप्सु-अभि मन्दसे) पापीजनों में तथा आप्तजनों में सम्यक् स्तुति को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपासकों के लिए हितकर स्वामी है। वह सारी योजनाओं तथा बलकार्यों में स्तुत्य और सत्कार करने योग्य है ॥ २ ॥

के ते नर इन्द्र ये त इषे ये ते सुम्नं सधन्यमियक्षान्।
क ते वाजायासुर्याय हिन्विरे के अप्सु स्वासूर्वरासु पौंस्ये ॥ ३ ॥

के । ते । नरः । इन्द्र । ये । ते । इषे । ये । ते । सुम्नम् । सऽधन्यम् । इयक्षान् के । ते । वाजाय । असुर्याय । हिन्विरे । के । अप्ऽसु । स्वासु । ऊर्वरासु । पौंस्ये ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र के ते नरः) हे परमात्मन् ! के हि ते नरो मुमुक्षवः सन्ति (ये ते-इषे) ये तव-एषणीयमोक्षाय (सुम्नं सधन्यम्-इयक्षान्) आत्मानं साधुम् *"सुम्ने मा धत्तमिति साधौ मा धत्तमित्येवैतदाह"* [*श०* १ । ८ । ३ । २७] तथा सधन्यं सफलं सङ्गच्छन्ते *"इयक्षति गतिकर्मा"* [*निघ०* २ । १४] के (ते वाजाय-असुर्याय हिन्विरे) के तव-अमृतान्नभोगाय-प्राणपोषकाय *"अमृतोऽन्नं वै वाजः"* [*जै०* २ । १९३] आत्मानं प्रेरयन्ति (के स्वासु-उर्वरासु अप्सु पौंस्ये) के खलु स्वासु-उच्चासु कामनासु *"आपो वै सर्वेकामाः"* [*श०* ४ । ५ । ५ । १५] आत्मत्वे च-आत्मानं प्रेरयन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र के ते नरः) हे परमात्मन् ! वे तेरे मुमुक्षुजन कौन हैं (ये ते इषे) जो तेरे एषणीय मोक्ष के लिए (सुम्नं सधन्यम्-इयक्षान्) जो अपने को साधु और सधन्य, सफल सङ्गत करते हैं (के ते वाजाय-असुर्याय हिन्विरे) कौन तेरे अमृत अन्नभोग के लिए अपने को प्रेरित करते हैं (के स्वासु-उर्वरासु-अप्सु पौंस्ये) कौन अपनी ऊंची कामनाओं में और आत्मभाव में आत्मा को प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले और अपने को उसके अधिकारी बनाने वाले विरले होते हैं एवं परमात्मा के अमृतभोग को चाहने वाले अपने को उन्नत किया करते हैं ॥ ३ ॥

भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः ।
भुवो नॄँश्च्यौत्नो विश्वस्मिन् भरे ज्येष्ठश्च मन्त्रो विश्वचर्षणे ॥ ४ ॥

भुवः । त्वम् । इन्द्र । ब्रह्मणा । महान् । भुवः । विश्वेषु । सवनेषु । यज्ञियः । भुवः । नॄन् । च्यौत्नः । विश्वस्मिन् । भरे । ज्येष्ठः । च । मन्त्रः । विश्वऽचर्षणे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वम्) (ब्रह्मणा महान् भुवः) ज्ञानेन वेदज्ञानेन महान् भवसि (विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः-भुवः) सर्वेषु सम्पादनीयेषु ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमेषु सङ्गमनीयो भवसि (नॄन्-च्यौत्नः-भुवः) मुमुक्षून् प्रति रागादीन् च्योतयिता बलवान् भवसि (विश्वचर्षणे) हे सर्वद्रष्टः परमात्मन् ! (विश्वस्मिन् भरे ज्येष्ठः-मन्त्रः-च) सर्वस्मिन् भरणीये धारणीये निर्वाहके त्वं ज्येष्ठः श्रेष्ठो मन्त्रयिता मन्त्रप्रदः-ज्ञानप्रदो भवसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् (त्वम्) तू (ब्रह्मणा महान् भुवः) वेदज्ञान से महान् है (विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः-भुवः) सब सम्पादनीय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास आश्रमों में सङ्गमनीय है (नॄन्-च्यौत्नः-भुवः) मुमुक्षुओं के प्रति रागादिओं को हटाने वाला

बलवान् है (विश्वचर्षणे) हे सर्वद्रष्टा परमात्मन् ! (विश्वस्मिन् भरे ज्येष्ठः-मन्त्रः-च) सम्पूर्ण भरणीय-धारणीय-निर्वाह करने योग्य वस्तुओं में तू ज्येष्ठ मन्त्रप्रद और ज्ञानप्रद है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान् ज्ञानवान् है। सब आश्रमियों के समागम योग्य है। मुमुक्षुओं के अन्दर से रागादि दोषों को हटाने वाला है। समस्त भरण करने वाले पदार्थों में ज्येष्ठ और ज्ञानप्रद है ॥ ४ ॥

अवा नु कं ज्यायान् यज्ञवनसो मही त ओमात्रां कृष्टयो विदुः ।
असो नु कमजरो वर्धाश्च विश्वेदेता सवना तूतुमा कृषे ॥ ५ ॥

अवं । नु । कम् । ज्यायान् । यज्ञऽवनसः । महीम् । ते । ओमात्राम् । कृष्टयः । विदुः । असः । नु । कम् । अजरः । वर्धाः । च । विश्वा । इत् । एता । सवना । तूतुमा । कृषे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ज्यायान्) हे इन्द्र–ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वं महान्-असि (यज्ञवनसः-नु कम्-अव) ये–अध्यात्मयज्ञं वनन्ति सम्भजन्ति–अध्यात्मयज्ञस्यानुष्ठातारस्तान् शीघ्रं रक्ष (ते महीम्-ओमात्रां कृष्टयः-विदुः) तव महतीं रक्षाम् "अव रक्षणे" [भ्वादिः] 'मात्रन् प्रत्ययो बाहुलकादौणादिकः, ऊठ् च बाहुलादेव' मनुष्या जानन्ति (अजरः-नु कम्-असः-च वर्धाः) त्वं खल्वजरो जराहितो भवसि शीघ्रं वर्धय (विश्वा–एता सवना-इत्-तूतुमा-कृषे) सर्वाणि–एतानि सवनानि निष्पाद्यानि स्तुतिप्रार्थनोपासनानि शीघ्रं स्वीकरोषि, इत्यपि जानन्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ज्यायान्) हे इन्द्र ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! तू महान् है (यज्ञवनसः-नु कम्-अव) अध्यात्मयज्ञ को जो सेवन करते हैं उनकी शीघ्र रक्षा कर (ते महीम्-ओमात्रां कृष्टयः-विदुः) तेरी महती रक्षा को मनुष्य जानते हैं (अजरः-नु कम्-असः-च वर्धाः) तू अजर–जरारहित है शीघ्र हमें बढ़ा (विश्वा-एता सवना-इत्-तूतुमा-कृषे) सारी इन निष्पादन करने योग्य स्तुति–प्रार्थना–उपासनाओं को शीघ्र स्वीकार करता है, ये भी जानते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान् है, उसकी रक्षणशक्ति भी महती है। वह अध्यात्मयाजी जनों की पूरी रक्षा करता है और उनकी स्तुति प्रार्थना उपासनाओं को अवश्य शीघ्र स्वीकार करता है ॥ ५ ॥

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे ।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ॥ ६ ॥

एता । विश्वा । सवना । तूतुमा । कृषे । स्वयम् । सूनो इति । सहसः । यानि । दधिषे । वराय । ते । पात्रम् । धर्मणे । तना । यज्ञः । मन्त्रः । ब्रह्म । उत्ऽयतम् । वचः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे) हे परमात्मन् ! इमानि विश्वानि निष्पाद्यानि स्तुतिप्रार्थनोपासनानि कर्माणि शीघ्रं स्वीकरोषि (सहसः सूनो) अध्यात्मबलस्य उत्पादक परमात्मन् ! (यानि स्वयं दधिषे) यानि खलु स्वयं विदधिषे विदधासि वेदेषूपदिशसि (ते पात्रं धर्मणे वराय तना) तव पात्राय पात्रभूताय 'चतुर्थी स्थाने द्वितीया' त्वां वरयित्रे धारकाय ध्यानशीलाय-अध्यात्मधनानि भवन्तु "तना धन नाम" [निघ० २ । १०] (यज्ञ.-मन्त्रः-ब्रह्मोद्यतं वचः) तस्य पात्रभूतस्य स्तोतुः-यज्ञम् श्रेष्ठकर्मयजनं मननं ज्ञानं प्रकटितं स्तुतिवचनं तुभ्यमस्तु ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे) हे परमात्मन् ! इन सब निष्पादन योग्य स्तुति-प्रार्थना-उपासना कर्मों को तू शीघ्र स्वीकार करता है (सहसः सूनोः) अध्यात्मबल के उत्पादक परमात्मा (यानि स्वयं दधिषे) जिनको स्वयं विधान करता है वेदों में उपदेश देता है (ते पात्रं धर्मणे वराय तना) तेरे पात्रभूत तुझको वरने वाले-ध्यान करने वाले के लिए अध्यात्मधन होवें (यज्ञः-मन्त्रः-ब्रह्मोद्यतं वचः) उस पात्रभूत के-स्तोता के यज्ञ-श्रेष्ठकर्म, मनन, ज्ञान, प्रकट हुए-हुए स्तुतिवचन तेरे लिए होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—वेदों में कहे स्तुति प्रार्थना उपासना आदि कर्म परमात्मा को स्वीकार होते हैं। उस पात्रभूत स्तुतिकर्त्ता के लिए परमात्मा आध्यात्मिक धन प्रदान करता है इसलिए स्तुतिकर्त्ता अपने श्रेष्ठकर्म, मनन, ज्ञान आदि परमात्मा के प्रति समर्पित करे ॥ ६ ॥

ये ते विप्र ब्रह्मकृतः सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने ।
प्र ते सुम्नस्य मनसा पथा भुवन्मदे सुतस्य सोम्यस्यान्धसः ॥ ७ ॥

ये । ते । विप्र । ब्रह्मऽकृतः । सुते । सचा । वसूनाम् । च । वसुनः । च । दावने । प्र । ते । सम्नस्य । मनसा । पथा । भुवन् । मदे । सुतस्य । सोम्यस्य । अन्धसः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विप्र) हे विशिष्टतया प्रीणयितः परमात्मन् ! (ते) तव (ब्रह्मकृतः) ये खलु स्तोत्रकृतः-स्तुतिकर्तारः (सुते सचा) उपासनाप्रसङ्गे सम्मिलिताः (वसूनां च वसुनः-च दावने) सांसारिकधनानां वासकधनस्य मोक्षस्य च दानाय दाननिमित्तं स्तुवन्तीति शेषः, तथा (मनसा पथा) मनोभावेन पथा सत्पथा सदाचरणेन च (ते मदे) तव हर्षनिमित्तम् (सुम्नस्य-सुतस्य सोम्यस्य प्रभुवन्) साधुभावस्य निष्पादितस्योपासनारसस्य समर्पणे प्रभवन्ति तान् त्वमनुगृहाण ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(विप्र) हे विशेषरूप से तृप्त करने वाले परमात्मन् (ते) तेरे (ये ब्रह्मकृतः) स्तोत्र-स्तुति करने वाले (सुते सचा) उपासनाप्रसङ्ग में सम्मिलित (वसूनां च वसुनः-च दावने) सांसारिक धनों का भी जो श्रेष्ठ बसाने वाला मोक्षधन है उसके प्रदान करने के लिए

उपासकलोग स्तुति करते हैं (मनसा पथा) मनोभाव के सत्यपथ–सदाचरण द्वारा (ते मदे) तेरे हर्ष के निमित्त (सुम्नस्य सुतस्य सोम्यस्य प्रभुवन्) निष्पादित साधुभाव उपासनारस के समर्पण में समर्थ होते हैं उन्हें तू अनुगृहीत कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा, स्तुति करने वालों को सब धनों से ऊंचे धन मोक्ष को प्रदान करता है जो मन से और सदाचरण से तथा साधुभाव से परमात्मा की उपासना करने में समर्थ होते हैं उन पर वह कृपा बनाये रखता है ॥ ७ ॥



एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—१, ३, ५, ७, ९ देवाः। २, ४, ६, ८, सौचीकोऽग्निः।

देवता—१, ३, ५, ७, ९ सौचीकोऽग्निः। २, ४, ६, ८ देवाः।

छन्दः—१, ३, निचृत् त्रिष्टुप्। २, ५, ६, विराट् त्रिष्टुप्। ४, ७, त्रिष्टुप्। ८, ९, भुरिक् त्रिष्टुप्॥

विषयः—अत्र सूक्ते 'अग्नि' शब्देन आत्मा विद्युदग्निश्च गृह्येते। तत्रात्मनो जन्मधारणमन्नपानं च विषयग्रहणं चैव कार्यं यथा कल्याणं मोक्षं च भवेत्। विद्युतः प्रयोगश्चैवं कर्त्तव्यो यथा यन्त्रचालनं सुव्यवस्थितं भवेदेवमादयो विषयाः सन्ति।

इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से आत्मा और विद्युदग्नि गृहीत हैं। आत्मा का जन्मधारण, अन्नपान, कल्याण और मोक्ष को देने वाला विषयग्रहण तथा विद्युत् का ऐसा प्रयोग जिससे सुव्यवस्थित यन्त्रचालन हो, आदि विषय हैं॥

महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥ १॥

महत्। तत्। उल्बम्। स्थविरम्। तत्। आसीत्। येन। आऽविष्टितः। प्रऽविवेशिथ। अपः। विश्वाः। अपश्यत्। बहुधा। ते। अग्ने। जातऽवेदः। तन्वः। देवः। एकः॥ १॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-अग्ने) जातः सन् वेद्यते जनैर्विद्युदग्ने वा-इति तद्धर्मवन् शरीरेण जातेन सह वेद्यतेऽस्तीति जनैर्वेद्यतेऽनुभूयतेऽस्त्यात्माऽग्निर्ह्यात्मा तथाभूत अग्ने-आत्मन् (तत्-उल्बं महत् स्थविरम्) गर्भे तत् खलूल्बमाच्छादकं वस्त्रमिव जलं वैद्युततरङ्गमण्डलं वाकाशे विद्यमानं महत्त्वपूर्णं बृहद्वा पुरातनं जन्मजन्मान्तरपरम्परयाप्राप्तं यद्वा पुरातनं सृष्टेरारम्भतः प्रवर्तमानम् (तत् आसीत्) तदस्ति

प्रवर्तते (येन-आविष्टितः-अपः-प्रविवेशिथ) येन सह-आवेष्टितः सर्वतोरक्षितः सन् "वेष्ट वेष्टने" [भ्वादिः] 'ह्रस्वत्वं छान्दसम्' प्राणान् "आपो वै प्राणाः" [श० ३ । ८ । २ । ४] जलानि-आकाशीय मेघरूपजलानि पार्थिवनदीस्रोतः प्रभृति जलानि च प्रविष्टो भवसि (ते विश्वा बहुधा तन्वः-एकः-देवः-अपश्यत्) तव बहुविधानि सर्वाण्यङ्गानि बहुविधा व्याप्तयो वा "तनूः-व्याप्तिः" [यजु० ५ । ८ दयानन्दः] विस्तृतास्तरङ्गाः, एको यमः-नियन्ता कर्मानुसारतः प्रवेशयिता, एकः सुखदाता प्रकाशयिता परमात्मा विद्वान् वा जानाति प्रकाशयति वा ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-अग्ने) हे शरीर के उत्पन्न होने के साथ ही जाने जाने वाले आत्मन् ! तथा उत्पन्न होते ही ज्ञान में आने वाली विद्युत् रूप अग्ने ! (तत्-उल्बं महत् स्थविरम्) गर्भ में वह उल्ब–आच्छादक वस्त्र के समान, मेघजल में वैद्युत् तरंगमण्डल आकाश में विद्यमान महत्त्वपूर्ण पुरातन जन्मजन्मान्तर परम्परा से प्राप्त अथवा सृष्टि के आरम्भ से प्रवर्तमान (तत्-आसीत्) वह है (येन-आविष्टितः-अपः-प्रविवेशिथ) जिसके साथ सर्वतोरक्षित हुआ प्राणों को या मेघरूप जलों को पार्थिव नदी स्रोतों को प्रविष्ट है (ते विश्वा बहुधा तन्वः-एकः-देवः-अपश्यत्) तेरे बहुत प्रकार के सारे अङ्ग या व्याप्तियां, विस्तृत तरङ्गें, एक नियन्ता कर्मानुसार प्रवेश कराने वाला, एक सुखदाता परमात्मा या विद्वान् जानता है या प्रकाशित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—आत्मा शरीर में उत्पन्न होते ही जाना जाने वाला, जो परम्परा से जन्म धारण करता हुआ आ रहा है वह प्राणों को धारण करता है। उसे कर्मानुसार परमात्मदेव गर्भ को प्राप्त कराता है। तथा–आकाश में पुरातन काल से मेघों में उत्पन्न होते ही ज्ञान में आने वाला विद्युत् अग्नि है। वह मेघजलों में ईश्वर की व्यवस्था से प्राप्त होता है और मेघजलों को गिराता है ॥ १ ॥

को मा॑ ददर्श कत॒मः स दे॒वो यो मे॑ त॒न्वो॑ बहु॒धा प॒र्यप॑श्यत् ।
क्वाह॑ मित्रावरुणा क्षियन्त्य॒ग्नेर्विश्वा॑ः स॒मिधो॑ दे॒वयानी॑ः ॥ २ ॥

कः । मा॒ । द॒द॒र्श॒ । क॒त॒मः । सः । दे॒वः । यः । मे॒ । त॒न्वः॑ । ब॒हु॒धा । परि॑ऽअप॑श्यत् । क्व॑ । अह॑ । मि॒त्रा॒व॒रु॒णा॒ । क्षि॒य॒न्ति॒ । अ॒ग्नेः । विश्वा॑ः । स॒म्ऽइधः॑ । दे॒व॒ऽयानीः॑ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कः-मा ददर्श) कः स देवो मां पश्यति–जानाति खल्वन्तर्हितं प्राणेषु जलेषु वा (कतमः सः- देवः-यः-मे बहुधा तन्वः) बहुषु देवेषु कतमः खलु सुखयिता ऽऽत्मा प्रकाशको विद्वान् यश्च मम बहुधा बहुप्रकाराणि-अङ्गानि बह्वस्तरङ्गा वा (परि-अपश्यत्) परिपश्यति सर्वतो जानाति (मित्रा वरुणा) हे मित्रावरुणौ प्राणापानौ–इन्द्रियदेवेषु खल्वप्रभूतौ "प्राणापानौ वै मित्रावरुणौ" [काठ० २९ । १]

विद्युतः शुष्कार्द्रधारे तद्वेत्तारौ *"विद्युतो ज्योतिः परिसंजिहान मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा"* [ऋ० ७ । ३३ । १०] मनीषिशिल्पिनौ वा *"एतौ मित्रावरुणावेवषंस्ये शाते"* [कठ० ११ । १०] *"मित्रावरुणौ त्वा वृष्टयावताम्"* [श० १ । ८ । १ । १२] *"मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मेणेति"* [मं० ३ । ८ । ६] (अग्नेः क्व-अह) मम ज्ञानिन आत्मनः—विद्युदग्नेर्वा-अरे कुत्र (देवयानीः-विश्वाः-समिधः-क्षियन्ति) देवं परमात्मानं प्रति गन्त्र्यः—देवयानसाधनभूताः, वैज्ञानिकं विद्वांसं ज्ञापयित्र्यः सम्यग्दीप्ताश्चेतनवृत्तयः शक्तयः, सम्यग्दीप्तिनिमित्तास्तरङ्गाः कुत्र निवसन्तीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(कः-मा ददर्श) वह कौन देव मुझे देखता है—जानता है, प्राणों में छिपे हुए या जलों के अन्तर्गत छिपे हुये को (कतमः सः-देवः-यः-मे बहुधा तन्वः) बहुतेरे देवों में कौन सुख देने वाला प्रकाशक या विद्वान् है जो मेरे बहुत सारे अङ्गों को या तरङ्गों को (परि-अपश्यत्) देखता है—जानता है (मित्रावरुणा) हे प्राणापानो इन्द्रियदेवों में अग्रभूत ! विद्युत् की शुष्क—आर्द्र धाराओं या उनके जानने वाले मनीषि शिल्पियो ! (अग्नेः क्व-अह) मुझ ज्ञानी आत्मा या विद्युदग्नि के जानने वाले अरे कहाँ (देवयानीः-विश्वाः-समिधः-क्षियन्ति) परमात्मा के प्रति जाने वालीं, देवयान के साधनभूत, वैज्ञानिक विद्वान् को जनाने वालीं सम्यग्दीप्त चेतन शक्तियां या सम्यग्दीप्तिनिमित्त तरंगें कहां रहती हैं, यह जानना चाहिए ॥ २ ॥

भावार्थ—प्राणों के अन्दर आत्मा को कौनसा देव सुख देने वाला आत्मा के अङ्गों को परमात्मा की ओर जाने वाली उसकी चेतनशक्तिओं को जानता है। उसको समझना चाहिए। एवं—मेघजलों में निहित विद्युत् अग्नि की तरङ्गों को कौन वैज्ञानिक जानता है जो परमात्मदेव को दर्शाने वाली हैं। उसे भी जानना चाहिए ॥ २ ॥

ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु ।
तं त्वा यमो अचिकेच्चित्रभानो दशान्तरुष्यादतिरोचमानम् ॥ ३ ॥

ऐच्छाम । त्वा । बहुधा । जातऽवेदः । प्रऽविष्टम् । अग्ने । अप्ऽसु । ओषधीषु । तम् । त्वा । यमः । अचिकेत् । चित्रभानो इति चित्रऽभानो । दशऽअन्तरुष्यात् । अतिऽरोचमानम् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-अग्ने) हे जातेन शरीरेण सह वेद्यमान ज्ञायमान आत्मन् ! जात एव वेद्यमान ज्ञायमानो वा विद्युदग्ने ! (बहुधा-अप्सु-ओषधीषु -प्रविष्टं त्वा-ऐच्छाम) बहुप्रकारेण मनुष्यपशुपक्षिप्रकारेण प्राणेषु—उष्णत्वधारिकासु नाडीषु प्रविष्टं गुप्तं प्राप्तं वाञ्छामः, तथा जलेषु काष्ठादिषु पदार्थेषु प्रविष्टं त्वामन्विष्य वाञ्छामः (चित्रभानो तं त्वा यमः-अचिकेत्) हे चायनीयं दर्शनीयं—तेजो यस्मिन् तथाभूतः ! आत्मन् विद्युदग्ने वा तं त्वां यमनकर्त्ता परमात्मा वैज्ञानिको जानाति (दशान्तरुष्यात् -अतिरोचमानम्) दशानामिन्द्रियाणां प्राणानां वाऽन्तरुष्णत्वात् तथा चेष्टनात्, यद्वा दशस्थानेषु पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु—अग्निविद्युत्सूर्येषु देवेषु—अबोषधिवनस्पतिषु प्राणिशरीरे च वासात् जानातीति शेषः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-अग्ने) हे उत्पन्न शरीर के साथ जानने योग्य आत्मा, या उत्पन्न होते ही ज्ञान में आने योग्य विद्युत् ! (बहुधा-अप्सु-ओषधीषु-प्रविष्टं त्वा-ऐच्छाम) बहुत प्रकार से मनुष्य पशु पक्षी रूप से प्राणों में, उष्णत्व धारण करने वाली नाडियों में प्रविष्ट हुए को चाहते हैं तथा जलों में काष्ठादि पदार्थों में प्रविष्ट हुए को खोज करके चाहते हैं (चित्रभानो तं त्वा यमः-अचिकेत्) हे दर्शनीय तेज वाले आत्मन् ! या विद्युत् ! तुझ को यमनकर्त्ता परमात्मा या वैज्ञानिक जानता है (दशान्तरुष्याद्-अतिरोचमानम्) दश इन्द्रियों, प्राणों के अन्दर उष्णता से तथा चेष्टा से–क्रिया व्यवहार से या दशस्थानों में–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जल, ओषधि, वनस्पति, और प्राणिशरीर में बसने से जानते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा शरीर के उत्पन्न होने के साथ ही जाना जाता है वह मनुष्य पशु पक्षी प्राणियों में उष्णता धारण करने वाली नाडियों में चेष्टाओं के होने से विद्यमान है। परमात्मा आत्मा का नियामक है। भिन्न–भिन्न शरीरों में जाने का इसका निमित्त बनाता है। एवं—विद्युत् प्रकट होते ही जाना जाता है। वह जलों में काष्ठादि में विद्यमान रहता है। इसे वैज्ञानिक लोग जानते हैं ॥ ३ ॥

होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः ।
तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतमर्थं न चिकेताहमग्निः ॥ ४ ॥

होत्रात् । अहम । वरुण । बिभ्यत् । आयम् । न । इत् । एव । मा । युनजन् । अत्र । देवाः । तस्य । मे । तन्वः । बहुधा । निऽविष्टाः । एतम् । अर्थम् । न । चिकेत । अहम् । अग्निः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वरुण) हे वरणीय वरयितः परमात्मन् ! (अहं होत्रात्-बिभ्यत्-आयम्) अहं खल्वात्मा, स्वस्मिन् सर्वं यद् जुहोति गृह्णाति तस्मान्मृत्योर्भयं कुर्वन् तव ध्यानमागतवान् (न-इत्-एव) नैव हि (देवाः-मा-अत्र युनजन्) इन्द्रियाणि मामत्र स्वस्वविषये योजयन्तु (तस्य मे बहुधा तन्वः-निविष्टाः) तस्य–अस्य मम–आत्मनो बहुप्रकारेण चेतयित्र्यः शक्तयोन्तर्हिता आसन् (एतम्-अर्थम्-अहम्-अग्निः-न चिकेत) एतमभिप्रायं लक्षयित्वा-अहमात्मा न जानामि ज्ञापयामि स्वात्मानम् *"न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धः"* [ऋ० १ । १६४ । ३७] तथा हे (वरुण) वरणीय वरयित देव जलाधिपते ! *"वरुणोऽयमधिपतिः"* [तै० सं० ३ । ४ । ५ । १] (अहम्) विद्युद्रूपाग्निः, "आलङ्कारिकदृष्टयोच्यते" (होत्रात्-बिभ्यत्) प्रयोक्तव्ययन्त्राद् भयं कुर्वन् (आयन्) जलेषु–आगतवान् (न-इत्-एव देवाः-अत्र मा युनजन्) नैव हि वैज्ञानिकजनाः-अत्र यन्त्रे मां योजयन्तु (तस्य मे बहुधा तन्वः-निविष्टाः) तस्यास्य मम विद्युदग्नेस्तरङ्गाः बहुप्रकारेणात्रऽन्तर्हिताः सन्ति (एतम्-अर्थम्-अहम्-अग्निः-न चिकेत) एतमभिप्रायं लक्षयित्वा–अहं विद्युदग्निर्नं ज्ञापितवानात्मानम् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वरुण) हे वरणीय तथा वरने वाले परमात्मन् ! (अहं होत्रात्-बिभ्यत्-आयम्) मैं आत्मा, जो अपने में सबको ग्रहण कर लेता है उस मृत्यु से भय करता हुआ तेरे ध्यान को प्राप्त हुआ हूँ—तेरी शरण में आया हूँ (न-इत्-एव) न ही (देवाः-मा-अत्र युनजन्) इन्द्रियां मुझे अपने अपने विषय में जोड़े—खीचें (तस्य मे बहुधा तन्वः-निविष्टाः) उस इस मुझ आत्मा की बहुतेरी शक्तियां छिपी हुई हैं (एतम्-अर्थम्-अहम्-अग्निः-न चिकेत) इस अभिप्राय को लक्ष्य कर मैं आत्मा नहीं अपने को जना पाता हूँ। तथा—(वरुण) हे वरने योग्य वरने वाले जल के स्वामी ! (अहम्) मैं विद्युत् अग्नि "यह आलङ्कारिक ढंग से वर्णन है" (होत्रात्-बिभ्यत्) प्रयोक्तव्य यन्त्र से भय करता हुआ (आयन्) जलों में प्राप्त हुआ हूँ (न-इत्-एव देवाः-मा-अत्र युनजन्) न ही वैज्ञानिक जन यहाँ यन्त्र में मुझे जोड़ें (तस्य मे बहुधा तन्वः-निविष्टाः) उस इस मुझ विद्युदग्नि की बहुतेरी तरङ्गें छिपी हुई हैं (एतम्-अर्थम्-अहम्-अग्निः-न चिकेत) इस अभिप्राय को लक्षित कर मैं अपने को नहीं जना सकती ॥ ४ ॥

भावार्थ—जीवात्मा को स्वभावतः मृत्यु से भय होता है। वह भय परमात्मा की शरण और उसके ध्यान बिना दूर नहीं हो सकता। उधर इन्द्रियां अपने-अपने विषय में आत्मा को खींचती हैं आत्मा की शक्तियां और भी छिपी हुई हैं जिनका विकास परमात्मा की शरण लेने पर होता है जिनसे ब्रह्मानन्द का लाभ लेता है। एवं—विद्युत् की उत्पत्ति जलों से होती है चाहे वे मेघ—जल हों या पृथिवी के जल हों। जलों का अधिपति-शक्तिकेन्द्र वरुण नाम से कहा जाता है जो जलों के सूक्ष्म कणों को ठोस रूप देता है। वैज्ञानिक लोग जल को ताड़ित करके विद्युत् बनाकर उसका यन्त्र में प्रयोग करते हैं। विद्युत् की तरङ्गों में बहुत शक्ति है उसका सदुपयोग करना चाहिए ॥४॥

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने ।
सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः ॥ ५ ॥

आ । इहि । मनुः । देवऽयुः । यज्ञऽकामः । अरम्ऽकृत्य । तमसि । क्षेषि । अग्ने ।
सुऽगान् । पथः । कृणुहि । देवऽयानान् । वह । हव्यानि । सुऽमनस्यमानः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे ! अज्ञानां नेतरात्मन् ! (तमसि क्षेषि) अज्ञानान्धकारे निवससि (मनुः-देवयुः-यज्ञकामः अरङ्कृत्य-एहि) मननशीलः सन्निन्द्रियाणि प्रति गन्ताऽध्यात्मयज्ञं कामयमानः स्वात्मानं समर्थं कृत्वा खल्वागच्छ, मृत्योर्भयं मा कार्षीः (देवयानान् पथः सुगान् कृणुहि) शरीरं प्राप्य हीन्द्रियमार्गान् शिवसङ्कल्पमयान् कुरु (सुमनस्यमानः-हव्यानि वह) सुप्रसन्नः सन् परमात्मानं प्रति स्तुतिप्रार्थनोपासनानि प्रापय। एवम् (अग्ने) हे यन्त्रस्याग्रणेतो विद्युदग्ने ! (तमसि क्षेषि) अज्ञाते प्रसङ्गे, निवससि (मनुः-देवयुः-यज्ञकामः-अरङ्कृत्य-एहि) मननीयो वैज्ञानिकान् प्रति गन्ता कलायज्ञे काम्यमानो वैज्ञानिकैः कार्ये समर्थः क्रियमाणः सन् यन्त्रे प्राप्नुहि (देवयानान् पथः सुगान् कृणुहि) वैज्ञानिकैर्निर्णीतान् मार्गान् सुष्ठुगमनयोग्यान् कुरु (सुमनस्यमानः-हव्यानि वह) सुविकसितः सन् प्राप्तव्यानि वस्तूनि प्रापय ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अङ्गों के नेता आत्मन् (तमसि क्षेषि) तू अज्ञानान्धकार में निवास करता है (मनुः-देवयुः-यज्ञकामः-अरङ्कृत्य-एहि) मननशील हो इन्द्रियों की ओर जाने वाला अध्यात्मयज्ञ को चाहता हुआ अपने को समर्थ करके आ, मृत्यु से मत डर (देवयानान् पथः सुगान् कृणुहि) शरीर को प्राप्त करके इन्द्रियमार्गों को शिवसङ्कल्प वाले बना (सुमनस्यमानः-हव्यानि वह) सुप्रसन्न हुआ परमात्मा के प्रति स्तुति प्रार्थना उपासनाओं को प्रेरित कर। एवम् (अग्ने) हे यन्त्र के अग्रणेता विद्युत् अग्नि ! (तमसि क्षेषि) अज्ञात प्रसङ्ग में रहती है (मनुः-देवयुः-यज्ञकामः-अरङ्कृत्य-एहि) तू मननीय, वैज्ञानिकों के प्रति जानेवाला कलायज्ञ में कमनीय उनके कार्य में समर्थ क्रिया यन्त्र में प्राप्त हो (देवयानान्-पथः सुगान् कृणुहि) वैज्ञानिकों के निर्णीत मार्गों को अच्छे गमन योग्य कर (सुमनस्यमानः-हव्यानि वह) सुविकसित हुआ प्राप्तव्य वस्तुओं को प्राप्त करा ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा समस्त अङ्गों का नेता है इन्द्रियों के विषयों में पड़कर मृत्यु से भय करता है परन्तु शिवसङ्कल्प बना कर आत्मबल प्राप्त कर और परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करता हुआ मृत्यु से भय का अवसर नहीं है। एवं विद्युदग्नि यन्त्र का चालक बने बिना प्रयोग के अन्धेरे में पड़ी जैसी है वैज्ञानिकों द्वारा यन्त्र में प्रयुक्त होकर बलवान् बनती है यन्त्र द्वारा विविध लाभ पहुंचाता हुआ सफल तथा स्थिर रहता है ॥ ५ ॥

अ॒ग्नेः पूर्वे॒ भ्रात॑रो॒ अर्थ॑मे॒तं र॒थीवाध्वा॑न॒मन्वाव॑रीवुः ।
तस्मा॑द्भि॒या व॑रुण दू॒रमा॑यं गौ॒रो न क्षे॒प्नोर॑विजे॒ ज्याया॑ः ॥ ६ ॥

अ॒ग्नेः । पूर्वे॑ । भ्रात॑रः । अर्थ॑म् । ए॒तम् । र॒थीऽइव । अध्वा॑नम् । अनु॑ । आ । अ॒व॒री॒वु॒रिति॑ । तस्मा॑त् । भि॒या । व॒रु॒ण॒ । दू॒रम् । आ॒य॒म् । गौ॒रः । न । क्षे॒प्नोः । अ॒वि॒जे॒ । ज्याया॑ः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वरुण) हे परमात्मन् ! (अग्नेः पूर्वे भ्रातरः) अङ्गानां नायकस्यात्मनो मम पूर्वे सजातयो मम सदृशा आत्मानः (एतम् अर्थम्) इममर्थनीयं देहम् (रथी-इव-अध्वानम्-अनु-आवरीवुः) रथवान् यथा मार्गमावृणोति तद्वद्-देहं भृशमावृणवन्तिस्म ते मृताः (तस्मात्-भिया) तस्मात्मृत्योर्भयेन (दूरम्-आयम्) दूरमन्तर्हितं गच्छामि (गौरः-न क्षेप्नोः-ज्यायाः-अविजे) यथा गौरो मृगो ज्यातो वाणप्रक्षेप्तुर्भयात् पलायते तद्वदहमात्मा भयादन्तर्हितो भवामि। एवं (वरुण) जलाधिपतेः (अग्नेः पूर्वे भ्रातरः) मम विद्युद्रूपाग्नेः सजातयो सूर्यरश्मयः (एतम्-अर्थम्) एतं यन्त्रविशेषम् (रथी-इव-अध्वानम्-अनु-आवरीवुः) रथवान् यथा मार्गं भृशमावृणोति तद्वद्, यन्त्रविशेषमावृणवन्तो विनष्टाः पुनरहमपि विनष्टो भविष्यामि (तस्मात्-भिया) तस्माद्विनाशभयेन (दूरम्-आयम्) दूरं गच्छामि न यन्त्रे प्रविशामि (गौरः-न ज्यायाः क्षेप्नोः-अविजे) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थं—(वरुण) हे परमात्मन् ! (अग्नेः पूर्वे भ्रातरः) अङ्गों के नायक मुझ आत्मा के सजातीय मेरे जैसे पूर्व आत्माएं (एतम्-अर्थम्) इस अर्थनीय देह को (रथी-इव-अध्वानम्-अनु-आवरीवुः) रथवान् जैसे मार्ग को घेरता है उसकी भांति देह को भली प्रकार घेरते रहे वे मृत हो गए देहत्याग गए (तस्मात्-भिया) उस मृत्यु के भय से (दूरम्-आयम्) मैं दूर छिप जाता हूँ (गौरः-न क्षेप्नोः-ज्यायाः-अविजे) जैसे गौर मृग ज्या-धनुष की डोरी से बाण फेंकने वाले से दौड़ जाता है । एवं (वरुण) जल के स्वामी (अग्नेः पूर्वे भ्रातरः) मुझ विद्युदग्नि के पूर्व सजातीय सूर्यकिरणें (एतम्-अर्थम्) इस यन्त्र विशेष को (रथी-इव-अध्वानम्-अनु-आवरीवुः) रथवान् जैसे मार्ग को बहुत घेरता है उसी भांति यन्त्र विशेष को घेरते हुए विनष्ट हो जाते रहे मैं भी विनष्ट हो जाऊं (तस्मात्-भिया) उस विनाश भय से (दूरम्-आगमम्) दूर चला जाता हूं (गौरः-न मृगः-क्षेप्नोः-ज्यायाः-अविजे) गौर मृग जैसे धनुष की डोरी से बाण फेंकने वाले से भय खाकर भाग जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—आत्मा शरीर में जन्म लेकर आता है जैसे जैसे बड़ा होता जाता है अपने सामने अपने बड़ों को मरते देखता है तो ज्ञानवान् आत्मा को मृत्यु से भय लगता है, शरीर से ग्लानि होती है परन्तु परमात्मा की ओर जैसे जैसे चलता है उसकी स्तुति करता है भय रहित होता है । एवं यन्त्र में प्रयुक्त अग्नि–विद्युदग्नि क्षीण होती जाती है परन्तु उसकी क्षीणता से यन्त्र चालन में उसका महत्त्व बढ़ता है ॥ ६ ॥

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः ।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ॥ ७ ॥

कुर्मः । ते । आयुः । अजरम् । यत् । अग्ने । यथा । युक्तः । जातऽवेदः । न । रिष्याः । अथ । वहासि । सुऽमनस्यमानः । भागम् । देवेभ्यः । हविषः । सुऽजात ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः-अग्ने) हे जाते शरीरे वेद्यमान अङ्गानां नायक ! आत्मन् (यत्-अजरम्-आयुः) यज्जरारहितमायुरस्ति (ते) तुभ्यम् (कुर्मः) कुर्मः (युक्तः-यथा न रिष्याः) तद्युक्तो यथा न म्रियते (अथ सुमनस्यमानः) अनन्तरं सुप्रसन्नः सन् (सुजात) हे सुजन्मन् ! (देवेभ्यः-हविषः-भागं वहासि) इन्द्रियदेवेभ्यः प्राप्तस्य ग्राह्यविषयस्य भागं भजनीयलाभं प्राप्नुहि तथा (जातवेदः-अग्ने) हे जातः सन् वेद्यमान यन्त्रस्याग्रणायक विद्युद्रूपाग्ने (यत्-अजरम्-आयुः) यदजीर्णमयनम् "आयुरयनः" [निरु० ६ । २] (ते कुर्मः) तुभ्यं कुर्मो वयं वैज्ञानिकाः (युक्तः-यथा न रिष्याः) तद्युक्तः सन् यथा न रिष्यसि–विनश्यसि (अथ) अनन्तरम् (सुमनस्यमानः) सुविकसितः सन् (देवेभ्यः-हविषः-भागं वहासि) अस्मादृशेभ्यो वैज्ञानिकेभ्यो दीयमानस्य कुत्सस्य द्रवस्य वा भजनीयं लाभं बलं प्राप्नुहि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः-अग्ने) हे उत्पन्न शरीर में जानने योग्य अङ्गों के नायक आत्मन् (यत्-अजरम्-आयुः) जो जरारहित आयु है (ते) तेरे लिए (कुर्मः) करते हैं (युक्तः-यथा न रिष्याः) उससे युक्त हुआ जैसे न मर सके (अथ सुमनस्यमानः) अनन्तर सुप्रसन्न हुआ (सुजात) हे शोभन जन्म वाले या सुप्रसिद्ध ! (देवेभ्यः-हविषः-भागं वहासि) इन्द्रियों के लिए ग्राह्य विषय के भजनीयलाभ को प्राप्त हो। तथा—(जातवेदः-अग्ने) हे उत्पन्न होते ही जानने योग्य यन्त्र के अग्रणायक विद्युत् अग्ने ! (यत्-अजरम्-आयुः) जो अजीर्ण–न क्षीण होने वाला अयन–गतिक्रम है (ते कुर्मः) हम वैज्ञानिक तेरे लिए करते हैं (युक्तः-यथा न रिष्याः) उससे युक्त हुआ जैसे विनष्ट न हो सके (अथ) अनन्तर (सुमनस्यमानः) सुविकसित हुआ-हुआ (देवेभ्यः-हविषः-भागं वहासि) वैज्ञानिकों के लिए देने योग्य वज्र या द्रव पदार्थ का भजनीय लाभ–बल को प्राप्त कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—शरीर में आकर आत्मा इन्द्रियों के भोगों के साथ संयमद्वारा अपनी ऐसी स्थिति बनाये जिससे कि अजर आयु अर्थात् मोक्ष का आयु प्राप्त कर सके। एवं—यन्त्र में विद्युत् को ऐसे युक्त करना चाहिए जिससे कि स्थिर रूप में निरन्तर गतिशील बनी रहे एतदर्थ कोई ठोस वज्र या द्रव पदार्थ का उसमें प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥

प्र॒या॒जान्मे॑ अनुया॒जाँश्च॒ केव॑ला॒नूर्ज॑स्वन्तं ह॒विषो॑ दत्त भा॒गम् ।
घृ॒तं चा॒पां पुरु॑षं चौष॑धीनाम॒ग्नेश्च॑ दी॒र्घमायु॑रस्तु दे॒वाः ॥ ८ ॥

प्र॒ऽया॒जान् । मे॒ । अ॒नु॒ऽया॒जान् । च॒ । केव॑लान् । ऊर्ज॑स्वन्तम् । ह॒विषः॑ । द॒त्त । भा॒गम् । घृ॒तम् । च॒ । अ॒पाम् । पुरु॑षम् । च॒ । ओष॑धीनाम् । अ॒ग्नेः । च॒ । दी॒र्घम् । आयुः॑ । अ॒स्तु॒ । दे॒वाः॒ ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे इन्द्रियदेवाः-यूयम् (प्रयाजान् च-अनुयाजान् केवलान्-मे) प्रकृष्टं भोक्तव्यान्नादिपदार्थान् स्थूलभोगान् *"अन्नं वै प्रयाजाः"* [कठ० ९ । १] अनुयाजान्–तदनुरूप पेयान् पदार्थान् च केवलान् शुद्धान् कल्याणकरान् मह्यं (हविषः-भागम्-ऊर्जस्वन्तं दत्त) ग्राह्यस्य विषयस्य भागं ज्ञानं तेजस्विनं दत्त (च) तथा (अपां घृतम्) प्राणानां तेजः (ओषधीनां पुरुषम्) ओषधीनां बहु सेवनीयं बलम्, तथा (अग्नेः-दीर्घम्-आयुः-अस्तु) अग्नेर्ममात्मनो दीर्घमायुर्मोक्षविषयं भवतु। तथा—(देवाः) हे वैज्ञानिकाः-यूयम् (प्रयाजान्-अनुयाजान्-च केवलान् मे) प्रकृष्ट सङ्गमनीयान्–अनुकृष्ट-सङ्गमनीयान् धनर्णात्मकान् तन्त्रीपदार्थान् केवलान् पृथक्पृथग्भूतान् मह्यम् (हविषः-भागम्-ऊर्जस्वन्तं दत्त) ग्राह्यस्य कुत्सस्य वज्रस्य भजनीयं बलिनं वेगं दत्त तथा (अपां घृतम्) जलानां जलादिभ्य उद्भवं तेजः (ओषधीनां पुरुषम्) ओषं धारयतां पदार्थानां बहुविधमुषं तेजः (अग्नेः-च दीर्घम्-आयुः-अस्तु) मम विद्युद्रूपाग्नेश्च दीर्घमयनं गमनक्षेत्रं भवतु ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे इन्द्रिय देवो तुम (प्रयाजान् च-अनुयाजान् केवलान् मे) प्रकृष्ट भोक्तव्य अन्नादि पदार्थ स्थूल भोगों को तदनुरूप पेय पदार्थों को, जो शुद्ध कल्याणकारक हैं उनको मुझ आत्मा के लिए (हविषः-भागम्-ऊर्जस्वन्तं दत्त) ग्राह्य विषय के भाग—तेजवाले ज्ञान को दो (च) तथा (अपां घृतम्) प्राणों के तेज को (ओषधीनां पुरुषम्) ओषधियों के बहुत सेवनीय बल को (च) और (अग्नेः-दीर्घम्-आयुः-अस्तु) मुझ अग्नि—आत्मा का दीर्घ आयु मोक्ष विषयक आयु हो। एवं—(देवाः) हे वैज्ञानिक विद्वानो ! तुम (प्रयाजान् च-अनुयाजान् केवलान् मे) प्रकृष्ट सङ्गमनीय—धनात्मक अनुकृष्ट सङ्गमनीय—ऋणात्मक तार पदार्थों को पृथक्-पृथक् हुओं को मुझ विद्युत् अग्नि के लिए (हविषः-भागम्-ऊर्जस्वन्तं दत्त) ग्राह्य वज्र के सेवन करने योग्य वेग को दो (अपां घृतम्) जलादिओं से उत्पन्न हुए तेज को (ओषधीनां पुरुषम्) ओष—उष्णत्व धारण करने वाले पदार्थों के बहुप्रकार के उष्णत्व तेज को (च) और (अग्नेः-च दीर्घम्-आयुः-अस्तु) मुझ विद्युत् अग्नि का लम्बा अयन-गतिक्षेत्र हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—आत्मा को अर्थात् मनुष्य को इन्द्रियों द्वारा ऐसे भक्षणयोग्य पदार्थ और पेय-पदार्थ लेने चाहिएं जिससे इस संसार में दीर्घजीवन मिले और इन्द्रिय विषयों का सेवन ऐसे करें जिससे संसार में फंस न सके अपितु मोक्ष का दीर्घ जीवन मिले। एवं—वैज्ञानिक जन जल ओषधि और खनिज पदार्थों द्वारा विद्युत् का आविष्कार ऐसा करें जिससे कि उसके धनात्मक ऋणात्मक बलों के द्वारा उसका गतिक्रम लम्बा चले ॥ ८ ॥

तव॑ प्रया॒जा अ॑नुया॒जाश्च॒ केव॑ल॒ ऊर्ज॑स्वन्तो ह॒विषः॑ सन्तु भा॒गाः।
तवा॑ग्ने य॒ज्ञो॒३॒॑ऽयम॑स्तु॒ सर्व॒स्तुभ्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ९ ॥

तव॑। प्र॒ऽया॒जाः। अ॒नु॒ऽया॒जाः। च॒। केव॑ले। ऊर्ज॑स्वन्तः। ह॒विषः॑। स॒न्तु। भा॒गाः। तव॑। अ॒ग्ने॒। य॒ज्ञः। अ॒यम्। अ॒स्तु॒। सर्वः॑। तुभ्य॑म्। न॒म॒न्ता॒म्। प्र॒ऽदिशः॑। चत॑स्रः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अङ्गानां नायक ! आत्मन् (तव प्रयाजाः-च-अनुयाजाः-केवले) तव प्रयाजाः प्रकृष्टभोक्तव्याअन्नादिपदार्थाः, तथा अनुयाजाः तदनुरूपपेय-पदार्थाश्च केवले कैवल्यसाधने भवन्तु (हविषः-भागाः-ऊर्जस्वन्तः-सन्तु) ग्राह्यस्य विषयस्य भजनीया अनुभवास्तेजस्विनः सन्तु, न भोगे मज्जयन्तु (तव-अयं सर्वः यज्ञः-अस्तु) अयं सर्वः शरीरयज्ञस्तव कल्याणसाधको भवतु, न तव प्रतिकूलं गच्छेत् (चतस्रः प्रदिशः-तुभ्यं नमन्ताम्) चतस्रः चतुष्प्रकाराः प्रमुखदिग्वर्तिन्यः प्रजास्तुभ्यं नमन्तां सत्कुर्वन्तु। तथा—(अग्ने) हे विद्युद्रूपाग्ने ! (तव प्रयाजाः-च-अनुयाजाः केवले) प्रकृष्ट सङ्गमनीया-स्तथाऽनुकृष्टसङ्गमनीया धनर्णात्मका तन्त्रीपदार्थाः स्वे स्वे केवले बन्धने तव भवन्तु (हविषः-भागाः-ऊर्जस्वन्तः सन्तु) ग्राह्यस्य वज्रस्य भजनीया-अंशास्तेजस्विनो भवन्तु (अयं सर्वः-यज्ञः-तव-अस्तु) अयं सर्वः यन्त्रसमूहस्तव भवतु, एनं त्वं चालय (चतस्रः प्रदिशः-तुभ्यं नमन्ताम्) चतुष्प्रकाराः प्रमुखदिग्वर्तिन्यः कलाः-तुभ्यं त्वयि आश्रयन्तु ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अङ्गों के नायक आत्मन् ! (तव प्रयाजाः-चः-अनुयाजाः-केवले) तेरे प्रकृष्ट भोक्तव्य अन्नादि पदार्थ तथा तदनुरूप पेय पदार्थ मोक्षसाधक होवें (हविषः-भागाः -ऊर्जस्वन्तः सन्तु) ग्रहण करने योग्य विषय के अनुभव तेजस्वी हों, भोग में न डूबें (तव अयं सर्वः-यज्ञः-अस्तु) यह तेरा शरीरयज्ञ सब कल्याणसाधक हो, तेरे प्रतिकूल न जाये (चतस्रः प्रदिशः-तुभ्यं नमन्ताम्) चारों दिशाओं में रहने वाली प्रजायें तेरा सत्कार करें। एवं—(अग्ने) हे विद्युत् अग्ने ! (तव प्रयाजाः-च-अनुयाजाः केवले) तेरे प्रकृष्टसङ्गमनीय–धनात्मक तारें तथा अनुकृष्टसङ्गमनीय ऋणात्मक तारें अपने–अपने बन्धन में अलग–अलग हों (हविषः-भागाः-ऊर्जस्वन्तः सन्तु) ग्राह्य वज्र के अंश तेजस्वी हों (अयं सर्वः-यज्ञः-तव अस्तु) यह सारा यन्त्र समूह तेरा हो, तू इसे चला (चतस्रः प्रदिशः- तुभ्यं नमन्ताम्) चारों दिशाओं में होने वाली कलायें तेरे आश्रित हों ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य के समस्त खान और पान और विषयभोग संसार में फंसाने वाले न हों किन्तु सच्चे कल्याण और मोक्ष के साधन बनें। समस्त दिशाओं की प्रजायें तेरी प्रतिष्ठा करें ऐसा अपने को बना। एवं—विद्युत् के धनात्मक और ऋणात्मक तार अपने–अपने स्थान बन्धन में अलग–अलग हों जो सारी यन्त्र की कलाओं को स्वाधीन करके चला सकें ॥ ९ ॥



द्वापञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः —सौचीकोऽग्निः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २-४, निचृत् त्रिष्टुप् । ५, ६, विराट् त्रिष्टुप् ।

विषयः— अत्र सूक्ते 'विश्वेदेवाः' स्वसम्बन्धिनो वृद्धजना विद्वांसश्च गृह्यन्ते । कठिनं ब्रह्मचर्यव्रतं समाप्य गृहस्थो भूत्वा तेषां कल्याणार्थं सेवां कुर्यात्, ज्ञानं च तेभ्यो गृहस्थचालनस्य ज्ञानं गृह्णीयादित्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में 'विश्वेदेवा' स्वसम्बन्धी वृद्धजन तथा विद्वान् गृहीत हैं। कठिन ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर गृहस्थ बन कल्याणार्थं उनकी सेवा करना, उनसे गृहस्थ चालन के लिए ज्ञान ग्रहण करना आदि वर्णित है ॥

विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य ।
प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । शास्तन । मा । यथा । इह । होता । वृतः । मनवै । यत् । निऽसद्य । प्र । मे । ब्रूत । भागऽधेयम् । यथा । वः । येन । पथा । हव्यम् । आ । वः । वहानि ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वे देवाः-मा शास्तन) हे मम सम्बन्धिनो वृद्धा मान्या जनाः *"मनुष्या वै विश्वेदेवाः"* [*काठ० १९ । १२*] अहं भवद्वंशे जन्म प्राप्य सेवायोग्यो जातः-अतो मामादिशत (यथा-इह होता वृतः) येन हेतुनाऽत्र वंशे गृहस्थयज्ञस्य चालने होतृरूपेणऽहं युष्माभिः स्वीकृतः (यत्-निषद्य मनवै) युष्माकं मध्ये स्थित्वा यदहमभिप्रायं जानीयाम् (यथा वः-भागधेयं मे प्र ब्रूत) युष्माभिः *'विभक्तिव्यत्ययः'* यथा निश्चितं ममयोग्यतानुरूपं ज्ञानभागं यदस्ति मह्यं तत् प्रवदत (येन पथा वः-हव्यम्-आवहानि) येन च मार्गेण प्रकारेण युष्मभ्यं ग्राह्यं द्रव्यमानयामि ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वे देवाः-मा शास्तन) हे मेरे सम्बन्धी वृद्ध मान्य जनो ! मैं आपके वंश में जन्म प्राप्त करके सेवा के योग्य हो गया, अतः मुझे आदेश दो (यथा-इह होता वृतः) जिस कारण इस वंश में गृहस्थ यज्ञ के चलाने में होता–योग्य मुझे आपने बनाया (यत्-निषद्य -मनवै) तुम्हारे बीच में स्थित होकर जिससे कि गृहस्थ के अभिप्राय–उद्देश्य को जान सकूं (यथा वः-भागधेयं मे प्रब्रूत) तुम्हारे द्वारा जो निश्चित मेरे प्रति योग्यतानुरूप ज्ञानभाग है उसका प्रवचन करो (येन पथा वः-हव्यम्-आवहानि) जिस मार्ग–प्रकार या रीति से तुम्हारे लिए ग्राह्य वस्तु को भेंट कर सकूं ॥ १ ॥

भावार्थ—नवयुवक जब विवाहित हो जायें तो अपने वृद्ध माता पिता आदि से गृहस्थ चलाने को उपदेश लें और उसकी भिन्न-भिन्न रीतियों पद्धतियों पर चलते हुए अपने जीवन को ढालें तथा उनके लिए उनकी यथोचित आवश्यकताओं को पूरा करें ॥ १ ॥

अहं होता न्यसीदं यजीयान् विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति ।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम् ॥ २ ॥

अहम् । होता । नि । असीदम् । यजीयान् । विश्वे । देवाः । मरुतः । मा । जुनन्ति । अहःऽअहः । अश्विना । आध्वर्यवम् । वाम् । ब्रह्मा । सम्ऽइत् । भवति । सा । आऽहुतिः । वाम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं यजीयान् होता न्यसीदम्) अहमतिशयेन सङ्गतिकर्त्ता ज्ञानभागस्यादाता निषीदामि (विश्वेदेवाः-मरुतः-मा जुनन्ति) जनाः-ऋत्विजो विद्वांसः *"मरुतः-ऋत्विङ्नाम" [निघ० ३ । १८]* मां प्रेरयन्ति (अश्विना वाम्-आध्वर्यवम्-अहः-अहः-भवति) हे–अध्यापकोपदेशकौ ! *"अश्विनौ-अध्यापकोपदेशकौ" [ऋ० ५ । ७८ दयानन्दः]* युवयोः—ज्ञानयज्ञप्रापणं दिनं दिनं प्रतिदिनं भवेत् (वां ब्रह्मा समित्-सा-आहुतिः) युवयोः शिष्यश्च ब्रह्मा चतुर्वेदवेत्ता भवेत् तथा सम्यग्ज्ञानेन प्रकाशिता सा ज्ञानाहुति-र्भवेत् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं यजीयान् होता न्यसीदम्) मैं अतिशय से सङ्गतिकर्त्ता ज्ञानभाग का ग्रहण करने वाला तुम लोगों के बीच में उपस्थित हूँ (विश्वेदेवाः-मरुतः-मा जुनन्ति) सम्बन्धी जन और विद्वान् मुझे आगे प्रेरित करते हैं (अश्विना वाम्-आध्वर्यवम्-अहः-अहः-भवति) हे अध्यापक–उपदेशको ! तुम्हारा ज्ञानदान दिन–दिन–प्रतिदिन होता रहे (वां ब्रह्मा-समित् सा-आहुतिः) तुम्हारा शिष्य चतुर्वेदवेत्ता तथा सम्यक् ज्ञान में प्रकाशित ज्ञान–आहुति दूसरों के लिए बने ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य को अपने वृद्ध सम्बन्धियों और विद्वानों से घर पर रहते हुए ज्ञान का जितना ग्रहण हो सके करना चाहिए तथा अध्यापक और उपदेशकों से विधिपूर्वक ज्ञानलाभ करके चारों वेदों का वेत्ता होने की आकांक्षा रखता हुआ मानवसमाज में अपने को ज्ञान की आहुति बना दे ॥ २ ॥

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः ।
अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ ३ ॥

अयम् । यः । होता । किः । ऊँ इति । सः । यमस्य । कम् । अपि । ऊहे । यत् । सम्ऽअञ्जन्ति । देवाः । अहःऽअहः । जायते । मासिऽमासि । अथ । देवाः । दधिरे । हव्यऽवाहम् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयं यः-होता किः-उ सः) एष यो ज्ञानस्यादाता कः किञ्जातीयः स, इति प्रश्नः, 'किम् शब्दात् सु स्थाने डिस् छान्दसः', अथ-उत्तरम्-(यमस्य कम्-अपि ऊहे) अहं देही-आत्मा कर्मफलस्य नियन्तुर्ज्ञानविषयं वहामि (यत्) यतः (देवः समञ्जन्ति) विद्वांसो यं सर्वे स्वस्मिन् संयोजयन्ति (अहः-अहः-अथ मासि मासि जायते) दिनं दिनं प्रतिदिनम्-अथवा मासे मासे जायते ज्ञानप्रकाशेन पूर्णः, यथा प्रतिदिनं सूर्यः प्रकाशेन पूर्णो जायते, चन्द्रमाश्च मासे मासे प्रतिमासं प्रकाशेन पूर्णः (देवाः-हव्यवाहं दधिरे) विद्वांसो यदा-आदातव्यस्य वहनशीलं चेतनमात्मानं मां स्वकीये शरणे धारयन्ति स्वीकुर्वन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयं यः-होता किः-उ सः) यह जो ज्ञान का ग्रहण करने वाला किस प्रकार का है, कैसा है, उत्तर में कहा जाता है–(यमस्य कम्-अपि-ऊहे) मैं आत्मा कर्मफल के नियन्ता के ज्ञानविषय को वहन करता हूं (यत्) जिससे (देवाः समञ्जन्ति) विद्वान् जिसको अपने में संयुक्त करते हैं (अहः-अहः-अथ मासि मासि जायते) जो दिन-दिन अर्थात् प्रतिदिन अथवा मास–मास–प्रतिमास प्रसिद्ध होता है ज्ञानप्रकाश से पूर्ण होता है, जैसे–प्रतिदिन सूर्य प्रकाश से पूर्ण प्रकट होता है और चन्द्रमा प्रतिमास प्रकाश से पूर्ण होता है (देवाः-हव्यवाहं दधिरे) जब कि विद्वान् आदातव्य ज्ञान के वहनशील मुझ चेतन आत्मा को अपनी शरण में धारण करते हैं–स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान का ग्रहण करने वाला चेतन पदार्थ है । कर्मानुसार फल को प्राप्त करता है । यह ज्ञान द्वारा ज्ञानप्रकाश से प्रकाशवान् होता जाता है । सूर्य और चन्द्रमा की भांति इसका ज्ञान प्रकाश इसे प्रसिद्ध करता है जब कि यह विद्वानों की सङ्गति में रहकर ज्ञानग्रहण करता चला जाये ॥ ३ ॥

मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम् ।
अग्निर्विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ॥ ४ ॥

माम् । देवाः । दधिरे । हव्यऽवाहम् । अपऽम्लुक्तम् । बहु । कृच्छ्रा । चरन्तम् । अग्निः । विद्वान् । यज्ञम् । नः । कल्पयाति । पञ्चऽयामम् । त्रिऽवृतम् । सप्तऽतन्तुम् । ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(हव्यवाहम्-अपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तं माम्) ग्राह्यज्ञानस्य वहनकर्त्तारं तथा ज्ञानादपगतं ज्ञानरहितम् "अप पूर्वात् 'म्लुचु गतौ' [भ्वादिः] तत्र क्तः, ककारस्य मकारश्छान्दसः" बहूनि कृच्छ्राणि ब्रह्मचर्यव्रतानि खल्वाचरन्तं माम् (देवाः-दधिरे) विद्वांसो धारयन्ति स्वीकुर्वन्ति (अग्निः-विद्वान्) एष आत्मा विद्वान् सन् (नः) अस्माकम्-अस्मभ्यं वा (पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुं यज्ञं कल्पयाति) पञ्चमार्गं पञ्चगतिकं वा पञ्चज्ञानेन्द्रियैः सिद्धं मनसा वाचा कर्मणा च वृतं चरितार्थं सप्ततन्तुं सप्तछन्दोभियुक्तं ज्ञानयज्ञं समर्थयति-समर्थयिष्यति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(हव्यवाहम्-अपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तं माम्) ग्रहण करने योग्य ज्ञान के वहनकर्त्ता तथा ज्ञान से रहित बहुत कृच्छ्र-कठिन ब्रह्मचर्य व्रतों के आचरण करते हुए मुझ ब्रह्मचारी को (देवाः-दधिरे) विद्वान् धारण करते हैं-स्वीकार करते हैं (अग्निः-विद्वान्) यह आत्मा विद्वान् होता हुआ (नः) हमारे या हमारे लिए (पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुं यज्ञं कल्पयाति) पांच मार्गों-पांच गतियों वाले-पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सिद्ध हुए तथा मन वचन कर्म से चरितार्थ हुए, सात गायत्री आदि छन्दों से युक्त ज्ञानयज्ञ-वेदरूप ज्ञान को समर्थ करेगा-सफल करेगा ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी अज्ञान अवस्था में पड़ा हुआ ज्ञान ग्रहण करने का पात्र होकर ब्रह्मचर्य जैसे कठिन व्रतों का आचरण करता हुआ विद्वानों से सात गायत्री आदि छन्दों वाले वेद ज्ञान को ग्रहण करता है। उस ज्ञान को जो इन्द्रियों के द्वारा यथार्थ आचरण करने में मन वचन और कर्म से जीवन में घटाने योग्य तथा जीवन को सफल बनाने वाला है ॥ ४ ॥

आ वो यक्ष्यमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिवः कराणि ।
आ बाह्वोर्वज्रमिन्द्रस्य धेयामथेमा विश्वाः पृतना जयाति ॥ ५ ॥

आ । वः । यक्षि । अमृतऽत्वम् । सुऽवीरम् । यथा । वः । देवाः । वरिवः । कराणि । आ । बाह्वोः । वज्रम् । इन्द्रस्य । धेयाम् । अथ । इमाः । विश्वाः । पृतनाः । जयाति ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे विद्वांसः (वः) युष्माकम् (यथा वरिवः कराणि) यथा हि परिचर्यां करोमि, तथैव (वः-सुवीरम् अमृतत्वम्-आयक्षि) युष्माकं सुबलं सुष्ठुज्ञानबलं खल्वमृतरूपं स्वस्मिनादधे समन्तादु धारयामि (इन्द्रस्य वज्रं बाह्वोः-आधेयाम्) ऐश्वर्यवतः परमात्मनो ज्ञानमयमोजः "वज्रो वा ओजः" [श० ८ । ४ । १ । २०] अज्ञानबाधकयोरात्ममनसोरभ्यन्तरे ह्यादधामि (अथ-इमाः-विश्वाः पृतनाः-जयाति) अनन्तरमिमाः सर्वा विरोधिन्यो वासना मनुष्यो जयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे विद्वानो (वः) तुम्हारी (यथा वरिवः कराणि) जैसे मैं परिचर्या करता हूँ वैसे ही (वः-सुवीरम्-अमृतत्वम्-आयक्षि) उसी प्रकार तुम्हारे श्रेष्ठ ज्ञानबल को-अमृतरूप को अपने में धारण करता हूँ (इन्द्रस्य वज्रं बाह्वोः-आधेयाम्) ऐश्वर्यवान् परमात्मा

के ज्ञानमय ओज, अज्ञान के बाधक आत्म और मनके अन्दर धारण करता हूँ (अथ-इमाः-विश्वाः पृतनाः-जयाति) पुनः इन सारी विरोधी वासनाओं को मनुष्य जीत लेता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिज्ञासु को विद्वानों की सेवा करनी चाहिए जिससे कि विद्वानों से ज्ञानबल और आत्मिक बल प्राप्त हो सके एवं परमात्मा की उपासना भी करनी चाहिए। अज्ञान के नाशक परमात्मा के ओज को अपने मन और आत्मा में धारण करके वासनाओं पर विजय पानी चाहिए ॥ ५ ॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ६ ॥

त्रीणि । शता । त्री । सहस्राणि । अग्निम् । त्रिंशत् । च । देवाः । नव । च । असपर्यन् । औक्षन् । घृतैः । अस्तृणन् । बर्हिः । अस्मै । आत् । इत् । होतारम् । नि । असादयन्त ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्री सहस्राणि त्रीणि शता त्रिंशत् च नव च देवाः) त्रीणि सहस्राणि:त्रीणि शतानि त्रिंशत् नव च देवाः-दिव्यशक्तयः प्रधाननाडीतन्तवो वा यद्वा बाह्यदिव्या देवाः (असपर्यन्) परिचरन्ति परिरक्षन्ति (अस्मै घृतैः-औक्षन्-बर्हिः-अस्तृणन्) अस्मै-आत्मने घृतैः-सूक्ष्मै रसैस्तेजोमयैः सिञ्चन्ति बर्हणीयं स्तरं प्रसारयन्ति (आत्-इत्-होतारं-न्यसादयन्त) अनन्तरं रसादेर्ग्रहीतारमात्मानं निसादयन्ति नियतं कुर्वन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्री सहस्राणि त्रीणि शता त्रिंशत् च नव च देवाः) तीन सहस्र तीन सौ तीस और नौ (३३३९) दिव्यशक्तियां या प्रधान नाड़ियां हैं अथवा बाहर के दिव्य पदार्थ हैं (असपर्यन्) वे आत्मा की परिचर्या करते हैं—परिरक्षण करते हैं (अस्मै घृतैः-औक्षन्-बर्हिः-अस्तृणन्) इस आत्मा के लिए तेजोमय सूक्ष्म रसों के द्वारा सिंचन करते हैं, बर्हणीयस्तर-फैलाने योग्य स्तर को प्रसारित करते हैं (आत्-इत्-होतारं-न्यसादयन्त) अनन्तर रसादि के ग्रहण करने वाले आत्मा को शरीर के अन्दर बिठाते हैं—स्थिर करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—तीन सहस्र तीन सौ उनतालीस शक्तियां, नाड़ियां या बाहरी दिव्य पदार्थ आत्मा की रक्षा करने वाले हैं। भोजन के सूक्ष्म रसों के द्वारा आत्मा को तृप्त करते हैं। शरीर के अन्दर मांसादि के स्तर को फैलाते हैं—बढ़ाते हैं तथा आत्मा को स्थिर करते हैं ॥ ६ ॥



त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—१-३, ६-११ देवाः । ४, ५ सौचीकोऽग्निः ।

देवता—१-३, ६-११ सौचीकोऽग्निः । ४, ५ देवाः ।

छन्दः—१-४, ८ त्रिष्टुप् । ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ६, ७, ९ निचृज्जगती । १० विराड् जगती । ११ पादनिचृज्जगती ।।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते 'सौचीकोऽग्निः' शब्देन देहाभिमान्यात्मा गृह्यते । यः स्वयमात्मानमनुभवति तस्य जन्मावसरे प्रसन्नता, शिक्षणव्यवस्था, संयमेन संसारसुखलाभो मोक्षलाभश्च कार्यः । श्रेष्ठ पुत्रशिष्याणामुत्पत्त्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में 'सौचीकोऽग्निः' शब्द से देहाभिमानी आत्मा गृहीत है । उसके जन्मावसर पर प्रसन्नता, शिक्षण व्यवस्था, संयम से सांसारिकसुखलाभ और मोक्षलाभ प्राप्त करना चाहिए । श्रेष्ठ पुत्र और शिष्यों को बनाना आदि विषय वर्णित हैं ।।

यमैच्छा॑म॒ मन॑सा॒ सो॒३॒॑यमागा॑द्य॒ज्ञस्य॑ वि॒द्वान् परु॑षश्चिकि॒त्वान् ।
स नो॑ यक्षद्दे॒वता॑ता॒ यजी॑या॒न्नि हि षत्स॒दन्त॑रः॒ पूर्वो॑ अ॒स्मत् ॥ १ ॥

यम् । ऐच्छा॑म । मन॑सा । सः । अ॒यम् । आ । अ॒गा॒त् । य॒ज्ञस्य॑ । वि॒द्वान् । परु॑षः । चि॒कि॒त्वान् । सः । नः॒ । य॒क्ष॒त् । दे॒वऽता॑ता । यजी॑यान् । नि । हि । सत्स॑त् । अन्त॑रः । पूर्वः॑ । अ॒स्मत् । ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यं मनसा-ऐच्छाम) वयं मनोभावेन यमात्मानमिच्छामः स्म (सः-अयम्-आगात्) सोऽयमागतः-आयाति (यज्ञस्य विद्वान्) यः खलु शरीरयज्ञस्यानुभविता जानामि खल्वत्र स्थित एवंवित् (परुषः-चिकित्वान्) अस्य सर्वाणि परूंषि पर्वाणि–अङ्गप्रत्यङ्गानि च चेतनयुक्तानि करोति चेतयति (सः-यजीयान्-नः -देवताता यक्षत्) सोऽतिशयेन सङ्गतिकर्त्ताऽस्माकं देवानां तातौ शरीरयज्ञे "देवताता

यज्ञनाम" [निघ० ३ । १७] विद्वत्सङ्गतौ वा सङ्गच्छते, अतः (अस्मत् पूर्वः-हि) अस्मत्तः पूर्वं एव (अन्तः-निषत्सत्) अन्तः शरीरान्तरे सभामध्ये वा निषीदति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यं मनसा-ऐच्छाम) हम मनोभाव से जिस आत्मा को चाहते थे (सः-अयम्-आगात्) वह यह आता है (यज्ञस्य विद्वान्) जो शरीर यज्ञ का अनुभव करने वाला अपने को जानता है कि मैं यहां हूँ (परुषः-चिकित्वान्) इस शरीर के सारे अङ्ग प्रत्यङ्गों को चेतना-युक्त करता है (सः-यजीयान्-नः-देवताता यक्षत्) वह अतिशय से सङ्गतिकर्त्ता हम देवों के शरीरयज्ञ में या विद्वत्सङ्गति में सङ्गत-प्राप्त होता है, अतः (अस्मत् पूर्वः-हि) हमारे से पूर्व ही (अन्तः-निषत्सत्) शरीर के अन्दर या सभामध्य में बैठता है—विराजता है ॥ १ ॥

भावार्थ—आत्मा शरीर के अन्दर इन्द्रियों से पूर्व आता है। वह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अपनी चेतना को प्रसारित करता है और अपने को अनुभव करता है कि मैं यहाँ—इस शरीर में हूँ तथा पारिवारिक जन प्रतीक्षा करते हैं कि हमारे बीच में नया आत्मा सन्तान के रूप में आये। आत्मा नित्य है अतः पहले से ही है वह शरीर में आकर जन्म ले लेता है ॥ १ ॥

अराधि होता निषदा यजीयानभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यत् ।
यजामहै यज्ञियान् हन्त देवाँ ईळामहा ईड्याँ आज्येन ॥ २ ॥

अराधि । होता । निऽसदा । यजीयान् । अभि । प्रयांसि । सुऽधितानि । हि । ख्यत् । यजामहै । यज्ञियान् । हन्त । देवान् । ईळामहै । ईड्यान् । आज्येन ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(निषदा) नियतस्थाने 'आकारादेशश्छान्दसः (यजीयान् होता-अराधि) शरीरयज्ञस्य सञ्चालको विदुषां वाऽतिसङ्गमनशीलो ह्वाता संसाधितोऽनुकूलीकृतः (प्रयांसि सुधितानि हि-अभिख्यत्) प्रीतिकराणि सुहितानि सुखानि हि योऽभिदर्शयति ज्ञापयति वा, अतः (यज्ञियान् यजामहे) तदागमनेन यज्ञार्हान् पूजायोग्यान् प्रसन्नतया तदादेशेन वा पूजयामः (हन्त) अहो (देवान्-ईळामहै) विदुषः प्रशंसामः (आज्येन-ईड्यान्) स्नेहद्रव्येण "आज्यस्य स्नेहद्रव्यस्य" [यजु० ६ । १६ दयानन्दः] स्तोतव्यान् पूजयामः ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(निषदा) नियत स्थान में (यजीयान् होता-अराधि) शरीर यज्ञ का सञ्चालक अथवा विद्वानों का अत्यन्त सङ्गमनशील—सङ्गतिकर्त्ता, बुलाने वाला अनुकूल बना लिया गया (प्रयांसि सुधितानि हि-अभिख्यत्) प्रीतिकर सुखों को जो दिखाता है या जनाता है, अतः (यजीयान् यजामहे) उसके आगमन से यज्ञयोग्यों—पूजायोग्यों को प्रसन्नता से या उसके आदेश से हम पूजते हैं (हन्त) अहो (देवान्-ईळामहै) विद्वानों को प्रशंसित करते हैं (आज्येन-ईड्यान्) स्नेहपूर्ण द्रव्य से स्तुति करने योग्यों को पूजते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जब बालक विद्वानों की शरण में रहकर विद्वान् बन जाता है तो घर वाले

उसका स्वागत करें। उसके साथ में अन्य विद्वानों का भी स्वागत करें और स्निग्धद्रव्यों का उपहार उन्हें दें ॥ २ ॥

साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम् ।
स आयुरागात्सुरभिर्वसानो भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य ॥ ३ ॥

साध्वीम् । अकः । देवऽवीतिम् । नः । अद्य । यज्ञस्य । जिह्वाम् । अविदाम । गुह्याम् । सः । आयुः । आ । अगात् । सुरभिः । वसानः । भद्राम् । अकः । देवऽहूतिम् । नः । अद्य ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य) अस्मिन् जन्मावसरे विद्वत्सम्मेलनावसरे वा (नः) अस्मभ्यम् (साध्वीं देववीतिम्-अकः) समीचीनां देवानामिन्द्रियाणां भोगप्राप्तिं "देववीति देवानां दिव्यानां गुणानां भोगानां प्राप्तये" [यजु० ५ । ६ दयानन्दः] विदुषां ज्ञानप्राप्तिं वा करोति (यज्ञस्य गुह्यां जिह्वाम्—अविदाम) तद्द्वारा शरीरयज्ञस्य ज्ञानयज्ञस्य रहस्यभूतां वाचं विद्यामिति यावत् "जिह्वा वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (सः-आयुः- सुरभिर्वसानः -आगात्) स आत्मा विद्वान् वा आयुर्निमित्तो जीवनप्रदः ज्ञाननिमित्तो ज्ञाता "ज्ञाता" [ऋ० १ । १६२ । १ दयानन्दः] निजगुणसुगन्धरूपोऽस्मानाच्छादयन् संरक्षयन् (अद्य) अस्मिन् जन्मावसरे सत्सङ्गावसरे वा (नः) अस्मभ्यम् (भद्रां देवहूतिम्-अकः) कल्याणकरीं दिव्यगुणानां विदुषां वा सङ्गृहितिम् "देवहूतौ दिव्यगुणां विदुषां वा सङ्ग्रहणे" [ऋ० ६ । ५२ । ४ दयानन्दः] करोति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्य) इस जन्म अवसर पर या विद्वत्सम्मेलनावसर पर (नः) हमारे लिए (साध्वीं देववीतिम्-अकः) अच्छी इन्द्रिय भोगप्राप्ति या विद्वानों की ज्ञानप्राप्ति को करता है (यज्ञस्य गुह्यां जिह्वाम्-अविदाम) उसके द्वारा शरीरयज्ञ की या ज्ञानयज्ञ की रहस्यभूत वाणी तथा विद्या को (सः-आयुः सुरभिः-वसानः-आगात्) वह आत्मा या विद्वान् आयु का निमित्त, जीवनप्रद, ज्ञान का निमित्त ज्ञाता, निजगुणसुगन्धरूप हमें संरक्षण देता हुआ—हमारी रक्षा करता हुआ (अद्य) इस जन्मावसर पर या सत्सङ्गावसर पर (नः) हमारे लिए (भद्रां देवहूतिम्-अकः) कल्याणकरी या दिव्यगुण वाले विद्वानों की संगृहिति—सहप्राप्ति को करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जन्म के अवसर पर बालक पारिवारिक जनों का प्रसन्नता का कारण बनता है। बड़ा होकर इन्द्रियों के भोगों को संयम से भोगता हुआ पारिवारिक जनों के सुख का निमित्त बनता है तथा घर में विद्वानों की सङ्गति कराकर उनके विद्यामृत का लाभ भी पहुंचाता है अतः बालकों को विद्याप्राप्ति करानी चाहिए ॥ ३ ॥

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम ।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ४ ॥

तत् । अद्य । वाचः । प्रथमम् । मंसीय । येन । असुरान् । अभि । देवाः । असाम । ऊर्जऽअदः । उत । यज्ञियासः । पञ्च । जनाः । मम । होत्रम् । जुषध्वम् । ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अद्य) अस्मिन् जन्मावसरे सम्मेलनावसरे (वाचः-तत् प्रथमं मंसीय) वेदवाचः प्रथमं प्रमुखं लक्ष्यं ब्रह्म ब्रह्मवाचकं नाम 'ओ३म्' चिन्तयेयम् (येन-असुरान् देवाः-अभि-असाम) येन खलु दुष्टान् वयं विद्वांसोऽभिभवेम, अतः (ऊर्जादः) अन्नभोक्तारः *"ऊर्जादः-अन्नादः"* [निरु० ३ । ८] (उत) अपि (यज्ञियासः पञ्चजनाः) यज्ञियसूक्ष्माहारा मनुष्याः *"पञ्चजनाः-मनुष्यनाम"* [निघ० २ । ३] (मम होत्रं जुषध्वम्) मम ह्वानं हितवचनं सेवध्वम् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्य) इस जन्मावसर पर या सम्मेलन अवसर पर (वाचः-तत् प्रथमं मंसीय) वेदवाणी के उस प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म—ब्रह्मवाचक नाम 'ओ३म्' को स्मरण करूं (येन -असुरान् देवाः-अभि-असाम) जिसके द्वारा दुष्टों को हम विद्वान् अभिभूत करें, अतः (ऊर्जादः) अन्न खाने वाले (उत) और (यज्ञियासः पञ्चजनाः) सूक्ष्म आहार करने वाले मनुष्य (मम होत्रं जुषध्वम्) मेरे हितवचन को सेवन करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जन्मावसर पर वेदवाणी के या प्रमुख नाम 'ओ३म्' का स्मरण करना, और जनमे हुए बालक की जिह्वा पर 'ओ३म्' का लिखना और कान में सुनाना तथा सभा सत्सङ्ग के अवसर पर 'ओ३म्' का स्मरण करना चाहिए। उस अवसर पर स्थूलान्नभोजी या सूक्ष्म आहार करने वाले मनुष्य मिलकर 'ओ३म्' का स्मरण और कीर्तन करें ॥ ४ ॥

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

पञ्च । जनाः । मम । होत्रम् । जुषन्ताम् । गोऽजाताः । उत । ये । यज्ञियासः । पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पञ्चजनाः-मम होत्रं जुषन्ताम्) मनुष्याः-खलु मम ह्वानं वचनं सेवन्ताम् (गोजाताः-उत ये यज्ञियासः) वेदवाचि जाता निष्णाताः, तथा ये यज्ञार्हाः कर्मकाण्डिनः (पृथिवी नः पार्थिवात् अंहसः-अस्मान् पातु) सम्यग्वेदोपदेश-मनुसरतोऽस्मान् पृथिवी, पृथिवीसम्बन्धिनो दोषादस्मान् पातु—रक्षति—रक्षिष्यति (अन्त-

रिक्षं दिव्यात् पातु) अन्तरिक्षमाकाशः दिविभवादाकाशभवाद् दोषादतिवृष्ट्यादेर्दोषाद् रक्षतु-रक्षिष्यति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(पञ्चजनाः-मम होत्रं जुषन्ताम्) मनुष्य मेरे ज्ञान-वचन को सेवन करें (गोजाताः-उत ये यज्ञियासः) वेदवाणी के अन्दर जो निष्णात हैं तथा जो कर्मकाण्डी हैं (पृथिवी नः पार्थिवात्-अंहसः-अस्मान् पातु) सम्यग् वेदोपदेश का स्मरण करते हुए हम लोगों की पृथिवी, पृथिवीसम्बन्धी दोष से रक्षा करे-(अन्तरिक्षं दिव्यात् पातु) आकाश आकाशसम्बन्धी अर्थात् वृष्टिदोष से हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—गृहस्थ आश्रमी की आकांक्षा-प्रार्थना होनी चाहिए कि उसके वचन को वेद-निष्णात और कर्मकाण्डी विद्वान् सुनें तथा उसका व्यवहार भी ऐसा होना चाहिए कि पृथिवी के पार्थिव दोषों से-उपद्रवों से बचा रहे और आकाश के आकाशीय वृष्टि-अतिवृष्टि आदि आघातों से बचा रहे ॥ ५ ॥

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ६ ॥

तन्तुम् । तन्वन् । रजसः । भानुम् । अनु । इहि । ज्योतिष्मतः । पथः । रक्ष । धिया । कृतान् । अनुल्बणम् । वयत । जोगुवाम् । अपः । मनुः । भव । जनय । दैव्यम् । जनम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तन्तुं तन्वन् रजसः-भानुम्-अन्विहि) हे गृहस्थस्य कुले पितृकुले गुरुकुले जातो निष्णातो विद्वन् त्वं सन्ततिक्रमं शिष्यक्रमं विस्तारयन्-विस्तारयितुं मनोरञ्जनस्याध्यात्मरञ्जनस्य भानुं परम्परया प्रसिद्धं ज्ञानमनुगच्छानुतिष्ठ (धिया कृतान्) कर्मणा कृतान् *"धीः कर्मनाम"* [*निघ० २ । १*] *"धीः प्रज्ञानाम"* [*निघ० ३ । ९*] यद्वा बुद्ध्या कृतान् (ज्योतिष्मतः पथः-रक्ष) बहुन्याययुक्तान् मार्गान् *"ज्योतिष्मत्-बहुन्याययुक्तम्"* [*ऋ० १ । १३६ । ३ दयानन्दः*] रक्ष-आचर (जोगुवाम्-अनुल्बणम्-अपः-वयत) भृशमुपदेष्टॄणां दोषरहितं कर्म *"अपः कर्मनाम"* [*निघ० २ । १*] प्रतानय (मनुः-भव) मननशीलो भव (दैव्यं जनं जनय) दिव्यगुणयुक्तं पुत्रं शिष्यं वा उत्पादय सम्पादय वा ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(तन्तुं तन्वन्) हे गृहस्थ के कुल-पितृकुल में या गुरुकुल में उत्पन्न या निष्णात विद्वन् ! तू सन्ततिक्रम का शिष्यक्रम का विस्तार करता हुआ या विस्तार करने के हेतु (रजसः-भानुम्-अन्विहि) मनोरञ्जन के या अध्यात्मरञ्जन के परम्परा से प्रसिद्ध ज्ञान का अनुष्ठान कर (धिया कृतान्) कर्म से किये या बुद्धि से किये (ज्योतिष्मतः पथः-रक्ष) बहुत न्याययुक्त मार्गों का पालन कर (जोगुवाम्-अनुल्बणम्-अपः-वयत) उत्तम उपदेश करने वालों के दोषरहित कर्म को जीवन में बढ़ा (मनुः-भव) मननशील हो (दैव्यं जनं जनय) दिव्यगुण वाले पुत्र को उत्पन्न कर तथा शिष्य को तैयार कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मानव को चाहिए श्रेष्ठ सन्तान और श्रेष्ठ शिष्य का विस्तार करे। अपने जीवन में धर्म्य मार्गों का आलम्बन करते हुए मननशील होकर उत्पन्न गुणयुक्त पुत्र और शिष्य के निर्माण में यत्न करता रहे ॥ ६ ॥

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम् ॥ ७ ॥

अक्षऽनहः । नह्यतन । उत । सोम्याः । इष्कृणुध्वम् । रशनाः । आ । उत । पिंशत । अष्टाऽवन्धुरम् । वहत । अभितः । रथम् । येन । देवासः । अनयन् । अभि । प्रियम ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम्याः) हे ज्ञानरससम्पादिनो विद्वांसः ! (अक्षानहः -नह्यतन) इन्द्रियाणां बन्धनयोग्यानि छिद्राणि बध्नीत सन्दध्वम् *"यन्मे छिद्रं चक्षुषो.... बृहस्पतिर्मे तद् दधातु"* [*यजु० ३६ । २ ।*] (उत) अपि (रशनाः-इष्कृणुध्वम्) ज्ञान-रश्मीन् निष्कृणुध्वम् 'नकारलोपश्छान्दसः' आविष्कुरुत *"रशनया रश्मिना"* [*यजु० २१ । ४६ दयानन्दः*] (उत) तथा (आ-पिंशत) समन्ताद् प्रसारयत (अष्टावन्धुरं रथम् -अभितः-वहत) अष्टाङ्गयोगे बन्धनीयं विषयेषु रमणशीलं मनः स्वाधीनं कुरुत (येन देवासः) येन विद्वांसः-मुमुक्षवः (प्रियम्-अभि-अनयत्) आत्मानं मोक्षं प्रति नयन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम्याः) हे ज्ञानरस का सम्पादन करने वाले विद्वानो ! (अक्षानहः -नह्यतन), इन्द्रियों के बन्धनयोग्य छिद्रों को बांधो—नियन्त्रित करो (उत) और (रशनाः -इष्कृणुध्वम्) ज्ञानरश्मियों को उज्ज्वल करो—उभारो (उत) तथा (आ-पिंशत) भलीप्रकार फैलाओ (अष्टाबन्धुरं रथम्-अभितः-वहत) अष्टाङ्गयोग में बांधने योग्य विषयों में रमणशील मन को स्वाधीन करो (येन देवासः) जिसके द्वारा विद्वान्—मुमुक्षुजन (प्रियम्-अभि-अनयन्) प्रिय मोक्ष के प्रति आत्मा को ले जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—ज्ञान का संग्रह करने वाले विद्वान् अपनी ज्ञानधाराओं से इन्द्रियों के छिद्रों —दोषों को बन्द करें—विषयों से नियन्त्रित करें और मन जो विषयों में रमण करता है उसे स्वाधीन करके अपने को मोक्ष का भागी बनायें। यह ज्ञान का परम फल है ॥ ७ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ८ ॥

अश्मन्ऽवती । रीयते । सम् । रभध्वम् । उत् । तिष्ठत । प्र । तरत । सखायः । अत्र । जहाम । ये । असन् । अशेवाः । शिवान् । वयम् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सखायः) हे परमात्मनः सखायमात्मानं मन्यमाना मुमुक्षवो जनाः (अश्मन्वती रीयते) विषयपाषाणवती संसारनदी वेगेन गच्छति "रीयते गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (संरभध्वम्) सावधाना भवत (उत्तिष्ठत) उद्यमं कुरुत (प्रतरत) पारं गच्छत (ये-अशेवाः-असन्) येऽसुखाः सुखरहिता अकल्याणकराः पापदोषाः सन्ति (वयम्-अत्र जहाम) वयमत्रावरस्थाने तान् त्यजामः (शिवान् वाजान्-अभि-उत्तरेम) शिवान् कल्याणकरान्-अमृतभोगान्-अभिलक्ष्य "अमृतोऽन्नं वै वाजः" [जै० २ । १९३] यद्वा कल्याणकरान् पुण्यरूपान् नौकादिसदृशान् तारकान् बलप्रयत्नान्-अभिप्राप्य संसारनदीमुत्तरेम पारयेम ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सखायः) हे अपने को परमात्मा के सखा मानने वाले मुमुक्षुजनो ! (अश्मन्वती रीयते) विषय पाषाण वाली संसार नदी वेग से गति कर रही है—वह रही है (संरभध्वम्) संभलो (उत्तिष्ठत) उठो—उद्यम करो (प्रतरत) पार करो (ये—अशेवाः-असन्) जो सुखरहित अकल्याणकर पाप दोष हैं (वयम्-अत्र जहाम) हम यहाँ पर उन्हें छोड़ दें (शिवान् वाजान्-अभि-उत्तरेम) कल्याणकारी अमृतभोगों को लक्षित कर अथवा कल्याणकारी पुण्यरूप नौका आदि के समान तराने वाले बल प्रयत्नों को प्राप्त करके संसार नदी को तर जायें ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा के साथ मित्रभाव बनाने वाले लोगों को चाहिए कि वे संसार नदी को पार करने के लिए सावधानी के साथ पाप बोझे को त्याग करके शुभकर्मों को करें जो नौका के समान तराने वाले हैं ॥ ८ ॥

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शंतमा ।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ॥ ९ ॥

त्वष्टा । मायाः । वेत् । अपसाम् । अपःऽतमः । बिभ्रत् । पात्रा । देवऽपानानि । शम्ऽतमा । शिशीते । नूनम् । परशुम् । सुऽआयसम् । येन । वृश्चात् । एतशः । ब्रह्मणः । पतिः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अपसाम्-अपस्तमः) कर्मवतामतिशयेन कर्मवान् "अपः कर्मनाम" [निघ० २ । १] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' (एतशः) सर्वस्मिन् जगति प्राप्तो व्याप्तः "सर्वं जगदितः स्वव्याप्त्या प्राप्तः 'इणस्तशतसुनौ [उणा० ३ । १४७ । यजु० ११ । ६ दयानन्दः] (ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्डस्य पतिः (त्वष्टा) रचयिता परमात्मा (मायाः-वेत्) मनुष्याणां कर्माणि "मायिनाम्-बहुविधं कर्म विद्यते तेषाम्, अत्र भूमि-अर्थे-इनि प्रत्ययः" [ऋ० १ । १३२ । ४ दयानन्दः] वेत्-जानाति (देवपानानि शन्तमा पात्रा बिभ्रत्) देवाः—मुक्ताः पिबन्ति यैस्तानि विशिष्टकल्याणकराणि पात्राणि साङ्कल्पिकेन्द्रियाणि धारयति "शृण्वन् श्रोत्रं भवति····" [श० १४ । २ । २ । १७] (स्वायसं परशुं नूनं शिशीते) शोभन तेजोमयं "आयसः-तेजोमयः" [ऋ० १ । ८० । १२ दयानन्दः] परान् प्रतिकूलान् शृणाति हिनस्ति येन तं तेजोमयज्ञानं तीक्ष्णयति (येन वृश्चात्) तानि मोक्षे खल्वानन्दपानपात्राणि तक्षति करोति सम्पादयति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(अपसाम्-अपस्तमः) प्रशस्त कर्मवालों में अतिशय से प्रशस्त कर्मवाला (एतशः) सर्वव्यापक (ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्ड का पालक स्वामी (त्वष्टा) रचयिता परमात्मा (मायाः-वेत्) मनुष्यों के कर्मों को जानता है (देवपानानि शन्तमा पात्रा बिभ्रत्) मुमुक्षुजन जिनके द्वारा विशिष्ट कल्याणकर आनन्द का पान करते हैं उन साङ्कल्पिक इन्द्रियों को धारण करता है—अपने आनन्द से भरता है (स्वायसं परशुं नूनं शिशीते) शोभन तेजोमय परशु अर्थात् परों—दूसरों—प्रतिकूलों को हिंसित जिससे करता है उस ज्ञान को प्रखर बनाता है (येन वृश्चात्) जिस ज्ञान के द्वारा उन आनन्दपात्रों को सम्पन्न करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—समस्त कर्म करने वाले उत्कृष्ट मानव की अपेक्षा प्रशस्त कर्म करने वाला परमात्मा है। वह सबके कर्मों को यथावत् जानता है। मुमुक्षुओं के कर्मानुसार मोक्ष में उन्हें साङ्कल्पिक मन श्रोत्र आदिओं आनन्द के पात्रों को सम्पन्न करता है ॥ ९ ॥

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ १० ॥

सतः। नूनम्। कवयः। सम्। शिशीत। वाशीभिः। याभिः। अमृताय। तक्षथ। विद्वांसः। पदा। गुह्यानि। कर्तन। येन। देवासः। अमृतऽत्वम्। आनशुः ॥१०॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कवयः) विद्वांसः (नूनम्) अवश्यम (वाशीभिः सतः संशिशीत) वेदवाग्भिः "वाशी वाङ्नाम" [निघ० १। ११] सत्पुरुषान् तीक्ष्णी कुरुत (याभिः-अमृतत्वाय तक्षथ) याभिर्वाग्भिरमृतत्वाय मोक्षाय यूयमात्मानं सम्पादयत (विद्वांसः) हे विद्वांसः (गुह्यानि पदा कर्तन) रहस्यमयानि गुह्यानि प्राप्तव्यानि सुखानि कुरुत (येन देवासः-अमृतत्वम्-आनशुः) येन ज्ञानेन विद्वांसः-अमृतत्वं प्राप्नुयुः ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(कवयः) विद्वानो ! (नूनम्) अवश्य (वाशीभिः सतः संशिशीत) वेदवाणियों के द्वारा सत्पुरुषों को तीक्ष्ण करो—उद्‌बुद्ध करो (याभिः-अमृतत्वाय तक्षथ) जिन वाणियों के द्वारा अपने को अमृतत्व—मोक्ष के लिए तुम सम्पन्न करते हो (विद्वांसः) हे विद्वानो ! (गुह्यानि पदा कर्तन) रहस्यमय गुप्त प्राप्तव्य सुखों को यहां सम्पन्न—प्राप्त करते हो (येन देवासः-अमृतत्वम्-आनशुः) जिस ज्ञान द्वारा विद्वान् मुमुक्षु जन अमृतत्व—मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—अपने लिए मुमुक्षु विद्वान् जैसे सांसारिक सुखों को वेदज्ञान से सिद्ध करते हैं उसी प्रकार वेदज्ञान से मोक्ष को भी सिद्ध करते हैं। अपने की तरह दूसरों के भी दोनों सुखों को सिद्ध करने के लिए उन्हें वेद का प्रचार और उसके द्वारा अन्यों को प्रेरित करना चाहिए ॥ १० ॥

गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम् ॥११॥

गर्भे । योषाम् । अदधुः । वत्सम् । आसनि । अपीच्येन । मनसा । उत । जिह्वया । सः । विश्वाहा । सुऽमनाः । योग्याः । अभि । सिसासनिः । वनते । कारः । इत् । जितिम् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(योषां गर्भे वत्सम्-अदधुः) योषाया वाचः 'षष्ठी स्थाने व्यत्ययेन द्वितीया' गर्भे-मध्ये "योषा हि वाक्" [श० १ । ४ । ४ । ४] वक्तव्यमभिप्रायं विद्वांसो धारयन्ति (आसनि) मुखे च वक्तव्यम् (अपीच्येन मनसा-उत जिह्वया) अन्तर्हितेन मनसा जिह्वया च प्रकटयन्ति (सः-कारः) स स्तुतिकर्त्ता (सुमनाः) शुद्धमनाः सन् (विश्वाहा योग्याः-अभि सिषासनिः) सवदा योग्या वाचः-स्तुतीः सम्भाजयमानः परमात्मानं प्रति प्रापयन् (जितिम्-इत्-वनते) जीवने विजयं साफल्यं सेवते ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(योषां गर्भे वत्सम्–अदधुः) वाणी के अन्दर वक्तव्य अर्थात् अभिप्राय को विद्वान् धारण करते हैं (आसनि) और मुख में बोलने योग्य वचन को धारण करते हैं (अपीच्येन मनसा-उत जिह्वया) अन्तर्हित मन से तथा जिह्वा से उसे प्रकट–प्रकाशित करते हैं (सः-कारः) वह स्तुति कर्त्ता (सुमनाः) प्रसन्नमन या शुद्धमन वाला होकर (विश्वाहा योग्याः) सदा योग्य वाणियां–स्तुतियां (अभि सिषासनिः) सम्यक् समर्पित करता हुआ परमात्मा के प्रति प्राप्त कराता हुआ (जितिम्-इत्-वनते) जीवन में विजय को–सफलता को सेवन करता है ॥११॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के अन्दर जो अभिप्राय होता है उसे अपने अन्दर धारण करते हैं, अन्यों के लिए मौखिक प्रवचन द्वारा प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार मन और वाणी से परमात्मा की स्तुति करके अपने जीवन को सफल बनाते हैं ॥ ११ ॥



चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेव्यो बृहदुक्थः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २ विराट् त्रिष्टुप् । ३, ४ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा गृह्यते । तस्य स्वाभाविक नाम 'ओ३म्' प्रत्येकज्योतिष्मति पिण्डे ज्योतिर्ददाति मानवकल्याणाय वेदज्ञानमुपदिशति, इति प्रमुख विषयाः ॥

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से परमात्मा गृहीत है । उसका स्वाभाविक नाम 'ओ३म्' ज्योतिर्पिण्डों को ज्योति प्रदान करता है । मानवकल्याणार्थ वेदज्ञान का उपदेश देता है, यह प्रमुख विषय है ॥

तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम् ।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ॥ १ ॥

ताम् । सु । ते । कीर्तिम् । मघऽवन् । महिऽत्वा । यत् । त्वा । भीते इति । रोदसी इति । अह्वयेताम् । प्र । आवः । देवान् । आ । अतिरः । दासम् । ओजः । प्रऽजायै । त्वस्यै । यत् । अशिक्षः । इन्द्र ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मघवन्) हे सर्वैश्वर्यस्वामिन् ! (ते महित्वा) तव महत्त्वेन सिद्धाम् (तां सु कीर्तिम्) तां शोभनां कीर्तिं गुणगीतिं वर्णयामि (यत्) यतः (भीते रोदसी त्वा-अह्वयेताम्) भयंप्राप्तौ द्यावापृथिव्याविव ज्ञानप्रकाशवदज्ञानान्धकारवन्तौ जनौ राजाप्रजाजनौ वा "रोदसी द्यावापृथिव्याविव राजाप्रजाव्यवहारौ" [ऋ० ३ । ३८ । ८ दयानन्दः] त्वामाह्वयतः (देवान् प्रावः-यत्) यतस्त्वं देवान् दिव्यगुणयुक्तानास्तिकान् रक्षसि (दासम्-अतिरः) उपक्षयकर्त्तारं दुष्टं जनं नाशयसि "अतिरः-हंसि" [ऋ० ४ । ३० । ७ दयानन्दः] (इन्द्र यत्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् यत् त्वम् (त्वस्यै प्रजायै-ओजः-अशिक्षः) अपि तु देवदासयोर्मध्ये वर्तमानायै-एकस्यै देवप्रजायै बलमध्यात्मबलं च ददासि "शिक्षति दानकर्मा" [निघ० ३ । २०] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(मघवन्) हे सब ऐश्वर्यों के स्वामी ! (ते महित्वा) तेरे महत्व से सिद्ध (तां सु कीर्तिम्) उस शोभन गुणकीर्ति को वर्णन करता हूँ (यत्) जिससे कि (भीते रोदसी त्वा-अह्वयेताम्) भय को प्राप्त द्यावापृथिवी के समान ज्ञानप्रकाश वाले और अज्ञान अन्धकार वाले जन या राजप्रजा तुझे आह्वान करते हैं—बुलाते हैं (देवान् प्र-अवः-यत्) जिससे कि तू दिव्यगुणवाले आस्तिकों की रक्षा करता है (दासम्-अतिरः) उपक्षयकर्त्ता दुष्ट जन को तू नष्ट करता है (इन्द्र यत्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् जो तू (त्वस्यै प्रजायै-ओजः-अशिक्षः) देव और दास प्रजाओं में से एक देवप्रजा के लिए अध्यात्मबल को देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा का महत्व महान् है। उसकी गुणकीर्ति स्वतः सिद्ध है। ज्ञानी अज्ञानी दोनों वर्ग उसकी सत्ता को अनुभव करते हुए भय करते हैं। वह सदाचारी ज्ञानियों की पूर्ण रक्षा करता है और असदाचरण करने वाले दुष्ट जन को दण्ड देता है। अपितु देव श्रेणी की मनुष्य प्रजा को अपना अध्यात्मलाभ प्रदान करता है॥ १ ॥

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ २ ॥

यत् । अचरः । तन्वा । वावृधानः । बलानि । इन्द्र । प्रऽब्रुवाणः । जनेषु । माया । इत् । सा । ते । यानि । युद्धानि । आहुः । न । अद्य । शत्रुम् । ननु । विवित्से ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (यत्-तन्वा बलानि वावृधानः) स्वात्मस्वरूपेण "आत्मा वै तनूः" [श० ६ । ७ । २ । ६] स्वव्याप्त्या वा "तनूः-व्याप्तिः" [ऋ० ४ । १० । ६ दयानन्दः] स्वगुणवीर्याणि वर्धयन् (जनेषु प्रब्रुवाणः) मनुष्येषु प्रवचनं कुर्वन् (अचरः) प्राप्नोषि (ते यानि युद्धानि-आहुः) तव यानि-उपासकानां कामादिदोषप्रहारकर्माणि ते खलूपासकाः कथयन्ति (सा माया-इत्) सा तव माया हि सहज शक्तिरेव (न-अद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से) त्वं न-अस्मिन्-कल्पे न हि पुराकल्पे शत्रुं प्राप्नोषि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (यत्तन्वा बलानि वावृधानः) जब स्वात्म स्वरूप से या अपनी व्याप्ति से अपने गुण वीर्यों को बढाता हुआ (जनेषु प्रब्रुवाणः) मनुष्यों में प्रवचन करता हुआ (अचरः) तू प्राप्त होता है (ते यानि युद्धानि-आहुः) तेरे जो उपासकों के काम आदि दोष सम्बन्धी प्रहारक कर्म तेरे उपासक कहते हैं (सा माया-इत्) वह तेरी माया—सहजशक्ति ही है (न-अद्य पुरा शत्रुं ननु विवित्से) तू न इस कल्प में न पुरा कल्प में शत्रु को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा वेदज्ञान द्वारा जब अपने गुण वीर्यों का ऋषियों के अन्दर प्रवचन

करता है उनके कामादि शत्रुओं पर प्रहार करने वाले अपने प्रभावों को प्रदर्शित करता है वह उसकी सहजशक्ति है। उस परमात्मा का न इस कल्प में कोई शत्रु है न पहले कोई था। केवल मनुष्यों के आन्तरिक शत्रुओं पर प्रहार करना लक्ष्य है ॥ २ ॥

क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः ।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ॥ ३ ॥

के । ऊँ इति । नु । ते । महिमनः । समस्य । अस्मत् । पूर्वे । ऋषयः । अन्तम् । आपुः । यत् । मातरम् । च । पितरम् । च । साकम् । अजनयथाः । तन्वः । स्वायाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते समस्य महिमनः) तव सर्वस्य महिम्नः-महत्त्वस्य 'उपधाया अकारस्य लोपाभावश्छान्दसः' (अन्तं के-उ-नु-अस्मत्-पूर्वे-ऋषयः-आपुः) पारं के हि वितर्कनी-यमेतत् 'नु वितर्के' [अव्ययार्थनिबन्धनम्] अस्मत्तः पूर्वे द्रष्टारः-ज्ञानिनस्तत्वदर्शकाः प्राप्नुयुः, न केपीत्यर्थः (स्वायाः तन्वः) स्वव्यापनशक्तितोऽव्यक्त प्रकृतितो वा (यत्-मातरं च पितरं च साकम्-अजनयथाः) यत् पृथिवीं च दिवं च "द्यौर्मे पिता माता......पृथिवीमहीयम्" [ऋ० १ । १६४ । ३३] साकं सहैव त्वमुत्पादयसि ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते समस्य महिमनः) तेरे सब महत्त्व के (अन्तं के-उ-नु-अस्मत्-पूर्वे -ऋषयः-आपुः) पार को कौन हमसे पूर्ववर्ती ज्ञानी—तत्वदर्शी प्राप्त कर सके हैं ? अर्थात् कोई नहीं, (स्वायाः-तन्वः) स्व व्यापनशक्ति से या अव्यक्त प्रकृति से (यत्-मातरं च पितरं च साकम्-अजनयथाः) जो पृथिवी और द्युलोक को साथ ही तूने उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा के महत्त्व का पूर्णरूप से कोई पार नहीं पा सकता कि उसने अपनी व्यापक शक्ति से तथा अव्यक्त प्रकृति से द्युलोक और पृथिवी लोक को—प्रकाशक और प्रकाश्य लोकों को कैसे बनाया है ! ॥ ३ ॥

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥ ४ ॥

चत्वारि । ते । असुर्याणि । नाम । अदाभ्यानि । महिषस्य । सन्ति । त्वम् । अङ्ग । तानि । विश्वानि । वित्से । येभिः । कर्माणि । मघऽवन् । चकर्थ ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(महिषस्य ते चत्वारि नाम) महतस्तव "महिषः-महन्नाम"

[निघ० ३ । ३] (असुर्याणि-अदाभ्यानि सन्ति) मनोज्ञेयानि-मनसा मननीयानि "मनो वा असुरम्" [जै० उ० ३ । ३५ । ३] जागरितस्थानं ब्रह्म-अकारमात्रया, स्वप्नस्थानं ब्रह्म-उकारमात्रया, सुषुप्तस्थानं ब्रह्ममकार मात्रया, तुरीय ब्रह्म-अमात्ररूपेण, तानि खल्वविनश्यानि स्वाभाविकानि भवन्ति (अङ्ग) हे प्रिय परमात्मन् ! (तानि विश्वानि वित्से) तानि यानि खल्वन्यानि सर्वाणि नामानि तैश्चतुर्भिर्नामभिः-लभसेऽतो मुख्यानि नामानि तानि (येभिः कर्माणि मघवन् त्वम् चकर्थ) यैर्नामभिस्तद्भिन्नैर्विष्णु प्रभृतिभिः कर्माणि सृष्टिरचनादि कर्माणि करोषि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(महिषस्य ते चत्वारि नाम) तुझ महान् परमात्मा के चार नाम (असुर्याणि-अदाभ्यानि सन्ति) मन से मनन करने योग्य अर्थात् जागरित स्थान ब्रह्म अकार-'अ' से, स्वप्नस्थान ब्रह्म उकार-'उ' से, सुषुप्तस्थान ब्रह्म मकार-'म' से, तुरीय ब्रह्म अमात्र—विराम से, ये चारों नाम अविनश्वर—स्वाभाविक हैं (अङ्ग) हे प्रिय परमात्मन् ! (तानि विश्वानि वित्से) उन सब अन्य नामों को उन चारों नामों से प्राप्त होते हो, अतः वे चार मुख्य नाम हैं (येभिः कर्माणि मघवन् त्वम् चकर्थ) उनसे भिन्न जिन 'विष्णु' आदि नामों से तू सृष्टिरचना आदि कर्म करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—महान् परमात्मा के चार स्वाभाविक नाम हैं जो 'ओ३म्' की चार मात्राओं द्वारा कहें जाते हैं—मन से समझे जाते हैं। 'अ' से जागरित स्थान ब्रह्म, 'उ' से स्वप्नस्थान ब्रह्म, 'म्' से सुषुप्त स्थान ब्रह्म, पश्चात् अमात्र—विराम से तुरीय ब्रह्म। अन्य नाम इन्हीं नामों के अन्तर्गत हो जाते हैं। ये नाम स्वाभाविक हैं, स्वरूप बोधक हैं। इनसे भिन्न 'विष्णु' आदि कर्म नाम हैं, सृष्टि आदि कर्मों को दर्शाने वाले हैं ॥ ४ ॥

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ॥ ५ ॥

त्वम् । विश्वा । दधिषे । केवलानि । यानि । आविः । या । च । गुहा । वसूनि । कामम् । इत् । मे । मघऽवन् । मा । वि । तारीः । त्वम् । आऽज्ञाता । त्वम् । इन्द्र । असि । दाता ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वम्) त्वं खलु (विश्वा केवलानि वसूनि मे) सर्वाणि विशिष्टानि धनानि मह्यम (यानि-आविः-या च गुहा दधिषे) यानि प्रसिद्धानि प्रत्यक्षाणि यानि च गुप्तानि परोक्षाणि धारयसि (कामम् इत्-मा वितारीः) कमनीयमेव वसुधनं न विनाशय, अपि तु (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्-आज्ञाता त्वं दाता-असि) त्वं समर्थयिता दाता च भवसि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वा केवलानि वसूनि मे) मेरे लिये सारे विशिष्ट धनों को (यानि-आविः-या च गुहा दधिषे) जो प्रसिद्ध-प्रत्यक्ष

हैं और जो गुप्त–परोक्ष हैं उनको धारण करता है (कामम्-इत्-मा वितारीः) उनमें से तू कमनीय धन को विनष्ट न कर अपितु (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्-आज्ञाता त्वं दाता-असि) तू समर्थ–सम्पन्न करने वाला दाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त धनों–ऐश्वर्यों का स्वामी है चाहे वे प्रसिद्ध–प्रत्यक्ष धन हों या इन्द्रियों से भोगने के योग्य हों या गुप्त हों–मन आत्मा से भोगने के योग्य हों। उनमें से परमात्मा यथाधिकार कमनीय धन को प्रदान करता है ॥ ५ ॥

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि ।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ॥ ६ ॥

यः । अदधात् । ज्योतिषि । ज्योतिः । अन्तः । यः । असृजत् । मधुना । सम् । मधूनि । अध । प्रियम् । शूषम् । इन्द्राय । मन्म । ब्रह्मऽकृतः । बृहत्ऽउक्थात् । अवाचि ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) इन्द्रः परमात्मा (ज्योतिषि-अन्तः-ज्योतिः-अदधात्) ज्योतिष्मति "मतुब्लोपश्छान्दसः" तदन्तरे ज्योतिस्तेजो धारयति (यः-मधुना मधूनि सम्-असृजत्) यः खलु माधुर्येण मधुररसेन वा मधुमन्तिवस्तूनि संसृजति संयुक्तानि करोति (अद्य) अस्मिन् जीवने जन्मनि वा (इन्द्राय) परमात्मने (प्रियं शूषं मन्म) प्रियं बलवन्तं "शूषं बलनाम" [निघ० २ । ९] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' मनोभावं मन्त्रं वा (बृहदुक्थात्-ब्रह्मकृतः-अवाचि) महदुक्थं प्रशस्ता वाचो यस्मिन् तस्माद् वेदाद् ब्रह्मकृद्भिः स्तुतिकृद्भिः 'विभक्तिव्यत्ययः' उच्यते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो परमात्मा (ज्योतिषि-अन्तः-ज्योतिः-अदधात्) ज्योतिष्मान् के अन्दर ज्योति-तेज को धारण करता है–स्थापित करता है (यः-मधुना मधूनि समसृजत्) जो माधुर्य से या मधुररस से मधु वाली वस्तुओं को संयुक्त करता है (अद्य) इस जीवन अथवा जन्म में (इन्द्राय) परमात्मा के लिए (प्रियं शूषं मन्म) प्रिय बलवान् मनोभाव–सङ्कल्प या मन्त्र को (बृहदुक्थात्-ब्रह्मकृतः-अवाचि) महान् प्रशस्त वाणियां जिसमें हैं ऐसे वेद से स्तुति करने वालों से कहा जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा प्रत्येक ज्योतिष्मान् सूर्य आदि के अन्दर ज्योति प्रदान करता है तथा प्रत्येक मधुरता युक्त वस्तु में मधुरता को भरता है ऐसे ही प्रशस्त वाणी से युक्त वेद को परमात्मा रचता है। उस वेद से लेकर स्तुति करने वाले परमात्मा की स्तुतियां करते हैं ॥ ६ ॥



पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बृहदुक्थः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ४, ६ त्रिष्टुप् । ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते 'इन्द्र' शब्देन परमात्मा गृह्यते, तद्द्वारा सृष्टेरारम्भे-ऋषिभ्यो वेदमन्त्रप्रदानं ज्योतिष्मति वस्तूनि ज्योतिः संस्थापनं मोक्षे मनुष्यमात्रस्याधिकार इत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में 'इन्द्र' परमात्मा है, उसके द्वारा सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को वेदमन्त्रप्रदान करना, ज्योतिष्मान् वस्तुओं में ज्योति भरना, मोक्ष में मानवमात्र का अधिकार आदि विषय हैं ॥

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै ।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः ॥ १ ॥

दूरे । तत् । नाम । गुह्यम् । पराचैः । यत् । त्वा । भीते । इति । अह्वयेताम् । वयःऽधै । उत् । अस्तभ्नाः । पृथिवीम् । द्याम् । अभीके । भ्रातुः । पुत्रान् । मघऽवन् । तित्विषाणः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मघवन्) हे धनैश्वर्यवन् परमात्मन् ! (पराचैः-तत्-नाम गुह्यं दूरे) पराङ्मुखैर्नास्तिकैरुपासनारहितैस्तदुक्तं नाम गुह्यं गुप्तमपि तु दूरेऽस्ति (यत्-त्वा भीते-अह्वयेताम्) यदा खलु पूर्वोक्ते रोदसी द्यावापृथिव्यौ भयङ्कुर्वाणे, यद्वा ज्ञानप्रकाशवदज्ञानान्धकारवन्तौ राजप्रजाजनौ वा भयङ्कुर्वाणौ–आमन्त्रयेते (वयोधै) जीवनधारणाय (पृथिवीं द्याम्-अभीके) उभे-अपि द्यावापृथिव्यौ परस्परमभ्यक्ते सापेक्षे वर्तेते यद्वा ज्ञानप्रकावदज्ञानान्धकारवन्तौ राजप्रजाजनौ परस्परमभ्यक्तौ 'अभीके-अभ्यक्ते' [निघ० ३ । २०] सापेक्षौ वर्तेते । (उत् अस्तभ्नाः) उत्तम्भयति रक्षति (भ्रातुः-पुत्रान्)

भ्रातॄन् भरणीयान् 'विभक्तिवचनव्यत्ययः' पुत्रान्-पवित्रगुणस्वभावयुक्तान् ज्ञानप्रकाशवतो जनान् "पुत्रान् पवित्रगुणस्वभावान्" [यजु० ३७ । २० दयानन्दः] (तित्विषाणः) गुणैः प्रकाशयन् बिभर्तीति शेषः ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(मघवन्) हे धनैश्वर्यवन् परमात्मन् ! (पराचैः-तत्-नाम गुह्यं दूरे) पराङ्मुख हुए नास्तिक-उपासना रहित जनों द्वारा वह कहा हुआ गुप्त नाम उनके द्वारा प्राप्त करने में दूर है (यत्-त्वा भीते-अह्वयेताम्) कि डरे हुए पूर्वोक्त द्यावापृथिवी ज्ञानप्रकाश वाले और अज्ञान अन्धकार वाले राजा प्रजाजन भय करते हुए तेरा आह्वान करते हैं या तुझे बुलाते हैं (वयोधै) जीवन धारण करने के लिये (पृथिवीं द्याम्-अभीके) दोनों द्यावापृथिवी लोक परस्पर आमने सामने अथवा ज्ञानप्रकाश वाले और अज्ञानान्धकार वाले राजा प्रजा जन एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए रहते हैं (उत् अस्तभ्नाः) तथा रक्षा करते हैं (भ्रातुः पुत्रान्) भ्राताओं और पुत्रों को या भरणीय पुत्रों को, पवित्रगुण कर्मस्वभाव वाले ज्ञानप्रकाशवान् जनों को (तित्विषाणः) गुणों से प्रकाश करता हुआ पालन करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो लोग नास्तिक हैं, ईश्वर की उपासना नहीं करते हैं वे परमात्मा के रहस्य-पूर्ण नामों को नहीं समझ सकते हैं। उन्हें ईश्वर का भय करना चाहिए। जड़जगत् में प्रमुख द्युलोक और पृथिवी लोक प्रकाशक और प्रकाश्य लोक उससे भय करते हुए जैसे संसार में अपना काम करते हैं और चेतन जगत् में राज्य तथा प्रजा जन भी उससे भय करते हुए अपना-अपना कर्त्तव्यपालन करते हैं। परमात्मा पितृवत् सब प्राणियों का रक्षक है ॥ १ ॥

म॒हत्तन्नाम॒ गुह्यं॑ पुरु॒स्पृग्येन॑ भू॒तं ज॒नयो॒ येन॒ भव्य॑म् ।
प्र॒त्नं जा॒तं ज्योति॒र्यद॑स्य प्रि॒यं प्रि॒याः सम॑विशन्त॒ पञ्च॑ ॥ २ ॥

म॒हत् । तत् । नाम॑ । गुह्य॑म् । पु॒रु॒ऽस्पृक् । येन॑ । भू॒तम् । ज॒नयः॑ । येन॑ । भव्य॑म् । प्र॒त्नम् । जा॒तम् । ज्योतिः॑ । यत् । अ॒स्य॒ । प्रि॒यम् । प्रि॒याः । सम् । अ॒वि॒श॒न्त॒ । पञ्च॑ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तत्-महत्-नाम गुह्यं पुरुस्पृक्) परमात्मन्, तन्महत्त्वपूर्णं गुप्तं स्वरूपं पुरुभिः-बहुभिर्मुमुक्षुभिः स्पृहणीयमसि (येन भूतं येन भव्यं जनयः) येन भूतं वर्तमानं येन भावि च जगदुत्पादयसि, परोक्षेणोच्यते-(अस्य यत् प्रत्नं प्रियं ज्योतिः-जातम्) अस्य परमात्मनो यत् शाश्वतं प्रियं ज्योतिः- ज्योतिर्मयं मोक्षरूपं प्रसिद्धमस्ति (पञ्च प्रियाः समविशन्त) पञ्च जनाः-ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रनिषादाः प्रियाः स्तोतारस्तत्र संविशन्ते ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(तत् महत्-नाम गुह्यं पुरुस्पृक्) परमात्मन्, महत्त्वपूर्ण गुप्त बहुतेरे मुमुक्षुओं द्वारा चाहने योग्य तेरा नाम—स्वरूप है (येन भूतं येन भव्यं जनयः) जिससे भूत, वर्तमान और भावी जगत् को तू उत्पन्न करता है, परोक्ष अर्थात् प्रथम पुरुष के रूप से कहा जाता

है—(अस्य यत् प्रत्न प्रियं ज्योतिः-जातम्) इस परमात्मा की जो शाश्वत प्रिय ज्योति-ज्योतिर्मय मोक्ष रूप है वह प्रसिद्ध है। पञ्च प्रियाः समविशन्त) पांच जन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद-भील ये प्यारे स्तोता जिसके अन्दर संविष्ट होते हैं—सम्यक् स्थान पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा के गहन मननीय स्वरूप को मुमुक्षु जन चाहते हैं वह अपने स्वरूप-सत्ता से या शक्ति से तीनों कालों में होने वाले जगत् का उत्पत्तिकर्त्ता है। उसके प्रिय ज्योतिर्मय मोक्षधाम में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और निषाद उपासक बनकर स्थान पाने के अधिकारी हैं बिना भेदभाव के ॥ २ ॥

आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त ।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन ॥ ३ ॥

आ । रोदसी इति । अपृणात् । आ । उत । मध्यम् । पञ्च । देवान् । ऋतुऽशः । सप्तऽसप्त । चतुःऽत्रिंशता । पुरुधा । वि । चष्टे । सऽरूपेण । ज्योतिषा । विऽव्रतेन ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रोदसी-आ-अपृणात्) इन्द्रः ऐश्वर्यवान् परमात्मा द्यावापृथिव्यौ स्वव्याप्त्या समन्ताद् पूरयति (मध्यम्-उत-आ) मध्यमन्तरिक्षं च समन्तात् पूरयति (ऋतुशः) ऋतोरनुरूपम् (पञ्च सप्तसप्त देवान्) पञ्चेन्द्रियदेवान् सप्तसप्तान् सर्पणशीलान् प्राणान् "सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः" [उपनिषद्] समन्तात् पूरयति (चतुस्त्रिंशता पुरुधा) चतुस्त्रिंशद्युक्तेन गणेन सहतान् पूर्वोक्तान् बहुधा (विव्रतेन सरूपेण ज्योतिषा विचष्टे) विविधकर्मवता समानरूपेण केवलेन स्वरूपेण तेजसा विशिष्टं पश्यति दर्शयति प्रकाशयति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(रोदसी-आ-अपृणात्) ऐश्वर्यवान् परमात्मा अपनी व्याप्ति से द्युलोक पृथिवी लोक को भलीभांति पूर्ण करता है—भरता है (मध्यम्-उत-आ) दोनों के मध्य अर्थात् अन्तरिक्ष को भी भलीभांति भर रहा है (ऋतुशः) ऋतुओं के अनुसार (पञ्च सप्तसप्त देवान्) पांच ज्ञानेन्द्रिय देवों और सर्पण शील सात प्राणस्थानों को-शरीर में मस्तक आदि प्राणों के केन्द्रों को भलीभांति पूर्ण करता है (चतुस्त्रिंशता पुरुधा) चौंतीस पदार्थों के गण के साथ उनको बहुधा (विव्रतेन सरूपेण ज्योतिषा विचष्टे) विविध कर्मवाले समानरूप केवल स्वरूप से तेज से विशिष्ट-रूप से देखता है प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी व्याप्ति से द्युलोक अन्तरिक्ष लोक, पृथिवी लोकों को पूर्ण कर रहा है-भर रहा है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों और सर्पणशील सात प्राण केन्द्रों को भी अपनी व्याप्ति से उनको अपने व्यवहार में समर्थ बना रहा है तथा अपनी विविध कर्मशक्ति से और ज्ञान ज्योति से सबको देखता और प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

यदु॒ष औच्छः॑ प्रथ॒मा वि॒भाना॒मज॑नयो॒ येन॑ पु॒ष्टस्य॑ पु॒ष्टम् ।
यत्ते॑ जा॒मित्वमव॑रं॒ पर॑स्या म॒हन्म॑ह॒त्या अ॑सुर॒त्वमेक॑म् ॥ ४ ॥

यत् । उ॒षः॒ । औच्छः॑ । प्र॒थ॒मा । वि॒ऽभाना॑म् । अज॑नयः । येन॑ । पु॒ष्टस्य॑ । पु॒ष्टम् । यत् । ते॒ । जा॒मि॒ऽत्वम् । अव॑रम् । पर॑स्याः । म॒हत् । म॒ह॒त्याः । अ॒सु॒र॒ऽत्वम् । एक॑म् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उषः) हे ब्रह्मशक्ते ! ब्रह्मदीप्ते ! (यत्) यदा (औच्छः) त्वमुच्छसि–जगति प्रकाशिता भवसि (प्रथमा विभानाम्-अजनयः) ज्योतिषां सूर्यादीनां प्रमुखा जायसे प्रसिद्ध्यसि "स्वार्थे णिच् छान्दसः" (येन पुष्टस्य पुष्टम्) येन खलु पुष्टस्य सर्वकलायुक्तस्य प्रकटीकृतस्य जगतः पोषयितव्यं शरीरं भवति (ते यत्-अवरम्-जामित्वम्) तव यदवरं जननीत्वं खल्ववरं सांसारिकमस्ति (महत्याः परस्याः महत्-असुरत्वम्-एकम्) महद्भूताया मोक्षसाधिकायास्तव जननीत्वमपरं महदसुरत्वम्–अतीव-प्राणप्रदत्वं मोक्षविषयकमस्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(उषः) हे ब्रह्मशक्ति ! ब्रह्मदीप्ति ! (यत्) जब (औच्छः) तू जगत् में प्रकाशित होती है (प्रथमा-विभानाम्-अजनयः) सूर्यादि ज्योतियों में प्रमुख रूप से प्रसिद्ध होती है (येन पुष्टस्य पुष्टम्) जिससे सर्व कलायुक्त प्रकटी भूतजगत की पोषण करने योग्य शरीर है (ते यत्-अवरं जामित्वम्) तेरा जो इधर सांसारिक मातृत्व है (महत्याः परस्याः-महत्-असुरत्वम्-एकम्) तुझ महती मोक्षसाधिका का जननीत्व, दूसरा प्राण प्रदान करना मोक्ष विषयक है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्म ज्योति या दीप्ति समस्त दीप्तिमान् पदार्थों में भासित होती है। वह संसार की जननी है यह उसका एकरूप है। दूसरारूप मोक्ष–अमरजीवन की प्रदात्री है। वह ज्योति मनुष्य को उपासना से प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

वि॒धुं द॑द्रा॒णं सम॑ने बहू॒नां युवा॑नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार ।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः समा॑न ॥ ५ ॥

वि॒ऽधुम् । द॒द्रा॒णम् । सम॑ने । ब॒हू॒नाम् । युवा॑नम् । सन्त॑म् । प॒लि॒तः । ज॒गा॒र॒ । दे॒वस्य॑ । प॒श्य॒ । काव्य॑म् । म॒हि॒ऽत्वा । अ॒द्य । म॒मार॑ । सः । ह्यः । सम् । आ॒न ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विधुं दद्राणम्) विधमनशीलं चञ्चलं दमनशीलम् "विधुं विधमनशीलं दमनशीलम्" [निरु० १३ । ३२ ॥ १४ । १६] बहूनाम्) बहूनामिन्द्रियाणां मध्ये (युवानं सन्तम्) मिश्रयितारं सन्तम्–अन्तःकरणआत्मानम् (समने) सम्–अने सम्यगनेनान्देन शयने सुषुप्तिकाले (पलितः-जगार) पलितः फलभोक्ता–आत्मा

"पलित आत्मा" [निरु० १३ । ३२ ॥ १४ । १६] स आत्माऽपि अद्यास्मिन् शयनकाले ह्यो मृत इव, यद्वा मृतो भवति देहंत्यजति, एवं योऽद्य सोऽपरे जन्मनि समानः-सम्यक्-अनिता प्राणयिता जायते जीवात्मनः जन्ममरणयोः प्रेरयिता परमात्मा (तस्य देवस्य काव्यं पश्य) तस्य परमात्मदेवस्य शिल्पं कृत्यं पश्य, हे जिज्ञासो यस्य (महित्वा) महत्त्वेन भवत्येवम् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(विधुं दद्राणम्) विधमनशील अर्थात् चञ्चल, दमनशील (बहूनाम्) बहुत इन्द्रियों के मध्य में (युवानं सन्तम्) मिलने मिलाने वाले अन्तः करण को (समने) सम्यक् आनन्द से सुषुप्ति काल में (पलितः-जगार) फल भोगने वाला आत्मा निगलता है—निरोध से अपने अन्दर ले लेता है, (सः-अद्य ममार ह्यः समान) वह आत्मा शयन काल में मरे जैसा हो जाता हैं, जागने पर फिर वैसा ही । अथवा मर जाता है—देह त्याग देता है तो अगले जन्म में फिर वैसा ही देहधारी हो जाता है, इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में प्रेरित करने वाला परमात्मा है (तस्य देवस्य काव्यं पश्य) उस परमात्मदेव के इस शिल्प को—कृत्य को देख जिसकी (महित्वा) महिमा से ये सब होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा जब सोता है तो अन्तःकरण को अपने अन्दर ले लेता है जिससे कि जागृत अवस्था में जागृत के अर्थात् सांसारिक व्यवहार करता है । जागने पर वैसा ही हो जाता है । उसी प्रकार मरने के पीछे फिर देह को धारण करता है जन्म लेता है । जागृत स्वप्न या जन्म मृत्यु ईश्वर की व्यवस्था से होते हैं । अन्तःकरण इन्द्रियों में प्रमुख करण है जो चञ्चल भी है और निरुद्ध भी हो जाता है । निरुद्ध हुआ-हुआ कल्याण का साधन बनता है ॥ ५ ॥

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः ।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ ६ ॥

शाक्मना । शाकः । अरुणः । सुऽपर्णः । आ । यः । महः । शूरः । सनात् । अनीळः । यत् । चिकेत । सत्यम् । इत् । तत् । न । मोघम् । वसु । स्पार्हम् । उत । जेता । उत । दाता ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) यः खलु परमात्मा (शाक्मना शाकः) शक्मना बलेन यद्वा शक्येन कर्मणा शक्यकर्म हेतुना "शक्म कर्मनाम" [निघ० २ । १] शक्तः (अरुणः तेजस्वी (सुपर्णः) सुष्ठु पालनकर्त्ता (महः-शूरः) महान् शूरवीरः (सनात्) शाश्वतिकः (अनीडः) अनेकदेशी-अनन्तः सर्वव्यापकः (यत्-आचिकेत) यत् समन्ताद् जानाति (तत्-सत्यम्-इत्) तत् सत्यं हि भवति सत्यं जानाति (न मोघम्) न व्यर्थं भवति (उत स्पार्हं वसु जेता) स्पृहणीयं धनं मोक्षधनं वासमभिभाविता रक्षिता (उत दाता) अपि मुमुक्षुभ्यो दाता च ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो परमात्मा (शाक्मना शाकः) बल से अथवा शक्य कर्म करने के हेतु समर्थ है (अरुणः) तेजस्वी (सुपर्णः) उत्तम पालन करने वाला (महः-शूरः) महान् शूरवीर है (सनात्) शाश्वतिक (अनीडः) अनेक देशी–अनन्त–सर्वव्यापक (यत्–आचिकेत) जो भलीभांति जानता है (तत्-सत्यम्-इत्) वह सत्य ही होता है और सत्य ही जानता है (न मोघम्) व्यर्थ नहीं होता है असत्य नहीं होता है (उत स्पार्हं वसु जेता) स्पृहणीय धन, मोक्षधन–आत्मा को बसाने वाले धन को जीतता है प्राप्त करता है (उत दाता) हां, मुमुक्षुओं के लिए देता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि के रचने और जीवों को कर्मफल देने में सर्वथा समर्थ है। वह किसी एक नियत देश में नहीं अपितु अनन्त है। वह शाश्वतिक है, सत्यस्वरूप है। उसके कार्य सत्य हैं व्यर्थ अर्थात् असत्य नहीं हैं। अधिकारी ममुक्षुओं को चाहने योग्य और बसाने योग्य मोक्ष धन को देता है ॥ ६ ॥

ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री ।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः ॥ ७ ॥

आ । एभिः । ददे । वृष्ण्या । पौंस्यानि । येभिः । औक्षत् । वृत्रऽहत्याय । वज्री ।
ये । कर्मणः क्रियमाणस्य । मह्ना । ऋतेऽकर्मम् । उत्ऽअजायन्त । देवाः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये देवाः) ये मुमुक्षवः (मह्ना क्रियमाणस्य कर्मणः) महत्त्वेन महच्छक्त्या क्रियमाणस्य–उत्पाद्यमानस्य जगतः "जगद्वाचित्वात्" [वेदान्त०] (ऋते कर्मम्-उत्-अजायन्त) अमृते मोक्षे "ऋतममृतमित्याह" [जै० २ । १६०] मोक्षं निमित्तीकृत्य कर्म प्रति केवलं मोक्षार्थम्, न तु भोगार्थम् उद्भवन्ति सृष्टेरादौ–प्रकटीभवन्ति (एभिः-वृष्ण्या पौंस्यानि–आददे) एतैर्मुमुक्षुभिरृषिभिः पुमर्थानि वेदवचनानि–"पौंस्यानि वचनानि" [ऋ० ६ । ३६ । ३ दयानन्दः] मनुष्यमात्राय समन्ताद् ददाति (येभिः-वज्री वृत्रहत्याय-औक्षत्) स ओजस्वी "वज्रो वा ओजः" [श० ८ । ४ । १ । २०] यैर्वचनैर्वेदवचनैस्तान् ज्ञानवृद्धान् करोति "उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः" [निरु० १२ । ६] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये देवाः) जो मुमुक्षु (मह्ना क्रियमाणस्य कर्मणः) महत्त्व से महती शक्ति से किये जाने वाले–उत्पन्न किये जाने वाले जगत् का (ऋते कर्मम्-उत् अजायन्त) अमृतरूप मोक्ष में मोक्ष को निमित्त बनाकर अर्थात् केवल मोक्षार्थ न कि भोगार्थ सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होते हैं (एभिः-वृष्ण्या पौंस्यानि-आददे) इन मुमुक्षुओं–ऋषिओं के द्वारा मानवहितार्थ वेदवचनों को समन्तरूप से अर्थात् भली-भांति प्रदान करता है (येभिः-वज्री वृत्रहत्याय-औक्षत्) वह ओजस्वी परमात्मा जिन वेदवचनों के द्वारा उनको ज्ञानवृद्ध बनाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि में उत्पन्न चार ऋषियों द्वारा मानव कल्याण के लिए परमात्मा ने वेदों का प्रकाश किया है। वे चार ऋषि केवल वेदप्रकाशनार्थं तथा मोक्ष प्राप्ति के निमित्त ही प्रकट हुए थे, भोगार्थ नहीं ॥ ७ ॥

युजा कर्मांणि जनयन्विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट् ।
पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमद्दस्यून् ॥ ८ ॥

युजा । कर्माणि । जनयन् । विश्वऽओजाः । अशस्तिऽहा । विश्वऽमनाः । तुराषाट् । पीत्वी । सोमस्य । दिवः । आ । वृधानः । शूरः । निः । युधा । अधमत् । दस्यून् । ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वौजाः) समस्त बलस्वामी (विश्वमनाः) समस्तमननीयज्ञानवान् सर्वज्ञः (अशस्तिहा) अज्ञानपापनाशकः (तुराषाट्) शीघ्रमभिभविता (युजा कर्माणि जनयन्) योगेन ध्यानयोगेनोपासकेषु खल्वादिपरमर्षिषु वैदिककर्माणि कारयन् (सोमस्य पीत्वी) उपासनारसं पीत्वा स्वीकृत्य "स्नात्व्यादयश्च" [अष्टा० ७ । १ । ४६] (दिवः-आवृधानः) ज्ञानप्रकाशान् समन्ताद् वर्धयमानः (शूरः) शूर इव यद्वा ज्ञानप्रेरकः "शूरः शवतेर्गतिकर्मणः" [निरु० ४ । १३] (युधा) ज्ञानेन ज्ञानास्त्रेण वा "युध्यति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (दस्यून् निर्-अधमत्) सद्भावनानामुपक्षयकर्तॄन् कामादिदोषान् निर्ममयति नितान्तं नाशयति वा "धमति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] "धमति वधकर्मा" [निघ० २ । १६] ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वौजाः) समस्त बलों का स्वामी (विश्वमनाः) समस्त मननीय ज्ञानवाला-सर्वज्ञ (अशस्तिहा) अज्ञानपापनाशक (तुराषाट्) शीघ्र अभिभवकर्त्ता (युजा कर्माणि जनयन्) ध्यान योग से उपासकों के अन्दर साक्षात् होने वाला वैदिक कर्मों की प्रेरणा करता हुआ (सोमस्य पीत्वी) उपासना रस को स्वीकार करके (दिवः-आवृधानः) ज्ञानप्रकाशों को भलीभांति बढ़ाता हुआ (शूरः) शूर के समान या ज्ञानप्रेरक परमात्मा (युधा) ज्ञान अथवा ज्ञानास्त्र से (दस्यून् निर-अधमत्) सद्भावनाओं को क्षीण करने वाले कामादि दोषों को नितान्त नष्ट करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त बलों का स्वामी, सर्वज्ञ, अज्ञान पापनाशक, ज्ञानवर्धक, कामादि दोषों का निवारक है । उसकी उपासना करनी चाहिए ॥ ८ ॥



षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेव्यो बृहदुक्थः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप् । २ विराट् त्रिष्टुप् । ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृज्जगती । ५ विराड् जगती । ६ आर्ची भुरिग् जगती ।

विषयः—अत्र 'विश्वेदेवाः' पारिवारिक जनास्तथा विद्वांसो गृह्यन्ते । गुणकर्मानुरूपो विवाहः, संयमेन गृहस्थचालनम्, सन्तानस्य विद्यायोग्यते सम्पादनीये आत्मनः परम्परातो जन्मधारणं मोक्षश्चोपदिश्यते ।

इस सूक्त में 'विश्वेदेवाः' से पारिवारिक जन तथा विद्वान् गृहीत हैं । गुणकर्मानुसार विवाह, संयम से गृहस्थचालन, सन्तान की विद्या योग्यता बनाना, आत्मा द्वारा परम्परा से जन्मधारण और मोक्ष प्राप्ति आदि वर्णन है ।।

इदं त एकं पर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विंशस्व ।
संवेशने तन्व१श्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ।। १ ।।

इदम् । ते । एकम् । परः । ऊँ इति । ते । एकम् । तृतीयेन । ज्योतिषा । सम् । विशस्व । सम्ऽवेशने । तन्वः । चारुः । एधि । प्रियः । देवानाम् । परमे । जनित्रे ।। १ ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे आत्मन्! तव (इदम्-एकम्) इदं शरीरमेकं स्थानमाश्रयस्थानम् (ते परः-उ-एकम्) तव परोभूतं परजन्म खलु ह्येकं स्थानम्, परन्तु (तृतीयेन ज्योतिषा सम्-विशस्व) तृतीयस्थानभूतेन परमात्मज्योतिषा मोक्षस्थानं संविशस्व सम्प्राप्नुहि (तन्वः संवेशनेचारुः-एधि) शरीरस्य संवेशने लयस्थाने यत्र शरीरं लीनं भवति तथाभूते मोक्षे तृतीयस्थाने त्वं चारुश्चरणशीलोऽबद्धः स्वतन्त्रो भव (परमे जनित्रे) तत् परमे जन्मनि—अध्यात्म जन्मनि मोक्षे (देवानां प्रियः) मुक्तानां प्रियो भव ।। १ ।।

भाषान्वयार्थ—(ते) हे आत्मन् ! तेरा (इदम्-एकम्) यह शरीर एक आश्रयस्थान है (ते परः-उ एकम्) तेरा परजन्म–अगला जन्म दूसरा स्थान है, परन्तु (तृतीयेन ज्योतिषा सम् विशस्व) तृतीय स्थानभूत मोक्ष स्थान को परमात्मज्योति से प्राप्त कर (तन्वः संवेशने चारुः-एधि) शरीर के लयस्थान मोक्ष में-तेरे तृतीय स्थान में तू अच्छी प्रकार रमणशील हो-स्वतन्त्र हो (परमे जनित्रे) उस अध्यात्म जन्म में–मोक्ष में (देवानां प्रियः) मुक्तों का प्रिय हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जीवात्मा का वर्तमान जन्म यह शरीर इस समय है यही केवल नहीं अपितु अगला जन्म भी इसका है । इस प्रकार बार-बार जन्म लेना इसका परम्परा से चला आता है । परन्तु जब ये परमात्म ज्योति को अपने अन्दर समा लेता है तो इन दोनों जन्मों को त्यागकर या जन्म-जन्मान्तर के क्रम को त्यागकर तीसरे अध्यात्मस्थान मोक्ष को प्राप्त होता है जहाँ ये अव्याध गति से विचरता हुआ मुक्तों की श्रेणी में आ जाता है ॥ १ ॥

तनूष्टे वाजिन्तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धातु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिःस्वमा मिमीयाः ॥ २ ॥

तनूः । ते । वाजिन् । तन्वम् । नयन्ती । वामम् । अस्मभ्यम् । धातु । शर्म । तुभ्यम् । अह्रुतः । महः । धरुणाय । देवान् । दिविऽइव । ज्योतिः । स्वम् । आ । मिमीयाः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाजिन्) हे ज्ञानवन् चेतन ! अस्मद्देहे जात बालक ! (ते तन्वम्) तव शरीरम् (तनूः-नयन्ती) आत्मा–आत्मशक्तिः "आत्मा वै तनूः" [श० ६ । ७ । २ । ६] वर्धयन्ती सती (अस्मभ्यं वामं धातु) अस्मभ्यं वननीयं सुखं दधातु धारयतु प्रापयतु (तुभ्यं शर्म) तुभ्यं शर्म सुखम् "शर्म-सुखनाम" [निघ० ३ । ६] (अह्रुतः) त्वमकुटिलः सरलः "अह्रुतः-अकुटिलः सरलः" [ऋ० ६ । ६१ । ८ दयानन्दः] (महः-देवान्) महतो देवान् विदुषः (धरुणाय) धारणाय शरणाय (दिवि-इव ज्योतिः) द्युलोके यथा ज्योतिः सूर्यः प्रकाशते, तद्वत् (स्वम्-आ मिमीयाः) स्वं स्वरूपं मिमीहि–निर्मिमीहि ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाजिन्) हे ज्ञानवन् चेतन ! हमारे देह में उत्पन्न बालक ! (ते तन्वम्) तेरे शरीर को (तनूः-नयन्ती) आत्मा अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ाती हुई (अस्मभ्यं वामं धातु) हमारे लिये वननीय सुख को धारण कराये–प्राप्त कराये (तुभ्यं शर्म) तेरे लिये सुख प्राप्त कराये (महः-देवान्) महान् देवों–विद्वानों को (धरुणाय) धारण करने के लिये–शरण प्राप्त करने के लिए (दिवि-इव ज्योतिः) द्युमण्डल में जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे ही (स्वम्-आ मिमीयाः) अपने को–अपने स्वरूप को बना ॥ २ ॥

भावार्थ—परिवार में जब आत्मा का जन्म होता है तो वह सूर्य के समान घर को प्रकाशित करता है और समस्त घर वालों के लिए सुख देने वाला हुआ हुआ अपने को भी सुखी बनाता

है। उससे भी आगे उत्तम सुख लेने के लिये विद्वानों की सङ्गति में सूर्यसमान तेजस्वी उसे बनना चाहिये ॥ २ ॥

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः ।
सुवितो धर्म प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म ॥ ३ ॥

वाजी । असि । वाजिनेन । सुऽवेनीः । सुवितः । स्तोमम् । सुवितः । दिवम् । गाः । सुवितः । धर्म । प्रथमा । अनु । सत्या । सुवितः । देवान् । सुवितः । अनु । पत्म । ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाजी-असि) हे बालक ! त्वं ज्ञानी खल्वसि (वाजिनेन सुवेनीः) वीर्येण "वीर्यं वाजिनम्" [ऐ० १ । १३] सुकान्तः (सुवितः-स्तोमम्) सुष्ठु गतः-स्तुतिमर्हसि (सुवितः-दिवं गाः) सुशिक्षितो मोक्षं प्राप्नुयाः (सुवितः-धर्म) सुचरितवान् धर्मवान् परायणो भव 'अत्र मतुब्लोपश्छान्दसः' (प्रथमा सत्या-अनु) प्रमुखानि सत्यानि कर्म सत्यानि कर्मफलानि प्राप्नुयाः (सुवितः-देवान्) सुविद्यः सन् देवान् विदुषः सङ्गमय (सुवितः-अनु पत्म) सुविज्ञः सननुकूलान् मार्गान् प्रापय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाजी-असि) हे बालक तू ज्ञानी है (वाजिनेन सुवेनीः) वीर्य से सुकान्तिमान् है (सुवितः-स्तोमम्) शोभनगुणसम्पन्न हुआ तू स्तुति के योग्य है (सुवितः-दिवं गाः) तू सुशिक्षित होकर मोक्ष को प्राप्त हो (सुवितः-धर्म) सुचरित्रवान् हुआ धर्मपरायण हो (प्रथमा सत्या-अनु) प्रमुख सत्य कर्मफलों को प्राप्त कर (सुवितः-देवान्) उत्तम विद्यावाला होता हुआ विद्वानों की सङ्गति कर (सुवितः-अनु पत्म) सुविज्ञ हुआ-हुआ अनुकूल मार्गों को प्राप्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—बालक को चरित्रवान् बनाना, धर्मपरायण, विद्वान्, अपने से बड़े विद्वानों की सङ्गति में रहना, यशस्वी बनाना, परमात्मा का उपासक इत्यादि उत्तम गुणों से सम्पन्न करना माता-पिता आदि का कर्त्तव्य है ॥ ३ ॥

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ४ ॥

महिम्नः । एषाम् । पितरः । चन । ईशिरे । देवाः । देवेषु । अदधुः । अपि । क्रतुम् । सम् । अविव्यचुः । उत । यानि । अत्विषुः । आ । एषाम् । तनूषु । नि । विविशुः पुनरिति ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः-देवेषु-अपि क्रतुम्-अदधुः) विद्वांसः खलु स्वकीयेन्द्रियेषु स्वसङ्कल्पं धरन्ति स्वशिवसङ्कल्पं भरन्ति (एषां महिम्नः पितरः-चन-ईशिरे)

एतेषां महत्त्वपूर्णप्रवचनेन गृहस्थजनाः खल्वपि चेन्द्रियाणां स्वामित्वं कुर्वन्ति (सम् विव्यथुः) तानि सम्यग् व्यवहरन्ति (उत) अपि च (यानि-अत्विषुः) यानि स्थानानि जन्मस्थानानि प्रकाशन्ते (एषां तनूषु) एषां शरीरेषु (पुनः-निविविशुः) पुनर्निविशन्ते पुनर्जायन्ते ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः-देवेषु-अपि क्रतुम्-अदधुः) विद्वान् जन अपनी इन्द्रियों में शिव-सङ्कल्प-सद्भावना को भरते हैं (एषां महिम्नः पितरः-चन ईशिरे) इनके महत्त्वपूर्ण प्रवचन द्वारा गृहस्थजन भी अपनी इन्द्रियों का स्वामित्व करते हैं । सम् विव्यथुः) उनका सम्यक् व्यवहार करते हैं (उत) और (यानि-अत्विषुः) जिन स्थानों जन्मस्थानों को प्रकाशित करते हैं (एषां तनूषु) इनके शरीरों में (पुनः-निविविशुः) पुनः निविष्ट होते हैं—पुनः प्रसिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन शिवसङ्कल्प या सद्भाव के अनुसार अपनी इन्द्रियों को चलाते हैं तथा गृहस्थ जन भी उनके उपदेशानुसार अपनी इन्द्रियों का स्वामित्व करते हैं और उन उनके अपने स्थानों में अपनी शक्ति द्वारा प्रसिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः ।
तनूषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ॥ ५ ॥

सहःऽभिः । विश्वम् । परि । चक्रमुः । रजः । पूर्वा । धामानि । अमिता । मिमानाः । तनूषु । विश्वा । भुवना । नि । येमिरे । प्र । असारयन्त । पुरुध । प्रऽजाः । अनु ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सहोभिः-विश्वं रजः-परि चक्रमुः) एते-आत्मानः कर्मबलैः समस्तं प्राणिलोकम् "लोका रजांस्युच्यन्ते" [निरु० ४ । १९] परिक्राम्यन्ति परिभ्रमन्ति (पूर्वा-अमिता धामानि मिमानाः) श्रेष्ठानि-अतुलानि-अनुपमानि सुखमयानि परिमितानि कुर्वन्त (तनूषु) भिन्न भिन्नशरीरेषु वर्तमानाः (विश्वा भुवना नियेमिरे) सर्वाणि शरीराणि नियमयन्ति पितृभूताः (पुरुध प्रजाः-अनु प्रासारयन्त) बहुधा सन्ततिरनुलक्ष्य प्रसारयन्ति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(सहोभिः-विश्वं रजः-परि चक्रमुः) ये आत्मायें कर्मबलों से समस्त प्राणिलोक में परिभ्रमण करती हैं । पूर्वा—अमिता धामानि मिमानाः) श्रेष्ठ अतुलित—अगणित, अनुपम, सुखमय परिमित बनाते हुए (तनूषु) भिन्न—भिन्न शरीरों में वर्त्तमान (विश्वा भुवना नियेमिरे) सारे शरीरों को नियमित करती हैं (पुरुध प्रजाः-अनुप्रासारयन्त) पितृभूत होकर बहुधा सन्तति का प्रसार करती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मायें कर्मबलों के आधार पर प्राणिलोकों में परिभ्रमण करती है—चक्र लगाती हैं । अपने अनुकूल सुखमय धामों में जाती हैं और पितृभूत होकर बहुत प्रकार से सन्तानों को उत्पन्न करती हैं । इस प्रकार आत्माओं के द्वारा वंशपरम्परा चलती हैं ॥ ५ ॥

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥ ६ ॥

द्विधा । सूनवः । असुरम् । स्वःऽविदम् । आ । अस्थापयन्त । तृतीयेन । कर्मणा । स्वाम् । प्रऽजाम् । पितरः । पित्र्यम् । सहः । आ । अवरेषु । अदधुः । तन्तुम् । आऽततम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सूनवः-पितरः) प्राणिगर्भसंस्थापकाः "सूनवः प्राणिगर्भसंस्थापकाः-प्राणिगर्भान् विमोचयन्ति ते" [ऋ० १ । ३७ । १ दयानन्दः] पितृपदप्राप्ता गृहस्थाः [पित्र्यम्-असुरं सहः स्वर्विदं द्विधा-आ-अस्थापयन्त) पितृगणे भवं प्राणेषु रममाणं बलं वीर्यं पुत्रदुहितृजनननिमित्तं द्विप्रकारकं गृहस्थसुखप्रापकं जनन्यामास्थापयन्ति-गर्भाधानं कुर्वन्ति (तृतीयेन कर्मणा) प्रथमं कर्म योगाभ्यासः, द्वितीयं कर्म त्यागः, तृतीयं गृह्यकर्म-गार्हस्थ्य कर्म, ते गार्हस्थ्य कर्मणा-ऋतुधर्मेण (स्वां प्रजाम्) स्वकीयां सन्ततिं प्राप्तुमित्यर्थः (अवरेषु-आततं तन्तुम्-आ-अदधुः) आगामीषु पुत्रेषु-आतानितं वंशतन्तुः समन्ताद् धारयन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सूनवः पितरः) सन्तान–उत्पादक पितृपद प्राप्त गृहस्थ (पित्र्यम्-असुरं सहः स्वर्विदं द्विधा-आ-अस्थापयन्त) पितृगण में होने वाले–प्राणों में रमण करने वाले बल वीर्य–पुत्रपुत्रियों की उत्पत्ति में निमित्तभूत, दो प्रकार का गृहस्थसुख प्राप्त कराने वाले को पत्नी में आस्थापित करते हैं (तृतीयेन कर्मणा) प्रथम कर्म योगाभ्यास, दूसरा कर्म है त्याग और तृतीय गृह्यकर्म–गृहस्थ कर्म है, उस गृहस्थकर्म से–ऋतुधर्म से (स्वां प्रजाम्) अपनी सन्तति प्राप्त करने को (अवरेषु-आततं तन्तुम्-आ-अदधुः) आगामी पुत्रों में फैलाये हुए वंशतन्तु को भलीभांति धारण करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—गृहस्थ जन उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए संयमपूर्वक सुरक्षित जीवनतत्त्व गर्भाधान द्वारा ऋतु अनुसार योग्य पत्नि में संस्थापित करके सांसारिक सुख को प्राप्त करें। पुनः त्याग और योगाभ्यास द्वारा अध्यात्म सुख भी प्राप्त करें ॥ ६ ॥

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु ॥ ७ ॥

नावा । न । क्षोदः । प्रऽदिशः । पृथिव्याः । स्वस्तिऽभिः । अति । दुःऽगानि । विश्वा । स्वाम् । प्रऽजाम् । बृहत्ऽउक्थः । महिऽत्वा । आ । अवरेषु । अदधात । आ । परेषु ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नावा न क्षोदः) नौकया यथा कश्चिज्जन उदकं तरति

"क्षोदः-उदकनाम" [निघ० १ । १२] (स्वस्तिभिः पृथिव्याः प्रदिशः-विश्वा दुर्गाणि-अति) सु-अस्तित्वकरैराचरणैः पृथिव्याः प्रथितायाः सृष्टेः प्रदिशः प्रविभागान् प्रदेशान् वा तथा तत्रस्थानि विश्वानि सर्वाणि दुर्गम्यानि क्रमणानि पारयति (बृहदुक्थः स्वां प्रजां महित्वा-अवरेषु परेषु-आ-अदधात्) बृहत्-उक्थं महत्-महत्त्वपूर्णं सर्वेभ्यो महद् वचनं गुणवचनं यस्य स सद्गृहस्थः स्वकीयां पुत्ररूपां दुहितृरूपां च सन्ततिं महद्भावनया-उदारतया-अवरेषु समीपेषु परेषु दूरस्थेषु च समानभावेन स्ववंश्येषु परवंश्येषु च गुणकर्म-व्यवस्थामनुसरन् आदधाति विवाहयति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(नावा न क्षोदः) नौका से जिस प्रकार कोई मनुष्य जल को पार करता है (स्वस्तिभिः पृथिव्याः प्रदिशः) सुकल्याणकर आचरणों द्वारा फैली हुई सृष्टि के प्रदेशों को तथा (विश्वा दुर्गाणि-अति) तत्रस्थ सारे दुर्गम्य ऊंचे नीचे स्थानों को पार करता है—लांघता है (बृददुक्थः स्वां प्रजाम्) महान् अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण गुण वचन वाला सद्गृहस्थ अपनी सन्तति को (महित्वा-अवरेषु परेषु) महान् भावना—उदारता से समीप और दूर वालों में समानभाव से अपनों में तथा दूसरे वंशों—वर्णों में गुण—कर्म—व्यवस्था के अनुसार (आ-अदधात्) सम्बन्ध का आधान करता है—विवाह करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे कोई मनुष्य नौका से जलाशय को पार करता है या जैसे विस्तृत सृष्टि के प्रदेशों और दुर्गम स्थानों को यात्रा के साधनों से पार करता है इसी प्रकार गृहस्थ में आये सङ्कटों को अपने शुभचरित्रों से पार करे तथा अपने पुत्रपुत्रियों का विवाहसम्बन्ध स्ववंशीय स्ववर्ण के या परवंशीय—परवर्ण के जनों में गुणकर्मानुसार करे ॥ ७ ॥



सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—गौपायना:-बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, गायत्री । २-६, निचृद् गायत्री ॥

विषयः—अत्र सूक्ते 'विश्वेदेवाः' विद्यायां निष्णाता विद्वांसो गृह्यन्ते । तेभ्यः शिक्षा ग्रहणं वेदाध्ययनेन व्यवहारज्ञान-प्रापणं संयमपूर्वकं परमात्मनः श्रवणमनननिदिध्यासन-साक्षात्कारश्चेति श्रवणचतुष्टयादिकमुपदिश्यते ।

इस सूक्त में 'विश्वेदेवाः' से विद्यानिष्णात विद्वान् गृहीत हैं । उनसे शिक्षाप्राप्ति, वेदाध्ययन से व्यवहारज्ञानग्रहण, और संयमपूर्वक परमात्मा का श्रवणमनननिदिध्यासन-साक्षात्कार श्रवण चतुष्टय करना कहा है ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ १ ॥

मा । प्र । गाम । पथः । वयम् । मा । यज्ञात् । इन्द्र । सोमिनः । मा । अन्तरिति । स्थुः । नः । अरातयः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (वयं सोमिनः पथः-मा प्रगाम) वयं तवाध्यात्मैश्वर्यवतोमार्गात्-उपदेशरूपात् कदापि न प्रच्यवाम, तथा (मा यज्ञात्) न हि यजनात्-सङ्गमरूपात् प्रच्यवाम (अरातयः-मा नः-अन्तः स्थुः) कामादयो रस रक्तादिधातूनामादातारो गृहीतारोऽस्माकं मध्ये न तिष्ठन्तु ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (वयं सोमिनः पथः-मा प्रगाम) हम तेरे अध्यात्मैश्वर्य वाले के मार्ग से—उपदेशरूप मार्ग से कभी भी पृथक् न चलें (मा यज्ञात्) तथा न तेरे यजन से—सङ्गमसम्बन्ध से पृथक् हों (अरातयः-मा नः-अन्तः स्थुः) रसरक्तादि धातुओं को क्षीण करने वाले कामादि शत्रु हमारे अन्दर या मध्य में न रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को परमात्मा के उपदिष्ट वेद आदेश से पृथक् आचरण नहीं करना

चाहिए। वही जीवन का सच्चा मार्ग है। आन्तरिक जीवन का शोषण करने वाले जो कामादि दोष हैं उनसे बचने का भी वेद द्वारा उपदिष्ट अध्यात्ममार्ग है ॥ १ ॥

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतं नशीमहि ॥ २ ॥

यः । यज्ञस्य । प्रऽसाधनः । तन्तुः । देवेषु । आऽततः । तम् । आऽहुतम् । नशीमहि ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) यः खलु (यज्ञस्य साधनः-तन्तुः) अध्यात्मयज्ञस्य साधकः क्रमः श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्काररूपः (देवेषु-आततः) मुमुक्षुषु परिपूर्णो भवति आचरितो भवति (तम्-आहुतं प्र नशीमहि) तमेव प्रसिद्धं प्राप्नुयाम ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो (यज्ञस्य साधनः-तन्तुः) अध्यात्मयज्ञ का साधक क्रम अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार है (देवेषु-आततः) मुमुक्षु जनों में परिपूर्ण होता है—आचरित होता है (तम्-आहुतं प्र नशीमहि) उस ही प्रसिद्ध को हम प्राप्त हों ॥ २ ॥

भावार्थ—अध्यात्मयज्ञ के साधन श्रवण मनन और निदिध्यासन तथा साक्षात्कार को आचरण में लाना चाहिए ॥ २ ॥

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।
पितृणां च मन्मभिः ॥ ३ ॥

मनः । नु । आ । हुवामहे । नाराशंसेन । सोमेन । पितृणाम् । च । मन्मऽभिः ॥३॥

संस्कृतान्वयार्थः— (नाराशंसेन सोमेन) नराणां प्रशंसाकारकेण परमात्मज्ञानेन वेदेन "येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसः" [निरु० ९ । १०] तथा (पितृणां मन्मभिः-च) पालकर्षीणां च मननीयैर्ज्ञानैरनुभवैश्च (मनः-नु-आ हुवामहे) मनोऽन्तःकरणं शीघ्रं सुसम्पादयामः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(नाराशंसेन सोमेन) मनुष्यों की प्रशंसा करने वाले वेदज्ञान के द्वारा, तथा (पितृणां मन्मभिः-च) पालक ऋषियों के मननीय विचारों—अनुभवों से (मनः-नु-आ हुवामहे) मन—अन्तः करण को शीघ्र अच्छा बनावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— मनुष्यों के व्यवहार को बताने वाले परमात्मा से प्रकाशित वेदज्ञान द्वारा तथा पालक ऋषियों के अनुभवों द्वारा मानसिक स्तर को ऊंचा बनाना चाहिए ॥३॥

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ४ ॥

आ । ते । एतु । मनः । पुनरिति । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे पुत्र ! तव मनः (पुनः-आ-एतु) पुनः पुनः उत्कृष्टत्वं प्राप्नोतु (क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्मकरणाय बलप्रापणाय जीवनधारणकारणाय (ज्योक् सूर्यं दृशे च) चिरं ज्ञानप्रकाशकं परमात्मानं द्रष्टुं च ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे पुत्र ! तेरा मन (पुनः-आ-एतु) पुनः पुनः उत्कृष्टत्व को प्राप्त हो (क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म करने, बलपाने और जीवन धारण करने के लिए (ज्योक् सूर्यं दृशे च) और देर तक ज्ञान प्रकाशक परमात्मा को देखने अर्थात् अनुभव करने के लिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—गृहस्थ को चाहिए कि अपने पुत्र के मानसिक स्तर को ऊंचा बनाये तथा उसके अन्दर कर्मप्रवृत्ति, शारीरिक शक्ति और जीवनशक्ति दिनों-दिन बढ़ती जाये इस बात का ध्यान रखें। तथा परमात्मा के प्रति आस्तिक भावना और अनुभूति भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाये ॥ ४ ॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ ५ ॥

पुनः । नः । पितरः । मनः । ददातु । दैव्यः । जनः । जीवम् । व्रातम् । सचेमहि ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पितरः) हे पालकजनाः ! (दैव्यः-जनः-नः-मनः पुनः-ददातु) विद्वज्जनोऽस्माकं मनोऽन्तः करणं पुनः पुनः-ददातु ज्ञानप्रदानेन प्रवर्धयतु (जीवं व्रातं सचेमहि) जीवमात्रं सेवेमहि—उपयुक्तं कुर्याम ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(पितरः) हे पालक जनो ! (दैव्यः जनः-नः-मनः पुनः-ददातु) ऊंचा विद्वान् आचार्य हमारे मनोबल—ज्ञान हम को बार—बार प्रदान करे—बढ़ाये (जीवं व्रातं सचे महि) जीवमात्र—जीवगण को सेवन करें—यथायोग्य उपयोग में लावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—पारिवारिक जनों को चाहिए कि सन्तान को ऊंचे आचार्य से ऐसी शिक्षा दिलायें कि प्राणिमात्र के प्रति यथोचित व्यवहार बालक कर सके तथा यथोचित लाभ ग्रहण कर सके ॥ ५ ॥

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ६ ॥

वयम् । सोम । व्रते । तव । मनः । तनूषु । बिभ्रतः । प्रजाऽवन्तः । सचेमहि ॥६॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् (वयं तव व्रते) वयं तव नियमे-आदेशे वेदशासने वर्तमानाः (तनूषु मनः-बिभ्रतः) इन्द्रियेषु मनो धारयन्तः, तानि मनोऽनुकूले चालयन्तः (प्रजावन्तः सचेमहि) प्रशस्तेन्द्रियवन्तः "इन्द्रियं प्रजाः" [काठ० २७ । २] त्वा सेवेमहि उपास्महे ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्तस्वरूप परमात्मन् ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियम या आदेश में अर्थात् वेदशासन में वर्तमान हुए (तनूषु मनः-बिभ्रतः) इन्द्रियों में मन को लगाते हुए—उन्हें मन के अनुकूल संयम में चलाते हुए (प्रजावन्तः सचेमहि) प्रशस्त इन्द्रिय वाले तेरा सेवन करें—तेरी उपासना करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना करने के लिए मनुष्य को संयमी होना चाहिए और वेदानुसार धर्मचर्या पर चलना चाहिए ॥ ६ ॥



अष्टापञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—गौपायना बन्ध्वादयः ।

देवता—मन आवर्तनम् ।

छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते भ्रान्तस्य मनसः आवर्तनमुच्यते । यद् भ्रान्त्या मनो विविधेषु स्थानेषु निरन्तरं यत्र तत्राव्यवस्थितं सत् दुःखमवाप्नोति । विविधैरुपचारैराश्वासनैश्च तस्य स्वस्थं करणं कथ्यते ।

इस सूक्त में भ्रान्त मन का पुनः यथास्थिति में लौटाना, भ्रान्ति से मन विविधस्थानों में भटकता हुआ अव्यवस्थित-रूप में जो दुःखों को पाता है उसे विविध उपचार एवं आश्वासनों से स्वस्थ करना बताया है ।।

यत्ते॑ य॒मं वै॑वस्व॒तं मनो॑ ज॒गाम॑ दूर॒कम् ।
तत्त॒ आ व॑र्तयामसी॒ह क्षया॑य जी॒वसे॑ ॥ १ ॥

यत् । ते॒ । य॒मम् । वै॒व॒स्व॒तम् । मनः॑ । ज॒गाम॑ । दू॒र॒कम् । तत् । ते॒ । आ । व॒र्त॒या॒म॒सि॒ । इ॒ह । क्षया॑य । जी॒वसे॑ ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-ते मनः) हे मानसिक-रोगयुक्त जन ! तव यत् खलु मनोऽन्तःकरणम् (वैवस्वतं यमं दूरकं जगाम) विवस्वान् सूर्यः, तत्सम्बन्धिनं यमयितारं स्वाधीनीकर्त्तारं कालं प्रति कल्पनया न जाने किं भविष्यतीति चिन्तयन् दूरं गतम् (ते तत्-आवर्तयामसि) तव तन्मनो वयं प्रत्यानयामः-स्थिरी कुर्मः (इह क्षयाय जीवसे) अत्रैव शरीरे स्थितिं प्रापणाय दीर्घजीवनाय ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत् ते मनः) हे मानसिक रोग से युक्त जन ! जो तेरा मन (वैवस्वतं यमं दूरकं जगाम) विवस्वान्-सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले काल के प्रति कल्पना से दूर चला गया है, न जाने क्या होगा इस चिन्ता में पड़ गया है (ते तत्-आवर्तयामसि) उस तेरे मन को हम वापस ले आते हैं—लौटा लेते हैं (इह क्षयाय जीवसे) इसी शरीर में रहने और दीर्घजीवन के लिए ॥ १ ॥

भावार्थ—मानसिक रोग का रोगी कल्पना से अन्यथा विचार करता हो कि न जाने क्या होगा ! मरूंगा !, तो कुशल चिकित्सक आश्वासनं चिकित्सा-पद्धति से उसे आश्वासन दे कि तू नहीं मरेगा, तेरे मन को इसी देह में रहने के लिए—दीर्घजीवन के लिए हम स्थिर करते हैं, तू चिन्ता न कर ॥ १ ॥

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ २ ॥

यत् । ते । दिवम् । यत् । पृथिवीम् । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-ते मनः) हे मानसरोगस्य रोगिन् ! यत् तव मनः (दिवं यत् पृथिवीं मनः-दूरकं जगाम) द्युलोकं यत् खलु वा पृथिवीं जागरणे कालेऽपि दूरं गतम् (ते तत्……) तव तन्मनः प्रत्यावर्तयामो यथास्थानप्राप्तये जीवनधारणकरणाय ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-ते मनः) हे मानसिक रोग के रोगी ! जो तेरा मन (दिवं यत् पृथिवीं मनः दूरकं जगाम) द्युलोक या पृथिवी लोक के प्रति जागरण काल में दूर चला गया है, उस (ते तत् ……) तेरे मन को हम लौटाते हैं यथा स्थान प्राप्ति के लिए और दीर्घजीवन धारण के लिए ॥ २ ॥

भावार्थ—मानस रोग के रोगी का मन जागते हुए भ्रान्त होकर द्युलोक के ग्रहतारों की अन्यथा चर्चा करता हो या पृथिवी स्थान के प्रदेशों की अन्यथा बातें करता हो तो उसे आश्वासन देकर स्वस्थ बनाना चाहिए ॥ २ ॥

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ३ ॥

यत् । ते । भूमिम् । चतुःऽभृष्टिम् । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगेग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यन्मनोऽन्तःकरणम् (चतुर्भृष्टिं भूमिम्) चतस्रो भ्रष्टयो भर्जन्यो विषम भूमिविभक्तयो यस्यां तां भूमिम् (दूरकं जगाम) दूरं गतम् (ते तत्……) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानस रोग में ग्रस्त मनुष्य ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (चतुर्भृष्टिं भूमिम्) चार अर्थात् ऊंची, नीची, गीली, रेतीली, तपाने—सताने वाली विभक्तियों-स्थलियों वाली भूमि को (दूरकं जगाम) दूर चला गया है उस (ते तत्……पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानस रोग के रोगी का मन भ्रान्त होकर जब—"मैं ऊंचे पर्वत पर हूँ मुझे कौन उतारे, मैं खड्डे में हूँ मुझे कौन उभारे, मैं रेतीली भूमि में पड़ा हूँ या मैं कीचड़ में धंसा जा रहा हूँ" आदि प्रलाप करे तो उस समय उसको आश्वासन दिया जाये कि हमने वहाँ से तुझे बचा लिया है आदि। इस प्रकार उसकी चिकित्सा करे ॥ ३ ॥

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ४

यत् । ते । चतस्रः । प्रऽदिशः । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन! तव (यत्-मनः यदन्तःकरणम् (चतस्रः प्रदिशः-दूरकं जगाम) चतस्रः प्रधाना दिशः प्रति दूरं गतम् (ते तत्……) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसरोगग्रस्त मनुष्य ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (चतस्रः-प्रदिशः-दूरकं जगाम) चारों प्रधान दिशाओं में प्रति दूर चला गया है। (ते तत्…) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—मानसिक रोग के रोगी का मन जब कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी उत्तर, कभी दक्षिण दिशा सम्बन्धी बातें क्षण-क्षण में बदल कर करे तो उस ऐसे भ्रान्त मन वाले को उचित आश्वासनों द्वारा स्वस्थ एवं शान्त बनायें ॥ ४ ॥

यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ५ ॥

यत् । ते । समुद्रम् । अर्णवम् । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन! तव (यत्-मनः-अर्णवं समुद्रं दूरकं जगाम) यन्मनो जलवन्तं समुद्रं दूरं गतम् (ते तत्……) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसिक रोग से ग्रस्त मनुष्य ! तेरा (यत्-मनः-अर्णवं समुद्रं दूरकं जगाम) जो मन जल वाले समुद्र को दूर चला गया है (ते तत्…) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—मानसिक रोगग्रस्त का मन भ्रान्त हुआ-हुआ जल से आप्लावित समुद्र में अपने को तैरता हुआ या डूबता हुआ बतलाये तो उसे इस प्रसङ्ग के निवारक आश्वासन देकर शान्त करें ॥ ५ ॥

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ६ ॥

यत् । ते । मरीचीः । प्रऽवतः । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यन्मनः (प्रवतः-मरीचीः-दूरकं जगाम) प्रगच्छत आशारश्मीन् दूरं गतम् (ते तत्………) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (प्रवतः-मरीचीः-दूरकं जगाम) प्रगति करती हुई आशा रश्मियों के प्रति दूर तक चला गया है (ते तत्……) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—मानसिक रोगी का मन आशाओं की तरङ्गों में बहता चला जाये तो उसको आशारोधक आश्वासनों एवं सान्त्वनापूर्ण आश्वासनों से स्वस्थ करना चाहिए, क्योंकि आशाओं का कोई अन्त नहीं है ॥ ६ ॥

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ७ ॥

यत् । ते । अपः । यत् । ओषधीः । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यदन्तःकरणम् (यत्-अपः-ओषधीः-दूरकं जगाम) यज्जलानि प्रति-ओषधीः प्रति दूरंगतम् (ते तत्………) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (यत्-अपः-ओषधीः-दूरकं जगाम) जो जलों तथा ओषधियों के प्रति दूर चला गया है (ते तत्……) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—मानसरोगग्रस्त रोगी का मन भ्रान्त हुआ जलों में पुनः पुनः स्नान, पान, क्रीडन आदि में रुचि रख रहा हो तथा ओषधि–वनस्पतियों में उनके पुनः पुनः स्मरण, आस्वादन रुचि या अरुचि में प्रवाहित हो तो तत्तदुपयुक्त आश्वासन देकर रोगी के मन को शान्ति देनी चाहिए ॥ ७ ॥

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ८ ॥

यत । ते । सूर्यम् । यत् । उषसम । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यन्मनः (सूर्यं यत्-उषस दूरकं जगाम) सूर्यं प्रति यच्च-उषसं प्रति दूरं गतम् (ते तत्……) पूववत् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसरोगग्रस्त मनुष्य ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (सूर्यं यत्-उषसं दूरकं जगाम) सूर्य के प्रति और जो उषा के प्रति दूर चला गया है (तेतत्…) पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—मानसिक रोगी को जब भ्रान्ति से जाग्रत में अथवा अर्द्धनिद्रा में सूर्य या उषा उसकी पीतिमा मन में बसी जा रही हो, आंखें भी खोलने को तैयार न हो और कहे कि सूर्य या प्रकाश बहुत तीव्र है तो ऐसी अवस्था में मन को आश्वासन दें ॥ ८ ॥

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ९ ॥

यत् । ते । पर्वतान् । बृहतः । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः यन्मनः (बृहतः पवतान्) महतः पवतान् प्रति कल्पनया दूरकं जगाम) दूरं गतम् (ते तत्….) पूववत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसिक रोगी ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (बृहतः पर्वतान् दूरकं जगाम) बड़े-बड़े पर्वतों के प्रति कल्पना से दूर चला गया है (ते तत्…) पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—मानसरोगग्रस्त मनुष्य जब भ्रान्त-सी अवस्था में अपने को पहाड़ों पर भटकता हुआ अनुभव करे और वैसी ही बातें करे तो उसे भी सान्त्वनापूर्ण आश्वासनों से शान्त करे ॥ ९ ॥

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १० ॥

यत् । ते । विश्वम् । इदम् । जगत् । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यत् खलु मनः (इदं विश्वं जगत्-दूरकं जगाम) एतत् सर्वं जगद् प्रति दूरं गतम् (ते तत्…) पूर्ववत् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानसरोग के रोगी जन ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (इदं विश्वं जगत्-दूरकं जगाम) इस सम्पूर्ण संसार के प्रति दूर चला गया है (ते तत् …) पूर्ववत् ॥ १० ॥

भावार्थ—मन के रोगी का मन भ्रान्त अवस्था में सारे संसार में–कभी कहीं, कभी कहीं, क्षण–क्षण में भटक रहा हो तो उसे भी यथोचित आश्वासन उपचारों से स्वस्थ करें ॥ १० ॥

यत्ते परा: परावतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ११ ॥

यत् । ते । पराः । परावतः । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यत् खलु मनः (पराः परावतः) परदिशो यद्वा परदेशान् (दूरकं जगाम) दूरं गतम् (ते तत्…) पूववत् ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) हे मानस रोग में ग्रस्त जन ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (पराः परावतः) दूर दिशाओं तथा दूर देशों के प्रति (दूरकं जगाम) दूर चला गया है (ते तत् …) पूर्ववत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—मानसिकरोगग्रस्त मनुष्य का मन भ्रान्त हुआ दूर दिशाओं और दूर देशों में भटकता प्रतीत होता है, उसे भी यथोचित उपचारों एवं आश्वासनों से ठीक बनाना चाहिए ॥११॥

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १२ ॥

यत् । ते । भूतम् । च । भव्यम् । च । मनः । जगाम । दूरकम् । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) हे मानसरोगग्रस्त जन ! तव (यत्-मनः) यन्मनः (भूतं च भव्यं च दूरकं जगाम) भूतं गतविषयं भविष्यविषयं प्रति च दूरं गतम् (ते तत्....) पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) मानसरोगग्रस्त जन ! तेरा (यत्-मनः) जो मन (भूतं च भव्यं च दूरकं जगाम) बीती बातों या विषयों में और भविष्य की बातों के प्रति दूर चला गया है—दौड़ गया है (ते तत्....) पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—मानसिक रोग में ग्रस्त मन वाले व्यक्ति का मन कभी बहुत पुरानी बातों को सोचता रहता है । कभी भविष्य की अनावश्यक कल्पनायें करता रहता है उसे भी विविध उपचारों और आश्वासनों से शान्त तथा स्वस्थ बनाना चाहिए ॥ १२ ॥



एकोनषष्ठितमं सूक्तम्

ऋषिः—गौपायनाः–बन्ध्वादयः।

देवता—१–३, निर्ऋतिः। ४ निर्ऋतिः सोमश्च। ५, ६, असुनीतिः। ७ लिङ्गोक्ताः। ८–९, द्यावापृथिव्यौ। १० द्यावापृथिव्याविन्द्रश्च॥

छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप्। २, ४-६ निचृत् त्रिष्टुप्। ३, ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ८ भुरिक् पंक्तिः। ९ जगती। १० विराड् जगती॥

विषयः—अत्र सूक्ते भिन्नभिन्न देवतावाचक शब्देभ्योऽनेके लाभा ग्राह्याः, यथसंयमेन गृहस्थचालनं, स्थायित्वमन्नस्य, शीघ्रं जरामरणे न स्यातामिति वार्तिकम्।

इस सूक्त में भिन्न-भिन्न देवतावाचक शब्दों से अनेक प्रयोजन हैं–संयम से गृहस्थचालन, अन्नसंग्रह, शीघ्र बुढापा और और मौत न आयें इस प्रकार आचरण करना आदि–आदि

प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुमता रथस्य।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ १॥

प्र। तारि। आयुः। प्रऽतरम्। नवीयः। स्थातारौऽइव। क्रतुऽमता। रथस्य। अध। च्यवानः। उत्। तवीति। अर्थम्। पराऽतरम्। सु। निःऽऋतिः। जिहीताम्॥ १॥

संस्कृतान्वयार्थः—(क्रतुमता) गृहस्थयज्ञवता जनेन गृहस्थेन (नवीयः-प्रतरम्-आयुः प्रतारि) नवतरं जातस्य बालस्य प्रकृष्टतरं प्रवर्धनयोग्यमायुः प्रवर्धयितव्यम् (रथस्य स्थातारा-इव रथस्य स्थातारौ-यथा रथे तिष्ठन्तौशुभां यात्रां वहतस्तद्वद्गृहस्थे तिष्ठन्तौ स्त्रीपुरुषौ शुभयात्रां वहतः (अध) अथ–अनन्तरम् (च्यवानः परातरम्-अर्थम्-उत्तवीति) यथा कश्चिद् गच्छन् "च्यवानं गच्छन्तम्" [ऋ० १। ११७। १३ दयानन्दः] दूरतरं

स्वलक्ष्यं प्राप्नोति (निर्ऋतिःसुजिहीताम्) जीवनयात्राया मध्ये खल्वागता कृच्छ्रापत्तिः सुगमतया त्यजतु दूरं गच्छतु वा ॥ १ ।

भाषान्वयार्थ—(ऋतुमता) गृहस्थ यज्ञ वाले गृहस्थ जन के द्वारा (नवीयः प्रतरम्-आयुः प्रतारि) उत्पन्न हुए बालक की अतिनवीन बढ़ने योग्य आयु बढ़ानी चाहिए (रथस्य स्थातारा-इव) जैसे रथ के अन्दर बैठने वाले शुभ यात्रा को करते हैं उसी भांति गृहस्थ रथ में स्थित अपनी शुभ यात्रा करें (अध) अनन्तर (च्यवानः परातरम्-अर्थम्-उत्तवीति) जैसे कोई यात्रा करता हुआ अत्यन्त दूर के स्वलक्ष्य को भी प्राप्त करता है (निर्ऋतिः सुजिहीताम्) जीवन यात्रा के मध्य आई कृच्छ्र आपत्ति भी सुगमता से उन्हें छोड़ दे अर्थात् गृहस्थ आश्रम में आये दुःख संकट को सुगमता से सहन कर सकें, ऐसे बरतें ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ आश्रम में रहते हुए स्त्रीपुरुष गृहस्थ को ऐसे चलायें जैसे कि कोई रथस्थ यात्री अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। गृहस्थ का लक्ष्य है। धर्माचरण करते हुए उत्तम सन्तान का उत्पन्न करना उसकी आयु को बढ़ाना और उसे गुणवान् बनाना ॥ १ ॥

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि ।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सुनिर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ २ ॥

सामन् । नु । राये । निधिऽमत् । नु । अन्नम् । करामहे । सु । पुरुध । श्रवांसि । ता । नः । विश्वानि । जरिता । ममत्तु । पराऽतरम् । सु । निःऽऋतिः । जिहीताम् । ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(राये) जीवनैश्वर्याय (सामन्-नु) सममिते भूभागे "साम समम्यने" [निरु० ७ । १२] शीघ्रम् (निधिमत्-नु-अन्नं करामहे) धननिधिमदिवान्नमदनीयं भोज्यं सम्पादयामः (पुरुध) पुरुधा—बहुप्रकारेण (श्रवांसि-सु) विविधानि खल्वन्नानि खाद्यानि सुसम्पादयामः (ता विश्वानि नः-जरिता ममत्तु) तानि विश्वानि प्राप्येति शेषः, अस्माकं जरिता जीर्णोवृद्धोऽपि तृप्यतु "मदतेर्वा तृप्तिकर्मणः" [निरु० ६ । ५] (परातरं निर्ऋतिः सु जिहीताम्) कृच्छ्रापत्तिः सुगमतया बहुदूरं गच्छतु ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(राये) जीवनैश्वर्य के लिए (सामन् नु) समतल भूभाग में शीघ्र (निधिमत्-नु-अन्नं करामहे) धननिधि वाले के समान अदनीय—भोजनीय अन्न को सम्पादन करते हैं (पुरुध) बहुत प्रकार से (श्रवांसि सु) विविध अन्नों को भलीभांति अच्छा खाने योग्य बनाते हैं (ता विश्वानि नः-जरिता ममत्तु) उन सबको प्राप्त करके हमारा वृद्ध महानुभाव तृप्त होवे (परातरं निर्ऋतिः सु जिहीताम्) कृच्छ्र आपत्ति बहुत दूर चली जाये ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे कोई धनपति अपने यहां धन का कोष स्थापित करता है ऐसे ही समतल भूमि में अन्न को उत्पन्न करके मानव को अपनी जीवन यात्रा को सुखपूर्वक चलाने के लिए अन्न

संग्रह करना चाहिए। इस प्रकार उन अन्नों से स्वयं तृप्त हों और अपने वृद्धों को भी तृप्त करें। भूख या भुखमरी अर्थात् दुर्भिक्ष आपत्ति जिससे न सताये दूर रहे ॥ २ ॥

अभी ष्व१र्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ ३ ॥

अभि। सु। अर्यः। पौंस्यैः। भवेम। द्यौः। न। भूमिम्। गिरयः। न। अज्रान्। ता। नः। विश्वानि। जरिता। चिकेत। पराऽतरम्। सु। निःऽऋतिः। जिहीताम्। ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अर्यः) अरीन् शत्रून् "अर्यः-अरयः" [ऋ० ७।३४।१८ दयानन्दः] (पौंस्यैः-सुअभिभवेम) पुरुषार्थैः सुगमतया-अधिकुर्मः (द्यौः-नभूमिम्) यथा सूर्यः पृथिवीं स्वरश्मिभिरभितप्तां कृत्वा (गिरयः-न-अज्रान्) पर्वता यथा गतिशीलान् जलप्रवाहान् प्रक्षिपन्ति (नः-ता विश्वानि जरिता चिकेत) नः-अस्माकं तानि विश्वानि प्रयोजनानि जीर्णो वृद्धो जानाति। अग्रे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अर्यः) शत्रुओं को (पौंस्यैः-सु अभिभवेम) पुरुषार्थों के द्वारा सुगमता से स्वाधीन करें (द्यौः-न भूमिम्) जैसे सूर्य पृथिवी को अपनी रश्मियों से तपाकर के स्वाधीन करता है (गिरयः-न-अज्रान्) या जैसे पर्वत गतिशील जल प्रवाहों को फेंकते हैं (नः-ता विश्वानि जरिता चिकेत) हमारे उन सब प्रयोजनों को जीर्ण-वृद्ध जानता है। आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए परस्पर संगठन करके विविध पुरुषार्थों के द्वारा शत्रुओं पर प्रभाव डालकर स्वाधीन करें। जैसे सूर्य तापक रश्मियों से पृथिवी को तपाता है या जैसे जलधाराओं को पर्वत नीचे फेंकता है। इस प्रयोजन के लिए अपने वृद्ध नेता के नेतृत्व में रहकर पुरुषार्थ करें जिससे कृच्छ्र आपत्ति भी दूर रहे ॥ ३ ॥

मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ ४ ॥

मो इति। सु। नः। सोम। मृत्यवे। परा। दाः। पश्येम। नु। सूर्यम्। उत्ऽचरन्तम्। द्युऽभिः। हितः। जरिमा। सु। नः। अस्तु। पराऽतरम्। सु। निःऽऋतिः। जिहीताम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सोम) हे शान्तपरमात्मन्! (मा-उ सु नः-मृत्यवे परादाः) न हि सुगमतयाऽस्मान् मृत्यवे त्यज (सूर्यम्-उच्चरन्तं नु पश्येम) जगति सूर्यं सुपरिखलूदितं पश्येम (द्युभिः-हितः-जरिमा नः-सु-अस्तु) आगामिभिर्दिनैः प्राप्तो जरिमा-जराभावः सुगमः-सुखदो भवतु (परातर....) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सोम) हे शान्त परमात्मन् ! (मा-उ सु नः-मृत्यवे परादाः) हमें शीघ्र मृत्यु के लिए मत छोड़–मत दे (सूर्यम्-उच्चरन्तं नु पश्येम) जगत् के अन्दर हम उदय होते हुए सूर्य को देखते रहें (द्युभिः-हितः-जरिमा नः-सु-अस्तु) आगामी दिनों से प्रेरित होने वाला जराभाव–जीर्णस्वरूप, सुगमता–सुखपूर्वक बीते (परातरं....) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे कि शीघ्र मृत्यु न हो और आगे आने वाली जरावस्था भी सुख से बीते । तथा अपने जीवन काल में सूर्य को देखते रहें अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियशक्तियां न्यून न हों और कृच्छ्र आपत्ति भी दूर रहे ॥ ४ ॥

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥ ५ ॥

असुऽनीते । मनः । अस्मासु । धारय । जीवातवे । सु । प्र । तिर । नः । आयुः ।
रारन्धि । नः । सूर्यस्य । सम्ऽदृशि । घृतेन । त्वम् । तन्वम् । वर्धयस्व ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(असुनीते-अस्मासु मनः-धारय) हे प्राणप्रापक ! ईश्वर ! "असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसु-नीतिस्तत्सम्बुद्धौ, हे असुनीते ईश्वर !" [ऋ० १० । ५९ । ६ भाष्यभूमिका, दयानन्दः] "असुनीतिरसून् नयति" [निरु० १० । ३९] अस्मासु मनोऽन्तःकरणं धारय–विकासय (जीवातवे) जीवितुं चिरं जीवितुं (नः-आयुः-सु प्र तिर) अस्माकमायुः सुखरूपं प्रवर्धय (सूर्यस्य सन्दृशि नः-रारन्धि) सूर्यस्य संदर्शनाय "सन्दृशि सन्दर्शनाय" [निरु० १० । ३९] साधय समर्थय (घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व) तेजसा "तेजो वै घृतम्" [मै० १ । २ । ८] आत्मानं त्वं सम्पोषय "आत्मा वै तनूः" [श० ६ । ७ । २ । ६] ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(असुनीते) हे प्राणों को प्रेरणा देने वाले ईश्वर ! (अस्मासु मनः-धारय) हमारे अन्दर मन-अन्तःकरण को धारण करा–विकसित कर–उन्नत कर (जीवातवे) चिरकाल तक जीने के लिए (नः-आयुः सु प्र तिर) हमारी आयु को सुखरूप में बढ़ा (सूर्यस्य सन्दृशि नः-रारन्धि) सूर्य के दर्शन के लिए हमें समर्थ कर (घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व) अपने तेज के द्वारा तू आत्मा को संपुष्ट कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—संयम के द्वारा परमात्मा की उपासना प्रार्थना करने वाले मनुष्य के प्राणों को परमात्मा बढ़ाता है और अन्तः करण को विकसित करता है, सुखरूप दीर्घजीवन प्रदान करता है । इन्द्रियों में देखने आदि की शक्ति बनाये रखता है तथा आत्मतेज को भी देता है ॥ ५ ॥

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ ६ ॥

असुऽनीते । पुनः । अस्मासु । चक्षुः । पुनरिति । प्राणम् । इह । नः । धेहि । भोगम् । ज्योक् । पश्येम । सूर्यम् । उत्ऽचरन्तम् । अनुऽमते । मृळय । नः । स्वस्ति ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(असुनीते) हे प्राणप्रापक परमात्मन् ! (पुनः-इह-अस्मासु चक्षुः-प्राणं भोगं नः-धेहि) त्वमिह पुनर्जन्मनि-अस्मभ्यं खल्वस्मासु पुनर्नेत्रं भोगपदार्थं धारय (सूर्यम्-उच्चरन्तं ज्योक् पश्येम) उद्गच्छन्तं सूर्यं चिरं पश्येम (अनुमते नः स्वस्ति मृळय) आज्ञापक परमेश्वर ! "अनुमते-हे अनन्त परमेश्वर" [ऋ० १० । ५६ । ६ । भाष्यभूमिका, दयानन्दः] अस्मान् स्वस्ति सु-अस्तित्वं यथा स्यात् तथा सुखय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(असुनीते) हे प्राणों को प्राप्त कराने वाले परमात्मन् ! (पुनः-इह-अस्मासु चक्षुः-प्राणं भोगं नः-धेहि) तू इस जीवन में—इस पुनर्जन्म में हमारे निमित्त पुनः नेत्र पुनः प्राण और भोग पदार्थ को धारण करा (सूर्यम्-उच्चरन्तं ज्योक् पश्येम) उदय होते हुए सूर्य को चिरकाल तक देखें (अनुमते नः स्वस्ति मृळय) हे आज्ञापक परमेश्वर ! हमारे लिए कल्याण जैसे हो ऐसे सुखी कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनर्जन्म में प्राण नेत्र आदि अङ्ग पूर्वजन्म के समान परमात्मा देता है । वह हमारे जीवन को सुखी बनाने के लिए सबसाधन भोगपदार्थ देता है उसका हमें कृतज्ञ होना चाहिए तथा उपासना करनी चाहिए ॥ ६ ॥

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥ ७ ॥

पुनः । नः । असुम् । पृथिवी । ददातु । पुनः । द्यौः । देवी । पुनः । अन्तरिक्षम् । पुनः । नः । सोमः । तन्वम् । ददातु । पुनरिति । पूष । पथ्याम् । या । स्वस्तिः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पुनः) पुनर्जन्मनि (पृथिवी-असुं ददातु) पृथिवी मातृभूता प्राणं ददातु ददाति वा (पुनः) (देवी द्यौः पुनः-अन्तरिक्षम्) द्योतमाना द्युलोकदीप्तिर्द्युलोको वा पितृभूतः—अन्तरिक्षं च प्राणं ददातु ददाति वा (सोमः-नः पुनः-तन्वं ददातु) चन्द्रमाः—ओषधिर्वा शरीरं ददातु पोषयतु (पूषा पुनः पथ्याम्) सर्वपोषकः परमात्मा पथिभवां यथार्थं जीवनयात्रां प्रयच्छतु (या स्वस्तिः) या स्वस्तित्वकरी—अमृतत्वसाधिका भवेत् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(पुनः) पुनर्जन्म में (पृथिवी-असुं ददातु) मातृभूत पृथिवी प्राणों को देती है (पुनः देवी द्यौः, पुनः-अन्तरिक्षम्) द्योतमान द्युलोकदीप्ति अर्थात् पितृभूत द्युलोक और अन्तरिक्ष प्राण को दे-देता है (सोमः-नः पुनः-तन्वं ददातु) चन्द्रमा या ओषधि शरीर को देवे-देता है-पुष्ट करता है (पूषा पुनः पथ्याम्) सर्वपोषक परमात्मा यथार्थ जीवन यात्रा को देता है-देवे (यास्वस्तिः) जो कि कल्याणकरी-मोक्षसाधिका है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनर्जन्म में पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक प्राण को देते हैं। इन तीनों के द्वारा प्राणशक्ति की स्थापना होती है। चन्द्रमा तथा ओषधि से शरीर का पोषण होता है और परमात्मा चेतन आत्मा को शरीर में प्रविष्ट करके जीवन यात्रा में प्रेरित करता है ॥ ७ ॥

शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा ।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत् ॥ ८ ॥

शम् । रोदसी इति । सुऽबन्धवे । यह्वी इति । ऋतस्य । मातरा । भरताम । अप । यत् । रपः । द्यौः । पृथिवि । क्षमा । रपः । मो इति । सु । ते । किम् । चन । आममत् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुबन्धवे) सुसन्तानाय (यह्वी रोदसी शम्) महत्त्वगुणवत्यौ द्यावापृथिव्यौ मातापितृभूते कल्याणकारिके भवताम् (ऋतस्य मातरा) यत उदकसम्बन्धस्य निर्मात्र्यौ स्तः (यत्-रपः-अप भरताम्) पापमज्ञानं वा दूरी कुरुताम् (द्यौः पृथिवि) आवां मातापितरौ (क्षमा) क्षमया सहनशक्त्या सरलस्वभाववत्तया (रपः-मा-उ सु किञ्चन ते-आमयत्) पालने शिक्षणे दोषो तुभ्यं भवेत् स किञ्चन त्वां पुत्रं न हिनस्तु, इति इति यत्नं विधास्यावः ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सुबन्धवे) अच्छी सन्तान के लिए (यह्वी रोदसी शम्) महत्त्वगुण वाले माता पिता कल्याणकारी होवें (ऋतस्य मातरा) जो उदकसम्बन्ध अर्थात् रजोवीर्य को अपने शरीर में संयम से निर्माण करते हैं (यत्-रपः-अप भरताम्) जो अपने पाप और अज्ञान को दूर करते हैं-करते हों (द्यौः पृथिवि) हम पिता और माता (क्षमा) क्षमा से-सहनशक्ति से-सरलस्वभाववत्ता से (रपः-किञ्चन ते) पालन और शिक्षण में यदि कोई दोष तेरे लिये हो तो (मा-उ-सु-आममत्) वह तुझ पुत्र को हिंसित न करे, ऐसा यत्न करेंगे ॥ ८ ॥

भावार्थ—उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए माता पिता अपने शरीर में संयम द्वारा रजवीर्य को सुरक्षित रखें पाप और अज्ञान से दूर रहें ज्ञान और सद्गुणों को धारण करें। फिर भी यदि कोई दोष अपने अन्दर हो तो ऐसा व्यवहार करें जिससे सन्तान पर उसका प्रभाव न पड़े ॥ ८ ॥

अव द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा ।
क्षमा चरिष्ण्वेककं भरतामप यद्रपो
द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत् ॥ ९ ॥

अव । द्वके इति । अव । त्रिका । दिवः । चरन्ति । भेषजा । क्षमा । चरिष्णु । एककम् । भरताम् । अप । यत् । रपः । द्यौः । पृथिवि । क्षमा । रपः । मो इति । सु । ते । किम् । चन । आममत् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवः-द्वके) आकाशात्-द्युलोकस्यान्तारिक्षलोकस्य च द्वे दोषनाशके रोगनाशके रश्मिजलात्मके भेषजे (त्रिका भेषजा) त्रिका त्रीणि भेषजानि दोषनाशकानि रश्मिजलवनस्पतिरूपाणि (अव चरन्ति) अवरं प्राप्नुवन्ति प्राप्तानि सन्ति (क्षमा यत्-रपः) क्षमया सरलभाववतया-असावधानतया जातं रपः-कृतं दोषम् (एककं चरिष्णु) एकमात्रम्-एकैकं वा प्रापणशीलं भेषजम् (अप भरताम्) अपगमयतु दूरं करोति (द्यौः पृथिवि……) पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवः-द्वके) आकाश से-द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के दो दोषनाशक रोगनाशक रश्मि और जल दो भेषज (त्रिका भेषजा) तीन दोषनाशक रोगनाशक भेषज रश्मि जल और पृथिवी की खाने वाली ओषधियां (अव चरन्ति) यहाँ प्राप्त होती हैं। (क्षमा यत्-रपः) क्षमा से सरल स्वभाववत्ता से या असावधानी से हुए पाप या दोष को (एककं चरिष्णु) एकमात्र या एक-एक प्राप्त भेषज (अप भरताम्) दूर हटादे—दूर करता है (द्यौः पृथिवी……) पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—मानव के रोगों या दोषों को दूर करने के लिए तीनों लोकों से भेषज प्राप्त होते हैं। द्युलोक से सूर्य रश्मियां, अन्तरिक्ष लोक से वृष्टि जल और पृथिवीलोक से खाद्य-भोज्य वनस्पतियां प्राप्त होती हैं। इनका उपयोग करके मनुष्य को स्वस्थ होना चाहिए तथा अपनी असावधानी से अपनी सन्तान को उक्त रोग या दोष से बचाये रखना चाहिए ॥ ९ ॥

समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आ वहदुशीनराण्या अनः ।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत् ॥ १० ॥

सम । इन्द्र । ईरय । गाम् । अनड्वाहम् । यः । आ । अवहत् । उशीनराण्याः । अनः । भरताम् । अप । यत् । रपः । द्यौः । पृथिवि । क्षमा । रपः । मो इति । सु । ते । किम् । चन । आममत् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! सूर्य ! वा (अनड्वाहं गाम्-सम्-ईरय) अनत्-अनड् प्राणत्-शरीरं वहति यद्वा यः शरीररूपं शकटं वहति तं

प्राणं गमनशीलं सम्यक् प्रेरय (यः-उशीनराण्याः-अनः-आवहत्) यः खलु "उश्यते काम्यतेऽसौ-उशी वाञ्छा तत्कुशला नरा ते उशीनराः" [उणादि० ४ । १ दयानन्दः] तत्सम्बन्धिनी-उशीनराणी भोगसृष्टिः, तस्याः-अनः-शरीरशकटं यश्चालयति तं प्राणं प्रेरयतीति सम्बन्धः (भरताम्-अप····) इति पूर्ववदेव ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! या सूर्य ! (अनड्वाहं गाम्-सम्-ईरय) अनत्-अनड्-प्राणत्, प्राण लेते हुए शरीर को या शरीररूप शकट को जो वहन करता है—चलाता है उस गमन शील को सम्यक् प्रेरित कर (यः-उशीनराण्याः-अनः-आवहत्) जो कामना-वाञ्छा करने में कुशल हैं वे उशीनर, उशीनर सम्बन्धी भोग सृष्टि उसका जो शरीर रूप शकट है उसे चलाने वाला प्राण उसे चलाता है (भरताम्-अप·······) इति पूर्ववदेव ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा सबके शरीरों को चलाने वाले प्राण को प्रेरित करता है। प्रत्येक प्राणी भोग सृष्टि की कामना करता हैं। यदि कोई प्राणी असावधानता से भोग सृष्टि में पड़ता है तो वह रोगी और दुःखी हो जाता है और अपनी सन्तान को भी दुःखी बनाता है। अतः सावधानी से भोग सृष्टि में विचरे ॥ १० ॥



षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गौपायना:-बन्ध्वादयः । ६, एषां माताऽगस्तस्य स्वसा ।

देवता—१-४, ६ असमाती राजा । ५ इन्द्रः । ७-११ सुबन्धो-र्जीविताह्वानम् । १२ मरुतः ।

छन्दः—१-३ गायत्री । ४, ५ निचृद् गायत्री । ६ पादनिचृद-नुष्टुप् । ७, १०, १२ निचृदनुष्टुप् । ११, आर्च्यनुष्टुप् । ८-९ निचृत् पंक्तिः ॥

विषयः—अत्र सूक्ते राज्ञा परमात्मोपासितव्यः, योग्यसेनाध्यक्षस्य-मन्त्रिणां च नियुक्तिस्तेभ्योऽधिकारप्रदानं मनोदोष-निवारका विशेषतो चिकित्सका संरक्ष्या इति वर्णितम् ।

इस सूक्त में राजा को परमात्मा की उपासना करनी चाहिए और योग्य सेनाध्यक्ष मन्त्रियों की नियुक्ति; उन्हें अधिकार प्रदान करना, मनोदोषनिवारक चिकि-त्सकों को रखना आदि वर्णित है ॥

आ जनं त्वेषसंदृशं माहीनानामुपस्तुतम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमः ॥ १ ॥

आ । जनम् । त्वेषऽसंदृशम् । माहीनानाम् । उपऽस्तुतम् । अगन्म । बिभ्रतः । नमः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(माहीनानाम्) महतां महानुभावानां मध्ये "माहिनः-महन्नाम" [निघ० ३ । ३] (त्वेषसन्दृशम्) साक्षाज्ज्ञानिनम्—"न्यायप्रकाशं सम्पश्यति दर्शयति वा" [ऋ० ६ । २२ । ९ । दयानन्दः] (उपस्तुतं जनम्) प्रशस्तं जनम् (नमः-बिभ्रतः-अगन्म) वयमुपहारं धारयन्तो गच्छेम ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(माहीनानाम्) महान् आत्माओं के मध्य में (त्वेषसन्दृशम्) साक्षात् ज्ञानी-(उपस्तुतं जनम्) प्रशस्त जन को (नमः-बिभ्रतः-अगन्म) हम उपहार धारण करने के हेतु जायें ॥ १ ॥

भावार्थ—महात्माओं में जो साक्षात् परमात्मदर्शी तथा उत्तम गुण सम्पन्न है उसका सत्संग कुछ उपहार ले जाकर करना चाहिए ॥ १ ॥

असमातिं नितोशनं त्वेषं निययिनं रथम् ।
भजेरथस्य सत्पतिम् ॥ २ ॥

असमातिम् । निऽतोशनम् । त्वेषम् । निऽययिनम् । रथम् । भजेऽरथस्य । सत्ऽपतिम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(असमातिम्) ज्ञानबलयोरसमानगतिकम्-अतुल्यं वा "असमातिः-अतुल्यः" [ऋ० ६ । २६ । ६ दयानन्दः] (नितोशनम) शत्रूणां हिंसकम "नितोशते बधकर्मा" [निघ० २ । २६] (त्वेषम्) तेजस्विनम् (नियमिनं रथम) नियमेन गन्तारं रथवन्तम् "अकारो मत्वर्थीयश्छान्दसः" (भजे रथस्य सत्पतिम) भञ्जन्ति परस्परं यस्मिन् स संग्रामः स भजः घञर्थे कविधानम् तस्मिन् भजे रथो यस्य तस्य यथार्थरक्षकम्–अगन्म प्राप्नुयाम ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(असमातिम्) ज्ञान और बल में असमानगति-किसी से भी समानता न रखने वाले-अतुल्य-(नितोशनम्) शत्रुओं के हिंसक-(त्वेषम्) तेजस्वी-(निययिनं रथम्) नियम से जाने वाले रथवान् को (भजे रथस्य सत्पतिम्) संग्राम में जिसका रथ है ऐसे सच्चे रक्षक को प्राप्त होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—गुण व बल में सबसे बढ़े चढ़े नेता, तेजस्वी, शत्रुहन्ता, सांग्रामिक रथ के संभालने वाले की शरण लेनी चाहिए उसको राजा बनाना चाहिए ॥ २ ॥

यो जनान् महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान् ।
उतापवीरवान् युधा ॥ ३ ॥

यः । जनान् । महिषान्ऽइव । अतिऽतस्थौ । पवीरवान् । उत । अपवीरवान् । युधा ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) य इन्द्र ऐश्वर्यवान् शासकः (पवीरवान्) आयुधवान् "पविः शल्यो भवति, तद्वत् पवीरमायुधं तद्वानिन्द्रः पवीरवान्" [निरु० १२ । ३०] [महिषान्-इव जनान्] महतो योद्धृन् जनान् 'इवोऽत्रानर्थकः' "इवोऽपि दृश्यते" [निरु० १ । ११] यद्वा महिषः पशून् यथा सिंहः 'लुप्तोपमावाचकालङ्कारः' तथा योद्धृन् जनान् (युधा-अतितस्थौ) योधनेन युद्धेन–अतिक्रम्य तिरस्कृत्य तिष्ठति स्वाधीनी करोति (उत-अपवीरवान्) अपित्वनायुधवान् सन्नपि स्वाधीनी करोति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो इन्द्र ऐश्वर्यवान् शासक (पवीरवान्) शस्त्रास्त्रवाला (महिषान्

-इव जनान्) महान् योद्धा जनों को अथवा जैसे भैंसों को सिंह ऐसे ही योद्धाजनों को (युधा -अतितस्थौ) युद्ध से-युद्ध करके तिरस्कृत करता है-स्वाधीन करता है (उत-अपवीरवान्) अपितु विना शस्त्रास्त्र वाला रहता हुआ भी स्वाधीन करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा या शासक ऐसा होना चाहिए जो शत्रुओं को संग्राम में शस्त्रास्त्रों द्वारा परास्त करके स्वाधीन करे। अथवा विना शस्त्रास्त्र के भी शारीरिक बल द्वारा जैसे सिंह भैंसों को पछाड़ता है ऐसे शत्रुओं को पछाड़े ॥ ३ ॥

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते ।
दिवीव पञ्च कृष्टयः ॥ ४ ॥

यस्य । इक्ष्वाकुः । उप । व्रते । रेवान् । मरायी । एधते । दिविऽइव । पञ्च । कृष्टयः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य व्रते) यस्य शासकस्य शासनकर्मणि (इक्ष्वाकुः) इक्षुरिव वदति यः स मधुरोपदेष्टा शिक्षामन्त्री तथा (रेवान्) धनवान् अर्थमन्त्री च (मरायी) शत्रूणां मारयिता रक्षामन्त्री (उप-एधते) समृद्धो भवति तस्य (पञ्च कृष्टयः) पञ्चप्रजाजनाः 'कृष्टयः-मनुष्यनाम'' [निघ० २ । ३] (दिवि-इव) सूर्ये, सूर्याश्रये यथा रश्मयः प्रकाशमयः सबलाश्च भवन्ति 'अत्र लुप्तोपमानवाचकालङ्कारः तथा शासकाश्रये कृष्टयः-प्रजाजनाः, ज्ञानिनश्च सबला भवन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य व्रते) जिस शासक के शासन कर्म में (इक्ष्वाकुः) मीठे रस भरे गन्ने की भांति बोलने वाला मधुर उपदेष्टा शिक्षा मन्त्री (रेवान्) प्रशस्त धन वाला अर्थमन्त्री (मरायी) शत्रुओं को मारने वाला सेनाध्यक्ष-रक्षामन्त्री (उप-एधते) समृद्ध होता है, उसके (पञ्च कृष्टयः) पांच प्रकार के-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, प्रजाजन (दिवि-इव) जैसे सूर्य के आश्रय में रश्मियां-किरणें प्रकाशमय और सबल होती हैं ऐसे ही शासक के आश्रय में प्रजाजन और ज्ञानी लोग सबल हो जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस राजा के शासन में मधुरोपदेष्टा शिक्षामन्त्री, प्रशस्त धनवान् अर्थमन्त्री और शत्रुओं को मारने वाला सेनाध्यक्ष समृद्धि पाते हैं उसकी पांचों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद प्रजायें और ज्ञानीजन, जैसे सूर्य के आश्रय में रश्मियां प्रकाशवाली और सबल होती हैं ऐसे सबल होते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय ।
दिवीव सूर्यं दृशे ॥ ५ ॥

इन्द्र । क्षत्रा । असमातिषु । रथऽप्रोष्ठेषु । धारय । दिविऽइव । सूर्यम् । दृशे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे शासक ! (रथप्रोष्ठेषु असमातिषु) रथयानस्य चालने प्रोष्ठाः-प्रौढाः, ये ते रथप्रोष्ठाः "प्रोष्ठे प्रौढे" [ऋ० ७ । ५५ । ८ दयानन्दः] 'आदराथ बहुवचनम्' रथचालनप्रोढे-असुमातौ-असमानगतिप्रवृत्तिके-अधिकारिणि (क्षत्रा धारय) बलानि स्थापय (दिवि-इव सूर्यं दृशे) यथा ह्याकाशे सूर्यं जगद्द्रष्टुं परमात्मा धारयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे शासक ! (रथ प्रोष्ठेषु-असमातिषु) रथप्रोष्ठ-रथ के संचालन में प्रोष्ठ-प्रौढ-कुशल, असमान गति प्रवृत्ति वाले अधिकारी में (क्षत्रा धारय) बलों को सर्मपित कर (दिवि-इव सूर्यं दृशे) जैसे आकाश में सूर्य को-जगत् को प्रकाशित करने के लिए परमात्मा धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—महारथी युद्ध कुशल के अधीन अपने विविध सैन्य बलों को सर्मपित करे-सौंपे जैसे परमात्मा ने आकाश के अन्दर सब जगत् को प्रकाशित करने के लिए धारण कर रखा है ॥५॥

अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता ।
पणीन्न्यक्रमीरभि विश्वान्राजन्नराधसः ॥ ६ ॥

अगस्त्यस्य । नत्ऽभ्यः । सप्ती इति । युनक्षि रोहिता । पणीन् । नि । अक्रमीः । अभि । विश्वान् । राजन् । अराधसः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(राजन्) हे राजन् ! (अगस्त्यस्य नद्भ्यः) त्यक्तपापस्य प्रशंसकेभ्यः (रोहिता सप्ती युनक्षि) शुभ्रौ रोहणकर्त्तारौ प्रगतिशीलौ सभासेनेशौ योजय (पणीन् न्यक्रमीः) व्यापारिणः स्वाधीनी कुरु (विश्वान्-अराधसः-अभि) सर्वान् उद्दण्डान्-अभिभव ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (अगस्त्यस्य नद्भ्यः) पाप को त्याग दिया है जिसने ऐसे निष्पाप के प्रशंसकों के लिए (रोहिता सप्ती युनक्षि) शुभ्र रोहण करने वाले सभेश और सेनेश को युक्त कर (पणीन् न्यक्रमीः) व्यापारियों को स्वाधीन कर और उनको अपने व्यापार में प्रेरित कर (विश्वान्-अराधसः-अभि) सब उद्दण्डों को दबा-तिरस्कृत कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिए कि निष्पाप-पाप सम्पर्क से रहित, परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करने वाले ऋषि-मुनियों के लिए विशेष न्यायव्यवस्था और रक्षा प्रबन्धार्थ सभेश और सेनेश को नियुक्त करे । तथा व्यापारियों के लिए व्यापारार्थ प्रेरणा दे और राष्ट्र में जो उद्दण्ड हों उन पर पूरा नियन्त्रण रखे ॥ ६ ॥

अयं मातायं पितायं जीवातुरागमत् ।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥ ७ ॥

अयम् । माता । अयम् । पिता । अयम् । जीवातुः । आ अगमत् । इदम् । तव । प्रऽसर्पणम् । सुबन्धो इति सुबन्धो । आ । इहि । निः । इहि ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुबन्धो) हे सुखेबन्धयितः कुमार ! (अयं माता-अयं पिता अयं जीवातुः-आगमत्) अयं चिकित्सकस्तत्र रुग्णस्य माता–मातृवत्स्नेहकर्त्ताऽयं पिता–पितृवद्रक्षक-अयं जीवयिता खल्वागच्छति (इदं तव प्रसर्पणम्) इदं शरीरं तु तव प्रकृष्टरूपेण सपण प्राप्तव्यस्थानमस्ति (एहि) आगच्छ (निरिहि) निश्चितरूपेण प्रापय ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सुबन्धो) हे सुख में बान्धने वाले कुमार ! (अयं माता-अयं पिता) ये चिकित्सक तुझ रोगी की माता-माता के समान स्नेह करने वाला, यह पिता-पिता के समान पालन करने वाला-रक्षण देने वाला (अयं जीवातुः-आगमत्) यह जीवन देने वाला आया है-आता है (इदं तव प्रसर्पणम्) यह शरीर तो तेरा प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होने योग्य स्थान है (एहि) आ (निरिहि) निश्चित रूप से प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—बालक या कुमार स्नेह में बांधने वाला होता है वह विशेष स्नेहपात्र-दयापात्र होता है। जब वह रोगी हो जाये तो कोई भी चिकित्सक माता के समान स्नेह करता हुआ या पिता के समान पालन करता हुआ उसके जीवन के लिए चिकित्सा करे और आश्वासन दे कि तू इसी शरीर में स्वस्थ और दीर्घजीवी हो जायेगा ॥ ७ ॥

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ ८ ॥

यथा । युगम् । वरत्रया । नह्यन्ति । धरुणाय । कम् । एव । दाधार । ते । मनः । जीवातवे । न मृत्यवे । अथो इति । अरिष्टऽतातये ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यथा वरत्रया युगं धरुणाय नह्यन्ति कम्) यथा हि चर्मरज्ज्वा वृषभादिकं धारकदण्डाय प्रतिष्ठारूपाय "प्रतिष्ठा वै धरुणम्" [श० ७।४।२।५] बध्नन्ति (एव) एवम् (ते मनः-जीवातवे दाधार) तव मनः–मनोभावं चिकित्सको जीवनाय धारयति (न मृत्यवे) न तु मृत्यवे (अथ-उ-अरिष्टतातये) अथापि कल्याणाय "शिवशमरिष्टस्य करे" [अष्टा० ४।४।१४३] तातिल् प्रत्ययः ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(यथा वरत्रया युगम्) जैसे चमड़े की रस्सी-फीते से वृषभ आदि को (धरुणाय नह्यन्ति कम्) धारकदण्ड-गाड़ी के प्रतिष्ठा भाग-जूवे के लिए सुख से बांधते हैं (एव) इसी प्रकार (ते मनः-जीवातवे दाधार) हे कुमार, तेरे मन को-मनोभाव-सङ्कल्प को जीवन के

लिए चिकित्सक जोड़ता हूँ-बांधता है (न मृत्यवे) मृत्यु के लिए नहीं (अथ-उ-अरिष्टतातये) अपितु रोगरहित होने के लिए-स्वस्थ होने के लिए ॥ ८ ॥

भावार्थ—रोगी कुमार को चिकित्सक ऐसे धैर्य बंधाये और ऐसा उपचार करे जैसे चर्म-रस्सी से बैल को जूवे में जोड़ा जाता है ऐसे उसके मन को रोग के चिन्तन से हटाकर आश्वासन और मनोरञ्जन के द्वारा स्वस्थता की ओर लगा दिया जाये ॥ ८ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ ९ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधार । इमान् । वनस्पतीन् । एव । दाधार । ते । मनः । जीवातवे । न । मृत्यवे । अथो इति । अरिष्टऽतातये ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यथा-इयं मही पृथिवी इमान् वनस्पतीन् दाधार) यथा हीयं महती पृथिवी वनस्पतीन् वृक्षादीन् धारयति (एवा दाधार ते···) अग्रे पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(यथा-इयं मही पृथिवी-इमान् वनस्पतीन् दाधार) जैसे यह महती पृथिवी इन वृक्षादि वनस्पतियों को धारण करती है (एवा दाधार ते....) आगे पूर्ववत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—यह महत्त्वपूर्ण-महती पृथिवी ओषधि वनस्पतियों को जैसे संभालती है ऐसे ही चिकित्सक को भी रोगी के मन को शरीर में दृढ़ रूप से धैर्य देकर स्थिर करना चाहिए तथा ओषधियों से उसके मन को शान्त करना चाहिए। उसके जीवित रहने का यत्न करना चाहिए ॥ ९ ॥

यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम् ।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ १० ॥

यमात् । अहम् । वैवस्वतात् । सुऽबन्धोः । मनः । आ । अभरम् । जीवातवे । न । मृत्यवे । अथो इति । अरिष्टऽतातये ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अहं वैवस्वतात्-यमात्) अहं चिकित्सकः सूर्यत उत्पन्नात् मारकान् कालान् (सुबन्धोः-मनः-जीवातवे-आभरम्) सुष्ठु बन्धयितुः सुकुमारस्य मनः-जीवनाय-आनयामि (न मृत्यवे) न तु मृत्यवे कारणं भविष्यति (अथ-उ) अथापि (अरिष्टतातये) कल्याणाय ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अहं वैवस्वतात्-यमात्) मैं चिकित्सक सूर्य के पुत्र मारक काल से (सुबन्धोः-मनः-जीवातवे-आभरम्) सुष्ठु बांधने वाले कुमार के मन को जीने के लिए ले आया हूँ (न मृत्यवे) मृत्यु के लिए नहीं अर्थात् मृत्यु के कारण को दूर कर दिया है (अथ-उ) और (अरिष्टतातये) कल्याण के लिए ॥ १० ॥

भावार्थ—योग्य चिकित्सक को चाहिए कि सुकुमार बालक के मन से मृत्यु के भय को दूर करे और उसे आश्वासन दे कि मैंने मृत्यु के कारण को दूर कर दिया है और तुझे जीवन धारण करने के लिए समर्थ बना दिया है ॥ १० ॥

न्य१ग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः ॥ ११ ॥

न्यक् । वातः । अव । वाति । न्यक् । तपति । सूर्यः । नीचीनम् । अघ्न्या । दुहे । न्यक् । भवतु । ते । रपः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वातः-न्यक्-अववाति) वायुर्नीचैः पृथिव्यामधो वहति (सूर्यः-न्यक् तपति) सूर्यो नीचैः पृथिवीं तपति तापं प्रयच्छति (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौर्नीचैर्भूत्वा दुग्धं स्रवति (ते रपः-न्यक्-भवतु) हे कुमार ! तव मानसरोगो नीचैः शरीराद् बहिः निः सरतु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(वातः-न्यक्-अववाति) वायु पृथिवी पर नीचे बहता है (सूर्यः-न्यक् तपति) सूर्य नीचे पृथिवी पर ताप देता है (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ नीचे स्तन भाग से दूध स्रवित करती है (ते रपः-न्यक्-भवतु) हे कुमार ! तेरा मानसरोग नीचे अर्थात् शरीर से बाहर निकल जाये—निकल जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—योग्य चिकित्सक मानसिक रोग के रोगी कुमार को आश्वासन दे कि जैसे ऊपर से वायु पृथिवी पर नीचे बहता है और जैसे सूर्य का ताप ऊपर से नीचे पृथिवी पर आता है तथा जैसे गौ का दूध स्तनों द्वारा नीचे आता है या बाहर आता है ऐसे ही तेरा मन का रोग तेरे से निकलकर बाहर हो गया ॥ ११ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ १२ ॥

अयम् । मे । हस्तः । भगऽवान् । अयम् । मे । भगवत्ऽतरः । अयम् । मे । विश्वऽभेषजः । अयम् । शिवऽअभिमर्शनः ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मे-अयं हस्तः-भगवान्) चिकित्सकस्य ममायमेको हस्तः सुखैश्वर्यवान् सुखैश्वर्यदाता (मे-अयं भगवत्तरः) चिकित्सकस्य ममापरो हस्तोऽतिशयेन सुखैश्वर्यकरः (मे-अयं विश्वभेषजः) चिकित्सकस्य ममैष हस्तो सर्वरोगस्योषधं रोगचिकित्सन साधनमस्ति (अयं शिवाभिमर्शनः) अयमपरो हस्तः कल्याणस्पर्शनः कल्याणमभि-प्रेरयति ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(मे-अयं हस्तः भगवान्) मुझ चिकित्सक का यह एक हाथ सुखैश्वर्यवाला सुखैश्वर्य का दाता है (मे-अयं भगवत्तरः) मेरा यह दूसरा दक्षिण हाथ और अधिक सुखैश्वर्य देने वाला है (मे-अयं विश्वभेषजः) मेरा यह हाथ सब रोगों का औषध रूप है (अयं शिवाभिमर्शनः) यह मेरा दूसरा दक्षिण हाथ कल्याण का स्पर्श वाला है-कल्याण को प्रवाहित करने वाला है ॥ १२ ॥

भावार्थ—चिकित्सक बालक को अपने हाथों से स्पर्श करता हुआ आश्वासन दे कि तुझे स्वस्थ करना मेरे दायें बायें हाथों का खेल है, तू घबरा नहीं। मेरे हाथों में तुझे स्वस्थ करने का औषध है और शान्ति देने की शक्ति भी है ॥ १२ ॥



एकषष्ठितमं सूक्तम्

ऋषिः—मानवो नाभानेदिष्ठः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ८-१०, १५, १६, १८, १९, २१ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ७, ११, १२, २० विराट् त्रिष्टुप् । ३, २६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ४, १४, १७, २२, २३, २५ पाद निचृत् त्रिष्टुप् । ५, ६, १३ त्रिष्टुप् । २४, २७ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते स्नातकस्य स्वागतं तन्मातापितृवृद्धैः कर्त्तव्यम्, तस्य ऋत्विग्भिर्विवाहः, पत्न्या अत्यागोऽताडनं च पुनर्वानप्रस्थचर्या, तत्र 'ओ३म्' नाम्नो जपः, जन्मजन्मान्तरे गमनम्, आदि ब्रह्मचारिणो मोक्षः, इत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में माता पिता वृद्धों द्वारा स्नातक का स्वागत, ऋत्विजों द्वारा विवाह, पत्नी का अत्याग, अताडन, पुनः वानप्रस्थ होना, वहाँ 'ओ३म्' का जाप करना, जन्म-जन्मान्तर में गमन, आदित्य ब्रह्मचारी का मोक्ष होना, इत्यादि विषय हैं ॥

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन् ॥ १ ॥

इदम् । इत्था । रौद्रम् । गूर्तऽवचाः । ब्रह्म । क्रत्वा । शच्याम् । अन्तः । आजौ । क्राणा । यत् । अस्य । पितरा । मंहनेऽस्थाः । पर्षत् । पक्थे । अहन् । आ । सप्त । होतॄन् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(गूर्तवचाः) मूर्तानि-उद्यमकृतानि वचांसि यस्य तथाभूत-

स्तेजस्वी वक्ता स्नातकः (इदम्-इत्था) इदं सत्यम् "इत्था सत्यनाम" [निघ० ३ । १०] (रौद्रं ब्रह्म) रुद्रः परमेश्वरः "रुद्रः परमेश्वरः" [ऋ० १ । १४३ । ३ दयानन्दः] तस्येदमिति परमेश्वरोक्तं वेदज्ञानम् (क्रत्वा) अध्ययनकर्मणा "क्रतुः कर्मनाम" [निघ० २ । १] (आजौ शच्याम्-अन्तः) प्रगतिशीलायां प्रज्ञायाम् "शची प्रज्ञानाम" [निघ० ३ । ६] अन्तर्धाय यो जातः स्नातकः (यत्) यतः (अस्य ऋाणा पितरा) अस्य कुर्वाणौ-योग्यं कुर्वाणौ उत्पादयन्तौ वा मातापितरौ (मंहनेष्ठाः) मंहनीये प्रशंसनीये पदे ये तिष्ठन्ति ते खलूपाध्यायाः-वृद्धजना वा (पर्षत्) पर्षदि सम्मेलने (पक्थे-अहन्) पक्वविद्यावसरे पूर्णविद्यावति दिवसे, ते सर्वे (सप्तहोतॄन्-आ) अस्य पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाङ् मनश्च "सप्त प्राणाः सप्त होतारः" [ऋ० ३ । २० । १४ दयानन्दः] "इन्द्रियं वै सप्तहोता" [तै० १ । २ । ८ । २] आशंसन्ति-आकुर्वते प्रतियतन्ते तर्पयन्ति वा ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(गूर्तवचाः) उद्यमपूर्ण वचन जिसके हैं ऐसा तेजस्वी वक्ता स्नातक (इदम्-इत्था) इस सत्य (रौद्रं ब्रह्म) रुद्र-परमात्मा उसके उपदिष्ट वेद ज्ञान को (क्रत्वा) अध्ययन कर्म से (आजौ-शच्याम्-अन्तः) प्रगतिशील प्रज्ञा में अन्दर धारण करके स्नातक बन गया है (यत्) यतः (अस्य ऋाणा पितरा) इसके उत्पन्न करने वाले तथा योग्य बनाने वाले माता पिता (मंहनेष्ठाः) मंहनीय-प्रशंसनीय पद पर स्थित उपाध्याय अथवा वृद्धजन (पर्षत्) सभा सम्मेलन में (पक्थे-अहन्) पक्वविद्या वाले-पूर्णविद्या प्राप्त होने के अवसर-दिवस में, वे सब (सप्तहोतॄन्-आ) इसकी पांच ज्ञानेन्द्रियां वाणी और मन-सातों को आशंसित करते हैं-संस्कृत करते हैं या तृप्त करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो वेदज्ञान का अध्ययन करके उद्यमशील तेजस्वी स्नातक बन जाये उस अवसर पर उसके उपाध्याय माता पिता तथा वृद्धजन अपने व्यावहारिक अनुभवों से उसके मन ज्ञानेन्द्रिय वाणी को संस्कृत करें, उसके व्यवहारों का ज्ञान प्रदान करें ॥ १ ॥

स इद्दानाय दभ्याय वन्वञ्च्यवानः सूदैरमिमीत वेदिम् ।
तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इत ऊति सिञ्चत् ॥ २ ॥

सः । इत् । दानाय । दभ्याय । वन्वन् । च्यवानः । सूदैः । अमिमीत । वेदिम् । तूर्वयाणः । गूर्तवचःऽतमः । क्षोदः । न । रेतः । इतःऽऊति । सिञ्चत् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः) विद्यास्नातकः (इत्) अवश्यम् (च्यवानः) च्यावयिता पापानाम् (दानाय) अन्येभ्यो विद्यादानाय (दभ्याय) दोषदम्भनाय (वन्वन्) स्वयंवरं वधूं वा सम्भजमानः (सूदैः-वेदिम्-अमिमीत) सुवृक्तिभिर्ज्ञानामृत-क्षारयद्भिः-ऋत्विग्भिः सह विवाहवेदिं सज्जीकरोति (तूर्वयाणः) पापनाशनाशनाय यानं गमनं यस्य तथाभूतः सः (गूर्तवचस्तमः) अतिशयेन तेजस्वी वक्ता (क्षोदः-न रेतः) जलसमानं स्वकीयं वीर्यम् (इतः-ऊति) इतो विधानतः स्ववंशरक्षणवर्धनाय (सिञ्चत्) पत्न्यां सिञ्चति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः) वह विद्यास्नातक (इत्) अवश्य (च्यवानः) पापों का नष्ट करने वाला (दानाय) अन्यों को विद्या दान देने के लिए (दभ्याय) दोषनाशन के लिए (वन्वन्) स्वयंवर के लिए या वधू को स्वीकार करने के लिए (सूदैः-वेदिम्-अमिमीत) ज्ञानामृत बरसाने वाले ऋत्विजों के सहयोग से विवाह वेदी को तैयार करता है (तूर्वयाणः) पापनष्ट करने के लिए गमन जिसका है वह ऐसा (गूर्तवचस्तमः) अत्यन्त तेजस्वी वक्ता (क्षोदः-न रेतः) जल समान अपने वीर्य को (इतः-ऊति) इस विधान से स्ववंश रक्षण और वर्धन के लिए (सिञ्चत्) पत्नी में सींचता है ॥ २ ॥

भावार्थ—गृहस्थ में जाने वाला विद्यास्नातक अपने गुणकर्मानुसार वधू का स्मरण करे। ऊंचे ज्ञानामृत तथा वेदामृत बरसाने वाले ऋत्विजों के सहयोग से वेदी तैयार कर विधान पूर्वक विवाह करे अपने वंश की वृद्धि के लिए। साथ-साथ अपनी विद्या का लाभ देता रहे ऋषि-ऋण चुकाने के लिए ॥ २ ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ ॥ ३ ॥

मनः । न । येषु । हवनेषु । तिग्मम् । विपः । शच्या । वनुथः । द्रवन्ता । आ । यः । शर्याभिः । तुविऽनृम्णः । अस्य । अश्रीणीत । आऽदिशम् । गभस्तौ ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(येषु हवनेषु) येषु खल्वामन्त्रणेषु "हवनश्रुतः-ह्वानश्रुतः" [निरु० ६ । २०] विद्याग्रहणेषु वा (मनः- न तिग्मम्) मन इव तीव्रगतिकम् "तिग्म तीव्रम्" [ऋ० १ । १३० । ४ दयानन्दः] (विपः) विपम् "सुपां सु····" [अष्टा० ७ । १ । ३६] 'इति सुप्रत्ययः' मेधाविनमधीतविद्यंस्नातकम् (द्रवन्तां शच्या वनुथः) प्राप्नुवन्तौ मातापितरौ स्त्रीपुरुषौ वाचा वाक्सत्कारेण "शची वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] सम्भजतः स्निह्यतः 'पुरुषव्यत्ययः' (यः) यस्नातकः (तुविनृम्णः) बहुविद्याधनोऽस्ति (अस्य शर्याभिः) स्नेहमयीभिरङ्गुलिभिः "शर्या अङ्गुलिनाम" [निघ० २ । ५] (आदिशं गभस्तौ-आश्रीणीत) आदेशनं वचनं पाणौ हस्ते गृहीत्वेव "पाणी वै गभस्ती" [श० ४ । १ । १ । २] सर्वो जनः समन्तात् पोषयेत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(येषु हवनेषु) जिन आमन्त्रणों में या विद्या ग्रहणप्रसङ्गों में (मनः-न तिग्मम्) मन के समान तीव्र गति वाले (विपः) मेधावी शिक्षित स्नातक को (द्रवन्तां शच्या वनुथः) प्राप्त करते हुए माता पिता या स्त्री पुरुष वर्ग वाणी द्वारा सत्कार करते हैं-स्नेह करते हैं (यः) जो स्नातक (तुविनृम्णः) बहुत विद्याधन वाला है (अस्य शर्याभिः) इसकी स्नेहमयी अंगुलियों के द्वारा (आदिशं गभस्तौ-आश्रीणीत) आदेश वचन को हाथ में ग्रहण करते हुए जैसे सब जन भलीभांति पोषण करें-अनुमोदन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्नातक जब माता पिता या स्त्री पुरुषों में विद्याप्राप्ति के अनन्तर उपस्थित हो

तो उसका स्नेह से स्वागत करें और उसके विद्यावचनों को हाथ में जैसे ग्रहण करने के समान ग्रहण करें और उसे अपना अनुमोदन प्रदान करें ॥ ३ ॥

कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ।
वीतं मे यज्ञमा गतं मे अन्नं ववन्वांसा नेषमस्मृतध्रू ॥ ४ ॥

कृष्णा । यत् । गोषु । अरुणीषु । सीदत् । दिवः । नपाता । अश्विना । हुवे । वाम् । वीतम् । मे । यज्ञम् । आ । गतम् । मे । अन्नम् । ववन्वांसा । न । इषम् । अस्मृतध्रू इत्यस्मृतऽध्रू ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवः-नपाता-अश्विना) ज्ञानप्रकाशकस्य न पातयितारौ सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ ! (यत्) यतो यदा वा (अरुणीषु गोषु) मदीयेषु शुभ्रज्ञानरश्मिषु (कृष्णा सीदत्) रात्रिरिवाज्ञानधारा सीदेत् तदा (अस्मृतध्रू वां हुवे) ज्ञानस्मरणं स्मृतिपथगतं पुनर्धारणं कारयितारौ युवामहमाह्वयामि "धृ धारणे" [भ्वादिः] ततः कुः प्रत्ययः, औणादिकः' (मे यज्ञम्-आगतम्) मम गृहस्थयज्ञमागच्छतम् (मे-अन्नं वीतम्) मम अन्नम् मया समर्पितं भोजनं भक्षयतम् (इषं ववन्वांसा-न) मनोवाञ्छां भृशं सेवमानौ न-सम्प्रति पुनः स्मारयथः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवः-नपाता-अश्विना) ज्ञानप्रकाशक के न गिराने वाले सुशिक्षित स्त्रीपुरुषो ! (यत्) जिससे अथवा जब (अरुणीषु गोषु) मेरी शुभ्रज्ञानरश्मियों में (कृष्णा सीदत्) रात्रि के समान अज्ञान धारा बैठ जाये-आ जाये, तब (अस्मृतध्रू वां हुवे) ज्ञान का स्मरण-स्मृतिपथ प्राप्त पुनः धारण कराने वालों-तुम दोनों को मैं आह्वान करता हूँ (मे यज्ञम् आगतम्) मेरे गृहस्थ यज्ञ को प्राप्त होओ (मे-अन्नं वीतम्-वीतम्) मेरे अन्न को-मेरे द्वारा समर्पित भोजन को खाओ (इषं ववन्वांसा-न) मनोवाञ्छा को भली भांति पूरा करते हुए सम्प्रति फिर स्मरण कराते हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्नातक विद्या को अध्ययन करके ज्ञान का प्रकाश करने वाला होता है। उसे अपने से बड़े सुशिक्षित स्त्री पुरुषों को सम्बोधित करके कहना चाहिए कि मेरे ज्ञान प्रकाश के कार्य में कोई अज्ञान की धारा आ जाये तो मुझे सावधान करें-चेतावे और कभी-कभी उन्हें अपने घर बुलाकर भोजन करावें ॥ ४ ॥

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत् ।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा ॥ ५ ॥

प्रथिष्ट । यस्य । वीरऽकर्मम् । इष्णत् । अनुऽस्थितम् । नु । नर्यः । अप । औहत् । पुनरिति । तत् । आ । वृहति । यत् । कनायाः । दुहितुः । आः । अनुऽभृतम् । अनर्वा ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यस्य वीरकर्मम्-प्रथिष्ट) यस्य गृहस्थस्य पुत्रकर्म पुत्रार्थकर्म वीर्यसेचनम् "पुत्रो वै वीरः" [श० ३ । ३ । १ । १२] प्रथितं प्रथते वा (इष्णात्-अनुष्ठितम्) पुत्ररूपेण प्राप्तम् "इष्णन् प्राप्नुवन्" [ऋ० ४ । १७ । ३ दयानन्दः] सेवितं सेवायां सफलीभूतं युवानम् (पुनः-तत्-आवृहति) पुनस्तं स समन्तादुद्यच्छति पुत्रोत्पादनेन (नु नर्यः-अपौहत्) नरेभ्यो हितो हितकरः सन् सर्वकार्यभारं त्यजेत् (यत्) यतः (कनायाः-दुहितुः-अनुभृतम्-आस्) कान्तायाः सन्तानदोहनयोग्यायाः पत्न्याः-आनुकूल्येन धारितमासीत् (अनर्वा) स्वस्मिन् समर्थोऽनन्याश्रमी जातः ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यस्य वीर कर्मम्-प्रथिष्ट) जिस गृहस्थ का पुत्रकर्म-पुत्रोत्पादनार्थ कर्म वीर्यसेचन प्रथित-पुष्ट होता है (इष्णत्-अनुष्ठितम्) पुत्ररूप से प्राप्त सफलीभूत को (पुनः-तत् आवृहति) फिर उसको वह भलीभांति उत्साहित करता है पुत्रोत्पादन द्वारा (नु नर्यः-अपौहत्) नरों का अवश्य हितकर होता हुआ सब कार्यभार को त्याग दे (यत्) जिससे कि (कनायाः दुहितुः-अनुभृतम्-आस्) सन्तान दोहन योग्य-उत्पादन योग्य कान्ता की अनुकूलता में धारण किया है (अनर्वा) अपने में समर्थ स्वाश्रय वाला हो जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—गृहस्थ का लक्ष्य सन्तान उत्पादन करना है तदर्थ वीर्य सेचन करने पर कमनीय सन्तान को दोहने वाली पत्नी में वह पुष्ट होकर सन्तान के रूप में उत्पन्न हो जाता है और वह युवा बन जाता है । तब पिता उसे पुत्र परम्परा चलाने के लिए उत्साहित करता है । जब वह पुत्र पुत्रवान् बन जाता है तो फिर उसका पिता गृहस्थ को त्याग दे अन्य मनुष्यों के हितकार्य करने के लिए ॥ ५ ॥

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥ ६ ॥

मध्या । यत् । कर्त्वम् । अभवत् । अभीके । कामम् । कृण्वाने । पितरि । युवत्याम् । मनानक् । रेतः । जहतुः । विऽयन्ता । सानौ । निऽसिक्तम् । सुऽकृतस्य । योनौ ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत् युवत्यां कर्त्वम्-अभवत्) यदा युवत्यां भार्यायां पुत्रोत्पादनकर्त्तव्यं पूर्णं भवति (पितरि कामंकृण्वाने-अभीके) जीवति पितरि तदाश्रमे पुत्रस्य पुत्रोत्पादनं कामं कुर्वति सति तत्सम्मुखे (वियन्तौ मनानक्-रेतः-जहतुः) विशिष्टतया प्राप्नुवन्तौ पतिपत्न्यौ-अल्पाः प्रजास्तु त्यजताम् "रेतः प्रजाः" [ऐ० आ. २ । १ । ३] सुकृतस्य योनौ सानौ निषक्तम्) पुण्यकर्मणः पितृणस्य प्रतीकारायगृहे गृहाश्रमे विभक्ते जगति निषक्तं निषेचनीयं कर्त्तव्यं भवति "सानौ विभक्ते जगति" [ऋ० १ । १४६ । २ दयानन्दः] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत् युवत्यां कर्त्वम्-अभवत्) जब कि युवती भार्या में पुत्रोत्पादन से कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है (पितरि कामं कृण्वाने-अभीके) जीवित पिता में-उसके आश्रय पुत्र का पुत्र उत्पादन की कामना हो जाने पर उसके सम्मुख (वियन्तौ मनानक्-रेतः-जहतुः) विशिष्टता से प्राप्त होते हुए पति पत्नी अल्प सन्तानों को तो त्याग दें-उत्पन्न करें (सुकृतस्य योनौ सानौ निषक्तम्) पुण्यकर्म के अर्थात् पितृ ऋण के प्रतीकार हो जाने पर गृहाश्रम में विशेष सेवन करने योग्य जगत् में निषेक करना कर्त्तव्य होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—युवती भार्या में पुत्रोत्पादन के लिए वीर्य निषेक करना कर्त्तव्य होता है। जीवित पिता के होते हुए कम से कम प्रजा तो अवश्य उत्पन्न करे। इसके लिए गृहस्थ आश्रम पुण्य का स्थान है। विशेष सेवनीय जगत् में सन्तान परम्परा के लिए निषेक करना आवश्यक है। यह गृहस्थाश्रम की परम्परा है ॥ ६ ॥

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत् ।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ ७ ॥

पिता । यत् । स्वाम् । दुहितरम् । अधिऽस्कन् । क्ष्मया । रेतः । सम्ऽजग्मानः । नि । सिञ्चत् । सुऽआध्यः । अजनयन् । ब्रह्म । देवाः । वास्तोः । पतिम् । व्रतऽपाम् । निः । अतक्षन् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(क्ष्मया सञ्जग्मानः सन्तानस्य भूमिरूपया भार्यया सङ्गच्छमानः (रेतः-निषिञ्चन्) वीर्यं गर्भाधानरूपेण निषिञ्चन् सन् (पिता स्वांदुहितरम्-अधिष्कन्) पिता स्वां कन्यां प्राप्नोति-उत्पादयति "स्कन् निस्सारयतु" [यजु० १ । २६ दयानन्दः] "स्कन्दन्ति-प्राप्त होते हैं" [ऋ० ५ । ५१ । ३ दयानन्दः] न तु पुत्रम् (स्वाध्यः-देवाः-ब्रह्म जनयन्) सु-आध्यातारः-दूरदर्शिनो विद्वांसो ज्ञानं प्रादुर्भावयन्ति मन्यन्ते घोषयन्ति (वास्तोष्पतिं व्रतपां निर्-अतक्षन्) यत् तां कन्यां गृहस्यपतिं स्वामिनीं कर्मपालिकां पितृकर्मरक्षिकां निर्धारयन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(क्ष्मया सञ्जग्मानः) सन्तान की भूमिरूप पत्नी से सङ्गत होता हुआ, तथा (रेतः-निषिञ्चन्) गर्भाधान रीति से वीर्य का सिञ्चन् करता हुआ (पिता स्वां दुहितरम्-अधिष्कन्) पिता अपनी कन्या को प्राप्त करता है-उत्पन्न करता है-पुत्र नहीं प्राप्त करता, तब (स्वाध्यः-देवाः-ब्रह्म जनयन्) दूरदर्शी विद्वान् ज्ञान को-गृहस्थ ज्ञान को नियम को प्रकट करते हैं घोषित करते हैं (वास्तोष्पतिं व्रतपां निर्-अतक्षन्) उस कन्या को गृहपति-घर की स्वामी रूप में पितृकर्म की रक्षिका निर्धारित करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—यदि पुरुष के पत्नी समागम अर्थात् वीर्यसिञ्चन करने पर पुत्र को न प्राप्त करके केवल कन्या को प्राप्त करता है तब वह कन्या पितृकर्म की रक्षिका तथा पिता के घर की-सम्पत्ति की स्वामी होती है। ऐसी वेद की परम्परा एवं वैदिक विद्वानों की मान्यता है ॥ ७ ॥

स ईं वृषा न फेनमस्यदाजौ स्मदा परैदप दभ्रचेताः ।
सरत्पदा न दक्षिणा परावृङ् न ता नु मे पृशन्यो जगृभ्रे ॥ ८ ॥

सः । ईम् । वृषा । न । फेनम् । अस्यत् । आजौ । स्मत् । आ । परा । ऐत् । अप । दभ्रऽचेताः । सरत् । पदा । न । दक्षिणा । पराऽवृक् । न । ताः । नु । मे । पृशन्यः । जगृभ्रे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-ईं वृषा-आजौ फेनम्-अस्यत्) स खलु दुहितुः सेचकः पतिस्तस्यां प्राप्तायां कन्यायामपां फेनमिव प्राणानां तत्त्वं वीर्यं क्षिपति तदभीष्टम्, परन्तु (दभ्रचेताः-स्मत्-आ-अप परा-ऐत्) अल्पमनस्कः सर्वधनलोभेन तुच्छभाववान् 'अस्मत्-अकारलोपश्छान्दसः' अस्मत्तः समन्तात् खलु दूरमेव गच्छेत्–तिष्ठेत् (दक्षिणा न पदा सरत् परावृक्) दक्षिणाम्–'अमो लुक् छान्दसः' दीयमानां दुहितरं कन्याम् "दशतेर्वा दानकर्मणः" [निरु० १ । ७] पादेन न सरेत्-क्षिपेत् न त्यजेत् (मे ताः पृश्न्यः-न जगृभ्रे) मम ताः–मया सह स्पर्शकर्त्र्यः पृथिवी भक्तीः सम्पत्तीः "इयं पृथिवी वै पृश्निः" [तै० १ । ४ । १ । ५] "स्पृशति संयुक्तो भवति पृश्निः" [उणा० ४ । ५२] न गृह्णीयात् ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-ई वृषा-आजौ फेनम्-अस्यत्) वह दुहिता का वीर्यसेचक-पति उस प्राप्त कन्या में प्राणों का तत्त्व वीर्य फेंकता है-छोड़ता है, वह अभीष्ट है परन्तु (दभ्रचेताः-स्मत्) अल्पमन वाला सब धन के लोभ से तुच्छ भावना वाला हमसे (आ-अप परा-ऐत्) भलीभांति रूप से दूर हो जाये-दूर रहे (दक्षिणा न पदा सरत् परावृक्) दी जाने वाली कन्या को पैर से न ठुकराये-अनादर करके न छोड़े (मे ताः पृश्न्यः-न जगृभ्रे) मेरी उन अर्थात् मेरे साथ स्पर्श करने वाली भूमि सम्पत्तियों को ग्रहण न करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—कन्या का पति पिता द्वारा दी हुई कन्या में सन्तान उत्पन्न करे यह तो अभीष्ट है परन्तु कन्या के पिता की भूमि आदि सारी सम्पत्ति लेने के लोभ में कन्या का ठुकराना-उसे त्याग देना निकृष्ट कार्य है । ऐसा नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

मक्षू न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीददूधः ।
सनितेध्मं सनितोत वाजं स धर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत् ॥ ९ ॥

मक्षु । न । वह्निः । प्रऽजायाः । उपब्दिः । अग्निम् । न । नग्नः । उप । सीदत् । ऊधः । सनिता । इध्मम् । सनिता । उत । वाजम् । सः । धर्ता । जज्ञे । सहसा । यविऽयुत् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रजायाः-वह्निः) दुहितुर्वोढा (उपब्दिः) उपेत्य विवाह्य

कन्यामवद्यति पीडयति-पीडकः सन् "दो अवखण्डने" [दिवादिः] 'उप-अव-उपसर्गद्वयपूर्वात् किः प्रत्ययः, पृषोदरादित्वात् सिद्धिः' (अग्निं न नग्नः) अग्निमिव कामातुरः सन् (ऊधः-मक्षु न-उपसीदत्) रात्रौ "ऊधः-रात्रिनाम" [निघ० १ । ७] तां कन्यां सद्यः सहसा न प्राप्नुयात्-न स्पृशेत (इध्मं सनिता-उत वाजं सनिता सः-धर्ता) विवाहयज्ञे समिधानं सम्भजतीति तच्छीलः, अपि च स्वबलं सम्भजतीति तच्छीलः सः धर्ता-पोषयिता (यवीयुत्) कन्यां मिश्रण शीलां मिश्रयिता सन् (सहसा यज्ञे) योग्यबलेन पुत्रं जनयति पुत्रभाग्भवति नान्यथा, तस्मात् पत्न्याः खल्वनादरो न कर्त्तव्यः ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रजायाः-वह्निः) दुहिता-कन्या का वोढा-पति (उपब्दिः) विवाह करके कन्या को पीड़ित करता है, पीडक होता हुआ (अग्निं न नग्नः) अग्नि की भांति कामातुर हुआ (ऊधः-मक्षु न उपसीदत्) रात में कन्या को सहसा प्राप्त न हो-न छूये (इध्मं सनिता-उत वाजं सनिता सः-धर्ता) विवाहयज्ञ में समिधाओं का आधान करने वाला-सेवन करने वाला और अपने बल का सेवन करने वाला वह पोषक (यवीयुत्) संयुक्त योग्य कन्या को संयुक्त होने वाला (सहसा जज्ञे) योग्य बल से पुत्र को उत्पन्न करता है अर्थात् पुत्र प्राप्ति का अधिकारी बनता है अन्यथा नहीं, इसलिए पत्नी का अनादर न करे ॥ ९ ॥

भावार्थ—कन्या का वोढा अर्थात् पति कन्या को कष्ट देने वाला न बने और बलात् उसका स्पर्श न करे। विवाह काल में अर्थात् विवाह संस्कार में विधि से अग्न्याधान करके उसमें पुत्र उत्पन्न करने का अधिकारी बना है अतः उसमें योग्य सन्तान को उत्पन्न करे, उसका कभी अनादर न करे ॥ ९ ॥

मक्षू कनायाः सख्यं नवंग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन् ।
द्विबर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन् ॥ १० ॥

मक्षु । कनायाः । सख्यम् । नवऽग्वाः । ऋतम् । वदन्तः । ऋतऽयुक्तिम् । अग्मन् । द्विऽबर्हसः । ये । उप । गोपम् । आ । अगुः । अदक्षिणासः । अच्युता । दुधुक्षन् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(नवग्वाः) नवीनशिक्षिताः स्नातकाः "नवग्वाः-नवीन शिक्षाविद्याप्राप्ताः" [यजु० ११ । १६ दयानन्दः] (ऋतं वदन्तः) वेदज्ञानं सत्यं वा वदन्तः-तदनुसरन्तः (कन्यायाः सख्यम्) कन्यायाः सख्यं सखित्वं पत्नीसम्बन्धम् (मक्षु-ऋतयुक्तिम्-अग्मन्) सद्यः स्वार्थमनपेक्ष्य विवाहसंस्कारयज्ञप्रक्रियामनुसरन्तो गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति (द्विबर्हसः) ते द्वयोः स्थानयोः पितृश्वसुरगृहयोर्वर्धकाः प्रतिष्ठापकाः "द्विबर्हाः-द्वयोः स्थानयोः परिवृढः" [निरु०६ । १७] (ये गोपम्-उप-आ-अगुः) ये खलु-इन्द्रियरक्षणं जितेन्द्रियत्वं प्राप्नुवन्ति (अदक्षिणासः) बाह्यधनमपेक्षमाणाः (अच्युता दुधुक्षन्) अच्युतानि-स्थिराणि फलानि दुहन्ति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(नवग्वाः) नवीन शिक्षित स्नातक (ऋतं वदन्तः) वेदज्ञान या सत्य प्रतिज्ञावचन कहते हुए या उसके अनुसार आचरण करते हुए (कन्यायाः सख्यम्) कन्या के सखित्व-पत्नी सम्बन्ध को (मक्षु-ऋतयुक्तिम्-अग्मन्) तुरन्त स्वार्थ को अपनेक्षित करके विवाह संस्कार-यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार प्राप्त करते हैं (द्विबर्हसः) वे दोनों अर्थात् पिता और श्वसुर के घरों को बढाने वाले (ये गोपम्-उप-आ-अगुः) जो इन्द्रिय-रक्षण को-जितेन्द्रियता को प्राप्त होते हैं (अदक्षिणासः) बाह्यधन की अपेक्षा न करते हुए (अच्युता दुधुक्षन्) स्थिर फलों को दोहते पाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—नव स्नातक यज्ञ वेदि पर विवाह संस्कार में वधू की कामना करते हुए वेदमंत्रों का उच्चारण तथा तदनुसार प्रतिज्ञा करते हुए योग्य कुमारी से विवाह करें। दोनों कुलों अर्थात् पितृ-कुल और श्वसुरकुल की कल्याण वृद्धि चाहते हुए स्वयं श्वसुरकुल से धन की कामना-दहेज-प्राप्ति की इच्छा न करते हुए गृहस्थ के स्थिर सुखों को प्राप्त करें ॥ १० ॥

मक्षू कनायाः सख्यं नवीयो राधो न रेत ऋतमित्तुरण्यन् ।
शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सबर्दुघायाः पय उस्रियायाः ॥ ११ ॥

मक्षु । कनायाः । सख्यम् । नवीयः । राधः । न । रेतः । ऋतम् । इत् । तुरण्यन् । शुचि । यत् । ते । रेक्णः । आ । अयजन्त । सबः॒ऽदुघायाः । पयः । उस्रियायाः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(कनायाः-सख्यं नवीयः-राधः-मक्षु) कन्यायाः सखित्वं स्तुत्यतरं धनं सद्यः प्रापणीयम् (रेतः-न-ऋतम्-इत्-तुरण्यन्) यथा स्वकीयं वीर्यं तदमृतम् "ऋतममृतमित्याह" [जै० २ । १६०] प्राणाः प्रेरयन्ति (यत्-ते शुचि रेक्णः-आयजन्त) (यत् खलु तुभ्यं शुभ्रं पुत्ररूपधनं समन्ताद् ददति "रेक्णः परिषद्यंह्यरणस्य रेक्णः" । रेक्ण-इति धननाम रिच्यते प्रयतः" [निरु० ३ । १] (सबर्दुघायाः-उस्रियायाः पयः) सर्वकामदोग्ध्र्याः "सर्वदुघा सर्वान् कामान् पूरयन्ती" [ऋ० १ । १३४ । ४ दयानन्दः] गोर्दुग्धमिवास्ति यद्वा स्वर्दोग्ध्र्याः स्वानन्ददोग्ध्र्याः पत्न्याः-दुग्धरूपमस्ति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(कनायाः सख्यं नवीयः-राधः-मक्षु) कन्या का सखापन अत्यन्त स्तुत्य धन तुरन्त प्राप्त करने योग्य है (रेतः-न-ऋतम्-इत्-तुरण्यन्) जैसे अपना वीर्य अमृत है जिसे प्राण प्रेरित करते हैं (यत्-ते शुचि रेक्णः-आयजन्त) जिसे तेरे लिए शुभ्र पुत्ररूप धन को देते हैं (सबर्दुघायः-उस्रियायाः पयः) सब कामों-इच्छाओं को दोहने वाली गौ के दुग्ध की भांति है अथवा स्वर्ग को दोहने वाली या स्वानन्द को दोहने वाली पत्नी का दुग्ध रूप है-दुग्ध की भांति है ॥ ११ ॥

भावार्थ—विवाह संस्कार में कुमारी का पत्नी-सम्बन्ध प्रशंनीय धन रूप है। अपने प्राणों का तत्त्व-वीर्य पत्नी में जाकर के सन्तानरत्न को उत्पन्न करता है तथा पत्नी सब कामनाओं को दुहने वाली है। गार्हस्थ्य अमृत को दूहने वाली अर्थात् स्वानन्द को दुहने वाली है ॥ ११ ॥

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीति वक्तरी रराणः ।
वसोर्वसुत्वा कारवोऽनेहा विश्वं विवेष्टि द्रविणमुप क्षु ॥ १२ ॥

पश्वा । यत् । पश्चा । विऽयुता । बुधन्त । इति । ब्रवीति । वक्तरि । रराणः । वसोः । वसुऽत्वा । कारवः । अनेहाः । विश्वम् । विवेष्टि । द्रविणम् । उप । क्षु ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पश्चात् पश्वा वियुता) गृहस्थानन्तरम्, पशुवत्तया पशुप्रवृत्त्या वियुक्तानि रहितानि–अध्यात्मसुखानि (बुधन्त-इति ब्रवीति) अन्यान् सम्बोध्य हे जना यूयं जानीध्वमहं खलु ज्ञातवान्–इति ब्रवीति (वक्तरि रराणः) वेदवक्तरि–ज्ञानदातरि परमात्मनि रममाणः सन् (वसोः-वसुत्वा कारवः) यः खलु वासयितुर्धनस्य वासयिता कारवः–कारुः सृष्टिकर्त्ता 'बहुवचनं पूजार्थम्' (अनेहाः) निर्दोषः (विश्वं द्रविणं क्षु-उपविवेष्टि) समस्तं धनं भोजनं व्याप्नोति स्वाधीने स्थापयति ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(पश्चात् पश्वा वियुता) गृहस्थ के अनन्तर पशु प्रवृत्ति से रहित अध्यात्मसुखों को (बुधन्त-इति ब्रवीति) अन्यों को सम्बोधन करके, हे जनो तुम जानो मैं भी जान चुका हूँ ऐसा कहता है (वक्तरि रराणः) ज्ञानदाता-वेद वक्ता परमात्मा में रममाण हुआ (वसोः वसुत्वा कारवः) जो बसाने वाले धन का बसाने वाला सृष्टिकर्त्ता (अनेहाः) निर्दोष (विश्वं द्रविणं क्षु-उपविवेष्टि समस्त धन को-भोजन को व्याप्त हो रहा है-स्वाधीन स्थापित कर रहा है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मानव को सदा गृहस्थ के अन्दर ही रहना उचित नहीं । उसे समय पर त्याग कर आध्यात्मिक सुखों की ओर चलना चाहिए जो सब बसाने वाले धनों का भी बसाने वाला परमधन तथा जो सृष्टि का रचयिता परमात्मा है उसमें स्वयं रमण करता हुआ अन्यों को भी उसमें रमण करने का उपदेश दे ॥ १२ ॥

तदिन्न्वस्य परिषद्वानो अग्मन् पुरू सदन्तो नार्षदं बिभित्सन् ।
वि शुष्णस्य संग्रथित मनर्वा विदत्पुरुप्रजातस्य गुहा यत् ॥ १३ ॥

तत् । इत् । नु । अस्य । परिऽसद्वानः । अग्मन् । पुरु । सदन्तः । नार्सदम् । बिभित्सन् । वि । शुष्णस्य । सम्ऽग्रथितम् । अनर्वा । विदत् । पुरुऽप्रजातस्य । गुहा । यत् ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य) एतस्य वैराग्यवत आत्मनः (तत्-इत्-नु) तत्खलु पुनः (परिषद्वानः) परितो वर्तमानाः प्राणाः–इन्द्रियशक्तयः (अग्मन्) शरीरे प्राप्ता भवन्ति-व्यक्ती भवन्ति (पुरु सदन्तः) बहूनि सर्वाण्यङ्गानि प्राप्नुवन्तः-इन्द्रियप्राणाः (नार्षदं बिभित्सन्) शरीरम् "प्राणो वै नृषत्" [श० ६ । ७ । ३ । ११] प्राणेन निर्वृत्तं पूरितं वा भेत्तुमिच्छन्–विषयग्रहणाय–अयोग्यं कुर्वन् भिनत्तीत्यर्थः, तत्र स्व स्व छिद्राणि

विषयग्रहणानि भिनत्ति विषयरहितानि करोति (अनर्वा) अनन्याश्रितः-इन्द्रियानुगम-रहितोनिर्विषयकः (पुरुप्रजातस्य शुष्णस्य संग्रथितम्) बहुप्रकारेण जातस्य शुष्मिणो बल-वतो वैराग्यवता आत्मनः सङ्कल्पितम् (विविदत् गुहा यत्) विशिष्टतया जानाति यत् खलु हृदय गुहायां वर्तते परमात्मा ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य) इस वैराग्यवान् आत्मा के (तत्-इत्-नु) वह फिर (परिषद्वानः) सर्वतः वर्तमान प्राण-इन्द्रिय शक्तियां (अग्मन्) शरीर में प्राप्त होती हैं। व्यक्त होती हैं। (पुरु सदन्तः) बहुत या सब अङ्गों को प्राप्त होते हैं (नार्षदं विभित्सन्) प्राण से निर्वृत्त-सिद्ध या पूरित शरीर को विषय ग्रहण के अयोग्य करते हुए अर्थात् इन्द्रियों के छिद्रों को विषय ग्रहण से रहित करता है (अनर्वा) अनन्य-आश्रित अर्थात् इन्द्रियों के पीछे न चलता हुआ-निर्विषयक हुआ (पुरु प्रजातस्य शुष्णस्य संग्रथितम्) बहुत प्रकार से प्रसिद्ध हुए बलवान् वैराग्यवान् आत्मा का सङ्कल्पित (विविदत् गुहा यत्) विशिष्टतया जानता है जो हृद्गुहा में वर्तमान परमात्मा है ॥१३॥

भावार्थ—वैराग्यवान् आत्मा प्राणों से पूरित शरीर के अन्दर वर्तमान हुआ इन्द्रियों के विषयग्रहण छिद्रों को विषयरहित करके हृदय गुहा में परमात्मा को साक्षात् करता है ॥ १३ ॥

भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्वर्ण ये त्रिषधस्थे निषेदुः ।
अग्निर्ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतर्ऋतस्य होताध्रुक् ॥ १४ ॥

भर्गः । ह । नाम । उत । यस्य । देवाः । स्वः । न । ये । त्रिऽसधस्थे । निऽसेदुः । अग्निः । ह । नाम । उत । जातऽवेदाः । श्रुधि । नः । होतः । ऋतस्य । होता । अध्रुक् ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भर्गः-ह नाम) "भृजन्ति पापानि दुःखमूलानि येन" [यजु० ३ । ३५ दयानन्दः] तथाभूतं नाम-ओ३म् (उत) अपि (यस्य देवाः) यस्याश्रये यमाश्रित्य मुमुक्षवः (त्रिषधस्थे स्वः-न निषेदुः) अकारोकारमकारात्मनामकं सह मात्रास्थानेषु यद्वा "कर्मोपासना ज्ञानेषु स्थानं यस्य" [ऋ० ४ । ५० । १ दयानन्दः] "सधस्थे समानस्थाने" [ऋ० ६ । ५२ । १५ दयानन्दः] सुखमिवानुभवन्तो ये तिष्ठन्ति (अग्निः-ह नाम) सोऽग्निर्ज्ञानप्रकाशकोऽपि नाप प्रसिद्धः (उत) अपि (जातवेदाः) जातानि वेद यः सर्वज्ञः (ऋतस्य होता) अध्यात्मयज्ञस्य होता ग्रहीता (अध्रुक्) अद्रोग्धा-स्नेहकर्त्ता स हे ह्वातव्य देव ! (नः श्रुधी) अस्मान् शृणु स्वीकुरु ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(भर्गः-ह नाम) दुःख मूल पापों का भर्जन-भस्मी जिसके द्वारा हो ऐसे 'ओ३म्' नाम-(उत) और (यस्य देवाः) जिसके आश्रय में अथवा जिसको आश्रित करके मुमुक्षुजन (त्रिषधस्थे स्वः-न निषेदुः) अकार-अ, उकार-उ, मकार-म्, इन तीनों के सहयोग से बना हुआ 'ओ३म्' अथवा कर्म, उपासना, ज्ञान में स्थान जिसका है ऐसे आनन्द को अनुभव करते हुए से स्थिर होते हैं (अग्निः-ह नाम) वह ज्ञान प्रकाशक प्रसिद्ध (उत) तथा (जातवेदाः)

जो उत्पन्न हुओं को जानता है ऐसा सर्वज्ञ (ऋतस्य होता) अध्यात्मयज्ञ का ग्रहीता (अध्रुक्) द्रोह न करने वाला-स्नेहकर्ता, वह हे आह्वानयोग्य देव ! (नः श्रुधी) हमें स्वीकार कर ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमात्मा का मुख्य या मुख्य या स्वाभाविक नाम 'ओ३म्' है इसको जानने मानने और उपासना करने से दुःखों के मूल अर्थात् पाप भस्म हो जाते हैं तथा ज्ञान कर्म उपासना द्वारा मुमुक्षु रोग दुःखों से मुक्त हो जाते हैं वह परमात्मा उपासकों के द्वारा किये हुए स्तुति प्रार्थना उपासना का स्वीकारकर्ता है ॥ १४ ॥

उत त्या मे रौद्रावर्चिमन्ता नासत्याविन्द्र गूर्तये यजध्यै ।
मनुष्वद्वृक्तबर्हिषे रराणा मन्दू हितप्रयसा विक्षु यज्यू ॥ १५ ॥

उत । त्या । मे । रौद्रौ । अर्चिऽमन्ता । नासत्यौ । इन्द्र । गूर्तये । यजध्यै । मनुष्वत् । वृक्तऽबर्हिषे । रराणा । मन्दू इति । हितऽप्रयसा । विक्षु । यज्यू इति ॥१५॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (उत) अपि च (त्या रौद्रौ-अर्चिमन्ता नासत्यौ) तौ परमेश्वरप्रेरितौ 'रुद्रः परमेश्वरः" [ऋ० १ । १४३ । ३ दयानन्दः] ज्ञानज्योतिष्मन्तौ सत्यव्यवहारकर्त्तारावध्यापकोपदेशकौ (मे गूर्तये यजध्यै) ममोद्यमकृतयै-अध्यात्मयज्ञकरणाय (मनुष्वत्) मनुष्वते मननवते "सुपां सुलुक्...." [अष्टा० ७ । १ । ३९] इति ङेविभक्ते र्लुक् (वृक्तबर्हिषे) त्यक्तगृहस्थोदकसम्बन्धवते "बर्हिः-उदकनाम" [निघ० १ । १२] वैराग्यवते (रराणा) विद्यायां रममाणौ (मन्दू) हर्षयितारौ सुखदातारौ (विक्षु) मनुष्यप्रजासु (हितप्रयसा यज्यू) हिताय प्रयतमानौ ज्ञान यज्ञस्य कर्तारौ भवेतामिति शेषः ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ— (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (उत) और (त्या रौद्रौ-अर्चिमन्ता नासत्यौ) वे दोनों तुझ परमेश्वर प्रेरित ज्ञान ज्योति वाले सत्य व्यवहार कर्त्ता अध्यापक और उपदेशक (मे गूर्तये यजध्यै) मेरे उद्यम कार्य के लिए-अध्यात्मयज्ञ करने के लिए (मनुष्वत्) मनन वाले के लिए (वृक्तबर्हिषे) गृहस्थोदक सम्बन्ध को त्यागे हुए के लिए-वैराग्यवान् के लिए (रराणा) विद्या में रमण करने वालो (मन्दू) हर्षित करने वालो-सुख देने वालो (विक्षु) मनुष्य प्रजाओं में (हित प्रयसा यज्यू) हित के लिए प्रयतमान ज्ञानयज्ञ करने वाले तुम होओ ॥ १५ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक जैसे गृहस्थ आश्रम वालों को सांसारिक व्यवहारों तथा विद्याओं का अध्यापन उपदेश करते हैं ऐसे ही गृहस्थ से निवृत्त वैराग्यवान् हुए वानप्रस्थ भी अध्यात्मयज्ञ और अध्यात्म विद्या का उपदेश करें ॥ १५ ॥

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः ।
स कक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु ॥ १६ ॥

अयम् । स्तुतः । राजा । वन्दि । वेधाः । अपः । च । विप्रः । तरति । स्वऽसेतुः । सः । कक्षीवन्तम् । रेजयत् । अग्निम् । नेमिम् । न । चक्रम् । अर्वतः । रघुऽद्रु ॥ १६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयं राजा वेधाः स्तुतः-वन्दि) अयं राजमानो विधाता परमात्मा स्तोतव्यः 'कृतो बहुलमित्यपि वक्तव्यमिति कृत्यार्थे क्तः' जनैर्वन्द्यते स्तूयते (च) तथा (विप्रः स्वसेतुः-अपः-तरति) विविधरूपेण व्याप्तः स्वकीयसेतुमान् सन् व्याप्यं जगदपि व्याप्नुवन् तज्जगदपि पारयति, यथोक्तं वेदे-"त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" [ऋ० १ । ५२ । १२] "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" [यजु० ४० । ५] (सः-कक्षीवन्तं रेजयत्-अग्निम्) स परमात्मा मातृकक्षे गर्भे जातं देहपाशवन्तमात्मानं जन्मजन्मान्तरं प्रति चालयति, बद्धकौपीनं ब्रह्मचारिणं च मोक्षे प्रेरयति सोऽग्निं सूय च चालयति (नेमिं न चक्रं रघुद्रु-अर्वतः) यथा परिधिमत्-परिधियुक्तं परिधिसहितं सद्योगमनशीलम् रघु "सद्यः" [४ । ५ । १३ दयानन्दः] रथचक्रमश्वाश्चालयन्ति ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयं राजा वेधाः स्तुतः-वन्दि) यह राजमान-सर्वत्र विराजमान विधाता परमात्मा स्तुति करने योग्य है, सब जनों से स्तुत किया जाता है (च) तथा (विप्रः स्वसेतुः-अपः तरति) विविध रूप से व्याप्त अपने ही आश्रय से स्थित-सर्वथा स्वतंत्र व्याप्य जगत् को भी व्याप्त होता हुआ उस जगत् के पार है (सः कक्षीवन्तं रेजयत्) वह परमात्मा मातृकक्ष—गर्भ में उत्पन्न हुए देहपाश वाले आत्मा को जन्मजन्मान्तर में चलता है अथवा बद्धकौपीन ब्रह्मचारी को मोक्ष में प्रेरित करता है (अग्निम्) वह अग्नि सूर्य को चलाता है (नेमिं न चक्रं रघुद्रु-अर्वतः) जैसे परिधि वाले-परिधि युक्त-परिधि सहित तुरन्त गति शील रथचक्र को घोड़े चलाते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा सारे संसार में व्यापक है और उससे बाहर भी है। वह सूर्य आदि को चलाता है-रथ के चक्र की भाँति । माता के गर्भ में जाने वाले जीवात्मा को भी जन्मजन्मान्तर में चलाता है तथा पूर्ण ब्रह्मचारी को मोक्ष में प्रेरित करता है ॥ १६ ॥

स द्विबन्धुर्वैतरणो यष्टा सबर्धुं धेनुमस्वं दुहध्यै ।
सं यन्मित्रावरुणा वृञ्ज उक्थैर्ज्येष्ठेभिरर्यमणं वरूथैः ॥ १७ ॥

सः । द्विऽबन्धुः । वैतरणः । यष्टा । सबःऽधुम् । धेनुम । अस्वम् । दुहध्यै । सम । यत् । मित्रावरुणा । वृञ्जे । उक्थैः । ज्येष्ठेभिः । अर्यमणम् । वरूथैः ॥ १७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-द्विबन्धुः) स परमात्मा जीवात्मानं द्वयोः संसारमोक्षयोर्बन्धयिता सम्बन्धयिता (वैतरणः) द्वयोश्च संसारमोक्षयोर्भोगसुखमोक्षानन्दानां वितरणे पृथक् पृथक् प्रदाने शक्तः (यष्टा) सृष्टियज्ञस्य याजकः (सबर्धुम्-अस्वं धेनुं

दुहध्यै) सर्वकामानां दोग्ध्रीमप्रसूतां मुक्तिरूपां यद्वा वेदवाचम् "धेनुर्वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] यद्वा सर्वलौकिकभोगदोग्ध्रीमनुत्पन्नां प्रकृतिरूपां धेनुं दोग्धुं समर्थोऽस्ति (यत्) यदा (वरूथैः-ज्येष्ठेभिः-उक्थैः) परमात्मनो वरणीयैः श्रेष्ठैः प्रशंसनीयैः स्तुति-प्रार्थनोपासनैः (मित्रावरुणा-अर्यमणं संवृञ्जे) प्राणापानौ मुख्यं प्राणं च सम्यक् त्यजति तद्बन्धनाद् वियुक्तो भवति अथवा तान् प्राणापानमुख्यप्राणान् सङ्गच्छते, प्रकृतेर्भोगायापवर्गाय च "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग) ॥ १७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः- द्विबन्धुः) वह परमात्मा जीवात्मा को दोनों अर्थात् संसार और मोक्ष-में बांधने वाला-सम्बन्ध कराने वाला है (वैतरणः) दोनों अर्थात् संसार और मोक्ष-भोगसुख और मोक्षानन्द- के वितरण-पृथक् पृथक् देने में समर्थ है (यष्टा) सृष्टि यज्ञ का याजक (सबर्दुघाम्-अस्वं धेनुं दुहध्यै) सब कामनाओं की दोहने वाली अप्रसूता मुक्तिरूपा अथवा वेदवाणी को अथवा सब लौकिक भोगों को दोहने वाली अनुत्पन्न प्रकृतिरूप गौ को दोहने में समर्थ है (यत्) जबकि (वरूथैः-ज्येष्ठेभिः-उक्थैः) परमात्मा के वरणीय श्रेष्ठ प्रशंसनीय स्तुति प्रार्थना उपासनाओं से (मित्रावरुणा-अर्यमणं संवृञ्जे) प्राणापान और मुख्य प्राण को भली प्रकार से त्यागता है उनके बन्धन से मुक्त होता है अथवा उनको सङ्गत होता है प्रकृति के भोग और उपवर्ग के लिए क्योंकि भोगापवर्ग के लिए दृश्य है ॥ १७ ॥

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि का उत्पादक है वह जीवात्मा का सम्बन्ध सृष्टि और मुक्ति दोनों से कराता है । मुक्ति अनुत्पन्न है उसका आनन्द स्थायी है । सृष्टि भोगप्रद है । सृष्टि के भोग और मुक्ति के आनन्द वितरण में समर्थ है । जीवात्मा को परमात्मा प्राण साधन देता है जब वह वैराग्यवान् होकर प्राणों को त्यागता है तो मुक्ति में हो जाता है और प्राणों के सहारे से ही अनुत्पन्न प्रकृति के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होने पर भोग प्राप्त करता है । भोगों से ग्लानि होने पर अपवर्ग-मुक्ति में जाता है ॥ १७ ॥

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियंधा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन् ।
सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास ॥ १८ ॥

तत्ऽबन्धुः । सूरिः । दिवि । ते । धियम्ऽधाः । नाभानेदिष्ठः । रपति । प्र । वेनन् । सा । नः । नाभिः । परमा । अस्य । वा । घ । अहम् । तत् । पश्चा । कतिथः । चित् । आस ॥ १८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तद्बन्धुः) स परमात्मा बन्धुर्यस्यात्मनः स आत्मा तद्बन्धुः 'पूर्वोक्तं यथा द्विबन्धुः' (नाभा नेदिष्ठः) रेतस्वानात्मा 'रेतो वै नाभानेदिष्ठः" [ऐ० ६ । २७] परमात्ममध्ये "मध्यं वै नाभिः" [श० १ । २ । ५ । २३] अतिनैकट्येन वर्तमानः (वेनन् प्ररपति) परमात्मानं कामयमानस्तं प्रशंसति स्वात्मना (ते दिवि सूरिः-धियन्धाः) तव मोक्षे प्रेरयिता तथा स्वस्वरूप प्रज्ञां धारयिताऽस्ति (सा नः-वा घ परमा नाभिः) सा हि नः-धीः-प्रजा परमाबन्धिका परमात्मनासह सम्बन्ध-कारयित्री (तत्-

पश्चा-अहम्) यतः पश्चादहं (कतिथः-चित्-आस) कतिपयेषूपासको-आसम्-अस्मि ॥ १८ ॥

भाषान्वयार्थ—(तद्वन्धुः) वह परमात्मा जिसका बन्धु है वह ऐसा जीवात्मा-जीवन्मुक्त (नाभा नेदिष्ठः) आत्मबल वाला परमात्मा के निकट वर्तमान (वेनन् प्ररपति) परमात्मा को चाहता हुआ प्रशंसा करता है (ते दिवि सूरिः- धियन्धाः) तेरा मोक्ष में प्रेरित करने वाला तथा स्वस्वरूप से बुद्धि को धारण करने वाला है (सा नः-वा घ परमा नाभिः) वह हमारी बुद्धि परमात्मा के साथ अत्यन्त सम्बन्ध कराने वाली है (तत्-पश्चा-अहम्) जिससे कि मैं पीछे (कथितः-चित् आस) किन्हीं उपासकों में उपासकहूँ ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिसने उपासना द्वारा परमात्मा को अपनाबन्धु बना लिया वह ऐसा जीवन्मुक्त हुआ परमात्मा के अत्यन्त निकट अर्थात् उसके अन्दर विराजमान हो जाता है। परमात्मा द्वारा प्रज्ञा-बुद्धि उसे मोक्ष में पहुंचा देती है। अन्य मुक्तों की भाँति वह भी मुक्त हो जाता है॥ १८ ॥

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः ।
द्विजा अहं प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना ॥ १९ ॥

इयम् । मे । नाभिः । इह । मे । सधऽस्थम् । इमे । मे । देवाः । अयम् । अस्मि । सर्वः । द्विऽजाः । अहं । प्रथमऽजाः । ऋतस्य । इदम् । धेनुः । अदुहत् । जायमाना ॥ १९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मे इयं नाभिः) ममेषा परमात्मदेवता वेदवाक् प्रज्ञा वा नहनी बन्धिकाऽस्ति (इह मे सधस्थम्) अस्यां ममान्यैर्जीवन्मुक्तैः सहस्थानं भवति (इमे मे देवाः) इमे मम सहस्थाने तिष्ठन्तो देवा इन्द्रियाणि (अयं सर्वः-अस्मि) अयं खल्वात्मा सर्वः सकलकार्यसमर्थोऽस्मि (द्विजाः-अह-प्रथमजाः) द्वाभ्यां मातापितृभ्यां यद्वा वेदज्ञात् मातापितृतश्च जातः प्रथमप्रसिद्धो नित्यः-आत्मा (ऋतस्य-इयं जायमाना धेनुः-अदुहत्) ऋतस्याऽव्यक्तस्य प्रकृतेरियं प्रजायमाना-व्यक्तसृष्टिर्धेनुवन्मह्यं भोगं दोग्धि ॥ १९ ॥

भाषान्वयार्थ—(मे-इयं नाभिः) मेरी ये परमात्म देवता या वेदवाणी या प्रज्ञा बांधने वाली है (इह में सधस्थम्) इसमें अन्य जीवन्मुक्तों के साथ मेरा सहस्थान हैं (इमे मे देवाः) ये मेरे साथ रहने वाले देवता रूप इद्रियां हैं (अयं सर्वः-अस्मि) यह मैं आत्मा सव कार्यों में समर्थ हूँ (द्विजाः-अह- ऋतस्य प्रथमजाः) दो अर्थात् माता और पिता से उत्पन्न हुआ अथवा वेदज्ञ आचार्य से और मातापिता से प्रथम प्रसिद्ध हुआ नित्य आत्मा हूँ (ऋतस्य-इयं जायमाना धेनुः-अदुहत्) अव्यक्त प्रकृति का ये उत्पन्न होने वाली सृष्टि धेनु की भांति मेरे लिए भोग को दोहती है ॥ १९ ॥

भावार्थः—परमात्मा परमादेवता या वेदवाणी अथवा प्रज्ञा मेरा मोक्ष से सम्बन्ध कराने वाली है अन्य जीवनमुक्तों के साथ मेरा यह सहस्थान है-समानाश्रय है। मैं आत्मा सब कार्य करने

में समर्थ हूँ। सृष्टि में मैं मातापिता द्वारा प्रसिद्ध होता हूँ। प्रकृति से प्रकटित हुई यह सृष्टि मुझ आत्मा के लिए भोग का दोहन करती है ।। १९ ।।

अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव स्यति द्विवर्तनिर्वनेषाट् ।

ऊर्ध्वा यच्छ्रेणिर्न शिशुर्दन्मक्षू स्थिरं शेवृधं सूत माता ।। २० ।।

अध । आसु । मन्द्रः । अरतिः । विभाऽवा । अव । स्यति । द्विऽवर्तनिः । वनेषाट् । ऊर्ध्वा । यत् । श्रेणिः । न । शिशुः । दन् । मक्षु । स्थिरम् । शेऽवृधम् । सूत । माता ।। २० ।।

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अनन्तरम् (आसु मन्द्रः-अरतिः-विभावा) आसु विकृतिषु तनूषु सुप्तः "मदि स्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु" [भ्वादिः] गतिमान् विशिष्टतया स्वात्मानं भाति द्योतयति चेतनः (वनेषाट्-द्विवर्तनिः अवस्यति) वननीये शरीरे सन् सहते तदभिभवति "षह अभिभवे" [भ्वादिः] द्विमार्गः–इहलोकं परलोकं च गमनशीलः, यद्वा संसारं मोक्षं प्रति च गमनशीलो वर्तमानं देहं त्यजति यद्वा संसारं त्यजति (यत्-ऊर्ध्वा श्रेणिः) यत्–ऊर्ध्वं श्रेणिर्मुक्तिः (शिशुः-न) शिशु शंसनीयो भवति तद्वत् प्रशंसनीया (दन्) सुखदात्री (मक्षु स्थिरं शेवृधं माता सूते) सद्यः स्थिरं सुखम् "शेवृधं सुखनाम" [निघ० ३ । ६] सा मुक्तिर्माता सती उत्पादयति ।। २० ।।

भाषान्वयार्थ—(अध) अनन्तर (आसु-मन्द्रः-अरतिः-विभावा) इन विकृतियों-शरीरों में सोया हुआ, गतिमान् विशेषरूप से अपने आत्मा को दर्शाता है वह चेतन (वनेषाट्-द्विवर्तनिः-अवस्यति) वननीय शरीर में होता हुआ सहता है, दो मार्गों वाला अर्थात् इस लोक और परलोक में जाने वाला अथवा संसार और मोक्ष के प्रति गमनशील हुआ वर्तमान शरीर को छोड़ता है या संसार को छोड़ता है (यत्-ऊर्ध्वा श्रेणीः) जो ऊंची श्रेणि अर्थात् मुक्ति है, वह (शिशुः-न) प्रशंसनीय होती है (दन्) सुख देने वाली है (मक्षु) स्थिरं शेवृधं माता सूते) वह शीघ्र ही स्थिर सुख को उत्पन्न करती है मुक्तिमाता रूप होती हुई ।। २० ।।

भावार्थ—प्रकृति के विकृतिरूप सब प्राणी शरीर हैं उनमें रहने वाला चेतन आत्मा है जो दो मार्गों पर गति करता है-इस जन्म और अगले जन्म संसार और मोक्ष में । अतः वह नित्य है । इसकी ऊंची स्थिति मुक्ति है जहां इसे स्थायी सुख मिलता है वह सुख की दात्री है-सुख को उत्पन्न करती है उसका सुख अत्यन्त प्रशंसनीय है ।। २० ।।

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः ।

श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः ।। २१ ।।

अध । गावः । उपऽमातिम् । कनायाः । अनु । श्वान्तस्य । कस्य । चित् । परा । ईयुः । श्रुधि । त्वम् । सुऽद्रविणः । नः । त्वम् । याट् । आश्वऽघ्नस्य । ववृधे । सूनृताभिः ॥ २१ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अनन्तरम् (कनायाः-गावः) कमनीयाःस्तुतिवाचः "गौर्वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (उपमातिम्-अनु) स्तुत्या तुल्यं स्तुतिपात्रं परमात्मानमनुलक्ष्य (कस्यचित्-श्वान्तस्य परा-ईयुः) कस्यचिच्छ्रान्तस्य 'वर्णव्यत्ययोऽत्र रेफस्य वकारः' स्तुतिकरणेन श्रान्तभूतस्य जनस्य ताः स्तुतयः प्राप्नुवन्ति, इति प्रसिद्धम् (त्वं सुद्रविणः) परमात्मन् त्वं शोभनाध्यात्मधनयुक्तः सन् (त्वं याट्) त्वमध्यात्मयज्ञं याजय (अश्वघ्नस्य सूनृताभिः-वा वृधे) इन्द्रियाश्वहन्तुर्जितेन्द्रियस्य वाग्भिः स्तुतिभिर्भृशं वर्धय ॥ २१ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध) अनन्तर (कनायाः-गावः कमनीय स्तुतिवाणियाँ (उपमातिम्-अनु) स्तुति के तुल्य-स्तुतिपात्र परमात्मा को लक्ष्य करके (कस्यचित्-श्वान्तस्य परा-ईयुः) किसी स्तुति करने से थके हुए मनुष्य की स्तुतियां परमात्मा को प्राप्त होती हैं ऐसा प्रसिद्ध है (त्वं सुद्रविणः) परमात्मन् तू शोभन अध्यात्मधन युक्त होता हुआ (त्वं याट्) तू अध्यात्मयजन करा (अश्वघ्नस्य सूनृताभिः-वावृधे) इन्द्रियरूप घोड़ों के हन्ता अर्थात् जितेन्द्रिय की स्तुतियों द्वारा बढ़ता है-साक्षात् होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—हृदय से परमात्मा की स्तुतियां करने से जो मनुष्य श्रान्त हो जाता है परमात्मा उसको अपना कृपापात्र बनाता है, उसे अध्यात्मधन प्रदान करता है । उस ऐसे संयमी जन के अन्दर वह स्तुतियों से साक्षात् होता है ॥ २१ ॥

अध त्वमिन्द्र विद्ध्य१स्मान्महो राये नृपते वज्रबाहुः ।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीननेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ ॥ २२ ॥

अध । त्वम् । इन्द्र । विद्धि । अस्मान् । महः । राये । नृऽपते । वज्रऽबाहुः । रक्ष । च । नः । मघोनः । पाहि । सूरीन् । अनेहसः । ते । हरिऽवः । अभिष्टौ ॥ २२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अनन्तरम् (नृपते-इन्द्र) मुमुक्षूणां पालक परमात्मन् ! "नरो हवै देवविशः" [जै० १ । ८६] (त्वं वज्रबाहुः-अस्मान् विद्धि) त्वमोजोवाहकः सन् खल्वस्मान् "वज्रं वा ओजः" [श० ८ । ४ । १ । २०] जानीहि यद् वयं तवोपासका इति (मघोनः-नः-रक्ष च) अध्यात्मयज्ञवतोऽस्मान् रक्ष "यज्ञेन मघवान्" [तै० सं० ४ । ४ । ८ । १] (हरिवः-ते-अभिष्टौ-अनेहसः सूरीन्पाहि) हे दयाप्रसादवन् ! तवाभिकांक्षायां वर्तमानान् निष्पापान् मेधाविन उपासकान् पालय स्वानन्ददानेन ॥ २२ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध) अनन्तर (नृपते-इन्द्र) मुमुक्षुओं के पालक परमात्मन् ! (त्वं वज्रबाहुः-अस्मान् विद्धि) तू ओज का वहन करने वाला हमें जान कि हम तेरे उपासक हैं (मघोनः-नः-रक्ष च) अध्यात्म यज्ञ वाले हम लोगों की रक्षा कर (हरिवः-ते-अभिष्टौ) हे दया-प्रसाद वाले, तेरी अभिकांक्षा में वर्तमान (अनेहसः सूरीन् पाहि) हम निष्पाप मेधावी उपासकों की रक्षा कर-अपना आनन्द प्रदान करके ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा के उपासक पापरहित अध्यात्म यज्ञ करने वाले होते हैं वे परमात्मा की दया और प्रसाद के पात्र बनते हैं। परमात्मा उन्हें अपना आनन्द दान देकर उनकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥

अध यद्राजाना गविष्टौ सरत्सरण्युः कारवे जरण्युः ।
विप्रः प्रेष्ठः स ह्येषां बभूव परा च वक्षदुत पर्षदेनान् ॥ २३ ॥

अध । यत् । राजाना । गोऽइष्टौ । सरत् । सरण्युः । कारवे । जरण्युः । विप्रः । प्रेष्ठः । सः । हि । एषाम् । बभूव । परा । च । वक्षत् । उत । पर्षत् । एनान् ॥ २३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध) अनन्तरम् (यद्-राजाना) यदा राजमानाः हे ज्ञानेन प्रकाशमानाः मुमुक्षवः ! 'आकारादेशश्छान्दसः' (गविष्टौ) मोक्षस्येच्छायाम "गविष्टौ गोः स्वर्गस्य सुखविशेषस्येष्टाविच्छायाम्" [यजु० ३४ । २३ दयानन्दः] (सरण्युः सरत्) गतिशीलः सरति-अग्रसरो भवति (कारवे जरण्युः) सृष्टिकर्त्रे परमात्मने जरणां स्तुतिमिच्छुर्वा भवतु "जरणाः स्तुतयः" [ऋ० १ । १४१ । ७ दयानन्दः] (सः-हि-एषां विप्रः प्रेष्ठः-बभूव) स मेधावी मुमुक्षूणां मध्ये परमात्मनोऽति प्रियो भवति (च) तथा (एनान्) अन्यजनान् (परावक्षत्) परावहति-परमात्मानं प्रति प्रेरयति (उत) अपि (पर्षत्) संसारसागरात् पारयति ॥ २३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध) अनन्तर (यद्-राजाना) जब ज्ञान से प्रकाशमान हे मुमुक्षु जनो ! (गविष्टौ) मोक्ष की इच्छा में (सरण्युः सरत्) गतिशील गति करता है-अग्रसर होता है (कारवे जरण्युः) सृष्टि कर्ता परमात्मा के लिए स्तुति का इच्छुक होता है (सः-हि-एषां विप्रः प्रेष्ठः-बभूव) वह मेधावी मुमुक्षुओं के मध्य परमात्मा का अतिप्रिय होता है (च) तथा (एनान्) अन्य जनों को (परावक्षत्) परमात्मा के प्रति प्रेरित करता है (उत) और (पर्षत्) संसार सागर से पार करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—मुमुक्षु जनों में जब मोक्ष का इच्छुक हुआ परमात्मा की अत्यन्त स्तुति करता है वह परमात्मा का अत्यन्त प्रिय बन जाता है और दूसरों को भी परमात्मा की स्तुति के लिए प्रेरित करता है वह मानो संसार सागर से उन्हें पार करता है ॥ २३ ॥

अधा न्वस्य जेन्यस्य पुष्टौ वृथा रेभन्त ईमहे तदू नु ।
सरण्युरस्य सूनुरश्वो विप्रश्चासि श्रवसश्च सातौ ॥ २४ ॥

अध । नु । अस्य । जेन्यस्य । पुष्टौ । वृथा । रेभन्तः । ईमहे । तत् । ऊँ इति । नु । सरण्युः । अस्य । सूनुः । अश्वः । विप्रः । च । असि । श्रवसः । च । सातौ ॥ २४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अध नु) पुनश्च (अस्य जेन्यस्य) जगदधिकर्तुः परमात्मनः (पुष्टौ) आत्मपुष्टिनिमित्तम् (वृथा) अनायासेन सरलभावेन (रेभन्तः) स्तुवन्तः (तत्-उ-नु-ईमहे) तत्खलु प्रार्थयामहे-प्रार्थयन्ते 'पुरुषव्यत्ययः' (अस्य सरण्युः) अस्य जगतः सारयिता चालयिता (सूनुः) उत्पादकः (अश्वः) व्यापकः (च) तथा (श्रवसः) श्रवणीयस्य यशोरूपस्य भोगस्य "श्रवः श्रावणीयं यशः" [निरु० ११ । ६] (सातौ विप्रः-असि) प्राप्तौ विशिष्ट पूतिकरः परमात्मन् ! त्वमसि ॥ २४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अध नु) और फिर (अस्य जेन्यस्य) इस जगत् स्वामी परमात्मा की (पुष्टौ) आत्मपुष्टि-पोषणशक्ति के निमित्त (वृथा) अनायास-सरल भाव से (रेभन्तः) स्तुति करते हुए (तत्-उ नु-ईमहे) प्रार्थना करते हैं (अस्य सरण्युः) इस जगत् का चलाने वाला तथा (सूनुः) उत्पादक, (अश्वः) व्यापक (च) तथा (श्रवसः) श्रवणीय यशोरूप भोग की (सातौ विप्रः-असि) प्राप्ति के लिए विशिष्टतया पूर्ण करने वाला हे परमात्मन् ! तू है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमात्मा जगत् का उत्पादक, इसमें व्यापक और इसका नियन्ता है तथा हमारा पोषण कर्ता है उसके श्रवणीययश और गुणों तथा सुखलाभ के लिए प्रार्थना करनी चाहिए ॥ २४ ॥

युवोर्यदि सख्यायास्मे शर्धाय स्तोमं जुजुषे नमस्वान् ।
विश्वत्र यस्मिन्ना गिरः समीचीः पूर्वीव गातुर्दाशत्सूनृतायै ॥ २५ ॥

युवोः । यदि । सख्याय । अस्मे इति । शर्धाय । स्तोमम् । जुजुषे । नमस्वान् । विश्वत्रे । यस्मिन् । आ । गिरः । समऽईचीः । पूर्वीऽइव । गातुः । दाशत् । सूनृतायै ॥ २५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युवयोः सख्याय-अस्मे शर्धाय) युवयोः स्त्रीपुरुषगणयोः सखित्वाय, अस्माकं आत्मबलप्रापणाय "शर्धः-बलनाम" [निघ०] (नमस्वान् स्तोमं यदि जुजुषे) स्तुतिमान् सन् स्तुतिप्राप्तिमान् स्तुतिसमूहं यदि सेवसे स्वीकुर्याः, तदा (यस्मिन् विश्वत्र) विश्वस्य त्रातरि यस्मिन् परमात्मनि 'विश्वत्र-इत्यत्र ङिप्रत्ययस्य लुक् छान्दसः' (समीचीः-पूर्वीः-इव गिरः) सम्यक् श्रेष्ठा एव स्तुतीः (गातुः-दाशत्) परमात्मानं प्रति गमनशीलः-उपासको ददाति समर्पयति (सूनृतायै) शोभन मुमुक्षुभावनायै, सा सफला भवेत् ॥ २५ ॥

भाषान्वयार्थ—(युवयोः सख्याय) तुम स्त्री पुरुषों मित्रभाव के लिए (अस्मे शर्धाय) हमारे आत्मबल प्राप्ति के लिए (नमस्वान् स्तोमम्) स्तुतिमान् होता हुआ स्तुति समूह को (यदि

जुजुषे) यदि तू सेवन करता है या स्वीकार करता है तो (यस्मिन् विश्वत्र) जिस तुझ विश्व की रक्षा करने वाले में (समीचीः-पूर्वीः-इव गिरः) श्रेष्ठ स्तुतियों को (गातुः-दाशत्) तुझ परमात्मा के प्रति गमनशील उपासक देता है-समर्पित करता है (सूनृतायै) शोभन मुमुक्षु भावना के लिए, जिससे वे सफल होवे ॥ २५ ॥

भावार्थ—उपासक को समस्त स्त्री पुरुषों के प्रति मित्र भाव रखना चाहिए। इससे परमात्मा स्तुतियों को स्वीकार करता है-अपनाता है तथा उसे मोक्ष प्रदान करता है ॥ २५ ॥

स गृ॒णा॒नो अ॒द्भिर्दे॒ववा॒निति॑ सु॒बन्धु॒र्नम॑सा सू॒क्तैः ।
वर्ध॑दु॒क्थैर्वचो॑भि॒रा हि नू॒नं व्यध्वै॑ति॒ पय॑स उ॒स्रिया॑याः ॥ २६ ॥

सः । गृ॒णा॒नः । अ॒त्ऽभिः । दे॒वऽवा॑न् । इति॑ । सु॒ऽबन्धुः॑ । नम॑सा । सु॒ऽउ॒क्तैः । वर्ध॑त । उ॒क्थैः । वचः॑ऽभिः । आ । हि । नू॒नम् । वि । अध्वा॑ । ए॒ति । पय॑सः । उ॒स्रिया॑याः ॥ २६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-देववान् सुबन्धुः-इति) देवा मुमुक्षवो यस्य सन्ति स परमात्मा खलूपासका सु शोभनो बन्धुः-इति प्रसिद्धः (अद्भिः-नमसा सूक्तैः गृणानः) आप्तजनैः "मनुष्या वा-आपश्चन्द्राः" [श० ७ । ६ । १ । २०] स्तुत्या सुवचनैः स्तूयमानो भवति (उक्थैः-वचोभिः-वर्धत्) यतः स प्रशस्तैर्वचनैर्वर्धयति स्तोतारम् (नूनं हि-उस्रियायाः पयसः-अध्वा वि-आ-एति) सम्प्रति सद्यो हि-उत्स्राविण्या गोः पयसो यथाऽध्वा मार्गो भवति तथा स्तुत्याः फलमनुसरन् ध्यानमार्गेण विशिष्टतया प्राप्नोति ॥ २६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-देववान् सुबन्धुः- इति) वह परमात्मा मुमुक्षुओं से सेवित, उपासक जिसके अच्छे बन्धु हैं ऐसा प्रसिद्ध है (अद्भिः-नमसा सूक्तैः- गृणानः) आप्तजनों द्वारा स्तुति और अच्छे वचनों से स्तुत किया जाता है-प्रशंसित किया जाता है (उक्थैः-वचोभिः-वर्धत्) प्रशस्त वचनों द्वारा स्तुति करने वाले को वह बढाता है (नूनं हि-उस्रियायाः पयसः-अध्वा वि-आ-एति) सम्प्रति-तुरन्त ही दूध को स्रवित करने वाली गौ के दूध का जैसे स्रवण मार्ग होता है, उससे सरलतया जैसे दुग्ध प्राप्त होता है, वैसे स्तुतिफल को लक्ष्य करते हुए ध्यानमार्ग से विशेषरूप से प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—परमात्मा जीवन्मुक्तों का इष्टदेव तथा उपासकों का बन्धु है। वह आप्त विद्वानों की स्तुतियों और सुवचनों द्वारा स्तुति में लाया जाता हुआ स्तुतिकर्ता को बढाता है तथा उसे प्राप्त होता है अध्यात्ममार्ग द्वारा-जैसे दूध को रिसाने वाली गौ से स्तन मार्ग से शीघ्र दूध प्राप्त होता है। अतः उसकी स्तुति करनी चाहिए ॥ २६ ॥

त ऊ॒ षु णो॑ म॒हो य॑जत्रा भू॒त दे॑वास ऊ॒तये॑ स॒जोषाः॑ ।
य वाजाँ॒ अन॑यता वि॒यन्तो॒ ये स्था निचे॑तारो॒ अमू॑राः ॥ २७ ॥

ते । ऊँ इति । सु । नः । महः । यजत्राः । भूत । देवासः । ऊतये । सऽजोषाः । ये । वाजान् । अनयत । विऽयन्तः । ये । स्थ । निऽचेतारः । अमूराः ॥ २७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यजत्राः सजोषाः-देवासः) हे अध्यात्मयाजिनः समानप्रीतिमन्तो मुमुक्षवः ! (ते) ते यूयम् (नः) अस्मभ्यम् (उ सु-ऊतये महः-भूत) अवश्यं सुष्ठु रक्षणाय महान्तो महत्त्ववन्तो भवत (ये वाजान वियन्तः-अनयत) ये यूयं विशिष्टं गतिं कुर्वन्तः खल्वमृतान्नभोगान् "अमृतान्नं वै वाजः" [जै० २ । १६२] प्रापयत (ये निचेतारः-अमूराः-स्थ) ये यूयं निरन्तरं ज्ञानस्य चयनं कारयितारः-सावधानाः स्थ ॥ २७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यजत्राः सजोषाः-देवासः) हे अध्यामयाजी समान प्रीतिवाले मुमुक्षुजनों ! (ते) वे तुम लोग (नः) हमारे लिए (उ-सु-उतये महः-भूत) अवश्य अच्छे रक्षण के लिए महत्त्व वाले होओ (ये वाजान् वियन्तः-अनयत) जो तुम विशिष्ट गति करते हुए अमृतान्न भोगों को प्राप्त कराते हो (ये निचेतारः-अमूराः स्थ) जो तुम निरन्तर ज्ञान का चयन कराने वाले सावधान हो ॥ २७ ॥

भावार्थ—मानव को अध्यात्मयाजी मुमुक्षुजनों का सङ्ग करके अपने रक्षण के लिए ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए और मोक्ष के अमृतभागों की प्राप्ति के लिए भी उनसे अध्यात्ममार्ग को जानना चाहिए ॥ २७ ॥



द्वाषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—मानवो नाभानेदिष्ठः ।

देवता—१–६ विश्वेदेवाः,आङ्गिरसो वा । ७ विश्वेदेवाः । ८–११ सावर्णेर्दान स्तुतिः ।

छन्दः—१,२ विराड् जगती । ३ पादनिचृज्जगती । ४ निचृज्जगती । ५ अनुष्टुप् । ८, ९ निचृत् त्रिष्टुप् । ६ बृहती । ७ विराट् पंक्तिः । १० गायत्री । ११ भुरिक् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र सूक्ते सृष्टेरारम्भे परमेश्वरसकाशाद् वेदप्रकाशः परमर्षीणामन्तःकरणे जातस्तत्प्रचारश्च तैः कृतो ज्ञान-दानस्य महिमा च प्रतिपाद्यते, इत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर से परमर्षियों के अन्तःकरण में वेदों का प्रकाश तथा उनके द्वारा प्रचार, ज्ञानदान की महिमा आदि विषय हैं ।

ये य॒ज्ञेन॒ दक्षि॑णया॒ सम॑क्ता॒ इन्द्र॑स्य स॒ख्यम॑मृत॒त्वमा॑न॒श ।
तेभ्यो॑ भ॒द्रम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑ऽमेधसः ॥ १ ॥

ये । य॒ज्ञेन॑ । दक्षि॑णया । सम्ऽअ॑क्ताः । इन्द्र॑स्य । स॒ख्यम् । अ॒मृ॒त॒ऽत्वम् । आ॒न॒श । तेभ्यः॑ । भ॒द्रम् । आ॒ङ्गि॒र॒सः॒ । व॒ः । अ॒स्तु॒ । प्रति॑ । गृ॒भ्णी॒त॒ । मा॒न॒वम् । सु॒ऽमे॒ध॒सः॒ ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ताः) ये–अध्यात्मयज्ञेन स्वात्मदा-नेन "दक्षिणाः-दानानि" [ऋ० ३ । ३६ । ५ दयानन्दः] सम्प्रसिद्धा अलङ्कृताः सन्तः (इन्द्रस्य सख्यम्-अमृतत्वम्-आनशे) ऐश्वर्यवतः परमात्मनः सखित्वमथ चामृतत्वं प्राप्नु-वन्ति "आनशे व्याप्तिकर्मा" [निघ० २ । १८] 'व्यत्ययेन–एकवचनम्' (अङ्गिरसः) हे अङ्गिभ्यो जीवात्मभ्योज्ञानदातारः ! "अङ्गिराः-अङ्गिभ्यो जीवात्मभ्यः सुखं ददाति सः" [यजु० ३४ । २२ दयानन्दः] अज्ञानां प्रेरयितारः संयमिनो वा (तेभ्यः-वः-भद्रम्-अस्तु)

तेभ्यो युष्मद्भ्यः कल्याणं भवतु–भवति (सुमेधसः-मानवं प्रति गृभ्णीत) हे सुष्ठुमेधाविनो मानवं शिष्यत्वेन प्राप्तं स्वीकुरुत ',तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ताः) जो अध्यात्मयज्ञ से तथा स्वात्मदान से-स्वात्मसमर्पण से सम्यक् प्रसिद्ध—अलंकृत होते हुए (इन्द्रस्य सख्यम्) ऐश्वर्यवान् परमात्मा के मित्रभाव को तथा (अमृतत्वम् आनशे) अमृतरूप को प्राप्त करते हैं (अङ्गिरसः) हे अङ्गियों-अङ्ग वाले आत्माओं के लिए ज्ञान सुख के देने वालो अथवा अङ्गों को प्रेरित करने वाले संयमी जनों ! तेभ्यः-वः-भद्रम्-अस्तु) उन तुम लोगों के लिए कल्याण हो (सुमेधसः-मानवं प्रति गृभ्णीत) अच्छे मेधावी लोगो ! शिष्य भाव से प्राप्त हुए मानव को स्वीकार करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अध्यात्मयज्ञ और आत्मसमर्पण द्वारा अपने को सिद्ध-सुसज्जित करते हैं वे परमात्मा के मित्र भाव और अमृतस्वरूप को प्राप्त करते हैं। वे ऐसे अन्य आत्माओं को सुख देने वाले तथा उत्तम प्रेरणा करने वाले एवं योग्य मनुष्य को अपने ज्ञान की शिक्षा देने वाले कल्याण को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ २ ॥

ये । उत्ऽआजन् । पितरः । गोऽमयम् । वसु । ऋतेन । अभिन्दन् । परिवत्सरे । वलम् । दीर्घायुऽत्वम् । अङ्गिरसः । वः । अस्तु । प्रति । गृभ्णीत । मानवम् । सुऽमेधसः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये पितरः) ये ज्ञान प्रदानेन पालकाः-विद्वांसः, प्रकाश प्रदानेन पालकाः किरणा वा (परिवत्सरे) परितोवसन्त्यस्मिन् 'वसेश्च सरन्' [उणादि० ३ । ७१] आचार्ये-आचार्यसमीपे सूर्ये वा "सूर्यः परिवत्सरः" [ता० १७ । १३ । १७ [(गोमयं वसु-उदाजन्) वाङ्मयं धनम् "गौ वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] रश्मिमयं तेजोधनं वा "सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते" [निरु० २ । ८] उत्थापयन्ति उत्पादयन्ति (ऋतेन वलम्-अभिन्दन्) तज्ज्ञानेन तदग्निरूपेण वाऽऽवरकमज्ञानमन्धकारं मेघं वा भिन्दन्ति निवारयन्ति (अङ्गिरसः-वः) हे आत्मभ्यो ज्ञानप्रदातारस्तेजो दातारो वा युष्मभ्यम् (दीर्घायुत्वम्-अस्तु) दीर्घजीवनं दीर्घप्रापणप्रवर्तनं भवतु (प्रति गृभ्णीत....) पूर्ववत् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये पितरः) जो ज्ञानप्रदान के द्वारा पालक विद्वान् या जो प्रकाशप्रदान द्वारा पालक किरणें हैं वे (परिवत्सरे) सब ओर से आकर शिष्य बसते हैं जिसके अधीन ऐसे आचार्य में-आचार्य के समीप अथवा सूर्य में (गोमयं वसु-उदाजन्) वाङ्मय धन को या रश्मिमय तेज को उत्थापित करते हैं उत्पन्न करते हैं (ऋतेन वलम्-अभिनन्दन्) उसके ज्ञान के द्वारा या उसके अग्नि रूप द्वारा आवरक अज्ञान को या अन्धकाररूप मेघ को छिन्न-भिन्न करते हैं निवृत्त करते हैं

(अङ्गिरसः-वः) हे आत्माओं के लिए ज्ञान के दाता अथवातेज के प्रदाता तुम्हारे लिए (दीर्घायुत्वम्-अस्तु) दीर्घ जीवन या दीर्घजीवन प्राप्त होने का क्रम होवे (प्रति गृभ्णीत....) पूर्ववत् ॥ २ ॥

भावार्थ—उत्तम आचार्य के अधीन विद्वान् शिष्यरूप में प्राप्त होते हैं। आचार्य उनके अज्ञान को नष्ट करके वाङ्मय ज्ञान को उत्थापित करता है। ऐसा आचार्य दीर्घजीवी होना चाहिए जिससे संसार को लाभ पहुंचे। तथा-रश्मियां या किरणें सूर्य के आश्रित होती हैं। वह सूर्य अन्धकार को और मेघ को छिन्न-भिन्न करता है। उसका आग्नेय तेज संसार को प्रकाश प्रदान करता है। उसके प्रकाश का प्रदान क्रम दीर्घरूप में चलता रहे ॥ २ ॥

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ३ ॥

ये । ऋतेन । सूर्यम् । आ । अरोहयन् । दिवि । अप्रथयन् । पृथिवीम । मातरम् । वि । सुप्रजाःऽत्वम् । अङ्गिरसः । वः । अस्तु । प्रति । गृभ्णीत । मानवम् । सुऽमेधसः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये-ऋतेन दिवि सूर्यम्-आरोहयन्) ये खलु तज्ज्ञानेन तत्तेजसा वा सरणशीलंप्रगतिमन्तं श्रोतारं सूर्यं वा मोक्षधाम्नि द्युलोके वा-आरोहयन्ति नयन्ति-समन्तात् प्रकाशयन्ति वा (मातरं पृथिवीं वि-अप्रथयन्) निर्मात्रीं प्रथनशीलां "पृथिवीं व प्रथमानायै स्त्रियै" [ऋ० १ । १८५ । १ दयानन्दः] च विशिष्टतया प्रसिद्धां प्रकाशितां वा श्रोत्रीं स्त्रियं च कुर्वन्ति (अङ्गिरस-वः-सुप्रजास्त्वम्-अस्तु) हे विद्वांसः-किरणाः वा युष्मभ्यं सुसन्तान भावं सुशिष्यत्वं सुखवानस्पत्यादित्वं भवतु। अग्रे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये ऋतेन दिवि, सूर्यम्-अरोहयन्) जो उस ज्ञान या उस तेज से सरण शील-प्रगतिमान् श्रोता या सूर्य को मोक्षधाम में या द्युलोक में ले जाते हैं-स्थापित करते है भली भांति प्रकाशित करते हैं (मातरं पृथिवीं वि-अप्रथयन्) निर्मात्री निर्माण करने वाली प्रथन शीला और विशिष्ट प्रसिद्ध या प्रकाशित श्रवणशील स्त्री को बनातेः-है करते हैं। अङ्गिरसः-वः-सुप्रजास्त्वम्-अस्तु, हे विद्वानों! या किरणों तुम्हारे लिए सुसन्तान भाव, सुशिष्यभाव सुख वनस्पतिभाव हों। आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के द्वारा प्राप्त ज्ञान से श्रोता मोक्ष को प्राप्त होता है और उसके यहां श्रवण शील स्त्री होने से वह उत्तमःसन्तान, उत्तम शिष्य को प्राप्त करता है, होता है। एवं सूर्य किरणें तेजो धर्म सूर्य को द्युलोक में चमकाती है और पृथिवी प्रथन शील होती हुई पर उत्तम वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं ॥ ३ ॥

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ४ ॥

अयम् । नाभा । वदति । वल्गु । वः । गृहे । देवऽपुत्राः । ऋषयः । तत् । शृणोतन । सुऽब्रह्मण्यम् । अङ्गिरसः । वः । अस्तु । प्रति । गृभ्णीत । मानवम् । सुऽमेधसः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवपुत्राः-ऋषयः) हे देवस्य परमात्मनः पुत्राः पुत्रवद्वर्तमाना मन्त्रार्थद्रष्टारः (अयं नाभा) अयं प्रसिद्धः परमात्मा युष्माकं मध्ये वर्तमानः (वः-गृहे) युष्माकं हृदय गृहे (वल्गु वदति) वेद वाचम् "वल्गु वाङ् नाम, निघण्टु १ । ११" (तत् शृणोतन) तद्वचनं शृणुत (अङ्गिरसः वः सुब्रह्मण्यं-अस्तु) अङ्गिनामात्मनां ज्ञान दातारः, स्वयं संयमिनो देवाः ! युष्मभ्यं शोभन ब्रह्मत्वं शोभन ब्रह्मप्राप्तिफलं भवतु अग्रे पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवपुत्राः-ऋषयः) हे परमात्मदेव के पुत्र समान मन्त्रार्थ द्रष्टाओं । (अयं नाभा) यह प्रसिद्ध परमात्मा मनुष्यों के मध्यमें वर्तमान (वः-गृहे) तुम्हारे हृदय-गृह में (वल्गु वदति) वेद-वाणी का उपदेश देता है (तत्-शृणोतन) उसे तुम सुनों (अङ्गिरसः-वः) हे अङ्गियों आत्माओं के ज्ञान दाता, स्वयं संयमी विद्वानों ! तुम्हारे लिए (सुब्रह्मण्यम्-अस्तु) शोभन ब्रह्म प्राप्ति फल होवे । आगे पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—आरम्भ सृष्टि में योग्य चरम ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टाओं के अन्तः करण में परमात्मा वेद का प्रवचन करता है । वे अन्य आत्माओं को उसका उपदेश करते हैं यह ब्रह्म प्राप्ति का सुखद साधन है ॥ ४ ॥

वि रूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ ५ ॥

विऽरूपासः । इत् । ऋषयः । ते । इत् । गम्भीरऽवेपसः । ते । अङ्गिरसः । सूनवः । ते । अग्नेः । परि । जज्ञिरे ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋषयः-इत् विरूपासः) मन्त्रार्थद्रष्टारः खलु विशिष्टतया निरूपणकर्त्तारो भवन्ति (ते-इत्-गम्भीर वेपसः) ते हि गम्भीर कर्म-प्रवृत्तयाऽसाधारण क्रियावन्तो भवन्ति "वेपः कर्म नाम" [निघं० २ । ११] गम्भीर वेपसः गम्भीर कर्मण [निरुक्त ११ । १६] (ते अङ्गिरसः सूनवः) परमात्माग्नेः सूनु सदृशाः (अग्नेःपरिजज्ञिरे) यतस्ते परमात्माग्नौ परमात्मध्यानं कृत्वा प्रकटीकृताः-भूता सन्ति । आधिदैविकदृष्ट्यातु-(विरूपासः-ऋषयः) विविध-रूपादिका ऋषयः प्रसरण शीलाः मेघे जाताः वैद्युत-तरङ्गाः कपिलादिवर्णकाः (गंभीर वेपसः) गम्भीर-कर्माणो मेघनिपातेन कर्मवन्तः (ते-अङ्गिरसः सूनवः) ते विद्युदग्नेर्जाताः (ते अग्नेः परि जज्ञिरे) सामान्यतो अग्नि तत्वाज्जायन्ते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋषयः-इत्-विरूपासः) मन्त्रार्थ द्रष्टा, विशिष्टता से निरूपण करने वाले विशेषरूपसे विषय को खोलने वाले होते हैं (ते-इत्-गम्भीर वेपसः) वे ही गम्भीर कर्म वाले:-कर्म प्रवृत्ति वाले-असाधारण क्रिया वाले होते हैं। (ते अङ्गिरसः सूनवः) वे परमात्मा के पुत्र सदृश होते हैं (ते अग्ने परिजज्ञिरे) क्योंकि परमात्मा को ध्यान करके प्रकट हुये होते हैं ॥ ५ ॥

आधिदैविक दृष्टि से—

(विरूपासः-ऋषयः) विविध रूप वाले प्रसरणशील मेघ में उत्पन्न हुए विद्युत के तरङ्ग रूप कपिलादि वर्ण वाले (गम्भीरऽवेपसः) गम्भीर कर्मवाले मेघ को गिराने रूप कर्म वाले (ते अङ्गिरसः सूनवः) वे विद्युदग्नि से उत्पन्न होने वाले (ते अग्नेः परि जज्ञिरे) सामान्य रूप से अग्नि से उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—मन्त्रार्थों को जानने वाले ऋषि मंत्रों का यथार्थ प्रवचन किया करते हैं और वे यथार्थ कर्म का प्रतिपादन तथा आचरण करते हैं। वे ही परमात्मा के ध्यान से ऋषि रूप को धारण करते हैं एवं मेघ में भिन्न-भिन्न रूपों में चमकने वाले विद्युत तरङ्गों का मेघ को गिराने का कर्म महत्वपूर्ण होता है ॥ ५ ॥

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥ ६ ॥

ये । अग्नेः । परि । जज्ञिरे । विऽरूपासः । दिवः । परि । नवऽग्व । नु । दशऽग्व । अङ्गिरःऽतमः । सचा । देवेषु । मंहते ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः – (ये विरूपासः) ये ज्ञानस्य विशिष्ट निरूपणकर्तारः ! (दिवः परि) मोक्षधाम्नः अधि "मोक्षमधिलक्ष्य पञ्चम्याः परावध्यर्थे [अष्टा ८ । ३ । ५१] अग्नेः परिजज्ञिरे परमात्माग्नेः कृपया ध्यानेन वा परितः प्रसिध्यन्ति (तेषुअङ्गिरस्तमः) यः खलु अतिशयेन परमात्म पुत्रोऽतिशयित संयमी वा (नवग्वः-दशग्वः) नव मनोबुद्धि चित्राहंकारेषु पञ्च ज्ञानेन्द्रियेषु नवसु सिद्धिंगतः, अथ च दशसु कर्मेन्द्रियेषु ज्ञानेन्द्रियेषु सिद्धिंगतः (देवेषु सचा मंहते) विद्वत्सु सङ्गत्या प्रशंसा मर्हन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये विरूपासः) जो ज्ञान का विशेष निरूपण करने वाले विद्वान् (दिवः परि) मोक्षधाम में मोक्ष धाम का लक्ष्य करके (अग्नेः परिजज्ञिरे) परमात्मा की कृपा से या उसके ध्यान से प्रसिद्ध होते हैं (तेषु) उनमें (अङ्गिरस्तमः) जो अतिशय से परमात्मा पुत्र-या संयमी होता है (नव ग्वः-दशग्वः) मन बुद्धि चित अहंकार और पंच ज्ञानेन्द्रियों में सिद्धि को प्राप्त हुआ और दस कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों में सिद्धि को प्राप्त हुआ (देवेषु सचा मंहते) विद्वानों में संगति से प्रशंसा को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ज्ञान का विशेष निरुपण करने वाले साक्षात् द्रष्टा ऋषि, ज्ञान पूर्ण और संयमी होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। वे विद्वानों में प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥६ ॥

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम् ।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥ ७ ॥

इन्द्रेण । युजा । निः । सृजन्त । वाघतः । व्रजम् । गोऽमन्तम् । अश्विनम् । सहस्रम् । मे । ददतः । अष्टऽकर्ण्यः । श्रवः । देवेषु । अक्रत ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाघतः) ते मेधाविनो विद्वांसः "वाघतः-मेधावी नाम" [निघण्टु ३ । १८] (इन्द्रेण युजा) ऐश्वर्यवता परमात्मना सहयोगिना सह (गोमन्तम्-अश्विनं व्रजं निः सृजन्त) इन्द्रियवन्तमिन्द्रियसम्बन्धिनं मनः सम्बन्धिनं [व्रज ज्ञानं ऋ० १ । १० । ७ दयानन्द] जनेभ्यो निसृजन्ति उपदिशन्ति (अष्ट कर्ण्यः) व्याप्त कर्णवन्तः-व्याप्तेन्द्रियशक्तिकास्ते विद्वांसः (मे सहस्रं ददतः) मह्यं सहस्रं बहुदानं प्रयच्छतः (देवेषु श्रवः-अक्रतः) इन्द्रियेषु यशः कुरुत ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाघतः) वे मेधावी विद्वान् (इन्द्रेण युजा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा के सहयोगी (गोमन्तं अश्विनं व्रजम्) इन्द्रिय वाले, इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान तथा मन सम्बन्धी ज्ञान को मनुष्यों के लिए (निसृजन्त) उपदेश देते हैं (अष्टकर्ण्यः) व्याप्त इद्रिय शक्ति वाले विद्वान् (मे सहस्रं ददतः) मेरे लिए बहुत ज्ञान देते हुए (देवेषु श्रवः-अक्रत) इन्द्रियों में यश सम्पादित करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा से सम्पर्क करने वाले मेधावी ऋषि जन अन्य जनों को इन्द्रियों के संयम एवं मन के विकासार्थ ज्ञान का उपदेश अधिक से अधिक देते रहें ॥ ७ ॥

प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्मेव रोहतु ।
यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते ॥ ८ ॥

प्र । नूनम् । जायताम् । अयम् । मनुः । तोक्मऽइव । रोहतु । यः । सहस्रम् । शतऽअश्वम् । सद्यः । दानाय । मंहते ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयं मनुः-नूनं प्रजायताम्) एष मननशीलो विद्वान् ज्ञानदाताऽवश्यं प्रसिद्धो भवतु (तोकम्-इव रोहतु) अपत्यम्-अल्पायुष्कं नवजातं बालकमिव वर्धताम् "तोक्म-अपत्यनाम" [निघं० २ । २] (यः शताश्वं सहस्रम्) यः शतसख्याश्वकं तदपि सहस्रमिव ज्ञानम् "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते" [मनु० ४ । २२३] (दानाय सद्यः-मंहते) दानाय सद्यः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयं मनुः) यह मननशील विद्वान्. ज्ञान दाता (नूनं प्रजायताम्) अवश्य प्रसिद्ध होवे (तोक्म-इव रोहतु) अल्प आयु वाले बालक के समान बढे (यः शताश्वं सहस्रम्) जो सौ संख्याघोड़ों वाले वह भी सहस्र गुणितं जितने ज्ञान (दानाय सद्यः-मंहते) दान के लिये तुरन्त प्रवृत्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—ज्ञान का प्रदान करने वाला दिनोदिन वढे छोटे बालक जिससे ज्ञान सहस्रगुणित प्रदान करने को समर्थ हो सकेगा ॥ ८ ॥

न तमश्नोति कश्चन दिव इव सान्वारभम् ।
सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे ॥ ९ ॥

न । तम् । अश्नाति । कः । चन । दिवःइव । सानु । आऽरभम् । सावर्ण्यस्य । दक्षिणा । वि । सिन्धुःइव । पप्रथे ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तं कः-चन न अश्नोति) तं ज्ञानदातारं कश्चन धनान्नदाता न व्याप्नोति-न प्राप्नोति "अश्नोति व्याप्नोति व्यत्ययेन परस्मैपदम्" [ऋ० १ । ६४ । २ दयानन्दः] (दिवः-इव सानु-आरभम) यथा द्युलोकस्य सम्भजनीयमुच्चस्थितं सूर्यमारब्धुं न पारयति (सावर्ण्यस्य दक्षिणा) समानवर्णे समान भरणे कुशलस्य "वृवरणे भरणे-इत्येके" [क्र्यादि०] दानम् (सिन्धुः-इव पप्रथे) नदीवत् खलु विस्तृतो व्याख्यातो भवति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(तं कः-चन न-अश्नोति) उस ज्ञानदाता को कोई भी धनान्न का दाता नहीं पा सकता (दिवः- इव सानु-आरभम्) जैसे द्युलोक के सम्भजनीय उच्च स्थित सूर्य को पाने में समर्थ नहीं होता (सावर्ण्यस्य दक्षिणा) समान वर्ण में समान भरण पालन में कुशल का दान (सिन्धुः-इव पप्रथे) नदी के समान विस्तृत-व्याख्यात होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—धन अन्न दान से बढ कर ज्ञान दान है उसका दाता उच्च स्थिति को प्राप्त होता सूर्य के समान उत्कृष्ट, है तथा नदी की भाति उदार है प्रसिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा ।
यदुस्तुर्वश्च मामहे ॥ १० ॥

उत । दासा । परिऽविषे । स्मद्दिष्टी इति स्मत्ऽदिष्टी । गोऽपरीणसा । यदुः । तुर्वः । च । ममहे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्मद्दिष्टी) प्रशस्तदर्शनौ "स्मद्दिष्टीन् प्रशस्त दर्शनान्" [ऋ० ६ । ६३ । ९ दयानन्दः] (गोपरीणसा) गवां परीणसा बहुभावो यमो बहुगोमन्तौ बहु विद्यावन्तौ-अध्यापकोपदेशकौ "परीणसा बहुनाम" [निघ० ३ । १] (दासा) दातारौ "दासृ दाने" [भ्वादि०] "दासं दातारम्" [ऋ० ७ । १९ । २ दयानन्दः] (उत) अपि तस्य ज्ञानदातुः (परिविषे) स्नान सेवायै योग्यौ भवतः "विष सेचने" [भ्वादि०] (यदुः तुर्वः-च ममहे) यत्नशीलः प्रगतिशीलश्च जनौ मह्येते मन्त्रे खल्वेकवचनं प्रत्येकमन्वयात् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(स्मद्दिष्टी) प्रशस्त दर्शन वाले (गोपरीणसा) बहुत गौवों वाले बहुत विद्या वाणी वाले अध्यापक उपदेशक (दासा) तथा दानी (उत) और (परिविषे) स्नान सेवा के लिये योग्य होओ (यदुः-तुर्वः-च ममहे) यत्न शील और प्रगति शील जन महत्त्व पाते है ॥ १० ॥

भावार्थ—प्रशस्त दर्शनीय बहुत विद्या वाले अध्यापक उपदेशक ज्ञान के दानियों की स्नानादि सेवा प्रशंसा करनी चाहिए ॥ १० ॥

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा ।
सावर्णेर्देवाः प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम् ॥ ११ ॥

सहस्रऽदाः । ग्रामऽनीः । मा । रिषन् । मनुः । सूर्येण । अस्य । यतमाना । एतु । दक्षिणा । सावर्णेः । देवाः । प्र । तिरन्तु । आयुः । यस्मिन् । अश्रान्ताः । असनाम । वाजम् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सहस्रदाः-ग्रामणीः-मनुः) सहस्रस्य बहुनो धनादिकस्य दाता ग्रामस्य नेता रक्षको मननशीलो ज्ञान दाता च (मा रिषत्) अस्मान्-न हिनस्तीति तु सत्यम्, परन्तु (अस्य) मनोज्ञानदातुः (दक्षिणा यतमाना) ज्ञानदान-क्रिया गच्छन्ती-अग्रेऽग्रे प्रवर्तमाना "यतो गतिकर्मा" [निघं० २ । १४] (सूर्येण-एतु) सूर्येण समाना सती प्रकाशते प्रसिद्धिमेतु प्राप्नोतु (देवाः सावर्णेः-आयुः-प्रतिरन्तु) विद्वांसः समानज्ञानवरणे कुशलस्य जीवनं प्रवर्धयन्तु वर्धयन्ति हि (यस्मिन्-अश्रान्ताः-वाजम्-असनाम) यस्मिन्नाश्रयमाणे श्रान्ति रहिताः सन्तो वयं ज्ञानं सम्भजेमहि सम्भजामहे ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(सहस्रदाः -ग्रामणीः-मनुः) बहुत धन आदि के दाता ग्राम के नेता रक्षक और मननशील ज्ञान का दाता (मा रिषत) हमें हिंसित नहीं करता है यह सत्य है, परन्तु (अस्य) इस ज्ञान दाता की (दक्षिणा यतमाना) दान क्रिया आगे-आगे प्रवर्तमान होती हुई (सूर्येण-एतु) सूर्य के समान होती हुई प्रकाशित हो-प्रसिद्धि को प्राप्त हो (देवाः सावर्णेः-आयुः प्रतिरन्तु) देव समान ज्ञान भरण करने में कुशल के जीवन को बढावें (यस्मिन्-अश्रान्ताः-वाजम् असनाम) जिस आश्रय में न थकते हुए ज्ञान का सम्भजन हम करें ॥ ११ ॥

भावार्थ —अन्नादि का दाता मनुष्यों की रक्षा करता है परन्तु ज्ञान के दाता की दान क्रिया बढती हुई सूर्य की दीप्ति के समान प्रसिद्ध हो जाती है आयु को बढाती है उसके आश्रय ज्ञानी बन जाते है ॥ ११ ॥



त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गयः प्लातः ।

देवता—१-१४, १७ विश्वे देवाः १५, १६ पथ्या स्वस्तिः ।

छन्दः—१, ६, ८, ११-१६ विराड् जगती १५ जगती त्रिष्टुप् वा १६ आर्ची स्वराट्त्रिष्टुप् १७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र सूक्ते जीवन्मुक्तेभ्योऽधीत्य सर्व कार्यः सिद्धि कामा भवति अभ्युदयस्य निःश्रेयसस्य मार्ग ज्ञानं निर्दोष जीवनयात्रा चालनीयेति विषया विद्यन्ते ।

इस सूक्त में जीवन्मुक्तों से पढ़कर सर्वकार्य सिद्धि करनी चाहिए अभ्युदय निः श्रेयसका मार्ग जाना जाता है जीवन यात्रा निर्दोष चलाई जाती है इत्यादि विषय है ।

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः ।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

पराऽवतः । ये । दिधिषन्ते । आप्यम् । मनुऽप्रीतासः । जनिम । विवस्वतः । ययातेः । ये । नहुष्यस्य । बर्हिषि । देवाः । आसते । ते । अधि । ब्रुवन्तु । नः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये मनुप्रीतासः) मननशीलमनुष्यः प्रीतः प्रियो येषां ते ये महाविद्वांसः (परावतः) दूरादप्यागतम् (आप्यं जनिम दिधिषन्त) आप्तव्यं प्राप्तव्यं ब्रह्मचारिणं नवबालकम् "जनिम जन्मवन्" [ऋ० ४ । १७ । २ दयानन्दः] उपदिशन्ति 'धिष शब्दे' [जुहो०] छान्दसो झस्यान्त आदेशः" (विवस्वतः-ययातेः-नहुषस्य) विशिष्टतया विद्यासु वसति तस्य महान्तं यत्नं कुर्वतः "यती प्रयत्ने" तत इन्....औणादिकोणित् सन्वच्च बाहुलकात् [ऋ० १ । ३१ । १७ दयानन्दः] संसार बन्धन दहने साधोः कुशलस्य विदुषः (बर्हिषि) आसने पदे वा (आसते) विराजन्ते (ते नः-अधि ब्रुवन्तु) तेऽस्मान्-अधिकृत्यशिष्यान् विधाय ब्रुवन्तु ॥ १

भाषान्वयार्थ—(ये मनु प्रीतासः) जो मननशील मनुष्य से प्रेम करने वाले महाविद्वान् (परावतः) दूर से भी आए (आप्य जनिम दिधिषन्त) प्राप्तव्य ब्रह्मचारी नव बालक को

उपदेश करते हैं (विवस्वतः-ययातेः-नहुष्यस्य) विशेष रूप से विद्याओं में बसने वाले यत्नशील तथा संसार वंधन को दहन करने में कुशल विद्वान् के (बर्हिषि) आसन पर पद पर (आसते) विराजते हैं (ते नः-अधि ब्रुवन्तु) वे हमें शिष्य रूप स्वीकार कर उपदेश दे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्याओं में निष्णात यत्नशील वैराग्यवान् महाविद्वान् उच्च पद पर विराजमान दूर से प्राप्त ब्रह्मचारी को प्रीति से शिष्य बनाकर पढ़ावे और उपदेश संसार को देवें ॥ १ ॥

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम् ॥ २ ॥

विश्वा । हि । वः । नमस्यानि । वन्द्या । नामानि । देवाः । उत । यज्ञियानि । वः । ये । स्थ । जाताः । अदितेः । अत्ऽभ्यः । परि । ये । पृथिव्याः । ते । मे । इह । श्रुत । हवम् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे विद्वांसः ! (वः) युष्माकम् (विश्वा-हि) सर्वाण्येव (नामानि) प्रसिद्धकर्माणि "नाम प्रसिद्धं व्यवहारम्" [ऋ० ६ । ६६ । ५ दयानन्दः] (नमस्यानि वन्द्या) सत्कर्तव्यानि सेवितव्यानि तथा कमनीयनि "वन्द्यासः कामयितुमर्हाः" [ऋ० १ । १६८ । २ दयानन्दः] (उत) अपि (वः) युष्माकं तानि हि (यज्ञियानि) अध्यात्मयज्ञ साधकानि "यज्ञियानि कर्मोपासनाज्ञान सम्पादनार्हाणि" [ऋ० १ । ७२ । ३ दयानन्दः) सन्ति (ये जाताः स्थ) ये यूयं प्रसिद्धाः एव (अदितेः परि) द्युलोकज्ञान विषये निष्णातः "अदितिः-द्यौः" [ऋ० १ । ७ । ६ दयानन्दः] (अद्भ्यः परि) अन्तरिक्षलोकज्ञानविषये निष्णातः (ते) हे यूयम् (इह) अत्र ज्ञानप्रदानस्थाने (मे हवं श्रुतं) मम ज्ञान प्रदान प्रार्थना वचनं शृणुत-स्वीकुरुत ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारे (विश्वा हि) सारे ही (नामानि) प्रसिद्ध कर्म (नमस्यानि वन्द्या) सत्करणीय सेवनीय तथा कमनीय (उत) और (वः) तुम्हारे वे (यज्ञियानि अध्यात्मयज्ञ के साधन कर्म उपासना ज्ञान सम्पादक हैं (ये जाताःस्थ) जो तुम प्रसिद्ध हो (अदितेः परि) द्युलोक ज्ञान में निष्णात (अद्भ्यः परि) अन्तरिक्ष ज्ञान में निष्णात (ते) वे तुम (इह) इस ज्ञान प्रदान स्थान में (मे हवं श्रुतं) मेरे ज्ञान प्रदानार्थ प्रार्थना वचन को सुनो-स्वीकार करो ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन द्युलोक ज्ञान में निष्णात, अन्तरिक्ष ज्ञान में निष्णात तथा पृथिवी के ज्ञान में निष्णात होकर श्रेष्ठ कमनीय कर्म करते हैं उनसे ज्ञान ग्रहण और सत्सङ्गः लाभलेना चाहिए। ॥ २ ॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥ ३ ॥

येभ्यः । माता । मधुऽमत् । पिन्वते । पयः । पीयूषम् । द्यौः । अदितिः । अद्रिऽबर्हाः । उक्थऽशुष्मान् । वृषऽभरान् । सुऽअप्नसः । तान् । आदित्यान् । अनु । मद । स्वस्तये ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(येभ्य : येभ्योविद्वद्भ्यः (माता) जगन्माता परमात्मा (मधुमत् पयः पिन्वते) मधुरं वेदज्ञानरसम् "पयसा शब्दार्थ सम्बन्धरसेन" [यजु० २० । ४३ दयानन्दः] सिञ्चति-प्रयच्छति "पिवि सेचने" [भ्वादिः] (अद्रि बर्हाः-अदितिः-द्यौ पीयूषम्) प्रशंसाकर्तृ व वर्धकः "अद्रिरसि श्लोककृत्" [काठ० १ । ५] अखण्डितो ज्ञानप्रकाशमानः परमात्मा "द्यौः प्रकाशमानः परमात्मा" [ऋ० १ । ८६ । -१० दयानन्दः] अमृतं मोक्षानन्दम् "पीयूषम्-अमृतम्" [ऋ० ६ । ४७ । ४ दयानन्दः] सिञ्चति-प्रयच्छति (तान्- उक्थशुष्मान्) तान् वेदवाग्बलयुक्तान् (वृषभरान्) वृष्टिजस पूर्णान् मेघानिव ज्ञानामृत-रसपूर्णान् (स्वप्नसः) शुभकर्मवतः "अप्नः कर्मनाम" [निघं० २ । १] (आदित्यान्) अखण्डित ब्रह्मचर्यवतो विदुषः (स्वस्तये अनुमद) कल्याणाय खल्वनुमोदय हर्षय तर्पय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(येभ्यः) जिन विद्वानों के लिए (माता) जगत् की माता या जगत् का नर्माता परमात्मा (मधुमत् पयः पिन्वते) मधुर वेदज्ञान रस को सींचता है-देता है (अद्रि बर्हाः) प्रशंसाकर्ताओं को बटाने को बटाने वाला (अदितिः) अखण्डित (द्यौः) ज्ञान प्रकाशमान परमात्मा (पीयूषम्) अमृत मोक्षानन्द को सींचता है-देता है (तान्-उक्थशुष्मान्) उन वेदवाणी बल वालों को (आदित्यान्) अखण्डित ब्रह्मचर्य वाले विद्वानों को (स्वस्तये-अनुमद)कल्याण के लिए हर्षित कर तृप्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानप्रकाशमान् जगत् कारचयिता परमात्मा जिन अखण्डित ब्रह्मचारियों को वेद ज्ञान अमृत मोक्ष प्रदान करता है उनको प्रत्येक प्रकार से अपने कल्याणार्थ-तृप्त करना चाहिए ॥३॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ ४ ॥

नृऽचक्षसः । अनिऽमिषन्तः । अर्हणा । बृहत् । देवासः । अमृतऽत्वम् । आन शुः । ज्योतिःऽरथाः । अहिऽमायाः । अनागसः । दिवः । वर्ष्माणम् । वसते । स्वस्तये ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवासः) ते विद्वांसः (नृचक्षसः) नराणां ख्यापकाः (अनिमिषन्तः) स्वकर्तव्येषु निमेषमन्तरं न कुर्वन्तः (अर्हणा) सर्वथा योग्याः "आकारादेशश्छान्दसः (बृहत्-अमृतत्वम्-आनशुः) महदमृतत्वं मोक्ष सुखं प्राप्नुवन्ति (ज्योतिः रथाः) ज्योतिषि ज्ञानप्रकाशे रमण येषां ते (अहिमायाः) अहन्तव्य प्रज्ञा काः (अनागसः)

पापरहिताः (दिवः-वर्ष्माणम) मोक्षस्य सुखवर्षकं पदम् (स्वस्तये वसते) कल्याण करणायाच्छादयन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवासः) वे विद्वान् (नृचक्षसः) नरो के चेताने वाले (अनिमिषन्तः) अपने कर्त्तव्यों में निमेष-अन्तर न करते हुए (अर्हणा) सर्वथा योग्य (बृहद्-अमृतत्वम्-आनशुः) महान् अमृत तत्त्व-मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं (ज्योतिः-रथाः) ज्ञान प्रकाश में रमण जिनका है वे (अहिमायाः) न हनन करने योग्य प्रज्ञा वाले (अनागसः) पापरहित (दिवः-वर्ष्माणम्) मोक्ष के सुखवर्षक पद को (स्वस्तये वसते) कल्याण करने के लिए आच्छादन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—अकुण्ठित बुद्धि वाले अपने कर्त्तव्यों में अन्तर न करने वाले पापरहित होकर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं संसार में भी कल्याण जो अपने ऊपर आच्छादित है ॥ ४ ॥

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥ ५ ॥

सम्ऽराजः । ये । सुऽवृधः । यज्ञम् । आऽययुः । अपरिऽह्वृता । दधिरे । दिवि । क्षयम् । तान् । आ । विवास । नमसा । सुवृक्तिऽभिः । महः । आदित्यान् अदितिम् । स्वस्तये ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये) ये खलु (सम्राजः) ज्ञानेन सम्यक् प्रकाशमानाः (सुवृधः) सुवृद्धिं प्राप्ताः (अपरिह्वृताः) कामादिभिर्दोषैरविचलिता अविचलितव्याश्च (यज्ञम्-आययुः) अध्यात्मयज्ञं यज्ञरूपं सङ्गमनीयं परमात्मानं वा साक्षात्कृतवन्तः कुर्वन्ति वा (दिवि क्षयं दधिरे) मोक्षधाम्नि निवासं धारयन्ति धारयितुं योग्याः सन्ति (तान् आदित्यान्) तान् किलाखण्डितज्ञानब्रह्मचर्ययुक्तान् (नमसा सुवृक्तिभिः) उत्तमान्नादि-भोगेन सुप्रशंसाभिश्च (अदितिं स्वस्तये-आविवास) अदितये 'व्यत्ययेन चतुर्थीस्थाने द्वितीया' अखण्डितायै कल्याणस्वरूपायै मुक्तये परिचर सेवस्व ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये) जो (सम्राजः) ज्ञान से सम्यक् प्रकाशमान (सुवृधः) उत्तम गुण वृद्ध (अपरिह्वृताः) कामादि से अविचलित या विचलित न होने वाले (यज्ञम्-आययुः) अध्यात्म यज्ञ या यज्ञरूप सङ्गमनीय परमात्मा को साक्षात् किये हुए हैं या करते हैं (दिवि क्षयं दधिरे) मोक्षधाम में निवास धारण करते हैं या धारण करने योग्य हैं (तान्-आदित्यान्) उन अखण्डित ज्ञान ब्रह्मचर्य से युक्त हुओं की (नमसा सुवृक्तिभिः) उत्तम अन्न आदि भोग से या शुभ प्रशंसाओं से (अदितिं स्वस्तये-आविवास) अखण्डित कल्याण स्वरूप मुक्ति के लिए सेवा सङ्गति कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो ज्ञानवृद्ध और गुणवृद्ध तथा कामादि दोषों से रहित मोक्ष के अधिकारी जीवन्मुक्त महानुभाव हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए अपनी कल्याण कामना के लिए ॥ ५ ॥

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ ६ ॥

कः । वः । स्तोमम् । राधति । यम् । जुजोषथ । विश्वे । देवासः । मनुषः । यति । स्थन । कः । वः । अध्वरम् । तुविऽजाताः । अरम् । करत् । यः । नः । पर्षत् । अति । अंहः । स्वस्तये ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वेदेवासः) हे सर्वविषयेषु प्रविष्टा विद्वांसः ! (मनुषः-यति स्थन) यूयं मननशीला यावन्तः सर्वे स्थ (यं जुजोषथ) यं परमात्मानं सेवध्वे (वः) युष्माकं मध्ये 'निर्धारणे षष्ठी' (कः स्तोमं राधति) कश्च स्तोतव्यं परमात्मानं साध्नोति साक्षात् करोति (वः) युष्माकं मध्ये (तुविजाताः) बहुप्रसिद्धा विद्वांसः (वः) युष्माकं मध्ये (कः) कः खलु (अध्वरम्-अरंकरत्) अध्यात्मयज्ञं पूर्णं करोति (यः-अंहः पर्षत्) यः पापादस्मान् पारयेत् (स्वस्तये) कल्याणाय ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ——(विश्वेदेवासः) हे सब विषयों में प्रविष्ट विद्वानो ! (मनुषः- यति-स्थन) तुम मननशील जितने हो (यं जुजोषथ) जिस परमात्मा को तुम उपासित करते हो-सेवन करते हो (वः) तुम्हारे मध्य में (कः स्तोमं राधति) कौन स्तुतियोग्य परमात्मा को साधित करता है-साक्षात् करता है (वः) तुम्हारे मध्य में (तुविजाताः) बहुत प्रसिद्ध विद्वान् (वः) तुम्हारे मध्य में (कः) कौन (अध्वरम्-अरं करत्) अध्यात्मयज्ञ को पूर्ण करता है (यः-अंहः पर्षत्) जो पाप से हमें पार करता है (स्वस्तये) कल्याण के लिए ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वानों के पास जाकर के अपने कल्याणार्थ उनसे जिज्ञासा प्रकट करे और कहे कि आप महानुभाव समस्त विद्याओं में प्रविष्ट हो, हम कैसे पाप से पृथक् रहें और परमात्मा का साक्षात्कार कैसे करें यह हमें समझाइये जिससे हम कल्याण को प्राप्त कर सकें ॥ ६ ॥

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ ७ ॥

येभ्यः । होत्राम् । प्रथमाम् । आऽयेजे । मनुः । समिद्धऽअग्निः । मनसा । सप्त । होतृऽभिः । ते । आदित्याः । अभयम् । शर्म । यच्छत । सुऽगा । नः । कर्त । सुऽपथा । स्वस्तये ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(समिद्धाग्निः-मनुः) प्रकाशितः साक्षात्कृतः परमात्माग्निर्येन तथाभूतो मननशीलः-उपासकः (येभ्यः) येभ्यो जीवन्मुक्तेभ्यः (प्रथमां होत्रां मनसा-आयजे) प्रमुखां वाचं वेदरूपां तत्र प्रतिपाद्यां स्तुतिं वा "होत्रा वाङ्नाम" [निघ० १ । -११] अवधानेन-आत्मसात् करोति 'पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः" (सप्तहोतृभिः) सप्तसंख्या-मितैः-ग्रहणकर्तृभिः साधनैः-मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारश्रोत्रनेत्रवाग्भिः (ते-आदित्याः) ते अखण्डज्ञान ब्रह्मचर्यवन्तः (नः-अभयं शर्म यच्छत) अस्मभ्यं भयरहितं सुखं प्रयच्छत (सुपथा सुगा कर्त) शोभनपथकानि सुगन्तव्यानि ज्ञानानि कुरुथ (स्वस्तये) कल्याणाय ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(समिद्धाग्नि:-मनुः) अग्रणायक परमात्मा जिसने साक्षात् कर लिया ऐसा मननशील उपासक (येभ्यः) जिन जीवन्मुक्त विद्वानों से (प्रथमां होत्रां मनसा-आयजे) प्रमुख वेदरूप वाणी को या उसमें प्रतिपादित स्तुति को अवधान से आत्मसात् करता है-अपनाता है (सप्तहोतृभिः) सात संख्या वाले ग्रहणकर्ता साधनों-मन बुद्धि चित्त अहङ्कार श्रोत्र नेत्र वाणियों से (ते-आदित्याः) वे अखण्डज्ञान ब्रह्मचर्य वाले (नः-अभयं शर्म यच्छत) हमारे लिए भयरहित सुख प्रदान करें (सुपथा सुगा कर्त) शोभन पथवाले अच्छे गन्तव्य-ज्ञान सम्पादन करो (स्वस्तये) कल्याण के लिए ॥ ७ ॥

भावार्थ—ऐसे जीवन्मुक्त जिन्होंने मन बुद्धि चित्त अहङ्कार श्रोत्र नेत्र और वाणी को परमात्मा में समर्पित किया हुआ है उनसे वेद का ज्ञान तथा वेदोक्त स्तुति का शिक्षण लेकर अपने अन्दर परमात्मा का साक्षात् करे, यह कल्याण का साधन है ॥ ७ ॥

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ ८ ॥

ये । ईशिरे । भुवनस्य । प्रऽचेतसः । विश्वस्य । स्थातुः । जगतः । च । मन्तवः । ते । नः । कृतात् । अकृतात् । एनसः । परि । अद्य । देवासः । पिपृत । स्वस्तये ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये) ये खलु (प्रचेतसः) प्रकृष्टचेतसः प्रकृष्टसावधानाः (मन्तवः) मननशीलाः (विश्वस्य भुवनस्य) सर्वस्योत्पन्नस्य (स्थातुः-जगतः-च) स्थावरस्य जङ्गमस्य तद्विषयकज्ञानस्य च (ईशिरे) स्वामित्वं कुर्वन्ति तज्ज्ञाने समर्थाः सन्ति यद्वा परमात्मन एव 'बहुवचनप्रयोग आदरार्थः' (ते देवासः) ते विद्वांसः ते कृपया (नः) अस्मान् (कृतात्-अकृतात् एनसः-अद्य पिपृत) कृतात् पापात् क्रियमाणात् सङ्कल्पमयात् पापात्-अस्मिन् जीवने रक्षत (स्वस्तये) कल्याणप्राप्तये ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये) जो (प्रचेतसः) प्रकृष्ट सावधान (मन्तवः) मननशील (विश्वस्य भुवनस्य) सब उत्पन्न हुए—(स्थातुः-जगतः-च) स्थावर और जङ्गम तथा उन सम्बन्धी ज्ञान का (ईशिरे) स्वामित्व करते हैं, उनके ज्ञान में समर्थ हैं अथवा परमात्मा उन के ज्ञान में समर्थ है (ते देवासः) वे विद्वान् या परमात्मा (नः) हमें (कृतात्-अकृतात्-एनसः-अद्य पिपृत) किये या किये जाने वाले सङ्कल्पमय पाप से आज अथवा इस जीवन में हमारी रक्षा करें (स्वस्तये) कल्याण के लिए ॥ ८ ॥

भावार्थ—मननशील सावधान विद्वान् अथवा परमात्मा सब उत्पन्न हुए स्थावर जङ्गम के जानने वाले होते हैं। वे हमें वर्तमान और भविष्य में होने वाले पापों से हमारे कल्याण के लिए हमें सावधान किया करते हैं। उनकी उपदेश और सङ्गति में जीवन बिताना चाहिए ॥ ८ ॥

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेंऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ ९ ॥

भरेषु । इन्द्रम् । सुऽहवम् । हवामहे । अंहःऽमुचम् । सुऽकृतम् । दैव्यम् । जनम् । अग्निम् । मित्रम् । वरुणम् । सातये । भगम् । द्यावापृथिवी इति । मरुतः । स्वस्तये ॥ ९ ।

संस्कृतान्वयार्थः—(भरेषु) कामादिभिः सह प्राप्तेषु संग्रामेषु (सुहवम्-अंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्-इन्द्रम्) सुगमतया ह्वातव्यं पापान्मोचकं सुष्ठु सृष्टिकर्त्तारं दैव्यं जनयितारं परमात्मानम् (अग्निं मित्रं वरुणं भगं द्यावापृथिवी मरुतः सातये स्वस्तये) ज्ञानप्रकाशकं संसारे कर्मकरणाय प्रेरकं मोक्षाय प्रेरकं मोक्षार्थं वरयितारं ज्ञानदातारं सर्वधारकं जीवनप्रदातारं परमात्मानं भोगप्राप्तये कल्याणाय मोक्षानन्दाय च (हवामहे) आह्वामहे ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(भरेषु) काम वासना आदि के साथ प्राप्त संघर्षों में (सुहवम्-अंहोमुचं सुकृतम्) सुगमता से पुकारने योग्य, पाप से छुड़ाने वाले, उत्तम सृष्टिकर्त्ता—(दैव्यं जनम्-इन्द्रम्) दिव्यगुणसम्पन्न तथा उत्पन्न करने वाले परमात्मा—(अग्निं मित्रं वरुणं भगम्) ज्ञान प्रकाशक, संसार में कर्म करने के लिए प्रेरक, मोक्ष के लिए वरने वाले ऐश्वर्यवान्—(द्यावापृथिवी मरुतः सातये स्वस्तये) ज्ञानदाता, सर्वधारक, जीवनप्रदाता परमात्मा को भोग प्राप्ति के लिए, कल्याण मोक्ष प्राप्ति के लिए (हवामहे) आह्वान करते हैं—बुलाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—कामवासना आदि दोषों से बचने के लिए तथा सुख शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रेरक धारक ज्ञानदाता परमात्मा की शरण लेनी चाहिए और उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिए ॥ ९ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १० ॥

सुऽत्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सुऽशर्माणम् । अदितिम् । सुऽप्रनीतिम् । दैवीम् । नावम् । सुऽअरित्राम् । अनागसम् । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुत्रामाणम्) सुखेन संसारसागरत्रात्रीम् (पृथिवीम्) प्रथिताम् (द्याम्) ज्ञानदीप्ताम् (अनेहसम्) निवृत्तपापाम् (सुशर्माणम्) सुसुखाम् (अदितिम्) अखण्डिताम् (सुप्रणीतिम्) आत्मनः सुप्रणयनकर्त्रीम् (स्वरित्राम्) शोभनारित्रामिव सुरक्षिताम् (अस्रवन्तीम्) अच्छिद्रां दृढाम् (दैवीं नावम्) अलौकिकीं नावं स्तुत्यां मुक्तिरूपां नौकाम् (आरुहेम-स्वस्तये) प्राप्नुयाम कल्याणाय ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(सुत्रामाणम्) सुख पूर्वक संसार सागर से रक्षा करने वाली (पृथिवीम्) प्रथित-(द्याम्) ज्ञान से दीप्त-(अनेहसम्) पापरहित-(सुशर्माणम्) उत्तम सुखरूप-(अदितिम्) अखण्डित-(सुप्रणीतिम्) आत्मा का सुप्रणयन करने वाली-(स्वरित्राम्) शोभन अरित्रों वाली जैसी सुरक्षित (अस्रवन्तीम्) छिद्ररहित दृढ़-(दैवीं नावम्) दैवी नौका को-उत्तम स्तुतियोग्य मुक्तिरूप नौका को (स्वस्तये-आरुहेम) कल्याण के लिए प्राप्त करें ॥ १० ॥

भावार्थ—मुक्ति संसार सागर से त्राण करने वाली, उत्तम सुख देने वाली, आत्मा को अपने स्वरूप में लाने वाली आदि सद्गुणों से युक्त दिव्य नौका के समान है। उसे हमें प्राप्त करना चाहिए ॥ १० ॥

विश्वे॑ यजत्रा॒ अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दु॒रेवा॑या अ॒भिह्रुतः॑ ।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑ ॥ ११ ॥

विश्वे॑ । य॒ज॒त्राः॒ । अधि॑ । वो॒च॒त॒ । ऊ॒तये॑ । त्राय॑ध्वम । नः॒ । दुः॒ऽए॒वाया॑ः । अ॒भिऽह्रु॑तः । स॒त्यया॑ । वः॒ । दे॒वऽहू॑त्या । हु॒वे॒म॒ । शृ॒ण्व॒तः॑ । दे॒वाः॒ । अव॑से । स्व॒स्तये॑ ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वेयजत्राः) हे सर्वविद्यासु प्रविष्टाः सङ्गमनीया विद्वांसः ! (ऊतये) रक्षायै (अधि वोचत) शिष्यत्वेनाधिकृत्यास्मानुपदिशत (दुरेवायाः-अभिह्रुतः-नः-त्रायध्वम्) दुर्दुःखं प्रापयति यां सा दुरेवा तस्याः कुटिलगतिकाया मनोभावनायाः-अस्मान् रक्षत (देवाः) हे विद्वांसः ! (शृण्वतः-वः) प्रार्थनां शृण्वतो युष्मान् (देवहूत्या सत्यया) देवान् यया ह्वयन्ते प्रार्थयन्ते तया शुद्धया स्तुत्या (अवसे स्वस्तये हुवेम) रक्षणाय कल्याणाय च प्रार्थयामहे ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वेयजत्राः) हे सब विद्याओं में प्रविष्ट सङ्गमनीय विद्वानो ! (ऊतये) रक्षा के लिए (अधि वोचत) शिष्यरूप से अधिकार में लेकर हमें उपदेश करो (दुरेवायाः-(अभिह्रुतः-नः-त्रायध्वम्) दुःख को प्राप्त कराने वाली कुटिल मनोभावना से हमें-हमारी रक्षा करो (देवाः) हे विद्वानों ! (शृण्वतः-वः) तुम प्रार्थना सुनने वालों को (देवहूत्या सत्यया) देवों को प्रार्थित करते हैं जिससे उस शुद्ध स्तुति के द्वारा (अवसे स्वस्तये हुवेम) रक्षा के लिए कल्याण के लिए प्रार्थित करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्याओं में निष्णात विद्वानों के पास शिष्यभाव से उपस्थित होकर विद्या ग्रहण करनी चाहिए। अपनी दुर्वासनाओं या दुष्प्रवृत्तियों को उनकी सङ्गति द्वारा दूर करना चाहिए। उनकी प्रशंसा अपने कल्याण के लिए-सद्भाव से करनी चाहिए ॥ ११ ॥

अपामी॑वा॒मप॒ विश्वा॒मना॑हुति॒मपारा॑तिं दु॒र्वि॑दत्रा॑मघाय॒तः ।
आ॒रे दे॑वा॒ द्वेषो॑ अ॒स्मद्यु॑योतनो॒रु णः॒ शर्म॑ यच्छता स्व॒स्तये॑ ॥ १२ ॥

अप॑ । अमी॑वाम् । अप॑ । विश्वा॑म् । अना॑हुतिम् । अप॑ । अरा॑तिम् । दुःऽवि॒दत्रा॑म् । अघऽयतः । आरे । दे॒वाः । द्वेषः॑ । अ॒स्मत् । यु॒यो॒त॒न॒ । उ॒रु । नः॒ । शर्म॑ । य॒च्छ॒त॒ । स्व॒स्तये॑ ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः) हे विद्वांसः ! (विश्वाम्) सर्वाम् (अमीवाम्) रोगस्थितिम् (अप०) दूरं प्रेरयत (अनाहुतिम्-अप०) अप्रार्थनां दूरं कुरुत (अरातिम्-अप०) अदानभावनां दूरं क्षिपत (दुर्विदत्राम्-अप०) दुष्टानुभूति भ्रान्ति दूरं प्रक्षिपत (अघायतः) पापमिच्छतः शत्रून् दूरं क्षिपत (द्वेषः-अस्मत्-आरे युयोतन) द्वेषभावान्-अस्मत्तो दूरे प्रेरयत (नः-उरु शर्म स्वस्तये यच्छत) अस्मभ्यं महत् सुखं कल्याणाय प्रयच्छत ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (विश्वाम्) सब (अमीवाम्) रोगस्थिति को (अप) दूर करो (अनाहुतिम्-अप) अप्रार्थना-नास्तिकता को दूर करो (अरातिम्-अप) अदानभावना को दूर करो (दुर्विदत्राम्-अप) दुष्टानुभूति-भ्रान्ति को दूर करो (अघायतः) हमारे प्रति पाप चाहने वाले शत्रुओं को दूर करो (द्वेषः-अस्मत्-आरे युयोतन) द्वेषभाव को हमसे दूर करो (नः-उरु शर्म स्वस्तये यच्छत) हमारे लिए-हमें बड़ा सुख कल्याणार्थ प्रदान करो ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वानों से आत्मिक मानसिक शारीरिक दोषों को दूर करने के लिए नम्र प्रार्थना करनी चाहिए जिससे सब प्रकार की सुख शान्ति और निरोगता प्राप्त हो सके ॥ १२ ॥

अरि॑ष्टः॒ स मर्तो॒ विश्व॑ एधते॒ प्र प्र॒जाभि॒र्जा॑यते॒ धर्म॑ण॒स्परि॑ ।
यमा॑दित्यासो॒ नय॑था सु॒नीति॒भि॒रति॒ विश्वा॑नि दु॒रि॒ता स्व॒स्तये॑ ॥ १३ ॥

अरि॑ष्टः । सः । मर्तः॑ । विश्वः॑ । ए॒ध॒ते॒ । प्र । प्र॒ऽजाभिः॑ । जा॒य॒ते॒ । धर्म॑णः । परि॑ । यम् । आ॒दि॒त्या॒सः॒ । नय॑थ । सु॒नी॒तिऽभिः॑ । अति॑ । विश्वा॑नि । दुः॒ऽइ॒ता । स्व॒स्तये॑ ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आदित्यासः) हे अखण्डितज्ञान-ब्रह्मचर्यवन्तो विद्वांसः ! (यं सुनीतिभिः) यं जनं शोभन नयन क्रियाभिः-सदाचरण शिक्षाभिः (विश्वानि दुरिता-अति) सर्वाणि पापानि खल्वतिक्राम्य (स्वस्तये नयथ) कल्याणाय नयथ (सः-विश्वः-मर्तः-अरिष्टः-प्र-एधते) स सकलो जनोऽपीडितः सन् प्रवर्धते (प्रजाभिः-धर्मणः-परि जायते) पुत्रादिभिः गुणेऽधिष्ठितः "पञ्चम्याः परावध्यर्थे [अष्टा० ८ । ३ । ५] सञ्जायते प्रसिद्ध्यति ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(आदित्यासः) हे अखण्ड ज्ञान ब्रह्मचर्य वाले विद्वानो ! (यं सुनीतिभिः) तुम जिस मनुष्य को शोभन नयन क्रियाओं द्वारा तथा सदाचरण शिक्षाओं द्वारा (विश्वानि दुरिता अति) सब पापों को अतिक्रमण कराकर (स्वस्तये नयथ) कल्याण के लिए ले जाते हो (सः-

विश्वः-मर्तः-अरिष्टः-प्र-एधते) वह सकल मनुष्य अपीडित होता हुआ बढ़ता है (प्रजाभिः-धर्मणः परि जायते) पुत्रादियों द्वारा गुण में अधिष्ठित हुआ प्रसिद्ध होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—अखण्ड ज्ञान ब्रह्मचर्य वाले विद्वानों के उपदेश व बताये हुए सदाचरण में जो मनुष्य रहता है वह पाप से वचकर स्वस्थ रहता है और सन्तानों का सुख प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १४ ॥

यम् । देवासः । अवथ । वाजऽसातौ । यम् । शूरऽसाता । मरुतः । हिते । धने । प्रातःऽयावानम् । रथम् । इन्द्र । सानसिम् । अरिष्यन्तम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मरुतः-देवासः) हे जीवन्मुक्ता विद्वांसः ! "मरुतो ह वै देवविशः" [कौ० ७ । ८] (यं वाजसातौ) यममृतभोगप्राप्तौ "अमृतोऽन्नं वै वाजः" [जै० २ । १६३] (यं शूरसाता) यं पापहिंसनप्राप्तौ (हिते धने) हितकरेऽध्यात्मधन निमित्ते (अवथ) रक्षथ (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (प्रातर्यावाणं रथम्) जीवनस्य प्रातर्ब्रह्मचर्येण गमनशक्तिमन्तं रमणीयम् (सानसिम्) शाश्वतं सुखरूपम् "सानसिं पुराणम्" [यजु० १२ । ११० दयानन्दः] (अरिष्यन्तम्) हिंसादोषरहितम् (स्वस्तये-आरुहेम) कल्याणाय समन्तात् प्राप्नुयाम ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(मरुतः-देवासः) हे जीवन्मुक्त विद्वानो ! (यं वाजसातौ) जिसको अमृत भोग प्राप्ति के निमित्त (यं शूरसाता) जिसको पापनाशनार्थं प्राप्ति के हेतु (हिते धने) हितकर अध्यात्म धन के निमित्त (अवथ) सुरक्षित रखते हो (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (प्रातर्यावाण रथम्) जीवन के प्रातः अर्थात् ब्रह्मचर्य से चलने की शक्ति वाले रमणीय (सानसिम्) शाश्वत सुखरूप-(अरिष्यन्तम्) हिंसित न होने वाले मोक्षधाम को (स्वस्तये-आरुहेम) कल्याण के लिए आरोहण करें-प्राप्त होवें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वानों के सङ्ग से अमृत अन्न भोग प्राप्ति और पापरहित शुद्ध वृत्ति सम्पादन के लिए उपदेश ग्रहण करना चाहिए। उससे परमात्मा पूर्ण ब्रह्मचर्य से सम्पन्न को मुक्ति सुख प्रदान करता है ॥ १४॥

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ १५ ॥

स्वस्ति । नः । पथ्यासु । धन्वऽसु । स्वस्ति । अप्ऽसु । वृजने । स्वःऽवति । स्वस्ति । नः । पुत्रऽकृथेषु । योनिषु । स्वस्ति । राये । मरुतः । दधातन ॥ १५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मरुतः) हे जीवन्मुक्ता विद्वांसः ! (नः स्वस्ति पथ्यासु धन्वसु) अस्मभ्यं स्वस्ति पथिभवासु मरुप्रदेशेषु भवतु (स्वस्ति-अप्सु) जलप्रदेशेषु जलेषु वा स्वस्ति भवतु (स्वर्वति वृजने) सुखवति सर्वं दुःखवर्जिते मोक्षे स्वस्ति भवतु (स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु) कल्याणं सन्तानकर्मसु गृहेषु भवतु (स्वस्ति राये दधातन) कल्याणं धनाय धारयत ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(मरुतः) हे जीवनमुक्त विद्वानो ! (नः स्वस्ति पथ्यासु धन्वसु) हमारे लिए स्वस्ति-कल्याण हो मार्ग में आने वाले मरु प्रदेशों में (स्वस्ति-अप्सु) जलप्रदेशों में कल्याण हो (स्वर्वति वृजने) सुखवाले दुःखवर्जित मोक्ष में कल्याण हो (पुत्रकृथेषु योनिषु नः स्वस्ति) सन्तान कर्मों में और गृहों में कल्याण हो (स्वस्ति राये दधातन) धन प्राप्त करने में कल्याण हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वानों के शिक्षण से अपने मार्गों में आये मरुस्थलों, जलस्थलों, सन्तानोत्पत्ति वाले गृहस्थलों, धन प्रसङ्गों, दुःखरहित मोक्षों को सुखमय बनाना चाहिए ॥ १५ ॥

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥ १६ ॥

स्वस्तिः । इत् । हि । प्रऽपथे । श्रेष्ठा । रेक्णस्वती । अभि । या । वामम् । एति । सा । नः । अमा । सो इति । अरणे । नि । पातु । सुऽआवेशा । भवतु । देवऽगोपा ॥ १६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्वस्तिः-इत्-हि) स्वस्तिः कल्याणभावना खल्वेव (प्रपथे) पथाग्रे (श्रेष्ठा) श्रेष्ठरूपा (रेक्णस्वती) धनधान्यवती (या वामम-अभ्येति) या वनयितारं सम्भजयितारं प्राप्नोति (सा नः) साऽस्मान् (अमा) गृहे "अमा गृहनाम" [निघ० ३ । ४] (सा नु-अरणे) साहि अरण्ये (नि पातु) निरन्तरं रक्षतु (देवगोपा स्वावेशा भवतु) देवैर्विद्वद्भी रक्षिता शोभनावेशयित्री भवतु ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(स्वस्तिः-इत्-हि) कल्याण भावना ही (प्रपथे) पथाग्र-मार्ग के प्रारम्भ में (श्रेष्ठा) श्रेष्ठरूप (रेक्णस्वती) धनधान्य वाली (या वामम्-अभ्येति) जो सेवन करने वालों को प्राप्त होती है (सा नः) वह हमें (अमा) घर में (सा नु-अरणे) वह ही जगंल में (नि पातु) निरन्तर रक्षा करे (देवगोपा स्वावेशा भवतु) विद्वानों द्वारा सुरक्षित शोभन प्रवेश वाली होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—विद्वानों द्वारा कल्याण भावना तथा रक्षा जीवन के प्रारम्भिक मार्ग पर, घर में अथवा जंगल में हमें सदा प्राप्त होती रहे, ऐसा सदा यत्न करना चाहिए ॥ १६ ॥

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी ।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन ॥ १७ ॥

एव । प्लतेः । सूनुः । अवीवृधत् । वः । विश्वे । आदित्याः । अदिते । मनीषी ।
ईशानासः । नरः । अमर्त्येन । अस्तावि । जनः । दिव्यः । गयेन ॥ १७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वे-आदित्याः) हे सर्वविषयेषु प्रविष्टा अखण्डित ज्ञान-ब्रह्मचर्यकाः परमर्षयः (अदिते) अदितये–अखण्डसुखसम्पत्तये व्यत्ययेन सम्बुद्धि (वः) युष्मान् (प्लतेः सूनुः) संसारसागरस्य पारयितुरध्यात्मयज्ञस्य 'प्लु गतौ' [भ्वादि०] 'ततो डतिर्बाहुलकादौणादिकः' प्रेरयिता (मनीषी) प्रज्ञावान् (अवीवृधत्) वर्धयति प्रशंसति (ईशानासः-नरः) यूयं ज्ञानस्वामिनो जीवनमुक्ताः (अमर्त्येन गयेन) मरण-धर्मरहितेन सर्वाश्रयेण प्राणरूपेण परमात्मना (दिव्यः-जनः) दिव्याः-मनुष्याः-ऋषयः 'एकवचनं व्यत्ययेन बहुवचने' (अस्तावि) वेदज्ञानं दत्त्वा प्रशंसिताः ॥ १७ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वे-आदित्याः) हे सब विषयों में प्रविष्ट अखण्ड ज्ञान ब्रह्मचर्यसम्पन्न परम ऋषियो ! (अदिते) अखण्ड सुखसम्पत्ति के लिए (वः) तुम्हें (प्लतेः सूनुः) संसार सागर को पार कराने वाले अध्यात्मयज्ञ का प्रेरक (मनीषी) प्रज्ञा वाला (अवीवृधत्) बढ़ाता है, प्रशंसा करता है (ईशानासः-नरः) तुम ज्ञान के स्वामी जीवन्मुक्त (अमर्त्येन गयेन) मरण धर्म रहित सब के आश्रय प्राणरूप परमात्मा ने (दिव्यः-जनः) दिव्य मनुष्य-ऋषि जन (अस्तावि) वेदज्ञान देकर प्रशंसित किये हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—अखण्डित ज्ञान और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न, सब विषयों में निष्णात, जीवन्मुक्त, संसार सागर से पार होने और अन्यों को विद्या सम्पन्न बनाने के लिए सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा या उससे प्रेरित संसार में पदार्पण करते हैं ॥ १७ ॥



चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गयः प्लातः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ४, ५, ९, १०, १३, १५ निचृज्जगती । २, ३, ७, ८, ११ विराड् जगती । ६, १४ जगती । १२ त्रिष्टुप् । १६ निचृत् त्रिष्टुप् । १७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते स्वकीय भावनानां विद्वत्सङ्गत्या विकासो रश्मि-लाभो, जीवन्मुक्तेभ्योऽध्ययनं परमात्मोपासनया मोक्ष-प्राप्तिश्चेत्येवमाद्यो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में अपनी भावनाओं का विद्वानों की सङ्गति से विकास, सूर्य किरणों से लाभ, जीवन्मुक्तों से अध्ययन, परमात्मा की उपासना से मोक्षप्राप्ति आदि विषय हैं ॥

कथा देवानां कतमस्य यामनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे ।
को मृळाति कतमो नो मयस्करत्कतम ऊती अभ्या ववर्तति ॥ १ ॥

कथा । देवानाम् । कतमस्य । यामनि । सुऽमन्तु । नाम । शृण्वताम् । मनामहे । कः । मृळाति । कतमः । नः । मयः । करत् । कतमः । ऊती । अभि । आ । ववर्तति ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यामनि) संसारयात्रायां जीवनमार्गे वा (शृण्वतां देवानाम्) अस्माकं प्रार्थनां शृण्वतां देवानां मध्ये (कतमस्य कथा सुमन्तु नाम मनामहे) कतमस्य कथं सुमन्तव्यं नाम मन्यामहे स्मरामः (कः-नः-मृळाति) कः खलु-अस्मभ्यमभीष्टं ददाति "मृळाति दानकर्मा" [निरु० १० । १६] (कतमः-मयः-करत्) कतमः सुखं करोति (कतमः-ऊती-अभ्याववर्तति) कतमः-रक्षायै पुनः पुनः कल्याणसाधनायै-अस्मान् प्रतिवर्तते ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(यामनि) संसार यात्रा में या जीवनमार्ग में (शृण्वतां देवानाम्) हमारी प्रार्थना को सुनने वाले देवों के मध्य (कतमस्य कथा सुमन्तु नाम मनामहे) कौनसे तथा कैसे सुमन्तव्य नाम को हम मानें-स्मरण करें (कः-नः-मृळाति) कौन हमें सुखी करता है

(कतमः-मयः-करत्) कौन सुख देता है (कतमःऊती अभ्यावववर्तति) कौन रक्षा के लिए पुनः पुनः कल्याण साधने के लिए हमारे प्रति बरतता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि इस संसार यात्रा में या जीवनयात्रा में सच्चा साथी कौन है। कौन देव मानने और स्मरण करने योग्य है। कौन सुख पहुंचाता है। कौन हमारा सच्चा रक्षक है तथा जीवन को सहारा देता है। ऐसा विवेचन करके जो इष्टदेव परमात्मा सिद्ध होता है उसकी शरण लेनी चाहिए ॥ १ ॥

क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत ॥ २ ॥

क्रतुऽयन्ति । क्रतवः । हृत्ऽसु । धीतयः । वेनन्ति । वेनाः । पतयन्ति । आ । दिशः । न । मर्डिता । विद्यते । अन्यः । एभ्यः । देवेषु । मे । अधि । कामाः । अयंसत ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(हृत्सु) मनः प्रभृतिषु वर्तमानाः (क्रतवः-क्रतूयन्ति) सङ्कल्पाः सङ्कल्पयन्ति (धीतयः) प्रज्ञाः "धीतिः प्रज्ञा" [निरु० १० । ४०] (वेनाः-वेनन्ति) कामनाः कामयन्ते (दिशः-आपतयन्ति) देशनाः–उद्देशप्रवृत्तयः समन्ताद् प्रवर्तन्ते (एभ्यः-अन्यः-मर्डिता न विद्यते) एभ्यो देवेभ्योऽन्योन सुखयिता विद्यते (देवेषु मे कामाः-अयंसत) विद्वत्सु मम कामाः–आश्रिताः सन्ति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(हृत्सु) हृदयों में-मन आदि के अन्दर (क्रतवः-क्रतूयन्ति) सङ्कल्पधारायें सङ्कल्प विकल्प करती हैं (धीतयः) बुद्धियां (वेनाः-वेनन्ति) कामनाधारायें विविध कामनायें करती हैं (दिशः-आपतयन्ति) उद्देश्यप्रवृत्तियां समन्तरूप से प्रवृत्त होती रहती हैं (एभ्यः-अन्यः-मर्डिता न विद्यते) इन देवों से अन्य सुखी करने वाला कोई नहीं है (देवेषु मे कामाः-अयंसत) विद्वानों में मेरी कामनाएं आश्रित हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के अन्दर कुछ भावनात्मक शक्तियां काम करती रहती हैं। जैसे मन आदि के अन्दर सङ्कल्पधारायें उठती हैं। कामनाएं जैसे प्रवृत्त होती रहती हैं, नाना प्रकार की बुद्धियां भी चलती हैं अनेक उद्देश दिशाएं भी उभरती रहती हैं। यद्यपि ये सब मनुष्य के सुख साधन के लिए होती हैं फिर भी विद्वानों की सङ्गति से उनको और अधिक उत्कृष्ट बनाना चाहिए जिससे वे अधिक सुखदायी बनें ॥ २ ॥

नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ३ ॥

नराशंसम् । वा । पूषणम् । अगोह्यम् । अग्निम् । देवऽइद्धम् । अभि । अर्चसे । गिरा । सूर्यामासा । चन्द्रमसा । यमम् । दिवि । त्रितम् । वातम् । उषसम् । अक्तुम् । अश्विना ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वा) अथ च (नराशंसम्) नरैर्मनुष्यैः प्रशंसनीयम् (पूषणम्) पोषयितारम् (अगोह्यम्-अग्निम्) प्रत्यक्षीकरणीयमग्निरूपं परमात्मानम् (देवेद्धम्) देवैर्विद्वद्भिः स्वान्तरात्मनि साक्षात्करणीयं परमात्मानम् (गिरा-अभ्यर्चसे) स्तुत्या खल्वभिष्टुहि (सूर्यामासा चन्द्रमसा) सूर्याचन्द्रमसौ-सूर्यचन्द्रौ-सूर्यचन्द्राविव ज्ञानप्रकाशस्नेहप्रसारकं तं परमात्मानम् (यमम्) जगन्नियन्तारम् (दिवि त्रितम्) मोक्ष-धाम्नि वर्तमानं त्रिषु लोकेषु ततं व्यापकम् (वातम्) वात इव जीवनप्रदस्तम् (उषसम्-अक्तुम्) जागृतिप्रदं स्नेहप्रदं परमात्मानम् (अश्विना) ज्योतिर्मयमानन्दरसमयं च पूजय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(वा) और (नराशंसम्) मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय-(पूषणम्) पोषण करने वाले-(अगोह्यम्-अग्निम्) प्रत्यक्ष करने योग्य अग्निरूप-(देवेद्धम्) देवों-विद्वानों द्वारा साक्षात् करने योग्यपरमात्मा को (गिरा-अभ्यर्चसे) स्तुति के द्वारा पूजित कर (सूर्यमासा चन्द्रमसा) सूर्य और चन्द्रमारूप ज्ञानप्रकाशक और स्नेहप्रसारक-(यमम्) जगन्नियन्ता परमात्मा को (दिवि त्रितम्) मोक्षधाम में वर्तमान तथा तीनों लोकों में व्यापक-(वातम्) वायु के समान जीवनप्रद उषसम्-अक्तुम्) जागृतिप्रद और स्नेहप्रद-(अश्विना) ज्योतिर्मय और आनन्दरसमय परमात्मा को पूजित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा समस्त देवों के गुणों से युक्त है वह मनुष्यों तथा ऋषियों द्वारा स्तुति करने योग्य और साक्षात् करने योग्य है ॥ ३ ॥

कथा कविस्तुवीरवान् कया गिरा बृहस्पतिर्वावृधते सुवृक्तिभिः ।
अज एकपात्सुहवेभिर्ऋक्वभिरहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि ॥ ४ ॥

कथा । कविः । तुविऽरवान् । कया । गिरा । बृहस्पतिः । ववृधते । सुवृक्तिऽभिः । अजः । एकऽपात् । सुऽहवेभिः । ऋक्वऽभिः । अहिः । शृणोतु । बुध्न्यः । हवीमनि ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तुवीरवान् कविः) बहुज्ञानवतः स्वामी "तुवि बहुनाम" [निघ० ३ । १] बहूनि ज्ञानानि विद्यन्ते यस्मिन् स वेदस्तद्वान् क्रान्तदर्शी सर्वज्ञः (बृहस्पतिः) परमात्मा (कथा) कथम् (कया गिरा) कया वाचा "गीर्वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (सुवृक्तिभिः) सुस्तुतिभिः "सुवृक्तिभि-शोभनाभिः स्तुतिभिः" [निरु० २ । २४] (वावृधते) स्तोतुरात्मनि भृशंवर्धते साक्षाद् भवति (अजः-एकपात्) स खलु जगत्येक एव स्वगुणैः प्राप्तो भवति (अहिः-बुध्न्यः) अहन्तव्यनियमः बोधव्यः (सुहवेभिः-ऋक्वभिः) शोभनह्वानैः-ऋक्स्तोत्रैः (हवीमनि) ह्वानप्रसङ्गे (शृणोतु) शृणुयात् ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(तुवीरवान् कविः) बहुत ज्ञानाधिकरण वेदवाला सर्वज्ञ क्रान्तदर्शी (बृहस्पतिः) परमात्मा (कथा) कैसे (कयागिरा) किस वाणी से (सुवृक्तिभिः) शोभन स्तुतियों

के द्वारा (वावृधते) स्तोता के आत्मा में भलीभांति बढता है-साक्षात् होता है (अजः-एकपात्) वह जगत् में एक अकेला ही अपने गुणों से प्राप्त होने वाला है (अहिः-बुध्न्यः) अहिंसित नियमों वाला बोधन करने योग्य है (सुहवेभिः-ऋक्वभिः) सुन्दर हाव-भावों से, ऋचारूप स्तोत्रों से (हवीमनि) ह्वान-प्रार्थना प्रसङ्ग में (शृणोतु) वह सुने ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदज्ञान का स्वामी परमात्मा स्तुति प्रार्थनाओं द्वारा जब स्तुत किया जाता है तो वह किसी न किसी प्रकार स्तोता के अन्तरात्मा में साक्षात् होता है और वेदोक्त स्तुति प्रार्थनाओं को अवश्य स्वीकार करता है ॥ ४ ॥

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि ।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥ ५ ॥

दक्षस्य । वा । अदिते । जन्मनि । व्रते । राजाना । मित्रावरुणा । आ । विवाससि । अतूर्तऽपन्थाः । पुरुऽरथः । अर्यमा । सप्तऽहोता । विषुऽरूपेषु । जन्मऽसु ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अदिते) हे अनश्वर परमात्मन् ! (दक्षस्य) दक्ष्यन्ते समृद्ध्यन्ते यस्मै पदार्थाः स आत्मा तस्य "अथ यदस्मै तत्समृद्ध्यते स दक्षः" [श० ४ । १ । ४ । १] (जन्मनि व्रते) जन्मनि कर्मणि (राजाना मित्रावरुणा) शरीरे वर्तमानौ प्राणापानौ "प्राणापानौ वै मित्रावरुणौ" [काठ० २६ । १] (विवाससि) विशिष्टतया वासयसि प्रकटयसि (अतूर्तपन्थाः) य आत्मा अत्वरणपन्थाः-गम्भीरमार्गकः (पुरुरथः) बहुरमणसाधनः (अर्यमा) शरीरस्य स्वामी (सप्तहोता) सप्ताः सृप्ताः सर्पणशीलाः प्राणा यस्य तथाभूतः (विषुरूपेषु जन्मसु) भिन्न भिन्नरूपेषु जन्मसु प्रवर्तमानोऽस्तीत्याध्यात्मम् ।

अथ दैवतम्—(अदिते) हे प्रातस्तनि-उषो देवते ! (दक्षस्य जन्मनि) स्वजन्मनि सूर्यस्य जन्मनि वा (व्रते) कर्मणि (राजाना मित्रावरुणा) राजमानौ-अहोरात्रौ "अहोरात्रौ मित्रावरुणौ" [तां २५ । १० । १०] (विवाससि) परिचरसि सेवसे (अतूर्तपन्थाः) अत्वरमाणपन्थाः-एकरसमार्गकोऽतिचालित मार्गक (पुरुरथः) बहूनां रमणस्थानः (अर्यमा) आदित्यः "अर्यमाऽऽदित्यः" [निरु० ११ । २३] (सप्तहोता) सप्तवर्णका रश्मयो यस्य रसाहरणशीलाः सः (विषुरूपेषु जन्मसु) विषुरूपेषु खलु कर्मसूदयेषु "विषमरूपेषु जन्मसु कर्मसूदयेषु" [निरु० ११ । २३] दृश्यते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(अदिते) हे अनश्वर परमात्मन् ! (दक्षस्य) संसार के भोगपदार्थ जिसके लिए समृद्ध-सम्पन्न किये जाते हैं उस आत्मा के (जन्मनि व्रते) जन्मरूप कर्म में-जन्म होने पर (राजाना मित्रावरुणा) शरीर में वर्तमान प्राण और अपानों को (विवाससि) विशिष्टतया प्रकट करता है- अपनाता है (अतूर्तपन्थाः) जो आत्मा तुरन्त शरीर में चेतना मार्ग फैलाने वाला है (पुरुरथः) बहुत रमण साधन मन वाला (अर्यमा) शरीर का स्वामी (सप्तहोता) सर्पणशील

प्राणों वाला (विपुरूपेषु जन्मसु) भिन्न-भिन्न रूपों वाले जन्मों में-योनियों में प्रवर्तमान होता है यह आध्यात्मिक अर्थ है।

आधिदैविक दृष्टि से—

(अदिते) हे प्रातः प्रकट होने वाली उषा देवता ! (दक्षस्य जन्मनि) अपने जन्म-उदय के अवसर पर या सूर्य के जन्म-उदय के अवसर पर (व्रते) कर्म में (राजाना मित्रावरुणा) राज-मान-प्रकट हुए दोनों दिन-रातों को (विवाससि) साथ सेवन करती है (अतूर्तपन्थाः) एकरस मार्गवाला अविचलित (पुरुरथः) बहुत रमणस्थान वाला-प्रायः सर्वत्र आकाश में रमण करने वाला (सप्तहोता) सात रंग की किरणों वाला (अर्यमा) सूर्य (विपुरूपेषु जन्मसु) विषमरूप उदयप्रसङ्गों में वर्तमान रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा के नियमानुसार कर्मफल भोगने के लिए सृष्टि के भोग्य पदार्थ चेतन तत्व जीवात्मा के लिए हैं उनके भोगार्थ वह देहधारण करता है। देह में प्रथम श्वास प्रश्वास का प्रचालन करता है जिससे उसकी प्रतीति होती है। वह भिन्न-भिन्न विषयों में रमण साधन मन से युक्त होता है तथा समस्त शरीर में अपनी चेतना का प्रसार प्राणों द्वारा करता है। वह शरीर का स्वामी भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म पाता है।

आकाश में जब उषा-पीतिमा रात्रि के पश्चात् प्रकट होती है और सूर्य उदय होने को होता है तो दिनरात युगलरूप में उनसे सङ्गत हुए प्रतीत होते हैं। सूर्य अपनी सात रंग की किरणों से आकाशमण्डल में प्रकाश फैलाता है और प्रतिदिन भिन्न-भिन्न स्थितियों में उदय होता रहता है ॥ ५ ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेधसाताविव त्मना महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥ ६ ॥

ते । नः । अर्वन्तः । हवनऽश्रुतः हवम् । विश्वे । शृण्वन्तु । वाजिनः । मितऽद्रवः ।
सहस्रऽसाः । मेधसातौऽइव । त्मना । महः । ये । धनम् । समऽइथेषु । जभ्रिरे ॥६॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते-अर्वन्तः) ते खलु विद्वांसः-उच्चविज्ञानवन्तः "अर्वन्तः प्रशस्तविज्ञानवन्तः" [यजु० १५ । ४२ दयानन्दः] "ऋ गतौ" [भ्वादिः] 'ततो विच् छान्दसः', अर् विद्या तद्वन्तः (हवनश्रुतः) ये ह्वानं प्रार्थनावचनं शृण्वन्ति स्वीकुर्वन्ति (ते वाजिनः-मितद्रवः) ते-आत्मबलवन्तः शास्त्रप्रमिताचरणवन्तः "मितद्रः-यो मितं शास्त्र-सम्मितं द्रवति सः" [ऋ० ७ । ७ । १ दयानन्दः] (विश्वे शृण्वन्तु) ते सर्वे प्रार्थना-वचनं शृण्वन्तु स्वीकुर्वन्तु (सहस्रसा मेधसातौ-इव) बहुविज्ञान सम्भक्तौ-ज्ञानसम्भजनं भवति यत्र तत्र ज्ञानगोष्ठौ 'इवानर्थकः' "इवोऽपि दृश्यते" [निरु० १ । १०] (त्मना) आत्मना शिष्यभावेनात्मसमर्पणं कृतवता (ये समिथेषु) ये-अज्ञानादिभिः सह संग्रामेषु प्रवृत्ताः (धनं जभ्रिरे) ज्ञानं धनं ग्राहयन्ति 'अन्तर्गतो णिजर्थः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते-अर्वन्तः) वे विद्वान्-उच्चविज्ञान वाले (हवनश्रुतः) जो ह्वान-प्रार्थना वचन को सुनते हैं-स्वीकार करते हैं (ते वाजिनः-मितद्रवः) वे आत्मबलसम्पन्न शास्त्रप्रमाणित आचरण करने वाले (विश्वे शृण्वन्तु) वे सब प्रार्थना वचन को सुनें-स्वीकार करें (सहस्रसा मेधसातौ-इव) बहुत विज्ञान सम्भक्ति में अर्थात् बहुत ज्ञान वाली गोष्ठी में (त्मना) आत्मा से अर्थात् शिष्यभाव से आत्मा को समर्पण करने वाले के द्वारा (ये समिथेषु) जो अज्ञानादि संग्रामों में प्रवृत्त हुए-हुए हैं (धनं जभ्रिरे) ज्ञान धन को ग्रहण कराते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—ऊंचे विद्वान् शास्त्र अनुसार आचरण करते हैं। वे ज्ञानप्राप्त कराने की प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करते हैं। जब कोई उनकी गोष्ठी में शिष्यभाव से आता है या आवे और जो अज्ञान आदि के साथ संग्राम करने के इच्छुक होता है उसे वे ज्ञान प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

प्र वो वायुं रथयुजं पुरंधिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय पूषणम् ।
ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः ॥ ७ ॥

प्र । वः । वायुम् । रथऽयुजम् । पुरम्ऽधिम् । स्तोमैः । कृणुध्वम् । सख्याय । पूषणम् । ते । हि । देवस्य । सवितुः । सवीमनि । क्रतुम् । सचन्ते । सऽचितः । सऽचेतसः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) हे जीवन्मुक्ता विद्वांसः ! यूयम् 'विभक्ति व्यत्ययः' (रथयुजं वायुम्) रमणीयमोक्षे योजयति-प्रापयति यस्तं सर्वत्र विभुगतिकम् (पुरन्धिम्) पुरुं बहुविधं संसारं धारयति यस्तम् [पूषणम्) पोषयितारं परमात्मानम् (स्तोमैः-सख्याय प्रकृणुध्वम्) स्तुतिसमूहैः सख्याय सखित्वाय सत्कृतं कुरुत (ते हि) युष्मादृशास्ते खलु (सवितुः-देवस्य सवीमनि) उत्पादकस्य परमात्मदेवस्य-उत्पादिते जगति (सचितः-सचेतसः) समानज्ञानाः सावधानाः सन्तः (क्रतुं सचन्ते) श्रेष्ठकर्म सेवन्ते ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) हे जीवनमुक्त विद्वानो ! तुम (रथयुजं वायुम्) रमणीय मोक्ष को योजित करने-प्राप्त कराने वाले सर्वत्र विभुगतिमान्-(पुरन्धिम्) बहुविध संसार को धारण करने-वाले (पूषणम्) पुष्टिकर्ता परमात्मा को (स्तोमैः सख्याय प्रकृणुध्वम्) स्तुतिसमूहों द्वारा मित्रता के लिए सत्कृत करो (ते हि) जो तुम्हारे जैसे विद्वान् होते हैं वे (सवितुः-देवस्य सवीमनि) उत्पादक परमात्मदेव के उत्पन्न किये संसार में (सचितः-सचेतसः) समान ज्ञान सावधान हुए-हुए (क्रतुं सचन्ते) श्रेष्ठकर्म को सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वान् परमात्मा की मित्रता करने के लिए उसका स्तुतियों द्वारा सत्कार करते हैं जो कि मोक्ष का प्रदान करने वाला है। उस ऐसे परमात्मा को अपना इष्टदेव मान कर ही उसकी प्राप्ति के लिए सदाचरण किया करते हैं ॥ ७ ॥

त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये ।
कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥ ८ ॥

त्रिः । सप्त । सस्राः । नद्यः । महीः । अपः । वनस्पतीन् । पर्वतान् । अग्निम् । ऊतये । कृशानुम् । अस्तॄन् । तिष्यम् । सधऽस्थे । आ । रुद्रम् । रुद्रेषु । रुद्रियम् । हवामहे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्रिः सप्त) त्रिः–त्रिषु लोकेषु ये सप्त रश्मीन् (सस्राः-नद्यः) सरन्तीः–नदीः (महीः-अपः) बह्वीः-अपो बहूनि जलानि (वनस्पतीन्) ओषधिवनस्पतीन् (पर्वतान्) गिरीन् (अग्निम्) अग्निं पदार्थम् (ऊतये) रक्षायै (कृशानुम्) विद्युतम् "कृशानोः-विद्युतः" [१ । १५५ । २ दयानन्दः] (अस्तॄन्) मेघक्षेप्तॄन् मेघस्थ जल प्रक्षेप्तॄन् वायून् (तिष्यम्) सूर्यम् "तिष्यः-आदित्यः" [ऋ० ५ । ५४ । १३ दयानन्दः] (रुद्रेषु रुद्रियं रुद्रम्) अग्निषु "अग्निरपि रुद्र उच्यते" [निरु० १० । ७] होम्यमग्निम् (सधस्थे-आ हवामहे) स्वकीय समानस्थाने सम्मेलने होमयज्ञे वा समन्तात् प्रयुञ्ज्महे ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्रिः सप्त) तीनों लोकों में सात रश्मियों-(सस्राः-नद्यः) बहती हुई नदियों-(महीः-अपः) बहुतेरी जलधाराओं-(वनस्पतीन्) ओषधि वनस्पतियों-पर्वतान्) पर्वतों-(अग्निम्) अग्नि को (ऊतये) रक्षा के लिए (कृशानुम्) विद्युत् को (अस्तॄन्) मेघों को फेंकने वाली हवाओं को (तिष्यम्) सूर्य को (रुद्रेषु रुद्रियं रुद्रम्) अग्नियों में होमवाली अग्नि को (सधस्थं-आ हवामहे) अपने समानस्थान में सम्मेलन में होमयज्ञ में भलीप्रकार प्रयोग करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—तीनों लोकों में फैली हुई सूर्य की रश्मियों तथा नदी और जलधाराओं, पर्वतों, विद्युत्, अग्नि, सूर्य मेघक्षेपक हवाओं का उपयोग विशेष विज्ञान तथा होम के द्वारा लेना चाहिए ॥ ८ ॥

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः ।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥ ९ ॥

सरस्वती । सरयुः । सिन्धुः । ऊर्मिऽभिः । महः । महीः । अवसा । आ । यन्तु । वक्षणीः । देवीः । आपः । मातरः । सूदयित्न्वः । घृतऽवत् । पयः । मधुऽमत् । नः । अर्चत ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सरस्वती) सुन्दरजलवती मेघधारा (सरयुः) नीचैः सरणशीला वृष्टिधारा (सिन्धुः) पृथिव्यां स्पन्दमाना नदी (ऊर्मिभिः) तरङ्गैः (महीः)

सर्वा महत्यः (वक्षणीः) वहनशीलाः (अवसा यन्तु) रक्षण हेतुना प्राप्नुवन्तु (देवीः-आपः-मातरः) ता दिव्याः सर्वाः-अन्नादिनिर्मात्र्यः (घृतवत् मधुमत् पयः-सूदयित्वः-अर्चत) तेजोवत्–तेजस्वि मधुरं जलं क्षरन्त्यः तृप्यन्तु ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सरस्वती) सुन्दर जलवाली मेघधारा (सरयुः) नीचे सरणशीला वर्षाधारा (सिन्धुः) पृथिवी में स्पन्दनशील-बहती हुई नदी (ऊर्मिभिः) अपनी-अपनी तरङ्गों से (महीः) सारी बड़ी (वक्षणीः) बहने वाली (अवसा यन्तु) रक्षण के हेतु प्राप्त होवें (देवीः-आपः-मातरः) वे सब दिव्य जल अन्नादि निर्माण करने वाली जलधाराओं ! (घृतवत्-मधुमत् पयः) तेजयुक्त तथा मधुर स्वाद वाले जल को (सूदयित्वः-अर्चत) रिसाती हुई हमें तृप्त करो ॥ ९ ॥

भावार्थ—आकाश में मेघधारायें अन्तरिक्ष में वर्षा और पृथिवी पर बहती हुई नदियां हमारी रक्षा के निमित्त हैं। पृथिवी पर वर्तमान सारे जल अन्न को निर्माण करने वाले तेजस्वी एवं मधुर होते हुए हमें तृप्त करते हैं। इनका हम उपयोग करें और इनके रचयिता परमात्मा का धन्यवाद करें॥ ९ ॥

उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस्त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः ।
ऋभुक्षा वाजो रथस्पतिर्भगो रण्वः शंसः शशमानस्य पातु नः ॥१०॥

उत । माता । बृहत्ऽदिवा । शृणोतु । नः । त्वष्टा । देवेभिः । जनिऽभिः । पिता । वचः । ऋभुक्षाः । वाजः । रथः पतिः । भगः । रण्वः । शंसः । शशमानस्य । पातु । नः ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उत) अपि च (बृहद्दिवा) महद्दीप्तिका (माता) जगन्माता–जगन्निर्माता (त्वष्टा पिता) कर्मानुरूपं शरीररचयिता पिता परमात्मा (जनिभिः) स्वोत्पादन–शक्तिभिः (नः-वचः शृणोतु) अस्माकं प्रार्थनावचनं शृणोतु–स्वीकरोतु (ऋभुक्षाः) ऋभून् मेधाविनः क्षाययति निवासयति [ऋ० १ । १११ । ४ दयानन्दः] (वाजः) बलवान् 'मतुब्लोपश्छान्दसः' (रथस्पति) रमणीयमोक्षस्य स्वामी मोक्षदाता (भगः) भजनीयः (रण्वः) रमणीयः (शशमानस्य शंसः) प्रशंसमानस्य स्तोतुः शंसनीयः स्तोतव्यः (नः-पातु) अस्मान् रक्षतु ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(उत) और (बृहद्दिवा) महती दीप्ति वाला (जनिभिः) अपनी उत्पादन शक्तियों द्वारा (माता) जगत् का निर्माण कर्त्ता (त्वष्टा पिता) कर्मानुरूप शरीररचयिता पिता परमात्मा (नः-वचः शृणोतु) हमारे प्रार्थनावचन को सुने-स्वीकार करे (ऋभुक्षाः) ऋभुओं-मेधावी जनों को बसाने वाला (वाजः) बलवान् (रथस्पति) रमणीय मोक्ष का स्वामी-मोक्षदाता (भगः) भजनीय (रण्वः) रमणीय (शशमानस्य शंसः) प्रशंसमान-स्तुति करने वाले का स्तुति करने योग्य (नः पातु) हमारी रक्षा करे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी उत्पादन शक्तियों द्वारा जगत् की माता और पिता है। वह कर्मानुसार शरीर का निर्माण करता है। मेधावी जनों को वसाने वाला, स्तुति करने वालों का स्तुतियोग्य मोक्षदाता है ॥ १० ॥

रण्वः संदृष्टौ पितुमाँ इव क्षयो भद्रा रुद्राणां मरुतामुपस्तुतिः ।
गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा सदा देवास इळया सचेमहि ॥ ११ ॥

रण्वः । सम्ऽदृष्टौ । पितुमान्ऽइव । क्षयः । भद्रा । रुद्राणाम् । मरुताम् । उपऽस्तुतिः ।
गोभिः । स्याम । यशसः । जनेषु । आ । सदा । देवासः । इळया । सचेमहि ॥११॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रण्वः) रमणीयः स परमात्मा (सन्दृष्टौ) साक्षाद्दर्शने (पितुमान्-इव क्षयः) अन्नभोगवानिव निवासोऽस्ति "पितुः-अन्नम्" [निघ० २ । ७] (रुद्राणां मरुताम्) विदुषाम् "रुद्राः-विद्वांसः" [यजु० ११ । ४८ दयानन्दः] उपदेष्टॄणां जीवन्मुक्तानाम् "मरुतो ह वै देवविशः" [कौ० ७ । ८] (उपस्तुतिः) उपप्रशस्तिरनुमोदनाशीः (भद्रा) कल्याणकारिणी भवति (जनेषु-गोभिः-यशसः-आ स्याम) मनुष्येषु वयं वाग्भिर्विद्याभिर्यशस्विनः समन्तात् प्रसिद्धा भवेम (देवासः) हे विद्वांसः ! (सदा-इळया सचेमहि) सर्वदा वाचा "इळा वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] सङ्गच्छेम ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(रण्वः) वह रमणीय परमात्मा (सन्दृष्टौ) साक्षात् दर्शन में (पितुमान्-इव क्षयः) अन्न भोगवान् निवास के समान है-आनन्द भण्डार है (रुद्राणां मरुताम्) उपदेष्टा जीवन्मुक्त विद्वानों का (उपस्तुतिः) अनुमोदनरूप आशीर्वाद (भद्रा) कल्याणकारी है (जनेषु-गोभिः-यशस,-आ स्याम) मनुष्यों में हम वाणी द्वारा यशस्वी प्रसिद्ध होवें (देवासः) हे विद्वानों ! (सदा-इळया सचेमहि) सदा स्तुतिवाणी से सङ्गत होवें ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमात्मा रमणीय आनन्द भण्डार है। वह जीवन्मुक्त विद्वानों की अनुमोदनीय कल्याणकारी आशा है। उसकी स्तुति द्वारा मनुष्यों में यश और प्रसिद्धि के पात्र बन जाते हैं ॥ ११ ॥

यां मे धियं मरुत इन्द्र देवा अददात वरुण मित्र यूयम् ।
तां पीपयत पयसेव धेनुं कुविद्गिरो अधि रथे वहाथ ॥ १२ ॥

याम् । मे । धियम् । मरुतः । इन्द्र । देवाः । अददात । वरुण । मित्र । यूयम् ।
ताम् । पीपयत । पयसाऽइव । धेनुम् । कुवित् । गिरः । अधि । रथे । वहाथ ॥१२॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मरुतः) हे जीवन्मुक्ताः ! (इन्द्र) हे ज्ञानप्रकाशकाचार्य ! (वरुण) हे वरयिता उपदेशक ! (मित्र) हे प्रेरक ! अध्यापक ! (देवाः-यूयम्)

विद्वांसो यूयम् (यां धियम्-अददात) यां मेधां ज्ञानबुद्धिं कर्मबुद्धिं दद्ध्वे (तां पीपयत) तां तत्फलेन वर्धयत (पयसा-इव धेनुम्) यथा दुग्धेन गां गोपालः प्रपूर्णां करोति तद्वत् (गिरः-अधि रथे कुवित्-वहाथ) वाचो विद्याः-ज्ञानानि रमणीये मोक्षेऽधि बहुप्रकारेण प्रेरयत मोक्षं प्रापयितुं भावयत ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(मरुतः) हे जीवन्मुक्त विद्वानो ! (इन्द्र) हे ज्ञानप्रकाशक आचार्य ! (वरुण) हे वरयिता उपदेशक (मित्र) हे प्रेरक अध्यापक ! (देवाः-यूयम्) विद्वानो तुम (यां-धियम्-अददात्) जिस मेधा-ज्ञानबुद्धि को या कर्मबुद्धि को देते हो (तां पीपयत) उसे उसके फल से बढाओ (पयसा-इव-धेनुम्) जैसे दूध से गोपाल गौ को प्रपूर्ण करता है वैसे ही (गिरः-अधि रथे) विद्याओं-ज्ञानों को रमणीय मोक्ष में (कुवित्-वहाथ) बहुत प्रकार से प्रेरित करो, मोक्ष प्राप्त करने को भावित करो ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिज्ञासु को जीवन्मुक्तों अध्यापकों उपदेशकों एवं प्रमुख आचार्यों से शिक्षण पाकर अपनी ज्ञान-शक्ति और कर्मशक्ति को बढ़ाना चाहिए । अन्त में मोक्ष का अधिकारी बने ॥ १२ ॥

कुविदङ्ग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ ।
नाभा यत्र प्रथमं संनसामहे तत्र जामित्वमदितिर्दधातु नः ॥ १३ ॥

कुवित् । अङ्ग । प्रति । यथा । चित् । अस्य । नः । सऽजात्यस्य । मरुतः । बुबोधथ । नाभा । यत्र । प्रथमम् । सम्ऽनसामहे । तत्र । जामिऽत्वम् । अदितिः । दधातु । नः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अङ्ग मरुत) हे जीवन्मुक्ताः ! (अस्य सजात्यस्य नः) अस्य परमात्मनोऽस्माकं बहुः समान-सम्बन्धभावः प्रथमार्थे षष्ठी व्यत्ययेन स्यात्-मोक्षे (यथा चित्) येनापि साधनेन (प्रति बुबोधथ) प्रति ज्ञापयथ (यत्र नाभा) यस्मिन् नहने बन्धने संबंधे योगे (प्रथमं संनसामहे) प्रमुखं प्रतमं सुखं प्राप्नुमः "नसतिराप्नोति कर्मा" [निरु० ७ । १७] "नसते गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (तत्र-अदितिः) तस्मिनखण्डित एकरसोऽविनश्वरः परमात्मा (नः-जामित्वं दधातु) अस्मभ्यं सुखभोगसम्बन्धं धारयतु ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अङ्ग मरुत) हे जीवन्मुक्तो ! (अस्य सजात्यस्य नः) इस परमात्मा का हमारे साथ बहुत प्रकार से सम्बन्धभाव हो-मोक्ष में (यथा चित्) जिस साधन से वह (प्रति बुबोधथ) हमें बतलाओ (यत्र नाभा) जिस बन्धन में या सम्बन्ध के होने पर (प्रथमं संनसामहे) प्रमुख सुख को प्राप्त करें (तत्र-अदितिः) उस मोक्ष में अखण्डित एकरस अविनश्वर परमात्मा (नः-जामित्वं दधातु) हमारे लिए सुखभोग सम्बन्ध को धारण कराये ॥ १३ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वानों के पास जाकर वह ज्ञानग्रहण करना चाहिए जिससे परमात्मा के साथ स्थायी सम्बन्ध बन जावे । वह अपना सम्बन्धी बनाकर मोक्ष का प्रमुख सुख दे सके और सदा विद्वानों का सहयोग मिलता रहे ॥ १३ ॥

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञियेइतः ।
उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरू रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥ १४ ॥

ते । इति । हि । द्यावापृथिवी इति । मातरा । मही इति । देवी इति । देवान् । जन्मना । यज्ञिये इति । इतः । उभे इति । बिभृतः । उभयम् । भरीमऽभिः । पुरु । रेतांसि । पितृऽभिः । च । सिञ्चतः ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते द्यावापृथिवी मही देवी मातरा हि) ते द्यावापृथिव्यौ महत्यौ दिव्यगुणवत्यौ सर्वस्य जगतो निर्मात्र्यौ हि स्तः (यज्ञिये जन्मना देवान्-इत्) ते यजनीये सङ्गमनीये परस्परं सङ्गमप्राप्ते जन्मदानेन-उत्पादनेन सर्वान् दिव्यपदार्थान् प्राप्नुतः (उभे-उभयं बिभ्रतः) ते उभे-उभयं स्थावरजङ्गमं भरणपदार्थैर्जलान्नादिभिश्च धारयतः पोषयतः (पितृभिः-पुरुरेतांसि सिञ्चतः) पितृधर्मैं रजवीर्यात्मकैर्धर्मैर्बहुविधानि रजवीर्याणि सिञ्चतः ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते द्यावापृथिवी) वे द्युलोक और पृथिवीलोक (मही देवी मातरा हि) महान् दिव्यगुण वाले सबके निर्माण करने वाले हैं (यज्ञिये जन्मना देवान्-इत्) वे यजनीय-सङ्गमनीय परस्पर सङ्गम की अपेक्षा करने वाले जन्म देने-उत्पादन करने के कारण सब दिव्यपदार्थों को प्राप्त होते हैं (उभे उभयं बिभ्रतः) वे दोनों स्थावर जङ्गम को भरणपदार्थों से जल अन्न आदियों से धारण करते हैं (पितृभिः-पुरुरेतांसि सिञ्चतः) पितृ धर्मों रजवीर्यरूप धर्मों के द्वारा बहुविध रजवीर्यों को सींचते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—द्युलोक और पृथिवीलोक स्त्री पुरुष के समान एक दूसरे को अपेक्षित करते हैं। वे दोनों रजवीर्य शक्तियों के द्वारा प्राणिवनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं तथा उन्हें धारण करते हैं और पोषण करते हैं ॥ १४ ॥

वि षा होत्रा विश्वमश्नोति वार्यं बृहस्पतिररमतिः पनीयसी ।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदवीवशन्त मतिभिर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

वि । सा । होत्रा । विश्वम् । अश्नोति । वार्यम् । बृहस्पतिः । अरमतिः । पनीयसी । ग्रावा । यत्र । मधुऽसुत् । उच्यते । बृहत् । अवीवशन्त । मतिऽभिः । मनीषिणः ॥ १५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सा होत्रा) सा वेदवाक् "होत्रा वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (विश्वं वार्यं वि-अश्नोति) समस्तं वरणीयं वस्तु व्याप्नोति (बृहस्पतिः-अरमतिः-पनीयसी) बृहस्पतेः परमात्मनः 'व्यत्यये प्रथमा' या वाक् सा-अरमतिः-अप्रतिहता यस्यासौ सा वेदवाक् प्रशंसनीया (यत्र) यस्यां वेदवाचि (ग्रावा) विद्वान् "विद्वांसो हि ग्रावाः" [श० ३ । ६ । ३ । २४] (मधुसुत्-उच्यते) ज्ञानमधुनो

निष्पादक उच्यते भवति (मनीषिणः-मतिभिः बृहत् अवीवशन्त) यां मननशीला मननैः बहुकामयन्ते ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(सा होत्रा) वह वेदवाणी (विश्वं वार्यं वि-अश्नोति) समस्त वरणीय वस्तुओं को व्याप्त होती है (बृहस्पतिः-अरमतिः पनीयसी) परमात्मा की जो वेदवाणी वह अप्रतिहत है, प्रशंसनीय है (यत्र) जिस वेदवाणी में (ग्रावा) विद्वान् (मधुसुत्-उच्यते) ज्ञानमधु का निष्पादक कहा जाता है-होता है (मनीषिणः-मतिभिः-बृहत्-अवीवशन्त) जिसे मननशील विचारों के द्वारा बहुत चाहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—वेदवाणी समस्त पदार्थों में व्याप्त है अर्थात् उनके गुण और स्वरूपों का वर्णन करती है वह मनुष्य वाणी के समान प्रतिहत नहीं होती, वह यथार्थ वाणी है। उसमें निष्णात विद्वान् ज्ञानमधु का सेवन करता है और बढाता चला जाता है ॥ १५ ॥

एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकानः ।
उक्थेभिरत्र मतिभिश्च विप्रोऽपीपयद्गयो दिव्यानि जन्म ॥ १६ ॥

एव । कविः । तुविऽरवान् । ऋतऽज्ञाः । द्रविणस्युः । द्रविणसः । चकानः । उक्थेभिः । अत्र । मतिऽभिः । च । विप्रः । अपीपयत् । गयः । दिव्यानि । जन्म ॥ १६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एव) एवम् (कविः) मेधावी "कविः-मेधाविनाम" [निघ० ३ । १५] (तुवीरवान्) बहुज्ञानैश्वर्यवान् (ऋतज्ञाः) सत्यतत्त्वज्ञः (द्रविणस्युः) मोक्षधनस्येच्छुकः (द्रविणसः-चकानः) विविधधनस्य कामयमानः "चकानः कामयमानः" [ऋ० ३ । ५ । २ दयानन्दः] (अत्र उक्थेभिः-च मतिभिः) अस्मिन् जन्मनि स्तुतिभिर्मन्त्रवचनैश्च (विप्रः) आत्मानं विशिष्टतया तर्पयिता (गयः-दिव्यानि जन्म-अपीपयत्) प्राणवान् सन् "प्राणा वै गयाः" [श० १४ । ८ । १५ । ७] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' दिविभवानि मोक्षविषयकाणि सुखमयानि स्थानानि वर्धयति ॥ १६ ॥

भाषान्वयार्थ—(एव) इस प्रकार (कविः) मेधावी (तुवीरवान्) बहुत ज्ञान ऐश्वर्य वाला (ऋतज्ञाः) सत्य तत्त्व का जानने वाला (द्रविणस्युः) मोक्ष धन का इच्छुक (द्रविणसः-चकानः) विविध धन की कामना करने वाला (अत्र-उक्थेभिः-च मतिभिः) इस जन्म में स्तुतियों तथा मन्त्रवचनों के द्वारा (विप्रः) अपने को विशेषरूप से तृप्त करने वाला (गयः-दिव्यानि-जन्म-अपीपयत्) प्राणवान् होता हुआ मोक्षविषयक सुखमय स्थानों को बढाता है ॥ १६ ॥

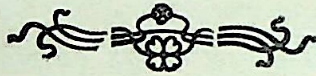
भावार्थ—मेधावी विद्वान् ज्ञान ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर संसार में विविध सम्पत्ति को चाहता हुआ उपार्जित तथा प्राप्त करता है। उससे अपने को तृप्त करता हुआ योग्य आचरण वाला होकर मोक्ष सुखों का अधिकारी बनता है ॥ १६ ॥

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी ।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन ॥ १७ ॥

एव । प्लतेः । सूनुः । अवीवृधत् । वः । विश्वे । आदित्याः । अदिते । मनीषी । ईशानासः । नरः । अमर्त्येन । अस्तावि । जनः । दिव्यः । गयेन ॥ १७ ॥

पूर्वसूक्तस्यान्तिममन्त्रस्येवार्थो विज्ञेयः ॥

पूर्वसूक्त के अन्तिम मन्त्र की भांति अर्थ है ॥ १७ ॥



पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—वासुक्रो वसुकर्णः ।

देवता—विश्वे देवाः ।

छन्दः—१, ४, ६, १०, १२, १३, निचृज्जगती । २, ३, ७, ९ विराड् जगती । ५, ८, ११ जगती । १४ त्रिष्टुप् । १५ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते पृथिवीत आरभ्याकाशपर्यन्तपदार्थानां ज्ञानं कार्यं कलानिर्माणं कृषिकर्म विद्याध्ययनमित्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में पृथिवी से आकाश तक का ज्ञान, कला-निर्माण, कृषिकर्म, विद्याध्ययन आदि विषय हैं ॥

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः ।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ १ ॥

अग्निः । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । वायुः । पूषा । सरस्वती । सऽजोषसः । आदित्याः । विष्णुः । मरुतः । स्वः । बृहत् । सोमः । रुद्रः । अदितिः । ब्रह्मणः । पतिः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः) पार्थिवोऽग्निः (इन्द्रः) विद्युत् (वरुणः) सूर्यस्याकर्षणधर्मः (मित्रः) सूर्यस्य प्रेरणधर्मः (अर्यमा) सूर्यः (वायुः) वायुः (पूषा) पृथिवी "पूषा पृथिवी नाम" [निघ० १ । १] (सरस्वती) नदी (आदित्याः) सूर्यरश्मयः (सजोषसः) समानसेवनधर्माः (विष्णुः) व्यापक आकाशः (मरुतः) वातस्तराः (बृहत्-स्वः) महान् द्युलोकः (सोमः) सोमाद्योषधिवर्गः (रुद्रः) गर्जनशीलो मेघः (अदितिः) अखण्डसुखसम्पत्तिर्मुक्तिः ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्डस्य पतिः परमात्मा 'अग्रिम मन्त्रे वर्तमाने-"अन्तरिक्षमापपुः" वाचमापूरयन्तु-वाचि स्व स्व ज्ञानेन स्थिरा भवन्तु ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः) अग्नि (इन्द्रः) विद्युत् (वरुणः) सूर्य का आकर्षणधर्म या बल (मित्रः) सूर्य का प्रेरणधर्म-प्रक्षेपण धर्म या बल (अर्यमा) सूर्य (वायुः) पवन—हवा (पूषा) पृथिवी—पोषण करने वाली पृथिवी (सरस्वती) नदी (आदित्याः) किरणें (सजोषसः)

समान सेवन करने योग्य (विष्णुः) व्यापक आकाश (मरुतः) वातस्तर (बृहत्-स्वः) महान् द्युलोक (सोमः) सोमादि ओषधि वर्ग (रुद्रः) गर्जनशील मेघ (अदितिः) अखण्डसुखसम्पत्ति मुक्ति (ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा, वाणी में ये सब अपने-अपने ज्ञान से स्थिर होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त पदार्थों को तथा परमात्मा और मुक्ति का स्वरूप मनुष्य को जानना चाहिए। जानकर यथायोग्य लाभ लेना, परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करना, अन्त में मुक्ति को पाना मानव का लक्ष्य है ॥ १ ॥

इन्द्राग्नी वृत्रहत्येषु सत्पती मिथो हिन्वाना तन्वा३समोकसा ।
अन्तरिक्षं मह्या पप्रुरोजसा सोमो घृतश्रीर्महिमानमीरयन् ॥ २ ॥

इन्द्राग्नी इति । वृत्रऽहत्येषु । सत्पती इति सत्ऽपती । मिथः । हिन्वाना । तन्वा । समऽओकसा । अन्तरिक्षम् । महि । आ । पप्रुः । ओजसा । सोमः । घृतऽश्रीः । महिमानम् । ईरयन् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वृत्रहत्येषु) अज्ञाननाशनव्यवहारेषु (सत्पती इन्द्राग्नी मिथः-हिन्वाना) सद्वस्तुपालकौ-अग्निवायू परस्परं प्रेरयन्तौ (तन्वा समोकसा) स्वशक्त्या समस्थानौ सन्तौ यन्त्रप्रयुक्तौ (घृतश्रीः सोमः) रसाश्रयः-रसोत्पादकश्चन्द्रमाः (महिमानम्-ईरयन्) महत्त्वं प्रेरयन् (महि-ओजसा) महता तेजसा (अन्तरिक्षम्-आपप्रुः) एते सर्वे मम वाचमापूरयन्तु "वागित्यन्तरिक्षम्" [जै० उ० ४ । ११ । १ । ११] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—वृत्रहत्येषु) अज्ञान नाश करने के व्यवहारों में (सत्पती-इन्द्राग्नी मिथः-हिन्वाना) सत् वस्तु के पालक अग्नि और वायु परस्पर प्रेरित करते हुए-एक दूसरे को बल देते हुए (तन्वा समोकसा) अपनी शक्ति से समस्थान वाले होते हुए-यन्त्र में प्रयुक्त हुए (घृतश्रीः सोमः) रस का आश्रयरस का उत्पादक चन्द्रमा (महिमानम्-ईरयन्) महत्त्व को प्रेरित करता हुआ (महि-ओजसा) महान् तेज से (अन्तरिक्षम्-आपप्रुः) ये सब मेरी वाणी को पूर्ण करें-सफल करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अज्ञान नाश करने के लिए अग्नि और वायु ये दो महान् शक्तिशाली पदार्थ हैं। समस्त वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को दर्शाते हैं। किसी यन्त्र में प्रयुक्त होकर बड़ा कार्य करते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी ओषधियों में रस प्रेरित करता है। इन सबका ज्ञान वर्णन करने में समर्थ होना चाहिए ॥ २ ॥

तेषां हि मह्ना महतामनर्वणां स्तोमाँ इयर्म्यृतज्ञा ऋतावृधाम् ।
ये अप्सवमर्णवं चित्रराधसस्ते नो रासन्तां महये सुमित्र्याः ॥ ३ ॥

तेषाम् । हि । मह्ना । महुताम् । अनर्वणाम् । स्तोमान् । इयर्मि । ऋतऽज्ञाः । ऋतऽवृधाम् । ये । अप्सवम् । अर्णवम् । चित्रऽराधसः । ते । नः । रासन्ताम् । महये । सुऽमित्र्याः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तेषां महताम्-अनर्वणाम्-ऋतावृधाम्) तेषां पूर्वोक्तानां स्वस्वमहत्त्वेन महतां महत्त्ववतां स्वाश्रितानां स्वलाभप्रदाने समर्थानां यथार्थज्ञानेन-वर्धकानाम् (ऋतज्ञाः) अहं यथार्थज्ञाता (हि) अवश्यम् (स्तोमान्-इयर्मि) प्रशंसनीय-कलाकौशलान् "स्तोमं प्रशंसनीयकलाकौशलम्" [ऋ० १ । १२ । १२ दयानन्दः] प्राप्नोमि (ये) ये खलु (सुमित्र्याः) शोभनमित्रेषु साधवः (ते) ते (अप्सवम्-अर्णवं चित्रराधः) रूपवन्तं शोभनम् "अप्सो रूपनाम" [निघ० ३ । ७] प्राणम् "प्राणो वा-अर्णवः" [श० ७ । ५ । २ । २१] चायनीयं धनम् (नः-महये रासन्ताम्) अस्माकं वृद्धये ददतु ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(तेषां महताम्-अनर्वणाम्) उन पूर्वोक्त अपने-अपने महत्त्व से महत्त्व वाले, स्वाश्रित, स्वलाभ प्रदान करने में समर्थ तथा (ऋतावृधाम्) यथार्थ ज्ञान से बढ़ाने वाले पदार्थों का (ऋतज्ञाः) मैं यथार्थ ज्ञाता (हि) अवश्य (स्तोमान्-इयर्मि) प्रशंसनीय कलाकौशलों को प्राप्त करता हूँ, जो (सुमित्र्याः) शोभन मित्रों में साधु हैं (ते) वे (अप्सवम्-अर्णवम्-चित्रराधः) रूपवाले सुन्दर प्राण, चायनीय धन को (नः-महये रासन्ताम्) हमारी वृद्धि के लिए देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त विविध पदार्थों के विज्ञान द्वारा अनेक कलाकौशलों का आविष्कार करना चाहिए और अनेक मित्र सहयोगियों के सहयोग से इस कार्य को प्रगति देनी चाहिए ॥३॥

स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा ।
पृक्षाइव महयन्त सुरातयो देवाः स्तवन्ते मनुषाय सूरयः ॥ ४ ॥

स्वःऽनरम् । अन्तरिक्षाणि । रोचना । द्यावाभूमी इति । पृथिवीम् । स्कम्भुः । ओजसा । पृक्षाःऽइव । महयन्तः । सुऽरातयः । देवाः । स्तवन्ते । मनुषाय । सूरयः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(स्वर्णरम्) तेजस्विनामकं सूर्यम् (अन्तरिक्षाणि रोचना) अन्तरिक्षे भवानि रोचमानानि नक्षत्राणि (द्यावाभूमी) द्यावापृथिव्यौ (पृथिवीम्) प्रथितां सृष्टिम् (ओजसा) ज्ञानबलेन (स्कम्भुः) स्वाभ्यन्तरे धारयन्ति (पृक्षाः-इव) सम्पृक्ताः सुबन्धव इव (महयन्तः) महत्त्वमिच्छन्तः (सुरातयः) शोभनज्ञानदातारः (सूरयः-देवाः) स्तोतारो विद्वांसः "सूरिः स्तोतृनाम" [निघ० ३ । १६] (मनुषाय) मनुष्याय (स्तवन्ते) वर्णयन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(स्वर्णरम्) तेजस्वी सूर्य को (अन्तरिक्षाणि रोचना) अन्तरिक्ष में होने वाले नक्षत्रों को (द्यावाभूमी) द्युलोक पृथिवी लोक को (पृथिवीम्) फैली हुई सृष्टि को (ओजसा) ज्ञान बल से (स्कम्भुः) अपने अन्दर धारण करते हैं—सम्भालते हैं (पृक्षाः इव) सम्पृक्त सुबन्धु के समान (महयन्तः) महत्त्व को चाहते हुए (सुरातयः) शोभन ज्ञानदाता (सूरयः-देवाः) स्तोता विद्वान् (मनुषाय) मनुष्य के लिए (स्तवन्ते) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि के महत्त्व वाले पदार्थों का स्वयं क्रियात्मक ज्ञान करके जो दूसरों को भी ज्ञान देते हैं वे महानुभाव धन्य हैं ॥ ४ ॥

मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे या सम्राजा मनसा न प्रयुच्छतः ।
ययोर्धाम धर्मणा रोचते बृहद्ययोरुभे रोदसी नाधसी वृतौ ॥ ५ ॥

मित्राय । शिक्ष । वरुणाय । दाशुषे । या । सम्ऽराजा । मनसा । न । प्रऽयुच्छतः । ययोः । धाम । धर्मणा । रोचते । बृहत् । ययोः । उभे इति । रोदसी इति । नाधसी इति । वृतौ ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मित्राय वरुणाय दाशुषे शिक्ष) हे मानव ! त्वं मित्ररूपाय परमात्मने संसारे कर्मकरणार्थं प्रेरकाय वरुणाय-मोक्षे वरयित्रे परमात्मने सांसारिकमोक्ष-गतसुखानन्ददात्रे स्वात्मानं समर्पय (या) यौ मित्रवरुणरूपौ-सः परमात्मा (सम्राजा) सम्यग्राजमानौ-सम्यग्राजमानः (मनसा न प्रयुच्छतः) ज्ञानेन न प्रमाद्यतः-न प्रमाद्यति (ययोः-बृहत्-धाम) ययोर्यस्य महद् धाम मोक्षाख्यम् "त्रिपादस्यामृतं दिवि" [ऋ० १० । ९० । ३] (धर्मणा रोचते) तेजो धर्मणा प्रकाशते (उभे रोदसी नाधसी वृतौ) द्यावापृथिव्यौ समृद्धे वृतौ-मार्गे वर्तेते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(मित्राय वरुणाय दाशुषे शिक्ष) हे मनुष्य ! तू संसार में कर्मकरणार्थ प्रेरित करने वाले मित्ररूप परमात्मा के लिए, मोक्ष में वरने वाले तथा सांसारिक सुख एवं मोक्षानन्द देने वाले के लिए अपने को समर्पित कर (या) जो दोनों मित्र और वरुण धर्म वाला परमात्मा (सम्राजा) सम्यक् राजमान (मनसा न प्रयुच्छतः) ज्ञान से प्रमाद नहीं करता है (ययोः-बृहत्-धाम) जिसका महान् मोक्षधाम है (धर्मणा रोचते) जो तेजोधर्म से प्रकाशमान होता है (उभे रोदसी नाधसी वृतौ) दोनों द्यावापृथिवी समृद्ध मार्ग में रहते हैं-वर्तते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा मनुष्य को संसार में कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और मोक्ष में सुख देने के लिए ग्रहण करता है । ऐसे उस दाता के प्रति अपना समर्पण करना चाहिए । वह परमात्मा कभी भी कर्मफल देने में प्रमाद नहीं करता है और द्यावापृथिवी उसके शासन में चलते हैं ॥ ५ ॥

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ ६ ॥

या । गौः । वर्तनिम् । परिऽएति । निःऽकृतम् । पयः । दुहाना । व्रतऽनीः । अवारतः । सा । प्रऽब्रुवाणा । वरुणाय । दाशुषे । देवेभ्यः । दाशत् । हविषा । विवस्वते ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(या गौः) या वाक् "गौर्वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (वर्तनिं पर्येति) सत्यमार्गं पर्याप्नोति (अवारतः) बिनाऽवरोधेन (व्रतनीः) कर्मनेत्री व्यवहारनायिका (निष्कृतं पयः-दुहाना) संस्कृतं ज्ञानं दुग्धं दोग्धी सती (सा) सा वाक् (दाशुषे वरुणाय विवस्वते) कर्मफलदात्रे, आनन्ददात्रे वरणीयाय स्वस्मिन् विशिष्टवास-दत्तवते परमात्मने (देवेभ्यः) अग्न्यादिभ्यश्च (हविषा प्रब्रुवाणा) तेषांज्ञानाय प्रार्थनया प्रवचनं कुर्वाणा भवतु ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(या गौः) जोवाणी (वर्तनिंपर्येति) सत्यमार्ग को परिप्राप्त होती है (अवारतः) विना अवरोध के (व्रतनीः) कर्म की नेत्री व्यवहार चलाने वाली (निष्कृतं पयः-दुहाना) संस्कृत ज्ञानरूप दूध को दुहती हुई (सा) वह वाणी (दाशुषे वरुणाय विवस्वते) कर्मफलदाता, आनन्ददाता, वरणीय, अपने में विशिष्ट वास देने वाले परमात्मा के लिए (देवेभ्यः) और अग्नि आदि देवों के लिए (हविषा प्रब्रुवाणा) उनके ज्ञान के लिए प्रार्थना से प्रवचन करती हुई होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—वाणी सत्यतत्त्व को प्राप्त करती है । बिना रुकावट के ज्ञान रूप दूध को दुहती हुई व्यवहार चलाने वाली है इस वाणी से परमात्मा की स्तुति आदि की जाती है और अग्नि आदि देवों का गुण वर्णन किया जाता है इसका उचित प्रयोग करना चाहिए ॥ ६ ॥

दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृधं ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते ।
द्यां स्कभित्व्यप आ चक्रुरोजसा यज्ञं जनित्वी तन्वी३ निमामृजुः ॥ ७ ॥

दिवक्षसः । अग्निऽजिह्वाः । ऋतऽवृधः । ऋतस्य । योनिम् । विऽमृशन्तः । आसते । द्याम् । स्कभित्वी । अपः । आ । चक्रुः । ओजसा । यज्ञम् । जनित्वी । तन्वि । नि । ममृजुः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवक्षसः) ज्ञानप्रकाशं प्राप्नुवन्तः "दिवक्षाः-ये दिवं विज्ञानप्रकाशादिकंमक्षन्ति प्राप्नुवन्ति" [ऋ० ३ । ३० । ३१ दयानन्दः] (अग्निजिह्वाः) अग्निवद्विद्याप्रकाशिका वाग्येषां ते "जिह्वा वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] (ऋतावृधः) सत्यवर्धकाः (ऋतस्य योनिं विमृशन्तः-आसते) सत्यमूलं परमात्मानं विचारयन्तस्तिष्ठन्ति (द्यां स्कभित्वी) ज्ञानप्रकाशं स्कम्भयित्वा धारयित्वा (अपः-चक्रुः) कर्म "अपः कर्मनाम" [निघ० २ । ११] कुर्वन्ति (ओजसा यज्ञं जनित्वा) स्वात्मबलेनाध्यात्मयज्ञं प्रादुर्भाव्य (तन्वि निममृजुः) स्वात्मानम् "आत्मा वै तनूः" [श० ६ । ७ । २ । ६] 'द्वितीया स्थाने सप्तमी व्यत्ययेन' 'शोधयन्तिअलङ्कुर्वन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवक्षसः) ज्ञान प्रकाश को प्राप्त हुए (अग्निजिह्वाः) अग्नि की भांति विद्या का प्रकाश करने वाली वाणी जिनकी है ऐसे वक्ताजन (ऋतावृधः) सत्य के वर्धक (ऋतस्य योनिं विमृशन्तः-आसते) सत्य के मूल परमात्मा को विचार करते हुए जो विद्यमान हैं (द्यां स्कभित्वी) ज्ञान प्रकाश को सम्भालकर-धारण करके (अपः-चक्रुः) कर्म करते हैं (ओजसा यज्ञं जनित्वा) स्वात्मबल से अध्यात्मयज्ञ को प्रसिद्ध करके (तन्वि निममृजुः) अपने आत्मा को शुद्ध करते हैं-अलङ्कृत करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो ज्ञान में परिपक्व और वक्ताजन होते हैं वे परमात्मा का मनन करते हैं, उसे सारे ज्ञानों का मूल मानते हैं। ऐसे महानुभाव ज्ञान के वर्धक और सत्य के प्रचारक होते हुए अपने आत्मा को अध्यात्म यज्ञ के द्वारा पवित्र एवं अलंकृत करते हैं ॥ ७ ॥

परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा ।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः ॥ ८ ॥

परिऽक्षिता । पितरा । पूर्वजावरी इति पूर्वऽजावरी । ऋतस्य । योना । क्षयतः । समऽओकसा । द्यावापृथिवी इति । वरुणाय । सव्रते इति सऽव्रते । घृतऽवत् । पयः । महिषाय । पिन्वतः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(परिक्षिता) परितः सीमातो निवसन्तौ (पितरा) पालकौ (पूर्वजावरी) पूर्वजायमानौ (समोकसा) समानस्थानकौ (ऋतस्य योना) प्राप्तस्य जगतो योनौ-परमात्मनि वर्तमानौ (द्यावापृथिवी) द्युलोकपृथिवीलोकौ (सव्रते) समानकर्माणौ (वरुणाय महिषाय) वरणीयाय प्राणवते जीवाय "वरुणः-वरो जीवः" [ऋ० २ । २८ । ८ दयानन्दः] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' "प्राणा वै महिषाः" [काठ० २७ । १६] (घृतवत्-पयः पिन्वतः) तेजस्विरसं सिञ्चतः ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(परिक्षिता) सीमा पर रहने वाले जगत् के ऊपर नीचे वर्तमान (पितरा) पालक-रक्षक (पूर्वजावरी) पूर्व उत्पन्न हुए-हुए (समोकसा) समान स्थान वाले (ऋतस्य योना) प्राप्त जगत् के परमात्मा में वर्तमान (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (सव्रते) समान कर्म वाले (वरुणाय महिषाय) वरणीय प्राणवान् जीव के लिए (घृतवत्-पयः पिन्वतः) तेजस्वी रस सींचते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जगत् की सीमा पर ऊपर नीचे द्युलोक और पृथिवी लोक परमात्मा के आश्रय से वर्तमान हैं। समस्त प्राणिमात्र के लिए वे तेजस्वी जीवनधारक रस को सींचते हैं ॥ ८ ॥

पर्जन्यावाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा ।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये ॥ ९ ॥

पर्जन्यावाता । वृषभा । पुरीषिणा । इन्द्रवायू इति । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । देवान् । आदित्यान् । अदितिम् । हवामहे । ये । पार्थिवासः । दिव्यासः । अप्ऽसु । ये ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पर्जन्यावाता) पर्जन्यवातौ मेघवातौ (वृषभा) सुखवर्षकौ (पुरीषिणा) उदकवन्तौ–उदकप्रदौ "पुरीषमुदकनाम" [निघ० १ । १२] (इन्द्रवायू) (विद्युद्वायू (वरुणः-मित्रः-अर्यमा) सूर्यस्य प्रक्षेपणधर्मो वरणकर्तृधर्मः सूर्यश्च (ये) ये के च (पार्थिवासः) पृथिवीस्थाः (ये-अप्सु) ये ऽन्तरिक्षे सन्ति "आपोऽन्तरिक्ष नाम" [निघ० १ । ३] (दिव्यासः) दिविभवाः सन्ति ते सर्वे देवाः–दिव्यगुणपदार्थास्तान् (देवान्) देवान् (आदित्यान्-अदितिम्) रश्मीन्–उषसं च (हवामहे) ज्ञानसिद्ध्यर्थं शृणुमो गृह्णीमः "हवामहे विद्यासिद्ध्यर्थमुपदिशामः शृणुमश्च" [ऋ० १ । २१ । ४ दयानन्दः] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(पर्जन्यवाता) मेघ और वायु (वृषभा) सुखवर्षक (पुरीषिणा) जलवाले-जलप्रद (इन्द्रवायू) विद्युत् और वायु (वरुणः-मित्रः-अर्यमा) सूर्य का प्रक्षेपण धर्म आकर्षण धर्म और सूर्य (ये) जो भी (पार्थिवासः) पृथिविस्थ (ये-अप्सु) जो अन्तरिक्षस्थ अन्तरिक्ष में (दिव्यासः) द्युलोकस्थ-द्युलोक के सब देव अर्थात् दिव्यगुण पदार्थ हैं उन (देवान्) देवों को (आदित्यान्-अदितिम्) रश्मियों को और उषा को (हवामहे) ज्ञान की सिद्धि के लिए सुनें-ग्रहण करें ।। ९ ॥

भावार्थ—सुखवर्षक मेघ और वायु तथा जलमय विद्युत् और वायु, सूर्य का प्रक्षेपण धर्म और आकर्षण धर्म तथा सूर्य एवं पृथिवी के वनस्पति आदि पदार्थ, अन्तरिक्ष के स्तर दिशायें और द्युलोक के ग्रह तारे आदि हमारे उपयोग एवं ज्ञान वृद्धि के लिए सिद्ध हों ॥ ९ ॥

त्वष्टारं वायुमृभवो य ओहते दैव्या होतारा उषसं स्वस्तये ।
बृहस्पतिं वृत्रखादं सुमेधसमिन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे ॥ १० ॥

त्वष्टारम् । वायुम् । ऋभवः । यः । ओहते । दैव्या । होतारा । उषसम् । स्वस्तये । बृहस्पतिम् । वृत्रऽखादम् । सुऽमेधसम् । इन्द्रियम् । सोमम् । धनऽसाः । ऊँ इति । ईमहे ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋभवः) हे मेधाविनः ! "ऋभुः-मेधाविनाम" [निघ० ३ । १५] (यः) यः खलु (त्वष्टारम्) सूर्यम् (वायुम्) वायुम् (दैव्या होतारौ) एतौ–अमानुषौ होतारौ (उषसम्) उषो नाम्नीम् (स्वस्तये-ओहते) कल्याणाय–आवहति सेवते (वृत्रखादं सुमेधसं बृहस्पतिम्) पापभक्षकं पापनाशकं शोभन मेधसं शोभन-

सङ्गतिवन्तं परमात्मानम् (इन्द्रियं सोमं धनसा:-उ-ईमहे) आत्मनः कल्याणनिमित्तं शान्तं परमात्मानमध्यात्मधनसम्भाजका वयमवश्यं याचामहे ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋभवः) हे मेधावी विद्वानो ! (यः) जो (त्वष्टारम्) सूर्य को (वायुम्) वायु को (दैव्या होतारौ) इन दोनों अमानुष होताओं को (उषसम्) उषा को (स्वस्तये-ओहते) कल्याण के लिए आह्वान करता है-सेवन करता है (वृत्रखादं सुमेधसं बृहस्पतिम्) पापनाशक उत्तम सङ्गति वाले परमात्मा को (इन्द्रियं सोमं धनसा:-उ-ईमहे) आत्मा के कल्याण निमित्त शान्त परमात्मा की अध्यात्मधन का सेवन करने वाले हम अवश्य याचना करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—मेधावी जन प्रतिदिन उषा वेला में अग्नि और वायु के द्वारा होम सम्पादन करें, स्वास्थ्य रक्षा के लिए। अध्यात्मयज्ञ अर्थात् संध्या के द्वारा परमात्मा की उपासना करके अध्यात्म-धन-आत्मशान्ति का लाभ लें ॥ १० ॥

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः ।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ॥११॥

ब्रह्म । गाम् । अश्वम् । जनयन्तः । ओषधीः । वनस्पतीन् । पृथिवीम् । पर्वतान् । अप । सूर्यम् । दिवि । रोहयन्तः । सुऽदानवः । आर्या । व्रता । विऽसृजन्तः । अधि । क्षमि ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सुदानवः) कल्याणदानाः "सुदानवः कल्याणदानाः" [निरु० ६ । २३] रश्मयः (ब्रह्म) अन्नम् "ब्रह्म अन्ननाम" [निघ० २ । ७] (गाम्-अश्वम्) गोपशुं तथाश्वम् (ओषधीः-वनस्पतीन्) हरिता ओषधीः फलवृक्षान् (पृथिवीं पर्वतान्-अपः) परिष्कृतां भूमिं पर्वतान् जलं च (जनयन्तः) प्रादुर्भावयन्तः (दिविसूर्यं रोहयन्तः) द्युलोके-आकाशे सूर्यमुद्गमयन्तः (अधिक्षमि) पृथिव्याम् "क्षमा पृथिवीनाम" [निघ० १ । १] (आर्या व्रता विसृजन्तः) श्रेष्ठानि कर्माणि "व्रतं कर्मनाम" [निघ० २ । १] प्रकाशयन्तः खलु दृष्टिपथमागच्छन्ति ते सेवनीयाः ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(सुदानवः) कल्याण देने वाली सूर्यकिरणें (ब्रह्म) अन्न को (गाम्-अश्वम्) गौ और अश्व को (ओषधीः-वनस्पतीन्) हरी ओषधियों, फलवाले वृक्षों को (पृथिवीं पर्वतान्-अपः) परिष्कृत भूमि, पर्वतों और जलों को (जनयन्तः) उत्तम रूप में सम्पन्न करती हुई (दिवि सूर्यं रोहयन्तः) तथा द्युलोक में सूर्य को ऊपर प्रकाशित करती हुई (अधि क्षमि) पृथिवी पर (आर्या व्रता विसृजन्त) श्रेष्ठ कर्मों को प्रकाशित करती हुईं दृष्टि पथ में आती हैं, वे सेवन करने योग्य हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरणें कल्याण का प्रसार करने वाली हैं। उनके द्वारा पृथिवी में पौष्टिक शक्ति तथा अन्न की उत्पत्ति, गौ अश्व आदि प्राणियों में उपयोगी बल और कार्यशक्ति

आती है। साधारण ओषधियां और फलवाले वृक्ष भी इनसे बल पाते हैं। सूर्य को आकाश में चमकाती हैं। रोगनिवृत्ति आदि श्रेष्ठ कर्मों में इनका प्रभावशाली उपयोग होता है ॥ ११ ॥

भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम् ।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः ॥ १२ ॥

भुज्युम् । अंहसः । पिपृथः । निः । अश्विना । श्यावम् । पुत्रम् । वध्रिऽमत्याः । अजिन्वतम् । कमऽद्युवम् । विऽमदाय । ऊहथुः । युवम् । विष्णाप्वम् । विश्वकाय । अव । सृजथः ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्विना) ज्योतिर्मयरसमयौ पदार्थौ शक्तिरूपौ ! सुशिक्षित स्त्रीपुरुषौ वा (युवम्) युवाम् (भुज्युम्) भोजयितारं भोग्यपदार्थव्यापारिणम् (अंहसः-निः पिपृथः) अनिष्टात् पापाद्वा निष्पारयथो निस्तारयथो वा (वध्रिमत्याः पुत्रं श्यावम्-अजिन्वतम्) अन्नोपजप्रबन्धकशक्तिमत्या भूमेः "वध्रिमत्याः-भूमेः" [ऋ० ६ । ६२ । ७ दयानन्दः] क्षिप्तं बीजं वर्धमानं सिञ्चतम् (कमद्युवम्) कमनीयमन्नादिकस्य द्योतयितारं प्रकाशयितारं बीजभावम् (विमदाय) विशिष्टानन्दाय (ऊहथुः) वहथः प्रापयथः (विश्वकाय विष्णाप्वम्-अवसृजथः) सर्वेषां सुखकामयित्रे कृषकाय व्यापारिणे विष्णानि कृषिव्याप्तानि कर्माण्याप्नोति येन तत्सुवर्षमवसम्पादयथः "विष्णाप्वं विष्णानि कृषिव्याप्तानि कर्माण्याप्नोति येन" [ऋ० १ । ११७ । ७ दयानन्दः] "युवमग्निं च वृषणावपश्च वनस्पतींरश्विनावैरयथाम्" [ऋ० १ । १५७ । ५] ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्विना) हे ज्योतिर्मय और रसमय शक्तिरूप पदार्थो ! अथवा सुशिक्षित स्त्री पुरुषो ! (युवम्) तुम दोनों (भुज्युम्) भोजयिता-भोग्य पदार्थ के व्यापारी को (अंहसः-निः पिपृथः) अनिष्ट या पाप से निकालते हो-पृथक् करते हो (वध्रिमत्याः पुत्रं श्यावम्) अन्नोपज की प्रबन्धक शक्ति वाली भूमि के क्षिप्त बीज को बढ़ते हुए को (अजिन्वतम्) सींचो (कमद्युवम्) कमनीय अन्नादि के प्रकाशित करने वाले बीजभाव को (विमदाय) विशिष्ट आनन्द के लिए (ऊहथुः) वहन करते हो-प्राप्त कराते हो (विश्वकाय विष्णाप्वम्-अवसृजथः) सब के सुखकामना करने वाले कृषक व्यापारी के लिए कृषि में व्याप्त कर्मों को जिससे प्राप्त करता है उस अच्छे वर्षा वाले समय का सम्पादन करो ॥ १२ ॥

भावार्थ—ज्योतिर्मय और रसमय शक्तियां-आग्नेय और सोम्य शक्तियां तथा योग्य स्त्री पुरुष कृषि भूमि में बीज की वृद्धि के लिए उपयुक्त कार्य करें। कृषक को तथा व्यापारी को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे कृषि तथा व्यापार भलीभांति फलें फूलें। इसकी सिद्धि के लिए वृष्टियोग भी सम्पन्न करना चाहिए ॥ १२ ॥

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।
विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरंध्या ॥१३॥

पावीरवी । तन्यतुः । एकऽपात् । अजः । दिवः । धर्ता । सिन्धुः । आपः । समुद्रियः । विश्वे । देवासः । शृणवन् । वचांसि । मे । सरस्वती । सह । धीभिः । पुरम्ऽध्या ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पावीरवी) पविः शल्यः, तद्वत् पवीरमायुधमज्ञाननाशकं "तद्वानिन्द्रः पवीरवान्" [नि० १२ । ३०] तस्य या सा पावीरवी विद्युच्छक्तिः, वेदवाग्वा (तन्यतुः) स्वधारे स्वबलं वा तनयित्री विस्तारयित्री (अजः-एकपात्) अजन्मा स एकरूपः-एकरसः (दिवः-धर्ता) मोक्षधाम्नो द्युलोकस्य वा धारयिता परमात्मा सूर्यो वा (सिन्धुः-समुद्रियः-आपः) स्यन्दमानाः-भ्रमणशीलाः 'एकवचनं व्यत्ययेन' आन्तरिक्ष्याः 'समुद्रमन्तरिक्षनाम' [निघ० १ । ३] आपः-आप्ता विद्वांसो जलानि मेघजलानि वा (विश्वेदेवासः) सर्वविषयप्रविष्टा विद्वांसः-ऋतवो वा "ऋतवो वै विश्वेदेवाः" [श० ७ । १ । १ । ४३] (सरस्वती) जलवती नदी ज्ञानवती नारी वा (धीभिः पुरन्ध्या सह) यथायोग्य कर्मभिः स्तुत्या बहुविध प्रज्ञया सह (मे वचांसि शृणवन्) मम वचनानि शृण्वन्तु मन्यन्तां स्वीकुर्वन्तु पालयन्तु ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(पावीरवी) अज्ञान नाशक ज्ञानशस्त्र वेद का स्वामी परमात्मा उसकी वेदवाणी या विद्युत् शक्ति (तन्यतुः) अपनी दो धाराओं या ज्ञान बल को विस्तृत करने वाली (अजः-एकपात्) अजन्मा एकरस (दिवः-धर्ता) मोक्षधाम या द्युलोक का धारक परमात्मा या सूर्य (सिन्धुः-समुद्रियः-आपः) बहने वाले अन्तरिक्ष के जल या आप्त विद्वान् (विश्वेदेवासः) सब विषयों में प्रविष्ट विद्वान् या ऋतुयें (सरस्वती) जलवती नदी या ज्ञानवती नारी (धीभिः पुरन्ध्या सह) यथायोग्य कर्मों से स्तुति से बहुत प्रज्ञा के साथ (मे वचांसि शृण्वन्) मेरे वचनों को सुनें-मानें-पालन करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—अज्ञान नाशक परमात्मा की वेदवाणी अपने ज्ञान से मनुष्यों का उपकार करती है। मोक्ष का धारक परमात्मा तथा आप्त विद्वान् तथा ज्ञानवती नारी यथायोग्य आचरणों से मेरे निवेदनों को स्वीकार करें। एवं-द्युलोक का धारक सूर्यदेव और उसकी शक्ति विद्युत् हमारे उपयोग में आवे। जल ऋतुयें और नदियां हमारे लिए लाभप्रद बनें ॥ १३ ॥

विश्वे देवाः सह धीभिः पुरंध्या मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्व१र्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत ॥ १४ ॥

विश्वे । देवाः । सह । धीभिः । पुरम्ऽध्या । मनोः । यजत्राः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः । रातिऽसाचः । अभिऽसाचः । स्वःऽविदः । स्वः । गिरः । ब्रह्म । सुऽउक्तम् । जुषेरत ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(विश्वेदेवाः) सर्वविषयप्रवेशशीलाः विद्वांसो वायवो वा (धीभिः पुरन्ध्या सह) यथायोग्य कर्मभि स्तुत्या बहुविधबुद्ध्या वा सह (मनोः-यजत्राः) मननीयज्ञानस्य दातारो निमित्ता वा (अमृताः-ऋतज्ञाः) जीवनमुक्ताश्चिरस्थायिनो वा सत्यज्ञानाः सत्यज्ञानसूचका वा (रातिषाचः) रातव्यायाः-दातव्यायाः-बुद्धेर्दातव्य-सुखसम्पत्तेर्वा समवेत्तारः (अभिषाचः) आभिमुख्येन सम्प्राप्ताः (स्वर्विदः) सुखप्रापयितारः (स्वः-गिरः) सुखं गिरन्तः शब्दयन्त इव (ब्रह्म सूक्तं जुषेरन्) ज्ञानं सुकथनं सेवयन्तु प्रापयन्तु ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(विश्वेदेवासः) सर्व विषयों में प्रवेशशील विद्वान् या सर्वत्र फैलने वाली हवायें (धीभिः पुरन्ध्या सह) यथायोग्य कर्मों द्वारा या स्तुति तथा बहुविध बुद्धि के साथ (मनोः-यजत्राः) मननीय ज्ञान के देने वाले या निमित्त हुए (अमृताः-ऋतज्ञाः) जीवन्मुक्त सत्यज्ञान वाले विद्वान् या चिरस्थायी सूचना देने वाली हवायें (रातिषाचः) दातव्य बुद्धि के या सुख सम्पत्ति के सम्बन्ध कराने वाले (अभिषाचः) आभिमुख्य से सम्प्राप्त (स्वर्विदः) सुखप्राप्त कराने वाले (स्वः-गिरः) सुख शब्द करने वाले (ब्रह्म सूक्तं जुषेरन्) ज्ञानरूप सुकथन को सेवन करायें ॥ १४ ॥

भावार्थ—सब विषयों में प्रविष्ट विद्वान् यथार्थ कर्मों का उपदेश और बुद्धि को प्रदान किया करते हैं। वे जीवन्मुक्त ज्ञानी साक्षात् ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त करते हैं। एवं सर्वत्र बहने वाली हवायें कर्मशील बनने के लिए प्रेरित करती हैं। स्थिर जीवन का निमित्त बनती हैं। तथा वायु से अनेक शब्द संचार के कार्य सम्पन्न किये जाते हैं ॥ १४ ॥

देवान्वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

देवान् । वसिष्ठः । अमृतान् । ववन्दे । ये । विश्वा । भुवना । अभि । प्रऽतस्थुः । ते । नः । रासन्ताम् । उरुऽगायम् । अद्य । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ १५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वसिष्ठः) सर्वविषयेषु वसितृतमः (अमृतान् देवान्) जीवन्मुक्तान् विदुषः (ववन्दे) अभिवन्दति (ये विश्वा भुवना-अभि प्रतस्थुः) ये जीवन्मुक्ताः सर्वाणि ज्ञानानि-अधिकारेण प्रतिष्ठन्ति (ते) ते खलु (नः) अस्मभ्यम् (अद्य) अस्मिन् काले जीवने (उरुगायं रासन्ताम्) बहुप्रशंसनीयं ज्ञानं परमात्मज्ञानं प्रयच्छन्तु (यूयं स्वस्तिभिः-नः सदा पात) हे विद्वांसोःयूयं कल्याणवचनैरस्मान् सदा रक्षत ॥ १५ ॥

भाषान्वयार्थ—(वसिष्ठः) सर्व विषयों में अत्यन्त बसा हुआ (अमृतान् देवान्) जीवन्मुक्त विद्वानों को (ववन्दे) प्रशंसित करता है (ये विश्वा भुवना-अभि प्रतस्थुः) जो

जीवन्मुक्त सारे ज्ञानों को अधिकार में रखते हैं (ते) वे (नः) हमारे लिए (अद्य) आज—इस जीवन में (उरुगायं रासन्ताम्) बहुत प्रशंसनीय ज्ञान--परमात्मज्ञान को दें (यूयं स्वस्तिभिः-नः सदा पात) हे विद्वानों, तुम कल्याणवचनों से हमें सदा सुरक्षित रखो ।। १५ ।।

भावार्थ—नव स्नातक विद्वान् को अपनी विद्या वृद्धि के लिए अन्य ऊंचे विद्वानों, जीवन्मुक्तों से ज्ञानवृद्धि करके आत्मशान्ति प्राप्त करनी चाहिए, जो सबसे उत्कृष्ट वस्तु है ।। १५ ।।



षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—वासुक्रो वसुकर्णः ।

देवता—विश्वेदेवाः ।

छन्दः—१, ३, ५–७, जगती । २, १०, १२, १३, निचृज्जगती । ४, ८, ११ विराड् जगती । ९ पादनिचृज्जगती । १४ आर्ची स्वराड् जगती । १५ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अस्मिन् सूक्ते राष्ट्रे ब्रह्मचारिणो विद्वांसो जीवन्मुक्ता वैज्ञानिकाः स्युस्तेभ्यो ज्ञानकलाप्रसारो भवेत्तथा सूर्य रश्मि-वायुप्रभृतीनां पदार्थानां ज्ञानेन प्रजाजनाः सुखिनः स्युरिति वर्णितम् ।

इस सूक्त में राष्ट्र में ब्रह्मचारी, विद्वान्, जीवन्मुक्त, वैज्ञानिक हों, उनसे ज्ञानकला का प्रसार हो तथा किरणों वायु आदि पदार्थों के ज्ञान से प्रजाजन सुख को प्राप्त करें यह वर्णन है ॥

देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः ।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥ १ ॥

देवान् । हुवे । बृहत्ऽश्रवसः । स्वस्तये । ज्योतिःऽकृतः । अध्वरस्य । प्रऽचेतसः । ये । ववृधुः । प्रऽतरम् । विश्वऽवेदसः । इन्द्रऽज्येष्ठासः । अमृताः । ऋतऽवृधः ॥१॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहच्छ्रवसः) महज्ज्ञानश्रवणवतः (ज्योतिष्कृतः) संसारे ज्ञानप्रकाशं ये कुर्वन्ति तान् (अध्वरस्य प्रचेतसः) अध्यात्मयज्ञस्य प्रकृष्टं चेतयितॄन् (देवान् हुवे) विदुष आमन्त्रये (ये) ये खलु (विश्ववेदसः) सर्वधनवन्तः सर्वैश्वर्यवन्तः (इन्द्रज्येष्ठासः) इन्द्रः परमात्मा ज्येष्ठः पूज्य उपासनीयो येषां ते (अमृताः) जीवन्मुक्ताः (ऋतावृधः) सत्यस्य वर्धयितारः (प्रतरं वावृधुः) मां प्रकृष्टतरं वर्धयन्तु ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहच्छ्रवसः) बहुत ज्ञान का श्रवण किये हुए (ज्योतिष्कृतः) संसार में ज्ञानज्योति के फैलाने वाले (अध्वरस्य प्रचेतसः) अध्यात्म यज्ञ के प्रकृष्ट रूप में प्रसिद्ध करने वाले

(देवान् हुवे) विद्वानों को आमन्त्रित करता हूँ (ये) जो (विश्ववेदसः) सब धनों वाले–सब ऐश्वर्यों वाले (इन्द्र ज्येष्ठासः) परमात्मा जिनका ज्येष्ठ इष्टदेव है ऐसे (अमृताः) जीवन्मुक्त (ऋतावृधः) सत्य को बढाने वाले (पितरं वावृधुः) मुझे भलीभांति बढ़ायें ॥ १ ॥

भावार्थ—बहुश्रुत, ज्ञानज्योति का प्रसार करने वाले, आध्यात्मिक, परमात्मा को श्रेष्ठ उपास्य मानने वाले महाविद्वानों को समय-समय पर आमन्त्रित करके ज्ञानलाभ लेना चाहिए, जो जीवन को उत्तरोत्तर उन्नतिपथ पर ले जावे ॥ १ ॥

इन्द्रप्रसूता वरुणप्रशिष्टा ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः ।
मरुद्गणे वृजने मन्म धीमहि माघोने यज्ञं जनयन्त सूरयः ॥ २ ॥

इन्द्रऽप्रसूताः । वरुणऽप्रशिष्टाः । ये । सूर्यस्य । ज्योतिषः । भागम् । आनशुः । मरुत्ऽगणे । वृजने । मन्म । धीमहि । माघोने । यज्ञम् । जनयन्त । सूरयः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रप्रसूताः) राज्ञा प्रेरिताः (वरुण प्रशिष्टाः) वरयित्रा श्रेष्ठगुरुणा प्रशिक्षिताः (ये) ये खलु (सूर्यस्य ज्योतिषः-भागम्-आनशुः) सूर्यस्य ज्योतिषो भागमिव ज्ञानमवाप्नुवन्ति ते (सूरयः) मेधाविनः "सूरिः-मेधाविनाम" [निघ० ३ । १६] (माघोने वृजने मरुद्गणे) मघवान्–इन्द्रस्तत्सम्बन्धिनि प्रबले जीवन्मुक्तगणे "मरुतो ह वै देवविशः" [कौ० ७ । ८] (यज्ञं जनयन्त मन्म धीमहि) वयमध्यात्मयज्ञं ज्ञानयज्ञं सम्पादयन्तः सम्पादनहेतोः मननीयं ज्ञानं परमात्मज्ञानं धारयेम प्राप्नुयाम ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रप्रसूताः) राजा से प्रेरित (वरुण प्रशिष्टाः) वरने वाले श्रेष्ठ गुरु से प्रशिक्षित (ये) जो (सूर्यस्य ज्योतिषः-भागम्-आनशुः) सूर्य की ज्योति के अंश के समान ज्ञान को व्याप्त हो रहे हैं वे (सूरयः) मेधावीजन (माघोने वृजने मरुद्गणे) परमात्मा सम्बन्धी प्रबल विद्वद्गणजीवन्मुक्तगण में (यज्ञं जनयन्त मन्म धीमहि) हम अध्यात्मयज्ञ-ज्ञान यज्ञ को सम्पादित करते हुए मननीयज्ञान-परमात्मज्ञान को धारण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा से प्रेरित–प्रोत्साहित, श्रेष्ठ विद्वानों से शिक्षा पाये हुए, प्रखर ज्ञान प्रकाश को प्राप्त हुए, परमात्मा के उपासक विद्वान् हैं, उनसे व्यवहार ज्ञान और परमात्मज्ञान प्राप्त करके अभ्युदय और निः श्रेयस को पाना चाहिए ॥ २ ॥

इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयमादित्यैर्नो अदितिः शर्म यच्छतु ।
रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नस्त्वष्टा नो ग्नाभिः सुविताय जिन्वतु ॥३॥

इन्द्रः । वसुऽभिः । परि । पातु । नः । गयम् । आदित्यैः । नः । अदितिः । शर्म । यच्छतु । रुद्रः । रुद्रेभिः । देवः । मृळयाति । नः । त्वष्टा । नः । ग्नाभिः । सुविताय । जिन्वतु ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः-वसुभिः-नः-गयं परिपातु) ऐश्वर्यवान् राजा धनैरस्माकं गृहं परिपालयतु परिपूर्णं करोतु "गयः गृहनाम" [निघ० ३ । ४] यद्वा वायुर्वा "य इन्द्रः स वायुः" [श० ४ । १ । ३ । १६] प्राणवायुभिः "प्राणा वै वसवः" [जै० ४ । १ । ३ । ३] अस्माकं प्राणम् "प्राणा वै गयाः" [श० १४ । ८ । १५ । ७] परिरक्षतु (अदितिः-आदित्यैः-नः-शर्म यच्छतु) अखण्डित ब्रह्मचर्यवान् स्वज्ञान-प्रकाशैः सुखं प्रयच्छतु यद्वा द्यौरादित्योऽदितिभिः सूर्यं रश्मिभिः सुखं प्रयच्छतु (रुद्रः-देवः-रुद्रेभिः-नः-मृळयाति) उपदेशको देवः स्ववचनैरुपदेशैरस्मान् सुखयतु यद्वा-अग्निः स्वज्वालाभिरस्मान् सुखयतु (त्वष्टा ग्नाभिः-नः सुविताय जिन्वतु) संसारस्य रचयिता परमात्मा वेदवाग्भिः "ग्ना वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] सुस्थितयेऽस्मान् प्रीणयतु ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः-वसुभिः) ऐश्वर्यवान् राजा धनों के द्वारा अथवा वायु प्राणवायु के द्वारा (नः गयं परिपातु) हमारे घर को परिपूर्ण करे अथवा प्राण की रक्षा करे (अदितिः-आदित्यैः-नः-शर्म यच्छतु) अखण्डित ब्रह्मचर्यवान् अपने ज्ञान प्रकाशों से सुख प्रदान करे अथवा सूर्य रश्मियों द्वारा सुख को प्रदान करे (रुद्रः-देवः-रुद्रेभिः-नः-मृळयाति) उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशवचनों से हमें सुखी करे अथवा अग्नि अपनी ज्वालाओं से हमें सुखी करे (त्वष्टा ग्नाभिः) संसार का रचियता परमात्मा वेदवाणियों द्वारा (नः सुविताय जिन्वतु) हमें सुस्थिति के लिए तृप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा वेदवाणियों के द्वारा हमारी आत्मस्थिति को ठीक करता है और उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशों से हमें अच्छे मार्ग पर लाता है तथा राजा हमारे घरों को धनधान्य से पूर्ण करता है । एवं-वायु हमारे प्राणों का संचालन करता है सूर्य रश्मियों द्वारा हमें सुखी करता है और अग्नि ज्वालाओं द्वारा हमारे कार्यों को सिद्ध करता है ॥ ३ ॥

अदि॑तिर्द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒तं म॒हदिन्द्रा॒विष्णू॑ म॒रुतः॒ स्व॑र्बृ॒हत् ।
दे॒वाँ आ॑दि॒त्याँ अव॑से हवामहे॒ वसू॑न्रु॒द्रान्त्स॑वि॒तारं॑ सु॒दंस॑सम् ॥ ४ ॥

अदि॑तिः । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । ऋ॒तम् । म॒हत् । इन्द्रा॒विष्णू॒ इति॑ । म॒रुतः॑ । स्वः॑ । बृ॒हत् । दे॒वान् । आ॒दि॒त्यान् । अव॑से । ह॒वा॒म॒हे॒ । वसू॑न् । रु॒द्रान् । स॒वि॒तार॑म् । सु॒ऽदंस॑सम् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अदितिम्) आचार्यम् (द्यावापृथिवी) मातापितरौ "द्यौर्मे पिता....माता पृथिवी महीयम्" [ऋ.१।१६४।३३] (महत्-ऋतम) तेभ्यः प्राप्तं महज्ज्ञानं पालनं च (इन्द्राविष्णू) विद्युत्सूर्यज्ञानवन्तौ (मरुतः) जीवन्मुक्तान् (बृहत्-स्वः) महत् सुखमयं स्थानम्, इति सर्वान् (आदित्यान् देवान्) अखण्डित ब्रह्मचर्यान् विदुषः

(वसून् रुद्रान्) वासयितॄन्-उपदेष्टॄन् विदुषः (सुदंससम् सवितारम्) सुकर्माणा-मुत्पादकं परमात्मानम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आमन्त्रयामहे ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अदितिम्) आचार्य को (द्यावापृथिवी) माता पिताओं को (महत्-ऋतम्) उनसे प्राप्त महत् ज्ञान और पालन को (इन्द्राविष्णू (विद्युत् और सूर्य के ज्ञान वालों को (मरुतः) जीवन्मुक्तों को (बृहत्-स्वः) बड़े सुख वाले स्थान को–इन सबको (आदित्यान्-देवान्) अखण्डित ब्रह्मचर्य वाले विद्वानों को (वसून् रुद्रान्) बसाने वाले और उपदेश करने वाले विद्वानों को (सुदंससं सवितारम्) अच्छे कर्म वाले उत्पादक परमात्मा को (अवसे रक्षा) के लिए (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को अपनी रक्षार्थ माता पिता, आचार्य, वैज्ञानिक, व्यावहारिक, उपदेशक, आदि महानुभावों के अनुभवों और ज्ञानों से लाभ उठाना चाहिए तथा परमरक्षक परमात्मा की उपासना से अध्यात्म लाभ लेना चाहिए ॥ ४ ॥

सरस्वान् धीभिर्वरुणो धृतव्रतः पूषा विष्णुर्महिमा वायुरश्विना ।
ब्रह्मकृतो अमृता विश्ववेदसः शर्म नो यंसन् त्रिवरूथमंहसः ॥ ५ ॥

सरस्वान् । धीभिः । वरुणः । धृतऽव्रतः । पूषा । विष्णुः । महिमा । वायुः । अश्विना । ब्रह्मऽकृतः । अमृताः । विश्वऽवेदसः । शर्म । नः । यंसन् । त्रिऽवरूथम् । अंहसः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(धीभिः सरस्वान्) कर्मभिः "धीः कर्मनाम" [निघ० ५ । १] यो ज्ञानवान् प्राप्तज्ञानः (वरुणः वरयिता उपदेशकः (धृतव्रतः पूषा) धृतसङ्कल्पः कृतसङ्कल्पो दृढसङ्कल्पो वा पालको राजा (महिमा विष्णुः) स्वमहत्त्वेन व्यापकः परमात्मा (वायुः) पुरोहितः "वायुर्वाव पुरोहितः" [ऐ० ८ । २] (अश्विना) सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ "अश्विना सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ" [यजु० ३८ । १२ दयानन्दः] (ब्रह्मकृतः) ब्रह्मज्ञानाध्यापकाः (अमृताः जीवन्मुक्ताः (विश्ववेदसः) प्रवेष्टव्यज्ञानवन्तः (नः) अस्मभ्यम् (अंहसः) पापात् पापसम्पर्कतः–संसारात् पारम् (त्रिवरूथं शर्म यंसन्) त्रीणि–आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकदुःखवारकं सुखं शरणं वा प्रयच्छन्तु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(धीभिः सरस्वान्) कर्मों के द्वारा जो ज्ञानवान् (वरुणः) वरने वाला उपदेशक (धृतव्रतः पूषा) कृतसङ्कल्प या दृढसङ्कल्प वाला पालक राजा (महिमा विष्णुः) अपने महत्त्व से व्यापक परमात्मा (वायुः) पुरोहित (अश्विना) सुशिक्षित स्त्रीपुरुष (ब्रह्मकृतः) ब्रह्मज्ञान का अध्यापक (अमृताः) जीवन्मुक्त (विश्ववेदसः) प्रवेश करने योग्य ज्ञानवाले (नः) हमारे लिए (अंहसः) पापसम्पर्क से–संसार से पृथक् (त्रिवरूथं शर्म यंसन्) तीन अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों के वारक–निवारक सुखशरण को प्रदान करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा सुप्रबन्ध करने वाला, पुरोहित उत्तम याजक, उपदेशक ब्रह्मज्ञान का अध्यापक, सुशिक्षित स्त्रीपुरुष, जीवन्मुक्त महानुभाव हमें आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक दुःखों से पृथक् रखें तथा पाप से संसार बन्धन से अलग मोक्षधाम को परमात्मा प्राप्त करावे ऐसी आकांक्षा है ॥ ५ ॥

वृषा यज्ञो वृषणः सन्तु यज्ञिया वृषणो देवा वृषणो हविष्कृतः ।
वृषणा द्यावापृथिवी ऋतावरी वृषा पर्जन्यो वृषणो वृषस्तुभः ॥ ६ ॥

वृषा । यज्ञः । वृषणः । सन्तु । यज्ञियाः । वृषणः । देवाः । वृषणः । हविःऽकृतः । वृषणा । द्यावापृथिवी इति । ऋतवरी इत्यृतऽवरी । वृषा । पर्जन्यः । वृषणः । वृषऽस्तुभः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यज्ञः-वृषा) सङ्गमनीयः परमात्मा सुखवर्षको भवतु (यज्ञियाः-वृषणः सन्तु) तदुपासकाः सर्वत्र सुखवर्षका भवन्तु (देवाः-वृषणः) विद्वांस सुखवर्षका भवन्तु (हविष्कृतः-वृषणः) दानकर्त्तारः सुखवर्षका भवन्तु (ऋतावरी द्यावापृथिवी वृषणा) सत्यपूर्णे प्रजाराजसभे परस्परे सुखवर्षके स्याताम् (पर्जन्यः-वृषा) तर्पणीयश्च जन्यः स्वपुत्रः सुखवर्षको भवतु (वृषस्तुभः) एतेषां सुख वर्षकानामपि स्तोतारः-उपासकाः सुखवर्षकाः सन्तु "स्तुभ् स्तोतृनाम" [निघ० ३ । १६] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यज्ञः-वृषा) सङ्गमनीय परमात्मा सुखवर्षक हो (यज्ञियाः-वृषणः सन्तु) उसके उपासक सर्वत्र सुखवर्षक हों (देवाः-वृषणः) विद्वान् सुखवर्षक हों (हविष्कृतः-वृषणः) दानकर्त्ता सुखवर्षक हो (ऋतावरी द्यावापृथिवी वृषणा) सत्यपूर्ण प्रजा और राजसभा परस्पर सुखवर्षक हों (पर्जन्यः-वृषा) तर्पणीय उत्पन्न होने वाला अपना पुत्र सुखवर्षक हो (वृषस्तुभः) इन सुखवर्षकों के भी स्तोता—उपासक सुखवर्षक हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा हमारे समागमयोग्य है वह सुख की वर्षा करने वाला हो उसके सुख वर्षक होने पर उसकी कृपा से विद्वान्, राजा, राजसभा और प्रजा, दानी, उपासक तथा पुत्र ये सभी सुखवर्षक हों। इनके स्तुति करने वाले उपासक भी हमारे लिए सुखों को प्राप्त कराने वाले बनें ॥ ६ ॥

अग्नीषोमा वृषणा वाजसातये पुरुप्रशस्ता वृषणा उप ब्रुवे ।
यावीजिरे वृषणो देवयज्यया ता नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसतः ॥ ७ ॥

अग्नीषोमा । वृषणा । वाजऽसातये । पुरुऽप्रशस्ता । वृषणौ । उप । ब्रुवे । यौ । ईजिरे । वृषणः । देवऽयज्यया । ता । नः । शर्म । त्रिऽवरूथम् । वि । यंसतः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्नीषोमा) ज्ञानप्रकाशकशान्तिप्रदौ विद्वांसौ "विज्ञान-

सौम्यगुणावध्यापकपरीक्षकौ" [ऋ० १ । ६३ । १ दयानन्दः] (वृषणा) सुखवर्षकौ (वाजसातये) ज्ञानलाभाय (पुरुप्रशस्ता) बहु प्रशस्तौ (वृषणा) सुखवर्षकौः पुनरुक्तिरादरार्था' (उपब्रुवे) अहं प्रार्थये (यौ वृषणः) यथा अन्ये सुखवर्षका जनाः (देवयज्यया) विद्वत्सङ्गत्या (ईजिरे) सङ्गच्छन्ते तथा (ता) तौ (नः) अस्मभ्यम् (त्रिवरूथं शर्म वियंसतः) त्रिविधदुःखवारक सुखशरणं विशिष्टतया प्रयच्छतः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्नीषोमा) ज्ञानप्रकाशक और शान्तिप्रद विद्वान् (वृषणा) सुखवर्षक हों (वाजसातये) ज्ञानालाभ के लिए (पुरुप्रशस्ता) बहुत प्रशस्त (वृषणा) सुखवर्षक हों (उपब्रुवे) मैं प्रार्थना करता हूँ (यौ वृषणः) जैसे दूसरे सुखवर्षक जन (देवयज्यया) विद्वत्सङ्गति से (ईजिरे सङ्गत होते हैं (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिए (त्रिवरूथं शर्म-वियंसतः) तीन प्रकार के दुःखों की वारक–निवारक सुखशरण को प्रदान करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—ज्ञानप्रकाशक और शान्तिप्रसारक विद्वान् अन्य जनों की सहायता से लोगों में ज्ञान और शान्ति का प्रसार करें, जिससे सुख की वृष्टि सर्वत्र हो ॥ ७ ॥

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥ ८ ॥

धृतऽव्रताः । क्षत्रियाः । यज्ञनिःऽकृतः । बृहत्ऽदिवाः । अध्वराणाम् । अभिऽश्रियः । अग्निऽहोतारः । ऋतऽसापः । अद्रुहः । अपः । असृजन् । अनु । वृत्रऽतूर्ये ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(धृतव्रताः) धृतं व्रतं यैस्ते धृतव्रताः–दृढसङ्कल्पाः (क्षत्रियाः) धनार्हाः "क्षत्रं धननाम" [निघ० २ । १०] (यज्ञनिष्कृतः) यज्ञस्य श्रेष्ठ-कर्मणः संस्कृतारः (बृहद्दिवाः) महाज्ञानिनः (अध्वराणाम) अहिंसनीयकर्मणाम् (अभिश्रियः) अभ्याश्रयभूताः (अग्निहोतारः) परमात्मोपासकाः (ऋतसापः) सत्यस्याश्रयभूताः (अद्रुहः) अद्रोग्धारः (वृत्रतूर्ये) पापाज्ञाननाशाय (अपः-अनु-असृजन्) कर्म–अनुगच्छन्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(धृतव्रताः) दृढ़ सङ्कल्प वाले (क्षत्रियाः) धन के अधिकारी (यज्ञनिष्कृतः) श्रेष्ठकर्म से संस्कृत–सम्पन्न (बृहद्दिवाः) महाज्ञानी (अध्वराणाम्) अहिंसनीय कर्मों के (अभिश्रियः) अच्छे आश्रयभूत (अग्निहोतारः) परमात्मा के उपासक (ऋतसापः) सत्य के आश्रयभूत (अद्रुहः) द्रोह न करने वाले (वृत्रतूर्ये) पाप अज्ञान का नाश करने के लिए (अपः-अनु-असृजन्) कर्मों के अनुरूप गति करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दृढ़सङ्कल्पी, महाज्ञानी, श्रेष्ठ कर्म के आचरण कर्ता होते हैं वे सच्चे धन के अधिकारी होते हैं तथा परमात्मा के उपासक, किसी से भी द्रोह न करने वाले, बाहर भीतर सत्य से परिपूर्ण जो महानुभाव हैं वे पाप को नष्ट करने के लिए यथावत् प्रयत्न कर सकते हैं ॥ ८ ॥

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप ओषधीर्वनिनानि यज्ञिया ।
अन्तरिक्षं स्व१रा पप्रुरूतये वशं देवासस्तन्वी३ नि मामृजुः ॥ ९ ॥

द्यावापृथिवी इति । जनयन् । अभि । व्रता । आपः । ओषधीः । वनिनानि । यज्ञिया । अन्तरिक्षम् । स्वः । आ । पप्रुः । ऊतये । वशम् । देवासः । तन्वि । नि । ममृजुः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवासः) विद्वांसः (ओषधीः-यज्ञिया-वनिनानि) गोधूमादीन्योषधीस्तथा वनेभवानि वृक्षगणे भवानि श्रेष्ठानि फलानि (जनयन्) उत्पादयन् तद्धेतोः (द्यावापृथिवी-स्वः-अन्तरिक्षम्-आपप्रुः) यज्ञेन द्युलोकमाकाशं पृथिवीं च सुखं यथा स्यात्तथा पूरयन्तु (ऊतये) रक्षायै (तन्वि वशं निममृजुः) स्वशरीरे कमनीयं सुखं विचारं निर्मलं निर्दोषं कुर्वन्तु ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवासः) विद्वान् (ओषधीः यज्ञिया-वनिनानि) गोधूम-गेहूँ आदि ओषधियों तथा वन में होने वाले श्रेष्ठ फलों को (जनयन्) उत्पन्न करते हुए—उसके हेतु (द्यावापृथिवी स्वः-अन्तरिक्षम्-आपप्रुः) यज्ञ से द्युलोक, पृथिवीलोक और आकाश को सुख जिससे हो ऐसे पूर्ण करें (ऊतये) रक्षा के लिए (तन्वि वशं निममृजुः) अपने शरीर में कमनीय सुख और निर्दोष निर्मल विचारों को करें--सम्पादित करें ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वानों को चाहिए कृषि और उद्यानों में गोधूम आदि अन्नों और विविध फलों को पुष्ट मधुर रूप से उत्पन्न करें तथा उनके द्वारा यज्ञों को रचाकर स्वास्थ्य प्राप्त करें और जनता के स्वास्थ्य को सम्पन्न करें, निर्मल विशुद्ध विचारों का प्रचार करें ॥ ९ ॥

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः ।
आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम् ॥१०॥

धर्त्तारः । दिवः । ऋभवः । सुऽहस्ताः । वातापर्जन्या । महिषस्य । तन्यतोः । आपः । ओषधीः । प्र । तिरन्तु । नः । गिरः । भगः । रातिः । वाजिनः । यन्तु । मे । हवम् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(महिषस्य तन्यतोः) महतः "महिषो महन्नाम" [निघ० ३ । ३] प्रकाशस्य विस्तारयितुः परमात्मनः सूर्यस्य वा (दिवः-धर्तारः-) द्युलोकस्य-प्रकाशस्य धारकाः (सुहस्ताः-ऋभवः) सुहस्ताः शिल्पिन इव रश्मयः 'लुप्तोपमावाचकालङ्कारः' "यदि कर्त्त पतित्वा संशश्रेयद्वाऽश्मा प्रहृतो जघान । ऋभूरथस्येवाङ्गानि सन्दधत्परुषापरुः" [अथर्व० ४ । १२ । ७] (वातापर्जन्या) वातमेघौ (ओषधीः प्रतिरन्तु) ओषधीः प्रवर्धयन्ति, 'लडर्थे लोट्' (नः-गिरः) अस्माकं वाचः प्रति (भगः-रातिः)

भजनीयः परमात्मा सुखदाता च (वाजिनः) ज्ञानवन्तो विद्वांसः-ऋत्विजश्च (मे हवं यन्तु) मम प्रार्थनां प्राप्नुवन्तु पूरयन्तु ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(महिषस्य तन्यतोः) महान् प्रकाश के विस्तार करने वाले परमात्मा या सूर्य का (दिवः-धर्तारः) द्युलोक-प्रकाश के धारक (सुहस्ताः-ऋभवः) उत्तम हाथ वाले शिल्पियों की भांति किरणें और (वातापर्जन्या) शोभन हस्तक्रिया वाले शिल्पियों की भांति वायु और मेघ (ओषधीः प्रतिरन्तु) ओषधिकों को बढ़ाते हैं (नः गिरः) हमारी वाणियों के प्रति (भगः-रातिः) भजनीय परमात्मा सुखदाता (वाजिनः) ज्ञानवान् विद्वान् और ऋत्विज (मे हवं यन्तु) मेरी प्रार्थना को पूरा करें ॥ १० ॥

भावार्थ—महान् ज्ञानप्रकाश वाले परमात्मा की ज्ञानरश्मियां तथा सूर्य की प्रकाश रश्मियां एवं वायु और मेघ शिल्पियों की भांति ओषधियों के सम्पादन में समर्थ हैं तथा ज्ञानीजन हमारी प्रार्थना को सुनते हैं–स्वीकार करते हैं ॥ १०

समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्तनयित्नुरर्णवः ।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम ॥ ११ ॥

समुद्रः । सिन्धुः । रजः । अन्तरिक्षम् । अजः । एकऽपात् । तनयित्नुः । अर्णवः । अहिः । बुध्न्यः । शृणवत् । वचांसि । मे । विश्वे । देवासः । उत । सूरयः । मम ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(समुद्रः) सागरः (सिन्धुः) नदी (रजः) पृथिवी लोकः (अन्तरिक्षम्) आकाशः (एकपात्-अजः) एकः स्वाधार गतिकोऽन्येभ्यो गतिप्रदः सूर्यः "अज एकपादुदगात् पुरस्तात्....तं सूर्यं देवमजमेकपादम्" [तै० ३ । १ । २ । ८] (तनयित्नुः) स्तनयित्नुः–विद्युत् (अर्णवः) उदकवान् जलाशयः "अर्णः-उदकनाम" [निघ० १ । १२] (बुध्न्यः-अहिः) आन्तरिक्ष्यो मेघः, एते अनुकूला भवन्तु (विश्वे-देवासः-उत सूरयः) सर्वे विद्वांसोऽपि मेधाविनश्च (मे वचांसि शृणवत्) मम प्रार्थना-वचनानि शृण्वन्तु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(समुद्रः) सागर (सिन्धुः) नदी (रजः) पृथिवी लोक (अन्तरिक्षम्) आकाश (एकपात्-अजः) एक स्वाधार गति वाला अन्यों के लिए गतिप्रद सूर्य (तनयित्नुः) विद्युत् (अर्णवः) जलाशय (बुध्न्यः-अहिः) अन्तरिक्षस्थ मेघ, ये सब अनुकूल हों (विश्वेदेवासः-उत सूरयः) सब विद्वान् और मेधावी जन (मे वचांसि शृणवत्) मेरे वचनों को सुनें ॥ ११ ॥

भावार्थ—आकाश, सूर्य, पृथिवी समुद्र, नदी, जलाशय, विद्युत् तथा मेघ ये सब अनुकूल होवें तथा विद्वान् भी निवेदनों को सुनने वाले–स्वीकार करने वाले हों जिससे जनमात्र सुखी हो सके ॥ ११ ॥

स्याम वो मनवो देववीतये प्राञ्चं नो यज्ञं प्र णयत साधुया ।
आदित्या रुद्रा वसवः । सुदानव इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत ॥१२॥

स्याम । वः । मनवः । देवऽवीतये । प्राञ्चम् । नः । यज्ञम् । प्र । नयत । साधुऽया । आदित्याः । रुद्राः । वसवः । सुऽदानवः । इमा । ब्रह्म । शस्यमानानि । जिन्वत ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मनवः) हे मननशीला विद्वांसः ! (वः) युष्माकम् (देववीतये) विद्वत्सङ्गत्यै (स्याम) भवेम (नः-यज्ञं प्राञ्चं साधुया प्रणयत) अस्माकं ज्ञानयज्ञं प्रगतिशीलं साधुरूपं प्रवर्तयत (आदित्याः-रुद्राः-वसव सुदानवः) पूर्णब्रह्मचारिणो मध्यब्रह्मचारिणोऽल्पब्रह्मचारिणः शोभनज्ञानदातारः (इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत) एतानि मन्त्रवचनानि प्रशंसनीयानिवचनानि प्रापयत "जिन्वति गतिकर्मा" [निघ० ५ । १४] ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(मनवः) हे मननशील विद्वानो ! (वः) तुम्हारी (देववीतये) विद्वत्सङ्गति के लिए (स्याम) हम हों (नः-यज्ञं प्राञ्चं साधुया प्रणयत) हमारे ज्ञानयज्ञ को प्रगतिशील साधुरूप में प्रवर्तित करो (आदित्याः-रुद्राः-वसवः सुदानवः) पूर्ण ब्रह्मचारी, मध्यब्रह्मचारी, अल्पब्रह्मचारी तथा शोभनज्ञान देने वाले (इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत) इन मन्त्रवचनों प्रशंसनीय वचनों को प्राप्त करावें ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वानों की सङ्गति करके ज्ञान प्राप्त करना और आध्यात्मिक साधना में लगना चाहिए तथा उच्च, मध्यम और अवम ब्रह्मचारियों से उनके अधीत मन्त्र विज्ञानों का श्रवण करना चाहिए ॥ १२ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा पुरोहित ऋतस्य पन्थामन्वेमि साधुया ।
क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे विश्वान्देवाँ अमृताँ अप्रयुच्छतः ॥ १३ ॥

दैव्या । होतारा । प्रथमा । पुरःऽहिता । ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । एमि । साधुऽया । क्षेत्रस्य । पतिम् । प्रतिऽवेशम् । ईमहे । विश्वान् । देवान् । अमृतान् । अप्रऽयुच्छतः ॥ १३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रथमा) हे प्रमुखौ प्रतमौ प्रसिद्धौ (पुरोहिता) पुरोहितौ पुरतो वर्तमानौ (दैव्या होतारा) देवेषु विद्वत्सु योग्यौ "देवेषु विद्वत्सु साधु" [यजु० २८ । ७ दयानन्दः] होतारौ ज्ञानस्य दातारौ कर्त्तारावध्यापकोपदेशकौ "होतारौ दातारावध्यापकोपदेशकौ" [यजु० २८ । ४० दयानन्दः] (साधुया-ऋतस्य पन्थाम्-अन्वेमि) सद्भावेन वेदज्ञानस्य मार्गमनुगच्छेयमनुसरेयम् "लिङर्थे लेट्" [अष्टा० ३ । ४-

। ७] (क्षेत्रस्य पतिम्) जगतः स्वामिनं परमात्मानम् "क्षेत्रस्य क्षयन्ति निवसन्ति यस्मिञ्जगति तस्य" [ऋ० ७ । ३५ । १० दयानन्दः] (प्रतिवेशम्) विशति शरीरेषु यः स जीवो वेशः "विश् प्रवेशने" [भ्वादिः] 'ततोऽच् कर्तरि' प्रतिगतो वेशं जीवमिति प्रतिवेशः परमात्मा तम् (ईमहे) याचामहे प्रार्थयामहे वयम् (विश्वान् देवान्-अमृतान्-अप्रयुच्छतः) तथा सर्वान् विदुषोऽमृतान् जीवन्मुक्तान् सदाऽप्रमाद्यान् सावधानान्-ईमहे प्रार्थयामहेवयम् विदुषोऽमृतान् जीवन्मुक्तान् सदाऽप्रमाद्यान् सावधानान्-ईमहे प्रार्थयामहे-वाञ्छामहे ॥ १३ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रथमा) हे प्रमुख प्रसिद्ध (पुरोहिता) पुरोहितो ! सामने वर्तमान ! (दैव्या होतारा) देवों-विद्वानों में योग्य ज्ञान के देने वालो अध्यापक और उपदेशको ! (साधुया-ऋतस्य पन्थाम्-अन्वेमि) सद्भाव से वेदज्ञान के मार्गानुसार मैं चलूँ, (क्षेत्रस्य पतिम्) जगत् के स्वामी परमात्मा को (प्रतिवेशम्) जीवमात्र में प्रविष्ट को (ईमहे) याचना करते हैं—प्रार्थित करते हैं (विश्वान् देवान्-अमृतान्-अप्रयुच्छतः) सारे विद्वानों जीवन्मुक्तों प्रमादरहितों को प्रार्थित करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—ऊंचे अध्यापक और उपदेशकों से वेदाध्ययन और श्रवण करके तदनुसार आचरण करें और परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करते हुए जीवन्मुक्तों की श्रेणी में हो जायें ॥ १३ ॥

वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत्स्वस्तये ।
प्रीताइव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽव धूनुता वसु ॥ १४ ॥

वसिष्ठासः । पितृऽवत् । वाचम् । अक्रत । देवान् । ईळानाः । ऋषिऽवत् । स्वस्तये । प्रीताःऽइव । ज्ञातयः । कामम् । आऽइत्य । अस्मे इति । देवासः । अव । धूनुत । वसु ॥ १४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वसिष्ठासः) वेदाध्ययनब्रह्मचर्ययोरतिशयेन वासिनः "वसिष्ठाः-अतिशयेन ब्रह्मचर्ये कृतवासाः" [ऋ० ७ । ३३ । ३ दयानन्दः] (पितृवत्-वाचम्-अक्रत) गुरुं पितृवन्मत्वा तस्य वचनमाज्ञापालनं कुर्वन्तु (देवान्-ऋषिवत्-स्वस्तये-ईळानाः) अन्यान् गुरुभिन्नान् जीवन्मुक्तान् परमात्मसाक्षात्कृतवतः प्रशस्तानृषीनिव कल्याणाय तान् सेवमानाः (प्रीताः-इव ज्ञातयः-देवासः कामम्-एत्य) प्रसन्नाः-तृप्ता बान्धवा इव विद्वांसः ! यथेष्टमस्माकं गृहमागत्य (अस्मे वसु-अवधूनुत) अस्मभ्यं वासयितृधनं ज्ञानधनमवप्रेरयत ॥ १४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वसिष्ठासः) वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य में अत्यन्त वास करने वाले (पितृवत्-वाचम्-अक्रत) गुरु को पिता के समान मानकर उसके वचन-आज्ञा का पालन करें (देवान्-ऋषिवत्) अन्य जीवन्मुक्त परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए प्रशस्त ऋषियों की भांति विद्वानों को अपने कल्याण के लिए सेवन करते हुए (प्रीताः-इव ज्ञातयः) प्रसन्न-तृप्त बान्धवों के

समान (देवासः कामम्-एत्य) देव–विद्वानो ! यथेष्ट हमारे घर को प्राप्त होकर (अस्मे वसु-अवधूनुत) हमारे लिए बसाने वाले ज्ञानधन को प्रेरित करो ॥ १४ ॥

भावार्थ—वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य में निष्णात जो विद्वान् हों उनका पिता के समान आदर करना चाहिए तथा ज्ञान लाभ लेना चाहिए। परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए जीवन्मुक्तों को ऋषियों की भांति सम्मानित करके अध्यात्म लाभ लेना चाहिए। विद्वानों को बन्धुओं के समान स्नेह दृष्टि से देखते हुए घर पर बुलाकर ज्ञानोपदेश ग्रहण करना चाहिए ॥ १४ ॥

देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

देवान् । वसिष्ठः । अमृतान् । ववन्दे । ये । विश्वा । भुवना । अभि । प्रऽतस्थुः । ते । नः । रासन्ताम् । उरुऽगायम् । अद्य । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ १५ ॥

पूर्वसूक्तस्यान्तिममन्त्रस्येवार्थो विज्ञेयः ।

पहले सूक्त के अन्तिम मन्त्र का अर्थ इस मन्त्र का भी है ॥ १५ ॥



सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसोऽयास्यः ।

देवता— बृहस्पतिः ।

छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप् । २-७, ११, निचृत् त्रिष्टुप् । ८- १०, १२ त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र वेदस्य प्रकाशं परमात्माऽऽदिसृष्टौ परमर्षिषु करोति, वेदज्ञानेन सर्वे सुखिनो भवन्ति, राज्ञा वेदस्य प्रचारः कार्यः, स एव राजा राजपदमधितिष्ठति यः प्रजारक्षणमापन्निवारणं करोतीत्यादयो विषया वर्ण्यन्ते ।

इसमें आदि-सृष्टि में परमर्षियों द्वारा परमात्मा वेदों को प्रकट करता है, वेद ज्ञान से सभी सुखी होते हैं राजा द्वारा वेद का प्रचार, राजपद का वही राजा अधिकारी है जो प्रजारक्षण, उनकी आपत्तियों का निवारण करे, आदि विषय वर्णित है ॥

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥

इमाम् । धियम् । सप्तऽशीर्ष्णीम् । पिता । नः । ऋतऽप्रजाताम् । बृहतीम् । अविन्दत् । तुरीयम् । स्वित् । जनयत् । विश्वऽजन्यः । अयास्यः । उक्थम् । इन्द्राय । शंसन् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(पिता) पालयिता परमात्मा (इमां सप्तशीर्ष्णीम्-ऋतप्रजातां बृहतीं धियं नः-अविन्दत्) एतां सप्तछन्दोरूपशिरोवतीं स्वकीयज्ञाने जातां बृहद्विषयिकां वेदवाचम् "वाग्वै धीः" [काश० ४ । २ । ४ । १३] "धीरसीति ध्यायेत हि वाचेत्थं चेत्थं च [काठ० २४ । १] अस्मान् प्रापयति-उपदिशति (विश्वजन्यः) 'विश्वं जन्यं यस्मात् स विश्वस्य जनयिता (अयास्यः) यासं प्रत्नमनपेक्ष्यमाणः सहजस्वभावः परमात्मा (तुरीयं स्वित्-जनयत्) धर्मार्थकाममोक्षेषु मोक्षेषु चतुर्थं मोक्षं प्रादुर्भा-

वयति प्रयच्छति (इन्द्राय-उक्थं शंसत्) आत्मने वेदवाचं यः शंसति-उपदिशति "वागुक्थम्" [षड्विं० १ । ५] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(पिता) पालन करने वाला परमात्मा (इमां सप्तशीर्ष्णीम्) इस सात छन्दों रूप शिरों वाली (ऋतप्रजातां वृहतीं धियम्) स्वकीय ज्ञान में प्रसिद्ध, महत् विषय वाली वेदवाणी को (नः-अविन्दत्) हमें उपदेश देता है-ज्ञान प्राप्त कराता है (विश्वजन्यः , जगत् उत्पन्न होने योग्य है जिससे ऐसा जगदुत्पादक-(अयास्यः) प्रयत्न को अपेक्षित न करता हुआ सहज स्वभाव वाला परमात्मा (तुरीयं स्वित् जनयत्) धर्म-अर्थ-काम-मोक्षों में चतुर्थ अर्थ मोक्ष को प्रसिद्ध करता है-प्रदान करता है (इन्द्राय-उक्थं शंसत्) आत्मा के लिए वेदवाणी का उपदेश करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जगत्पिता परमात्मा सात छन्दों वाली वेदवाणी बहुत ज्ञान से भरी वाणी का उपदेश करता है । बिना किसी बाह्य प्रयत्न की अपेक्षा रखता हुआ सहज स्वभाव से जगत् को उत्पन्न करता है । मानव जीवन को सफल बनाने के लिए चार फलों में से अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में से मोक्ष को आत्मा के लिए प्रदान करता है । उस ऐसे परमात्मा की हमें स्तुति प्रार्थना-उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

ऋतम् । शंसन्तः । ऋजु । दीध्यानाः । दिवः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः । विप्रम् । पदम् । अङ्गिरसः । दधानाः । यज्ञस्य । धाम । प्रथमम् । मनन्त ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋतं शंसन्तः) वेदज्ञानं प्रशंसन्त उपदिशन्तः (ऋजुदीध्यानाः) सरलस्वभावं ब्रह्मध्यायन्तः (दिवः-पुत्रासः) ज्ञानप्रकाशकस्य परमात्मनः पुत्रा इव परमर्षयः (असुरस्य वीराः) प्राणप्रदस्य परमात्मनो ज्ञानिनः (अङ्गिरसः) अङ्गानामीरयितारः संयमिनः (विप्रं पदं दधानाः) विशेषेण प्रीणयितारं प्रापणीयं परमात्मानं धारयन्तः-उपासकाः (यज्ञस्य प्रथमं धाम मनन्त) यजनीयस्य सङ्गमनीयस्य परमात्मनः प्रमुखं धाम स्वरूपं मन्यन्ते ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋतं शंसन्तः) वेदज्ञान का उपदेश करते हुए (ऋजुदीध्यानाः) सरल स्वभाव वाले परमात्मा का ध्यान करते हुए (दिवः पुत्रासः) ज्ञान प्रकाशक परमात्मा के पुत्रसमान परमऋषि (असुरस्य वीराः) प्राणप्रद परमेश्वर के ज्ञानी (अङ्गिरसः) अङ्गों के स्वाधीन प्रेरित करने वाले संयमी (विप्रं पदं दधानाः) विशेषरूप से तृप्त करने वाले प्रापणीय परमात्मा को धारण करते हुए उपासक (यज्ञस्य प्रथमं धामं मनन्त) सङ्गमनीय परमात्मा के प्रमुग धाम-स्वरूप को मानते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—आदि सृष्टि में परम ऋषि वेदज्ञान का उपदेश करने हैं वे परमात्मा के ध्यान में

मग्न हुए परमात्मा के पुत्र समान, अपनी इन्द्रियों के स्वामी-संयमी होते हैं। वे परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानते हैं वैसे ही दूसरों को भी जनाते हैं ॥ २ ॥

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥ ३ ॥

हंसैःऽइव । सखिऽभिः । वावदत्ऽभिः । अश्मन्ऽमयानि । नहना । विऽअस्यन् । बृहस्पतिः । अभिऽकनिक्रदत् । गाः । उत । प्र । अस्तौत् । उत् । च । विद्वान् । अगायत् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) बृहतां वेदवाचां स्तुतीनां पतिः पालयिता महायोगी विद्वान् (हंसैः-इव वावदद्भिः-सखिभिः) पापाज्ञानहन्तृभिः स्तुतिवचनं ब्रुवद्भिः सह (अश्मन्मयानि नहना) विषय पाषाणमयानि कठिनानि बन्धनानि "णह बन्धने" [दिवादि] (व्यस्यत्) विक्षिपति छिनत्ति (गाः-अभिकनिक्रदत्) वाचः पुनः पुनरतिशयेन वदति (उत) अपि (विद्वान् प्रास्तौत्) स विद्वान् परमात्मानं स्तौति (च) अन्यच्च (अगायत्) तं गायति वर्णयति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) वेदवाणियों का तथा स्तुतियों का पालक महायोगी विद्वान् (हंसैः-इव वावदद्भिः सखिभिः) पाप अज्ञान को हनन करने वालों स्तुतिवचन बोलने वालों के साथ (अश्मन्मयानि नहना) विषय पाषाणमय कठिन बन्धनों को (व्यस्यत्) छिन्न-भिन्न करता है-काटता है (गाः-अभिकनिक्रदत्) वाणियों को पुनः पुनः बोलता है (उत) और (विद्वान् प्रास्तौत्) वह विद्वान् परमात्मा की स्तुति करता है (च) और (अगायत्) उसका गायन करता है-वर्णन करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवचनों का वक्ता, स्तुतियों का कर्त्ता, महान् योगी विद्वान्, अन्य पाप के हनन कर्त्ता, अध्यात्मिक जनों के साथ, विषयपाषाणों के बन्धनों को काटता है और लोगों को सदुपदेश देकर सन्मार्ग दिखाता है ॥ ३ ॥

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥

अवः । द्वाभ्याम् । परः । एकया । गाः । गुहा । तिष्ठन्तीः । अनृतस्य । सेतौ । बृहस्पतिः । तमसि । ज्योतिः । इच्छन् । उत् । उस्राः । आ । अकः । वि । हि । तिस्रः । आवरित्यावः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) वेदवाचः पालयिता महाविद्वान् (द्वाभ्याम्

अवः) मननविज्ञानाभ्याम्, अवः-अवरव्यवहारे व्यवहारनिमित्तम् (एकया परः) एकया विज्ञानवत्तया प्रज्ञया परस्मिन्नध्यात्मक्षेत्रे मोक्षे मोक्षार्थम् (गुहा तिष्ठन्तीः-गाः) सूक्ष्मतायामध्यात्मधारायां वा विराजमानाः स्तुतीः (अनृतस्य सेतौ) तथा अनृतस्य नश्वरस्य संसारस्य बन्धने पुनः पुनः संसारप्रवृत्तौ या वर्तते (तमसि ज्योतिः-इच्छन्) अन्धकारे प्रकाशमिच्छन्निव (उस्राः-उत्-अकः) रश्मीन् चेतनाः "उस्राः रश्मिनाम" [निघ० १ । ५] उत्प्रेरयति (तिस्रः-वि-आवः) तिस्रो वाचो विद्यास्त्रयीवेदरूपा स्वाभ्यन्तरे प्रकटयति, अन्येषुच ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक महाविद्वान् (द्वाभ्याम्-अवः) मनन और विज्ञान के द्वारा, अवर-सांसारिक व्यवहार के निमित्त (एकया परः) एक विज्ञानवाली बुद्धि से पर अर्थात् अध्यात्मक्षेत्र-मोक्षार्थ (गुहा तिष्ठन्तीः-गाः) सूक्ष्मता में-अध्यात्मधारा में विराजमान स्तुतियों को (अनृतस्य सेतौ) तथा नश्वर संसार के बन्धन में या पुनः पुनः संसार की प्रवृत्ति में रहता है (तमसि ज्योतिः-इच्छन्) अन्धकार में प्रकाश को चाहता हुआ जैसा (उस्राः-उत्-अकः) रश्मियों-चेतनाओं को उत्प्रेरित करता है-उभारता है (तिस्रः-वि-आवः) तीन वाणियों-वेदत्रयी को अपने अन्दर प्रकट करता है दूसरों के अन्दर भी ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदविद्या का वक्ता सांसारिक सुख व्यवहार को जहाँ सिद्ध करता है वहाँ अध्यात्म-मोक्ष को भी सिद्ध करता है संसार के बन्धन से तथा अज्ञान अन्धकार से अपने को पृथक् करता है एवं दूसरों को भी इनसे पृथक् होने की प्रेरणा देता है। वह ऐसा विद्वान् वेद का सच्चा प्रचारक आश्रयणीय है ॥ ४ ॥

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

विऽभिद्य । पुरम् । शयथा । ईम् । अपाचीम् । निः । त्रीणि । साकम् । उदऽधेः । अकृन्तत् । बृहस्पतिः । उषसम् । सूर्यम् । गाम् । अर्कम् । विवेद । स्तनयन्ऽइव । द्यौः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) वाचः पालको विस्तारयिता वक्ता (शयथा) स्वशयनरूपशरीरे प्राप्तः सन् (अपाचीं पुरं विभिद्य) निकृष्टां पुरं वासनां छित्त्वा (उदधेः) संसारसागरस्य (त्रीणि) त्रीणि बन्धनानि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि (साकं निर्-अकृन्तत्) सकृत् निश्छिनत्ति (द्यौः स्तनयन्-इव) यथा विद्युत् "द्यौः-विद्युत्" [ऋ० १ । ११३ । २० दयानन्दः] स्तनयित्नु शब्दं कुर्वन् मेघान् पातयति छिनत्ति (उषसं सूर्यं गाम्-अर्कं विवेद) कमनीयां बन्धनरहितां स्थितिं स्तुतिवाचम् "गौः-वाङ्नाम" [निघ० १ । ११] अर्चनीयं परमात्मानं जानाति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) वाणी का पालक और विस्तारक वक्ता (शयथा) अपने शरीर

में प्राप्त होता हुआ (अपाचीं पुरं विभिद्य) निकृष्ट वासना को छिन्न भिन्न करके (उदवेः) संसार सागर के (त्रीणि) तीन स्थूल सूक्ष्मकारण शरीर बन्धनों को (साकं निर्-अकृन्तत्) एक साथ छिन्न-भिन्न करता है (द्यौः स्तनयन्-इव) जैसे बिजली गरजती हुई मेघों को छिन्न-भिन्न करती है, ऐसे (उषसं सूर्यं गाम्-अर्कं विवेद) कमनीय बन्धन रहित स्तुतिवाणी को तथा अर्चनीय परमात्मा को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वेद का यथार्थ ज्ञाता और वक्ता इसी शरीर में रहता हुआ अपनी सारी वासनाओं को छिन्न-भिन्न कर देता है। अनन्तर स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के बन्धनों से छूटकर परमात्मा की उच्च स्तुति और उसके आश्रय में रमण करता है ॥ ५ ॥

इन्द्रो॑ वलं र॑क्षितारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण ।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॑नोऽरोदयत्प॒णिमा गा अ॑मुष्णात् ॥ ६ ॥

इन्द्रः॑ । व॒लम् । र॒क्षि॒तार॑म् । दु॒घाना॑म् । क॒रेण॑ऽइव । वि । च॒क॒र्त॒ । रवे॑ण । स्वेदा॑ञ्जिऽभिः । आ॒ऽशिर॑म् । इ॒च्छमा॑नः । अरो॑दयत् । प॒णिम् । आ । गाः । अ॒मु॒ष्णा॒त् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः) शासकः (दुघानां रक्षितारं वलम्) दोहनयोग्यानां गवामिव प्रजानामवरोधकं वलयितारमावरकमिव राज्यकराद् वारयितारं स्वाधीने कर्त्तारम् (करेण-इव रवेण विचकर्त) शस्त्रयुक्तेन हस्तेन घोषणेन-घोषणमात्रेण चिच्छेद विछिनत्ति, तथा (स्वेदाञ्जिभिः) सुवेदिताभिः "स्वेदः-तद्यदब्रवीन्महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति तस्मात्सुवेदोऽभवत्तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते" [गो० १ । १ । १] साधनशक्तिभिः (आशीरम्-इच्छमानः) प्रजाः-इच्छमानः "प्रजा वै पशव आशीः" [जै० १ । १७४] (पणिम्-अरोदयत्) द्यूतकर्तारं जनम् "पणेः-द्यूतकर्तुः" [ऋ० ६ । ५३ । ३ दयानन्दः] दण्डं दत्त्वा रोदयति (अमुष्णात्-गाः-आ) चौर्यं न कुर्यात् तस्माच्चौर्यं प्रतीकारार्थं दण्डविधानात् पृथिव्यादिपदार्थानारभेत "गोषु पृथिव्यादिपदार्थेषु" [ऋ० १ । १६ । ५ दयानन्दः] ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) शासक (दुघानां रक्षितारं वलम्) दोहनयोग्य गौओं के समान प्रजाओं के अवरोधक घेरने वाले राज्यकर से हटाने वाले, को स्वाधीन करने वाले को (करेण-इव रवेण विचकर्त) शस्त्रयुक्त हाथ के समान घोषणा मात्र से विच्छिन्न करता है, तथा (स्वेदाञ्जिभिः) सुवेदित-प्रसिद्ध की हुई साधन शक्तियों से (आशीरम्-इच्छमानः) प्रजाओं को चाहता हुआ प्रजाओं का हित चाहता हुआ (पणिम्-अरोदयत्) जुआरी जन को दण्ड देकर रुलाता है (अमुष्णात्-गाः-आ) चोरी न कर सके इसलिए प्रतीकार या प्रतिबन्ध के लिए दण्डविधान से पृथिव्यादि पदार्थों को आरक्षित करे या करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—शासक को अपना प्रभाव राष्ट्र में ऐसा बढ़ाना चाहिए कि प्रजा को बहकाने

वाला, राज्य कर से रोकने वाला कोई हो तो उसे घोषणा मात्र से आतंकित कर दे। जुआरियों को दण्ड दे और राष्ट्र में ऐसी प्रबन्ध और प्रतिबन्ध की व्यवस्था बनाये रखे जिससे कोई चोरी भी न कर सके ॥ ६ ॥

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पति वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

सः। ईम्। सत्येभिः। सखिऽभिः। शुचत्ऽभिः। गोऽधायसम्। वि। धनऽसैः। अदर्दरित्यदर्दः। ब्रह्मणः। पतिः। वृषऽभिः। वराहैः। घर्मऽस्वेदाभः। द्रविणम्। वि। आनट् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-ब्रह्मणः-पतिः) स महतो राष्ट्रस्य पालकः (सत्येभिः-सखिभिः-शुचद्भिः-धनसैः) सत्याचरणवद्भिः समानधर्मकैः पवित्रमनस्कैर्धनसम्भक्तैर्धनपूर्णैः सह (गोधायसं वि-अदर्दः) अन्यस्य पृथिव्यादिपदार्थस्य धारकं अहितारं चौरं विदारयति नाशयति (वृषभिःवराहैः-धर्मस्वेदिभिः-द्रविणं व्यानट्) सुखवर्षकैर्वरणीयाहारोपायप्राप्ताहारयुक्तैः "वराहः-वराहारः" [निरु० ५। ४] श्रमेण सुप्राप्तकर्तृभिर्दत्तं धनं प्राप्नुयात् सः शासकः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-ब्रह्मणः-पति) वह महान् राष्ट्र का पालक राजा (सत्येभिः-सखिभिः) सत्य आचरणवान्, समान धर्म वाले (शुचद्भिः-धनसैः) पवित्र मन वाले, धनपूर्ण प्रजाजनों के साथ (गोधायसं वि-अदर्दः) दूसरे के पृथिव्यादि पदार्थ के हड़पने वाले चोर को नष्ट करता है (वृषभिः-वराहैः) सुखवर्षक वरणीय आहार के उपायों से प्राप्त आहार से युक्त-(धर्मस्वेदिभिः) श्रम से प्राप्त करने वालों के द्वारा दिये हुए (द्रविणं व्यानट्) धन को जो प्राप्त करता है, वही शासक होने योग्य है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो राजा गुणवान्, पवित्र मन वाले सच्चे, प्रतिष्ठित, प्रमुख राष्ट्रीय जनों के सहयोग से अपहरण कर्त्ता को दण्ड देता है तथा पवित्र कार्य करने वाले श्रेष्ठ अर्थात् सच्चाई से कमाने वालों के उपहार रूप में दिये धन को स्वीकार करता है वह राजा होने के योग्य है ॥ ७ ॥

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

ते। सत्येन। मनसा। गोऽपतिम्। गाः। इयानासः। इषणयन्त। धीभिः। बृहस्पतिः। मिथःऽअवद्यपेभिः। उत्। उस्रियाः। असृजत। स्वयुक्ऽभिः ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते) ते सत्याचरणवन्तः-इत्येवमादयो जनाः (सत्येन मनसा) शुद्धेन मनसा (गोपतिम्-इयानासः) पृथिवीस्वामिनमिन्द्रियस्वामिनं गच्छन्तः (धीभिः) कर्मभिः "धीः कर्मनाम" [निघ० २ । १] (गाः-इषणयन्त) पृथिव्यादिपदार्थान् प्राप्नुवन्ति (बृहस्पतिः) स महतो राष्ट्रस्य पालकः (मिथः-अवद्यपेभिः-स्वयुग्भिः) परस्परं निन्दनीयकर्मभ्यो रक्षितृभिः स्वसहयोगिभिः (उस्राः-उद्-असृजत) उन्नतिकारकान् पृथिव्यादिपदार्थान् चोरैरपहृतान्-उत्सृजति-उद्धरति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) वे सत्य आचरण आदि गुणों से युक्त जन (सत्येन मनसा) शुद्ध मन से (गोपतिम्-इयानासः) पृथिवी के स्वामी तथा इन्द्रियों के स्वामी को प्राप्त होते हुए (धीभिः) अपने श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा (गाः-इषणयन्त) पृथिव्यादि पदार्थों को प्राप्त करते हैं (बृहस्पतिः) वह महान् राष्ट्र का पालक (मिथः-अवद्येभिः-स्वयुग्भिः) परस्पर निन्दनीय कर्मों से रक्षा करने वालों, स्व सहयोगियों के द्वारा (उस्राः-उद्-असृजत्) उन्नतिकारक पृथिवी आदि पदार्थों को चोरों से अपहृतों को उद्धृत करता है-मुक्त करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्याचरण युक्त श्रेष्ठ पुरुष जब (अपने सच्चे मन से श्रेष्ठ राजा का सहयोग करते हैं, उसकी सहायता करते हैं तो राष्ट्र के अन्दर से निन्दनीय कर्म समाप्त हो जाते हैं । चोरी गये हुए पदार्थ भी खोजकर पुनः वापस ले लिए जाते हैं ॥ ८ ॥

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥ ९ ॥

तम् । वर्धयन्तः । मतिऽभिः । शिवाभिः । सिंहम्ऽइव । नानदतम् । सधऽस्थे । बृहस्पतिम् । वृषणम् । शूरऽसातौ । भरेऽभरे । अनु । मदेम । जिष्णुम् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तं सिंहम्-इव) तं सिंहमिव (नानदतं बृहस्पतिम्) भृशं घोषयन्तं महद्राष्ट्रस्वामिनम् (वृषणं जिष्णुम्) सुखवर्षकं जयशीलम् (शिवाभिः-मतिभिः) कल्याणकरीभिर्वाग्भिः (सधस्थे) समानस्थाने सभाभवने (वर्धयन्तः) प्रोत्साहयन्तो भवेम,:तथा (शूरसातौ भरे भरे) शूराणां सम्भजनस्थाने सङ्ग्रामे (अनुमदेम) अनुमोदयेम ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ— (तं सिंहम्-इव) उस सिंह के समान (नानदतं बृहस्पतिम्) प्रबल घोषणा करते हुए महान् राष्ट्र के स्वामी—(वृषणं जिष्णुम्) सुखवर्षक जयशील को (शिवाभिः-मतिभिः) कल्याणकारी वाणियों से (सधस्थे) समान स्थान-सभाभवन में (वर्धयन्तः) प्रोत्साहित करते हुए हम होवें, तथा (शूरसातौ भरे भरे) शूरवीरों का सम्भजन-सङ्गमन जहाँ हो ऐसे संग्राम में (अनुमदेम) हम अनुमोदन करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—सिंह के समान शौर्यसम्पन्न, राष्ट्रविषयक घोषणा करते हुए राजा को सभाभवन में प्रजाजन प्रोत्साहित करते हैं और संग्राम में सैनिक उसका अनुमोदन करते हैं ॥ ९ ॥

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥ १० ॥

यदा । वाजम् । असनत् । विश्वऽरूपम् । आ । द्याम् । अरुक्षत् । उत्ऽतराणि । सद्म । बृहस्पतिम् । वृषणम । वर्धयन्तः । नाना । सन्तः । बिभ्रतः । ज्योतिः । आसा ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यदा विश्वरूपं वाजम् असनत्) यदा हि स बृहस्पतिः-महतो राष्ट्रस्य पालको विविधरूपमन्नादिकम् "वाजः-अन्ननाम" [निघ० २ । ७ ।] प्रजाजनेभ्यः सम्भाजयति प्रयच्छति (द्याम्-आरुक्षत्) तदा स राज्यपालनप्रकाशकपदम् "द्यां राज्य-पालनविनयप्रकाशम्" [ऋ० १ । ५२ । ११ दयानन्दः] आरोहति, तत्र (उत्तराणि सद्म) उत्कृष्टानि सद्मानि प्राप्तव्यानि वस्तूनि स्वार्थं प्रजार्थं प्राप्नोति "सद्मानि प्राप्त-व्यानि" [ऋ० १ । १३६ । १० दयानन्दः] बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तः) तं सुखवर्षकं बृहद्राष्ट्रपतिं प्रजाजना वर्धयन्तो वर्धनाय (नाना सन्तः-आसा ज्योतिः-बिभ्रतः) नाना-प्रकारेण प्रशंसमाना मुखेन-मस्तिष्केण ज्ञानप्रकाशं धारयन्तो विराजन्ते ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(यदा विश्वरूपं वाजम्-असनत्) जब वह राष्ट्रपालक विविधरूप अन्न आदि को प्रजा जनों के लिए प्रदान करता है (द्याम्-आरुक्षत्) तब वह राज्यपालन पद को प्राप्त होता है, वहाँ (उत्तराणि सद्म) उत्कृष्ट प्राप्तव्य वस्तुओं को अपने लिए और प्रजा के लिए प्राप्त करता है (बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तः) उस सुखवर्षक बृहत् राष्ट्रपति को प्रजाजन बढाते हैं या बढाने के लिए (नाना सन्तः- आसा ज्योतिः-बिभ्रतः) नाना प्रकार से प्रशंसा करते हुए मुख अर्थात् मस्तिष्क से ज्ञान प्रकाश को धारण करते हुए विराजते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा सब प्रजाजनों के लिए अन्न की व्यवस्था भली प्रकार करता है तो वह वास्तव में राजपद का अधिकारी कहलाता है उसे प्रजा के लिए विविध वस्तुओं के द्वारा सुख का सम्पादन करना चाहिए । ऐसे राजा की प्रशंसा प्रजा मुख से भी करती है और मस्तिष्क में भी स्थान देती है ॥ १० ॥

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥ ११ ॥

सत्याम् । आऽशिषम् । कृणुत । वयःऽधै । कीरिम् । चित् । हि । अवथ । स्वेभिः । एवैः पश्चा । मृधः । अप । भवन्तु । विश्वाः । तत् । रोदसी इति । शृणुतम् । विश्वमिन्वे इति । विश्वम्ऽइन्वे ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सत्याम्-आशिषं कृणुत) हे राज्याधिकारिणो यूयं प्रार्थनां कामनां सफलां कुरुत (किरिं चित्-हि वयोधैः स्वेभिः-एवैः-अवथ) स्तोतारं प्रशंसकं युक्तोपदेष्टारमप्यवश्यमन्नविधानैः स्वैः रक्षणैः-रक्षथ (विश्वाः-मृधः-पश्चा-अप भवन्तु) सर्वाः खलु हिंसिका आपदः पश्चादेव पृथग् भवन्तु (विश्वमिन्वे रोदसी शृणुतम्) सर्वप्राणिमात्रं प्रीणयित्र्यौ द्यावापृथिव्याविव राजसभासेने प्रजाजनस्य मम वचनं स्वीकुरुत ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(सत्याम्-आशिषं कृणुत) हे राज्याधिकारियो, तुम प्रजा की प्रार्थना को, कामना को सफल करो (किरिं चित्-हि वयोधैः स्वेभिः-एवैः-अवथ) स्तुति करने वाले प्रशंसक, युक्तोपदेष्टा को भी अवश्य अन्न विधानार्थ अपने रक्षण प्रकारों से रक्षित करो (विश्वाः-मृधः पश्चा-अप भवन्तु) सब हिंसक आपत्तियां पीछे ही अर्थात् पृथक् ही रह जावें (विश्वमिन्वे रोदसी शृणुतम्) सब प्राणिमात्र को तृप्त करने वाली राज सभा और सेना प्रजाजन के वचन को स्वीकार करो ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजपुरुषों को चाहिए, प्रजा की प्रार्थना पर ध्यान दें और सच्चे उपदेष्टा की रक्षा करें। समस्त आपदाओं को राष्ट्र से दूर भगायें प्राणियों की हित साधिका का राजसभा और सेना प्रजा के दुःख दर्द को सुनें ॥ ११ ॥

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात्स॒प्त सिन्धू॑न् दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥ १२ ॥

इन्द्रः॑ । म॒ह्ना । म॒ह॒तः । अ॒र्ण॒वस्य॑ । वि । मू॒र्धान॑म् । अ॒भि॒न॒त् । अ॒र्बु॒दस्य॑ । अह॑न् । अहि॑म् । अरि॑णात् । स॒प्त । सिन्धू॑न् । दे॒वैः । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । प्र । अ॒व॒त॒म् । नः॒ ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः] ऐश्वर्यवान् परमात्मा राजा वा (मह्ना) स्वकीय महत्त्वेन (महतः-अर्णवस्य-अर्बुदस्य) ज्ञानार्णवस्य "अर्णं विज्ञानम्" [यजु० १२ । ४६ दयानन्दः] वाग्विषयस्य "वाग्वा अर्बुदम्" [तै० ३ । ८ । १६ । ३] (मूर्धानं वि-अभिनत्) सर्वोपरि विराजमानं वेदम् "मूर्धासर्वोपरिविराजमानः" [यजु० ३ । १२ दयानन्दः] विशिष्टतया-उद्धारयति (अहिम्-अहन्) मेघमिवज्ञानावरकमज्ञानान्धकारम् "अहि मेघनाम" [निघ० १ । १०] हन्ति नष्टं करोति (सप्त सिन्धून्-अरिणात्) सप्त स्यन्दमानान् छन्दोरूपान् मन्त्रान् प्रवाहत "सिन्धुश्छन्दः" [श० ८ । ५ । २ । ४] "रिणाति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (देवैः-द्यावापृथिवी नः-प्रावतम्) विद्वद्भिः सह सभाप्रजेऽस्मान् रक्षतम् ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा या राजा (मह्ना) अपने महत्व से (महतः-अर्णवस्य-अर्बुदस्य) महान् ज्ञान समुद्र या वाग्विषय के (मूर्धानं वि-अभिनत्) सर्वोपरि विराजमान

वेद को विशेषरूप से उद्घाटित करता है (अहिम्-अहन्) मेघ के समान ज्ञान के आच्छादक अज्ञानान्धकार का हनन करता है (सप्त सिन्धून्-अरिणात्) सात स्यन्दमान छन्दोरूप मंत्रों को प्रवाहित-प्रचारित करता है (देवैः- द्यावापृथिवी नः प्रावतम्) विद्वानों के साथ सभा और प्रजा हमारी रक्षा करें ।। १२ ।।

भावार्थ—परमात्मा अपनी महती शक्ति से विज्ञान सागर, वाग्विद्या के मूर्द्धारूप वेद को प्रकट करता है। उसका प्रचार राजा को करना चाहिए। वेद अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं, वे सात छन्दों से युक्त प्रवाहित होते हैं, राजसभा और प्रजागण को सब प्रकार से सुखप्रद सिद्ध होते हैं ।। १२ ।।



अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—अयास्यः ।

देवता—बृहस्पतिः ।

छन्दः—१, १२ विराट् त्रिष्टुप् । २, ८–११ त्रिष्टुप् । ३–७ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते 'बृहस्पति' शब्देन परमात्मा गृह्यते । स सृष्टेरादौ मानवहिताय परमर्षिषु वेदं प्रकाशयतीति तस्य शंसनं वर्ण्यते ।

इस सूक्त में 'बृहस्पति' शब्द से परमात्मा गृहीत है, सृष्टि के प्रारम्भ में मानवों के हितार्थ परमऋषियों में वेद का प्रकाश करता है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा की है ।

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥ १ ॥

उदऽप्रुतः । न । वयः । रक्षमाणाः । वावदतः अभ्रियस्यऽइव । घोषाः । गिरिऽभ्रजः । न । ऊर्मयः । मदन्तः । बृहस्पतिम् । अभि । अर्काः । अनावन् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मदन्तः-अर्काः-बृहस्पतिम्-अनावन्) हृष्यन्तो हर्षमनुभवन्तः-स्तोतारो बृहतो ब्रह्माण्डस्य स्वामिनं स्तुवन्ति "णु स्तुतौ" [अदादिः] यथा (उदप्रुतः-न वयः) जलोपरि जलपक्षिणः कलरवं कुर्वन्ति अथवा (रक्षमाणाः) कृषिं रक्षमाणाः कृषकाः 'उपमेयलुप्तालङ्कारः' यद्वा (वावदतः-अभ्रियस्य-इव घोषाः) शब्दायमानस्याभ्रसमूहस्य मेघजलस्य यथा घोषाः, अथवा (गिरिभ्रजः-ऊर्मयः) पर्वतभ्रष्टाः पर्वतात् पतिता जलधाराः शब्दायन्ते तद्वत् स्तोतारः परमात्मानमुच्चैः स्तुवन्ति ॥१ ॥

भाषान्वयार्थ—(मदन्तः-अर्काः-बृहस्पतिम्-अनावन्) हर्ष करते हुए-हर्षित होते हुए स्तुतिकर्ता जन महान् ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मा की स्तुति करते हैं, जैसे (उदप्रुतः-न वयः) जल के ऊपर जलपक्ष कलरव करते हैं-चहचहाते हैं, अथवा (रक्षमाणाः) खेती की रक्षा करने वाले कृषक पशु पक्षियों को बोलकर हलकारा करते हैं, या (वावदतः-अभ्रियस्य-इव घोषाः) शब्दायमान मेघसमूह जैसे गर्जना

घोष करते हैं, अथवा (गिरिभ्रजः-ऊर्मयः) पर्वत से गिरी जलधारायें जैसे शब्द करती हैं वैसे ही स्तोताजन उच्चस्वर से परमात्मा की स्तुति करते है ॥ १ ॥

भावार्थः—परमात्मा की स्तुति करने वाले जन हर्षित होकर भिन्न-भिन्न प्रकार से परमात्मा की स्तुति किया करते हैं। जल पर तैरने नाले जलकाक जैसे हर्षध्वनि करते हैं, खेती करने वाले हरे भरे खेत में रक्षार्थ जैसे ध्वनियां करते हैं, वर्षण के लिए उद्यत मेघसमूह जैसे गर्जना करते हैं और पर्वत से गिरते हुए झरने जैसे झर्झरध्वनि करते हैं, ऐसे ही स्तोता जन अपने मधुर वचनों से परमात्मा का विभिन्न पद्धतियों से स्तुतिगान करते हैं ॥ १ ॥

सं गोभि॑राङ्गिर॒सो नक्ष॑माणो॒ भग॑ इ॒वेद॑र्य॒मणं॑ निनाय।
जने॑ मि॒त्रो न दंप॑ती अनक्ति॒ बृह॑स्पते॒ वा॒जया॒शूँरि॑वा॒जौ ॥ २ ॥

सम्। गोभिः॑। आ॒ङ्गि॒र॒सः। नक्ष॑माणः। भगः॑ऽइव। इत्। अ॒र्य॒मण॑म्। नि॒ना॒य। जने॑। मि॒त्रः। न। दंप॑ती॒ इति॒ दम्ऽप॑ती। अ॒न॒क्ति॒। बृह॑स्पते। वा॒जय॑। आ॒शून्ऽइ॑व। आ॒जौ ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आङ्गिरसः) अङ्गिरसो विदुषो शिष्यः 'आङ्गिरसा विदुषा कृतो विद्वान्" [यजु० १७। ७३] (भग-इव नक्षमाणः) धनवान् धने रममाण इव विद्यायां व्याप्तः सन् "नक्षति व्याप्तिकर्मा" [निघ० २। १८] (गोभिः-अर्यमणं स निनाय) स्तुतिवाग्भिर्जगतः स्वामिनं परमात्मानं स्वस्मिन् सम्यग्नयति—आकर्षति संयोजयति (मित्रः-न जने दम्पती-अनक्ति) यथा पारिवारिकजनसमुदाये नववधूवरौ प्रेरयिता विद्वान् संस्कारकर्त्ता संयुनक्ति "अनक्तु संयुनक्तु" [यजु० ३७। ११ दयानन्दः] (बृहस्पते-आशून्-इव-आजौ वाजय) हे बृहतो ब्रह्माण्डस्य स्वामिन्—यथा मार्गे व्यापनशीलानश्वान् संग्रामे वाजयति प्रेरयति तद्वद्विद्यायां व्याप्तान् स्तोतॄन् प्राप्तव्ये मोक्षे प्रेरय "वज् गतौ" [भ्वादिः] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(आङ्गिरसः) विद्वान् का शिष्य (भग-इव नक्षमाणः) धनवान् जैसे धन में रमण करता हुआ अर्थात् व्याप्त हुआ होता है ऐसे विद्या में रमण करता हुआ-व्याप्त हुआ (गोभिः-अर्यमणं स निनाय) स्तुतिवाणियों के द्वारा जगत् के स्वामी परमात्मा को अपने में लेता है-आकर्षित करता है (मित्रः-न जने) जैसे पारिवारिक जन समुदाय में पुरोहित (दम्पती-अनक्ति) नववधू और वरों को प्रेरित करता है (बृहस्पते आशून-इव आजौ वाजय) हे बड़े ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मन्, जैसे मार्ग में व्यापनशील घोड़ों को संग्राम में प्रेरित करता है वैसे ही विद्या में व्याप्त स्तोताओं को प्राप्तव्य मोक्ष में प्रेरित कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे कोई धनवान् धन में रमण करता हुआ होता है, ऐसे ही विद्वान् का शिष्य विद्या में रमण करता हुआ होता है और वह अपनी स्तुतियों द्वारा जगत् के स्वामी परमात्मा को भी अपने अन्दर साक्षात् करता है। उस ऐसे सच्चे पात्र को परमात्मा मोक्ष में प्रेरित करता है ॥ २ ॥

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

साधुऽअर्याः । अतिथिनीः । इषिराः । स्पार्हाः । सुऽवर्णाः । अनवद्यऽरूपाः । बृहस्पतिः । पर्वतेभ्यः । विऽतूर्य । निः । गाः । ऊपे । यवम्ऽइव । स्थिविऽभ्यः । ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(साध्वर्याः) साधुः कुशल उदारो वा अर्यः स्वामी यासां ताः (अतिथिनीः) अतिथीन् न यन्ति यास्ताः (इषिराः) एषणीयाः (स्पार्हाः) स्पृहणीयाः (अनवद्यरूपाः) अनिन्दनीया अपि प्रशंसनीयाः वेदवाचः जलधारा वा (बृहस्पतिः) बृहतो ब्रह्माण्डस्य पतिः परमात्मा महतो राष्ट्रस्य पालको राजा वा (स्थिविभ्यः पर्वतेभ्यः-गाः-वितूर्य) स्थिरेभ्योविद्यापर्वद्भ्यः-बहुविद्या संश्लेषवद्भ्यः-ऋषिभ्योगिरिभ्यो वा वेदवाचः गतिशीला जलधारा वा तेषां हृदयकपाटमुदीर्य-उद्घाटय विदार्य वा (निर्-ऊपे) निर्वपति निः क्षिपति (यवम्-इव) अन्नमिव यथान्नं कृषिबलो निर्वपति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(साध्वर्याः) साधु अर्थात् कुशल या उदार स्वामी जिनका है ऐसी वे (अतिथिनीः) अतिथियों को ले जातीं या प्राप्त होतीं हैं वे (इषिराः) चाहने योग्य (स्पार्हाः) स्पृहणीय (अनवद्यरूपाः) अनिन्दनीय-प्रशंसनीय वेदवाणियां या जलधारायें (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा या महान् राष्ट्र का स्वामी राजा (स्थिविभ्यः पर्वतेभ्यः) स्थिर बहुत विद्या वाले ऋषियों से या पर्वतों से (गाः-वितूर्य) वेदवाणियों को या गतिशील जलधाराओं को उनके हृदयकपाट को खोलकर या पर्वतगह्वर को विदीर्ण करके (निर्-ऊपे) निकालता है या नीचे फेंकता है (यवम्-इव) अन्न की भांति, जैसे किसान खेत से अन्न को प्रकट करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में आदि ऋषियों के हृदय-अन्तःकरण से संसार का कल्याण साधने वाली वेदवाणियों का प्रकाश करता है जो वेदवाणियाँ दोषों को दूर करने वाली और प्रशंसनीय हैं। एवं-राजा प्रजा का हित चाहता हुआ पर्वतों से नदियों के मार्ग को विकसित करता हुआ, उन्हें कुल्याओं के रूप में नीचे लाता है। प्रजा के लिए राजा का यह कर्तव्य है कि वह उनकी इस प्रकार की सुविधाओं का सम्पादन करे ॥ ३ ॥

आ प्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

आऽप्रुषायन् । मधुना । ऋतस्य । योनिम् । अवऽक्षिपन् । अर्कः । उल्काम्ऽइव । द्योः । बृहस्पतिः । उद्धरन् । अश्मनः । गाः । भूम्याः । उद्नाऽइव । वि । त्वचम् । बिभेद ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) महतो ब्रह्माण्डस्य स्वामी तथा वेदस्वामी "प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्" [यजु० ३४ । ५७] महतो राष्ट्रस्य पालकः (ऋतस्य योनिम्) ज्ञानस्य गृहं ग्राहकं पात्रभूतं जनम् (मधुना) मधुरेण ज्ञानेन "मधु विज्ञानम्" [यजु० १६ । ६ दयानन्दः] (आप्रुषायन्) पूरयति "प्रुष स्नेहसेवन पूरणेषु" [क्र्यादिः] ,व्यत्ययेन शायच् प्रत्ययश्छान्दसः' (अर्कः) अर्चनीयः परमात्मा (द्योः-उल्काम्-अवक्षिपन्) यथा विद्युत्–विद्युद्धाराः-अवक्षिपन्–क्षिपति 'व्यत्ययेन प्रथमास्थाने पञ्चमी' [ऋ० १ । १५० । १८ दयानन्दः] "उल्काः-विद्युत्पाताः" [यजु० १३ । १० दयानन्दः] (अश्मन्-गाः उद्धरन्) ज्ञानव्याप्तस्य वेदस्य वाचो मन्त्रवाचः-उद्घाटयति (भूम्याः-उद्गा-इव त्वचं बिभेद) यथा जलधारया जल प्रपातेन भूमेस्त्वचमावरणं भिनत्ति कश्चित् कृषक', यद्वा खलूदकार्थं भूमेस्त्वचमुपरितलं महान् शिल्पी–उत्पाटयति–भिनत्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी तथा वेद का स्वामी या महान् राष्ट्र का पालक (ऋतस्ययोनिम्) ज्ञान के पात्रभूत मनुष्य को (मधुना) मधुरज्ञान से (आप्रुषायन्) समन्तरूप से पूर्ण करता है (अर्कः) अर्चनीय परमात्मा (द्योः-उल्काम्-अवक्षिपन्) जैसे विद्युत् विद्युद्धारा को नीचे फेंकती है ऐसे (अश्मन्-गा उद्धरन्) ज्ञान से व्याप्त वेद की वाणियों को उद्घाटित करता है (भूम्याः-उद्गा-इव त्वचं बिभेद) जैसे जलधारा जलप्रपात से भूमि की त्वचा को-आवरण को कोई कृषक छिन्न-भिन्न करता है- तोड़ता है, अथवा जैसे जल के लिए भूमि की त्वचा-उपरिस्तर को कोई महान् शिल्पी उत्पाटित करता है-तोड़ता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदज्ञान का स्वामी तथा राष्ट्र का स्वामी ज्ञान के पात्र जन को वेदज्ञान देकर उसके अन्तःकरण को विकसित करता है जैसे विद्युत् अपनी विद्युत् धारा से मेघजल को बरसाकर भूमि को विकसित करती है, जैसे कृषक भूमि पर-खेती में जल बहाकर विकसित करता है शिल्पी जैसे कुआं खोदकर जल निकालकर भूमि को विकसित करता है ॥ ४ ॥

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्रः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या बलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

अप । ज्योतिषा । तमः । अन्तरिक्षात् । उद्रः । शीपालम्ऽइव । वातः । आजत् । बृहस्पतिः । अनुऽमृश्य । वलस्य । अभ्रम्ऽइव । वातः । आ । चक्रे । आ । गाः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ज्योतिषा-अन्तरिक्षात्–तमः-अप-आजत्) यथा सूर्यः 'लुप्तोपमालङ्कारः' स्वप्रकाशेन आकाशादन्धकारमपगमयति "अज गतिक्षेपणयोः" [भ्वादिः] (वातः-उद्रः-शीपालम्-इव-'अप-आजत्') प्रबलोवायुः उदकस्य जलाशयस्य शीपालं शेवालं दूरी करोति "शेवालं शेपालम्" [उणा० ४ । ३८] 'शीङ् धातोश्छान्दसः पालन् प्रत्ययः' तथैव (बृहस्पतिः) महतो ब्रह्माण्डस्य पालकः वेदस्य स्वामी परमात्मा

(वलस्य-अनुमृश्य) आवरकस्याज्ञानस्य भेदान् स्थानानि वा विचार्य (वातः-अभ्रम्-इव-अप) प्रबलवायुर्यथा मेघमपगमयति नीचैः प्रेरयति तद्वत् (गाः-आ चक्रे) योग्येषु मन्त्रवाचो विद्याः-वा प्रकाशयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ज्योतिषा-अन्तरिक्षात्-तमः-अप-आजत्) जैसे सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा आकाश से अन्धकार को दूर हटाता है, तथा (वातः-उद्गः-शीपालम्-इव) प्रबल वायु जैसे पानी के शैवाल-काई को दूर हटाता है-पृथक् करता है, वैसे ही (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का पालक वेद का स्वामी परमात्मा (वलस्य-अनुमृश्य) आवरक अज्ञान के भेदों-रहस्यों और स्थानों को विचार कर (वातः-अभ्रम्-इव-अप) प्रबल वायु जैसे बादलों के समूह को छिन्न-भिन्न कर देता है या नीचे की ओर प्रेरित करता है, वैसे ही (गाः-आ चक्रे) योग्य पात्रों में वेदवाणियों को विद्याओं को प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य आकाशस्थ अन्धकार को हटाता है, जैसे प्रबल वायु जल के ऊपर से शैवाल-काई को दूर करता है और मेघों से जल को बरसाता है ऐसे ही परमात्मा तथा वेद का विद्वान् वेद ज्ञान द्वारा लोगों के अज्ञान अन्धकार को हटाता है ॥ ५ ॥

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद्बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीरँकृणोदुस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

यदा । वलस्य । पीयतः । जसुम् । भेत् । बृहस्पतिः । अग्नितपःऽभिः । अर्कैः । दत्ऽभिः । न । जिह्वा । परिऽविष्टम् । आदत् । आविः । निऽधीन् । अकृणोत् । उस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) महतो ज्ञानस्य पालकः परमात्मा (यदा पीयतः-वलस्य जसुम्) यदा हिंसतः-आवरकाज्ञानस्य प्रयत्नं प्रभावम् (अग्नितपोभिः-अर्कैः) अग्नितापैरिव मन्त्रैः (भेत्) भिनत्ति, तदा (दद्भिः परिविष्टं जिह्वा-आदत्) दन्तैः "दन्तस्य ददादेशः" परिपिष्टमन्नम् 'पकारस्य वकारश्छान्दसः' यथा जिह्वा भक्षयति, पुनः (उस्रियाणां निधीन्-आविः-कृणोत्) उस्रवन्तीनां वाचां निधीन् विद्याविषयानाविष्करोति शिष्येषु ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) महान् ज्ञान का पालक परमात्मा (यदा पीयतः-वलस्य-जसुम्) जब हिंसक आवरक अज्ञान के प्रयत्न-प्रभाव को (अग्नितपोभिः-अर्कैः) अग्नितापों के समान वेदमंत्रों से (भेत्) छिन्न-भिन्न करता है, तब (दद्भिः परिविष्टं जिह्वा-आदत्) दांतो से परिपिष्ट-चबाये हुए अन्न को जैसे जिह्वा भक्षण करती है पुनः (उस्रियाणां निधीन्) प्रकट होती हुई वाणियों की निधियों-विद्या विषयों को (आविः-कृणोति) शिष्यों में आविष्कृत करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा अज्ञान के आवरक बल को नष्ट करने के हेतु वेदमन्त्रों से ज्ञान को फैलाता है, जिन मंत्रों में ज्ञान के कोष निहित हैं ॥ ६ ॥

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् ।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥ ७ ॥

बृहस्पतिः । अमत । हि । त्यत् । आसाम् । नाम । स्वरीणाम् । सदने । गुहा । यत् । आण्डाऽइव । भित्त्वा । शकुनस्य । गर्भम् । उत् । उस्रियाः । पर्वतस्य । त्मना । आजत् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) महतो ब्रह्माण्डस्य वेदवाचो वा पतिः परमात्मा (आसां-स्वरीणां त्यत्-नाम-अमृतं हि गुहा सदने) आसां स्वरवतीनां वाचां तत्तज्ज्ञानं यद् बुद्धिरूपे सदने वर्तते तज्जानाति हि (शकुनस्य आण्डा-इव भित्त्वा गर्भम्) पक्षिणो ऽण्डे भवं गर्भं पक्षी भित्त्वा यथा निष्काषयति, तद्वत् (त्मना) स्वात्मना स्वयं (पर्वतस्य) विद्यापूर्णस्य वेदस्य (उस्रियाः) ज्ञानधाराः (उदाजत्) उद्घाटयति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड या वेदवाणी का स्वामी परमात्मा (आसां-स्वरीणां) इन स्वर वाली वाणियों का (त्यत्-नाम-अमृतं हि गुहा सदने) वह ज्ञान जो बुद्धिरूप स्थान में या गृह में निहित है उसे निश्चितरूप से जानता है (शकुनस्य-आण्डा इव भित्त्वागर्भम्) पक्षी अण्डे को तोड़कर उसके मध्य से जैसे बच्चे को निकालते हैं ऐसे ही (त्मना) परमात्मा स्वयं (पर्वतस्य) विद्याओं से पूर्ण वेद की (उस्रियाः) ज्ञानधाराओं को (उदाजत्) उद्घाटित करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा वेदवाणियों के ज्ञान को आदि ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकाशित और उनके मुख द्वारा उच्चारित कराता है । जैसे पक्षी अपने अण्डे में अपने बच्चे को प्रकट करता है ऐसे वेद में से वह ज्ञान को प्रकट करता है ॥ ७ ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥ ८ ॥

अश्ना । अपिऽनद्धम् । मधु । परि । अपश्यत् । मत्स्यम् । न । दीने । उदनि । क्षियन्तम् । निः । तत् । जभार । चमसम् । न । वृक्षात् । बृहस्पतिः । विऽरवेण । विऽकृत्य ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पतिः) ब्रह्माण्डस्य वेदज्ञानस्य स्वामी (अश्ना-अपिनद्धं मधु परि-अपश्यत्) अशनवता "अश्ना-अशनवता" [निरु० १० । ११] भोगवता भोगायतनेन शरीरेण दृढं बद्धमात्मानं परिपश्यति "आत्मा वै पुरुषस्य मधु" (तै० सं०

२।३।२।६] (मत्स्यं न दीने-उदनि क्षियन्तम्) क्षीणे जलाशये-जले "दीङ् क्षये" [दिवादिः] 'ततो नक्' [उणा० ३।२] निवसन्तं मत्स्यमिव (तत्-निर्जभार) तं जीवात्मानं निर्हरति निस्सारयति (वृक्षात्-चमसं न रवेण विकृत्य) यथा वा वृक्षात्-रसमयात् चमनीयं रसं कर्तित्वा प्रयच्छति तद्वत् प्रवचनेन प्रयच्छति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पतिः) ब्रह्माण्ड का वेदज्ञान का स्वामी परमात्मा (अश्ना-अपिनद्धं मधु) भोगवाले भोगायतन-शरीर के द्वारा दृढबद्ध आत्मा को (परि-अपश्यत्) सम्यक् देखता है (मत्स्यं न दीने -उदनि क्षियन्तम्) क्षीण जलाशय में-जल में रहते हुए मत्स्य की भांति (तत्-निर्जभार) उस जीवात्मा को निकालता है (वृक्षात्-चमसं न) जैसे रसमय वृक्ष से चमनीय रस को (विकृत्य रवेण) काटकर निकालते हैं ऐसे प्रवचन द्वारा निकालता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा शरीर में बंधे आत्मा का उद्धार करता है, जैसे थोड़े पानी में तड़पती मछली को बाहर किया जाता है। उसके लिए वेद में से उस ज्ञान को प्रकट करता है जैसे रसीले फलवाले वृक्ष उसके पान करने योग्य रस को निकाला जाता है ॥ ८ ॥

सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

सः । उषाम् । अविन्दत् । सः । स्व१रिति स्वः । सः । अग्निम् । सः । अर्केण । वि । बबाधे । तमांसि । बृहस्पतिः । गोऽवपुषः । वलस्य । निः । मज्जानम् । न । पर्वणः । जभार ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सः-उषाम्) "सुपां सुलुक्" [अष्टा० ७।१।३९] 'इति सोर्लुक् पुनः सन्धिः' स आत्माऽज्ञानदग्ध्रीं ज्ञानदीप्तिं लभते (सः-स्वः) स सुखं लभते (सः-अग्निम्) स्वशरीरस्य नायकं परमात्मानं लभते (सः-अर्केण तमांसि विबबाधे) ज्ञानप्रकाशकेन मन्त्रेणान्धकारान् दूरी करोति (गोवपुषः) वाचां वपुषः—वेदात् (वलस्य) आवरकस्याज्ञानस्य (मज्जानम्) मज्जानमिव प्रभावम् (पर्वणः—निर्जभार) तृप्तिकरेण परमात्मज्ञानेन निर्हरति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(सः-उषाम्) वह आत्मा अज्ञान को नष्ट करने वाली ज्ञानज्योति को प्राप्त करता है (सः-स्वः) वह सुख को प्राप्त करता (सः-अग्निम्) वह अपने शरीर के नायक परमात्मा को प्राप्त करता है (सः-अर्केण तमांसि विबबाधे) ज्ञानप्रकाशक मन्त्र से अज्ञान अन्धकारों को दूर करता है (गोवपुषः) वाणियों के शरीर अर्थात् वेद से (वलस्य) आवरक अज्ञान के (मज्जानम्) मज्जा के समान प्रभाव को (पर्वणः-निर्जभार) तृप्ति करने वाले परमात्मज्ञान से नष्ट करता है-क्षीण करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—आत्मा वेदप्रकाश के द्वारा अपने अन्दर से अज्ञानान्धकार को हटाकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है। सब प्रकार के दुःखों से दूर होकर अनन्त सुख को भी प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥

हिमाऽइव । पर्णा । मुषिता । वनानि । बृहस्पतिना । अकृपयत् । वलः । गाः । अनुनुऽकृत्यम् । अपुनरिति । चकार । यात् । सूर्यामासा । मिथः । उत्ऽचरातः ॥१०॥

संस्कृतान्वयार्थः—(हिमा-इव वनानि पर्णा मुषिता) यथा हिमेन हेमन्तेन वने भवानि 'तद्धितप्रत्यय लोपश्छान्दसः' पत्राणि वृक्षेभ्यः पृथक्कृतानि भवन्ति तथा (बृहस्पतिना) वेदस्यपालकः 'प्रथमार्थे तृतीया' (वलः) वलात्-आवरकादज्ञानादात्मानं पृथक्कर्त्तुं 'पञ्चमी स्थाने छान्दसी प्रथमा' (गाः-अकृपयत्) वाचो विद्या जीवात्मभ्यः अकल्पयत्-अरचयत् "कृपा कृपतेर्वा कल्पतेर्वा" [निरु० ६ । ८] (यावत्-सूर्यामासा मिथः-उच्चरातः) यावत् सूर्याचन्द्रमसौ पूर्वपश्चिमात् उदयतः-आकाशे-अहोरात्रयोः पक्षयोः-दृष्टिगोचरौ भवतः, तावत् (अननुकृत्यम्-अपुनः-चकार) तथा तद्वेदज्ञानं पुनर्न कर्तव्यं सकृदेव प्रकटी करोति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(हिमा-इव वनानि) जैसे हेमन्त ऋतु से वन में होने वाले (पर्णा मुषिता) पत्ते पृथक् किये जाते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं (बृहस्पतिना) वेद का पालक परमात्मा वैसे (वलः) आवरक अज्ञान से आत्मा को पृथक् करने के लिए (गाः-अकृपयत्) वाणियां-विद्यायें जीवात्माओं के लिए रचता है (यावत्-सूर्यामासा) जब तक सूर्यचन्द्रमा (मिथः-उच्चरातः) आकाश में दिन रात या दोनों पक्षों मे उदय होते हैं-दृष्टिगोचर होते हैं, तब तक (अननुकृत्यम्-अपुनः-चकार) उस वेदज्ञान को, जिसे पुनः-पुनः प्रकट नहीं करता, एक बार ही प्रकट करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा सूर्य और चन्द्रमा को तो दिनरात में या दोनों पक्षों में बार-बार या पुनः पुनः उदित करता है, परन्तु जीवात्माओं को अज्ञान से छुड़ाने के लिए वेदवाणियों या वेद के ज्ञान को एक बार ही प्रकट करता है। क्योंकि परमात्मा का ज्ञान पूर्ण है। उसे बार बार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं ॥ १० ॥

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥ ११ ॥

अभि । श्यावम् । न । कृशनेभिः । अश्वम् । नक्षत्रेभिः । पितरः । द्याम् । अपिंशन् । रात्र्याम् । तमः । अदधुः । ज्योतिः । अहन् । बृहस्पतिः । भिनत् । अद्रिम् । विदत् । गाः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(श्यावम्-अश्वं न कृशनेभिः) यथा श्याववर्णम्-उज्ज्वलवर्ण-युक्तमश्वं हिरण्यैराभूषणैः "कृशनं हिरण्यनाम" [निघ० १ । २] रूपयन्ति-अलङ्कुर्वन्ति

भूषयन्ति (द्यां नक्षत्रैः पितरः-अभि-अपिंशन्) सूर्यरश्मयो यथा नक्षत्रैर्द्युलोकं भूषयन्ति (रात्र्यां तमः) रात्रौ येषु स्थलेषु तमो भवति (अहन् ज्योतिः-अदधुः) ते दिने प्रकाशं धारयन्ति, एवम् (बृहस्पतिः-अद्रिं भिनत्-गाः-विदत्) वेदपालकः परमात्मा ज्ञानाद्रिं वाक्प्रेरकं वेदम् "अद्रिरसि श्लोककृत्" [काठ० १ । ५] उद्भिनत्ति विकासयति वाचो वेदयति ज्ञापयति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(श्यावम्-अश्वं न कृशनेभिः) जैसे श्याववर्ण-उज्ज्वलवर्ण युक्त अश्व को सुनहरी आभूषणों से भूषित करते हैं (द्यां नक्षत्रैः पितरः-अभि-अपिंशन्) सूर्यरश्मियां जैसे द्युलोक को चमकाती हैं (रात्र्यां तमः) जिन स्थलों में रात्रि को अन्धकार होता है (अहन्-ज्योतिः-अदधुः) वे दिन में प्रकाश को धारण करते हैं ऐसे ही (बृहस्पतिः-अद्रि भिनत्) वेदपालक परमात्मा ज्ञानाद्रि-वाणी के प्रेरक वेद को विकसित करता है, वेदवाणियों को जनाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—उज्ज्वल घोड़े को सुनहरी भूषणों से लोक में जैसे सजाते हैं या रात्रि में गगन-मण्डल को नक्षत्र में प्रकाश देकर रश्मियां चमकाती हैं-विकसित करती हैं, अथवा रात्रि के अन्धकार वाले स्थल को सूर्य किरणें जैसे चमका देती हैं ऐसे ही परम ऋषियों के आत्मा में वेदज्ञान को प्रकाशित करके परमात्मा चमका देता है ११ ॥

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥१२॥

इदम् । अकर्म । नमः । अभ्रियाय । यः । पूर्वीः । अनु । आऽनोनवीति । बृहस्पतिः । सः । हि । गोभिः । सः । अश्वैः । सः । वीरेभिः । सः । नृऽभिः । नः । वयः । धात् ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अभ्रियाय-इदं नमः-अकर्म) वेदवाचं प्राप्ताय "वाग्वा-अभ्रिः" [श० ६ । ४ । ८ । ५] खल्विदं नमः कुर्मः (यः-पूर्वीः-अनु-आनोनवीति) यः पुरातनीः शाश्वतीः-वाचः परम्परया समन्तात् प्रवक्ति ब्रवीति "नोनुवन्तः-भृशं शब्दायन्ते" [ऋ० ४ । २२ । ४ दयानन्दः] (सः-बृहस्पतिः-हि) स हि वेदपतिः (गोभिः) इन्द्रियैः (सः-अश्वैः) व्यापनशीलैर्मनोभिरन्तः करणैः (सः-वीरेभिः) सः प्राणैः "प्राणा वै दश वीराः" [श० १२ । ८ । १ । १२] (सः-नृभिः) रक्तनेत्रीभिर्नाडीभिः (नः-वयःधात्) अस्मभ्यं जीवनं दधाति ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(अभ्रियाय-इदंनमः-अकर्म) वेदवाणी को प्राप्त हुए विद्वान् के लिए स्वागत करते हैं (यः पूर्वीः-अनु-आनोनवीति) जो पुरातन-शाश्वतिक वेदवाणियों का भली प्रकार प्रवचन करता है (सः-बृहस्पतिः) वेद का स्वामी वह परमात्मा (गोभिः) इन्द्रियों के द्वारा (सः-अश्वैः) व्यापनशील मन बुद्धि चित्ताहंकारों से (सः-वीरेभिः) वह प्राणों द्वारा (सः-नृभिः) वह रक्तवाहक नाडियों द्वारा (नः-वयः-धाव्) हमारे लिए जीवन धारण कराता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—वेदवाणी को प्राप्त वेदवक्ता के लिए नमस्कार-स्वागत आदि करना चाहिए। उस वेदज्ञान का स्वामी परमात्मा शाश्वतिक वेदवाणियों का आदि सृष्टि में उपदेश करता है। वह इन्द्रियों के द्वारा मन बुद्धि चित्त अहङ्कारों के द्वारा और प्राणों, रक्तनाडियों के द्वारा शारीरिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन को प्रदान करता है॥१२॥



एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—वाध्र्यश्वः सुमित्रः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, निचृज्जगती । २, विराड् जगती । ३, ७, त्रिष्टुप् । ४, ५, १२ निचृत् त्रिष्टुप् । ६, आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ८, १० पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ९, ११ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विषयः—अत्र सूक्ते राजप्रजाधर्मप्रतिपादनं, राज्ञा प्रजाहितसाधनं तथा परमात्मनः कृपा सर्वेषामुपरि भवति स सर्वैर्मन्तव्यः, सः-उपासकानां दोषान् निवारयतीत्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में राजा प्रजा के धर्म का प्रतिपादन, राजा के द्वारा प्रजा का हितसाधन तथा परमात्मा की कृपा सब पर रहती है, वह सबके द्वारा मान्य और उपासकों के दोषों का नाशक है आदि विषय हैं ।

भ॒द्रा अ॒ग्नेर्व॑ध्र्य॒श्वस्य॑ सं॒दृशो॑ वा॒मी प्रणी॑तिः सु॒रणा॒ उपे॑तयः
यदीं॑ सु॒मि॒त्रा वि॒शो॒ अग्र॑ इ॒न्धते॑ घृ॒तेनाहु॑तो जरते॒ दवि॑द्युतत् ॥ १ ॥

भ॒द्राः । अ॒ग्नेः । व॒ध्रि॒ऽअ॒श्वस्य॑ । स॒म्ऽदृशः॑ । वा॒मी । प्रऽनी॑तिः । सु॒ऽरणाः॑ । उप॑ऽइतयः । यत् । ई॒म् । सु॒ऽमि॒त्राः । विशः॑ । अग्रे॑ । इ॒न्धते॑ । घृ॒तेन॑ । आऽहु॑तः । ज॒र॒ते॒ । दवि॑द्युतत् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वध्र्यश्वस्य-अग्नेः) वध्रयो नियन्त्रिता अश्वा इन्द्रियाणि वा यस्य स तस्याग्रणेतुर्विदुषो वा (सन्दृशः-भद्राः) सन्दृष्टयः कल्याणकारिण्यः (प्रणीतिः-वामी) प्रेरणा श्रेष्ठा (उपेतयः सुरणाः) उपगतयः शरणाश्छत्रछायाश्च सुखरमणीयाः सन्ति (सुमित्राः-विशः) तस्य प्रजाः सुमित्रभावं प्राप्ताः (यत् इम्) यदा हि (अग्रे) पूर्वम् (इन्धते) प्रकाशन्ते राजपदे प्रसिद्धं कुर्वन्ति मन्यन्ते (आहुतः-घृतेन दविद्युतत्-जरते) राजत्वेन स्वीकृतस्तेजसा द्योतमानः स्तूयते प्रशस्यते "तेजो वै घृतम्" [काठ० २२ । ६] प्रजाभिः कर्मणि कर्तृप्रत्ययः' ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वध्र्यश्वस्य-अग्नेः) नियन्त्रित अश्व हैं अथवा नियन्त्रित इन्द्रियां हैं जिसकी, उस विद्वान् राजा की (सन्दृशः-भद्राः) सम्यक् दृष्टियां कल्याणकारिणी हैं (प्रणीतिः-वामी) प्रेरणा श्रेष्ठ है (उपेतयः सुरणाः) शरणें या छत्रछायायें सुख में रमण कराने वाली हैं (सुमित्राः-विशः) उसकी प्रजायें सुमित्र भाव को प्राप्त होकर (यत्-ईम्) जब (अग्रे) पहले (इन्धते) राजपद पर प्रसिद्ध करती हैं (आहुतः-घृतेन दविद्युतत्-जरते) राजा के रूप में स्वीकार किया हुआ वह तेज से प्रकाशमान राजा प्रजाओं के द्वारा स्तुत किया जाता-प्रशंसित किया जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस राजा के अश्व तथा इन्द्रियां सुनियन्त्रित हों, प्रजा पर उसकी कृपा दृष्टि हो, अच्छी प्रेरणा हो, छत्रछाया सुखदायक हो, प्रजाओं में परस्पर मित्र भाव हो ऐसे राजा को प्रजायें उत्तम शासक मानती हैं और प्रशंसित करती है ॥ १ ॥

घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम् ।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः ॥ २ ॥

घृतम् । अग्नेः । वध्रिऽअश्वस्य । वर्धनम् । घृतम् । अन्नम् । घृतम् । ऊँ इति । अस्य । मेदनम् । घृतेन । आऽहुतः । उर्विया । वि । पप्रथे । सूर्यःऽइव । रोचते । सर्पिःऽआसुतिः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वध्र्यश्वस्य-अग्नेः) नियन्त्रिताश्ववतो जितेन्द्रियस्य वा-अग्रणेतुः (घृतम्-अन्नम्) तेजो प्राणवज्जीवनमिव (वर्धनम्) वर्धननिमित्तम् (घृतम्-उ-अस्य मेदनम्) तेज एवास्य नेतुः सम्मेलनसाधनम् (आहुतः) स्वीकृतः सन् (घृतेन-उर्विया विपप्रथे) तेजसा खलु बहुविशिष्टतया प्रख्यातो भवति (सूर्यः-इव सर्पिरासुतिः रोचते) सूर्य इव सर्पणशीलैर्ज्ञानप्रेरकैः प्रेरितः शोभते ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(वध्र्यश्वस्य-अग्नेः) नियन्त्रित अश्ववाले या जितेन्द्रिय राजा के (घृतम्-अन्नम्) जिसका प्राण वाला जीवन है (वर्धनम्) बढने के निमित्त (घृतम्-उ-अस्य मेदनम्) तेज इस राजा का सम्मेलन साधन है (आहुतः) स्वीकृत हुआ (घृतेन-उर्विया विपप्रथे) तेज से विशेषरूप में बहुत विख्यात होता है (सूर्य-इव) सूर्य के समान (सर्पिरासुतिः) सर्पणशील ज्ञानप्रेरकों से सुशोभित होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—नियन्त्रित घोड़ों और इन्द्रियों वाला राजा, जिसका तेज ही लोगों का सम्मेलन साधन है, वह तेज से विशेष रूप में प्रसिद्ध होता है और सूर्य के समान वह सर्पणशील प्रजाओं द्वारा प्रेरित किया प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

यत्ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः ।
स रेवच्छोच स गिरो जुषस्व स वाजं दर्षि स इह श्रवो धाः ॥ ३ ॥

यत् । ते । मनुः । यत् । अनीकम् । सुऽमित्रः । सम्ऽईधे । अग्ने । तत् । इदम् । नवीयः । सः । रेवत् । शोच । सः । गिरः । जुषस्व । सः । वाजम् । दर्षि । सः । इह । श्रवः । धाः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक ! (ते) तव यत्-अनीकम्) यत्खलु सैन्यं सेनाबलम् "अनीकं सैन्यम्" [ऋ० १ । १२१ । ४] (मनुः सुमित्रः) मननशीलः शोभनोमित्रः सहयोगी (समीधे) सन्दीपयति सम्यग् दीपयति प्रोत्साहयति 'पुरुषव्यत्ययः' (तत्-इदं नवीयः-सः) तत्सैन्यं बहुस्तुत्यं प्रशंसनीयं स त्वम् (रेवत्-शोच) धनवत् प्रज्वलितं प्रसिद्धं कुरु (सः)स त्वम् (गिरः-जुषस्व) प्रेरणावचनानि सेवस्व (सः) स त्वम् (वाजं दर्षि) शत्रुबलं क्षीणं कुरु (सः) स त्वम् (श्रवः-धाः) यशोऽन्नं वा धारय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने)हे अग्रणायक (ते) तेरा (यत्-अनीकम्) जो सेना बल है (मनुः-सुमित्रः) मननशील अच्छामित्र सहयोगी (समीधे) सम्यक् दीप्त करता है-प्रोत्साहित करता है (तत्-इदं नवीयः) उस सैन्यबल को बहुत प्रशंसनीय तू (रेवत् शोच) ऐश्वर्यवाला प्रसिद्ध कर (सः) वह तू (गिरः-जुषस्व) प्रेरणा वचनों को सेवन कर (सः) वह तू (वाजंदर्षि) शत्रुबल को क्षीण कर (सः) वह तू (श्रवः-धाः) यश अथवा अन्न को धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के पास सैन्यबल प्रबल होता है और वह उस सैन्यबल को बढाता है प्रोत्साहित करता है तो वह उसका साथ देने वाले मित्र के समान हो जाता है। शत्रु को विदीर्ण करता है, उसके यश को बढाता है ॥ ३ ॥

यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व ।
सः नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ॥ ४ ॥

यम् । त्वा । पूर्वम् । ईळितः । वध्रिऽअश्वः । सम्ऽईधे । अग्ने । सः । इदम् । जुषस्व । सः । नः । स्तिऽपाः । उत । भव । तनूऽपाः । दात्रम् । रक्षस्व । यत् । इदम् । ते । अस्मे इति ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (वध्र्यश्वः) वध्रयो नियन्त्रिता इन्द्रियरूपाश्वाः-यस्य यद्वा वध्रय–चर्मबन्धन्यामश्व इव देहबन्धन्यां वासनायां बद्धोऽहं जीवात्मा (यं त्वा) यं त्वाम् (पूर्वम्-ईळितः) पूर्वजन्मनि स्तुतवान् 'कर्त्तरि क्तः' (समीधे) अस्मिन् जन्मनि स्वात्मनि स्तुत्या सम्यक् प्रकाशयामि (सः-इदं जुषस्व) स त्वं मम स्तवनं सेवस्व–स्वीकुरु (सः) स त्वम् (नः) अस्माकम् (स्तिपाः) हृदय-गृहस्य रक्षकः, यद्वा शरीरे–ऊर्ध्वाधः स्थितानां संहतजीवनरसानां रक्षकः स्तिपाः–"ष्टै वेष्टने" [भ्वादिः] कि प्रत्यये 'स्तिः' (उत) अपि च (तनूपाः) बाह्यदेहस्यापि पालकः (अस्मे) अस्मभ्यम् (ते-इदम्) तवेदम् (यद् दात्रम्) दातव्यमस्ति (रक्षस्व) रक्ष ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (वध्र्यश्वः) नियन्त्रित इन्द्रियों वाला अथवा चर्मबन्धनी में अश्व की भांति देहबन्धनी-वासना में बंधा मैं जीवात्मा (यं त्वा) जिस तुझ को (पूर्वम्-ईळितः) पूर्वजन्म में स्तुति में ला चुका हूँ (समीधे) इस जन्म में भी अपने में सम्यक् प्रकाशित करता हूँ (सः-इदं जुषस्व) वह तू मेरी स्तुति को स्वीकार कर (सः) वह तू (नः) हमारे (स्तिपाः) हृदयगृह का रक्षक अथवा शरीर में ऊपर नीचे स्थित संहत-एक दूसरे से संसक्त जीवनरसों का रक्षक है (उत) और (तनूपाः) बाह्यदेह का भी पालक है (अस्मे) हमारे लिए (ते-इदम्) तेरा यह (यद्-दात्रम्) जो दातव्य है (रक्षस्व) उसकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जीवात्मा की आन्तरिक अनुभूति है-वह अपने को देह और वासना के बन्धन में समझता हुआ स्मरण करता है कि परमात्मा की स्तुति पूर्वजन्म में भी करता रहा, इस जन्म में भी करता हूँ बन्धन से छूटने के लिए। परमात्मा आन्तरिक भावनाओं और मन आदि उपकरणों का रक्षक है तथा बाहरी रस-रक्त आदि धातुओं तथा शरीर का भी रक्षक है। अपने उत्थान के लिए उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिए ॥ ४ ॥

भवा द्युम्नी वाध्र्यश्वोत गोपा मा त्वा तारीदभिमातिर्जनानाम् ।
शूर इव धृष्णुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम ॥ ५ ॥

भव । द्युम्नी । वाध्रिऽअश्व । उत । गोपाः । मा । त्वा । तारीत् । अभिऽमातिः । जनानाम् । शूरःऽइव । धृष्णुः । च्यवनः । सुऽमित्रः । प्र । नु । वोचम् । वाध्रिऽअश्वस्य । नाम ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाध्र्यश्व) हे मम नियन्त्रितेन्द्रियाश्ववतः स्तोतव्य ! यद्वा देहबन्धनेषु वासनासु बद्धस्य स्तोतव्य परमात्मन् ! राजन् वा त्वम् (द्युम्नी गोपाः-भव) मदर्थमध्यात्मधनवान् तथा रक्षको भव (जनानाम्-अभिमातिः-अतारीत्) जन्यमानानामभिमन्यता नास्तिक भावना त्वां नैव बाधेत (शूरः-इव) त्वं शूरः प्रतापी वीरसमानः (धृष्णुः) विरोधिनां धर्षयिता (च्यवनः) प्रेरयिता (सुमित्रः) शोभनमित्रयुक्तः (वाध्र्यश्वस्य नाम नु प्रवोचम्) जितेन्द्रियस्य वासनाबन्धनीयुक्तस्य मम स्तोतव्य ! तव महत्त्वपूर्णं नाम स्तौमि प्रशंसामि वा ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाध्र्यश्व) हे मुझ जितेन्द्रिय वाले संयमी अथवा देहबन्धन कराने वाली वासनाओं में पड़े हुए के स्तुति करने योग्य परमात्मन् ! तू (द्युम्नी गोपाः-भव) मेरे लिए अध्यात्मधन वाला तथा रक्षक हो (जनानाम्-अभिमातिः-अतारीत्) उत्पन्न हुओं की अभिमन्यता-नास्तिक भावना तुझे बाधित न करे (शूरः-इव) तू प्रतापी वीर समान (धृष्णुः) विरोधियों का दबाने वाला है (च्यवनः) हमारा प्रेरक है (सुमित्रः) शोभनमित्र युक्त (वाध्र्यश्वस्य नाम नु

प्रवोचम्) मुझ जितेन्द्रिय अथवा वासना में बंधे हुए का स्तोतव्य परमात्मन् ! तेरे महत्त्वपूर्ण नाम की मैं स्तुति करता हूँ-प्रशंसा करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मानव चाहे जितेन्द्रिय हो या वासना में बंधा हुआ हो प्रत्येक अवस्था में उसका स्तुत्यदेव परमात्मा है, वही रक्षक है। मनुष्य संसार में उत्पन्न होकर अभिमानकर बैठते हैं, नास्तिक बन जाते हैं, परन्तु वे परमात्मा के ईश्वरत्व को मिटा नहीं सकते, किन्तु उसके अधीन कर्मफलों को भोगते हैं। उसका महत्त्वपूर्ण स्वरूप स्मरण करने योग्य है ॥ ५ ॥

समज्र्या पर्वत्या३ वसूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगेथ ।
शूरइव धृष्णुश्च्यवनो जनानां त्वमग्ने पृतनायूँरभि ष्याः ॥ ६ ॥

सम् । अज्र्या । पर्वत्या । वसूनि । दासा । वृत्राणि । आर्या । जिगेथ । शूरःऽइव । धृष्णुः । च्यवनः । जनानाम् । त्वम् । अग्ने । पृतनाऽयून् । अभि । स्याः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने-अज्र्या) हे अग्रणायक राजन् त्वम्, अजन्ति प्रवहन्ति ये नदीसमुद्रास्तत्रभवानि (पर्वत्या) पर्वतेषु भवानि (वसूनि) यानिधनानि खलु (दासा) दासेभ्यः सेवकेभ्यः कृतानि (आर्या) आर्येभ्यः स्वामिभ्यः कृतानि (वृत्राणि) पापानि कृतानि (सं जिगेथ) सम्यगधिकुरु (शूरः-इव धृष्णुः) पराक्रमीव धर्षणशीलः (जनानां च्यवनः) जनानां च्यवनः-स्वस्वविषयं प्रति प्रापणस्वभावः (पृतनायून्-अभि-स्यात्) विरोधिनः स्वाधीने कर्त्तुं समर्थोऽसि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने-अज्र्या) हे अग्रणायक राजन् ! तू गतिशील नदी समुद्रों में होने वाले (पर्वत्या) पर्वतों में होने वाले (वसूनि) धनों को (दासा) दासों-सेवकों के लिए-(आर्या) आर्योंस्वामियों के लिए किए हुए (वृत्राणि) पापों को (सं जिगेथ) सम्यक् अधिकार में कर (शूरः-इव धृष्णुः) पराक्रमी के समान धर्षणशील (जनानां च्यवनः) तू जनों का अपने-अपने विषय में प्रेरित करने के स्वभाव वाला (पृतनायून्-अभि-स्यात्) विरोधियों को स्वाधीन करने में समर्थ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिए, नदी समुद्र पर्वतों से धन अर्थात् विविध अन्नोत्पत्ति, रत्नप्राप्ति तथा पर्वतीय पदार्थों को प्राप्तकर संग्रह करे। राष्ट्र में सेवक और स्वामी के सम्बन्ध को अच्छा बनाने का प्रयत्न करे। एक दूसरे के प्रति किये अपराधों को नियन्त्रित करे प्रत्येक जन अथवा वर्ग को अपने-अपने कार्य में प्रेरित करे। विरोधियों को स्वाधीन रखे ॥ ६ ॥

दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः सहस्रस्तरीः शतनीथ ऋभ्वा ।
द्युमान् द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु ॥ ७ ॥

दीर्घऽतन्तुः । बृहत्ऽउक्षा । अयम् । अग्निः । सहस्रऽस्तरीः । शतऽनीथः । ऋभ्वा । द्युऽमान् । द्युमत्ऽसु । नृऽभिः । मृज्यमानः । सुऽमित्रेषु । दीदयः । देवयत्ऽसु ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अयम्-अग्निः) एषोऽग्रणायक परमात्मा राजा वा (दीर्घतन्तुः दीर्घज्ञानरश्मिमान् (बृहदुक्षा) महान् सुखवर्षकः (सहस्रस्तरीः) बहुप्रजा-विस्तारवान् (शतनीथः) बहुप्रापणधर्मा बहुनीतिमान् वा (ऋभ्वा) व्यापको महच्छ-क्तिमान् वा (द्युमत्सु द्युमान्) ज्ञानप्रकाशवत्सु तदपेक्षया ज्ञानप्रकाशवान् (नृभिः-मृज्यमानः) स्तोतृभिर्नायकजनैः प्राप्यमाणः "मर्ष्टि गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (सुमित्रेषु देवयत्सु दीदयः) शोभनमित्रेषु त्वद्देवं मन्यमानेषु प्रकाशितो भवसि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अयम्-अग्निः) यह अग्रणायक परमात्मा या राजा (दीर्घतन्तुः) दीर्घ ज्ञान रश्मि वाला (बृहदुक्षा) महान् सुखवर्षक (सहस्रस्तरीः) बहुत प्रजा विस्तार वाला (शतनीथः) बहुत प्राप्ति धर्मवाला परमात्मा या बहुत नीतिमान् राजा (ऋभ्वा) व्यापक परमात्मा या महती शक्ति वाला राजा (द्युमत्सु द्युमान्) ज्ञानप्रकाशवालों में अधिक ज्ञानवान् (नृभिः-मृज्यमानः) स्तुतिकर्त्ताओं के द्वारा प्राप्त होने वाला परमात्मा या राष्ट्र नायकों के द्वारा प्राप्त होने वाला राजा (सुमित्रेषु देवयत्सु दीदयः) शोभन मित्रों में, अपने को देव मानने वालों में प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा की ज्ञानदृष्टि महती है। वह समस्त ज्ञानियों के अन्दर ज्ञान का प्रेरक है, स्तुति करने वालों से प्राप्त होने योग्य है, उसे जो अपना देव मानते हैं उनका वह मित्र बन जाता है। एवं—राजा की प्रजा पर ज्ञानदृष्टि बहुत ऊंची होनी चाहिए, अन्य नीतिमानों से ऊंचा नीतिमान् होना चाहिए, उसके अच्छे-अच्छे नायक सहायक हों और उसमें भक्ति रखने वाले हों ॥ ७ ॥

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक् ।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ॥ ८ ॥

त्वे इति । धेनुः । सुऽदुघा । जातऽवेदः । असश्चताऽइव । समना । सबःऽधुक् । त्वम् । नृभिः । दक्षिणावत्ऽभिः । अग्ने । सुऽमित्रेभिः । इध्यसे । देवयत्ऽभिः ॥८॥

संस्कृतान्वयार्थः—(जातवेदः) हे सर्वोत्पादक ! सर्वज्ञ ! परमात्मन् ! जातं राष्ट्ररूपं धनं यस्मै-राष्ट्रधनवन् राजन् ! वा (त्वे) त्वया (असश्चता-इव) असज्यमानेन शान्तगतिकेन वा सह "असश्चन्ती असज्यमाने" [निरु० १ । ११] (सुदुघा धेनुः) सुदोग्ध्री गौरिव स्तोतृप्रजा (समना) समान मनस्का (सबर्धुक्) सुखदोहनयोग्याऽस्ति (त्वम्) त्वं खलु (दक्षिणावद्भिः सुमित्रेभिः-देवयद्भिः-नृभिः) आत्मसमर्पणरूप-दक्षिणावद्भिः शोभनस्नेहिभिस्त्वं देवं मन्यमानैर्जीवन्मुक्तैः "नरो ह वै देवविशः" [जै० १ । ८६] प्रकाशितो क्रियसे प्रसिद्धो क्रियसे साक्षात् क्रियसे ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(जातवेदः) हे सर्वोत्पादक, सर्वज्ञ, परमात्मन् ! या राष्ट्ररूप धन जिसके लिए सम्पन्न हुआ है ऐसे राजन् ! (त्वे) तुझ (असश्चता-इव) शान्त के द्वारा (सुदुघा धेनुः)

अच्छी दोहन वाली गौ की भांति स्तुति करने वाली प्रजा (समना) समान मन वाली—अविचल मन वाली (सवर्धुक्) सुख दोहनयोग्य है (त्वम्) तू (दक्षिणावद्भिः सुमित्रेभिः) आत्मसमर्पणरूप दक्षिणा वाले अच्छे स्नेही—(देवयद्भिः-नृभिः-इध्यसे) तुझे अपना देव मानने वाले जीवन्मुक्तों द्वारा प्रसिद्ध किया जाता है—साक्षात् किया जाता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ शान्तस्वरूप परमात्मा के लिए स्तुति करने वाले जन स्तुति भेंटरूप में देते हैं और आत्मसमर्पण करने वाले जनों—अपना इष्टदेव मानने वाले जनों के द्वारा साक्षात् किया जाता है या प्रसिद्ध किया जाता है। एवं—जो राजा राष्ट्रधन का उपभोग करने वाला है, इन्द्रियविषयों में आसक्त नहीं होता, उसकी प्रजा उसके लिए सुगमता से दुहने वाली गौ के समान भेंट देने वाली होती है और उसे अपने ऊपर शासक देव मानती हुई उसकी प्रसिद्धि करती है ॥ ८ ॥

देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्र वोचन् ।
यत्संपृच्छं मानुषीर्विश आयन्त्वं नृभिरजयस्त्वावृधेभिः ॥ ९ ॥

देवाः । चित् । ते । अमृताः । जातऽवेदः । महिमानम् । वाध्रिऽअश्व । प्र । वोचन् । यत् । सम्ऽपृच्छम् । मानुषीः । विशः । आयन् । त्वम् । नृऽभिः । अजयः । त्वाऽवृधेभिः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाध्र्यश्व जातवेदः) हे जितेन्द्रियपुरुषस्योपास्य देव सर्वज्ञ परमात्मन् ! (अमृताः-देवाः-चित्) जीवन्मुक्ता विद्वांसोऽपि (ते महिमानं प्रवोचन्) तव महत्त्वं प्रकथयन्ति (यत्-सम्पृच्छम्) एवं त्वां सम्यक् प्रष्टव्यम् (मानुषीः-विशः-आयन्) मनुष्यप्रजाः—मननशीला स्तोतारो यदा प्रष्टुमायन्ति—आगच्छन्ति (नृभिः-त्वा वृधेभिः-त्वम्-अजयः) जीवन्मुक्तैः त्वां स्वाभ्यन्तरेवर्धकैः साक्षात्कर्तृभिर्हेतुभिः-तान् हेतुं लक्षयित्वा तेषां दोषान् जयसि नाशयसि ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाध्र्यश्व जातवेदः) हे जितेन्द्रिय पुरुष के उपास्यदेव सर्वज्ञ परमात्मन् ! (अमृताः-देवाः-चित्) जीवन्मुक्त विद्वान् भी तेरे महत्त्व को कहते हैं (यत्-सम्पृच्छम्) इस प्रकार तुझ सम्यक् प्रष्टव्य को (मानुषीः-विशः-आयन्) मनुष्यप्रजायें—मननशील स्तुति करने वाले जब पूछने को आते हैं (नृभिः-त्वा वृधेभिः-त्वम्-अजयः) जीवन्मुक्तों, तुझे अपने अन्दर बढाने वालों द्वारा साक्षात् करने के हेतुओं से उन्हें लक्ष्य करके उनके दोषों को जीतता है है नष्ट करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा जितेन्द्रिय संयमी जन का उपास्य बनता है। जीवन्मुक्त उसके गुणगान गाते हैं, साधारण मनुष्य उसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करते हैं, वह अपने स्तुतिकर्त्ताओं के दोषों को नष्ट करता है ॥ ९ ॥

पितेव पुत्रमबिभरुपस्थे त्वामग्ने वध्र्यश्वः सपर्यन् ।
जुषाणो अस्य समिधं यविष्ठोत पूर्वाँ अवनो व्राधतश्चित् ॥ १० ॥

पिताऽइव । पुत्रम् । अबिभः । उपऽस्थे । त्वाम् । अग्ने । वध्रिऽअश्वः । सपर्यन् । जुषाणः । अस्य । सम्ऽइधम् । यविष्ठ । उत । पूर्वान् । अवनोः । व्राधतः । चित् ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (वध्र्यश्वः) नियन्त्रितेन्द्रियवानुपासकः (त्वाम्) त्वां खलु (पिता-इवपुत्रम्-उपस्थे सपर्यन्-अबिभः) पिता यथा पुत्रं स्वाश्रये सेवमानः बिभर्ति-धारयति स्नेहेन तथैव स त्वां स्वहृदये स्नेहेन सेवमानो धारयति (यविष्ठ) हे अत्यन्तसमागमनयीपात्र ! (अस्य) अस्य स्तोतुः (समिधं जुषाणः) सम्यक्-उज्ज्वलितां प्रार्थनां सेवमानः सन् (व्राधतः-चित्-अवनोः) महतः "व्राधत्-महन्नाम" [निघ० ३ । ३] प्रवृद्धान् विरोधिनः-नाशय "वन हिंसायाम्" [भ्वादिः] विकरणव्यत्ययेन-उकारश्छान्दसः ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! (वध्रयश्वः) नियन्त्रित इन्द्रियवान् उपासक (त्वाम्) तुझे (पिता-इव-पुत्रम्-उपस्थे सपर्यन्-अविभः) पिता जैसे पुत्र को अपने आश्रय में रखता हुआ पालता है स्नेहपूर्वक वैसे ही वह तुझे अपने हृदय में सेवन करता हुआ धारण करता है (यविष्ठ) हे अत्यन्त समागम के पात्र ! (अस्य) इस स्तुति करने वाले के (समिधं जुषाणः) सम्यक् उज्ज्वलित प्रार्थनावचन को सेवन करता हुआ (व्राधतः-चित्-अवनोः) विरोधियों का नाश कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों को अपने वश में करता हुआ परमात्मा की उपासना करे उसके प्रति श्रद्धा और स्नेह रखते हुए अपने हृदय में पूर्ण स्थान दे इस प्रकार करने से उसके विरुद्ध विचारों दोषों को परमात्मा नष्ट कर देता है ॥ १० ॥

शश्वदग्निर्वध्र्यश्वस्य शत्रून्नृभिर्जिगाय सुतसोमवद्भिः ।
समनं चिददहश्चित्रभानोऽव व्राधन्तमभिनद्वृधश्चित् ॥ ११ ॥

शश्वत् । अग्निः । वध्रिऽअश्वस्य । शत्रून् । नृऽभिः । जिगाय । सुतसोमवत्ऽभिः । समनम् । चित् । अदहः । चित्रभानो इति चित्रऽभानो । अव । व्राधन्तम् । अभिनत् । वृधः । चित् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वध्र्यश्वस्य शत्रून्) जितेन्द्रियस्य कामादि शत्रून् (अग्निः) अग्रणायकः परमात्मा (नृभिः सुतसोमवद्भिः) उपासनारसनिष्पादकर्जीवन्मुक्तानां यथा

दोषान्नाशयसि तथा 'विभक्तिव्यत्ययः, उपमावाचक लुप्तोपमालङ्कारश्च' (शश्वत् जिगाय) शाश्वतमभिभव (समनं चित्) सम्यक् प्राणवन्तमपि (चित्रभानो) हे चायनीयज्ञान-प्रभाववन्! (अदहः) दग्धी कुरु (वृधः-चित्) प्रवृद्धः सन्नपि (त्राधन्तम्-अवभिनत्) प्रवर्धमानं विरोधिनमपि-अवच्छिन्नं कुरु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(वध्र्यश्वस्य शत्रून्) जितेन्द्रिय मनुष्य के कामादि शत्रुओं को (अग्निः) अग्रणायक परमात्मा (नृभिः-सुतसोमवद्भिः) उपासनारस निष्पादक जीवन्मुक्तों के जैसे दोषों को नष्ट करता है वैसे (शश्वत्-जिगाय) सदा दबाता है (समनं चित्) सम्यक् प्राण वाले-बलवान् को भी (चित्रभानो) हे चायनीय ज्ञान प्रभाव वाले! (अदहः) नष्ट कर (वृधः-चित्) बढ़े-चढ़े (त्राधन्तम्-अवभिनत्) शक्तिशाली विरोधी को भी नष्ट कर ॥११ ॥

भावार्थ—परमात्मा जितेन्द्रिय मनुष्य के कामादि दोषों को और अन्य बढ़े-चढ़े विरोधी प्रभावों या दुर्गुणों को नष्ट करता है ॥ ११ ॥

अयमग्निर्वध्र्यश्वस्य वृत्रहा सनकात्प्रेद्धो नमसोपवाक्यः ।
स नो अजामीँरुत वा विजामीनभि तिष्ठ शर्धतो वाध्र्यश्व ॥ १२ ॥

अयम् । अग्निः । वध्रिऽअश्वस्य । वृत्रऽहा । सनकात् । प्रऽइद्धः । नमसा । उपऽवाक्यः । सः । नः । अजामीन् । उत । वा । विऽजामीन् । अभि । तिष्ठ । शर्धतः । वाध्रिऽअश्व ॥ १२ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वध्र्यश्वस्य) नियन्त्रितेन्द्रियस्य (नमसा-उपवाक्यः) स्तुत्या खलूपास्यः प्रशंसनीयः (अयम्-अग्निः) एषोऽग्रणायकः परमात्मा (सनकात् प्रेद्धः-वृत्रहा) पुरातनात् कालात्–चिरमिति यावत् स्वात्मनि साक्षात्कृतः पापनाशकोऽस्ति (सः) स त्वम् (वाध्र्यश्व) जितेन्द्रियस्योपास्य परमात्मन्! (नः) अस्माकम् (अजामीन्-उत वा विजामीन् शर्धतः-अभितिष्ठ) जन्मतोऽसम्बन्धीनो विगत सम्बन्धीनः-विरोधिनश्च बलं प्रदर्शयतोऽभिभव ॥ १२ ॥

भाषान्वयार्थ—(वध्र्यश्वस्य) जितेन्द्रिय मनुष्य की (नमसा-उपवाक्यः) स्तुति से उपास्य प्रशंसनीय (अयम्-अग्नि) यह अग्रणायक परमात्मा है (सनकात् प्रेद्धः-वृत्रहा) पुरातन काल से आत्मा में साक्षात् किया हुआ पापनाशक है (सः) वह तू (वाध्र्यश्व) जितेन्द्रिय मनुष्य के उपास्यदेव हे परमात्मन्! (नः) हमारे (अजामीन्-उत वा विजामीन् शर्धतः-अभितिष्ठ) जन्म से असम्बधियों और विपरीत सम्बन्धियों विरोधियों को बल प्रदर्शित करते हुओं को दबा-अभिभूत कर॥ १२ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय उपासक जब परमात्मा की उपासना करता है तो परमात्मा उसे पापों से बचाता है तथा उसके साथ सम्बन्ध न रखने वाले बाधकों को और विपरीत सम्बन्ध रखने वाले बाधकों को वह दबा देता है ॥ १२ ॥

सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—वाध्र्यश्वः ।

देवता—आप्रियः ।

छन्दः—१, २, ४, १० निचृत् त्रिष्टुप् ३ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ५-८, ६, ११ त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र विद्यासूर्यविदुषो विद्या तत्सहायकरी भवति, विदुषो विद्या ग्राह्या, परमात्मनः स्तुतिप्रार्थनोपासनास्तेनसह मैत्रीं सम्पादयन्ति ताश्च मनबुद्धिचिताहङ्कारैः साधनीया, इति वर्ण्यते ।

यहां विद्यासूर्य, विद्वान् की विद्या उसकी सहयोगिनी, विद्वान् से विद्याग्रहण करना, परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना उसे मैत्री कराने वाली होती है, वह मनबुद्धिचित्त अहङ्कार द्वारा साधनीय है आदि वर्णन है ।

इमां मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रति हर्या घृताचीम् ।
वर्ष्मन् पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या ॥ १ ॥

इमाम् । मे । अग्ने । सम्ऽइधम् । जुषस्व । इळः । पदे । प्रति । हर्य । घृताचीम् । वर्ष्मन् । पृथिव्याः । सुदिनऽत्वे । अह्नाम् । ऊर्ध्वः । भव । सुक्रतो इति सुऽक्रतो । देवऽयज्या ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इडस्पदे) स्तुत्याः पदे स्तुतिस्थाने हृदये वर्तमान ! यद्वा ज्ञानप्रकाशस्य स्थाने विद्यास्थाने वर्तमान ! "ईडे स्तुतिकर्मणः, इन्धतेर्वा" [निरु० ८ । ८] (अग्ने) अग्रणायक परमात्मन् ! यद्वा विद्वन् ! (मे) मम (इमां समिधं जुषस्व) एतां समिन्धनीयां सम्यक् प्रकाशन्यामात्मसमिधं स्वगुणैः प्रकाशनार्थं सेवायां नय यद्वा शिष्यभावनया समर्पितां समिधं तुच्छोपहारभूतां सेवस्व–स्वीकुरु "समित्पाणिः श्रोत्रियं गुरुमभिगच्छ ब्रह्मनिष्ठम्" [मुण्डक उप० १।२] (घृताचीम्) अज्ञानरात्रिम् "घृताची रात्रि नाम"[निघ० १ । ७] (प्रतिहर्य) प्रतिगमय दूरं कुरु "हर्यति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (सुक्रतो) हे सुकर्म सुप्रज्ञान ! (देवयज्या) उपास्यदेवस्य तव सङ्गतिर्यथा स्यात् तथाभूतया

भवत् सङ्गत्याः (पृथिव्याः-वर्ष्मन्) शरीरस्य "यच्छरीरं सा पृथिवी" [ऐ० आ० २ । ३ । ३] प्राणवर्षणस्थाने प्राणप्रेरक स्थाने हृदये वर्तमानो भव ध्यानेन ज्ञानेन वा हृदये स्थानं प्राप्नुहि (सुदिनत्वे) मम शोभनदिननिमित्तम् (अह्नाम्-ऊर्ध्वः-भव) मम समस्तजीवन-दिवसानामुपरि–अधिष्ठाता भव ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(इडस्पदे) स्तुति के पद-स्थान हृदय में वर्तमान, या विद्यास्थान में वर्तमान, (अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् या विद्वन् ! (मे) मेरी (इमां समिधं जुषस्व) इस सम्यक् इन्धनीय-दीपनीय आत्मा को अपने गुणों से प्रकाशनार्थ सेवा में ले अथवा शिष्यभाव से समर्पित तुच्छ उपहार रूप समिधा को सेवन कर-स्वीकार कर (घृताचीम्) अज्ञान रात्रि को (प्रतिहर्य) दूर कर-हटा (सुक्रतो) हे अच्छे कर्म वाले, अच्छे प्रज्ञानवान् (देवयज्या) तुझ उपस्य देव की संगति हो वैसी स्तुति के द्वारा अथवा तुझ विद्वान् देव जैसा मैं हो जाऊँ ऐसी संगति से (पृथिव्याः-वर्ष्मन्) शरीर के प्राणवर्षण प्राणप्रेरक स्थान हृदय में ध्यान से वर्तमान हो अथवा ज्ञान से हृदय में वर्तमान हो (सुदिनत्वे) मेरे अच्छे दिन के निमित्त (अह्नाम्-ऊर्ध्वः-भव) मेरे समस्त जीवनदिवसों के ऊपर अधिष्ठाता हो ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की आत्मभाव से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे मेरे स्तुत्य देव, तू मेरे हृदय में विराजमान हो। आन्तरिक अन्धकार को दूर करके मेरे आत्मा को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर। मुझे अपनी सङ्गति से मेरे जीवन के दिनों के ऊपर संरक्षक बनकर उत्कृष्ट बना। एवं—विद्वान् के पास जाकर के प्रार्थना करनी चाहिए कि हे विद्वन् ! शिष्यभाव से प्राप्त मैं अपने को तेरे समर्पित करता हूँ। मेरे आत्मा को अपने ज्ञान से प्रकाशमान बना अज्ञानान्धकार को दूर कर, अपने जैसा विद्वान् मुझे बना, मेरे हृदय के अन्दर तेरा ज्ञानमय स्वरूप निहित हो जाये। मेरे जीवन के दिनों को ऊंचा बनाने के लिए मेरा संरक्षक बन ॥ १ ॥

आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः ।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत् ॥ २ ॥

आ । देवानाम् । अग्रऽयावा । इह । यातु । नराशंसः । विश्वऽरूपेभिः । अश्वैः । ऋतस्य । पथा । नमसा । मियेधः । देवेभ्यः । देवऽतमः । सुसूदत् ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानाम्-अग्रयावा) जीवन्मुक्तानामग्रे मोक्षे प्रेरयिता परमात्मा यद्वा विद्याकामानामग्रे प्रेरयिता विद्वान् (नराशंसः) नरैः शंसनीयः परमात्मा विद्वान् वा (विश्वरूपेभिः-अश्वैः) समस्तनिरूपणीयैर्व्यापन गुणैः (आयातु) मम हृदये स्थानेवा समन्तात् प्राप्तो भवतु (ऋतस्य पथा) अध्यात्मयज्ञस्यज्ञानस्य वा मार्गेण (मनसा-मियेधः) मनसा मननादिना वासना प्रक्षेपण कर्त्तुः पात्रस्यदीपयिता "मिञ्् प्रक्षेपणे" [स्वादिः] 'ततः कश्छान्दसः पुनः-इन्धी दीप्तौ ततश्चापि कः प्रत्ययः' (देवेभ्यः-देवतमः सुषूदत्) दिव्यगुणेषु विशिष्टदिव्यगुणवान् स्वानन्दं ज्ञानं सुष्ठु क्षारयतु ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानाम्-अग्रयावा) जीवन्मुक्तों को मोक्ष में प्रेरित करने वाला परमात्मा अथवा विद्या की कामना करने वालों को आगे-ऊंचे ज्ञान में प्रेरित करने वाला विद्वान् (नराशंसः) मनुष्यों से प्रशंसनीय परमात्मा या विद्वान् (विश्वरूपेभिः-अश्वैः) समस्त निरूपणीय तथा व्यापन गुणों के साथ (आयातु) मेरे हृदय में भलीभांति प्राप्त हो (ऋतस्य पथा) अध्यात्मयज्ञ या ज्ञानयज्ञ के मार्ग से (मनसा-मियेधः) मन से-मनन आदि से वासना हटाने वाले पात्र को प्रदीप्त करने वाला (देवेभ्यः-देवतमः सुषूदत्) दिव्यगुणों में अत्यन्त दिव्यगुण वाला ज्ञान को अच्छी प्रकार प्रेरित करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जीवनमुक्तों को मोक्ष में प्रेरित करने वाला और उनसे प्रशंसित विशेष गुणों से व्याप्त, अध्यात्मयज्ञ के मार्ग से मनन आदि के द्वारा निर्मल तथा प्रकाशमान करने वाला, समस्त दिव्यगुण पदार्थों में उत्तम दिव्यगुण वाला, परमात्मा आनन्द रस को हृदय में निर्झरित करता है। एवं-विद्या चाहने वालों को आगे प्रेरित करने वाला विद्वान्, उनके द्वारा प्रशंसनीय ज्ञानमार्ग से तथा विचार से अज्ञान को दूर करने वाला, ज्ञान प्रकाश को देने वाला ऊंचा गुणवान् होकर अन्तःकरण में ज्ञान को भरता है ॥ २ ॥

शश्वत्तममीळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम् ।
बर्हिष्ठैरश्वैः सुवृता रथेना देवान् वक्षि नि षदेह होता ॥ ३ ॥

शश्वत्ऽतमम् । ईळते । दूत्याय । हविष्मन्तः । मनुष्यासः । अग्निम् । वर्हिष्ठैः । अश्वैः । सुऽवृता । रथेन । आ । देवान् । वक्षि । नि । सद् । इह । होता ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(हविष्मन्तः-मनुष्यासः) मनस्विनो मननशीला वा "मनो हविः" [तै० आ० ३ । ६ । १] मनुष्याः (शश्वत्तमम्-अग्निं दूत्याय-ईळते) सदातनं महान्तं परमात्मानं स्वानन्दस्य ज्ञानस्य वा द्रावणाय "दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा" [निरु० ५ । १] स्तुवन्ति (बर्हिष्ठैः-अश्वैः) संसारवहनकर्त्तृभिर्व्यापकगुणैः, तथा (सुवृतारथेन) सुवर्तनेन रमणीयमोक्षेण (देवान् वक्षि) जीवन्मुक्तान् वहसि (होता-इह निषद) मम स्वीकर्त्ताऽत्र हृदये विराजस्व ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(हविष्मन्तः-मनुष्यासः) मनस्वी या मननशील मनुष्य (शश्वत्तमम्-अग्नि-दूत्याय-ईळते) अति सदातन महान् परमात्मा को अपने आनन्द या ज्ञान के द्रावण करने के लिए प्रेरित करने के लिए स्तुति करते हैं (वहिष्ठैः-अश्वैः) संसार वहन कर्त्ता व्यापक गुणों से, तथा (सुवृतारथेन) उत्तम वर्तने योग्य या रमणीय मोक्ष के द्वारा (देवान्-वक्षि) जीवन्मुक्तों को तू वहन करता है (होता-इह-निषद) मेरा स्वीकार करने वाला होकर यहाँ हृदय में विराज ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनस्वी या मननशील परमात्मा के आनन्दरस या ज्ञानरस को ग्रहण कर सकता है। जो परमात्मा की उपासना में निरत रहता है वह मोक्ष का भागी बनता है ॥ ३ ॥

वि प्रथतां देवजुष्टं तिरश्चा दीर्घं द्राघ्मा सुरभि भूत्वस्मे ।
अहेळता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान् ॥ ४ ॥

वि । प्रथताम् । देवऽजुष्टम् । तिरश्चा । दीर्घम् । द्राघ्मा । सुरभि । भूतु । अस्मे इति । अहेळता । मनसा । देव । बर्हिः । इन्द्रऽज्येष्ठान् । उशतः । यक्षि । देवान् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवजुष्टं बर्हिः) जीवन्मुक्तैः सेवितव्यं प्रवृद्धं विज्ञानम् "भूमा वै बर्हिः" [श० १ । ५ । ४ । ४] "बर्हिः-विज्ञानम्" [ऋ० १ । ८३ । ६ दयानन्दः] (विप्रथताम्) विस्तृतं भवतु (अस्मे) अस्मभ्यम् (तिरश्चा दीर्घं द्राघ्मा सुरभिभूतु) तिरश्चीनमन्तर्गतम् "तिरोन्तर्धौ" [अष्टा० १ । ४ । ७०] महत्-चिरस्थायि सुगन्धरूपं भवतु (देव) हे परमात्मदेव ! (अहेळता मनसा) क्रोधरहितेन दयापूर्णेन मनसेव स्वज्ञानेन (इन्द्रज्येष्ठान्-उशतः-देवान्) इन्द्रं त्वां परमात्मानं ज्येष्ठं स्वोपरि वर्तमानं ये मन्यन्ते तान्, त्वां ये कामयन्ते तान् "वश कान्तौ" [अदादिः] विदुषः (यक्षि] सङ्गमयसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवजुष्टं बर्हिः) जीवन्मुक्तों के द्वारा सेवित करने योग्य प्रवृद्ध विज्ञान (विप्रथताम्) विस्तृत होवे-होता है (अस्मे) हमारे लिए (तिरश्चा दीर्घं द्राघ्मा सुरभि भूतु) अन्दर रखा हुआ बड़ा और चिरस्थायी सुगन्धरूप होवेहोता है (देव) हे परमात्मदेव ! (अहेळता मनसा) क्रोधरहित दयापूर्ण मन से-अपने ज्ञान से (इन्द्रज्येष्ठान्-उशतः-देवान्) इन्द्र अर्थात् तुझ परमात्मा को ज्येष्ठ अर्थात् अपने से ऊपर जो स्वीकार करते हैं, उनको और तुझे चाहने वाले विद्वानों को (यक्षि) सङ्गति का अवसर दे-अपने साथ मिला ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा का ज्ञान जीवन्मुक्तों के अन्दर वृद्धि को प्राप्त होता है वे लोग अपने ऊपर परमात्मा को ही उपास्य समझते हैं परमात्मा उन्हें अपनी संगति का लाभ देता है उनके द्वारा अन्य जन परमात्मा के ज्ञान का लाभ लेते हैं ॥ ४ ॥

दिवो वा सानु स्पृशता वरीयः पृथिव्या वा मात्रया वि श्रयध्वम् ।
उशतीर्द्वारो महिना महद्भिर्देवं रथं रथयुर्धारयध्वम् ॥ ५ ॥

दिवः । वा । सानु । स्पृशत । वरीयः । पृथिव्या । वा । मात्रया । वि । श्रयध्वम् । उशतीः । द्वारः । महिना । महत्ऽभिः । देवम् । रथम् । रथऽयुः । धारयध्वम् ॥५॥

संस्कृतान्वयार्थः—(द्वारः) हे द्वार इव सुशोभिता देव्यः ! "द्वारः द्वार इव सुशोभिताः" [ऋ० १ । ४२ । ६ दयानन्दः] इन्द्रियद्वारतो निः सृताः शुभो वृत्तयो वा (दिवः-वा सानु स्पृशत) मोक्षधाम्नः स्वर्गस्य भजनीयं सुखं प्राप्नुत (पृथिव्याः-वा वरीयः) प्रथितायाः सृष्टेश्च महत्तरं सुखम् (मात्रया विश्रयध्वम्) आंशिकरूपेण

विश्रयत (उशतीः) कामयमानाः सत्यः (महिना महद्भिः-देवं रथं रथयुः-धारयध्वम्) गुणमहत्त्वेन महद्भिर्विद्वद्भिः स्वीकृतमनुमोदितं वा दिव्यं रमणीयं मोक्षं गार्हस्थ्यं वारमणं कामयमानाः-धारयत ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(द्वारः) हे द्वार के समान सुशोभित गृह देवियो-गृह महिलाओं ! अथवा इन्द्रियद्वारों से निकली हुई शुभवृत्तियो ! (दिवः-वा सानु स्पृशत) मोक्ष-धाम के-स्वर्ग के भजनीय सुख को प्राप्त करो (पृथिव्याः-वा वरीयः) प्रथित सृष्टि के महत्तर सुख को (मात्रया विश्रयध्वम्) आंशिकरूप से सेवन करो (उशतीः) कामना करती हुई (महिना महद्भिः) गुणमहत्त्व से महान् विद्वानों से स्वीकृत तथा अनुमोदित (देवं रथं रथयुः-धारयध्वम्) रमणीय मोक्ष या गृहस्थ के रमण को चाहते हुए धारण करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—घर की महिलायें अथवा प्रत्येक मनुष्य की इन्द्रियवृत्तियां सृष्टि के भोगों को आंशिकरूप में भोगें। इसी में कल्याण है अधिक सेवन में नहीं। तथा-महान् विद्वानों द्वारा सेवित तथा अनुमोदित विशेषरूप से मोक्षधाम का सुख, साधारणरूप से गृहस्थ का सुख भोगने योग्य हैं ॥ ५ ॥

देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
आ वां देवास उशती उशन्त उरौ सीदन्तु सुभगे उपस्थे ॥ ६ ॥

देवी इति । दिवः । दुहितरा । सुशिल्पे इति सुऽशिल्पे । उषासानक्ता । सदताम् । नि । योनौ । आ । वाम् । देवासः । उशती इति । उशन्तः । उरौ । सीदन्तु । सुभगे इति सुऽभगे । उपऽस्थे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दिवः-दुहितरा सुशिल्पे देवी-उषासानक्ता) सूर्यस्येव प्रकाशमानस्य ज्ञानसूर्यस्य विदुषो दुहितराविव दोग्ध्र्यौ सुकर्मसाधिके "शिल्पं कर्मनाम" [निघ० २ । १] दिव्यसुखदत्र्यौ-उषोरात्रे इव विद्यायोषे (योनौ निसदताम्) सुबुद्धौ प्रशस्तबुद्धिमति मयि जने "सुधीन् योनीन्" [काठ० १ । १२] नितिष्ठताम् (सुभगे-उशती) हे सुभाग्यनिमित्तभूते ! कमनीये (उशन्तः-देवासः) कामयमाना विद्वांसः (वाम्-उरौ-उपस्थे-आसीदन्तु) युवयोः-विस्तृते उपयुक्त स्थानेऽध्ययश्रवणस्थाने समन्तात् प्राप्नुवन्ति 'लडर्थे लोट् छान्दसः' ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(दिवः-दुहितरा) सूर्य के समान प्रकाशमान ज्ञानसूर्य विद्वान् की दुहिताओं के समान दोहने वाली (सुशिल्पे देवी) सुकर्म की साधिकायें दिव्य सुख देने वालीं (उषासानक्ता) उषा और रात्रि के समान विद्या और स्त्री (योनौ नि सदताम्) सुबुद्धि में-उत्तम बुद्धि में प्रशस्त बुद्धि वाले मुझ मनुष्य में निविष्ट हों (सुभगे उशती) हे सुभाग्य के निमित्तभूत ! कमनीय ! (उशन्तः-देवासः) कामना करते हुए विद्वान् (वाम्-उरौ) तुम्हारे - विस्तृत-(उपस्थे-आसीदन्तु) उपयुक्त स्थान-अध्ययनश्रवण स्थान में भलीभांति प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्यासूर्य विद्वान् की दोहने योग्य विद्या और योग्य पत्नी अच्छे कर्म की साधिकायें बनती हैं जबकि अच्छे और श्रवण स्थान में उनका उपयोग हो ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वो ग्रावा बृहदग्निः समिद्धः प्रिया धामान्यदितेरुपस्थे ।
पुरोहितावृत्विजा यज्ञे अस्मिन् विदुष्टरा द्रविणमा यजेथाम् ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वः । ग्रावा । बृहत् । अग्निः । सम्ऽइद्धः । प्रिया । धामानि । अदितेः । उपऽस्थे । पुरःऽहितौ । ऋत्विजा । यज्ञे । अस्मिन् । विदुःतरा । द्रविणम् । आ । यजेथाम् ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऊर्ध्वः-ग्रावा) उत्कृष्टो विद्वान्-उपदेष्टा "विद्वांसो हि ग्रावाणः" [श० ३ । ६ । ३ । १४] (बृहत्-समिद्धः-अग्निः) बृहत् महान् ज्ञानदीप्तोऽध्यापकः (अदितेः-उपस्थे प्रिया धामानि) अखण्डितविद्यावतो विदुषः "अदितिः सर्वे विद्वांसः" [ऋ० १ । ६८ । ३ दयानन्दः] उपतिष्ठन्ते विद्या यस्मिन् तस्मिन् मस्तिष्के हृदये वा प्रियाणि ज्ञानानि (अस्मिन् यज्ञे) अस्मिन् ज्ञानयज्ञे (पुरोहितौ-ऋत्विजौ) पुरःस्थितौ :समये ज्ञानदातारौ–अध्यापकोपदेशकौ (विदुष्टरा) अत्यन्तविद्वांसौ (द्रविणम्-आयजेथाम्) ज्ञानधनं समन्ताद् दत्तम् ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऊर्ध्वः-ग्रावा) उत्कृष्ट विद्वान् उपदेष्टा (बृहत्-समिद्धः-अग्निः) महान् ज्ञान से दीप्त अध्यापक (अदितेः-उपस्थे प्रिया धामानि) अखण्डित विद्यावाले विद्वान् के मस्तिष्क या हृदय में प्रिय ज्ञान (अस्मिन् यज्ञे) इस ज्ञानयज्ञ में (पुरोहितौ-ऋत्विजौ) सामने स्थित समय में ज्ञानदाता अध्यापक और उपदेशक (विदुष्टरा) अत्यन्त विद्वान् (द्रविणम्-आयजेथाम्) ज्ञानधन को भलीभांति प्रदान करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—उत्तम विद्यावाले अध्यापक और उपदेशक निरन्तर अपने मस्तिष्क या हृदय में विद्या को उत्तरोत्तर बढाते रहते हैं। वे दूसरों को भी निरंतर विद्यादान देते रहते हैं ॥ ७ ॥

तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं वरीय आ सीदत चकृमा वः स्योनम् ।
मनुष्वद्यज्ञं सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त ॥ ८ ॥

तिस्रः । देवीः । बर्हिः । इदम् । वरीयः । आ । सीदत । चकृम । वः । स्योनम् । मनुष्वत् । यज्ञम् । सुऽधिता । हवींषि । इळा । देवी । घृतऽपदी । जुषन्त ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तिस्रः-देवीः) हे तिस्रो देव्यः ! (इदं वरीयः-बर्हिः-आसीदत) अध्यात्मयज्ञस्यासने विराजध्वम् (वः-स्योनं चकृम) युष्मभ्यं सुखं कुर्मः (इळा देवी घृतपदी) स्तुतिः "ईड स्तुतौ" [अदादि०] कामना-प्रार्थना "दिवु क्रीडाविजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोदमदस्वप्न कान्तिगतिषु" [दिवादिः] 'कान्तिः

कामना प्रार्थनाऽत्र गृह्यते' तेजः स्वरूपा खलूपासना "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" [यजु० १६ । ६] (मनुष्वद् यज्ञं सुधिता हवींषि जुषन्त) मनुष्यवति यज्ञे 'विभक्तेलुक्, विभक्तिव्यत्ययश्च' मनुष्यस्यान्तरे वर्तमानेऽध्यात्मयज्ञे सुधितानि-सुहितानि मनांसि मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारान् सेवध्वम्-तदनुसरन्त्यो भवत ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(तिस्रः-देवीः) हे तीन देवियो ! (इदं वरीयः-बर्हिः-आसीदत) अध्यात्म-यज्ञ के आसन पर विराजमान होओ (वः स्योनं चक्रम) तुम्हारे लिए हम सुखसम्पादन करते हैं (इळा देवी घृतपदी) स्तुति, कामना-प्रार्थना, तेजः स्वरूप उपासना (मनुष्वत्-यज्ञम्) मनुष्य-वाले यज्ञ में (सुधिता हवींषि जुषन्त) अच्छे हित करने वाले मन बुद्धि चित्त अहङ्कारों को सेवन करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—अध्यात्मयज्ञ के साधने वाली तीन भावनायें या धारणायें जो कि स्तुति प्रार्थना और उपासना हैं। ये सफल तब हो सकती हैं जब इनके अनुसार मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार हों ॥ ८ ॥

देव॑ त्वष्ट॒र्यद्ध॑ चारु॒त्वमान॒ड्यदङ्गि॑रसा॒मभ॑वः सचा॒भूः ।
स दे॒वाना॒ं पाथ॒ उप॒ प्र वि॒द्वानु॒शन् य॑क्षि द्रविणोदः सुरत्नः ॥ ९ ॥

देव॑ । त्व॒ष्ट॒रिति॑ । यत् । ह॒ । चा॒रु॒ऽत्वम् । आन॑ट् । यत् । अङ्गि॑रसाम् । अभ॑वः । स॒चा॒ऽभूः । सः । दे॒वाना॑म् । पाथः॑ । उप॑ । प्र । वि॒द्वान् । उ॒शन् । य॒क्षि । द्र॒वि॒णः॒ऽदः॒ । सु॒ऽरत्नः॑ ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वष्टः-देव) हे जगद्रचयित देव परमात्मन् ! (यत्-ह चारुत्वम्-आनट्) यत् खलु कल्याणरूपत्वं श्रेष्ठत्वं प्राप्नोषि (यत्-अङ्गिरसां सचाभूः-अभवः) यच्च अङ्गिनं त्वां परमात्मानं स्वस्मिन् रसयन्ति तेषां विदुषाम् "अङ्गिरसो विद्वांसः" [ऋ० ३ । ३१ । १६] सहयोगी भवसि (सः) स त्वम् (द्रविणोदः) हे धनदः ! (सुरत्नः) सुरमणीय भोगवान् सन् (देवानां पाथः) तेषां विदुषां पथ्यं भोगम् (विद्वान्-उशन्) जानन् तथा च दातुं कामयमाना सन् (उप प्र यक्षि) उपप्रयच्छसि ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वष्टः-देव) हे जगत् के रचने वाले परमात्मदेव ! (यत्-ह चारुत्वम्-आनट्) जो तू कल्याणरूपता या श्रेष्ठता प्राप्त किये हुए है (यत्-अङ्गिरसां सचाभूः-अभवः) और जो तुझ परमात्मा को अपना अङ्गी बना कर रस लेते हैं उन विद्वानों का सहयोगी होता है—हो (सः) वह तू (द्रविणोदः) हे धन प्रदान करने वाले (सुरत्नः) सुरमणीय भोग वाला होता हुआ (देवानां पाथः) उन विद्वानों के पथ्य भोग को (विद्वान्-उशन्) जानता हुआ, देने की कामना करता हुआ (उप प्रयक्षि) देता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा जगत् का रचयिता जीवों के ऊपर अपनी दयारूप श्रेष्ठता को प्रकट करता है जो उपासक तुझे अपना अङ्गी बनाकर आनन्द रस लेते हैं उन्हें तू निश्चय अपना उपहार देता है॥ ९॥

वन॑स्पते रश॒नया॑ नि॒यूया॑ दे॒वानां॒ पाथ॒ उप॑ वक्षि वि॒द्वान् ।
स्वदा॑ति दे॒वः कृ॒णव॑द्ध॒वींष्यव॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी हवं॑ मे ॥ १० ॥

वन॑स्पते । र॒श॒नया॑ । नि॒ऽयूय॑ । दे॒वाना॑म् । पाथः॑ । उप॑ । व॒क्षि । वि॒द्वान् । स्वदा॑ति । दे॒वः । कृ॒णव॑त् । ह॒वींषि॑ । अव॑ताम् । द्यावा॑पृ॒थि॒वी इति॑ । हव॑म् । मे॒ ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वनस्पते) हे वननीय सुखविशेषस्य पालक ! परमात्मन् त्वम् (रशनया) व्यापनशक्त्या (नियूय) तन्नियन्त्रय तत्र (देवानां पाथः-विद्वान्-उपवक्षि) विदुषां भोगं जानन्-उपवहसि प्रापयसि (देवः-हवींषि कृणवत्) सः परमात्म-देवः, अन्नादीनि-उत्पादयत् (स्वदाति) जीवान् स्वादयति भोजयति (द्यावापृथिवी मे हवम्-अवताम्) द्यावापृथिवीमयं जगत् खलु मे तद् भोज्यं रक्षतु ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(वनस्पते) हे वननीय सुखविशेष के रक्षक परमात्मन् ! तू (रशनया) व्यापनशक्ति से (नियूय) उसे नियन्त्रित कर (देवानां पाथः) विद्वानों के भोग को (विद्वान्-उपवक्षि) जानता हुआ प्राप्त कराता है (देवः-हवींषि कृणवत्) वह परमात्मदेव अन्न आदि को उत्पन्न करता है (स्वदाति) और जीवों को स्वाद से खिलाता है (द्यावापृथिवी मे हवम्-अवताम्) द्यावापृथिवीमय जगत् मेरे भोज्य की रक्षा करे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा प्राणियों के भोग की रक्षा करता है। अपनी व्यापनशक्ति से उसे नियन्त्रित करके विद्वानों तक पहुंचाता है और प्राणियों को भोग्यपदार्थ प्रदान करता है। अन्नादि उत्पन्न करके खिलाता है ॥ १० ॥

आग्ने॑ वह॒ वरु॑णमि॒ष्टये॑ न॒ इन्द्रं॑ दि॒वो म॒रुतो॑ अ॒न्तरि॑क्षात् ।
सीद॑न्तु ब॒र्हिर्विश्व॒ आ यज॑त्राः॒ स्वाहा॑ दे॒वा अ॒मृता॑ मादयन्ताम् ॥ ११ ॥

आ । अग्ने॒ । व॒ह॒ । वरु॑णम् । इ॒ष्टये॑ । नः॒ । इन्द्र॑म् । दि॒वः । म॒रुतः॑ । अ॒न्तरि॑क्षात् । सीद॑न्तु । ब॒र्हिः । विश्वे॑ । आ । यज॑त्राः । स्वाहा॑ । दे॒वाः । अ॒मृताः॑ । मा॒द॒य॒न्ता॒म् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! त्वम् (नः-इष्टये) अस्माकमिष्टसुखप्राप्तये "इष्टये सुखसिद्ध्यै" [ऋ० १ । ३० । १२ दयानन्दः] (दिवः-वरुणम्-इन्द्रम्-अन्तरिक्षात्-मरुतः-आवह) मेघ मण्डलाज्जलं विद्युतं प्रापय तथाऽन्तरिक्षात्-मरुतः-वायून् वृष्टिहेतून् प्रापय-प्रेरय (विश्वेयजत्राः स्वाहा-बर्हिः-आसीदन्तु) सर्वे

याजका यजनीयाः पूज्या विद्वांसो होमकरणाय यज्ञस्थानं विराजन्ताम् (अमृताः-देवाः-मादयन्ताम्) जीवन्मुक्ताश्च विद्वांसो हर्षयन्तु ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! तू (नः-इष्टये) हमारे इष्टसुख की प्राप्ति के लिए (दिवः-वरुणम्-इन्द्रम्) मेघमण्डल से जल को, विद्युत को प्राप्त करा (अन्तरिक्षात्-मरुतः-आ वह) तथा अन्तरिक्ष से वृष्टि के हेतुरूप वायुओं को प्रेरित कर (विश्वे यजत्राः स्वाहा) सारे याजक यजनीय पूज्य विद्वान् अच्छे होम करने के लिए (बर्हिः-आसीदन्तु) यज्ञ स्थान में विराजमान हों (अमृताः-देवाः-मादयन्ताम्) जीवन्मुक्त विद्वान् हर्षित करें ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमात्मा हमारी इष्टसिद्धि के लिए मेघमण्डल से जल को बरसाता है और अन्तरिक्ष से वर्षा कराने वाली हवाओं को प्रेरित करता है। एतदर्थं याजकलोग यजन करते हैं और जीवन्मुक्त विद्वान् हर्षित करते हैं ॥ ११ ॥



एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहस्पतिः

देवता—ज्ञानम्

छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २ भुरिक् त्रिष्टुप् ३, ७ निचृत् त्रिष्टुप् । ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ५, ६, ८, १०, ११ विराट् त्रिष्टुप् ९ विराट् जगती ।

विषयः—अत्र सूक्ते वेदानां प्रकाशस्तत्प्रचारश्च, तदर्थज्ञानेन लौकिकेष्टसिद्धिरध्यात्मलाभश्च प्राप्यते तस्य सर्वज्ञानेभ्यो महत्त्वञ्चेत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में वेदो का प्रकाश तथा प्रचार करना उसके अर्थज्ञान से लौकिक इष्टसिद्धि अध्यात्म सुखलाभ, सब ज्ञानो से महत्ता, आदि विषय है ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

बृहस्पते । प्रथमम् । वाचः । अग्रम् । यत् । प्र । ऐरत । नामऽधेयम् । दधानाः । यत् । एषाम् । श्रेष्ठम् । यत् । अरिप्रम् । आसीत् । प्रेणा । तत् । एषाम् । निऽहितम् । गुहा । आविः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(बृहस्पते) वेदवाचः स्वामिन् ! परमात्मन् ! (वाचः-अग्रं प्रथमं नामधेयं यत्-दधानाः-ऐरत) वाण्याः-श्रेष्ठरूपं प्रथमं सृष्टेरारम्भे पदार्थजातस्य नामव्यवहार प्रदर्शकं वेदं धारयन्तः परमर्षयः प्रेरयन्ति प्रज्ञापयन्ति (यत्) यतः (एषाम्) परमर्षीणाम् (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठं कार्यम् (अरिप्रम्-आसीत्) पापरहितं निष्पापम् "रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः" [निरु० ४ । २१] आसीत् (प्रेणा-एषां गुहानिहितम्) तव-प्रेरणया, एषां परमर्षीणां गुहायां हृदये स्थितम् (आविः) तदाविर्भवति प्रकटी भवति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(बृहस्पते) हे वेदवाणी के स्वामी परमात्मन् (वाचः-अग्रं प्रथमम्) वाणी के श्रेष्ठरूप सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले (नामधेयं यत्-दधानाः प्रैरत) पदार्थमात्र के

नाम व्यवहार के प्रदर्शक वेद को धारण करते हुए परमर्षि प्रेरित करते हैं जनाते हैं (यत्) यतः (एषाम्) इन परम ऋषियों का (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ कार्य (अरिप्रम्-आसीत्) पापरहित-निष्पाप है (प्रेणा-एषां गुहा निहितम्) तेरी प्रेरणा से इन परमर्षियों के हृदय में प्रकट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—वेद का स्वामी परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में आदि ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में वेद का प्रकाश करता है जो पदार्थमात्र के गुण स्वरूप को बताता है उसे वे ऋषि दूसरों को जनाते हैं ॥ १ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

सक्तुम्ऽइव । तितउना । पुनन्तः । यत्र । धीराः । मनसा । वाचम् । अक्रत । अत्र । सखायः । सख्यानि । जानते । भद्रा । एषाम् । लक्ष्मीः । निऽहिता । अधि । वाचि ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सक्तुमिव तितउना पुनन्तः) सक्तु यथा परिपवनेन शोधयन्ति तद्वच्छोधयन्तः (धीरा मनसा यत्र वाचम्-अक्रत) "धीः-प्रज्ञानम्" धीः प्रज्ञानाम [निघ० ३ । ६] तद्वन्तः, यद्वा धी ध्यानं तद्वन्तो ध्यानावस्थां गतवन्तः परमर्षयः मनसाऽन्तः करणेन प्रकटी कुर्वन्ति (अत्र) तत्र (वाचि) वाग्विषये (सखायः) समानख्यानाः-वाग्विज्ञानेन सह सख्यमानुभविकं ज्ञानं प्राप्ताः (सख्यानि) यथार्थं तादूभाव्यं सञ्जानते (एषाम्-अधि वाचि भद्रा लक्ष्मीः-निहिता) एषां परमर्षीणां वाण्यां कल्याणकरी खल्वन्यैर्लक्षणीया वाञ्छनीया ज्ञानसम्पत्तिर्निहिता भवति । अर्थोऽयं निरुक्तानुसारी ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सक्तुम्-इव) सक्तु को (तितउना पुनन्तः) छालनी से शोधते हुए के समान (धीराः-मनसा) बुद्धिमान् या ध्यानशील मनसे (यत्रवाचम्-अक्रत) जहां वाणी को प्रकट करते हैं (अत्र) वहाँ वाग्विषय में (सखायः) वाग्विज्ञान के साथ समान ख्यान-आनुभविक ज्ञान को प्राप्त होते हैं (सख्यानि) यथार्थं तादूभाव्य को अनुभव करते हैं (एषाम्-अधिवाचि) इन परम ऋषियों की वाणी में (भद्रा लक्ष्मीः-निहिता) कल्याणकरी अन्यों से लक्षणीय ज्ञान-सम्पत्ति निहित होती है ॥ २ ॥

भावार्थ—परम ऋषि महानुभाव वाग्विषय को भली भांति शोधकर अपने अन्दर धारण करते हैं । वाणी के यथार्थ ज्ञान के साथ उनकी तन्मयता हो जाती है । ज्ञानसम्पत्ति की वे रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

यज्ञेन । वाचः । पदऽवीयम् । आयन् । ताम् । अनु । अविन्दन् । ऋषिषु । प्रऽविष्टाम् । ताम् । आऽभृत्य । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । ताम् । सप्त । रेभाः । अभि । सम् । नवन्ते ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वाचः-यज्ञेन पदवीयम्-आयन्) मन्त्रवाचो अध्यात्मयज्ञेन ध्यानेन पदशो ज्ञानक्रमम् "पदवी पदं वेत्ति" [निरु॰ १३ (१४) ७२ (१४)] पदपूर्वकाद् वी धातोर्यति गुणाभावश्छान्दसः (ताम्-ऋषिषुप्रविष्टाम्-अन्वविन्दन्) तां वाचं मन्त्रेषु प्रविष्टां लब्धवन्तः-प्राप्तवन्तः (ताम्-आभृत्य पुरुत्रा व्यदधुः) तां वाचं समन्ताद् धारयित्वा बहुषुदेशेषु विदधति प्रचारयन्ति (तां सप्त रेभाः-अभि सं नवन्ते) तां वाचं सप्त छन्दांसिविषयान् लक्ष्यीकृत्य स्तुवन्ति वर्णयन्ति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(वाचः) मन्त्र वाणियां (यज्ञेन) अध्यात्मयज्ञ के द्वारा-ध्यान से (पदवीयम्) पदों द्वारा ज्ञानक्रम को (आयन्) प्राप्त होती हैं (ताम्-ऋषिषु) उस वाणी को मन्त्रों में (प्रविष्टाम्-अन्वविन्दन्) प्रविष्ट हुई को प्राप्त करते हैं (ताम्-आभृत्य) उस वाणी को भली प्रकार धारण करके (पुरुत्रा व्यदधुः) बहुत देशों में प्रचारित करते हैं (तां सप्तरेभाः) उस वाणी को सात छन्द विषयों को लक्ष्य करके (अभि सं नवन्ते) स्तुति करते हैं, वर्णित करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवाणी एक एक पद के साथ अर्थ को रखती हुई सात छन्दों में-मन्त्रों में ज्ञान यज्ञ तथा अध्यात्म यज्ञ से प्रकाशित होती है। जिसका भिन्न-भिन्न देशों में ऋषियों द्वारा प्रचार हो जाता है ॥ ३ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

उत । त्वः । पश्यन् । न । ददर्श । वाचम् । उत । त्वः । शृण्वन् । न । शृणोति । एनाम् । उतो इति । त्वस्मै । तन्वम् । वि । सस्रे । जायाऽइव । पत्ये । उशती । सुऽवासाः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उत त्वः-वाचं पश्यन्-न ददर्श) अपि चैको वाचं लिपिरूपां दृष्ट्या पश्यन् न पश्यति लिपेर्ज्ञानाभावात् "त्वः-एकः" [निरु॰ १ । २०] (उत त्वः-एनां शृण्वन् न शृणोति) अपि चैकः शब्दरूपामेनां वाचं श्रोत्रेण शृण्वन् न शृणोति शब्दानां बोधाभावात् (उतो त्वस्मै तन्वंविसस्रे) अप्येकस्मै स्वात्मानम् "आत्मा वै तनुः" [श॰ ६ । ७ । २ । ६] विवृणुते-उद्घाटयति ज्ञान कारणात् (पत्ये जाया-इव-उशती सुवासाः) पत्ये या जाया कल्याणवस्त्रा कामयमाना-गार्हस्थ्य-धर्मस्यावसरे स्वशरीरं विवृणुते-उद्घाटयति । तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(उत त्वः) तथा कोई एक (वाचं पश्यन्) लिपिरूप वाणी को आंख से देखता हुआ (न पश्यति) नहीं देखता है लिपि का ज्ञान न होने से (उत-त्वः) तथा कोई एक (एनां शृण्वन्) इस शब्दरूप वाणी को सुनाता हुआ (न शृणोति) नहीं सुनता है, अर्थ ज्ञान न होने से (उत-उ-त्वस्मै) और किसी एक के लिए (तन्वं विसस्रे) अपने आत्मा को खोल देती है—प्रकट करती है, ज्ञान के कारण से (पत्ये जाया-इव) पति के लिये पत्नी जैसे (उशती सुवासाः) अच्छे वस्त्र धारण किये हुए गृहस्थ धर्म की कामना करती हुई अपने शरीर को खोल देती है प्रकट करती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वाणी को लिपिरूप में देखता हुआ भी लिपि ज्ञान रहित नहीं देखता है और कोई अर्थज्ञान शून्य कानों से वाणी को सुनता हुआ नहीं सुनपाता किन्तु ज्ञानवान् मनुष्य के लिए वाणी अपने सार्थ स्वरूप को ऐसे खोल कर रखती है, जैसे कोई सुभूषित स्त्री अपने को खोलकर रख देती है गृहस्थ सुख के लिए ॥ ४ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ५ ॥

उत । त्वम् । सख्ये । स्थिरऽपीतम् । आहुः । न । एनम् । हिन्वन्ति । अपि । वाजिनेषु । अधेन्वा । चरति । मायया । एषः । वाचम् । शुश्रुऽवान् । अफलाम् । अपुष्पाम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उत त्वं सख्ये) अप्येकमर्थज्ञं वाक्सख्ये-वाचासह ज्ञानेन-तादृभाव्यं प्राप्ते देवसख्ये वा (स्थिरपीतम्-आहुः) स्थिरं स्वात्मनि धारितं कथयन्ति (वाजिनेषु-एनं न-अपि हिन्वन्ति) वाज्-इनेषु मन्त्र वाचो ये इनाः स्वामिनो देवास्तेषु यद्वा वाग्ज्ञेयेषु प्रसङ्गेषु केऽपि न प्राप्नुवन्ति (अधेन्वा मायया-एष चरति) वाक्प्रतिरूपया धेनुरूपयेव चरति विचरति पठति (वाचम्-अफलाम्-अपुष्पां शुश्रुवान्) यो वाचं पुष्पफलरहितामर्थशून्यां श्रुतवान् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(उत त्वं सख्ये) किसी एक अर्थ जानने वाले—वाणी के साथ ज्ञान से समानता को प्राप्त कर लेने पर या विद्वानों के साथ मित्रता प्राप्त कर लेने पर (स्थिर पीतम्-आहुः) स्वात्मा में धारण किया हुआ कहते हैं (वाजिनेषु) वाणी के स्वामी विद्वानों में या वाणी के ज्ञान प्रसङ्गों में (एनं-न-अपि हिन्वन्ति) इसे कोई भी नहीं प्राप्त करते (अधेन्वा मायया-एष चरति) वाणी के प्रतिरूप वाणी जैसी के साथ विचरता है उसे ऐसे (वाचम्-अफलाम्-अपुष्पां शुश्रुवान्) जो वाणी को पुष्प फलरहित अर्थात् अर्थशून्य सुनता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो वाणी के साथ अर्थ ज्ञान से मित्रता बनाता है अथवा विद्वानों से वाणी के अर्थों को जानता है उसे वाणी के लाभ को प्राप्त हुआ कहते हैं और जो वाणी के अर्थ को नहीं जानता वह केवल शब्द रूप बोलता है । वह वाणी के प्रतिरूपक काष्ठ की गौ के समान व्यवहार करता है ॥ ५ ॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ६ ॥

यः । तित्याज । सचिऽविदम् । सखायम् । न । तस्य । वाचि । अपि । भागः । अस्ति । यत् । ईम् । शृणोति । अलकम् । शृणोति । नहि । प्रऽवेद । सुऽकृतस्य । पन्थाम् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः सचिविदं सखायं तित्याज) यो जनः सहायतां प्रापयितारं "षच समवाये" [भ्वादि०] ततः इन् औणादिकः सखि भूतं वेदं त्यजति (तस्य वाचि-अपि भागः-न-अस्ति) तस्य कथनेऽपि कथनलाभो न भवति (यत्-ईम् शृणोति-अलकं शृणोति) यत्खलु शृणोति पठति सो अलीकं तुच्छं शृणोति "ईकारस्थाने ऽकारश्छान्दसः (सुकृतस्यपन्थां नहि प्रवेद) वास्तविकस्य लाभस्य पन्थानं न प्रवेत्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो जन (सचिविदं सखायम्) सहायता देने वाले साथी मित्र रूप वेद को (तित्याज) त्यागता है (तस्य) उसका (वाचि-अपि) वाणी में—कथन में भी (भागः-नअस्ति) लाभ नहीं होता है (यत्-ईम्-शृणोति) जो वह सुनता है, पढ़ता है (अलकं शृणोति) अलीक—तुच्छ सुनता है, पढ़ता है (सुकृतस्य पन्थाम्) वास्तविक ज्ञान के मार्ग को (नहि प्रवेद) नहीं जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—वेद मानव का सच्चा साथी है वह विपत्ति और सम्पत्ति दोनों को सुझाता है जो इसे त्याग देता है उसके कथन में और सुनने में कुछ सार नहीं है। वह मानव जीवन के मार्ग से विचलित रहता है ॥ ६ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥

अक्षण्ऽवन्तः । कर्णऽवन्तः । सखायः । मनःऽजवेषु । असमाः । बभूवुः । आदघ्नासः । उपऽकक्षासः । ऊँ इति । त्वे । ह्रदाःऽइव । स्नात्वाः । ऊँ इति । त्वे । ददृश्रे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः) अक्षिमन्तः कर्णवन्तः समानख्यानाः समानरूपाः सन्तः (मनो जवेषु-असमाः- बभूवुः) मनसो वेगेषु व्यापारेषु खल्वसमानाः-भिन्न भिन्न प्रवृत्तयो भवन्ति, तत्र (आदघ्नासः) आस्यदघ्नाः-मुखप्रमाणाः (उपकक्षासः) कक्षापर्यन्तप्रमाणाः (उ त्वे) एके खलु (ह्रदा-इवस्नात्वाः-ददृश्रे). जलाशये यथा स्नातुं योग्या एके दृश्यन्ते। इति ज्ञानवतां गतयः ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः) आंखवाले कानवाले समानरूप वाले होते हुए (मनोजवेषु) मन के वेगों–व्यापारों में (असमाः बभूवुः) असमान अर्थात् भिन्न भिन्न प्रवृत्ति वाले होते हैं, उनमें (आदघ्नासः) मुख प्रमाण वाले (उपकक्षासः) कक्षाप्रमाण वाले (उ त्वे) कुछ एक (ह्रदा-इव स्नात्वाः दद्दश्रे) जलाशय में जैसे स्नान करने योग्य दिखलायी पड़ते हैं, ये ज्ञानवाले मनुष्यों की गतियां हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—आंख वाले कानवाले बाहरी आकृति में समान दीखते हुए भी मन के वेगों अर्थात् मानसिक विचारों प्रवृत्तियों में भिन्न भिन्न होते हैं भिन्न भिन्न ज्ञान के कारण जैसे किसी एक जलाशय में किसी मनुष्य के कक्षा तक पानी आता है किसी के मुख तक कोई पूरा डूब जाता है भिन्न भिन्न शरीरों के कारण । इसी प्रकार ज्ञान की भिन्न भिन्न गतियां हैं ॥ ७ ॥

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

ह्रदा । तष्टेषु । मनसः । जवेषु । यत् । ब्राह्मणाः । सम्ऽयजन्ते । सखायः । अत्र । अह । त्वम् । वि । जहुः । वेद्याभिः । ओहऽब्रह्माणः । वि । चरन्ति । ऊँ इति । त्वे ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मनसः-जवेषु) मनसां प्रजवेषु मनांसि प्रजवन्ति मननं कुर्वन्ति येषां तेषु वेदार्थेषु, तदा (ह्रदा तष्टेषु) हृदयस्थबुद्ध्या निष्पादितेषु निदिध्यासितेषु वेदार्थेषु (सखायः-ब्राह्मणाः) समानख्यानाः समानज्ञानवन्तो ब्राह्मणाः (संयजन्ते) वेदार्थेषु सङ्गच्छन्ते वेदार्थेषु साङ्गत्यं भजन्ते (अत्र-अह-त्वं विजहुः) अत्र वेदार्थ ज्ञानप्रसङ्गेऽसखायमब्राह्मणमज्ञातारं खलु ते विद्वांसः सङ्गताः सर्वथा त्यजन्ति तं नाद्रियन्ते, यतः (वेद्याभिः-त्वे-ओहब्रह्माणः-विचरन्ति-उ) वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिरेके येषामूहमूहनीयं ब्रह्म वेदज्ञानं ते वेदार्थज्ञानेषु नितान्तं विचरन्ति-प्रविशन्ति । अर्थोऽयं निरुक्तानुसारी [निरु० १३ । १३] ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(मनसः-जवेषु) मन के वेगों में (ह्रदा तष्टेषु) हृदयस्थबुद्धि से निष्पादितनिश्चित किये हुये वेदार्थों में (सखायः-ब्राह्मणाः) समान ज्ञान वाले विद्वान् (संयजन्ते) सङ्गति को प्राप्त होते हैं (अत्र-अह-त्वं विजहुः) इस ज्ञान प्रसङ्ग में उस असखा–अब्राह्मण–अज्ञानी को विद्वान् लोग सर्वथा त्याग देते हैं उसे आदर नहीं देते हैं क्योंकि (वेद्याभिः) वेदितव्य-प्रवृत्तियों द्वारा (त्वे-ओहब्रह्माणः) कुछ एक ऊहनीय तर्कनीय वेदज्ञान जिनका है वे ऐसे (विचरन्ति-उ) वेदार्थ ज्ञान में विचरते है–प्रवेश करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—वेद का ज्ञान पवित्र मन और तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा साक्षात् होता है, जो ऊहा करने वाले विद्वान् हैं वे उसमें प्रवेश करते हैं अन्य अज्ञानी नहीं ॥ ८ ॥

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ९ ॥

इमे । ये । न । अर्वाक् । न । परः । चरन्ति । न । ब्राह्मणासः । न । सुतेऽकरासः । ते । एते । वाचम् । अभिपद्य । पापया । सिरीः । तन्त्रम् । तन्वते । अप्रऽजज्ञयः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इमे ये) एते ये (अर्वाङ् न परः-न चरन्ति) अवरलोक शास्त्रं न तथा परलोकशास्त्रमध्यात्मशास्त्रं न चरन्ति-आचरन्ति-जानन्ति (ब्राह्मणासः-न) ते ब्राह्मणा न (सुतेकरासः-न) उपासनारसनिष्पादका न भवन्ति (ते-एते पापया वाचम्-अभिपद्य) ते खल्वेतेऽज्ञानरूपपापभावनया वाचं प्राप्यापि न सम्यक्फलं प्राप्नुवन्ति किन्तु (अप्रजज्ञयः) असम्यग्ज्ञानिनः-यथार्थ ज्ञानरहिताः "प्र पूर्वकात्-ज्ञा धातोः किः प्रत्ययः" "आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च" [अष्टा० ३ । २ । १७१] सन्त (सिरीः-तन्त्रं तन्वते) बन्धनरूपनाडीमन्तः सन्तः "सिरासु बन्धनरूपासु नाडीषु" [ऋ० १ । १२६ । ११ दयानन्दः] "छन्दसीवनिपौ मत्वर्थे वाः" कुटुम्बं सन्तानवंशम्" तन्त्रं कुटुम्बधारणम्" [यजु० १६ । ८७ दयानन्दः] विस्तारयन्ति यद्वा शरीरमेव वर्धयन्ति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(इमे ये) ये जो (अर्वाङ्-न परः-न चरन्ति) इस लोक के शास्त्र को नहीं वैसे परलोकशास्त्र–अध्यात्मशास्त्र को नहीं जानते हैं (ब्राह्मणासः-न) वे ब्राह्मण नहीं हैं (सुतेकरासः-न) उपासनारसनिष्पादक भी नहीं है (ते-एते प्रापया वाचम्-अभिपद्य) वे ये अज्ञानरूप पापभावना से वेदवाणी को प्राप्त करके भी अच्छा फल नहीं प्राप्त करते हैं, किन्तु (अप्र-जज्ञयः) अयथार्थ ज्ञानी–यथार्थज्ञान रहित होते हुए (सिरीः-तन्त्रं-तन्वते) बन्धन रूप नाडी वाले कुटुम्ब–सन्तान वंश का विस्तार करते हैं या अपने शरीर को बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस लोक के शास्त्र को नहीं जानते तथा न परलोकशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र को जानते हैं वे नं ब्राह्मण हैं न उपासक हैं किन्तु अज्ञानरूप पाप से युक्त हुए केवल सन्तान वंश का या अपने शरीर का ही विस्तार करते हैं ॥ ९ ॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ १० ॥

सर्वे । नन्दन्ति । यशसा । आऽगतेन । सभाऽसहेन । सख्या । सखायः । किल्बिषऽस्पृत् । पितुऽसनिः । हि । एषाम् । अरम् । हितः । भवति । वाजिनाय ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सर्वे सखायः) सर्वे समानख्यानाः-वेद ज्ञानेनसमानाः-विद्वांसः (सभासहेन) सभां विद्वत्सभां यः सहते तत्र ज्ञान प्रावल्येन प्रभावयति तेन (यशसा) यशस्विना "मतुब्लोपश्छान्दसः" (आगतेन) प्राप्तेन (सख्या) समानख्यानवता वेदज्ञानहस्तगतेन महाविदुषा (नन्दन्ति) आनन्दमनुभवन्ति (किल्बिषस्पृत्-पितुषणिः) एतेषां मध्ये पापकारिणा सह स्पर्द्धते स किल्विषस्पृत्-ज्ञानान्नं सम्भाजकः "पितुः-अन्ननाम" [निघ० २ । ७] (वाजिनाय-अरं भवति) वाग्ज्ञेयाय "वाजिनेषु वाग्ज्ञेयेषु" [निरु० १ । २०] समर्थो भवति ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(सर्वे सखायः) ज्ञान से समानयोग्यता वाले विद्वानों (सभासहेन) विद्वत्सभा को प्रभावित करने वाले ज्ञान से (यशसा) यशस्वी (आगतेन) प्राप्त—सख्या समानख्यान वाले-वेदज्ञान हस्तगत जिसके है ऐसे महान् विद्वान् के द्वारा (नन्दन्ति) आनन्द को अनुभव करते हैं इनके मध्य में (किल्बिषस्पृत् पितुषणिः) पापकारी के साथ स्पर्धा करता है ज्ञानान्नसम्भाजक (वाजिनाय-अरं भवति) वाग्ज्ञेय के लिये समर्थ होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदज्ञान के द्वारा विद्वानों की सभा को प्रभावित करता है, अन्य विद्वानों की योग्यता से लाभ उठाता है, अज्ञानरूप पाप से संघर्ष करता है वह वेदवाणी के ज्ञान में समर्थ होता है ॥ १० ॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ ॥

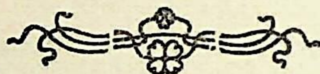
ऋचाम् । त्वः । पोषम् । आस्ते । पुपुष्वान् । गायत्रम् । त्वः । गायति । शक्वरीषु । ब्रह्मा । त्वः । वदति । जातऽविद्याम् । यज्ञस्य । मात्राम् । वि । मिमीते । ऊँ इति । त्वः ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वः) एकोविद्वान् (ऋचां पोषं पुपुष्वान्-आस्ते) ऋङ्मन्त्राणां पोषं ज्ञानं प्रवर्धनमनूपतिष्ठते (त्वः) एकः (शक्वरीषु गायत्रं गायति) शक्तिमतीषु गीतिष्वृक्षु "शक्वर्यः शक्तिमत्यः" [यजु० १० । ४ दयानन्दः] गातव्यं स्तोतव्यं परमात्मानं गायति स्तौति (त्वः-उ यज्ञस्य मात्रां विमिमीते) एकः खलु विद्वान् यजनीयस्य देवपूजासङ्गतिकरण दानस्य भागमवयवं सरणिं वा विशिष्टतया धारयति (त्वः) एकः (ब्रह्मा जातविद्यां वदति) ब्रह्मा चतुर्वेदवेत्ता "ब्रह्मा चतुर्वेदविज्जनः" [ऋ० १ । १६४ । ३५ दयानन्दः] वेदेषु प्रसिद्धां विद्यां प्रवदति ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वः) एक विद्वान् (ऋचां पोषं पुपुष्वान्-आस्ते) ऋग्मन्त्रों के पोष—ज्ञान को लेकर विराजता है (त्वः) कोई एक (शक्वरीषु गायत्रं गायति) शक्तिवाली ऋचाओं में गातव्य स्तोतव्य परमात्मा को गाता है स्तुति में लाता है (त्वः-उ) कोई एक विद्वान् (यज्ञस्य

मात्रां विभिमीते) यजनीय के भाग-अवयव सरणि को विशेषरूप से निर्धारित करता है (त्वः) एक विद्वान् (ब्रह्मा जातविद्यां वदति) चतुर्वेदवेत्ता वेदों में प्रसिद्ध विद्या का प्रवचन करता है ॥११॥

भावार्थ—वेदों में निष्णात विद्वान् कोई ऋग्मन्त्रों के ज्ञान का प्रवचन करता है कोई गाने योग्य मन्त्रों से परमात्मा का गुण गान करता है कोई मन्त्रों से यज्ञ की सरणि का विधान करता है और कोई चारों वेदों का वेत्ता वेदों की प्रसिद्धविद्या का व्याख्यान करता है ॥ ११ ॥



द्वासप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—आङ्गिरसो लौक्यो वा बृहस्पतिः, द्राक्षापर्णी अदितिर्वा ।

देवता—देवाः ।

छन्दः—१, ४, ६, अनुष्टुप् २ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ३, ५, ७ निचृदनुष्टुप् ८, ९ विराडनुष्टुप् ।

विषयः— अस्मिन् सूक्ते परमात्मना क्रमशः सृष्टिरचनं कृतमित्युपदिश्यते सृष्टिपदार्थानां लाभः कथं ग्राह्य इत्यपि चोपदिश्यते ।

इस सूक्त में परमात्मा द्वारा क्रमशः सृष्टिरचन तथा सृष्टि के पदार्थों का लाभ कैसे ग्रहण करना चाहिए इत्यादि उपदेश है ।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥

देवानाम् । नु । वयम् । जाना । प्र । वोचाम । विपन्यया । उक्थेषु । शस्यमानेषु । यः । पश्यात् । उत्ऽतरे । युगे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वयम्) अहं खलु (देवानां जाना) दिव्यपदार्थानां प्रादुर्भावान् "जनी प्रादुर्भावे" [दिवा०] ततो घञ्प्रत्ययः शसः स्थाने "सुपांसुलुक्पूर्वसवर्णा०" [अष्टा० ७ । १ । ३९] आकारादेशः (विपन्यया) विशेषेण पण्यया प्रज्ञया क्रियया वा "विपन्यया विशेषेण स्तुत्या प्रशंसितया प्रज्ञया क्रिया वा" [ऋ० ३ । २८ । ५ दयानन्दः] (नु प्रवोचाम) प्रवच्मि प्रकाशयामि 'उभयत्र बहुवचनमेकस्मिन्' 'अस्मदो द्वयोश्च' [अष्टा० १ । २ । ५९] (शस्यमानेषु-उक्थेषु) वर्ण्यमानेषु वेदवचनेषु मन्त्रेषु ये वर्णिताः सन्ति (यः पश्यात्-उत्तरे युगे) यो बृहस्पतिः-वेदविद्यास्वामीपरमात्मा पश्यति दर्शयति 'अन्तर्गतोणिजर्थः'-उत्तरे युगे क्रमशः पश्चात् काले च प्रादुर्भावाद्ये भवन्ति तानपि दर्शयति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वयम्) मैं (देवानां जाना) दिव्य पदार्थों के प्रादुर्भावों–उत्पत्तिक्रमों को (विपन्यया) विशेष स्तुति बुद्धि या क्रिया से (नु प्रवोचाम) अवश्य प्रवचन करता हूँ

(शस्यमानेषु-उक्थेषु) उच्चारणयोग्य वेदवचनों में जो वर्णित हैं (यः पश्यात्) जो बृहस्पति परमात्मा दर्शाता है (उत्तरे युगे) अगले समय में ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा दिव्य पदार्थों के उत्पत्ति क्रमों को वेदों में उत्तरोत्तर क्रम से जो वर्णन करता है उनका विद्वान् उपदेश करें ॥ १ ॥

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कुर्मारइवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥

ब्रह्मणः । पतिः । एता । सम् । कुर्मारःऽइव । अधमत् । देवानाम् । पूर्व्ये । युगे । असतः । सत् । अजायत ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्डस्यपालकः पतिश्च (कर्मारः-इव-एता समधमत्) शिल्पी लोहकार इव एतान् 'आकारादेशः' प्रादुर्भावरूपानङ्कुरान् सन्तापयति (देवानां पूर्व्ये युगे) दिव्यगुणानामादित्यादीनां पूर्वभवेकाले ततः (असतः-सत्-अजायत) अव्यक्तादुपादानाद् व्यक्तं सदात्मकं विकृतरूपं जायते ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(ब्रह्मणः-पतिः) ब्रह्माण्ड का पालक तथा स्वामी परमात्मा (कर्मारः-इव) लोहकार शिल्पी के समान (एता समधमत्) इन प्रादुर्भावरूप अंकुरों को सन्तापितकरता है (देवानां पूर्व्ये युगे) दिव्यगुणवाले सूर्यादि के पूर्व होने वाले काल में (असतः-सत्-अजायत) अव्यक्त उपादान से व्यक्त विकृतरूप जगत् उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त जगत् को उत्पन्न करता है। प्रथम प्रादुर्भूत होने वाले परमाणु रूप अङ्कुरों को तपाता है पुनः दिव्यगुण वाले सूर्यादि पदार्थों को उत्पन्न करता है ॥ २ ॥

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥

देवानाम् । युगे । प्रथमे । असतः । सत् । अजायत । तत् । आशाः । अनु । अजायन्त । तत् । उत्तानऽपदः । परि ॥ ३ ॥

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ ४ ॥

भूः । जज्ञे । उत्तानऽपदः । भुवः । आशाः । अजायन्त । अदितेः । दक्षः । अजायत । दक्षात् । ऊँ इति । अदितिः । परि ॥ ४ ॥

अनयोर्मन्त्रयोरेकवाक्यताऽस्त्यतः सहैव व्याख्यायेते—

संस्कृतान्वयार्थः—(देवानां प्रथमे युगे-असतः सत्-अजायत) दिव्यगुणानां सूर्यादीनां प्रथमेकाले-अव्यक्तात्-सदात्मकं व्यक्तरूपं जायते (तत् परि-उत्तानपदः) तत्पश्चात् खलु व्यक्तात्मकाद्विकृतेः-उत्तानपदः-संसारवृक्षो जायते (ततः-आशाः-अजायन्त) उत्तानपदः-संसारवृक्षात् खल्वाशा-दिशो जायन्ते "आशा दिङ्नाम" [निघ० १ । ६] (उत्तानपदः-भूः-जज्ञे) संसारवृक्षादनुभूमिः-पृथिवीलोकोजायते (भुवः-आशाः-अजायन्त) पृथिवीलोकात्-आशावन्तो जनाः जायमानाः प्राणिनो जायन्ते, एवम् (अदितेः-दक्षः-दक्षाद्-उ-अदितिः परि) अखण्डितेरग्नेः सूर्योऽग्निः खण्डो जायते, सूर्यादनन्तर-मदितिरुषा प्राक्तनी जायते ॥ ३, ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवानां प्रथमे युगे) दिव्यगुण वाले सूर्यादि के प्रथम सृष्टि काल में (असतः सत्-अजायत) अव्यक्त उपादान प्रकृति से सत्-व्यक्तरूप जगत् उत्पन्न होता है (तत्परि-उत्तानपदः) उसके पश्चात् व्यक्त विकृति से उत्तानपद-संसारवृक्ष उत्पन्न होता है (ततः-आशा-अजायन्त) फिर संसार वृक्ष से दिशायें उत्पन्न हुई हैं (उत्तानपदः-भूः-जज्ञे) संसार वृक्ष से पृथिवी लोक उत्पन्न होता है (भुवः-आशाः-अजायन्त) पृथिवीलोक से आशा वाले-कामना वाले प्राणी उत्पन्न हुए इस प्रकार (अदितेः-दक्षः) अखण्ड अग्नि से खण्डरूप सूर्य उत्पन्न हुआ (दक्षात्-उ-अदितिः-परि) सूर्य से उषा उत्पन्न होती है ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—अव्यक्त उपादान प्रकृति से व्यक्त विकृति रूप उत्पन्न होता है फिर संसार उत्पन्न होता है पुनः दिशायें प्रकट होती हैं पश्चात् पृथिवी लोक, पृथिवी लोक से कामना वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार आरम्भसृष्टि में अखण्ड अग्नि से सूर्य और सूर्य से उषा का प्रकाश होता है ॥ ३, ४ ॥

अदि॑ति॒र्ह्यज॑निष्ट॒ दक्ष॒ या दु॑हि॒ता तव॑ ।
तां दे॒वा अन्व॑जायन्त भ॒द्रा अ॒मृत॑बन्धवः ॥ ५ ॥

अदि॑तिः । हि । अज॑निष्ट । दक्ष॑ । या । दु॒हि॒ता । तव॑ । ताम् । दे॒वाः । अनु॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ । भ॒द्राः । अ॒मृत॑ऽबन्धवः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(दक्ष या-अदितिः-तव दुहिता-अजनिष्ट) हे दक्ष-सूर्य ! या तव दुहितापुत्री खल्वदितिः-प्रभा-उषोरूपा जायते (ताम्-अनु भद्राः-अमृतबन्धवः-देवाः-अजायन्त) तामनुलक्ष्य कल्याणकारिणः-अमृतबन्धनास्तवामृतरूपस्य सम्बन्धिनः प्रकाशमाना रश्मयो जायन्ते ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(दक्ष) हे सूर्य ! (या-अदितिः) जो उषारूप प्रभा (तव दुहिता) तेरी पुत्री (अजनिष्ट) उत्पन्न होती है (ताम्-अनु) उसे लक्ष्य करके (भद्राः-अमृतबन्धवः) कल्याणकारी अमृत सम्बन्धी (देवाः-अजायन्त) प्रकाशमान रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्योदय होने के पश्चात् आकाश में उषा-पीलिमा प्रथम प्रातःकाल प्रकाशित होती है पश्चात् प्रकाश करती हुई सूर्य की रश्मियाँ आतीं हैं यह प्रातःकाल का स्वरूप है ॥ ५ ॥

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥ ६ ॥

यत् । देवाः । अदः । सलिले । सुऽसंरब्धाः । अतिष्ठत । अत्र । वः । नृत्यताम्ऽइव । तीव्रः । रेणुः । अप । आयत ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(देवाः-यत्-अदः सलिले) हे प्रकाशमाना रश्मयः ! यदा अमुष्मिन् 'अदस् शब्दात्-'ङि' विभक्तेलुक्' "सुपां सुलुक्" [अष्टा० ७ । १ । ३६] अन्तरिक्षे "सलिलस्य-अन्तरिक्षस्य" [ऋ० ७ । ४६ । १ दयानन्दः] (सुसंरब्धाः-अतिष्ठत) दृढत्वेन सम्यक् कार्ययुक्ताः स्थिता आसन् (अत्र) अस्मिन्नवसरे (नृत्यताम्-इव वः) नृत्यताम्-इव सर्वत्रविचरतां युष्माकम् (तीव्रः-रेणुः-अपायत) तीव्रः प्रभावशाली तापः-अपगच्छति लोकेष्वपसरति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमान रश्मियो ! किरणो ! (यत्) जब (अदः सलिले) उस अन्तरिक्ष में (सुसंरब्धाः-अतिष्ठत) दृढ़ता से सम्यक् कार्य युक्त स्थिर हो जाते हैं । (अत्र) इस अवसर पर (नृत्यताम्-इव वः) नाचते हुए जैसे सर्वत्र विचरते हुए तुम्हारा (तीव्रः-रेणुः-अपायत) प्रभावशाली ताप पृथिवी आदि लोकों पर पड़ता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरणें जब अन्तरिक्ष में दृढ़ हो जाती हैं तो सर्वत्र नाचती हुई सी सर्वत्र विचरती है तो इनका प्रभावशाली ताप पृथिवी आदि लोकों पर पड़ता है ॥ ६ ॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ७ ॥

यत् । देवाः । यतयः । यथा । भुवनानि । अपिन्वत । अत्र । समुद्रे । आ । गूळ्हम् । आ । सूर्यम् । अजभर्तन ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्-यथा यतयः-देवाः) यतो यथा परस्परं सङ्गच्छमाना मेघाः "यतते गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (भुवनानि-अपिन्वत) लोकान् जलवर्षणेन सिञ्चन्ति तथा (अत्र समुद्रे) अस्मिन्-अन्तरिक्षे "समुद्रः-अन्तरिक्षनाम" [निघ० १ । ३] (सूर्यम्:आगूळम्) समन्तात् सृष्टेरारम्भे तमसा गूढं सूर्यम् (अजभर्तन) प्रकटयन्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्-यथा यतयः-देवाः) जबकि जैसे परस्पर संगत होते हुए मेघ (भुवनानि-अपिन्वत) जल वर्षा ने के द्वारा लोकों को सींचते हैं वैसे (अत्र समुद्रे) इस अन्तरिक्ष में (सूर्यम्-आगूळम्) सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार से आच्छादित सूर्य को सूर्य की किरणें पृथक् कर प्रकट करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मेघ परस्पर मिलकर वर्षा से लोकों को सींचते हैं सूर्य की किरणें सूर्य को प्रकाशित करतीं हैं ॥ ७ ॥

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि ।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥ ८ ॥

अष्टौ । पुत्रासः । अदितेः । ये । जाताः । तन्वः । परि । देवान् । उप । प्र । ऐत् । सप्तऽभिः । परा । मार्ताण्डम् । आस्यत् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अदितेः-अष्टौ पुत्रासः) अखण्डाग्नेरादिसृष्टौ वर्तमानस्याग्नेः-पुत्रा मित्रादयो यद्वा-उषसोऽष्टौ प्रहरनामानः (तन्वः-परि जाताः) तताया अनन्तरमेव प्रकटीभूताः (सप्तभिः-देवान्-उपप्रैत्) सप्तभिस्तु द्युलोकस्थान् गोलान् "देवो द्युस्थानो भवतीति वा" [निरु० ७ । १ । १५] उपयोजयति (मार्तण्डं परा-आस्यत्) मार्तण्ड नामकं सूर्यं प्रहरं वाऽष्टमं प्रकटयति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(अदितेः) आरम्भ सृष्टि में वर्तमान अखण्ड अग्नि के (अष्टौ पुत्रासः) मित्रादि आठपुत्र अथवा अदिति–उषा के आठप्रहर हैं (तन्वः-परि जाता) उस फैली हुई अग्नि या उषा के पश्चात् प्रकट हुए (सप्तभिः-देवान्-उपप्रैत्) सात लोकों या प्रहरों को उपयुक्त करती है (मार्तण्डं परा-आस्यत्) आठवें मार्तण्ड नामक सूर्य या प्रहर को प्रधान रूप से प्रकाशित करती है प्रकट करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में अखण्ड अग्नि से सूर्यादि खण्डरूप गोले उत्पन्न होते हैं प्रधान गोला मार्तण्ड नाम का है एवं प्रातःकाल की उषा से प्रहरों का विकास होता है ॥ ८ ॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ ९ ॥

सप्तऽभिः । पुत्रैः । अदितिः । उप । प्र । ऐत् । पूर्व्यम् । युगम् । प्रऽजायै । मृत्यवे । त्वत् । पुनः । मार्ताण्डम् । आ । अभरत् ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सप्तभिः पुत्रैः-अदितिः) सप्तभिः पुत्रैर्मित्रादिभिः, प्रहरैर्वाऽऽरम्भसृष्टौ भवोऽखण्डोऽग्निः प्रातस्तनी पुरातनी खलूषा वा (पूर्व्यं युगम्-उपप्रैत्) आरम्भसृष्टिकालं प्रातः-कालं वा–उपगच्छति उपगता भवति (प्रजायै मृत्यवे त्वत्) प्राणीमात्राय प्राणीमात्रस्य "षष्ठ्यर्थे चतुर्थी बहुलमित्यपि" मृत्यवे च अथापि समुच्चयार्थे त्वत् "पर्याय इव त्वदाश्विनं च" [निरु० १।१०] कालगणनया (पुनः-मार्तण्डम्-आभरत्) पुनः पुनरुदयमानं सूर्यं प्रातः कालकं प्रहरं वा धारयति ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(सप्तभिः पुत्रैः-अदितिः) सात पुत्रों मित्रादि सूर्यनामक या प्रहरों के द्वारा प्रारम्भ सृष्टि में होने वाले अखण्ड अग्नि या प्रातःकाल की उषा (पूर्व्यं युगम-उपप्रैत्) आरम्भ सृष्टि के समय को वा प्रातःकाल को उपगत होती है (प्रजायै मृत्यवे त्वत्) प्राणीमात्र के और मृत्यु के लिये (पुनः-मार्तण्डम्-आभरत्) पुनः पुनः उदय होते हुए सूर्य को या प्रातःकाल वाले प्रहर को धारण करती है ॥ ९ ॥

भावार्थ—आरम्भसृष्टि में अखण्ड अग्नि खण्डरूप मित्रादिनामक सूर्यभेदों से अथवा प्रातःकाल की उषा प्रहरों के साथ आती है प्रथम प्रथम सूर्य या प्रहरों को प्रकट करती है ॥ ९ ॥



त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गौरिवीतिः ।

देवता—इन्द्रः ।

छन्दः—१, २, ५ त्रिष्टुप् ३, ४, ८, १० पादनिचृत्त्रिष्टुप् ६ विराट् त्रिष्टुप् ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ९ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् ११ निचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—सूक्ते अस्मिन् राजधर्म उच्यते, राजा कथं राष्ट्रं चालयेत्-कथं च सभावर्गेण सेना वर्गेण च सह प्रजारक्षणं कुर्या-दित्यादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में राजधर्म कहा गया है, राजा कैसे राष्ट्र चलावे और कैसे सभावर्ग से सेनावर्ग के साथ प्रजारक्षण करे इत्यादि विषय हैं ।

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ १ ॥

जनिष्ठाः । उग्रः । सहसे । तुराय । मन्द्रः । ओजिष्ठः । बहुलऽअभिमानः । अवर्धन् । इन्द्रम् । मरुतः । चित् । अत्र । माता । यत् । वीरम् । दधनत् । धनिष्ठा ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उग्रः) उद्गूर्णबलः प्रतापी (मन्द्रः) हर्षप्रदः-आनन्ददाता (ओजिष्ठः) अतिशयेनौजस्वी बली (बहुलाभिमानः) बहुप्रकारेणात्मानमभिमन्यमानः-प्रतिष्ठावान् (सहसे तुराय) स्वसैन्यबलरक्षणाय तथा शत्रुबलस्य नाशाय (जनिष्ठाः) हे-इन्द्र राजन् ! त्वं जायसे (इन्द्रं मरुतः-चित्-अवर्धन्) त्वां राजानं सैनिकाः-अपि "असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तांविध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ।" [अथर्व ३ । २ । ६] महासेनाध्यक्षादय "मरुतः सेनाध्य-क्षादयः" [ऋ० १ । ३७ । ११ दयानन्दः] वर्धयन्ति (अत्र माता यत्-वीरं दधनत्-धनिष्ठा) अत्र राष्ट्रनिमित्तं यतस्त्वां वीरं धारयति सामाता राष्ट्रभूमिर्वा साऽतिधन्या "धनिष्ठा अतिशयेन धनिनी" [यजु० ३। ६४ दयानन्दः]॥ १ ॥

३

भाषान्वयार्थ—(उग्रः) उभरे हुए बलवाला-प्रतापी (मन्द्रः) हर्षप्रद-आनन्ददाता (ओजिष्ठः) अत्यन्त ओजस्वी (बहुलाभिमानः) बहुत प्रकार से आत्म गौरव वाला-प्रतिष्ठावान् (सहसे तुराय) अपने सैन्यबल के रक्षण के लिये और शत्रुबल का नाश करने के लिये (जनिष्ठाः) हे राजन् ! तू उत्पन्न हुआ है (इन्द्रं मरुतः-चित्-अवर्धन्) तुझ राजा को सैनिक अथवा सेनाध्यक्षादि भी बढ़ाते हैं-बढ़ावा देते हैं (अत्रमाता) यहाँ राष्ट्र निमित्त तेरी माता या राष्ट्रभूमि (यत्-वीरं-दधनत्) जिससे कि तुझ वीर को धारण करती है (धनिष्ठा) वह अतिधन्य है या अतिधनी है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रतापी स्वात्मगौरववाला अत्यन्त ओजस्वी अपने बल की रक्षा और शत्रुबल का नाश करने वाला उत्तम सैनिक और सेनाध्यक्षों से युक्त होना चाहिए ॥ १ ॥

द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम् ।
अभीवृतेव ता महापदेन ध्वान्तात्प्रपित्वादुदरन्त गर्भाः ॥ २ ॥

द्रुहः । निऽसत्ता । पृशनी । चित् । एवैः । पुरु । शंसेन । वृवृधुः । ते । इन्द्रम् । अभिवृताऽइव । ता । महाऽपदेन । ध्वान्तात् । प्रऽपित्वात् । उत् । अरन्त । गर्भाः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(द्रुहः-पृशनीनिषत्ताचित्) शत्रूणां द्रोग्धूराज्ञः स्पर्शयित्री-सम्पृक्ता सेना नियताऽपि तथा (एवैः) तत्रसेनायां एवाः "विभक्तिव्यत्ययः" युद्धे गमन समर्थाः सैनिकाः (ते-इन्द्रं पुरु शंसेन वावृधुः) ते खलु राजानं बहुप्रकारेण प्रशंसनेन वर्धयन्ति (ता-गर्भाः) ताः 'जसो लुक्-लिङ्गव्यत्ययश्च' 'प्रजावैः पशवोगर्भः' [श० १३ । २ । ८ । ५] (प्रपित्वात्-ध्वान्तात्-उदरन्त) प्राप्ताद्-आध्वस्तात् संकटात् "ध्वान्तमाध्वस्तम्" [निरु० ४ । ३] खलूद्गमयन्ति अन्तर्गतोणिजर्थः (महापदेन-अभीवृता-इव) महदाश्रयेणाभिरक्षिता सती-इव पदपूरणे 'इवोऽपिदृश्यते' [निरु० १ । १०] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(द्रुहः) शत्रुओं के प्रति द्रोह करने वाले राजा की (पृशनी) स्पर्श करने वाली-संपृक्त सेना (निषत्ताचित्) नियत हुई भी, तथा (एवैः) उसमें, युद्ध में गमन समर्थ सैनिक (ते) वे (इन्द्रम्) राजा को (पुरुशंसेन) बहुतप्रशंसन से गुणगान से (वावृधुः) बढ़ाते हैं (ता गर्भाः) उन गर्भधारण करनेवाली प्रजाओं को (प्रपित्वात्-ध्वान्तात्) प्राप्त आध्वस्त-नष्ट करने वाले संकट से (उदरन्त) उठाते हैं (महापदेन) महान् आशय के द्वारा (अभिवृता-इव) अभिरक्षित रहती है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा की सेना में सैनिक जन युद्ध में सैनिक जन युद्ध में प्रगति शील शत्रुनाशक होवें। राजा की प्रजा को संकट से बचाने के लिये तत्पर रहे इस प्रकार महान् आश्रय पाने से प्रजा सुख से रहती है ॥ २ ॥

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगास्यवर्धन्वाजा उत ये चिदत्र।
त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रमासन्दधिषे अश्विना ववृत्याः ॥ ३ ॥

ऋष्वा। ते। पादा। प्र। यत्। जिगासि। अवर्धन्। वाजाः। उत। ये। चित्। अत्र। त्वम्। इन्द्र। सालावृकान्। सहस्रम्। आसन्। दधिषे। अश्विना। आ। ववृत्याः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन्! (ते-ऋष्वा पादा) तव सभावर्गः सेनावर्गश्च महान्तौ पादौ (यत्) यतः-याभ्यां (जिगासि) त्वंगच्छसि-राष्ट्रकार्ये प्रगतिं करोषि (वाजाः-अवर्धन्) त्वां ज्ञानबलवन्तो ज्ञानिनो बलवन्तश्च वर्धयन्ति (उत-ये चित्-अत्र) अत्रपादयोः-सभा सेनावर्गयोर्येऽपि सन्ति (त्वम्) त्वं खलु (सहस्रं साला-वृकान्-आसन्-दधिषे) बहून् शालायां वर्तमानान् कुक्कुरानिव 'शकारस्य सकारश्छान्दसः' यद्वा गतिस्थानेषु मार्गेषु शुन इव "षल गतौ" [भ्वादि०] स्वसुखे धारयसि (अश्विना-आ-ववृत्याः) स्वकीयौ-अश्ववन्तौ तौ वर्गौ-आवर्त्तय ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (ते-ऋष्वा पादा) तेरे सभा वर्ग और सेना वर्ग दो महान् पैर हैं (यत्) जिनके द्वारा तू (जिगासि) राष्ट्र कार्य में प्रगति करता है (वाजाः-अवर्धन्) ये ज्ञानी और बलवान् हुए तुझे बढ़ाते हैं (उत-ये चित्-अत्र) और सभावर्ग तथा सेना वर्ग में जो भी जन हैं (त्वम्) तू (सहस्रं सालावृकान्) बहुत शाला में वर्तमान रक्षक कुत्तों के समान या गतिस्थान मार्गों में कुत्तों के समान अपने सुख के निमित्त तू धारण करता है (अश्विना-आ-ववृत्याः) अपने घोड़ों वाले दोनों वर्गों को भली-भांति कार्य में ले ॥ ३ ॥

भावार्थ—सभावर्ग और सेनावर्ग राष्ट्रपति के राष्ट्र में प्रगति करने के महान् साधन हैं इनके अन्दर जो सभासद् या सैनिक होते हैं वह घर के रक्षक प्रहरी कुत्तों के समान या मार्ग में रक्षक सुख के निमित्त होते हैं उनसे लाभ लेना चाहिए ॥ ३ ॥

समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि ॥ ४ ॥

समना। तूर्णिः। उप। यासि। यज्ञम्। आ। नासत्या। सख्याय। वक्षि। वसाव्याम्। इन्द्र। धारयः। सहस्रा। अश्विना। शूर। ददतुः। मघानि ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) राजन्! (समना) सङ्ग्रामे "समनं सङ्ग्राम नाम" [निघ० २। १७] आकारादेशश्छान्दसः (तूर्णिः) त्वरमाणः सन् (यज्ञम्-उप-

आयासि) सेना सङ्गतिं प्राप्नोषि (सख्याय नासत्या वक्षि) सखिभावाय सहयोगाय-असत्य व्यवहाररहितौ सभासेनावर्गौप्रापयसि (वसाव्यां धारयः) अतिशयेन वसु प्राप्तौ विजयप्राप्तौ निर्धारय निश्चिनुहि (अश्विना सहस्रा मघानि ददतुः) यथा तौ त्वयासह व्याप्नुवन्तौ बहूनि धनानि प्रयच्छतः ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (समना) संग्राम में (तूर्णिः) शीघ्रकारी होता हुआ (यज्ञम्-उप-आयासि) सेना के सङ्गम को प्राप्त हो (सख्याय नासत्या वक्षि) मित्र भाव के लिये-सहयोग के लिये असत्य व्यवहार रहितों सभावर्ग, सेनावर्गों को तू प्राप्त होता है (वसाव्यां धारयः) अत्यन्त धन प्राप्ति-विजय प्राप्ति के सम्बन्ध में निश्चय कर (अश्विना) जैसे वे सभा वर्ग और सेना वर्ग दोनों तेरे साथ व्याप्त प्राप्त होने वाले (सहस्रा मघानि) बहुत धनों को (ददतुः) देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा के संग्राम के लिये सभावर्ग और सेना वर्गों के साथ सहमति और संगति प्राप्त करके विजय पाता है ॥ ४ ॥

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम् ।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि ॥ ५ ॥

मन्दमानः । ऋतात् । अधि । प्रजायै । सखिऽभिः । इन्द्रः । इषिरेभिः । अर्थम् । आ । आभिः । हि । मायाः । उप । दस्युम् । आ । अगात् । मिहः । प्र । तम्राः । अपवत् । तमांसि ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः) राजा (मन्दमानः) स राजा मन्दयमानो हर्षयन्-हर्षण हेतोः (ऋतात्-अधि) सत्य शासने (प्रजायै) प्रजाकल्याणाय (इषिरेभिः) प्रगतिशीलैरधिकारिभिः (अर्थम्) अर्थनीयं कल्याणं साधयति (आभिः) प्रजाभिः सह (मायाः) बुद्धीः "माया प्रज्ञानाम्" [निघ० ३ । ६] (उप) उपमन्त्रय (दस्युम्-आगात्) क्षयकर्त्तारंशत्रुम्-आगच्छति-आक्राम्यति (तम्राः-मिहः प्र) कांक्षणीयाः सुखसेचनीवृष्टीः प्रक्रमते (तमांसि-अवपत्) दुःखाज्ञानानि नाशयति ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) राजा (मन्दमानः) हर्षित होता हुआ-हर्ष के हेतु (ऋतात्-अधि) सत्यशासन के निमित्त (प्रजायै) प्रजा कल्याणार्थ (इषिरेभिः) प्रगतिशील अधिकारियों के द्वारा (अर्थम्) अर्थनीय कल्याण को साधता है (आभिः) इन प्रजाओं के सहयोग से (मायाः) कार्य बुद्धियों को (उप) उपमन्त्रित करके-विचार कर (दस्युम्-आगात्) क्षयकर्त्ता शत्रु पर आक्रमण करता है (तम्राः-मिहः प्र) काङ्क्षणीय सुख सींचने वाली वृष्टियों को प्रारम्भ करता है प्रवाहित करता है (तमांसि-अवपत्) दुःखाज्ञान को नष्ट करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को अच्छा शासन करने के लिये राज्य के उच्चाधिकारियों के साथ प्रजा

के हितार्थं तथा प्रजाओं के साथ भी मन्त्रणा-विचार कर शत्रुपर आक्रमण करना चाहिए तथा अभीष्ट सुख वृष्टि करता हुआ दुःखाऽज्ञानादि को नष्ट करे ॥ ५ ॥

सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः ।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ ॥ ६ ॥

सऽनामाना । चित् । ध्वसयः । नि । अस्मै । अव । अहन् । इन्द्रः । उषसः । यथा । अनः । ऋष्वैः । आगच्छः । सखिऽभिः । निऽकामैः । साकम् । प्रतिऽस्था । हृद्या । जघन्थ ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्रः) राजा (सनामाना चित्) समाननामकैः '-आकारादेशश्छान्दसः" खल्वपि शासकैः सह (निध्वसयः) शत्रुं नियमयति स्वाधीनी करोति (अस्मै) इमं शत्रुम् "द्वितीयार्थे चतुर्थीव्यत्ययेन (अवहन्) अवहन्ति (उषसः-यथा-अनः) सूर्यो यथा ह्युषसः शकटं विस्तारं स्वाधीनौ करोति पुनश्च नाशयति (ऋष्वैः सखिभिः-निकामैः-साकम्-आगच्छः) महद्भिः शासकैः सेनाध्यक्ष्यैः सह स्वार्थहीनैः प्रजाकामैः राष्ट्रकामैः शासकैः सह गच्छ शत्रुंप्रति (प्रतिष्ठा हृद्या जगन्थ) हृद्यानि हृदिभवानि प्रतिष्ठनानि सुखफलानि प्राप्नुयाः '·जगन्थागच्छ" [यजु० १८ । ७१ दयानन्द] "अन्येषामपि दृश्यते" [अष्टा० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्रः) राजा (सनामाना चित) समान नाम वाले शासकों के साथ (निध्वसयः) शत्रु को नियन्त्रित करता है-स्वाधीन करता है (अस्मै) इस शत्रु को (अवहन्) हिंसित करता है (उषसः-यथा अनः सूर्य) जैसे उषा के विस्तार को स्वाधीन करता है फिर नष्ट करता है (ऋष्वैः सखिभिः) महान् सहयोगी शासकों सेनाध्यक्षों-(निकामैः- साकम्) स्वार्थहीन प्रजा की कामना तथा राष्ट्र की कामना करने वालों के साथ (अगच्छः) शत्रु के प्रति जा-आक्रमण कर (प्रतिष्ठा हृद्या जगन्थ) हृदय में होने वाले सुखफलों को प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिए अपने ऊंचे अधिकारियों की सहायता से शत्रुओं को नियन्त्रित तथा शासित करे, जो अधिकारी स्वार्थ रहित तथा प्रजाहित राष्ट्र हित रखते हों उनके साथ अपने हार्दिक भावों को सफल करे ॥ ६ ॥

त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम् ।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान् ॥ ७ ॥

त्वम् । जघन्थ । नमुचिम् । मखस्युम् । दासम् । कृण्वानः । ऋषये । विऽमायम् । त्वम् । चकर्थ । मनवे । स्योनान् । पथः । देवऽत्रा । अञ्जसाऽइव । यानान् ॥७॥

संस्कृतान्वयार्थः—(त्वम्) त्वं हे राजन् ! (मखस्युं नमुचिम्) परस्य मखं यज्ञं नाशयितुमिच्छन्तं "मखं यज्ञनाम" [निघ० २ । १७ [नमुचिं पापिनम् "पाप्मा वै नमुचिः" [श० १२ । ७ । ३ । १] (मन्यवे ऋषये विमायं दासं कृण्वानः-त्वं-जगन्थ) मननीयाय द्रष्ट्र उपास्याय मायारहितं छलरहितं त्वं भृत्यमिव कुर्वन् त्वं यस्तं हंसि (स्योनान् पथः-देवत्रा यानान्-अञ्जसा चकर्थ) सुखमयान् देवेषु गन्तव्यान् मार्गान् देवयानान् तत्त्वतः "अञ्जसा तत्त्वशीघ्रार्थयोः" [अव्ययार्थनिबन्धनम्] करोषि ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(त्वम्) हे राजन् ! तू (मखस्युम्) यज्ञ को नष्ट करने के इच्छुक (नमुचिम्) पापीजन को तथा (मनवे ऋषये) तेरे मननीय द्रष्टा उपास्य (विमायम्) माया-रहित छलरहित तुझ को (दासं) भृत्य के समान (कृण्वानः) करता हुआ है उसे तू (त्वं जगन्थ) हनन करता है (स्योनान् पथः) सुखकारक मार्गों को (देवत्रा) देवों में-विद्वानों में (अञ्जसा-चकर्थ) यथार्थरूप से करता है बनाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मननीय उपास्य द्रष्टा परमात्मा के लिए तुझ छलरहित के प्रति दासभावना करता है हीनभाव रखता है इस श्रेष्ठकर्म को नष्ट करने वाले को तू दण्ड देता है तथा विद्वानों का मार्ग परिष्कृत करता है ॥ ७ ॥

त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ ॥ ८ ॥

त्वम् । एतानि । पप्रिषे । वि । नाम । ईशानः । इन्द्र । दधिषे । गभस्तौ । अनु । त्वा । देवाः । शवसा । मदन्ति । उपरिऽबुध्नान् । वनिनः । चकर्थ ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (त्वम्) त्वं खलु (एतानि नाम) इमानि शत्रून् नम्री कुर्वाणानि स्वसैन्यबलानि (वि पप्रिषे) विशिष्टतया पिपर्षि रक्षसि (ईशानः-गभस्तौ दधिषे) समर्थः स्वामी सन् स्वहस्तेऽपि वज्रं धारयसि (देवाः) विद्वांसो विजय कांक्षिणः (शवसा) स्वबलेन वर्तमानम् (त्वा-अनुमदन्ति) त्वामनु-हर्षन्ति (उपरिबुध्नान् वनिनः-चकर्थ) उत्कृष्टमूलान् बलवतोऽपि हिंसकान् शत्रून् नाशय ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (त्वम्) तू (एतानि नाम) इन शत्रुओं को नमाने वाली अपने सैन्य बलों को (वि पप्रिषे) विशेष रूप से सुरक्षित रखता है-रख (ईशानः) इनका स्वामी समर्थ होता हुआ (गभस्तौ) अपने हाथ में भी वज्र को (दधिषे) धारण करता है (देवाः) विजय चाहने वाले विद्वान् (शवसा) अपने बल से वर्तमान (त्वा) मुझे (अनुमदन्ति) हर्षित करते हैं (उपरि बुध्नान्) उत्कृष्ट दृढ़मूल वाले-बलवानों (वनिनः) हिंसकों को (चकर्थ) तू नष्ट करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा शत्रुओं को नमाने वाले अपने सैन्य बलों की रक्षा करे तथा अपने हाथ में भी शस्त्र अस्त्र धारण करता है तो विजयाकांक्षी विद्वान् भी उसका साथ देते है फिर वह अति-बलवान् शत्रुओं को भी नष्ट करता हैं ॥ ८ ॥

चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् ।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥ ९ ॥

चक्रम् । यत् । अस्य । अप्ऽसु । आ । निऽसत्तम् । उतो इति । तत् । अस्मै । मधु । इत् । चच्छद्यात् । पृथिव्याम् । अतिऽसितम् । यत् । ऊधः । पयः । गोषु । अदधाः । ओषधीषु ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य चक्रम्) अस्य राज्ञो राष्ट्रम् "चक्रवद्वर्तमानं राज्यम्" [ऋ० ४ । ३० । ४ दयानन्दः] (अप्सुआनिषत्तम्) जलेषु-समन्तात् स्थितं भवतु (उत-उ-अस्मै) अपि तु खल्वस्मै राष्ट्राय (तत्-मधु) तत्रस्थं जलम् "मधु उदकनाम" [निघ० १ । १२] (इत्-चच्छद्यात) अवश्यं राष्ट्रे बलम् प्रयच्छति "छदयत् बलयति" [ऋ० ६ । ४९ । ५ दयानन्दः] (पृथिव्याम्-अतिषितम्) भूमौ खलूद्घाटितमुत्पादितम् (यत्-ऊधः) यज्जलबन्धनम् "ऊधः-जलस्थानम्" [ऋ० १ । १४६ । २ दयानन्दः] (पयः-गोषु-ओषधीषु-अदधाः) तत्रत्यंजलम् "पयः-उदकनाम" [निघ० १ । १२] क्षेत्रभक्तिषु तत्रौषधिषु धारय ॥ ९ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य चक्रम्) इस राजा का राष्ट्र (अप्सु-आनिषत्तम्) जलों में-नदी कुल्याओं के मध्य स्थित हो (उत-उ-अस्मै) अपितु इस राष्ट्र के लिए (तत्-मधु) वहां जल (इत-चच्छद्यात्) अवश्य राष्ट्र में बल देता है (पृथिव्याम्-अतिषितम्) भूमि में उद्घाटित तथा सींचा हुआ (यत्-ऊधः) जो जलबान्ध है (पयः) वहाँ का जल (गोषु ओषधीषु) खेत की क्यारियों में और वहाँ की ओषधियों में (अदधाः) धारण करे-पहुंचावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—राजा का राष्ट्र नदियों नहरों से युक्त हो इससे राष्ट्र को बल मिलता है। राष्ट्र भूमि में जल को एकत्र तथा बान्ध बनाकर खेतों और ओषधियो में सींचे ॥ ९ ॥

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम् ।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद ॥ १० ॥

अश्वात् । इयाय । इति । यत् । वदन्ति । ओजसः । जातम् । उत । मन्ये । एनम् । मन्योः । इयाय । हर्म्येषु । तस्थौ । यतः । प्रऽजज्ञे । इन्द्रः । अस्य । वेद ॥ १० ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अश्वात्-इयाय-इति यत्-वदन्ति) अश्वमेधात्-राष्ट्रात् "राष्ट्रमश्वमेधः"[श० १३ । १ । ६ । ३]"अश्वस्य प्राप्तुमर्हस्य" राज्यस्य :[ऋ० १ । १२१-। २ दयानन्दः] इति यतः सर्वे प्रजाजनाः-वदन्ति (उत-ओजसः-जातम्-एनं मन्ये) आत्मबलेन एनं जातं राजपदं मन्येऽहं पुरोहितः (मन्योः-इयाय) अन्यान् मानयितुः प्रतापात् खलु राजपदं प्राप्नोति (यतः-अस्य प्रजज्ञे) यस्मात् कारणात् खल्वस्य राज्ञः राजपदं प्रजायते तत्कारणं तु (इन्द्रः-हर्म्येषु तस्थौ वेद) राजा राजप्रासादेषु स्थितोऽस्ति सः-जानीयात्-जानाति, जितेन्द्रियत्वात् प्रजाहित कारणाद वेदितव्यम् ॥ १० ॥

भाषान्वयार्थ—(अश्वात्) अश्वमेध से राष्ट्र से राजा (इयाय) राजपद को-राज्याधिकार को प्राप्त करता है (इतियत्-वदन्ति) यह ऐसा प्रजाजन कहते हैं (उत-ओजसः-जातम्) और आत्मबल से प्राप्त (एनं-मन्ये) इसे मैं पुरोहित निर्धारित करता हूँ (मन्योः-इयाय) अन्यों को मानने वाले प्रताप से राजपद को प्राप्त होता है (यतः-अस्य प्रजज्ञे) जिस कारण से इस राजा का राजपद प्रसिद्ध हुआ है इस बात को (इन्द्रः) राजा (हर्म्येषु तस्थौ वेद) राजप्रसादों में स्थित हुआ जितेन्द्रिय होने से प्रजा का हित करने से जानता है यह समझना चाहिए ॥ १० ॥

भावार्थ—अश्वमेध अर्थात् राष्ट्र सञ्चालन के लिए राजा राजपद पर विराजमान होता है वह अपने प्रताप से और गुणप्रभाव से राजा बनता है। जितेन्द्रिय और प्रजा हित साधने के लिये ॥ १० ॥

वयः॑ सुप॒र्णा उप॑ सेदु॒रिन्द्रं॑ प्रि॒यमे॑धा॒ ऋष॑यो॒ नाध॑मानाः ।
अप॑ ध्वा॒न्तमू॑र्णु॒हि पू॒र्धि चक्षु॑र्मुमु॒ग्ध्य१॒॑स्मान्नि॒धये॑व ब॒द्धान् ॥ ११ ॥

वयः॑ । सु॒ऽप॒र्णाः । उप॑ । से॒दुः॒ । इन्द्र॑म् । प्रि॒यऽमे॑धाः । ऋष॑यः । नाध॑मानाः । अप॑ । ध्वा॒न्तम् । ऊ॒र्णु॒हि । पू॒र्धि । चक्षुः॑ । मु॒मु॒ग्धि । अ॒स्मान् । नि॒धया॑ऽइव । ब॒द्धान् ॥ ११ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वयः सुपर्णाः-प्रियमेधाः-ऋषयः-नाधमानाः) गन्तारो भ्रमणशीलाः शोभनपालनधर्माणः प्रियोमेधोऽश्वमेधो राष्ट्रप्रदेशो येषां ते हितद्रष्टारो ज्ञानिनः प्रार्थयमानाः (इन्द्रम्-उपसेदुः) राजानमुपगतवन्तः-उपगच्छन्ति वा (ध्वान्तम्-अप-ऊर्णुहि) आध्वस्तम्-ध्वान्तम् प्रजायाः-अज्ञानान्धकारं दूरीकुरु (चक्षुः पूर्धि) ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र पूरय (अस्मान्-निधया-इव बद्धान् मुमुग्धि) अस्मान् ज्ञानदाने समर्थान् एकत्रनियुक्तान् पाशेन बद्धानिव ज्ञानप्रकाशनाय राष्ट्रेऽवसृज। निरुक्ते सूर्य इन्द्रोवयः सुपर्णा रश्मयः आधिदैविक दृष्ट्या व्याख्यातो मन्त्रः ॥ ११ ॥

भाषान्वयार्थ—(वय, सुपर्णाः) भ्रमणशील शोभनपालन धर्मवाले (प्रियमेधाः) प्रिय है राष्ट्र जिनको ऐसे राष्ट्र हितैषी (ऋषयः) ज्ञानीजन (नाधमानाः) प्रार्थना करते हुए (इन्द्रम्-

उपसेदुः) राजा या शासक के पास जाते है (ध्वान्तम्-अप-ऊर्णु हि) प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर कर (चक्षुः पूर्धि) ज्ञानदृष्टि को सर्वत्रभर-फैला (अस्मान्) हमें (निधया-इव-बद्धान्) ज्ञान देने के निमित्त पाश में बन्धे हुए जैसे एक स्थान पर पड़े हुओं को (मुमुग्धि) राष्ट्र के अन्दर छोड़ दे ॥ ११ ॥

भावार्थ—रष्ट्रहितैषी विद्वान् जन शासक से प्रेरणा पाये हुए सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश करें। जिससे कि अज्ञानान्धकार दूर हो जावे ॥ ११ ॥



चतुः सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पूर्ववत् ।

छन्दः—१, ४ पादनिचृत्, त्रिष्टुप्, २, ५ निचृत् त्रिष्टुप् ३ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्, ६ विराट् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र सूक्तेऽपि पूर्ववद्राजधर्म उपदिश्यते, विशेषतः प्रजाहितम् साधनं शत्रुनाशनं चोपदिश्यते । उच्चाधिकारिभ्यः पुरस्कारो दातव्यश्चेत्यपि वर्ण्यते ।
इस सूक्त में भी पूर्व की भाँति राजधर्म कहा है, विशेषतः प्रजारक्षण, शत्रु वध, उच्च अधिकारियों के लिए पुरस्कार प्रदान करना आदि विषय है ॥

वसूनां वा चर्कृष इयक्षन्धिया वा यज्ञैर्वा रोदस्योः ।
अर्वन्तो वा ये रयिमन्तः सातौ वनुं वा ये सुश्रुणं सुश्रुतो धुः ॥ १ ॥

वसूनाम् । वा । चर्कृषे । इयक्षन् । धिया । वा । यज्ञैः । वा । रोदस्योः । अर्वन्तः । वा । ये । रयिऽमन्तः । सातौ । वनुम् । वा । ये । सुऽश्रुणम् । सुऽश्रुतः । धुरिति धुः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रोदस्योः) राजप्रजाव्यवहारयोः प्रसिद्धा अधिकारिणः "रोदसी राजप्रजा व्यवहारौ" [ऋ० ३ । ३८ । ८ दयानन्दः] (वसूनाम्-इयक्षन्) वसूनि 'व्यत्ययेन द्वितीयास्थाने षष्ठी' दातुमिच्छन् तथा तैः सः (चर्कृषे) स्वसेवाकार्यं निमित्ती कृत्य च स्वाभिमुखमाकृष्यते वा (धिया वा यज्ञैः-वा) तथाऽन्यैर्जनैश्च स्वप्रज्ञानेन ज्ञानप्रकाशेन "धीः प्रज्ञाननाम" [निघ० ३ । ६] ज्ञानप्रकाशं निमित्तीकृत्य तथा जनहितदानादिभिः स्वाभिमुखमाकृष्यते (अर्वन्तः-वा ये रयिमन्तः) अर्वन्तः सैनिकाश्च "अर्वता अश्वादियुक्तेन सैन्येन" [ऋ० २ । २ । १० दयानन्दः] 'मतुब्लोपश्छान्दसः' ये वीर्यवन्तः "वीर्यं वै रयिः" [श० १३ । ४ । २ । १३] (सातौ) संग्रामे "सातौ युद्धे" [ऋ० १ । ३६ । १७ दयानन्दः] (ये सुश्रुतः ये सुश्रूयन्ते राष्ट्रे ते प्रसिद्धा योद्धारः (सुश्रुणं वनुं धुः) सुप्रसिद्धं हिंसकं शत्रुसैन्यं धूनयन्ति तैरपि स्वशौर्यं निमित्तीकृत्याकृष्यते पुरस्कारार्थाय ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(रोदस्योः) राजा और प्रजा के व्यवहारों में प्रसिद्ध अधिकारीजन (वसूनाम्-इयक्षन्) धनों को देने की इच्छा रखता हुआ तथा उन अधिकारियों के साथ वह (चर्कृषे) स्वसेना के कार्य को निमित्त बनाकर अपनी ओर खींचता है (धिया वा यज्ञैः-वा) तथा अन्य जनों के साथ ज्ञानप्रकाश द्वारा-अपने प्रज्ञान से या (ज्ञानप्रकाश को) निमित्त बनाकर तथा जनहित दानादि क्रिया को सामने रखकर आकृष्ट करता है (अर्वन्तः-वा) घोड़े वाले सैनिक या (ये रयिमन्तः) वीर्यवान् पराक्रमी (सातौ) संग्राम में (ये सुश्रुतः) राष्ट्र में जो प्रसिद्ध योद्धा हैं (संश्रुणं वनुं धुः) सुप्रसिद्ध हिंसक शत्रु सैन्य को धुनते हैं नष्ट करते हैं। उनके द्वारा तथा अपने शौर्य को लक्ष्य करके पुरस्कारार्थ खींचता है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के व्यवहारों में प्रसिद्ध अधिकारियों को तथा संग्राम में बढ़ने वाले सैनिकों को जो शत्रु पर विजय पाते हैं उनको पुरस्कार प्रदान कर शासक सम्मानित करें ॥ १ ॥

हवं एषामसुरो नक्षत द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम् ।
चक्षाणा यत्र सुवितायं देवा द्यौर्न वारेभिः कृणवन्त स्वैः ॥ २ ॥

हवः । एषाम् । असुरः । नक्षत । द्याम् । श्रवस्यता । मनसा । निंसत । क्षाम् ।
चक्षाणाः । यत्र । सुवितायं । देवाः । द्यौः । न । वारेभिः । कृणवन्त । स्वैः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एषाम्-हवः-असुरः) एषां सैनिकानां घोषशब्दः-राज्ञ-प्रेरकः (द्यां नक्षत) आकाशं व्याप्नोति (श्रवस्यता मनसा क्षां निंसत) राज्ञोयशः कांक्षमाणेन मनसा पृथिवीं चुम्बति स्पृशति "निंसते चुम्बति" [ऋ० १ । १४४ । १ दयानन्दः] (यत्र देवाः-चक्षाणाः-सुविताय) यस्मिन् राष्ट्रे राजनि वा तन्निमित्तं कल्याण साधनाय विद्वांसो ज्ञानेन प्रकाशमानाः संवर्तन्ते (द्यौः-न स्वैः-वारेभिः कृणवन्त) यथा सूर्यः स्वकीयैरन्धकार निवारकैरश्मिभिः प्रकाशं करोति तथा ते ज्ञान प्रकाशंकुर्वन्ति, ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(एषाम्) इन सैनिकों का (हवः-असुरः) घोषशब्द राजा का प्रेरक है (द्यां नक्षत) आकाश को व्यापता है (श्रवस्यता मनसा) राजा के यश को चाहते हुए मनसे (क्षां निंसत) पृथिवी को चूमता है-स्पर्श करता है (यत्र देवाः) जिस राष्ट्र में या राजा के होने पर उसके निमित्त कल्याण साधने के लिए विद्वान् (चक्षाणाः-सुविताय) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वान् वर्तमान रहते हैं (द्यौः-न) जैसे सूर्य (स्वैः-वारेभिः) अपनी अन्धकारनाशक किरणों से (कृणवन्त) प्रकाश करता है, वैसे वे विद्वान् ज्ञान का प्रकाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राष्ट्र में सैनिकों का घोष शासक को प्रेरित करने वाला है वह आकाश में व्यापने वाला और पृथिवी को छूने वाला होना चाहिए तथा विद्वान् लोग राष्ट्र में ज्ञान का प्रकाश ऐसे फैला दें जैसे सूर्य अपनी किरणों से प्रकाश फैलाता है ॥ २ ॥

इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् ।
धियं च यज्ञं च साधन्तस्ते नो धान्तु वसव्य१मसामि ॥ ३ ॥

इयम् । एषाम् । अमृतानाम् । गीः । सर्वऽताता । ये । कृपणन्त । रत्नम् । धियम् । च । यज्ञम् । च । साधन्तः । ते । नः । धान्तु । । वसव्यम् । असामि ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एषाम्-अमृतानां गीःसर्वताता) एतेषां जीवन्मुक्तानां विदुषामुपदिष्टा वेदवाक् सर्वसुखद कर्मविस्तारिका "सर्वताता सर्वासु कर्मततिषु" [नि० ११ । २४] अस्ति भवतु (ये रत्नं कृपणन्त) ये विद्वांसो रमणीयं मोक्षं प्राप्तुमस्मान् समर्थमस्ति "कृपते समर्थयतु" [ऋ० १ । ११२ । १० दयानन्दः] 'कृपू सामर्थ्ये' [भ्वादि०] ततः शप् श्ना च 'विकरणद्वयं छान्दसम्' (धियं च यज्ञं च साधन्तः) ते प्रज्ञानं चाध्यात्मयज्ञं साधयन्तः 'अन्तर्गतोणिजर्थ.' (असामि-वसव्यं नः धान्तु) पूर्णं वसुषु भवं श्रेष्ठं ज्ञानधनमस्मासु धारयन्तु "धा धातोः श्लुविकरण औत्सर्गिको बहुल ग्रहणान्न भवति ""बहुलं छन्दसि" [अष्टा० २ । ४ । ७६] ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(एषाम्-अमृतानाम्) इन जीवनमुक्त विद्वानों की (गीः सर्वताता) उपदेश की हुई वेदवाणी सर्वसुखद कर्मों के विस्तार करने वाली है या हो (ये रत्नं कृपणन्त) जो विद्वान् रमणीय मोक्ष प्राप्त करने को हमें समर्थ करते हैं (धियं च यज्ञं च साधन्त) वे प्रज्ञान को और अध्यात्म यज्ञ को साधते हुए (असामि वसव्यम् नः-धान्तु) पूर्ण धनों में श्रेष्ठ ज्ञान धन को हमारे लिए धारण करावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वान् अपनी वाणी से सब सुखों को सिद्ध करने का उपदेश करें और मोक्ष प्राप्ति के लिए समर्थ बनावें जो सब धनों में श्रेष्ठ धन है ॥ ३ ॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् ।
सकृत्स्वं१ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ ४ ॥

आ । तत् । ते । इन्द्र । आयवः । पनन्त । अभि । ये । ऊर्वम् । गोऽमन्तम् । तितृत्सान् । सकृत्ऽस्वम् । ये । पुरुऽपुत्राम् । महीम् । सहस्रऽधाराम् । बृहतीम् । दुधुक्षन् ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (ते) तव (आयवः) प्रजाजनाः "आयवः-मनुष्यनाम" [निघ० २ । ३] (तत्-आ-अभिपनन्त) तदा समन्तात्-अभिस्तुवन्ति प्रशंसन्ति 'पनस्तुतौ' [भ्वादि०] (ये गोमन्तम्-ऊर्वं तितृत्सान्) पृथिवीमन्तं भूमिमन्तं भूमेराच्छादकं धान्यम् "ऊर्वम्-आच्छादकम्" [ऋ० ४ । २८ । ५ दयानन्दः] छेदयितुमिच्छन्ति, एवं ते प्रसन्नतामनुभवन्तः (ये सकृत्स्वं पुरुपुत्राम्) ये हि सकृदेवो-

त्पादयित्री बहुधान्यादि पुत्रवतीम् (सहस्रधारां बृहतीं महीं दुधुक्षन्) सहस्रजलधारावतीं महतीं महत्त्वपूर्णां पृथिवीं दुहन्ति ततो धान्यफलरसादिकं गृह्णन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (ते) तेरे (आयवः) प्रजाजन (तत्-आ-अभिपनन्त) तब भलीभांति प्रशंसा करते हुए (ये गोमन्तम्) जो पृथिवीवाले भूमिवाले (ऊर्वं-तितृत्सान्) भूमि के आच्छादक धान्य को काटना चाहते हैं एवं तेरी प्रसन्नता को अनुभव करते हुए (ये सकृत्स्वम्) जो एक बार ही उत्पन्न करने वाली (पुरुपुत्राम्) बहुत धान्यादि पुत्र वाली को (सहस्र धाराम्) सहस्रजल धारावाली (बृहतीं महीं दुधुक्षन्) महत्वपूर्ण पृथिवी को दोहते हैं, तो उससे धान्य फलादि ग्रहण करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा के राज्य में पृथिवी जल धाराओं से युक्त अन्नफलादि उत्पन्न करने वाली होवे तो प्रजाजन सुख पाते हुए शासक को प्रसन्न करते हैं और गुण गाते हैं ॥ ४ ॥

शचीव इन्द्रमवसे कृणुध्वमनानतं दमयन्तं पृतन्यून् ।
ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिं भर्त्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः ॥ ५ ॥

शचीऽवः । इन्द्रम् । अवसे । कृणुध्वम् । अनानतम् । दमयन्तम् । पृतन्यून् । ऋभुक्षणम् । मघऽवानम् । सुऽवृक्तिम् । भर्ता । यः । वज्रम् । नर्यम् । पुरुऽक्षुः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शचीवः) हे कर्मवन्तः कर्मकर्त्तारः ! "शची कर्म नाम" [निघ० २ । १] व्यत्ययेनैकवचनम् (अवसे) रक्षणाय (पृतन्यून् दमयन्तम्) संग्राममिच्छतः शत्रून् स्ववशे नयन्तम् (अनानतम्) यः केनापि न–आनतीकर्त्तुं वशीकर्त्तुं शक्यस्तं महान्तं महच्छक्तिमन्तम् "अनानतस्य महतः" [निरु० १२ । २०] (ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिम्) ऋभूनां मेधाविनां शिल्पिनां निवासकम्-"ऋभवः-मेधाविनः" [निघ० ५ । १५] "ऋभूरथस्येवाङ्गानि सन्दधत् परुषापरुः" [अथर्व० ४ । १२ । ७] प्रशस्तधनवन्तं सुष्ठु दुःखवर्जनकर्त्तारम् (इन्द्रं कृणुध्वम्) स्वकीयं राजानं कुरुत (यः पुरुक्षुः) यो हि बहु भोजनीयान्नादिमान् "पुरुक्षुः पुरुंषि क्षुन्यन्नानि यस्य स [ऋ० १ । ६५ । ५ दयानन्दः] (नर्यं वज्रं भर्त्ता) नरेभ्यः प्रजाजनेभ्यो हितकरमोजो धारयिता "वज्रो वा ओजः" [श० ८ । ४ । १ । २०] ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(शचीवः) हे कर्मवाले–कर्मकर्त्ता जनो ! (अवसे) रक्षा के लिये (पृतन्यून् दमयन्तम्) संग्राम करने के इच्छुक शत्रुओं को अपने वश में लेने वाले (अनानतम्) जो किसी से भी वश न किया जा सके उस महान् शक्तिमान् को (ऋभुक्षणम्) ऋभुओं मेधावी शिल्पियों के वसाने वाले (मघवानम्) धनवाले (सुवृक्तिम्) भली प्रकार दुःख से वर्जित करने वाले हटाने वाले (इन्द्रं कृणुध्वम्) अपना राजा बनाओ (यः पुरुक्षुः) जो बहुत भोजनीय अन्न वाला (नर्यं वज्रं भर्त्ता) प्रजाजनों के लिये हितकर ओज का धारण करने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—कर्मकर्त्ता राष्ट्र के कर्मठ जन संग्राम के इच्छुक शत्रुओं के दमन करने वाले अन्य के वश में न आने वाले विद्वानों और शिल्पियों को राष्ट्र में बसाने वाले प्रजाजनों के लिये अन्नादि की व्यवस्था करने वाले को राजा बनाना चाहिए ॥ ५ ॥

यद्वावानं पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः ।
अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान् यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तत् ॥ ६ ॥

यत् । ववानं । पुरुऽतमम् । पुराषाट् । आ । वृत्रऽहा । इन्द्रः । नामानि । अप्राः । अचेति । प्रऽसहः । पतिः । तुविष्मान् । यत् । ईम् । उश्मसि । कर्त्तवे । करत् । तत् ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यत्) यतः (पुरुतमं ववान) बहुप्रसिद्धतमं बलवन्तं शत्रुं वनति हिनस्ति "वनुष्यति हन्ति कर्मा" [निरु० ५ । २] (पुराषाट्) शत्रुपुराणामभिभविता (वृत्रहा) आवरकाणामाक्रमकारिणां हन्ता (इन्द्रः) राजा (नामानि-अप्राः) यो जलानीव शत्रुसैन्यानि संग्रामभूमौ पूरयति प्रसारयति (अचेति) इति प्रसिध्यति (प्रसहः-पतिः) प्रकृष्टबलस्य स्वामी (तुविष्मान्) स्वयं बहुबलवान् "तुविष्मान् बहुबलाकर्षणयुक्तः" [ऋ० २ । १२ । १२ दयानन्दः] (यत्-ईम् कर्त्तवे-उश्मसि) यदेव वयं कर्त्तुं कामयामहे (तत् करत्) तत् करोति सः ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यत्) जिससे (पुरुतमं ववान) बहुत प्रसिद्ध बलवान् शत्रु को हिंसित करता है (पुराषाट्) शत्रु के पुरों—नगरों को—मण्डलियों को भी स्वाधीन करता है (वृत्रहा) आक्रमणकारियों का नाशक (इन्द्रः) राजा (नामानि-अप्राः) जो जलों के समान शत्रु के सैन्य बलों को संग्राम भूमि में फैला देता है (अचेति) ऐसा प्रसिद्ध है (प्रसहः-पति) प्रकृष्टबल का स्वामी (तुविष्मान्) स्वयं बहुत बलवान् (यत्-ईम् कर्तवे-उश्मसि) जो हम करना चाहते हैं (तत् करत्) उसे वह करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा स्वयं बहुत बलवान् और सैन्य बलों का स्वामी शत्रु के बलों का संहार करने वाला उनके नगरों पर अधिकार करने वाला होना चाहिए ॥ ६ ॥



पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रैयमेधः सिन्धुक्षित् ।

देवता—नद्यः ।

छन्दः—१ निचृज्जगती, २, ३ विराड् जगती ४ जगती, ५, ७ आर्ची स्वराड् जगती ६ आर्ची भुरिग् जगती ८, ९ पाद निचृज्जगती

विषयः—अस्मिन् सूक्ते त्रिषुलोकेषु अप्तत्त्व प्रवर्तनं पृथिव्यां तु जलरूपेण नद्यः प्रवहन्ति तासामुपयोगश्च जनैर्ग्राह्य इत्येवमादयो विषया विस्तरेण प्रदर्शिताः सन्ति। ता नद्यश्च विविधरूपाः सन्ति ।

इस सूक्त में तीनो लोकों अप्तत्त्व, पृथिवी पर जल रूप में नदियां भिन्न भिन्न रूपवाली उन से लाभ लेना आदि कहा है ।

वक्तव्यम्—केचिन्मन्यन्तेऽत्र सूक्ते गङ्गाद्योनद्यः शरीरस्थनाड्यः सन्ति न पृथिवीपृष्ठगा नद्य इति न सम्यक् तासामाधिदैविकक्षेत्रस्य वस्तुत्वात् । निघुण्टुक्रमोऽपि साक्ष्यं यतो 'नद्यः' इति कथनानन्तरम् 'आपः' पुनः 'ओषधयः' । यास्काभिमतिश्च नदीकथने पृथिवीस्थानदेवतानां स्तवनप्रसङ्गात् तथा 'सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्तेस्तद्वती' तथा "सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः ॥ वेदस्य च स्वतः साक्ष्यं गङ्गाद्या नद्यो भवन्ति तद्यथा (१) "सत्य मित्त्वामहे नदि पुरुष्ण्यवं देदिशम् । नेमापो अश्वदातरः शविष्ठादस्ति मर्त्यः ॥" (ऋ० ८ । ७४ । १५) अत्र महे नदि ! परुष्णि ! सम्बोधनं पुनश्च सा हि 'आपः' इति नाम्ना सम्बोध्यते । (२) "मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु । मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥" (अथर्व० ६ । १२ । ३) इति सर्पविषचिकित्सायां 'नद्यः पर्वता गिरयः परुष्णी' कथनेन नाडी किन्तु नदी हि स्पष्टा । (३) "यत् सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः । यत् पर्वतेषु भेषजम् ॥" (ऋ० ३ । ३३ । १) इत्यत्र "विपाट् या विविधं प्रटति गच्छति विपाटयति–वा सा, शुतुद्री शु शीघ्रं तुदति, व्यथति सा पयसा जलेन

जवेते" [पदार्थे] "अश्वे इव विषेते हासमाने गावेव शुभ्रे रिहाणे पयसा विपाट् शुतुद्री प्रजवेते इव भवेताम्" [अन्वये] "यथा पर्वतानां मध्ये वर्तमाना नद्योऽश्वा इव धावन्ति गाव इव शब्दायन्ते" [भावार्थे] अत्र दयानन्दमते विपाट् शुतुद्री नद्यौ स्तः, इति स्पष्टम्। एवं तर्हि गङ्गादिनामभिर्वेदे न भवितव्यं तस्येश्वरज्ञानात्मकत्वात् सृष्टेरारम्भे प्रकाश्यमानत्वात् ? उच्यते मनुष्यरचितानां वस्तूनां रथादीनि नामानि यथा वेदे सन्ति तथा गङ्गादिनामान्यपि निरवद्यानि-अशङ्कनीयानि, इदं कथं मनुष्यरचितानां वस्तूनां नामानि तु स्युः स्वरचितानामीश्वरचितानां नामानि न स्युरिति मतिर्नयुक्ता। ननु गङ्गाद्या नद्यस्तु खल्वार्यावर्ते [भारते] सन्ति तेन-आर्यावर्तस्य देशस्येतिहासो भविष्यति वेदः। उच्यते-आर्यावर्ते देशे गङ्गाद्याः प्रवहन्तीति न वाच्यं किन्तु पृथिवीपृष्ठे प्रवहन्तीति वक्तव्यम्, तदा पृथिवीपृष्ठे या या नदी यथा यथा गुणयुक्ता दृष्टा पुरातनैर्वैदिकैर्ऋषिभिस्तत्तद्गुणवशात् तस्यास्तस्यास्तत्तन्नामकरणं कृतं वेदाद् दृष्ट्वा, मनुना खलूक्तं यथा "सर्वेषां स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥" (मनु० १। २१) यास्केन गुणा दर्शिता हि 'गङ्गा गमनात्' इति यौगिक नामानि न रूढिनामानि पुनश्च खागोलिकेन भौगोलिकेन चेतिहासेन वेदेऽवश्यं भवितव्यमेव। यथा 'सूर्यः-चन्द्रमाः' इत्येवमादीनां खागोलिकानां पदार्थानां वर्णनं वेदे तथा गङ्गादीनां भौगोलिकानां वस्तूनामपि वर्णनेन भवितव्यम्। अपि तु नदीनां वैदिकनाम्नां क्षेत्रं केवलं पृथिवी हि नास्ति किंतु पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकास्त्रयोऽपि क्षेत्राणि सन्ति, एतत्सूक्तस्य प्रथममन्त्रे ह्युक्तमस्ति प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः" (ऋ० १०। ७५। १) पृथिवीस्थानपदार्थेषु नद्योऽपि देवतात्वस्य भागिन्यः सन्ति, कस्याश्चिज्जलपाने भेषजं कस्याश्चित् स्नाने महौषधं तथाऽन्नोत्पादनाय क्षेत्रसेचनाय तु सर्वा नद्य उपकारिण्यः सन्ति ता एताः स्तोतव्याः प्रशंसनीया उपयोज्याः।

प्र सु वं आपो महिमानंमुत्तमं कारुर्वोचाति सदंने विवस्वंतः।
प्र सप्त संप्त त्रेधा हि चंक्रमुः प्र सृत्वंरीणामति सिन्धु रोजंसा॥ १॥

प्र। सु। वः। आपः। महिमानंम्। उत्ऽतमम्। कारुः। वोचाति। सदंने। विवस्वंतः। प्र। सप्तऽसंप्त। त्रेधा। हि। चक्रमुः। प्र। सृत्वंरीणाम्। अति। सिन्धुः। ओजसा॥ १॥

संस्कृतान्वयार्थः—(आपः) हे आप्ता व्याप्ता प्रवाहाः (वः) युष्माकम् (उत्तमं महिमानम्) उत्तमं महत्त्वम् (कारुः सु प्रवोचाति) स्तुतिकर्त्ता शिल्पी "स्तुत्यानां शिल्पकर्मणां कर्त्ता [ऋ० १। ८३। ६ दयानन्दः] सीम्नां कर्त्ता "स्तोमानां कर्त्ता [निरु० ६। ६] "स्तोमा आसन् प्रतिधमः" [ऋ० १०। ८५। ८] प्रवक्ति प्रब्रवीति (विवस्वतः सदने) यो शिविष्टतया राष्ट्रे विज्ञानस्थले वसति तस्य राज्ञो वैज्ञानिकस्य राजभवने विज्ञानभवने वा (सप्त सप्त त्रेधा हि प्रचक्रमुः) सप्त सप्त त्रिषु

स्थानेषु, एकैकस्थाने सप्त सप्त भूत्वा प्रक्रामन्ति प्रवहन्ति, 'आपस्त्रिपुस्थानेषु सन्ति' पृथिव्यामन्तरिक्षेदिवि च, यथोक्तम् "द्यौर्वा अपां सदनम्" [श० ७ । ५ । २ । ५६] "अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" [श० ७ । ५ । २ । ५७] "इयं पृथिवी वा अपामयनमस्यां ह्यापो वहन्ति" [श० ७ । ५ । २ । ५०] दिवि कथमित्युच्यते "अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह [अथर्व० १ । ४ ।२ ।] ता आपः अप्तत्त्वपदार्थाः, दिवि सप्तरङ्गवन्तः सूर्य-रश्मयः, अन्तरिक्षे सप्तरङ्गा विद्युत्तरङ्गाः, पृथिव्यां सप्त जलप्रवाहाः । (प्रसृत्वरीणाम्) तासामपां व्याप्तधाराणाम् (सिन्धुः) स्यन्दमानः प्रवाहः (ओजसा-अति) बलेन वेगेन-अतिवहति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(आपः) हे आप्त व्याप्त प्रवाहो ! (वः) तुम्हारे (उत्तमं महिमानम्) उत्तम महत्त्व को (कारुः सु प्रवोचाति) स्तुतिकर्त्ता शिल्पी–सीमाओं का कर्त्ता प्रकृष्टरूप से कहता है (विवस्वतः सदने) विशिष्टता से राष्ट्र में विज्ञान स्थल में जो बसता है ऐसे वैज्ञानिक राजा के राजभवन में या विज्ञान भवन में (सप्त सप्त त्रेधा हि प्रचक्रमुः) सात सात करके तीनों स्थानों में अर्थात् एक एक स्थान में सात सात होकर वहते हैं (प्रसृत्वरीणाम्) उन व्याप्त धाराओं का (सिन्धुः) वहने वाला (ओजसा-अति) अति वेग से वहता है वह अप् तत्त्व पदार्थ द्युलोक में सातरङ्ग की सूर्य की किरणे हैं, अन्तरिक्ष में सातरंग की विद्युत् की धारायें हैं और पृथिवी पर सात जल धारायें हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—अप्तत्त्व पदार्थ तीनों लोकों में सात सात करके प्रवाहित होते हैं। द्युलोक में सूर्य की किरणें, अन्तरिक्ष में विद्युद्धारायें, पृथिवी पर जल प्रवाह इनका जानने वाला वैज्ञानिक शिल्पी राजा के राज भवन में या विज्ञान भवन में इनका प्रवचन करे, इनसे लाभ लेने के लिये ॥ १ ॥

प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम् ।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि ॥ २ ॥

प्र । ते । अरदत् । वरुणः । यातवे । पथः । सिन्धो इति । यत् । वाजान् । अभि । अद्रवः । त्वम् । भूम्याः । अधि । प्रऽवता । यासि । सानुना । यत् । एषाम् । अग्रम् । जगताम् । इरज्यसि ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धो) हे स्यन्दनशील जलप्रवाह ! (वरुणः) सर्वेषां वरणीयः "आवरको वा परमात्मा" [ऋ० १ । ६८ । ३ दयानन्दः] (ते यातवे) तव गमनाय प्रवहणाय (पथः-प्र-अरदत्) मार्गान् प्ररचयति (त्वं यत्-वाजान्-अभ्यद्रवः) यतस्त्वं-अन्नौषध्यादिपदार्थान्-अभिलक्ष्य द्रवसि-वहसि, (सानुना प्रवता भूम्याः-अधि-यासि) पृथिव्याः-अधि, पृथिव्याः-उपरि, पृथिव्यामित्यर्थः, अधि सप्तम्यार्थाभिधायी, समुद्धृतेन-समुच्छ्रुतात्-मेघात् पतिता सती "सानुमेघस्य शिखरः" [ऋ० १ । ५८ । २

दयानन्दः] निम्नस्थान क्रमेण "प्रवत्सु निम्नासु" [ऋ० ६ । ४७ । ४ दयानन्दः] गच्छसि (एषां जगताम्-अग्रं यत्-इरज्यसि) एषां जङ्गमानां यद्वा जङ्गमादीनां प्रथमं सुखं साधयितुं परिचरसि "इरज्यति परिचरणकर्मा" [निघ० ३ । ५] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धो) हे स्यन्दनशील अन्तरिक्षस्थ जल प्रवाह ! (वरुणः) सबका वरण करने योग्य या आवरक परमात्मा (ते यातवे) तेरे गमन—वहने के लिये (पथः प्र-अरदत्) मार्गों को बनाता है (त्वं यत्) तू जो (वाजान्-अभ्यद्रवः) अन्नौषधी आदि पदार्थों को अभिलक्षित करके वहता है (सानुना प्रवता) पृथिवी के ऊपरी भाग से नीचे को (भूम्याः-अधि यासि) भूमि के नीचे जाता है (एषां-जगताम्-अग्रम्) जङ्गमादि के प्रथम सुखसाधने को (यत्-इरज्यसि) जो परिचरण करता है—घूमता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा की शक्ति से जल प्रवाह पृथिवी के ऊपरी भाग से नीचे को वहते हैं अन्न औषधि आदि के उत्पत्यर्थ तथा मनुष्यादि प्राणियों के सुख साधनार्थ गति करते हैं ॥ २ ॥

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना ।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥ ३ ॥

दिवि । स्वनः । यतते । भूम्या । उपरि । अनन्तम् । शुष्मम् । उत् । इयर्ति । भानुना । अभ्रात्ऽइव । प्र । स्तनयन्ति । वृष्टयः । सिन्धुः । यत् । एति । वृषभः । न । रोरुवत् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(भानुना शुष्मम्-उदियर्ति) सिन्धुः—अन्तरिक्षस्थजलसमूहो यदा अर्चिषा विद्युता "अजस्रेण भानुना-अजस्रेणार्चिषा" [श० ६ । ४ । १ । २] बलं वेगं प्रेरयति (दिवि स्वनः-यतते) तदाऽस्य शब्दः—आकाशे गच्छति "यततेगतिकर्मा" [निघ० २ । १४] (भूम्या-उपरि-अनन्तम्) भूम्याः उपरि—अनन्तं दूरपर्यन्तं गच्छतीत्यर्थः "भूम्या" षष्ठ्यर्थे तृतीया व्यत्ययेन (अभ्रात्-इव वृष्टयः स्तनयन्ति) मेघात् 'इवोऽपि दृश्यते पदपूरणः" [निरु० १ । ११] खलु वृष्टयः शब्दयन्ति (वृषभः-न-रोरुवत् सिन्धुः-यत्-एति) वृषभ इव भृशं शब्दं कुर्वन् यदा स्यन्दनशीलोऽन्तरिक्षस्थो जलसमूहो नीचैरागच्छति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(भानुना) अन्तरिक्षस्थ जल समूह जब विद्युत् के द्वारा (शुष्मम्) बल को—वेग को (उदियर्ति) प्रेरित करता है (दिविः स्वनः-यतते) तब आकाश में इसका शब्द प्राप्त होता है (भूम्या-उपरि) भूमि के ऊपर (अनन्तम्) दूर तक जाता है (अभ्रात्-इव) मेघ से (वृष्टयः स्तनयन्ति) वृष्टियां—वर्षायें शब्द करतीं हैं (वृषभः-न) वृषभ की भांति (रोरुवद्) बहुत शब्द करता हुआ (सिन्धुः-यत्-एति) स्यन्दनशील अन्तिरक्षस्थ जलसमूह नीचे आ जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्युत् से ताड़ित मेघ का जल शब्द करता हुआ भूमि पर आता है और निम्न स्थान पर दूर तक पहुंचता है उससे कृषि आदि का लाभ लेना चाहिए ॥ ३ ॥

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः ।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥ ४ ॥

अभि । त्वा । सिन्धो इति । शिशुम् । इत् । न । मातरः । वाश्राः । अर्षन्ति । पयसाऽइव । धेनवः । राजाऽइव । युध्वा । नयसि । त्वम् । इत् । सिचौ । यत् । आसाम् । अग्रम् । प्रऽवताम् । इनक्षसि ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धो) हे स्यन्दनशीलजलसमूह ! (वाश्राः-मातरः पयसा-इव धेनवः त्वा शिशुम्-अभि-अर्षन्ति) कामयमानाः-मातरः-नद्यः पयोहेतुना त्वां प्रशंसनीयं जलदातारम् "शिशुः शिशीतेर्दानकर्मणः" [निरु० १० । ३६] गाव इव "आपो वै धेनवः" [कौ० १ । १२१] अभिगच्छन्ति-प्रवहन्ति यद्वा निस्सरन्ति "अर्षन्ति निस्सरन्ति" [१७ । ६३ दयानन्दः] (त्वं राजा-इव युध्वा नयसि) यथा योद्धाराजा स्वसैनिकान् नयसि तथा त्वं नदीर्नयसि पृथिवीपृष्ठे (आसां प्रवताम्-अग्रं सिचौइनक्षसि) आसां गच्छताम् "प्रवतां गच्छताम्" [ऋ० २ । १३ । २ दयानन्दः] अपामग्रगमनं सेचनमार्गे [षिच् क्षरणे [तुदादि०] ततः किन् प्रत्यय औणादिको बाहुलकात्" व्याप्नोषि प्रेरयसि ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धो) हे स्यन्दनशील अन्तरिक्षस्थ जल समूह ! (वाश्रा मातरः) कामना करती हुई माताओं (धेनवः-इव) गौओं की भांति नदियाँ (पयसा) जल हेतु से (त्वा शिशुम्) तुझ जलदाता को आश्रित करके बहती हैं (त्वं राजा-इव युध्वा नयसि) जैसे योद्धा राजा अपने सैनिकों को लेता जाता है ऐसे तू नदियों को पृथिवी पृष्ठ पर ले जाता है (आसां प्रवताम्-अग्रम्) इन नदियों के आगे वहने को (सिचौ-इनक्षसि) सींचने के स्थान पर प्रेरित करता है ॥४॥

भावार्थ—नदियां पृथिवी पर वहती हैं पृथिवी पृष्ठ को सींचने के लिये, अन्तरिक्ष का जलसमूह इनका प्रेरक है ॥ ४ ॥

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ५ ॥

इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति । शुतुद्रि । स्तोमम् । सचत । परुष्णि । आ । असिक्न्या । मरुतऽवृधे । वितस्तया । आर्जीकीये । शृणुहि । आ । सुऽसोमया ॥५॥

संस्कृतान्वयार्थः—(गङ्गे) हे गमनशीले नदि ! "गङ्गा गमनात्" [निरु० ६ । २५] गच्छति हि यावद्गमनाय मार्गो भवेत् समुद्रान्तं न पुनर्मार्गः' तथाभूते नदि ! (यमुने) हे यमुने नदि ! प्रकृष्टं मिश्रयन्ती सती खल्वन्यां नदीम् "यु मिश्रणे" [अदादि०]

तथा भूते नदि ! "यमुना प्रयुवती" [निरु० ६ । २५] (सरस्वति) प्रचुर जलवति "सरस्वती सर उदकनाम तद्वती" [निरु० ६ । २५] (शुतुद्रि) शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशुतुन्नेव द्रवतीति वा [निरु० ६ । २५] तथाभूते नदि (परुष्ण्या) इरावत्या भासवत्या नद्या सह भास्वति कुटिल गामिनि नदी "इरावती परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी" [निरु० ६ । २५] (असिक्न्या) अशुक्लया "असिक्न्यशुक्ला ऽसिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्" [नि० ६ । २५] (मरुद्वृधे) मरुद्वर्धिते मरुतो वृधाः-वर्धका यासां ताः सर्वा नद्यः, तथाभूते "मरुत एना वर्धयन्ति" [नि० ६ । २५] (वितस्तया) अविदग्धयाऽतिग्रीष्म कालेऽपि या दग्धा शुष्का न भवति तथा भूतया नद्या सह (आर्जीकीये) विपाडाख्ये नदि "आर्जीकीयां विपाडित्याहुः" [निरु० ६ । २५] (सुषोमया) सिन्धुना पार्थिवसमुद्रेण सह "सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्य" [निरु० ६ । २५] (मे स्तोमं सचत आ-शृणुहि) ममाभिप्रायं यद्वा मह्यं प्रतिधिं स्वस्वस्तरं सेवयत तथाहि मदर्थं जल प्रदानं स्वीकुरु-इति प्रत्येकम् ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(गङ्गे) हे गमनशील समुद्र तक जाने वाली नदी ! (यमुने) हे अन्य नदी में मिलने वाली नदी ! (सरस्वति) हे प्रचुर जलवाली नदी ! (शुतुद्रि) हे शीघ्र गमन करने वाली या विखर विखर कर चलने वाली नदी ! (परुष्णि) हे परुष्णि—पर्ववाली भास वाली—दीप्ति वाली इरावती कुटिलगामिनी (असिक्न्या) कृष्णरंग वाली नदी के स्थल (मरुद्वृधे) हे मरुतों, वायुओं के द्वारा बढ़ने वाली फैलने वाली नदी (वितस्तया) अविदग्धा अर्थात् अत्यन्त ग्रीष्म काल में भी दग्ध शुष्क न होने वाली नदी के साथ (आर्जीकीये) हे विपाट्—किनारों को तोड़ फोड़ने वाली नदी (सुषोमया) पार्थिव समुद्र के साथ (मे स्तोमं सचत-आ-शृणुहि) मेरे अभिप्राय को या मेरे लिये अपने अपने स्तर को सेवन कराओ तथा मेरे लिये जलदान करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—पृथिवी पृष्ठ पर भिन्न भिन्न रूप और गति से बहने वाली नदियां मानव को लाभ पहुंचाने वाली हैं, उनसे लाभ होना चाहिए ॥ ५ ॥

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥ ६ ॥

तृष्टऽअमया । प्रथमम् । यातवे । सऽजूः । सुऽसर्त्वा । रसया । श्वेत्या । त्या । त्वम् । सिन्धो इति । कुभया । गोऽमतीम् । क्रुमुम् । मेहत्न्वा । सऽरथम् । याभिः । ईयसे ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(प्रथमं यातवे) प्रथमं गन्तुम् (तृष्टामया) तृष्टं तृष्णागतमल्पं गृहं यस्या साऽत्यन्ताल्पजलाशयया "अमा गृहं नाम" [निघ० ३ । ४] (सुसर्त्वा रसया सजूः) सुष्ठुसरणशीलया नद्या सह गमनया (त्या श्वेत्या) तया श्वेतवर्णं भूतया नद्या (कुभया) कुत्सितभया-अस्पृश्ययेव "कुभा कुत्सितप्रकाशा"

[ऋ० ५ । ५३ । ६ दयानन्दः] (गोमतीम्) बहुपृथिवीमतीं नदीम् (क्रुमुम्) दूरंगताम् "क्रुमुः क्रामिता" [ऋ० ५ । ५३ । ६ दयानन्दः] (मेहत्न्वा) सिञ्चन्त्या नद्या सह (सिन्धो) हे सिन्धो स्यन्दनशीलजलाशय ! (त्वं याभिः सरथम्-ईयसे) याभिः पूर्वोक्ताभिर्नदीभिः सह रमणस्थानं प्राप्नोषि ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(प्रथमं यातवे) प्रबलरूप से गति करने को (तृष्टामया) तृष्णा को प्राप्त थोड़े जलवाला घर–स्थान जिसका है ऐसे अत्यन्त थोड़े जलवाली नदी से (सुसर्त्वा रसया सजूः) अच्छी सरणशील साथ जाने वाली नदी के द्वारा (त्या श्वेत्या) उस श्वेतरंग के जलवाली नदी के द्वारा (कुभया) कुत्सित भय देने वाली के साथ (गोमतीम्) बहुत पृथिवी वाली अर्थात् विस्तार वाली (क्रुमुम्) दूर गई हुई नदी को (मेहत्न्वा) सींचने वाली के साथ (सिन्धो) हे स्यन्दनशील जलाशय (त्वं याभिः सरथम्-ईयसे) जिन पूर्व नदियों के साथ रमण स्थान को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—थोड़े जलवाली नदी बहुत जल वाली नदी के साथ मिल जाती है तीव्र गति से बहने वाली नदी निर्मल–श्वेत जल वाली होती है वह भयङ्कर गहरी होती है तथा फैलने वाली नदी और दूर तक जाने वाली नदी भूमि को सींचती हुई बहती हैं इन सब का आश्रय पार्थिव समुद्र है ॥ ६ ॥

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि ।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥ ७ ॥

ऋजीती । एनी । रुशती । महिऽत्वा । परि । ज्रयांसि । भरते । रजांसि । अदब्धा । सिन्धुः । अपसाम् । अपःऽतमा । अश्वा । न । चित्रा । वपुषीऽइव । दर्शता ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋजीती) ऋजुगामिनी सरला (एनी) श्वेता (रुशती) शुभ्रा (अदब्धा) अहिंसिता (अपसाम्-अपस्तमा) कर्मवतीनां वेगवतीनां कर्मवत्तया वेगवत्तया (अश्वा न) बडवेव (चित्रा) चायनीया (वपुषी) रूपवतीव (दर्शता) दर्शनीया (सिन्धुः) अन्तरिक्षस्थरजलसमूहः "सिन्धुः-अन्तरिक्षस्थ जलसमूहः" [ऋ० १ । ६८ । ३ दयानन्दः] समुद्ररूपा नदी (महित्वा) महत्त्वेन (ज्रयांसि रजांसि) वेगयुक्तानि जलानि (परि भरते) परितो धारयति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋजीती) ऋजुगामी सरल (एनी) श्वेत (रुशती) शुभ्र (अदब्धा) अहिंसित (अपसाम्-अपस्तमा) वेग वालियों में अत्यन्त वेग वाली (अश्वा न) घोड़ी के समान (चित्रा) चायनीय–(वपुषी-इव) रूपवती की भांति (दर्शता) दर्शनीय (सिन्धुः) अन्तरिक्षस्थ समुद्ररूप (महित्वा) महत्त्व से (ज्रयांसि रजांसि) वेगयुक्त जलों को (परि भरते) सब ओर से धारण करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—भांति भांति की जल धाराओं को अन्तरिक्षस्थ जलसमूह धारण करता है जो पृथिवी पर बरस कर लाभ पहुँचाता है ॥ ७ ॥

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥ ८ ॥

सुऽअश्वा । सिन्धुः । सुऽरथा । सुऽवासाः । हिरण्ययी । सुऽकृता । वाजिनीऽवती । ऊर्णाऽवती । युवतिः । सीलमाऽवती । उत । अधि । वस्ते । सुऽभगा । मधुऽवृधम् ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धुः) सा समुद्ररूपा समुद्रसदृशीमहती नदी "सिन्धुः-विस्तीर्णा नदी" [ऋ० १ । ९२ । १२ दयानन्दः] (स्वश्वा) शोभनाश्वतीव (सुरथा) शोभनरथवतीव (सुवासा) शोभनवस्त्रवतीव (हिरण्ययी) सुवर्णवतीव (सुकृता) शोभनं कृत्यं यस्याः तथाभूता (वाजिनीवती) प्रशस्तक्रियावती (ऊर्णावती) ऊर्णाप्रदेशवती (युवतिः) मिश्रण धर्मवती (सीलमावती) "सीरं कृषि साधकं हलादिकम्" [यजु० १८ । ७ दयानन्दः] रेफस्यलकारश्छान्दसः सीलं मिमीते सीलमा रज्जूभूता या ह्योशधिस्तद्वती (सुभगा) सुभाग्यकरी (उत) अपि च (मधुवृधम्-अधिवस्ते) जलेनवर्धनीयं स्थानमध्याच्छादयति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धुः) वह समुद्र-सदृश महती नदी है (स्वश्वा) शोभन अश्ववाली जैसी (सुरथा) शोभन रथवाली जैसी (सुवासा) शोभन वस्त्रवाली जैसी (हिरण्ययी) सुनहरी जैसी (सुकृता) शोभन कर्म वाली (वाजिनीवती) प्रशस्त क्रियावाली (ऊर्णावती) ऊर्ण प्रदेश वाली (युवति,) मिश्रण धर्म वाली (सीलमावती) कृषि साधनवाली (सुभगा) सुभाग्यकरी (उत) और (मधुवृधम्-अधिवस्ते) जल से वर्धनीय स्थान को आच्छादित करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अन्तरिक्षस्थ जलसमूह एक बड़ी भारी नदी है सारी पृथिवी की नदियों का आधार है वह पृथिवी पर बरस कर आती है बड़े वेग से घोड़ों की गति की भांति, बड़े सुन्दरयान की भांति आती है और पृथिवी पर वस्त्रसाधन कपास अन्य सुनहरी वस्तुओं बल क्रियाओं, खेती के उपयोगी धान्य को देती हुई और बढ़ाती हुई आती है ॥ ८ ॥

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।
महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥ ९ ॥

सुऽखम् । रथम् । युयुजे । सिन्धुः । अश्विनम् । तेन । वाजम् । सनिषत् । अस्मिन् । आजौ । महान् । हि । अस्य । महिमा । पनस्यते । अदब्धस्य । स्वऽयशसः विऽरप्शिनः ॥ ९ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(सिन्धुः) यः स्यन्दते "सिन्धुः-यः स्यन्दते प्रस्रुवति सुखानि सः परमात्मा" [ऋ० १ । ११ । ६ दयानन्दः] (अश्विनं सुखं रथं युयुजे) व्यापनवन्तं

सुखं रथं मोक्षं जगद्वा युनक्ति (तेन-अस्मिन्-आजौ वाजं सनिषत्) तेन खल्वस्मिन् प्राप्तव्ये-आनन्द भोगं-अन्नादिभोग स्थाने सम्भाजयति (अस्य-अदब्धस्य स्वयशसः-विरप्शिनः) अस्याहिंसनीयस्य स्वाधार यशस्विनो महतः (महान् हि महिमा पनस्यते) महान् हि महिमा प्रशस्यते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(सिन्धुः) जो सुखों को वहाता है वह परमात्मा (अश्विनं सुखं रथं-युयुजे) व्यापनेवाले सुखसाधक रमणीय मोक्ष या जगत् को हमारे लिए युक्त करता है (तेन-अस्मिन्-आजौ) उससे इस प्राप्तव्य भोग स्थान में (वाजंसनिषत्) आनन्दभोग को सम्भाजित करता है (अस्य-अदब्धस्य) इस अहिंसित (स्वयशसः-विरप्शिनः) स्वाधार यश वाले महान् परमात्मा की (महान् हि महिमा पनस्यते) ऊंची ही महिमा प्रशस्त की जाती है-गाई जाती है ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा सुखों को प्रवाहित करने वाला महान् सिन्धु है। वह हमारे लिए मोक्षानन्द तथा जगत् के सुख को प्रदान करता है, उसकी महिमा महान् है, हमें उसके यश का और गुणों का गान करना चाहिए ॥ ९ ॥



षट्सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—ऐरावतोजरत्कर्णः सर्पः ।

देवता—ग्रावाणः ।

छन्दः—१, ६, ८ पादनिचृज्जगती २, ३ आर्ची स्वराड्जगती
४, ७ निचृज्जगती ५ असुरी स्वराडार्ची निचृज्जगती ।

विषयः—अत्र सूक्ते वेदे मोक्षप्राप्तेरुपायः संसारसुखस्य चोपदेशाः सन्ति सदाचरणेन जीवनसाफल्यं विदुषां समागमः करणीय इत्येवमादयो विषयाः प्रदर्श्यन्ते ।

इस सूक्त में मोक्ष प्राप्ति का उपाय, संसार सुख के उपदेश सदाचरण से जीवन की सफलता विद्वानों का समागम करना चाहिए इत्यादि विषय हैं ।

आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन ।
उभे यथा नो अहनी सचाभुवा सदः सदो वरिवस्यात उद्भिदा ॥ १ ॥

आ । व । ऋञ्जसे । ऊर्जाम् । विऽउष्टिषु । इन्द्रम् । मरुतः । रोदसी इति । अनक्तन । उभे इति । यथा । नः । अहनी इति । सचाऽभुवा । सदःऽसदः । वरिवस्यातः । उत्ऽभिदा ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) युष्मान् विदुषः (आ-ऋञ्जसे) समन्तात् प्रसाधयामि प्रार्थयेऽनुकूलान् सेवे यद् यूयम् (ऊर्जां व्युष्टिषु) अन्नादि-वस्तूनां कमनीयप्रवृत्तिषु "व्युष्टिषु विविधा उष्टयः कामनाश्च तासु" [ऋ० १ । ४४ । ३ दयानन्दः] (इन्द्रं मरुतः-रोदसी-अनक्तन) ऐश्वर्यवन्तं परमात्मानं रोदसी रोधसी पापाद् रोधयितारौ मित्रसम्बन्धिनौ जीवन्मुक्तान् "मरुतो वै देवविशः" [कौ० ७ । ८] "रोदसी रोधसी" [निरु० ६ । १] सम्पादयत भावयत (यथा नः-उभे सचाभुवा-अहनी) यथा हि तया कृपया अस्मभ्यम्-उभौ सहभुवौ-अहोरात्रौ (सदः सदः) गृहे गृहे "ङि प्रत्ययस्य लुक्" सुपां सुलुक्० [अष्टा० ७ । १ । ३९] (उद्भिदा) दुःखनिवारकत्वेन "उद्भिदाः-दुःखनिवारकाः" [ऋ० १ । ८९ । १ दयानन्दः] (वरिवस्यातः) सेवेताम्-दुखनिवारकौ भवेताम् ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) तुम विद्वानों को (आ ऋञ्जसे) भलीभांति अपने अनुकूल बनाता हूँ, कि तुम (उर्जां व्युष्टिषु) अन्नादि को विविध कामनाओं में (इन्द्रं मरुतः-रोदसी) ऐश्वर्यवान् परमात्मा को, जीवन्मुक्तों को, पाप से रोकने वाले मित्र सम्बन्धियों को (अनक्तन) सुखरूप भावित करो (यथा नः) जैसे उस कृपा से हमारे लिये (उभे सचा भुवा-अहनी) दोनों साथ होने वाले दिन रात (सदःसदः) घर घर में (उद्भिदा) दुःखनिवारक रूप से (वरिवस्यातः) सेवन में आवें-दुख निवारक होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वानों के अनुकूल आचरण करने से अन्नादि प्राप्ति होती है परमात्मा जीवन्मुक्त मित्र सम्बधी जन भी अपनाते हैं, दिन रात भी प्रत्येक घर में सुखदायक व्यतीत होते हैं ॥ १ ॥

तदु श्रेष्ठं सवनं सुनोतनात्यो न हस्तयतो अद्रिः सोतरि ।
विदद्ध्यर्यो अभिभूति पौंस्यं महो राये चित्तरुते यदर्वतः ॥ २ ॥

तत् । ऊँ इति । श्रेष्ठम् । सवनम् । सुनोतन । अत्यः । न । हस्तऽयतः । अद्रिः । सोतरि । विदत् । हि । अर्यः । अभिऽभूति । पौंस्यम् । महः । राये । चित् । तरुते । यत् । अर्वतः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(तत्-उ श्रेष्ठं सवनं सुनोतन) तत् खलु श्रेष्ठमवसरं सम्पादयत (हस्तयतः-अत्यः-न) हस्तयोर्यतो नियन्त्रितोऽश्वो यथा भवति तथा "अत्योऽश्व नाम" [निघ० १ । १४] (सोतरि-अद्रिः) प्रेरयितरिपरमात्मनि श्लोककर्त्ता प्रशंसको भूयासम् "अद्रिरसि श्लोककृत्" [कठ० १ । ५] (अर्यः-अभिभूति पौंस्यं विदत्) स्वामी परमात्मा अभिभूतिकरं पौरुषमात्मबलं प्रापयेत् (महः-राये चित्) महते मोक्षैश्वर्याय खल्वपि (यत्-अर्वतः-तरुते) प्राप्तव्यान् प्राप्तान् वा पदार्थान् प्रयच्छति प्रवर्धयति तथाभूतं पौरुषं प्रापयेत् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(तत्-उ) उस (श्रेष्ठं सवनम्) श्रेष्ठ अवसर को (सुनोतन) सम्पन्न करो (हस्तयतः) हाथों में नियंत्रित (अत्यः-न) घोड़े के समान—जैसे घोड़ा होता है (सोतरि) प्रेरयिता परमात्मा में (अद्रिः) मैं प्रशंसक होऊँ (अर्यः) वह स्वामी परमात्मा (अभिभूति पौंस्यम्) अभिभवकारी पौरुष-आत्मबल को (विदत्) प्राप्त करावे (यत्-अर्वतः) प्राप्तव्य या प्राप्त पदार्थों को (तरुते) प्रदान करता है—बढ़ाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति में इतना बंध जाऊं जैसे घोड़ा बंध जाता है, इस ऐसे श्रेष्ठ अवसर को हम बनावें, वह स्वामी परमात्मा आत्मबल प्रदान करे, जिससे कि प्राप्तव्य पदार्थों को हम प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत् ।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः ॥ ३ ॥

तत् । इत् । हि । अस्य । सवनम् । विवेः । अपः । यथा । पुरा । मनवे । गातुम् । अश्रेत् । गोऽअर्णसि । त्वाष्ट्रे । अश्वऽनिर्निजि । प्र । ईम् । अध्वरेषु । अध्वरान् । अशिश्रयुः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य) अस्यात्मनः (तत्-इत्-हि) तदेव (सवनम्-अपः-विवेः) अवसरं कर्म विवृणोति (यथा मनवे पुरागातुम्-अश्रेत्) यथा पुरा काले मननशीलाय-अस्मैजनाय गमनं प्राप्तमभूत् (त्वाष्ट्रे गो-अर्णसि) त्वष्टुः परमात्मनः सम्बन्धिनि स्तुतिभिः प्राप्तव्यानन्दरसे मोक्षे (अश्वनिर्णिजि) इन्द्रियाश्वानां शोधनेन लभ्ये (अध्वरेषु-अध्वरान्-ईं प्र-अशिश्रयुः) अध्यात्मयज्ञेषु—अध्वरवन्तोऽध्यात्मयाजिनः "अकारोमत्वर्थीयोऽत्र छान्दसः" आश्रिता भवन्ति ॥३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य) इस आत्मा के (तत्-इत्-हि) उस (सवनम्) अवसर (अपः) तथा, कर्म को (विवेः) विकसित करता है (यथा पुरा) जैसे पूर्व (मनवे) मननशील जन के लिए (गातुम्-अश्रेत्) गमन को प्राप्त हुआ है (त्वाष्ट्रे) त्वष्टा—परमात्मा सम्बन्धी—(गो-अर्णसि) स्तुतियों से प्राप्तव्य आनन्दरसरूप मोक्ष में (अश्वनिर्णिजि) इन्द्रिय घोड़ों के शोधन से प्राप्त होने योग्य में (अध्वरेषु) अध्यात्म यज्ञों में (अध्वरान्) अध्यात्मयाजी (अशिश्रयुः) आश्रित होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा के लिए परमात्मा यह अवसर और कर्म विधान प्रदर्शित करता हैं कि आनन्द रसपूर्ण मोक्ष कैसे प्राप्त होता है, जो परम्परा से स्तुति करने वाला प्राप्त करता था । उस ऐसे अभीष्ट आनन्द का अध्यात्मयाजी आश्रय लिया करते हैं ॥ ३ ॥

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम् ।
आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥ ४ ॥

अप । हत । रक्षसः । भङ्गुरऽवतः । स्कभायत । निःऽऋतिम् । सेधत । अमतिम् । आ । नः । रयिम् । सर्वऽवीरम् । सुनोतन । देवऽअव्यम् । भरत । श्लोकम् । अद्रयः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः— (अद्रयः-भङ्गुरावतः-रक्षसः-अपहत) हेमन्त्रोपदेष्टारः प्रहारकप्रवृत्तिमतो दुष्टान् विचारान् नाशयत (निर्ऋतिं स्कभायत) नीरमणीयां प्रवृत्तिं स्तम्भयत—नियन्त्रयत (अमतिम्-अपसेधत) अज्ञतां दूरी कुरुत (नः-सर्ववीरं-रयिम्-आसुनोतन) अस्मभ्यं सर्वप्राणयुक्तम् "प्राणा वै दशवीराः [श० १२ । ८ । १ । २३] पोषं पोषणम् "रयिं देहि पोषं देहि" [काठ० १ । ७] सम्पादयत (देवाव्यं श्लोकं भरत) परमात्मदेवः प्राप्यो येन भवति तथाविधं वचनमस्मासु धारयत ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(अद्रयः) हे मंत्रोपदेश करने वाले विद्वानो ! तुम (भङ्गुरावतः) प्रहारक प्रवृत्ति वाले—(रक्षसः) दुष्ट विचारों को (अपहत) नष्ट करो (निर्ऋतिं स्कभायत) रमणता रहित या अरमणीय प्रवृति को नियंत्रित करो—रोको (अमतिम्-अपसेधत) अज्ञता को दूर करो (नः) हमारे लिए (सर्ववीरं रयिम्) समस्त प्राणों से युक्त पोषण को (आसुनोतन) सम्पादित करो (देवाव्यं श्लोकं-भरत) परमात्मदेव जिससे प्राप्त हो ऐसे वचन को हमारे अन्दर धारण करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन जनता को ऐसा उपदेश करें जिस से कि उसके अन्दर से दुष्ट विचार, अस्थिरता, अज्ञान दूर होकर स्वास्थ्य और परमात्मा की प्राप्ति कर सकें ॥ ४ ॥

दिवश्चिदा वोऽमवत्तरेभ्यो विभ्वना चिदाश्वपस्तरेभ्यः ।
वायोश्चिदा सोमरभस्तरेभ्योऽग्नेश्चिदर्च पितुकृत्तरेभ्यः ॥ ५ ॥

दिवः । चित् । आ । वः । अमवत्ऽतरेभ्यः । विऽभ्वना । चित् । आश्वपःऽतरेभ्यः । वायोः । चित् । आ । सोमरभःऽतरेभ्यः । अग्नेः । चित् । अर्च । पितुकृत्ऽतरेभ्यः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वः) हे अद्रयो मन्त्रवचनोपदेष्टारः ! युष्मभ्यम् (दिवः-चित्-अमवत्तरेभ्यः) सूर्यादपि खलुबलवत्तरेभ्यः प्रतापवत्तरेभ्यातीवप्रतापवद्भ्यः "अमो बलम्" [निरु० १० । २१] (विभ्वना चित् आश्वपस्तरेभ्यः) विभोः-आकाशादपि "विभुः-व्यापकः-आकाशः" [यजु० ५ । ३१ दयानन्द] 'टादेशः पञ्चमीस्थाने व्यत्ययेन' शीघ्रं विद्यासु अतिव्यापकेभ्यः (वायोः-चित्-सोमरभस्तरेभ्यः) वायोरपि शान्तज्ञान-रूप वेगवत्तरेभ्यः (अग्नेः-चित्-पितुकृत्तरेभ्यः) अग्नेरपि सर्वंस्वान्न कर्तृतरेभ्यः सर्वान्न-स्यातिभक्षकेभ्यः (आ-अर्च) अहमर्चामि प्रशंसामि "पुरुष व्यत्ययेन मध्यमः पुरुषः" ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(वः) हे मन्त्र वचन के उपदेष्टा जनो ! तुम्हारे लिए (दिवः-चित्-अमवत्तरेभ्यः) सूर्य से भी बलवत्तरो—अति प्रताप वालों के लिए (विभ्वना चित्) आकाश से भी (आश्वपस्तरेभ्यः) विद्याओं में शीघ्र अति व्यापकों के लिए (वायोः-चित्) वायु से भी (सोमरभस्तरेभ्यः) शान्त ज्ञानरूप अतिवेगवालों के लिए (अग्नेः-चित्) अग्नि से भी (पितु-कृत्तरेभ्यः) सब अपना अन्न अत्यन्त करने वालों के लिए—सब अन्न के अत्यन्त भक्षकों के लिए (आअर्च) मैं प्रशंसा करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्रोपदेष्टा जन सूर्य से भी अधिक प्रतापी, तेजस्वी, आकाश से भी अधिक विद्याओं में व्यापक, वायु से भी अधिक शान्त प्रवाह वाले, अग्नि से भी अधिक ज्ञानान्न के पचाने वाले होने चाहिएं और उनकी अर्चना करनी चाहिए ॥ ५ ॥

भुरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता ।
नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुरः ॥ ६ ॥

भुरन्तु । नः । यशसः । सोतु । अन्धसः । ग्रावाणः । वाचा । दिविता । दिवित्मता । नरः । यत्र । दुहते । काम्यम् । मधु । आऽघोषयन्तः । अभितः । मिथःऽतुरः ॥६॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यशसः-ग्रावाणः) यशस्विनः 'अकारोमत्वर्थीयः' विद्वांसः "विद्वांसो ग्रावाण." [श० ३ । ६ । ३ । १४] (नः-अन्धसः-सोतु-भुरन्तु) अस्मभ्य-माध्यानी यस्य परमात्मनः स्तोतव्यमुपासनीयं स्वरूपं भरन्तु "उकारश्छान्दसः" (दिवित्मता दिविता वाचा) दीप्तिमत्या दीव्यया वेदवाचा धारयन्तु–उपदिशन्तु (यत्र) यस्यां स्थितम् (काम्यं मधु नरः-दुहते) कमनीयं ज्ञानमधु जीवन्मुक्ता पुरुषाः "नरो ह वै देव विशः" [जै० १ । ८६] दुहन्ति-निः सारयन्ति (मिथस्तुरः-अभितः-आघोषयन्तः) परस्परं शीघ्रतां कुर्वन्तः सर्वतो घोषयन्तः प्रसिद्धं कुर्वन्तो वर्त्तन्ते ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(यशसः-ग्रावाणः) यशस्वी विद्वान् (नः) हमारे लिए (अन्धसः सोतु) आध्यानीय–भलीभांति ध्यान करने योग्य परमात्मा के उपासनीय स्वरूप को (भुरन्तु) उपदिष्ट करें (दिवित्मता) दीप्ति वाली–(दिविता) दिव्य (वाचा) वेदवाणी के द्वारा उपदेश करें (यत्र) जिसमें स्थित (काम्यं मधु) कमनीय ज्ञानमधु को (नरः) जीवन्मुक्त पुरुष (दुहते) दुहते हैं–निकालते हैं (मिथस्तुरः) परस्पर शीघ्रता करते हुए (आघोषयन्तः) सर्वतः घोषित करते हुए, प्रसिद्ध करते हुए वर्तते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त जन ध्यान करने योग्य परमात्मा के स्वरूप को दिव्यवाणी वेद के द्वारा समझाते हैं, जिस वेदवाणी में ज्ञानमधु भरा हुआ है, यह घोषित करते हुए उसे प्रकट करते हैं ॥६ ॥

सुन्वन्ति सोमं रथिरासो अद्रयो निरस्य रसं गविषो दुहन्ति ते ।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय कं नरो हव्या न मर्जयन्त आसभिः ॥ ७ ॥

सुन्वन्ति । सोमम् । रथिरासः । अद्रयः । निः । अस्य । रसम् । गोऽइषः । दुहन्ति । ते दुहन्ति ऊधः । उपसेचनाय । कम् । नरः । हव्या । न । मर्जयन्ते । आसभिः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(गविषः) स्तुतिवाचमिच्छन्तः (रथिरासः) रमणीय-मोक्षलक्ष्यवन्तः "रथिरः प्रशस्ता रथा विद्यन्ते यस्य सः" [ऋ० ३ । १ । १७ दयानन्दः] (अद्रयः) श्लोककृतो मन्त्रवचनस्याध्यापकाः "अद्रिरसि श्लोककृत्" [काठ० १ । ५] (सोमं सुन्वन्ति) शान्तस्वरूपं परमात्मानं स्वात्मनि साक्षात् कुर्वन्ति (अस्य) परमात्मनः (रसं-निः-दुहन्ति) आनन्दमन्तरात्मनि गृह्णन्ति "आनन्दो वै रसः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" [ ] तथा (उपसेचनाय ऊधः-दुहन्ति)

अन्येभ्योऽपित्पपरिवेशनाय तमूधोरूपंपरमात्मानं दुहन्ति (नरः कं हव्या न आसभिः मर्जयन्तः) हे जीवन्मुक्ताः खलु हव्यानि प्रार्थनीयवचनानि सम्प्रति "नकारः सम्प्रत्यर्थे [निरु० ६ । ८] मुखैः प्रेरयन्तः सन्तः "मार्ष्टि गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—स्तुति को चाहते हुए (रथिरासः) रमणीय मोक्ष लक्ष्य वाले (अद्रयः) मन्त्र वचन के अध्यापक (सोमं सुन्वन्ति) शान्तस्वरूप परमात्मा को अपनी आत्मा में साक्षात् करते हैं (अस्य) इस परमात्मा के (रसं निः-दुहन्ति) आनन्द को आत्मा में ग्रहण करते हैं तथा (उपसेचनाय) अन्यों के लिए भी देने के लिए (ऊधः) उस ऊधो रूप-आनन्दाधार परमात्मा को (दुहन्ति) दोहते हैं (नरः) वे जीवन्मुक्त (कं हव्या) प्रार्थनीय वचनों को (न) सम्प्रति (आसभिः) मुखों से (मर्जयन्तः) प्रेरित करते हुए वर्तमान रहते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त महानुभाव स्तुतियों के द्वारा अपनी आत्मा में परमात्मा को साक्षात् करते हैं और अन्यों के लिए भी अपने प्रवचनों से उन्हें परमात्मा की ओर प्रेरित करते हैं ॥ ७ ॥

एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः ।
वामं वामं वो दिव्याय धाम्ने वसु वसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥ ८ ॥

एते । नरः । सुऽअपसः । अभूतन । ये । इन्द्राय । सुनुथ । सोमम् । अद्रयः । वामम्ऽवामम् । वः । दिव्याय । धाम्ने । वसुवसु । वः । पार्थिवाय । सुन्वते ॥८॥

संस्कृतान्वयार्थः—(एते-अद्रयः-नरः) एते ये मन्त्रवचनपाठका जीवन्मुक्ताः (स्वपसः) शोभनकर्माणो यूयं (अभूतन) भवथ (मे-इन्द्राय सोमं सुनुथ) मह्य परमात्मने खलूपासनारसं सम्पादयथ (वः-वामं वामं दिव्याय धाम्ने) युष्माकं श्रेष्ठं श्रेष्ठं स्तुति वचनं दिव्य धाम्ने मोक्षाय मोक्ष प्राप्तये भवति (वसु वसु पार्थिवाय सुन्वते) सामान्यं धनं धनं प्रत्येकं धनं पार्थिव शरीराय सुखसम्पादनाय यूयं समर्थाः स्थ ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(एते) ये (अद्रयः) मन्त्र वचन पढ़ने वाले (नरः) जीवन्मुक्त (स्वपसः) शोभन कर्म वाले (अभूतन) तुम हो (ये) जो (इन्द्राय परमात्मा के लिए (सोमम्) उपासना रस को (सुनुथ) सम्पादित करते हो (वः) तुम्हारा (वामं वामम्) श्रेष्ठ श्रेष्ठ स्तुति वचन (दिव्याय धाम्ने) मोक्षधाम के लिए मोक्ष प्राप्ति के लिए है (वसु वसु) प्रत्येक सामान्य धन (पार्थिवाय) पार्थिव शरीर के लिए (सुन्वते) सुख सम्पादन के लिए तुम समर्थ हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त महानुभावों के प्रवचन मोक्षानन्द के लिए तथा सांसारिक सुख के लिए भी होते हैं, उन का सत्संग करना आवश्यक है ॥ ८ ॥



सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—भार्गवः स्यूमरश्मिः ।

देवता—मरुतः ।

छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप् २, ४ त्रिष्टुप्, ६-८ विराट् त्रिष्टुप् ५ पादनिचृज्जगती ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते जीवन्मुक्तेभ्यो ज्ञानं गृहीत्वा जनाः सांसारिक सुखस्य मोक्षानन्दस्य च अधिकारिणो भवन्तीत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में जीवन्मुक्त विद्वानों से ज्ञान ग्रहण करके सांसारिक सुख और मोक्षानन्द के अधिकारी बनते है इत्यादि विषय कहा है।

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः ।
सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे ॥ १ ॥

अभ्रऽप्रुषः । न । वाचा । प्रुष । वसु । हविष्मन्तः । न । यज्ञाः । विजानुषः । सुऽमारुतम् । न । ब्रह्माणम् । अर्हसे । गणम् । अस्तोषि । एषाम् । न । शोभसे ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अभ्रप्रुषः-न) यथा मेघात् सिच्यमाना जलबिन्दवः "प्रुषायत् सिञ्चत्" [ऋ० १ । १२१ । २ दयानन्दः] प्राप्यन्ते तथा (वाचा) स्तुत्या प्रसन्नाः सन्तो जीवन्मुक्ता विद्वांसः (वसुप्रुष) वसूनि ज्ञानधनानि सिञ्चन्ति 'व्यत्ययेन बहुवचने-एकवचनम्' (हविष्मन्तः-यज्ञाः न-विजानुषः) आहुतिमन्तो यजमानाः "यज्ञो वै यजमानः" [जै० १ । २५६] सुखस्य विशेषेण जनयितारो लोकेभ्यो भवन्ति तथा यूयं सुखयत (ब्रह्माणं सुमारुतं गणं न-अर्हसे) एतेषां जीवन्मुक्तानां महान्तं व्यवस्थितं गणं "मरुतो ह वै-देवविशः (कौ० ७ । ८] सम्प्रति "नकारः सम्प्रत्यर्थे" [निरुक्त ६ । ८] तेषां सत्काराय (न शोभसे) तथा च भाषणाय "शुभभाषणे" [भ्वादि०] (अस्तोषि) प्रशंसय "स्तुहि प्रशंसय" [ऋ० १ । २२ । ६ दयानन्दः] ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अभ्रप्रुषः-न) मेघ से सींचे जाते हुए जल बिन्दु जैसे प्राप्त होते हैं वैसे (वाचा) स्तुति से प्रसन्न हुए जीवन्मुक्त विद्वान् (वसुप्रुष) ज्ञान-धनों को सींचते हैं (हविष्मन्तः)

आहुति वाले (यज्ञाः) यजमान लोग (न विजानुषः) सुख के विशेषरूप से उत्पन्न करने वाले लोगों के लिए जैसे होते हैं वैसे तुम सुख देओ (एषाम्) इन जीवन्मुक्तों को (ब्रह्मरणाम्) महान् (सुमारुतम्) व्यवस्थित (गणम्) मण्डल की (न अर्हसे) सम्प्रति प्रशंसा कर, उनके सत्कार के लिए (न शोभसे) सम्प्रति भाषण के लिए (अस्तोषि) प्रशंसा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त महानुभावों की प्रशंसा करनी चाहिए, वे अपने अमृतभाषण को बरसाते हैं जैसे मेघ से जल बरसाते हैं ॥ १ ॥

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः ।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः ॥ २ ॥

श्रिये । मर्यासः अञ्जीन् । अकृण्वत । सुऽमारुतम् । न । पूर्वीः । अति । क्षपः । दिवः । पुत्रासः । एताः । न । येतिरे । आदित्यासः । ते । अक्राः । न । वावृधुः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मर्यासः) मनुष्याः (श्रिये-अञ्जीन्-अकृण्वत) भद्राय "श्रीर्वै भद्रम्" [जै० ३ । १७२] तान् जीवन्मुक्तान् व्यक्तान् कुर्वन्ति (सुमारुतम्) व्यवस्थित मरुद्गणं विद्वन्मण्डलं यथा (पूर्वीः-अतिक्षपः) पुरातनीः क्षेपयित्रीःप्रेरयित्री प्रवृत्तीरतीत्याग्रे गच्छेम (दिवः-पुत्रासः) प्रकाशमानस्य परमात्मनः पुत्रा जीवन्मुक्ताः (एताः-न येतिरे) एताः सुप्रवृत्तीः खलु न यातयन्ति नाशयन्ति (ते-आदित्यासः-अक्राः-न वावृधुः) ते साधारणाः पृथिव्यां भवा शरीरस्था वा आक्रमणकारिणो दोषा न वर्धरन् ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(मर्यासः) मनुष्य (श्रिये) भद्र कल्याण के लिए (अञ्जीन् अकृण्वत) उन जीवन्मुक्तों को प्रसिद्ध करते हैं (सुमारुतम्) जिनका सुव्यवस्थित विद्वन्मण्डल है (पूर्वीः-अतिक्षिपः) प्राचीन प्रेरणा करने वाली प्रवृत्तियों को हम आगे-आगे प्राप्त करें (दिवः-पुत्रासः) वे प्रकाशमान परमात्मा के पुत्र जीवन्मुक्त (एताः-न येतिरे) इन सुप्रवृतियों को नष्ट नहीं करते है (ते-आदित्यासः) वे अदिति-पृथिवी पर होने वाले या शरीरस्थ (अक्राः) आक्रमणकारी दोष (न वावृधुः) न बढ़ें ॥ २ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त महानुभावों को आदर देना चाहिए, इनके द्वारा प्राप्त प्रवृत्तियां या प्रेरणाएँ मनुष्य को आगे ले जाती हैं, उनसे पार्थिव एवं शारीरिक दोष नहीं बढ़ते हैं ॥ २ ॥

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणात्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः ।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ॥ ३ ॥

प्र । ये । दिवः । पृथिव्याः । न । बर्हणा । त्मना । रिरिच्रे । अभ्रात् । न । सूर्यः । पाजस्वन्तः । न । वीराः । पनस्यवः । रिशादसः । न । मर्याः । अभिऽद्यवः ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये बर्हणा त्मना) ये जीवन्मुक्ता विद्वांसः खलु प्रवृद्धेनात्मबलेन (दिवः-पृथिव्याः) द्युलोकान्-द्युलोक ज्ञानात् पृथिवीलोकात्-पृथिवीलोकज्ञानात् (अभ्रात्-न) अभ्रादभ्रवतोऽन्तरिक्षादन्तरिक्षलोक ज्ञानात् "अभ्र शब्दादकारो मत्वर्थीयश्छान्दसः" (न प्र रिरिच्रे) नहि प्रिक्ताः परिवर्जिताः सन्ति, किन्तु (सूर्यः-न) सूर्य इव सन्ति, यथा सूर्यो द्युलोकेन पृथिव्या-अभ्रमयेनान्तरिक्षेण सहच न वियुक्तोऽस्ति (पाजस्वन्तः-वीराः-न पनस्यवः) बलवन्तो वीरा इव ज्ञानवन्तः स्वप्रशंसायोग्याः (रिशादसः-न) हिंसाभाव प्रक्षेप्तार इव (अभिद्यवः-मर्याः) ज्ञानेनाभिद्योतमाना मनुष्याः सन्ति तेषां सङ्गतिः कार्येति शेषः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये) जो जीवन्मुक्त विद्वान् (बर्हणा) प्रवृद्ध-(त्मना) आत्मबल से (दिवः) द्युलोक-ज्ञान से (पृथिव्याः) पृथिवीलोक ज्ञान से (अभ्रात्) मेघवाले अन्तरिक्ष ज्ञान से (न प्ररिरिच्रे) नहीं परिवर्जित हैं किन्तु (सूर्यः-न) सूर्य के समान, जैसे सूर्य द्युलोक से पृथिवी लोक से और अन्तरिक्ष लोक से वियुक्त नहीं है (पाजस्वन्तः) बल वाले (वीराः-न) वीरों के समान ज्ञान वाले (पनस्यवः) अपनी प्रशंसा के योग्य (रिशादसः-न) हिंसा भाव से दूर करने वालों के समान (अभिद्यवः) ज्ञान से द्योतमान (मर्याः) मनुष्य हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो जीवन्मुक्त महानुभाव भारी आत्मबल से युक्त हो तीनो लोकों के ज्ञान से युक्त हों वे प्रशंसा के योग्य हैं उनकी सङ्गति अपने कल्याण के लिए मनुष्य करें ॥ ३ ॥

युष्माकं बुध्ने अपां न यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति ।
विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्राच आ गत ॥ ४ ॥

युष्माकम् । बुध्ने । अपाम् । न । यामनि । विथुर्यति । न । मही । श्रथर्यति । विश्वऽप्सुः । यज्ञः । अर्वाक् । अयम् । सु । वः । प्रयस्वन्तः । न । सत्राचः । आ । गत ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(युष्माकं बुध्ने) हे जीवन्मुक्ता विद्वांसः ! युष्माकं बोधने वेदज्ञाने "बुध्नः-यो बोधयति सर्वान् पदार्थान्" [ऋ० १ । ६६ । ६ दयानन्दः] (अपां न यामनि मही न विथुर्यति न श्रथर्यति) यथा जलानां गमने पृथिवी न व्यथां गच्छति "विथुराव्यथनानि" [ऋ४ ६ । २५ । ३ दयानन्दः] न हिंसिता भवति "व्यथ वधकर्मसु" [निघ० २ । १९] तथाऽस्माकमन्तः स्थली न व्यथते हिंस्यते (वः-अयं-यज्ञः-विश्वप्सुः-अर्वाक्) एष युष्माकं विश्वव्यापी विविधरूपो वा "विश्वप्सुविविधरुपम्" [ऋ० ६ । २५ । ३ दयानन्दः] ज्ञानयज्ञोऽस्मदभिमुखं सुष्ठु भवतु (प्रयस्वन्तःसत्राचः-आगत) प्रशस्तज्ञानवन्तः "प्रयस्वन्तः प्रशस्तानि प्रयांसि प्रज्ञानानि विद्यन्ते येषां ते [ऋ० १ । ६० । ३ दयानन्दः] "सत्रा सत्यनाम" [निघं० ३ । १०] सत्यमञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति च सत्यं ब्रह्म प्राप्ता आगच्छत ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(युष्माकम्) हे जीवन्मुक्त विद्वानो तुम्हारे (बुध्ने) बोधन कराने वाले वेदज्ञान में (अपांन) जलों के जैसे (यामनि मही) गमन में युक्त पृथिवी (न विथुर्यति) व्यथा को प्राप्त नहीं होती-हिंसित नहीं होती है वैसे हमारो अन्तः स्थली व्यथित नहीं होती है (वः) तुम्हारा (अयं यज्ञः) यह ज्ञानयज्ञ (विश्वप्सुः-अर्वाक्) विश्व व्यापी या विविधरूप भलीभांति हमारे अभिमुख हो-हमें प्राप्त हो (प्रयस्वन्तः-न) प्रशस्तज्ञान वालों के समान (सत्राचः-आगत) सत्य को प्राप्त होने वाले आवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वानों के द्वारा उनका ज्ञान बोधन प्रवाह हमें प्राप्त होवे जैसे जलों के प्रवाह से पृथिवी की कोई हानि नहीं होती ऐसे ही हमारी अन्त स्थली की कोई हानि नहीं होती वह तो निर्मल होती चली जाती है वह विश्व व्यापी ज्ञानयज्ञ हमें प्राप्त होता रहे एतदर्थ तुम भी प्राप्त होते रहो ॥ ४ ॥

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भासा व्युष्टिषु ।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः ॥५॥

यूयम् । धूःऽसु । प्रऽयुजः । न । रश्मिऽभिः । ज्योतिष्मन्तः । न । भासा । विऽउष्टिषु । श्येनासः । न । स्वऽयशसः । रिशादसः । प्रवासः । न । प्रऽसितासः । परिऽप्रुषः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यूयम्) हे विद्वांसः ! यूयं (धूर्षु-प्रयुजः) धारणीयेषु ज्ञानप्रबन्धेषु "धूर्वते धूर्धारयतेर्वा-अस्मान् [निरु० ३ । ६] प्रयोक्तारः प्रकृष्टेन नियोक्तारः सन्तः (रश्मिभिः-न) यथा प्रग्रहैरश्वान् प्रयोजयन्ति तथाऽस्मान् प्रयोजयितारः सन्तः (भासा-ज्योतिष्मन्तः-न) यथा वा ज्योतिषा ज्ञान ज्योतिषा ज्ञानप्रकाशवन्तः (व्युष्टिषु) विशिष्टज्ञानस्थलीषु जनेभ्यो ज्ञानज्योतिः प्रयच्छन्ति, तद्वत्, (श्येनासः-न स्वयशसः) यद्वा यथा शंसनीयाः स्वाधार यशस्विनो महात्मानस्तथा किं वा (रिशादसः प्रवासः-न) हिंसकान् दोषान् क्षेप्तारः प्रवसन्तोऽतिथयः प्रवक्तारः (प्रसितासः परिप्रुषः) प्रकृष्टनिर्मलाः पवित्राचरणा जनान् स्वोपदेशेनामृतेन परितः सिञ्चन्ति ये तथाभूता अस्माननुगृह्णन्तु ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यूयम्) हे विद्वानों ! तुम (धूर्षु प्रयुजः) धारणीय ज्ञान प्रबन्धों में प्रकृष्ट रूप से नियुक्त करने वाले होते हुए (रश्मिभिः-न) जैसे लगामों से घोड़ों को नियोजित करते हैं वैसे हमें नियुक्त करो (भासा ज्योतिष्मन्तः-न) जैसे ज्ञान ज्योति ज्ञान का प्रकाश करते हुए (व्युष्टिषु) विशिष्ट ज्ञान-स्थलियों में मनुष्यों के लिए ज्ञान ज्योति प्रदान करते हो उसी भांति (श्येनासः-न) अथवा प्रशंसनीय (स्वयशसः) स्वाधार यश वाले महात्मा अथवा (रिशादसः-प्रवासः-न) हिंसक दोषों को फेंकने वाले प्रवास करते हुए अतिथि प्रवक्ता जन (प्रसितासः परिप्रुषः) प्रकृष्ट निर्मल पवित्राचरण अपने उपदेश अमृत से मनुष्यों को सब ओर से सींचते हैं वैसे हम पर अनुग्रह करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन अपनी ज्ञान स्थलियों में हमें नियुक्त करें, ज्ञान से और शुभाचरण से हमें प्रसाधित करें, जैसे वे यशस्वी हैं वैसे हमें उपदेश अमृत देकर निर्दोष बनायें ॥ ५ ॥

प्र यद्वहध्वे मरुतः पराकाद्यूयं महः संवरणस्य वस्वः ।
विदानासो वसवो राध्यस्याराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोत ॥ ६ ॥

प्र । यत् । वहध्वे । मरुतः । पराकात् । यूयम् । महः । सम्ऽवरणस्य । वस्वः । विदानासः । वसवः । राध्यस्य । आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोत ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वसवः-मरुतः-यूयम्) हे वासयितारो विद्वांसः ! यूयम् (यत्) यदा (पराकात्) परात्-प्रकृष्टान्मोक्षधाम्नः (महः संवरणस्य वस्वः राध्यस्य) महत् संवरणीयं ग्रहणीयं वसुमोक्षानन्दधनं 'राध्यं संसेव्यम्" द्वितीयास्थाने षष्ठी व्यत्ययेन (वहध्वे) प्रापयत निजाध्यात्मप्रवचनेन, तदा (आरात्-चित्) अन्तः स्थानात्-अस्माकमन्तरात् खलु (सनुतः-द्वेषः-युयोत) अन्तर्हिताः ["सनुतः-निर्णीतान्तर्हितनाम निघ० ३ । २५"] द्वेषभावनाः पृथक् कुरुतेति युष्माकं महती कृपा ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(वसवः) हे बसाने वाले-(मरुतः) विद्वानो (यूयम्) तुम (यत्) जब (पराकात्) प्रकृष्ट मोक्षधाम से (महः) महान् (संवरणस्य) सम्यक् वरण करने योग्य-(वस्वः-राध्यस्य) आनन्द धन सेवन करने योग्यको (वहध्वे) अपने अध्यात्म प्रवचन से प्राप्त कराते हो, तब (अरात्-चित्) हमारे पास से (सनुतः) अन्तर्हित-अन्दर छिपी हुई (द्वेषः) द्वेष भावनाओं को (युयोत) पृथक् करो, यह आपकी कृपा होगी ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन अपने अध्यात्म उपदेश से मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि उसके अन्दर की द्वेष भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और मोक्षानन्द का अधिकारी बन जाता है ॥ ६ ॥

य उदृचि यज्ञे अध्वरेष्ठा मरुद्भ्यो न मानुषो ददाशत् ।
रेवत्स वयो दधते सुवीरं स देवानामपि गोपीथे अस्तु ॥ ७ ॥

यः । उत्ऽऋचि । यज्ञे । अध्वरेऽस्थाः । मरुत्ऽभ्यः । न । मानुषः । ददाशत् । रेवत् । सः । वयः । दधते । सुऽवीरम् । सः देवानाम् । अपि । गोऽपीथे । अस्तु ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः-अध्वरेष्ठाः-मानुषः) योऽध्यात्ममार्गवति योग समाधौ स्थितो जनः (उदृचि) उत्कृष्ट स्तुतिमति यज्ञे-ज्ञानयज्ञे (मरुद्भ्यः-सुवीरं-रेवत्-वयः-दधते) स शोभनप्राणयुक्तं मोक्षैश्वर्य्यवज्जीवनं धारयति "दध धारणे" [भ्वादि] तथा (सः-गोपीथे-देवानाम्-अस्तु) स खलु सोमपाने "गोपीथाय सोमपानाय" [निरु० १० । ३६] शान्तपरमान्दरस पाने जीवन्मुक्तानां मध्ये भवतु ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो (अध्वरेष्ठाः) अध्यात्म मार्ग वाले योग में स्थित (मानुषः) मनुष्य तथा (उद्दचि) उत्कृष्ट स्तुति वाले ज्ञान यज्ञ के निमित्त (मरुद्भ्यः) जीवन्मुक्तों के लिए (न) सम्प्रति (ददाशत्) अपने आत्मा को दे देता है, समर्पित करता है (सः) वह (सुवीरम्) शोभन प्राणों से युक्त (रेवत्) मोक्षैश्वर्य वाले (वयः) जीवन को (दधते) धारण करता है, तथा (सः) वह (गोपीथे) सोमपान-शान्त परमानन्दरसपान के निमित्त (देवानाम्-अस्तु) जीवन्मुक्तों के मध्य में-उनकी श्रेणी में हो जाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अध्यात्ममार्ग वाले योगाभ्यास तथा परमात्मा की स्तुति के निमित्त जो जीवन्मुक्त विद्वानों की संगति से मोक्षानन्द पान करने का अधिकारी उत्कृष्ट जीवन वाला बन जाता है ॥ ७ ॥

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शंभविष्ठाः ।
ते नोऽवन्तु रथतूर्मनीषां महश्च यामन्नध्वरे चकानाः ॥ ८ ॥

ते । हि । यज्ञेषु । यज्ञियासः । ऊमाः । आदित्येन । नाम्ना । शम्ऽभविष्ठाः । ते । नः । अवन्तु । रथऽतूः । मनीषाम् । महः । च । यामन् । अध्वरे । चकानाः ॥८॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ते हि) ते मरुता जीवन्मुक्ता विद्वांसः (यज्ञेषु यज्ञियाः-ऊमाः) ज्ञानयज्ञेषु यजनार्हा पूजार्हाः सत्कारयोग्याः पालकाः (आदित्येन नाम्नाशंभविष्ठाः) अदितिरखण्ड सुखं सम्पत्तिरूपमुक्तौभवेनानन्दरसेन जनानामतिशयितकल्याणकारकाः सन्ति (ते रथतूः) ते ये रमणीयं मोक्षम्प्रति गमयितारः प्रेरयितारः (अध्वरे यामन्) अध्यात्मयज्ञरूपे मार्गे वर्तमानानां (नः मनीषां महः-च चकानाः) अस्माकं प्रज्ञां यज्ज्ञानं च कामयमानाः (अवन्तु) अस्मान् शिष्यत्वेन रक्षन्तु श्रावयन्तु ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(ते) वे जीवन्मुक्त विद्वान् (यज्ञेषु) ज्ञानयज्ञों में (यज्ञियासः) पूजा के योग्य-सत्कार योग्य (ऊमाः) रक्षक (आदित्येन) अखण्ड सुख सम्पत्ति-मुक्ति में होने वाले आनन्दरस से मनुष्यों के अत्यन्त कल्याणकारक हैं (ते) षे (रथतूः) रमणीय मोक्ष के प्रति प्रेरित करने वाले (अध्वरे यामन्) अध्यात्म यज्ञरूप मार्ग में वर्तमान हुओं के (नः) हमारी (मनीषां) प्रज्ञा को (महः च) और महान् ज्ञान को (चकानाः) कामना करते हुए (अषन्तु) हमें शिष्यभाव से रखें और श्रवण करावें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वान् ज्ञान यज्ञ में सत्कार करने योग्य हैं, वे मोक्षानन्द के लिए मनुष्यों को प्रेरित करते हैं और अपनी शरण में लेकर बुद्धि तथा ज्ञान को बढ़ाते हैं ॥ ८ ॥



अष्टासप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—भार्गवः स्यूमरश्मिः ।

देवता—मरुतः ।

छन्दः—१ आर्ची त्रिष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् ८ त्रिष्टुप्, २, ५, ६ विराड् जगती ७ पादनिचृज्जगती ।

विषयः—अत्र सूक्ते ये जीवन्मुक्ताः सर्वत्र विचरणं कृत्वा जनान् पापान्निवारयन्ति ज्ञानोपदेशं कुर्वन्ति तेषां सङ्गति सत्कारौ कार्यावित्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में जो जीवन्मुक्त सर्वत्र विचरकर मनुष्यों को पाप से बचाते ज्ञान का उपदेश करते हैं उनकी सङ्गति तथा सत्कार करना चाहिए आदि विषय है ।

विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो३न यज्ञैः स्वप्नसः ।
राजानो न चित्राः सुसंदृशः क्षितीनां न मर्या अरेपसः ॥ १ ॥

विप्रासः । न । मन्मऽभिः । सुऽआध्यः । देवऽअव्यः । न । यज्ञैः । सुऽअप्नसः ।
राजानः । न । चित्राः । सुऽसंदृशः । क्षितीनाम् । न मर्याः । अरेपसः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मन्मभिः-स्वाध्यः-विप्रासः-न) हे मरुतः जीवन्मुक्ता जनाः ! यूयं मननीयैर्मन्त्रैः सुखसम्पत्तिमन्तो विशिष्टकामना पूरका इव (यज्ञैः-स्वप्नसः-देवाव्यः-न) यज्ञैः शोभनकर्माणः "अप्नः कर्मनाम" [निघ० २ । १] परमात्मदेवोपासका इव (सुसंदृशः-चित्राः-राजानः-न) सुखस्य सन्दर्शयितारः सुखस्यानुभावयितारश्चायनीयाः पूज्या राजान इव (क्षितीनां अरेपसः-मर्याः-नः) मनुष्याणां मध्ये निष्पापाः मनुष्या इवास्मभ्यं भवत ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(मन्मभिः) हे जीवन्मुक्त विद्वानों ! तुम मननीय मन्त्रों द्वारा (स्वाध्यः) सुख सम्पत्ति वाले (विप्रासः-न) विशेष कामना पूरी करने वाले जैसे (यज्ञैः) ज्ञान यज्ञों के द्वारा (स्वप्नसः) सुन्दर कर्म वाले (देवाव्यः-न) परमात्मदेव की उपासना करने वाले जैसे (सुसंदृशः) सुख के सम्यक् दिखाने वाले-सुख का अनुभव कराने वाले (चित्राः) चायनीय-पूजनीय (राजानः-न) राजाओं के समान (क्षितीनाम्) मनुष्यों के मध्य (अरेपसः) निष्पाप (मर्याः-न) मनुष्यों के समान हमारे लिए होवो ॥ १ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वान् अपने ज्ञानों से लोगों की कामनाओं को पूरा करने वाले तथा उत्तम कर्मों के द्वारा सुख का अनुभव कराने वाले मनुष्यों के अन्दर विचरण करते रहें॥ १ ॥

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्य ऊतयः ।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते ॥ २ ॥

अग्निः । न । ये । भ्राजसा । रुक्मऽवक्षसः । वातासः । न । स्वऽयुजः । सद्यःऽऊतयः । प्रऽज्ञातारः । न । ज्येष्ठाः । सुऽनीतयः । सुऽशर्माणः । न । सोमाः । ऋतम् । यते ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः-न ये भ्राजसा) अग्निरिव ये मरुतस्तेजसा (रुक्मवक्षसः-न-स्वयुजः-सद्यः-ऊतयः) तेजोवक्षा बाहुमन्त इव स्वयोग्यतावन्तः सद्यः रक्षकाः सन्ति (प्रज्ञातारः-न ज्येष्ठाः सुनीतयः) प्रकृष्ट ज्ञातार इव प्रमुखाः सुनयनकर्तारः (सुशर्माणः-न सोमाः-ऋतं यते) सुप्रतिष्ठानाः "सुशर्मा सुप्रतिष्ठाना" (श० ४।४।१-१४] इव शान्तसुखकराः अध्यात्मयज्ञं गतवते जनाय "यतते गतिकर्मा" [निघ०-१।१४] 'यत् क्विप् प्रत्ययो बाहुलकात्' उपदेशं कुर्वन्ति ॥ २॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः-न) अग्नि के समान (ये भ्राजसा) जो जीवन्मुक्त विद्वान् तेज से (रुक्मवक्षसः-न) तेजोरूप वक्ष-बाहु जिनके हैं उन जैसे (स्वयुजः) स्व योग्यता वाले (सद्यः-ऊतयः) तत्काल रक्षक हैं (प्रज्ञातारः-न) प्रकृष्ट जानने वालों के समान (ज्येष्ठाः सुनीतयः) प्रमुख सुनयन कर्ता-अच्छे नेता सुशर्माणः-न) सुप्रतिष्ठित जैसे (सोमाः) शान्त सुखप्रद (ऋतंयते) अध्यात्म यज्ञ को प्राप्त हुए जन के लिए उपदेश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो तेजस्वी ज्ञानवान् मनुष्यों के नेता सुप्रतिष्ठित शान्त सुखप्रद जीवन्मुक्त महानुभाव हैं उनसे अध्यात्ममार्ग का उपदेश लेना चाहिए ॥ २ ॥

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः ।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः ॥ ३ ॥

वातासः । न । ये । धुनयः । जिगत्नवः । अग्नीनाम् । न । जिह्वाः । विऽरोकिणः । वर्मण्ऽवन्तः । न । योधाः । शिमीऽवन्तः । पितॄणाम् । न । शंसाः । सुऽरातयः । ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वातासः-न ये धुनयः-जिगत्नवः) प्रबलवायव इव ये मरुतो जीवन्मुक्ता विद्वांसः पापानां कम्पयितारोऽग्रे गन्तारः (अग्नीनां जिह्वाः-विरोकिणः) ये चाग्नीनां ज्वाला इव तेजस्विनः (वर्मण्वन्तः-न योधाः) कवचिनो योद्धार इव कर्मठाः सन्ति पापविजये (पितॄणां न शंसाः सुरातयः) वृद्धानां मध्ये प्रशंसनीया ज्ञानदातारः सन्ति ते सङ्गमनीयाः ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(वातासः-न ये) प्रबल वायु के समान जो जीवन्मुक्त विद्वान् हैं (धुनयः-जिगत्नवः) पापियों के कंपाने वाले तथा अग्रगन्ता जन (अग्नीनां जिह्वाः) अग्नियों की ज्वालाओं के समान (विरोकिणः) विशेष तेजस्वी (वर्मण्वन्तः-न योधाः) कवच वाले योद्धाओं के समान कर्मठ हैं पापियों के विजय करने में (पितॄणां न शंसाः) वृद्धों के मध्य में प्रशंसनीय जैसे (सुरातयः) ज्ञान दाता हैं वे सङ्गति करने योग्य है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो महानुभाव जीवन देने वाले, पापों को दूर करने वाले आगे बढ़ाने वाले तेजस्वी कर्मठ प्रशंसनीय तथा ज्ञान के देने वाले हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए ॥ ३ ॥

रथानां न येऽराः सनाभयो जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः ।
वरेयवो न मर्या घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः ॥ ४ ॥

रथानाम् । न । ये । अराः । सऽनाभयः । जिगीवांसः । न । शूराः । अभिऽद्यवः । वरेऽयवः । न मर्याः । घृतऽप्रुषः । अभिऽस्वर्तारः । अर्कम् । न । सुऽस्तुभः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये रथानां न-अराः सनाभयः) ये जीवन्मुक्ता विद्वांसो रथस्य चक्राणामरा इव समानबन्धनाः-एकोपास्यवन्तः (जिगीवांसः शूराः न अभि द्यवः) जयशीलाः शूरा इव तेजस्विनः (वरेयवः-न मर्याः-घृतप्रुषः) वरणीये परमात्मनि मिश्रयितारस्सज्जनास्तेजः प्रेरकाः (अभिस्वर्तारः-अर्कं न सुष्टुभः) अर्चनीयं परमात्मानं वक्तुमुपदेष्टुं शीलं येषां ते तथाभूता इव सुष्ठुस्तोतारः "सुष्टुभः शोभनस्तोता" [ऋ० ५ । ७५ । ४ दयानन्दः] ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये) जो जीवन्मुक्त विद्वान् (रथानाम्-अराः-न) रथस्य चक्रों की शलाकाओं के समान (सनाभयः) एक बन्धन वाले एक उपास्य वाले (जिगीवांसः) जयशील (शूराः-न) शूर वीरों जैसे (अभिद्यवः) तेजस्वी (वरेयवः-न मर्याः) वरणीय परमात्मा में मिलनेवालों के समान सज्जन (घृतप्रुषः) तेज के प्रेरक (अभिस्वर्तारः) वक्ता जन (अर्कं न-सुष्टुभः) अर्चनीय परमात्मा की स्तुति करने वालों के समान हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो जीवन्मुक्त एक उपस्य वाले पापों पर विजय पाने वाले तेजस्वी वक्ता हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए ॥ ४ ॥

अश्वासो न ये ज्येष्ठास आशवो दिधिषवो न रथ्यः सुदानवः ।
आपो न निम्नैरुदभिर्जिगत्नवो विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः ॥५॥

अश्वासः । न । ये । ज्येष्ठासः । आशवः । दिधिषवः । न । रथ्यः । सुऽदानवः । आपः । नः । निम्नैः । उदऽभिः । जिगत्नवः । विश्वऽरूपाः । अङ्गिरसः । न । सामऽभिः ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ये-अश्वासः-न ज्येष्ठासः-आशवः) ये विद्वांसो विद्यायामाशु प्रवेशशीला ज्येष्ठा अश्वा इव सन्ति (दिधिषवः-रथ्यः-न सुदानवः) ध्यानवन्तः स्वशरीररथस्य स्वामिनः शोभनविद्यादातारः (आपः-न निम्नैः-उदभिः-जिगत्नवः) नद्य इव निम्नैर्जलैरिव ज्ञानप्रवाहका विद्वांसः सन्ति (विश्वरूपाः-अङ्गिरसः-न सामभिः) विश्वं ज्ञानं निरूपयितारः सर्वाङ्गशास्त्रज्ञानस्य प्रेरयितारः शान्तभावैरिव यथा भवितव्यं तथा ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ये) जो विद्वान् (अश्वासः) विद्या में शीघ्र प्रवेशशील (ज्येष्ठासः:-आशवः-न) श्रेष्ठ घोड़ों के समान हैं (दिधिषवः) ध्यानवान् (रथ्यः-न) रथस्वामियों के समान स्वशरीररथ के स्वामी (सुदानवः) शोभन विद्यादाता (आपः-न) नदियों के समान (निम्नैः-उदभिः) नीचे बहने वाले जल समान (जिगत्नवः) ज्ञान प्रवाहक हैं (विश्व-रूपाः-अङ्गिरसः-न) स्व ज्ञान के निरूपण करने वाले सर्वाङ्गशास्त्र ज्ञान प्रेरकों के समान (सामभिः) शान्तभावों से वर्तमान होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् विद्या में प्रवेश शील ध्यानवान् उपासक अपने शरीर रथ के स्वामी अर्थात् संयमी नम्र विद्या का प्रवाह चलाने वाले सब मनुष्यों तक प्रवृत्त होते हैं उनकी सङ्गति करनी चाहिए ॥ ५ ॥

ग्रावा॑णो॒ न सू॒रय॒ः सिन्धु॑मातर आद॒र्दिरा॑सो॒ अद्र॑यो॒ न वि॒श्वहा॑ ।
शि॒शू॒ला न क्री॒ळय॑ः सु॒मा॒तरो॑ महाग्रा॒मो न याम॑न्नु॒त त्वि॒षा ॥ ६ ॥

ग्रावा॑णः । न । सू॒रय॑ः । सिन्धु॑ऽमातरः । आ॒ऽद॒र्दि॒रास॑ः । अद्र॑यः । न । वि॒श्वहा॑ । शि॒शू॒लाः । न । क्री॒ळय॑ः । सु॒ऽमा॒तरः॑ । म॒हा॒ऽग्रा॒मः । न । याम॑न् । उ॒त । त्वि॒षा ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ग्रावाणः-न सूरयः सिन्धुमातरः) मेघा इव ज्ञानवृष्टिकरा विद्वांसो ज्ञानसिन्धुनिर्मातारः (आदर्दिरासः-अद्रयः-न विश्वहा) समन्तात् पापविदारकाः पाषाणाइव सदावर्तमानाः (शिशूलाः-न क्रीळयः सुमातरः) शिशु स्वभावा ज्ञानस्य क्रीडारूपेण प्रचारकाः सुनिर्मातारः (महाग्रामः-न त्विषा-यामन्-उत) महासमूहः तथा दीप्त्या यात्रायां वर्तमानाः सन्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(ग्रावाणः-न) मेघों के समान (सूरयः-सिन्धुमातरः) ज्ञान वृष्टि करने वाले विद्वान् तथा ज्ञानसिन्धु के निर्माण करने वाले (आदर्दिरासः) भली भांति पाप के विदीर्ण करने वाले (अद्रयः-न विश्वहा) पाषाणों के समान सदा वर्तमान (शिशूलाः-न) शिशु स्वभाव वाले जैसे (कीळयः-सुमातरः) ज्ञान का क्रीडा रूप से प्रचार करने वाले, अच्छे निर्माण करने वाले (महा-ग्रामः-न) महासमूह जैसे (त्विषा) दीप्ति से (यामन्-उत) यात्रा में वर्तमान हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—ज्ञान समूह को रखने वाले जनता में उस की वृष्टि करने वाले पापों को सदा विदीर्ण करने वाले संसार में मोक्षमार्ग की यात्रा करने वाले विद्वान् धन्य हैं, उन की संगति करनी चाहिए ॥ ६ ॥

उषसां न केतवोऽध्वरश्रियः शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन् ।
सिन्धवो न ययियो भ्राजदृष्टयः परावतो न योजनानि ममिरे ॥ ७ ॥

उषसाम् । न । केतवः । अध्वरऽश्रियः । शुभम्ऽयवः । न । अञ्जिभिः । वि । अश्वितन् । सिन्धवः । ययियः । भ्राजत्ऽऋष्टयः । पराऽवतः । न । योजनानि । ममिरे ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(उषसां न केतवः-अध्वरश्रियः) उषोवेलानां यथा किरणा भवन्ति तद्वत् तेऽध्यात्म यज्ञस्याश्रयीभूता जनेषु सदाध्यात्मयज्ञप्रचारकाः (शुभं यवः-न-अञ्जिभिः-अश्वितन) शुभ्रं प्रकाशस्य प्रापयितारो रश्मिभिरिव दीप्यन्ते "श्विता वर्णे" [भ्वादि] "लङ्गिरूपम्" (सिन्धवः-न ययियः) नद्य इव गन्तारो ज्ञानप्रेरकाः (भ्राजत्-ऋष्टयः) दीप्तज्ञानं स्रवन्तः (परावतः न योजनानि ममिरे) दूरदेशे अपि यथायोग्यं योजनानि निर्मान्ति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(उषसां न केतवः) उषा वेलाओं की किरणें जैसे होती हैं (अध्वरश्रियः) अध्यात्म यज्ञ के आश्रयीभूत अर्थात् अध्यात्मयज्ञ प्रचारक (शुभं यवः-न अञ्जिभिः शुभ्र ज्ञानप्रकाश के प्राप्त कराने वाले रश्मियों के समान (अश्वितन्) दीप्त होते हैं (सिन्धवः-न-ययियः) नदियों की भांति गति करने वाले ज्ञानप्रेरक (भ्राजत्ऽऋष्टयः) दीप्तज्ञान को स्रवित करने वाले (परावतः-न योजनानि ममिरे) दूर देश में भी यथायोग्य योजनाओं का निर्माण करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् प्रातर्वेला में किरणों के समान आगे बढ़ने वाले ज्ञान के प्रकाशक, नदियों के समान प्रगतिशील दूर देशों में भी सफल योजनाओं को सफल बनाने वाले हैं, वे धन्य हैं उनकी संगति करनी चाहिए ॥ ७ ॥

सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन्मरुतो वावृधानाः ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥ ८ ॥

सुऽभागान् । नः । देवाः । कृणुत । सुऽरत्नान् । अस्मान् । स्तोतॄन् । मरुतः । वावृधानाः । अधि । स्तोत्रस्य । सख्यस्य । गात । सनात् । हि । वः । रत्नऽधेयानि । सन्ति ॥ ८ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मरुतः-देवाः) हे जीवन्मुक्ता विद्वांसः यूयम् (नः) अस्मान् (सुभागान् कृणुत) स्वज्ञानैः सुभागवः कुरुत (अस्मान् स्तोतॄन् वावृधानाः-

सुरत्नान्) अस्मान् परमात्मस्तुतिकर्तॄन् वर्धयमाना अध्यात्मरमणीयसुखवतः कुरुत (स्तोत्रस्य सख्यस्य-अधिगात) स्तुतियोग्यस्य परमात्मना सहसखित्व सम्पादकस्य साधनस्य गातमस्मान् गायत–उपदिशत (वः-रत्नधेयानि सनात्-हि सन्ति) युष्माकं अस्मदर्थं रत्नानां धातव्यानि–अन्तः प्रवेष्टव्यानि स्थापनीयानि हि सन्ति ॥ ८ ॥

भाषान्वयार्थ—(मरुतः-देवाः) हे जीवन्मुक्त विद्वानों ! तुम (नः) हमें (सुभागान्-कृणुत) अपने ज्ञान में सुभाग वाले-उत्तमभागीदार करो (अस्मात् स्तोतॄन्) हम स्तुति करने वालों को (वावृधानाः) बढ़ाते हुए (सुरत्नान्) अध्यात्म रमणीय सुख वाले करो (स्तोत्रस्य-सख्यस्य अधिगात) स्तुति करने योग्य परमात्मा के साथ सखिभाव के साधन का उपदेश करो (वः-रत्नधेयानि) तुम्हारे रत्नों के धातव्य-अन्दर प्रवेष्टव्य-स्थापनीय हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जीवन्मुक्त विद्वानों का सङ्गकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिए कि अपने ज्ञान में भाग वाले बनावें परमात्मा के साथ मित्र-भाव हो जावे ऐसा उपदेश करें और अध्यात्मरत्न हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जावें ॥ ८ ॥



एकोनशीतितमं सूक्तम

ऋषिः—सौचिको वैश्वानरो वा अग्निः, वाजम्भरः सप्तिर्वा ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् २, ४, ६ विराट् त्रिष्टुप्, ३ निचृत् त्रिष्टुप्, ५ आर्ची विराट् त्रिष्टुप्, ७ त्रिष्टुप् ।

विषयः—अत्र सूक्ते परमात्मा जीवेभ्यो भोगपदार्थान् प्रयच्छति जीवन्मुक्तेभ्यो मोक्षं ददाति, संसारस्योत्पत्ति स्थिति संहारकारणं चेत्येवमादयो विषयाः वर्ण्यन्ते ।

इस सूक्त में परमात्मा जीवों के लिए भोग पदार्थ प्रदान करता है जीवन्मुक्तों के लिये मोक्ष देता है, संसार की उत्पत्ति स्थिति संहार का कारण भी है इत्यादि विषय वर्णित हैं ।

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ।
नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ॥ १ ॥

अपश्यम् । अस्य । महतः । महिऽत्वम् । अमर्त्यस्य । मर्त्यासु । विक्षु । नाना । हनू इति । विभृते इति विऽभृते । सम् । भरेते इति । असिन्वती इति । बप्सती इति । भूरि । अत्तः ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अस्य महतः-अमर्त्यस्य महित्वम्) एतस्य महद्भूतस्याविनश्वरस्य परमात्मनो महत्त्वम् गुणगौरवं स्वरूपं वा (मर्त्यासु विक्षु-अपश्यम्) मरणधर्मिणीषु स्थावर जङ्गम प्रजासु व्याप्तमहं साक्षात् करोमि सम्यक् जानामि वा (नाना हनू विभृते सं भरेते) यस्य भिन्नभिन्न रूपे हनू इवहननसाधने आदान साधने सर्वत्र सर्वं संगृह्णीतः (असिन्वती बप्सती भूरि-अत्तः) ये ते हनू बन्धनरहिते स्वतन्त्रे प्रतिबन्धरहिते भक्षयन्त्यौ भक्षणशीले अपर्याप्तं भक्षयतः "अत्ता चराचरग्रहणात्" [वेदान्त] संहार काले सर्वाः प्रजाः भक्षयति स परमात्मा ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अस्य महतः) इस महान्–विभु (अमर्त्यस्य) अविनश्वर परमात्मा के (महित्वम्) महत्त्व–गुण गौरव या स्वरूप को (मर्त्यासु विक्षु) मरणधर्मी स्थावर जङ्गम प्रजाओं में व्याप्त हुए को (अपश्यम्) मैं साक्षात् करता हूँ या जानता हूँ (नाना-हनू) जिस के

भिन्न-भिन्न हनु की भांति हनन साधन-ग्रहण साधन सर्वत्र (विभृते सम्भरेते) सब को संगृहीत करते हैं, सम्यक् ले लेते हैं (असिन्वती) वे हनन साधन बन्धन रहित (वप्सती) भक्षण करने वाले-भक्षणशील (भूरि-अत्तः) बहुत भक्षण कर लेते हैं-संहार काल में सारी प्रजाओं को परमात्मा भक्षण कर लेता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा महान् है विभु है इसका महत्त्व समस्त स्थावर जंगम वस्तुओं में व्याप्त है। संहार काल में सब को अपने अन्दर ले लेता है, इस ऐसे उत्पादक, धारक, संहारक को मानना और उस की उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि ।
अत्राण्यस्मै पड्भिः संभरन्त्युत्तान हस्ता नमसाधि विक्षु ॥ २ ॥

गुहा । शिरः । निऽहितम् । ऋधक् । अक्षी इति । असिन्वन् । अत्ति । जिह्वया । वनानि । अत्राणि । अस्मै । पट्ऽभिः । सम् । भरन्ति । उत्तानऽहस्ताः । नमसा । अधि । विक्षुः ॥ २ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(शिरः-गुहा निहितम्) अस्य शिरोवदुत्तमं धाम मुक्तानामाश्रयणीयो मोक्षः सूक्ष्मस्थितौ रक्षितम् (अस्मै) एतस्मै परमात्मने (विक्षुः-अधि) समस्तासु प्रजासु मध्ये (उत्तानहस्ता) ये सन्ति खलूत्तानहस्ता उदारहस्ताः सरलभावाः (नमसा) स्तुत्या (पड्भिः) योगाङ्गैः (अत्राणि सम्भरन्ति) स्वकीयानि साधुभोक्तव्यानि कर्माणि सम्पादयन्ति ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(शिरः) इस का सिर के समान उत्तम धाम मोक्षरूप (गुहा निहितम्) सूक्ष्म स्थिति में रखा है (अस्मै) इस परमात्मा के लिए (विक्षुः-अधि) समस्त प्रजाओं के मध्य (उत्तानहस्ताः) जो उदार हाथ वाले-सरलभाव वाले (नमसा) स्तुति के द्वारा (पड्भिः) योगाङ्गों से (अत्राणि सम्भरन्ति) स्वकीय अच्छे भोक्तव्य कर्मों का सम्पादन करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मुक्तात्माओं का आश्रय योग्य धाम मोक्ष है, जो मनुष्य उदार भावनाओं वाले स्तुति और योगाङ्गों का सेवन करके उत्तम कर्म करते हैं वे मोक्ष के भागी बनते हैं ॥ २ ॥

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥ ३ ॥

प्र । मातुः । प्रऽतरम् । गुह्यम् । इच्छन् । कुमारः । न । वीरुधः । सर्पत् । उर्वीः । ससम् । न । पक्वम् । अविदत् । शुचन्तम् । रिरिह्वांसम् । रिपः । उपऽस्थे । अन्तरिति ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः— (मातुः प्रतरं गुह्यम्-इच्छन्) तस्य परमात्मनो मातृभूतस्य प्रकृष्टतरं गुप्तं मोक्षधाम वाञ्छन्-उपासक आत्मा (कुमारः-न उर्वीः-वीरुधः प्रसर्पत्) बाल इव बहुविधानि रचनाविशेषेण कार्यकारण द्रव्याणां विरोहणे योग्य भूमिः "वीरुत्सु सत्ता रचनाविशेषेषु निरुद्धेषु कार्यकारणद्रव्येषु" [ऋ० १ । ६७ । ५ दयानन्दः] प्राप्नोति (पक्वं शुचन्तं ससम् न) पक्वं शुभमन्नमिव कर्मफलं (रिरिह्वांसं रिपः-उपस्थे-अन्तः) आस्वादयन्तं पृथिव्याः-उपस्थे-शरीरस्थाने-अन्तर्गते प्राप्नोति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(मातुः) उस माता परमात्मा के (प्रतरम्) प्रकृष्टतर–अत्युत्तम (गुह्यम्) गुप्त मोक्ष धाम को (इच्छन्) चाहता हुआ उपासक आत्मा (कुमारः-न) बालक के समान (उर्वीः-वीरुधः) बहुविध रचना विशेष से कार्य कारण द्रव्यों की विरोहण करने योग्य भूमियों को (प्रसर्पत) प्राप्त होता है (पक्वं शुचन्तम्) पके हुए शुभ्र (ससं न) अन्न की भांति कर्म फल को (रिरिह्वांसम्) आस्वादन करते हुए को (रिपः-उपस्थे अन्ते) शरीर स्थान के अन्तर्गत (अविदत्) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उपासक आत्मा माता परमात्मा के आनन्द धाम मोक्ष का आस्वादन करने के लिए ऐसे प्राप्त होता है जैसे कोई बालक कर्मानुसार युवति माता के आश्रय में सुखों को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति ।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ॥ ४ ॥

तत् । वाम् । ऋतम् । रोदसी इति । प्र । ब्रवीमि । जायमानः । मातरा । गर्भः । अत्ति । न । अहम् । देवस्य । मर्त्यः । चिकेत । अग्निः । अङ्ग । विऽचेताः । सः । प्रऽचेताः ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(रोदसी मातरा) हे रोधसी-पापादुरोधयितुमा निरोधयित्र्यौ मातापितरौ (वाम्) युवयोः (तत्-ऋतं प्र ब्रवीमि) तं सत्यव्यवहारं प्रकथयामि (जायमानः-गर्भः-अत्ति) जनिष्यमाणो गर्भभूतो बालो युवां खादति युवाभ्यामेवाहारं गृह्णाति (अहम्-अग्निः-मर्त्यः-देवस्य न चिकेत) अहं शरीरनेता जीवात्मा जन्मदातुः परमात्मनः स्वरूपं न वेद (अङ्ग विचेताः सः प्रचेताः) अरे स यो विशिष्टतया चेतयिता प्रचेतयिता चास्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(रोदसी मातरा) हे पापों के रोध-निरोध निवारण करने वाले माता-पिताओ (वाम्) तुम दोनों के (तत्-ऋतं प्रब्रवीमि) उस सत्य व्यवहार को मैं कहता हूँ, कि (जायमानः-गर्भः-अत्ति) उत्पन्न होने वाला गर्भरूप बालक तुम दोनों को खाता है तुम दोनों से आहार ग्रहण करता है (अहम्-अग्निः- मर्त्यः) मैं शरीर का नेता जीवात्मा (देवस्य न चिकेत)

जन्मदाता परमात्मा के स्वरूप को नहीं जानता (अङ्ग विचेताः स प्रचेताः) वह विशेष चेताने वाला तथा प्रकृष्ट चेताने वाला हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—माता पिता बालक को अनेक दोषों से बचावें या बचाया करते हैं। बालक जन्म से ही माता पिता के अङ्गों से बढ़ता है तथा उत्पन्न करने वाला परमात्मा उसे विशेष सावधान करता है संसार में रहने के लिए तथा प्रकृष्ट रूप में प्रबुद्ध करता है मोक्ष प्राप्ति के लिए वह उसे भी नहीं जानता है उसे जानना और मानना चाहिए इसी में कल्याण है ॥ ४ ॥

यो अस्मा अन्नं तृष्वा३दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति ।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम् ॥ ५॥

यः । अस्मै । अन्नम् । तृषु । आऽदधाति । आज्यैः । घृतैः । जुहोति । पुष्यति । तस्मै । सहस्रम् । अक्षऽभिः । वि । चक्षे । अग्ने । विश्वतः । प्रत्यङ् । असि । त्वम् ॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(यः) यः परमात्मा (अस्मै) एतस्मै जीवात्मने (तृषु-अन्नम्-आदधाति) क्षिप्रं सद्यः "तृषु क्षिप्र नाम" [निघं० २ । १५] अदनीयं पानीयमाहारं दुग्धरूपं मातृस्तने रसं वनस्पतिषु स्थापयति (आज्यैः-घृतैः-तस्मै जुहोति पुष्यति) प्राणैः "प्राणो वा आज्यम्" [तै० ३ । ८ । १५ । २३] भिन्न भिन्न तेजोभिश्च तम् विभक्तिव्यत्ययेन चतुर्थी स्वीकरोति वर्धयति पोषयति (अग्ने) हे परमात्मन् ! (सहस्रम्-अक्षभिः) बहुभिरनन्त व्याप्तदर्शनशक्तिभिः (विचक्षे) विशिष्टं पश्यसि जानासि (त्वं विश्वतः प्रत्यङ्-असि) सर्वत्र साक्षाद्भूतोऽसि ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(यः) जो परमात्मा (अस्मै) इस जीवात्मा के लिए (तृषु) शीघ्र-तत्काल-जन्म समय ही (अन्नम्) दुग्धरूप आहार को (आदधाते) माता के स्तनों में स्थापित करता है तथा वनस्पतियों में रखता है (आज्यैः-घृतैः) प्राणों से और भिन्न-भिन्न तेजों से (तस्य) तम् (जुहोति पुष्यति) अपनी शरण देता है और पोषण करता है (अग्ने) हे परमात्मन् (सहस्रम-अक्षभिः) अनन्त व्याप्त दर्शन शक्तियों से (विचक्षे) विषिष्ट रूप से देखता है जानता है (त्वं विश्वतः प्रत्यङ्-असि) तू सर्वत्र साक्षात् विराजमान है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे जीवात्मा संसार में जन्म लेता है उसी समय से तुरन्त ही परमात्मा उसके आहार की व्यवस्था करता है माता के स्तनों में दूध देता है वनस्पतियों में रस देता है तथा प्राणों और जीवन प्रद तेज प्रभावों से बढ़ाता और पुष्ट करता है तथा अपनी अनन्त ज्ञान दृष्टियों से सब कुछ जानता है और सर्वत्र विराजमान है ॥ ५ ॥

किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान् ।
अक्रीळन् क्रीळन् हरिरत्तवेऽदन्वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः ॥ ६ ॥

किम् । देवेषु । त्यजः । एनः । चकर्थ । अग्ने । पृच्छामि । नु । त्वाम् । अविद्वान् । अक्रीळन् । क्रीळन् । हरिः । अत्तवे । अदन् । वि । पर्वऽशः । गाम्ऽइव । असिः ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्ने देवेषु किं त्यजः-एनः-चकर्थ) हे अग्रणायक परमात्मन् ! देवेषु विद्वत्सु जीवन्मुक्तेषु कथं क्रोधः "त्यजः क्रोधनाम" निघं० (२ । १३] तथा पापं करोषि न कथमपीत्यर्थः (नु-अविद्वान् त्वां पृच्छामि) पुनस्त्वामहमविद्वान् पृच्छामि (अक्रीडन् क्रीडन् हरिः-अत्तवे-अदन्) अजानन्, जानन् संहर्ता स्वस्मिन् ग्रहणाय गृह्णन् सन् (असिः पर्वशः-गाम्-इव विचकर्त) यथा दात्रमन्नतरुम् "अन्नं वै गौः" [श० ४ । ३ । ४ । २५] प्रतिपर्वं छिनत्ति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—) अग्ने) हे अग्रणायक परमात्मन् ! तू (देवेषु) जीवन्मुक्त विद्वानों में (त्यजः-एनः) क्रोध तथा पाप (किं चकर्थ) क्या करता है ? अर्थात् नहीं करता है (नु-अविद्वान् त्वां पृच्छामि) अविद्वान् होता हुआ तुझ से पूछता हूँ (अक्रीडन् क्रीड (हरिः) न जानता हुआ या जानता हुआ तू संहर्ता (अत्तवे-अदन्) अपने में ग्रहण करने के लिए ग्रहण करता हुआ (असिः) द्रांती (पर्वशः) टुकड़े टुकड़े कर (गाम्-इव) अन्न के पौधे को जैसे (विचकर्त) छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा जीवन्मुक्त विद्वानों के निमित्त कोई क्रोध या अहित कार्य नहीं करता है । इस बात को अविद्वान् नहीं जान सकता किन्तु वह जो संसार में जनमा है लीलया उसका संहार करके अपने में ले लेता है प्रत्येक अङ्ग का विभाग करके ॥ ६ ॥

विषूचो अश्वान्युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान् ।
चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः ॥ ७ ॥

विषूचः । अश्वान् । युयुजे । वनेऽजाः । ऋजीतिऽभिः । रशनाभिः । गृभीतान् । चक्षदे । मित्रः । वसुऽभिः । सुऽजातः । सम् । आनृधे । पर्वऽभिः । ववृधानः ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वनेजाः) सम्भजनीये शरीरे जातोऽयमात्मा (ऋजीतिभिः-रशनाभिः-गृभीतान्) सरलाभिरशनयोग्याभिर्भोगप्रवृत्तिभि गृहीतान् (विषूचः-अश्वान् युयुजे) भिन्न भिन्न विषयकान्-इन्द्रियाश्वान् योजयति (मित्रः-वसुभिः सुजातः-चक्षदे) स स्नेहकर्ता रागी प्राणैः सह प्रसिद्धो ज्ञानी भवति (पर्वभिः-वावृधानः समावृधे) काल पर्वभिर्वर्धमानः स्वाङ्गै रपि सम्यगृद्धिमाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(वनेजाः) सम्भजनीय शरीर में उत्पन्न यह आत्मा (ऋजीतिभिः) सरल—(रशनाभिः) अशन योग्य प्रवृत्तियों द्वारा (गृभीतान्) गृहीत—(विषूचः-अश्वान्) भिन्न

भिन्न विषय वाले इन्द्रिय घोड़ों को (युयुजे) युक्त करता है–जोड़ता है (मित्रः) वह स्नेह कर्ता–रागी (वसुभिः) प्राणों के साथ (सुजातः) सुप्रसिद्ध हुआ (चक्षदे) ज्ञानवान् होता है–चेतन होता है (पर्वभिः) काल पर्वों से तथा स्वाङ्ग पर्वों से तथा–अपने शरीर जोड़ों से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (समावृधे) समृद्ध होता है–यौवन को प्राप्त होता हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—आत्मा शरीर के अन्दर प्राणों के साथ प्रसिद्ध हो जन्म लेता है और भोग प्रवृत्तियों में इन्द्रियों को लगाता है, धीरे-धीरे समय पाकर तथा अपने अङ्गों से पूर्ण आयु को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥



अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—सौचिको वैश्वानरो वा-अग्निः ।

देवता—अग्निः ।

छन्दः—१, ५, ६ विराट् त्रिष्टुप्, २-४ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ३, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ।

विषयः—अस्मिन् सूक्ते परमात्मा स्वस्तुति कर्तारं जनं पापान्निवारयति मोक्षं च तस्मै प्रयच्छतीत्येवमादयो विषयाः सन्ति ।

इस सूक्त में परमात्मा अपने स्तुति करने वाले को पाप से बचाता है मोक्ष प्रदान करता है इत्यादि विषय है ।

अ॒ग्निः सप्ति॑ वाजंभ॒रं द॑दात्य॒ग्निर्वी॒रं श्रुत्यं॑ कर्मनि॒ःष्ठाम् ।
अ॒ग्नी रोद॑सी॒ वि च॑रत्सम॒ञ्जन्न॒ग्निर्नारीं॑ वी॒रकु॑क्षिं पुरं॑धिम् ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । सप्ति॑म् । वा॒ज॒म्ऽभ॒रम् । द॒दा॒ति । अ॒ग्निः । वी॒रम् । श्रु॒त्य॑म् । क॒र्म॒नि॒ःऽस्थाम् । अ॒ग्निः । रोद॑सी॒ इति॑ । वि । च॒र॒त् । स॒म्ऽअ॒ञ्जन् । अ॒ग्निः । नारी॑म् । वी॒रऽकु॑क्षिम् । पुर॑म्ऽधिम् ॥ १ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः) ज्ञानप्रकाशस्वरूपः परमात्मा (सप्तिं वाजम्भरं ददाति) सरणं गमनशीलं प्राणं "सप्तेः सरणस्य" [निरु० ६ । ३] वेगधारकं मनः "वाजम्भरं यो वाजंवेगं विभर्तितम्" [ऋ० १ । ६० । ५ दयानन्दः] (अग्निः) परमात्मा (श्रुत्यं कर्मनिष्ठां वीरम्) श्रोतारं श्रवणशीलमाज्ञाकारिणं कर्मणि श्रद्धावन्तं पुत्रं ददाति (अग्निः) परमात्मा (रोदसी समञ्जन् विचरत्) रोधसी गृहस्थाश्रमस्य रोधकौ स्त्रीपुरुषौ परस्परं संयोजयन् व्याप्नोति (वीरकुक्षिं पुरन्धि नारीम्) वीरः पुत्रः कुक्षौ यस्यास्तथाभूतां पुरं धारयित्रीं स्त्रियं करोति–सम्पादयति ॥ १ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः) ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा (सप्तिम्) गमनशील प्राण को (वाजम्भरम्) वेग धारण करने वाले मन को (ददाति) देता है (अग्निः) परमात्मा (श्रुत्यम्) श्रवणशील आज्ञाकारी (कर्म निष्ठाम्) कर्म में श्रद्धा वाले (वीरम्) पुत्र को देता है (अग्निः) परमात्मा (रोदसी) गृहस्थाश्रम के संभालने वाले स्त्रीपुरुषों को (समञ्जन्)

परस्पर संयुक्त करने को (विचरत्) विशेष प्रेरणा देता है (वीरकुक्षिम्) पुत्र कुक्षि में जिसकी हो ऐसी (पुरन्धिं नारीं) पुर नगर तथा घर को धारण करने वाली स्त्री को सम्पादित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा मानव को संसार में कार्य सिद्धि के लिए प्राण और मन प्रदान करता है और आज्ञाकारी पुत्र को भी प्रदान करता है। गृहस्थ आश्रम को धारण करने के लिए स्त्री-पुरुषों को प्रेरित करता है और स्त्री को पुत्र को गर्भ में धारण करने के योग्य बनाता है ॥ १ ॥

अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि ॥ २ ॥

अग्नेः। अप्नसः। सम्ऽइत्। अस्तु। भद्रा। अग्निः। मही इति। रोदसी इति। आ। विवेश। अग्निः। एकम्। चोदयत्। समत्ऽसु। अग्निः। वृत्राणि। दयते। पुरूणि ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अप्नसः-अग्नेः समित्-भद्रा अस्तु) कर्मवतः-संसाररचनं जीवेभ्यः कर्मफलप्रदानं कर्मयस्य तथाभूतस्य परमात्मनः समित्-अपहृतिः पवित्रा स्तुतिर्भवतु (अग्निः-मही-रोदसी-आविवेश) परमात्मा महत्यौ द्यावापृथिव्यौ समन्तादाविशति प्रविष्टोऽस्ति (अग्निः) स अग्रणायकः परमात्मा आग्नेयास्त्रवेत्तेव (एकं समत्सु चोदयत्) एकाकिनमपि संग्रामेषु प्रेरयति बलं प्रयच्छति (अग्निः पुरुणि वृत्राणि दयते) परमात्मा बहूनि. पापानि आवरकाणि शत्रुवृन्दानि नाशयति "दयते-दयमानो शत्रून् इतिहिंसा कर्मा" [निरु० ४ । १७] ॥ २ ॥

भाषान्वयार्थ—(अप्नसः-अग्नेः) संसार की रचना और जीवों के लिए कर्मफल प्रदान करना कर्म जिस का है ऐसे परमात्मा की (समित्-भद्रा-अस्तु) भेंट पवित्र स्तुति है (अग्निः) परमात्मा (मही-रोदसी) महान् द्युलोक पृथिवी लोक को (आविवेश) आविष्ट प्रविष्ट है (अग्निः) वह अग्रणायक परमात्मा आग्नेयास्त्रवेत्ता की भान्ति (एकं-समत्सु चोदयत्) अकेले को भी संग्रामों में प्रेरणा करता है-बल प्रदान करता है (अग्निः) परमात्मा (पुरुणि-वृत्राणि) बहुत पापों या घेरने वाले शत्रुदलों को (दयते) नष्ट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—संसार के रचयिता तथा जीवों के कर्मफल प्रदाता की भेंट भौतिक वस्तु नहीं है किन्तु आत्मभाव भरी स्तुति है, वह द्यावापृथिवीमय जगत् में व्यापक है, वह अकेले मनुष्य को भी विरोधियों को दबाने के के लिए बल प्रदान करता है ॥ २ ॥

अग्निर्हत्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम्।
अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम् ॥ ३ ॥

अग्निः । ह । त्यम् । जरतः । कर्णम् । आव । अग्निः । अत्ऽभ्यः । निः । अदहत् । जरूथम् । अग्निः । अत्रिम् । घर्मे । उरुष्यत् । अन्तः । अग्निः । नृऽमेधम् । प्रऽजया । असृजत् सम् ॥ ३ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(अग्निः) अग्रणेता परमात्मा (ह) निश्चयेन (जरतः) स्तुवतः स्तुतिं कुर्वतः-उपासकस्य (त्यं कर्णम्) तं कर्णं स्तुतिश्रृण्वन्तम् (आव) अवति रक्षति स्व स्तुतौ स्थापयति (अग्निः) परमात्मा (जरूथम्) गरूथं स्तोतारम् (अद्भ्यः) अमृतेभ्यः प्राणेभ्यः "प्राणा वा आपः" [तै० ३ । २ । २] "अमृतो ह्यापः" [श० ३ । ६-। ४ । १६] (निर्-अदहत्) निरयच्छत् प्रयच्छति ददाति "दह धातुरत्र दानार्थे" "मातिधक्-मास्मानतिहाय दाः" [निरु० १ । ७] भौतिकाग्निरिव न दहति "निर्-उपसर्गो निषेधे निराकरणे वर्तते" "निर् निषेधे" [अव्ययार्थनिबन्धनम्) यथा निःशुल्कः, निष्कामः "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" [योग० १ । ५१] अपितु तद्विपरीतम् "अद्भ्यो जलेभ्यः समर्पयति" (अग्निः) परमात्मा (अत्रिं घर्मे-उरुष्यत्) जरतः स्तुवतोवाचम् "वागत्रिः" [श० १४ । ५ । २ । २ ।] यज्ञे 'घर्मो यज्ञनाम' [निघ० ३ । १७] रक्षति "उरुष्यतिरक्षा कर्मा" [निरु० ५ । २३] पुनः (अग्निः) परमात्मा (नृमेधं प्रजया सम्-असृजत) नृषु प्रजासु "प्रजा वै नरः" [ऐ० २ । ४] मेधा संकल्पः कामो यस्य सनृमेधस्तं प्रजाकामं प्रजया पुत्रादिकया सह संयुक्तं करोति ॥ ३ ॥

भाषान्वयार्थ—(अग्निः) अग्रणेता परमात्मा (ह) निश्चय (जरतः) स्तुति करते हुए उपासक के (त्यं कर्णम्) उस स्तुति सुनते हुए कान की (आव) रक्षा करता है–अपनी स्तुति में स्थिर करता है (अग्निः) परमात्मा (जरूथम्) स्तुति करने वाले को (अद्भ्यः) अमृत प्राणों के लिए, 'अमृत प्राणों की प्राप्ति के लिए' (निर-अदहत्) देता है अथवा भौतिक अग्नि की भान्ति नहीं जलाता है (अग्निः) परमात्मा (अत्रिम्) स्तुति करने वाले की वाणी को (घर्मे) अध्यात्म यज्ञ में (उरुष्यत्) रक्षित करता है (अग्निः) परमात्मा (नृमेधम्) प्रजा के संकल्प करने वाले को (प्रजया) प्रजा से सन्तान से (सम्-असृजत्) संयुक्त करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी स्तुति करने वाले के स्तुति सुनते हुए कान की रक्षा करता है और उस की वाणी को सुरक्षित रखता है, संसार में उसे सन्तान वाला मोक्ष में अमृत प्राण प्रदान करता है ॥ ३ ॥

अग्निर्दाद्द्रविणं वीरपेशा अग्निर्ऋषिं यः सहस्रा सनोति ।
अग्निर्दिवि हव्यमा ततानाग्नेर्धामानि विभृता पुरुत्रा ॥ ४ ॥

अग्निः । दात् । द्रविणम् । वीरऽपेशाः । अग्निः । ऋषिम् । यः । सहस्रा । सनोति । अग्निः । दिवि । हव्यम् । आ । ततान । अग्नेः । धामानि । विऽभृता । पुरुऽत्रा ॥ ४ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(वीरपेशाः-अग्निः-ह) वीरस्वरूपः परमात्मा निश्चयेन (द्रविणं ऋषिं दात्) मोक्षैश्वर्यम्-ऋषये "विभक्ति व्यत्ययेन-चतुर्थी स्थाने द्वितीया" स्वकीये द्रष्ट्रे ददाति (यः सहस्रा सनोति) यो बहूनि स्तुतिवचनानि तस्मै परमात्मने प्रयच्छति (अग्निः) परमात्मा (दिवि हव्यं आततान) ऋषिणा दातव्यं स्तुतिवचनं मोक्षधामनि विस्तारयति (अग्नेः-धामानि पुरुत्रा विभृता) परमात्मनो व्याप्तानि स्थानानि बहुत्र धृतानि सन्ति ॥ ४ ॥

भाषान्वयार्थ—(वीरपेशाः-अग्निः-ह) वीरस्वरूप परमात्मा निश्चय (ऋषिं द्रविणं दात्) अपने द्रष्टा के लिए मोक्षैश्वर्य देता है (यः सहस्रा सनोति) जो बहुत स्तुति वचनों को उसके लिए समर्पित करता है (अग्निः) परमात्मा (दिवि) मोक्ष धाम में (हव्यं आततान) स्तुति वचनों का विस्तार करता (अग्नेः-धामानि) परमात्मा के व्याप्त धाम (पुरुत्रा विभृता) बहुत नियत हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने द्रष्टा-दर्शन के इच्छुक के लिए मोक्षैश्वर्य देता है जो उसके लिए बहुत सुखी वचनों को समर्पित करता है उन स्तुतियों का विस्तृत फल मोक्ष प्राप्ति है ॥ ४ ॥

अग्निमुक्थैर्ऋषयो विह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः ।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परि याति गोनाम् ॥ ५ ॥

अग्निम् । उक्थैः । ऋषयः । वि । ह्वयन्ते । अग्निम् । नरः । यामनि । बाधितासः ।
अग्निम् । वयः । अन्तरिक्षे । पतन्तः । अग्निः । सहस्रा । परि । याति । गोनाम्
॥ ५ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋषयः-उक्थैः-अग्निं विह्वयन्ते) दर्शनशीला उपासकाः वेदवचनैः परमात्मानं विशिष्टतया आमन्त्रयन्ते (बाधितासः-नरः-अग्निं यामनि) कामादि दोषैर्बाधिता जना अवसरे परमात्मानं स्मरन्ति (अन्तरिक्षे पतन्तः-वयः-अग्निम्) अन्तरिक्षे गच्छन्तः पक्षिण इव उन्नतिपथगा जना उपासन्ते (अग्निः-गोनां सहस्रा परियाति) परमात्मा वेदवाचां सहस्राणि प्रयोजनानि परि प्रापयति "अन्तर्गतणिजर्थः" ॥ ५ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋषयः) दर्शनशील उपासकजन (उक्थैः) वेदवचनों तथा स्तुति वचनों के द्वारा (अग्निम्) परमात्मा को (विह्वयन्ते) विशेष रूप से आमन्त्रित करते हैं (बाधितासः-नरः) कामादि दोषों से पीड़ित जन (यामनि) अवसर पर (अग्निम्) परमात्मा को स्मरण करते हैं (अन्तरिक्षे पतन्तः-वयः-अग्निम्) आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की भांति उन्नतिपथ की ओर जाते हुए परमात्मा की उपासना करते हैं (अग्निः) परमात्मा (गोनां सहस्रा) वेदवाणियों के सहस्र प्रयोजनों को (परियाति) परिप्राप्त कराता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—कामादि दोषों से पीड़ित जन परमात्मा का स्मरण करें उन्नति की ओर चलने वाले जन उसकी उपासना करें, परमात्म दर्शन के इच्छुक महानुभाव वेदवचनों से उस का आमन्त्रण करें, इस प्रकार उन के सहस्र गुणित प्रयोजनों को परमात्मा प्राप्त कराता है ॥ ५ ॥

अ॒ग्निं विश॑ ईळते॒ मानु॑षी॒र्या अ॒ग्निं मनु॑षो॒ नहु॑षो॒ वि जा॒ताः ।
अ॒ग्निर्गान्ध॑र्वीं प॒थ्या॑मृ॒तस्या॒ग्नेर्गव्यू॑तिर्घृ॒त आ निष॑त्ता ॥ ६ ॥

अ॒ग्निम् । विशः॑ । ई॒ळ॒ते॒ । मानु॑षीः । याः । अ॒ग्निम् । मनु॑षः । नहु॑षः । वि । जा॒ताः । अ॒ग्निः । गान्ध॑र्वीम् । प॒थ्या॑म् । ऋ॒तस्य॑ । अ॒ग्नेः । गव्यू॑तिः । घृ॒ते । आऽनिस॑त्ता ॥ ६ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(मानुषीः-याः-विशः-अग्निम्-ईडते) मनुष्य सम्बन्धिन्यो याः प्रजाः सन्ति ताः परमात्मानं स्तुवन्ति (नहुषः-मनुषः-विजाताः) बन्धन दग्धुः परममननशीलादृषेर्विशिष्टोपदेशात् प्रसिद्धिं प्राप्ता या प्रजाः (अग्निम्) परमात्मान-माश्रयन्ति (अग्निः) परमात्मा (ऋतस्य पथ्यां गान्धर्वीम्) ज्ञानमयस्य वेदस्य हितकरीं वाचमुपदिशति (अग्नेः-गव्यूतिः-घृते-आनिषत्ता) परमात्मनस्तेजसि जीवनमार्ग पद्धतिः समन्तात् तत्र नियता भवति ॥ ६ ॥

भाषान्वयार्थ—(मानुषीः) मनुष्यसम्बन्धी (याः) जो (विशः) प्रजाएं हैं वे (अग्निम्) परमात्मा की (ईडते) स्तुति करती हैं (नहुषः-मनुषः-विजाताः) बन्धन दग्ध करने वाले परम मननशील ऋषि के विशिष्ट उपदेश से प्रसिद्धि को प्राप्त (प्रजाः) प्रजाएं (अग्निम्) परमात्मा को आश्रित करती हैं (अग्निः) परमात्मा (ऋतस्य पथ्याम्) ज्ञानमय वेद की हितकरी (गान्धर्वीम्) वाणी का उपदेश करता है (अग्नेः) परमात्मा के (गव्यूतिः) जीवनमार्ग की पद्धति (घृते-आनिषत्ता) उसके तेज में भलिभांति नियत है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रजाएं परमात्मा की स्तुति करें बन्धन के छुड़ाने वाले ऋषि के उपदेश से उत्तम प्रजाएं बनकर परमात्मा को प्राप्त होती है तथा उसकी कल्याणकारी वेद वाणी जीवनमार्ग दर्शाती है ॥ ६ ॥

अ॒ग्नये॒ ब्रह्म॑ ऋ॒भव॑स्ततक्षुर॒ग्निं म॒हाम॑वोचामा सु॒वृ॒क्तिम् ।
अग्ने॒ प्राव॑ जरि॒तारं॑ यवि॒ष्ठाग्ने॒ महि॒ द्रवि॑ण॒मा य॑जस्व ॥ ७ ॥

अ॒ग्नये॑ । ब्रह्म॑ । ऋ॒भवः॑ । त॒त॒क्षुः॒ । अ॒ग्निम् । म॒हाम् । अ॒वो॒चा॒म॒ । सु॒ऽवृ॒क्तिम् । अग्ने॑ । प्र । अ॒व॒ । ज॒रि॒तार॑म् । य॒वि॒ष्ठ॒ । अग्ने॑ । महि॑ । द्रवि॑णम् । आ । य॒ज ॥ ७ ॥

संस्कृतान्वयार्थः—(ऋभवः) ज्ञानेन भासमाना ऋषयो मेधाविनः "ऋभुर्मेधाविनाम" [निघ० ३ । १५] (अग्नये) परमात्मने (ब्रह्म ततक्षुः) महास्तुति समूहं समर्पयन्ति (महाम्-अग्निम्-सुवृक्तिम्-अवोचाम) महान्तं परमात्मानं स्तुतिं ब्रूमः "सुवृक्तिभिः स्तुतिभिः" [निरु० २ । २४] (यविष्ठ-अग्ने जरितारं प्राव) हे मिश्रण-धर्मन् परमात्मन् ! त्वं स्तोतारं प्रकृष्टं रक्ष (अग्ने महि द्रविणम्-आयजस्व) परमात्मन् ! महत्त्वपूर्णं धनं मोक्षैश्वर्यं समन्तात् प्रयच्छ ॥ ७ ॥

भाषान्वयार्थ—(ऋभवः) ज्ञान से भासमान प्रकाशमान मेधावी जन (अग्नये) पर-मात्मा के लिए (ब्रह्म) महान् स्तुति समूह को (ततक्षुः) सम्पन्न करते हैं–समर्पित करते हैं (महाम्-अग्निम्) महान् परमात्मा के प्रति (सुवृक्तिम्-अवोचाम) स्तुति को बोलते हैं–करते हैं (यविष्ठ-अग्ने) हे मिलने का धर्म रखने वाले परमात्मन् ! (ज़रितारं प्राव) स्तुति करने वाले की रक्षा कर (अग्ने महि द्रविणम्) हे परमात्मन् ! महत्त्वपूर्ण मोक्ष-ऐश्वर्य को (आयजस्व) भलिभांति प्रदान कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी और मेधावी जन परमात्मा की बहुत प्रकार से स्तुति करते हैं वह स्तुति करने वाले को मोक्ष-ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ ७ ॥



